संपादक:

सहायक संपादक

प्रबंध संपादक,

यह सुधानिधि "सुश्रुत-शल्य-चिकित्सांक"

उस आदर्श व्यक्तित्व को समर्पित है जिसने हमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद महाविद्यालय में आयुर्वेदाचार्य इन माडर्न मेडिसिन एण्ड सर्जरी के पाठ्यक्रम के पूर्ण करने में प्रथम वर्ष से लेकर षष्ठवर्ष पर्यन्त सैद्धान्तिक तथा अभ्यासात्मक ज्ञान का आलोक दिया जो सारा जीवन एक तपस्वी की तरह व्यतीत करता रहा।

उन परमाराध्य गुरुदेव

आचार्यचरण श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर

[बी. एस. सी., एम. बी. बी. एस., आयुर्वेदाचार्य (स्वर्णपदक लब्ध)]

के चरणों में यह नैवेद्य रूप पुष्प सादर समर्पित है

पूज्यवर,

आपने हिन्दी भाषा को स्वयं मराठी भाषी होकर जो ग्रन्थ रत्न दिये, जीवन की जो चेतना प्रदान की, उसे हम क्या पूरा युग भी नहीं भुला पायेगा आपने सुश्रुत संहिता की, आयुर्वेद रहस्य दीपिका टीका लिखकर वर्तमान और भावी आयुर्वेद-जगत् की जो सेवा की है वह हमारे जीवन में ज्ञान और विवेक प्रदान करने के साथ प्रेरणा देती हुई सत् चित आनन्द की अनुभूति कराती है। आप स्वस्थ और शतायु हों यह परमपिता से प्रार्थना है।

आपका अपना एक अकिंचन शिष्य

रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

श्री डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर

भगवान् धन्वन्तरि की असीम कृपा से सुधानिधि अपने चार वर्ष पूर्ण करके इस विशेषांक के साथ नवीन आशाओं तथा आकांक्षाओं को लेकर पांचवे वर्ष में प्रवेश कर रहा है। सुधानिधि के पूर्व विशेषांकों की तरह यह विशेषांक भी आयुर्वेद जगत् के विद्वानों तथा प्रेमियों द्वारा सराहा जायगा ऐसा हमारा विश्वास है। गत वर्ष के विशेषांक जटिल रोग चिकित्सांक को पाठकों ने हमारी आशा से अधिक पसन्द किया और विशेषांक को देखकर नवीन ग्राहक बनने का जो क्रम प्रारम्भ हुआ वह अभी तक बना हुआ है। गत वर्ष के प्रायः सभी अंक समाप्त हो जाने से नवम्बर माह से ही नवीन ग्राहकों को निराश होना पड़ा और केवल जटिल रोग चिकित्सांक तथा दो लघु विशेषांक जिनकी कुछ प्रतियां स्टाक में शेष रह गयी थीं प्राप्तकर सन्तोष करना पड़ा।

सुधानिधि के पिछले चार विशेषांक काय-चिकित्सा विषय पर प्रकाशित किये गये थे। हर वर्ष की तरह इस वर्ष भी जब देश में फैले अपने अनेक शुभ चिन्तकों तथा विद्वानों से हमने आगामी विशेषांक के लिये विषय की सलाह मांगी तो हमें अनेक विद्वानों ने इस वर्ष शल्य-चिकित्सा पर विशेषांक प्रकाशित करने की सलाह दी। विषय बहुत गम्भीर था तथा हमें भय था कि सुधानिधि के साधारण पाठक जो साधारण काय-चिकित्सा में ही अपनी रुचि रखते हैं इस शल्य-चिकित्सा प्रधान विशेषांक को पसन्द करेंगे या नहीं? इस सम्बन्ध में आचार्य त्रिवेदी जी से परामर्श हुआ। उन्होंने इस दुरुह विषय को अत्यन्त सरल भाषा में जिसे साधारण पाठक भी समझ सकें प्रस्तुत करने का आश्वासन दिया और इस विशेषांक की घोषणा की गयी। इस विशेषांक की घोषणा के बाद देश के कोने-कोने से हमें इस विशेषांक के विषय चयन के सम्बन्ध में सैकड़ों पत्र मिले और हमारे इस निर्णय को एक ऐतिहासिक निर्णय बताया। विद्वानों तथा शुभ चिन्तकों के उत्साह वर्धन से प्रेरित होकर हम इस विशेषांक को एक ऐतिहासिक विशेषांक के रूप में प्रकाशित करने के लिये कटिबद्ध हो गये। परन्तु इस बार इस विशेषांक के लिये विद्वान् शल्य-चिकित्सकों से अनेक पत्र व्यवहार करने पर भी अधिक लेख हमें उपलब्ध नहीं हो सके और अनेक विषयों पर आचार्य त्रिवेदी जी को ही लेखनी उठानी पड़ी और अनेक विघ्नों तथा कष्टों में फंसे रहकर भी आचार्य त्रिवेदी जी ने इस ऐतिहासिक कार्य को पूर्ण किया। इस विशेषांक के लेखन तथा सम्पादन में आचार्य त्रिवेदी जी ने दिन रात जगकर जो कठिन परिश्रम किया है उसके लिये उन्हें सम्मानित करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं। हम उनके आभारी है तथा भगवान् धन्वन्तरि से यह प्रार्थना करते हैं कि उन्हें शहस्र वर्ष तक यों ही आयुर्वेद की सेवा करने के लिये दीर्घायु प्रदान करें। आचार्य त्रिवेदी जी तथा हम सभी का कठिन परिश्रम तभी सार्थक होगा जब इस विशेषांक को हमारे पाठकों द्वारा पसन्द किया जायगा। विषय गम्भीर होने से सम्भव है कि कुछ पाठकों को हमारा यह प्रयास स्तुत्य न लगे परन्तु हमारा अनुरोध है कि वह इस विशेषांक को आद्योपान्त पढ़कर अपनी अमूल्य सम्मति से हमें अवश्य अवगत करावें।

इस वर्ष चार लघु विशेषांक

सुधानिधि के १९[illegible] में चार लघु विशेषांक प्रकाशित करने का निर्णय किया गया है तथा उनके विषयों की घोषणा भी की जा चुकी है ये विशेषांक है—(१) यक्ष्मा रोगांक (२) मलेरिया अंक (३) नासा रोगांक (४) संकटकालीन प्राथमिक चिकित्सांक। ये चारों विशेषांक जून, अगस्त, अक्टूबर तथा दिसम्बर माह में क्रमशः प्रकाशित किये जायेंगे। इन विशेषांकों को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया जायगा तथा हमारा विश्वास है कि सुधानिधि के पूर्व लघु विशेषांकों की तरह ये लघु विशेषांक भी पाठकों को अत्यधिक पसन्द आयेंगे। इन लघु विशेषांकों की विस्तृत सूची लेखकों की सेवा में पृथक् पत्र द्वारा भेजी जायगी। सभी लेखकों से इन लघु विशेषांकों हेतु उपयोगी लेख भेजने के लिये हम प्रार्थना करते है। इस वर्ष इन चार लघु विशेषांकों के सर्वोत्तम चार लेखों पर पुरस्कार देने का निर्णय भी किया गया है। इसकी विस्तृत सूचना आगामी अंकों में प्रकाशित की जायगी।

आगामी वर्ष का विशाल विशेषांक

आगामी वर्ष के विशाल विशेषांक के विषय का अभी निर्णय नहीं किया गया है अभी "नेत्र कर्ण नासिका रोगांक" "आयुर्वेदीय योग संग्रह अंक" ये दो विषय विचाराधीन है। पाठकों से अनुरोध है कि वे आगामी वर्ष के विशेषांक के लिये अपने विचारों से हमे अवगत करावें।

सुधानिधि के ग्राहकों से अनुरोध

पिछले चार वर्षों में सुधानिधि ने आयुर्वेद जगत् की जो सेवा की है उस के विषय में हमें कुछ कहने की आवश्यकता नही है। हमने अपने सम्पूर्ण साधनों से सुधानिधि को उपयोगी तथा आकर्षक पत्र बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है हम इस प्रयास में कहा तक सफल हुये है यह पाठक स्वयं विचार कर सकते है। यह सब कुछ होते हुये भी हमें आत्म सन्तोष नहीं है। सुधानिधि के संस्थापक हमारे पूज्य पिता जी स्वर्गीय वैद्य देवीशरण गर्ग का सुधानिधि को देश मे सर्वाधिक प्रसार वाला आयुर्वेद पत्र बनाने का स्वप्न तथा संकल्प सदैव हमारे समक्ष उपस्थित रहता है इस प्रयास में हम बहुत आगे बढ़ चुके है और हमे विश्वास है कि सुधानिधि के हजारों शुभचिन्तकों के आशीर्वाद तथा सहयोग के सहारे हम स्वर्गीय आत्मा के स्वप्न को साकार करने में नाति दूर भविष्य में अवश्य सफल होंगे।

सुधानिधि की इस सफलता में हमारे प्रेमी पाठकों का जो सहयोग है वह हमारे लिये सबसे बड़ा सम्बल है। गत वर्ष पाठकों ने निस्वार्थ भाव से हमारे अनुरोध पर अनेक नवीन ग्राहक बनाये थे हम उन सभी पाठकों के हृदय से आभारी है तथा भविष्य में भी उनसे इसी प्रकार के सहयोग की आशा करते हैं इसी आशा तथा विश्वास के साथ।

—गोपालशरण शर्मा।
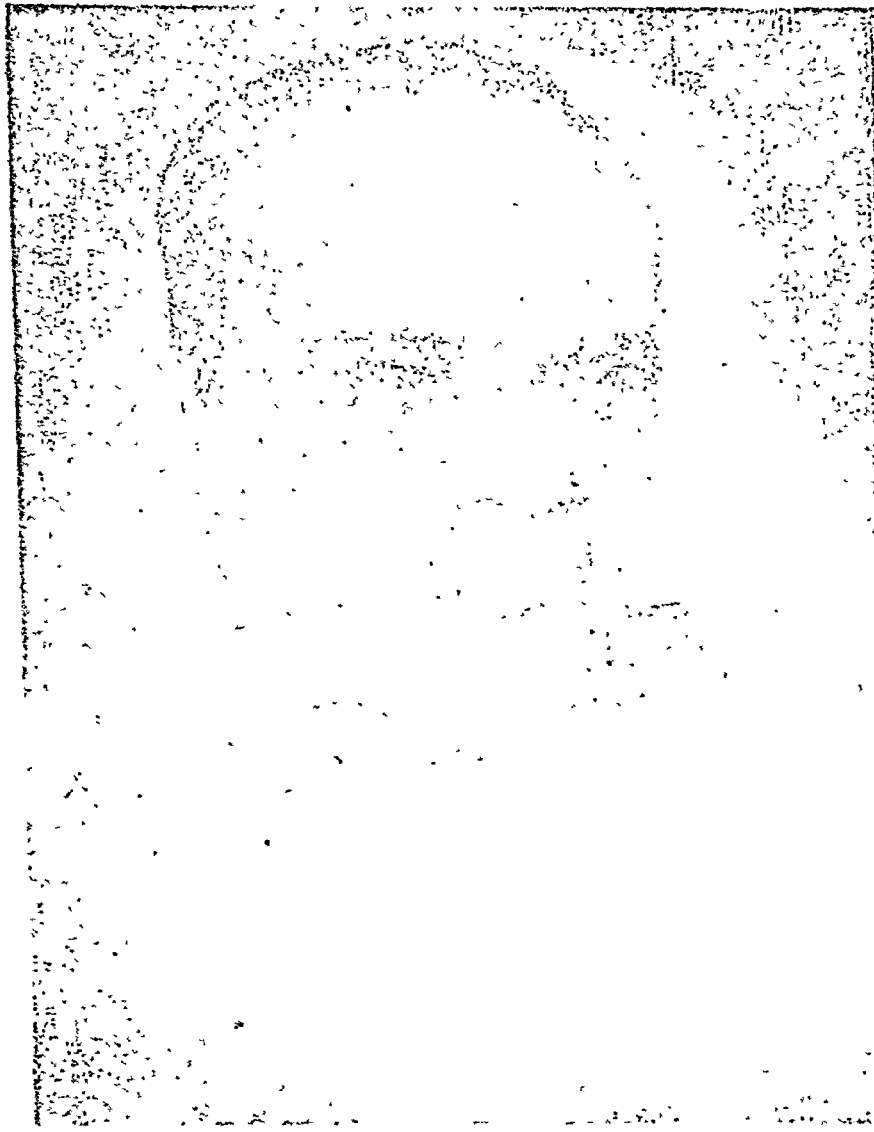
डा० के० एन० उडुपा
एम. एस., एफ. आर. सी. एस. (सं.)
डाइरेक्टर एवं प्रोफेसर
स्नातकोत्तर चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्री, गोपालशरण जी,

आपका पत्र मिला, जानकर प्रसन्नता हुई कि सुधानिधि का इस वर्ष का विशाल विशेषांक "सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

सुश्रुत जी अपने समय के मूर्धन्य विद्वान्, कुशल शल्य-चिकित्सक, शोध-कर्ता, वैज्ञानिक, दार्शनिक और लेखक थे। उनकी सुश्रुत संहिता के १८६ अध्याय इसके साक्षी हैं कि प्राचीन भारतीय शल्य-चिकित्सा अपनी पराकाष्ठा पर थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान से हम सब की प्रेरणा से और आयुर्वेद को समस्त विश्व में फैलाने की दृष्टि से पिछले १५ वर्षों में सम्पूर्ण सुश्रुत संहिता का भारत भाषा में आधुनिक, वैज्ञानिक, शोध सुझावों के साथ सटीक अनुवाद हुआ है। यह ग्रन्थ-माला एन्शिएन्ट इन्डियन सर्जरी नाम से १२ भागों में प्रकाशित हो रही है। इन पुस्तकों के आधार पर हम संसार के सामने यह वास्तविकता प्रामाणिक रूप में लाने का प्रयास कर रहे हैं कि सुश्रुत ही, न केवल भारतवर्ष वरन् वास्तव में विश्व शल्य-चिकित्सा के जनक हैं।

सुधानिधि "सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" निकालने का आपका प्रयास सराहनीय है। आप द्वारा प्रेषित योजना रूपरेखा से ज्ञात हुआ कि विशेषांक द्वारा आयुर्वेद के इस उपेक्षित अंग को पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। आपके इस ऐतिहासिक विशेषांक के लिये मैं अपनी ओर से और चिकित्सा विज्ञान संस्थान की ओर से शुभ-कामनाएं प्रेषित करता हूं और भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना करता हूं कि आपके इस अंक द्वारा आयुर्वेद की सच्ची सेवा हो सके।

आयुर्वेद चक्रवर्ती वैद्यरत्न
पं० शिवशर्मा

I am glad to learn that Sudanidhi, one of the premier Ayurvedic magazines of India, is bringing out a special issue under the caption SUSRUTA–SALYA–CHIKITSANKA.

I am sure that under the able editorship of Acharya Raghuvir Prasad Trivedi, veteran Ayurvedic scholar and Journalist, the publication will prove of great benefit to the profession and the students of Ayurvedic literature.

I wish the publication every success.

—Shiv Sharma.
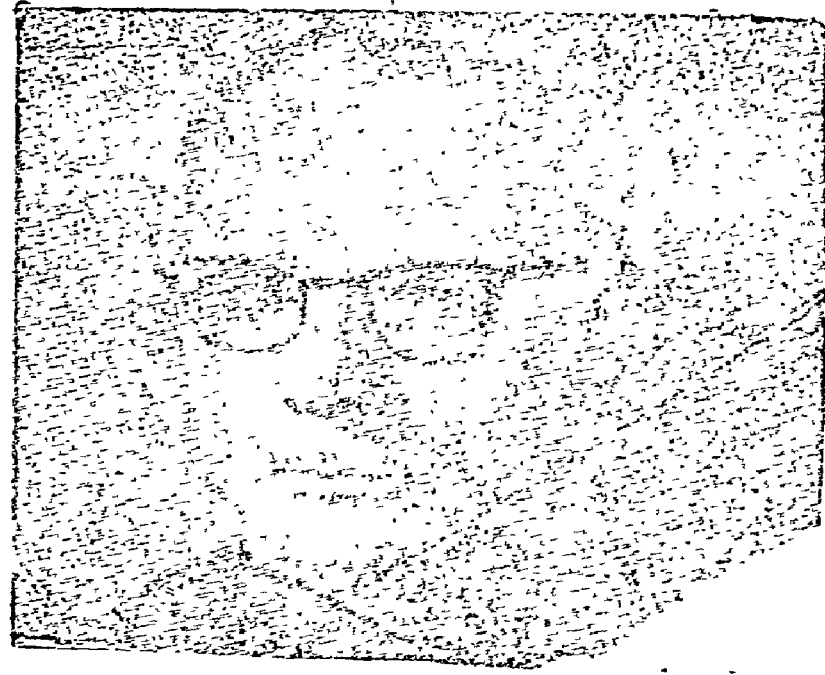
श्री मुकुन्दीलाल द्विवेदी
कुलपति गुजरात आयुर्वेदिक यूनिवर्सिटी, जामनगर

प्रिय महोदय,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सुधानिधि का इस वर्ष का विशेषांक "सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" नाम से प्रकाशित किया जा रहा है, और जिसका सम्पादन आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी कर रहे हैं।

भारतीय शल्य-चिकित्सा का इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। दिवोदास धन्वन्तरि के पश्चात् उनके शिष्य महर्षि सुश्रुत ने शल्यतन्त्र पर एक स्वतन्त्र संहिता का निर्माण किया जो अद्यावधि शल्यशास्त्र में अभिरुचि रखने वाले चिकित्सकों का मार्गदर्शन करती रही है और जिसने आधुनिक शल्यशास्त्र के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

सुश्रुत द्वारा वर्णित अनेक ऐसी विधियां हैं जिन पर आवश्यक शोधकार्य अपेक्षित हैं और यह विधियां अथवा चिकित्सा क्रम आज भी अत्यन्त उपादेय हैं।

मुझे आशा है कि सुधानिधि के इस विशेषांक से सुश्रुतीय शल्य-चिकित्सा के विविध अंगों पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और जो जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा। आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी प्राच्य एवं पाश्चात्य आयुर्वेद के गम्भीर विद्वान् हैं और सम्पादनकला में भी प्रवीण हैं अतः उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित विशेषांक अवश्य ही संग्रहणीय होगा।

विशेषांक की सफलता के लिए शुभकामनाओं के साथ।

भवदीय
मुकुन्दीलाल द्विवेदी

प्रभुजनार्दन देशपाण्डेय

प्रोफेसर—शल्य-शालाक्य विभाग, स्नातकोत्तर
चिकित्सा विज्ञान संस्थान, वाराणसी

प्रिय गोपालशरण जी,

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि "सुधानिधि" का इस वर्ष का विशाल विशेषांक "सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है। आयुर्वेद के वर्तमान साहित्य में सुधानिधि का अनुपम स्थान है। इसके विशेषांक निश्चय ही साहित्य, समाज एवं चिकित्सक वर्ग की अभूतपूर्व सेवा कर रहे हैं। यह हर्ष का विषय है कि आयुर्वेद के उपेक्षित अंग "शल्य-चिकित्सा" की ओर आपका तथा आचार्य त्रिवेदी जी का ध्यान आकृष्ट हुआ है। शल्यतन्त्र के पुनरुद्धार के लिए यही उपयुक्त समय है। आशा है आपके विशेषांक से इस कार्य को बल मिलेगा। मैं हृदय से इस विशेषांक की सफलता की कामना करता हूं तथा इसके प्रकाशन में संलग्न सभी कार्य कर्त्ताओं को बधाई देता हूं।

भवदीय

प्र० ज० देशपाण्डेय

वैद्य दत्तात्रय अनन्त कुलकर्णी

भू० पू० आचार्य
आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र, जामनगर

डा० गोपालशरण जी,

आपका पत्र मिला, आप अपने सुधानिधि का विशाल विशेषांक "सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" के नाम से सुप्रसिद्ध एवम् सुयोग्य विद्वान् आचार्य रघुवीर-प्रसाद जी त्रिवेदी के सम्पादकत्व में निकट भविष्य में प्रसिद्ध करने जा रहे हैं यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे विश्वास है कि यह विशेषांक आयुर्वेद के गौरव को शल्यशास्त्र में भी प्रतिष्ठित करने के लिये अवश्य ही सफल होगा। इसके सम्पादन के लिए आप को आचार्य त्रिवेदी जी का सहयोग प्राप्त है यह बड़ी प्रसन्नता एवम् सौभाग्य की बात है।

विशेषांकों के प्रणयन एवम् सम्पादन तथा प्रकाशन के विषय में आपके परिवार का भारत भर में अद्वितीय स्थान रहा है यह बात आयुर्वेद के साहित्य के विषय में विश्वविख्यात है। मेरी शुभ-कामनाएं सदा ही आपके साथ रहेंगी। भवदीय—

दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी

पं० प्रियव्रत शर्मा

अध्यक्ष—द्रव्यगुण विभाग, स्नातकोत्तर
चिकित्सा विज्ञान संस्थान, वाराणसी

प्रिय गर्ग जी,

आपके पत्र द्वारा यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सुधानिधि का इस वर्ष का विशेषांक "सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" आचार्य रघुवीरप्रसाद जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित होने जा रहा है। आचार्य त्रिवेदी जी उपयुक्त मनीषी हैं और आत्रेय तथा धन्वन्तरि दोनो सम्प्रदायों में उनकी समान एवं अबाधगति है। आयुर्वेदीय शल्य-चिकित्सा हजारों वर्षों से अपनी प्राचीन गरिमा खो बैठी है और आज भी यह उपेक्षितप्राय है। आयुर्वेद के ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय को प्रकाश में लाने का यह उपक्रम सर्वथा श्लाघनीय है।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये मेरी हार्दिक शुभ-कामनायें स्वीकार करें।

कविराज श्री पुरुषोत्तमदेव मुल्तानी

भू० पू० डिप्टी डाइरेक्टर आ० प्र०, हैदराबाद

प्रिय श्री गोपालशरण जी,

सप्रेम नमस्ते ! यह जानकर प्रसन्नता हुई कि "सुधानिधि" का आगामी विशेषांक सुश्रुत शल्य चिकित्सांक होगा।

आज जनसाधारण में यह आम धारणा है कि आयुर्वेद-चिकित्सा में शल्य-चिकित्सा का अभाव है। आशा है आप का विशेषांक इस धारणा को दूर करने में समर्थ सिद्ध होगा।

"सुधानिधि" के विशेषांकों ने आयुर्वेदीय-वाङ्मय की श्री वृद्धि में अपना एक स्थायी स्थान बना लिया है। मुझे आशा है कि श्री आचार्य रघुवीरप्रसाद जी के सुयोग्य सम्पादकत्व में यह विशेषांक भी परम्परा को कायम रखेगा।

आचार्य श्री वल्लभराम वैद्य

२१, शारदा नगर, अहमदाबाद ७

प्रिय शर्मा जी,

[illegible] शल्य-चिकित्सांक की सूचना मिली। आप की रूपरेखा से प्रतीत है कि यह विशेषांक अभूतपूर्व बनेगा क्योंकि सुश्रुत का सम्पूर्ण शल्य साहित्य इसमें आ जायेगा। आज इस विशेषांक की आयुर्वेद-जगत् में महती आवश्यकता थी आयुर्वेद समाज अपनी इस दिशा की [illegible] रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य रघुवीरप्रसाद जी और शर्मा जी की यह मेहनत [illegible] शर्मा।

[illegible]

चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी

अध्यक्ष— भारतीय चिकित्सा परिषद्, उ० प्र०

प्रिय श्री गर्गजी,

आप इस वर्ष सुधानिधि का "सुश्रुत-शल्य चिकित्सांक" आचार्य रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी के सम्पादकत्व में निकालने जा रहे हैं, यह जानकर प्रसन्नता हुई। मेरा विश्वास है कि आचार्य त्रिवेदी के सम्पादकत्व में निकलने वाले इस विशेषांक द्वारा आयुर्वेद के इस उपेक्षित अंग को आवश्यक प्रतिष्ठा मिलेगी। इस ऐतिहासिक विशेषांक की सफलता के लिये मेरी शुभ-कामनायें स्वीकार करें।

आपका

चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी

डा० श्री सत्यपाल गुप्त

आयुर्वेद एवं यूनानी सेवा निदेशक, उत्तर प्रदेश

प्रिय गर्ग साहब,

यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि इस वर्ष आप सुधानिधि का "सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" निकालने जा रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुश्रुत शल्य चिकित्सांक के माध्यम से आयुर्वेद के शल्य चिकित्सा विषय में चिकित्सा-जगत एवं विशेष रूप से शल्य विशेषज्ञों को महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध हो सकेगी।

आपके इस शुभ प्रयास के प्रति मेरी पूर्ण शुभ-कामनायें हैं।

श्री ताराशंकर वैद्य

भू० पू० प्रधानाचार्य श्री अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, वाराणसी

प्रिय गर्ग जी,

"सुधानिधि" सुश्रुत शल्य चिकित्सांक प्रकाशित करने जा रहा है, इस अभिनव सामयिक सूचना से बड़ी प्रसन्नता हुई। सुदक्ष पत्रकार आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी जी पत्रकार हैं, सर्वथा प्राचीन को अर्वाचीन परिप्रेक्ष्य में सजाया करते हैं। सफलता उनके अनुभवों की संजोयी हुई है, उसे सभी सुधी जानते हैं।

विशेषांक शल्य-चिकित्सा में अभीष्ट दिशा देने के साथ ही आयुर्वेदोपजीवियों एवं छात्रों के लिये उपयोगी हो, यही सुश्रुत संहिता के उपदेष्टा काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि से प्रार्थना है।

सुधानिधि के गत ४ वर्षो में जो विशेषांक तथा लघु विशेषांक छपे हैं उनमें अमूल्य साहित्य भरा है। सुधानिधि के नवीन विशेषांक इस समय उपलब्ध है, उनका विवरण तथा मूल्य नीचे दिया जा रहा है।

सुधानिधि के नवीन ग्राहक जिनके पास ये विशेषांक नहीं हैं, अपने पास मंगाकर रखें।

पुरुष रोग चिकित्सांक—५०० पृष्ठों का अत्यन्त उपादेय विशेषांक है जिसमें १०० से अधिक देश के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों के लेख है, अनेक चित्र दिये गये हैं, इस विशेषांक का अध्ययन कर आप सभी पुरुष रोगों की सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकते हैं। मूल्य १२.००, सजिल्द १३.००।

पुरुष रोग अनुभव खण्ड—यह पुरुष रोग चिकित्सांक का परिशिष्ट अंक है जिसमें देश के २५ विशिष्ट विद्वानों के पुरुष रोगों पर अनुभव दिये हैं; इस अंक में सहस्रों योग दिये गये हैं। मूल्य २.५०।

शिशु रोग चिकित्सांक—बालकों के सभी रोगों पर इससे अच्छा साहित्य आपको अन्यत्र नहीं मिलेगा। १२५ से अधिक लेखकों द्वारा लिखे गये इस विशेषांक में अनेक चित्र दिये गये हैं। मूल्य १५.००।

शिशु रोग चिकित्सांक योग परिशिष्टांक—इसमें शिशु रोग नाशक आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित अनेक योग दिये गये हैं। मूल्य २.५०।

जटिल रोग चिकित्सांक—१९७६ में प्रकाशित सुधानिधि का सर्वाधिक लोकप्रिय विशेषांक है। इसकी थोड़ी प्रतियां हमारे पास उपलब्ध हैं। मूल्य १५.००, ग्लेज कागज १६.००।

रक्तदाबांक (प्रथम तथा द्वितीय भाग)—ये दो लघु विशेषांक रक्तदाब (ब्लड प्रेशर) के सम्बन्ध में १९७३ तथा १९७४ में प्रकाशित किये गये थे। प्रथम भाग में अति-रक्त दाब तथा द्वितीय भाग में न्यून रक्त-दाब की चिकित्सा तथा विवरण दिया गया है। मूल्य ४.५०।

शिरः शूलांक—यह अंक शिरःशूल के विषय में अत्यन्त उपयोगी प्रकाशित हुआ है। मूल्य २.५०।

परिवार नियोजनांक—सुधानिधि का सबसे अधिक बिकने वाला लघु विशेषांक है। अनेक चित्रों से परिवार नियोजन के प्राचीन तथा अर्वाचीन साधन दिये गये हैं। मूल्य २.००।

दन्त रोगांक—दन्त रोगों पर इस लघु विशेषांक में विस्तार से वर्णन दिया गया है। दन्त रोगों की आयुर्वेदिक, ऐलोपैथिक, होम्योपैथिक आदि चिकित्सा बतायी गयी है। दांतों का संज्ञाहरण तथा उखाड़ने आदि की विधि भी अनेक चित्रों के साथ दी गयी है। मूल्य २.५०।

कैपसूल अंक—आयुर्वेदिक कैपसूलों के सम्बन्ध में १९७५ में श्री मोहरसिंह आर्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित बहु प्रशंसित लघु विशेषांक है, अनेक अनुभूत योग इस लघु विशेषांक में दिये गये हैं। मूल्य २.५०।

विष चिकित्सांक—विष विज्ञान के सम्बन्ध में गत वर्ष प्रकाशित अत्यन्त उपयोगी अंक है। मूल्य २.५०।

चिकित्सा अनुभवांक—डाक्टर तेजबहादुर चौधरी के सम्पादकत्व में प्रकाशित इस विशेषांक में देश के २५ विद्वानों के चिकित्सात्मक अनुभव दिये गये हैं। मूल्य २.५०।

नोट—सभी विशेषांकों पर पोस्ट व्यय पृथक् लगेगा। सुधानिधि के ग्राहकों को २५.०० से अधिक मूल्य के विशेषांकों पर २५% कमीशन भी दिया जायगा।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]

सुधानिधि

सुश्रुत शल्य चिकित्सांक

की

विषयानुक्रमणिका

निदान खण्ड—

धन्वन्तरि कार्यालय के दो बहुउपयोगी ग्रन्थ
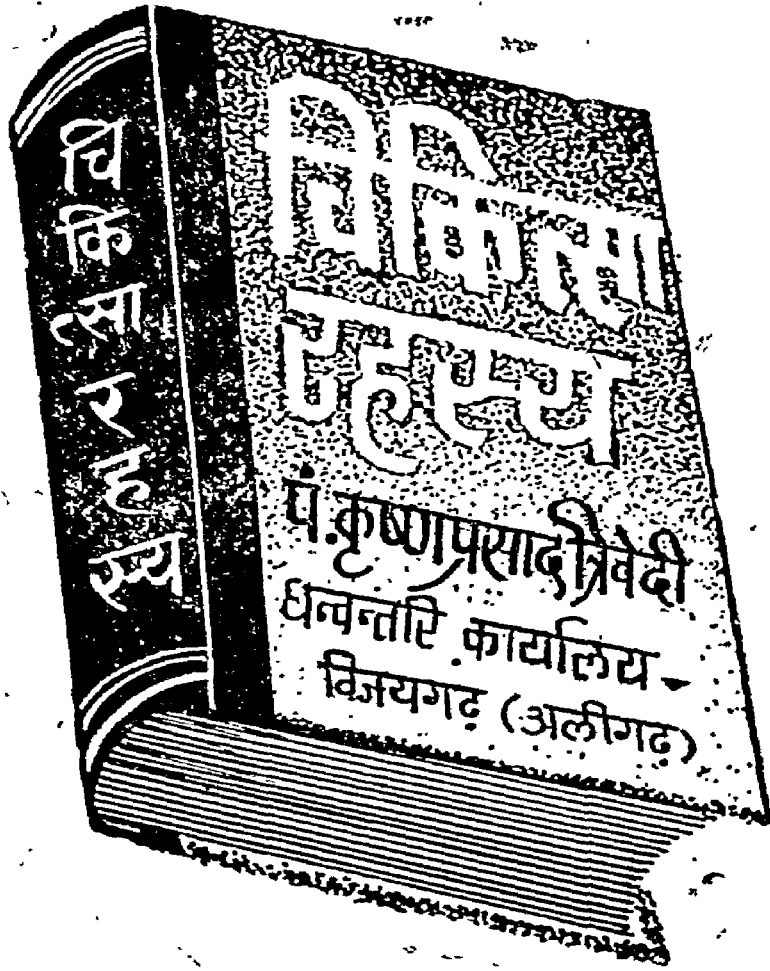
चिकित्सा रहस्य

लेखक—आयुर्वेद सूरि पं० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी

चिकित्सक के विषय प्रवेश की वह बहु उपयोगी पुस्तक है। इस पुस्तक में आयुर्वेद के मूत्र सिद्धान्त दोष-धातु मल मूलं हि शरीरम् के अनुसार चिकित्सा के सभी सिद्धान्तों को सरलता से समझाया गया है। जिन सिद्धान्तों को बिना समझे चिकित्सक ठीक प्रकार से चिकित्सा करने में समर्थ नहीं हो सकता। लेखन शैली इतनी सरलता है कि गूढ विषय भी सरलता से समझ में आ जाता है। आयुर्वेद शिक्षार्थियों, आयुर्वेदानुरागियों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। ग्लेज कागज पर छपी ३७५ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ५.०० पोस्ट व्यय पृथक्।

बृ० पाक संग्रह

लेखक—पं० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी

रोग निवारणार्थ या आरोग्य रक्षणार्थ की जाने वाली चिकित्सा में पाक चिकित्सा का विशेष महत्त्व है। इसको ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् स्वर्गीय कृष्णप्रसाद त्रिवेदी ने इस ग्रन्थ की रचना की है इसमें ४१२ पाकों वर्णन किया गया है। आपको इस पुस्तक में लगभग मुख्य-मुख्य सभी रोगों पर अच्छे पाक मिलेंगे। पाक की निर्माण विधि, उनकी मात्रा, उनके उपयोग तथा उनकी सेवन-विधि बहुत सरल भाषा में लिखी गयी है। पाठकों के लिये अति उत्तम पुस्तक है। ३१५ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य सजिल्द ५.०० , अजिल्द ४.००, पोस्ट-व्यय पृथक्।

आयुर्वेदिक, ऐलोपैथिक, प्राकृतिक, यूनानी सभी तरह की पुस्तकों की सूची विशेषांक के अन्त में लगी है उसे देखकर पुस्तकों के आर्डर भेजिये तथा अपने ज्ञान में वृद्धि कीजिये।

अहं हि धन्वन्तरि रादिदेवो जरारुजा मृत्युहरोऽमराणाम् ।
विजैगढ़े गर्गवरस्य ग्रामे सुधानिधौ सौश्रुतश्रीवराङ्गे ॥
शल्यांगविज्ञानविवर्धनार्थं दत्तं मया शल्यचिकित्सिताङ्कम् ॥

धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ [अलीगढ़] द्वारा प्रकाशित

मंगलाचरण

सहस्राक्षं गणाधीशं स्वगुणञ्च सरस्वतीम् ।
जनकं जनयित्रीञ्च शास्त्रादौ प्रणमाम्यहम् ॥

—स्वकुलनभस्तलचन्द्रमा विवेकबृहस्पतिः श्री डल्लनः ।

रुद्र-इन्द्र गणपति स्वगुण सरस्वती जगदम्ब ।
शल्यशिरोमणि गुरुप्रवर लें प्रणाम् अम्बाम्ब ॥

—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ।

जो लोग आयुर्वेदीय शल्योपचार को आज के युग में एक इतिहास की वस्तु मानकर उसें त्याज्य समझते हैं वे एक बड़े धोखे में जीने की कोशिश कर रहे हैं। आयुर्वेदीय सर्जरी सर्वथा व्यावहारिक विषय है। चीड़-फाड़ को ऐलोपैथिक या आयुर्वेदिक नाम नहीं दिया जा सकता। काटना, चीरा लगाना, सीना, एषण, आहरण के कर्म सारी दुनियां में सर्जन आयुर्वेदिक यूनानी या ऐलोपैथिक एक सा ही करेंगे। उनकी ऐप्रोच में अन्तर सम्भव है जो प्रत्येक की अपनी विशेषता होती ही है, जैसे एक ही चिकित्सा पद्धति के भिन्न-भिन्न चिकित्सकों में ऐप्रोच का अन्तर होता है। आयुर्वेदीय सर्जरी बहुत मजबूत जड़ पर रखी हुई है। हिन्दुस्तान ने मुसलमान विदेशी फौजों से लड़ते समय अपने योद्धाओं की रक्षा में इसका सफल उपयोग किया था। देव-दानवों के युद्धों के नाम से जो ऐतिहासिक वर्णन है उसमें भी यही आयुर्वेदिक सर्जरी काम आती थी। औस्टियोमाइलाइटिस जैसे घोर रोग का अस्थि-मज्जपरिपाक के नाम से वर्णन अपने में अद्वितीय है। थोड़े वाक्यों में पूरा इलाज दे दिया है—हड्डी में पाक हुआ, द्वार नहीं मिला, घोर जलन पड़ी, हड्डी गलती चली, द्वार बन गया, भेद:प्रभ शुक्ल शीत गुरु पूय निकलने लगा। इसके इलाज का विधान सुश्रुत ने शुरू किया, इस निर्देश से—नोपगच्छेत् यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्—पाक शुरू होने से पूर्व ही भिषक् को उसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। बिना पेनिसिलीन और टैट्रासाइक्लीनों के हजारों वर्ष पूर्व सुश्रुत पाक बनने को रोकने का दावा करता है और रोकता भी है। आज के सर्जन के लिए भी यही आदर्श ज्यों का त्यों बना हुआ है। अगर पाक न रुका और पक ही गया तो कहा—पक्वे वास्थि तु भेदयेत् यहां भेदन (ड्रिलिंग) कराता है न कि छेदन (इन्सीजन) वही आज का सर्जन भी कहता है—The simplest method of draining the bone, and the one which inflicts the least trauma, is to make a series of drill holes in the cortex—टैक्स्टबुक आफ आपरेटिव सर्जरी बाई रिंटौल। भेदन के बाद कर्त्तव्य व्रण शोधनम् का उपदेश है जिसे ड्रेनिंग कहते हैं। अगर फिर भी मज्जपरिस्राव चलता ही रहे—यदि मज्जपरिस्रावो न निवर्त्तेत देहिन: तो संशोधन कषाय प्रयोग कहा गया है फिर प्रियंग्वादि तैल से व्रण-रोपण की व्यवस्था बतलाई गई है।

सब कुछ होने पर कुछ कर लेना तारीफ नहीं है। कुछ भी न होने पर रोगी के शल्य को हर कर उसे स्वस्थ कर देना तारीफ की बात है। धार जिले में डा० श्रीवास्तव सिविल सर्जन के साथ मैं कमलांपुर के औषधालय को देखने जा रहा था, चांदनी रात थी। एक छोटे बच्चे ने हमारी जीप को हाथ दिया। सिविल सर्जन ने न रुकने की सलाह दी पर मेरे ड्राइवर ने मेरे कहने पर गाड़ी रोक दी। बच्चा एक झोंपड़ी में ले गया। उसका आदिवासी पिता ज्वर से परितप्त था। सिविल सर्जन से दवा के लिए कहा, वे बोले यहां दवा कहां। हमने बांस की कोमल खपच्चियां जिनसे वह टोकरी बुनता था। हरी दूब और मेंहदी के पत्ते उसके चूल्हे पर केतली में उबाल कर पिला दिये। गाड़ी चल पड़ी, जब ११ बजे रात को लौटे उस बुड्ढे को पसीना आकर ज्वर दूर हो चुका था और डा० श्रीवास्तव चकित थे। आयुर्वेद ज्ञान शल्य या काय चिकित्सा का या शालाक्य या विषतन्त्र का सदैव ही कुछ न कुछ ऐसा करता है जो सामान्यत: पाश्चिमात्य विचारकों की कल्पना में भी नहीं आता।

—आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

सम्पादकीय

महिलारोगचिकित्सांक (१९७३), पुरुषरोगचिकित्सांक (१९७४), शिशुरोगचिकित्सांक (१९७५), जटिलरोग-चिकित्सांक (१९७६) की सुदृढ़ और सुभग शृङ्खला में सुधानिधि नामक यह अभिनव आयुर्वेदीय मासिक प्रातः-स्मरणीय स्वर्गीय पं० जगन्नाथ प्रसाद सुकुल आयुर्वेद-पंचानन तथा चिकित्सक चूड़ामणि सम्पादनकला प्रवीण गोलोकवासी श्री देवीशरण गर्ग की मंजुल सुस्मृतियों को संजोते हुए सन् १९७७ में "सुश्रुत-शल्य-चिकित्साक" नामक पांचवां विशेषांक उस समय प्रकाशित कर रहा है जब इस समय लोकसभा चुनाव की तैयारियां जोर-शोर से चल रही हैं। १॥ वर्ष पूर्व जो आपातस्थिति चल रही थी वह ढीली करदी गई है, राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर दिया गया है और मतदान युद्ध भारत के कोटि-कोटि नर नारियों द्वारा कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कोहिमा तक लड़कर विजय श्री कांग्रेस या जनतापार्टी तथा अन्य पार्टियों को दिलाने के लिए लड़ा जा रहा है। सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में लिखा है—"तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः।" संस्वेदज, जरायुज, अण्डज, उद्भिज्जसंज्ञः। तत्र पुरुषः प्रधानम् तस्योपकरणं अन्यत्। तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्।" कि चार प्रकार का भूतग्राम (प्राणिसमूह) है। स्वेदज, जरायुज, अण्डज और उद्भिज इनमें जरायु से उत्पन्न पुरुष ही प्रधान है। शेष ३ तो उसके उपकरण मात्र हैं जिन्हें वह अपने लिए प्रयुक्त करता है। इसी पुरुष को अधिष्ठान कहा गया है। पुरुष इस शब्द की व्याख्या सुश्रुत व्याख्याकार "श्री डल्लन" (डल्हणाचार्य) महोदय ने—यद्यपि अत्र पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति सामान्येन पुरुषशब्देन पशुः आदिरपि वाच्यः तथापि मनुष्यजातिरेवात्र पुरुषशब्देन उच्यते तस्योपकार्यत्वात्, इतरस्य च अप्राधान्यम् उपकरणत्वात्—करके इन्दिरागांधी सदृश नारियों, जयप्रकाशनारायण, मुरारजी भाई देसाई सदृश वृद्धों, देवकान्त बरुआ, अशोक मेहता, अटलबिहारी बाजपेयी सदृश प्रौढ़ों, संजयगांधी, गावस्कर सदृश युवकों, अम्बिका सोनी सदृश युवतियों को इस "पुरुष" संज्ञा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया हुआ है। इस मतदान युद्ध में शस्त्रयुद्ध की तरह घाव नहीं लगते अतः शल्यशास्त्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती फिर भी इस अवसर पर शल्यविशेषांक की क्या तुक है, इसका उत्तर भी सुश्रुत-संहिता में ही मिलता है—तद् दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते। ते चतुर्विधा आगन्तवः शारीराः मानसाः स्वाभाविकाश्चेति। तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्य मात्सर्यकामलोभ (स्वार्थराज्यपदलौल्य) प्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृतयः। त एते मनः शरीराधिष्ठानाः। कि दुःखसंयोग को व्याधि कहते है और वे व्याधियां ४ प्रकार की होती हैं आगन्तुज, शारीरज, मानस और स्वाभाविक। आगन्तुज अभिघात या ट्रौमाजन्य होते हैं। शारीरज या निज दोष दूष्यों के सन्निपात या वैषम्य के कारण, मानस रोग क्रोध शोक भय हर्षादि मनोद्वेगों से उत्पन्न होते हैं, उसमें स्वार्थ और राज्यलिप्सा के लिए युद्ध भी आता है। स्वाभाविक भूख, प्यास, बुढ़ापा, नींद और मृत्युरूप होते हैं। इन चारों प्रकार की व्याधियों के सन्दर्भ में शल्य की परिभाषा की

भी उपेक्षा नहीं की जा सकती—शल, श्वल आशुगमने वातु, तस्य शल्यमिति रूपम्। तद् द्विविधं शारीरं आगन्तुकञ्च। सर्व शरीरावाधकरं शल्यम्। तत्र शारीरं रोमनखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः; आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दुःखमुत्पादयन्ति। शल या श्वल जिसका अर्थ होता है शीघ्रता से जिसका गमन या प्रवेश हो। ऐसी कोई बात जो कटुता भरी हो मन में समा जाती है "अन्धों के अन्ध ही रहे" द्रौपदी की इस उक्ति ने जो दुर्योधन के मन में शल्य की तरह बैठ गई, महाभारत का कारण बनी। तरकस का तीर, बन्दूक या मशीनगन की गोली,एटम और हाइड्रोजन बम की ज्वालामयी रश्मियां कितनी तेजी से मानवजाति, पशुपक्षी सरीसृपादि का संहार करती हैं, वे सभी प्राचीन आधुनिक समय के शल्य ही हैं। शल हिंसा और रुजा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। शारीरशल्य हिंसा और रुजा दोनों को ही उत्पन्न करता है पर मानसशल्य तो महाभारत रूप विनाशक लीला का आह्वान करता और कितने परिवारों और देशों को रुजाग्रस्त बनाता है। सम्पूर्ण शरीर में आवाधा या पीड़ा शल्य देता है। रोमनख धातु अन्न मल और दुष्ट दोषों तक शरीर शल्य का व्याप है। आगन्तुज शल्य का क्षेत्र तो पूरा का पूरा ही दुखजनक स्थितियों की ओर इंगित करता है। मतदान युद्ध अनेकों को मनस्ताप देने वाला और अनेकों के मनस्ताप का निवारण करने वाला होता है। उसका परिणाम ही उसका इलाज है। उसके लिए किसी शल्यचिकित्सांक की आवश्यकता नहीं पड़ती।

गत २५ जून १९७५ से देश में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी ने विरोधी पक्ष द्वारा देश की राजनीति में एक विशेष शल्य का सूत्रपात किया था जिसने उन्हें भयंकर मनस्ताप दिया, उसकी चिकित्सा आपातस्थिति की घोषणा और क्रियान्वयन से की गई। हजारों लोगों को विना कारण बताये आन्तरिक सुरक्षाकानून के अन्तर्गत कारागृह में डाल दिया गया। पुलिस और कार्यपालिका का चहुँओर आतंक छा गया। जो लोग इन्दिरा जी के बीस सूत्रों का खुलकर समर्थन करते थे, उन्हें भी जेल के फाटकों में पहुँचा दिया गया। इनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी था। उसने अपने ९ वर्ष के गहन परिश्रम से "श्री मुकुन्दीलाल अभिनन्दनग्रन्थ" की रचना की। यह ग्रन्थ सुधानिधि साइज के ६१२ पृष्ठों में सुन्दर मैपलिथो कागज पर पूर्ण हुआ। इसमें ३०० के लगभग चित्र, ५० के लगभग अन्य पृष्ठों में उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद यूनानी की झलक दी गई है।

इस सुन्दर अभिनन्दनग्रन्थ के विमोचन के लिए जो निमन्त्रण कार्ड इण्डियन मेडीसिन बोर्ड यू० पी० लखनऊ की ओर से छपा उसमें इन पंक्तियों के लेखक का नाम भी उत्तरापेक्षी के रूप में छापा गया था। इससे राज्य-शासन थर्रा गया, उसने इस नाम को मिटाकर निमन्त्रण-पत्र भेजने के लिए बोर्ड के वरिष्ठ अध्यक्ष और कानपुर कांग्रेस के अध्यक्ष श्री चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी पर जोर डाला और मोटी काली लाइनों से हमारा नाम उड़ा दिया गया। १२ अक्तूबर को असेम्बली प्रांगण के तिलक हाल में जब यह भव्य समारोह सम्पन्न हो रहा था तब इसका ३ वर्ष तक अथक परिश्रम करने वाला इसका लेखक पीछे भीड़ में खोया हुआ खड़ा था न श्री नारायण दत्त तिवारी जी ने न श्री प्रभुनारायण सिंह जी ने न स्वयं श्री मुकुन्दीलाल द्विवेदी जी ने उसका नाम लिया कि उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद इतिहास में जिस व्यक्ति ने इतनी तन्मयता से कार्य कर इस सद्ग्रन्थ की रचना की, उसे देखने के लिए ४०० से ऊपर का जनसमूह तरसता ही रह गया।

इसका कारण यह दिया गया कि उसे देश सुरक्षा कानून के अन्दर बन्द किया जा चुका था। उस पर सर्वथा झूठा इलजाम यह था कि जब वह जामनगर आयुर्वेद विश्वविद्यालय से मौलिक सिद्धान्तों की एम० डी० आयुर्वेद की परीक्षा लेकर ७–८ दिन में लौटा था। तथा सवेरे ५ बजे जब तारे चमक रहे थे उसे पुलिस ने सोते से पकड़कर कोतवाली भेज दिया था जहां वह जामनगर की उत्तर पुस्तिकाएं जांचता रहा और जब कोतवाल साहब और पुलिस के सब इन्सपैक्टर रो-रो कर पकड़े जाने के प्रति अपनी विषादपूर्ण मुख मुद्रा बनाते हुए ११ बजे चाय पिला रहे थे। तब वह (शायद उड़कर) हाथरस के बाजार में बीससूत्री उस कार्यक्रम का विरोध कर रहा था जिसके सुन्दर सुपरिणामों को उसका लेख 'तीसरा नेत्र' छाप कर बंटवा चुका था। शाम को कलक्टरी कचहरी पर मजिस्ट्रेट

को जब बतलाया कि उसके ग्रन्थ का विलोचन उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री शीघ्र करने वाले हैं तथा वह १९७१ से ही राजनीति से अलग होकर आयुर्वेद के प्रति समस्त जीवन लगाने की घोषणा आर्यसमाज मन्दिर के मंच से कर चुका है और उसे ईमानदारी से निभा रहा है। सहृदय न्यायाधिकारी ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए जेल भेज दिया जहां से जिलाजज द्वारा २३ दिन बाद मुक्ति मिली।

यह एक घटना है किस प्रकार राजनैतिक स्वार्थ में अन्धे लोग निरपराधों को फंसाते हैं तथा शासन की उच्च कुर्सियों को कलंकित करने वाले लोगों में सद्-असद् विवेक की बुद्धि मारी जाती है। मध्यप्रदेश में आयुर्वेद के उपसंचालक पद का भार लगभग ३ वर्ष तक गरिमापूर्वक वहन करने के बाद ऐसे ही एक अन्धे शासक की कृपा से इन पंक्तियों के लेखक को उपसंचालक आयुर्वेद पद से हटना पड़ा। राजनीति का जो आज स्वरूप है वह सन्त-असन्त दुर्जन सज्जन न्याय अन्याय में कोई अन्तर नहीं करता। अपने स्वार्थवश वह उन राष्ट्रनायकों को भी दण्ड देने में नहीं चूकता जो उसके स्वार्थ में बाधा डालते हैं। आज छठे लोक सभा के निर्माण के समय जो मतदान युद्ध हो रहा है उसमें शल्य खाये हुये और शल्य चलाने वाले दोनों ही मैदान में खड़े हैं। श्री जगजीवन राम ने अभी अपना त्यागपत्र देकर कांग्रेस फौर डैमोक्रेसी का नारा बुलन्द किया है। उनके साथ कई लोगों ने कांग्रेस छोड़ी है। देश की बागडोर इन्दिराजी आपातकालीन शस्त्र और विधान में अनेक परिवर्तनरूप अस्त्र चलाकर अनेक विरोधी दलों में अन्तः शल्य का प्रखर रूप ले चुकी हैं। उनके युवा पुत्र संजयगांधी युवक कांग्रेस की शक्ति के साथ मैदान में कूद पड़े हैं राजनीति के इन अन्तः शल्यों के कारण उत्पन्न मानसशल्य का उपचार न कोई धन्वन्तरि लिख सका है न उस पर सुश्रुत संहिता में कोई अध्याय है और न नागार्जुन या डल्लन ने ही प्रतिसंस्कार या टीका में ही कुछ लिखा है।

धन्वन्तरि और दिवोदास धन्वन्तरि

इस सुश्रुत संहिता के कर्त्ता के विषय में इस विशेषांक में अहं हि धन्वन्तरि आदि देव से एक नितान्त नूतन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। कुछ और भी मतमतान्तर लोक में प्रसिद्ध हैं इनका भी अलोडन मनन और शोध की दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। वैदिक वाङ्मय में विशेषकर जहां ऋग्वेद में वैद्यक विषयों का समावेश किया गया है वहां देवभिषक् अश्विनीकुमारों का वर्णन तो उपलब्ध होता है पर वैद्य धन्वन्तरि का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में तथा अन्यत्रा भी अनेकों स्थानों पर दिवोदास राजा के पराक्रम का तो विचार किया गया है पर वैद्य दिवोदास का नहीं मिलता। इस दिवोदास का काशिराज दिवोदास के साथ तालमेल बैठना संभव नहीं दिखाई देता। काठकसंहिता में भी दिवोदस का वर्णन है पर वैदिक और काठकसंहितीय दिवोदास काशिराज से भिन्न जिनका धन्वन्तरि से कोई सम्बन्ध नहीं ऐसा प्रतीत होता है। पण्डित हेमराज शर्मा नेपाल राजगुरु ने काश्यपसंहिता के सुविस्तृत उपोद्घात में इस विषय की व्यापक चर्चा की है। उन्होंने हरिवंश पुराण के २९ वें अध्याय में काश के वंश के वर्णन के आधार पर लिखा है कि काश के पुत्र दीर्घतपा हुए उनके पुत्र धन्व हुए धन्व के धन्वन्तरि हुए धन्वन्तरि के केतुमान् केतुमान् के भीमरथ या (भीमसेन) भीमरथ के दिवोदास, उनके प्रतर्दन, प्रतर्दन के वत्स और वत्स के पुत्र अलर्क हुए। समुद्र मन्थन से उत्पन्न अब्ज नामक धन्वन्तरि की आराधना से अब्जावतार के रूप में काश के पौत्र धन्वन्तरि का जन्म हुआ जो कि धन्व के पुत्र थे। इन धन्वन्तरि ने भरद्वाज से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करके फिर उसे अपने आठ शिष्यों को प्रदान किया। इस धन्वन्तरि का पौत्र दिवोदास ने वाराणसी नगरी को बसाया था। यह नगरी फिर उजड़ जाने से दिवोदास के पौत्र अलर्क ने उसे फिर से नये सिरे से बसाया था। हरिवंशपुराण के इस कथन की पुष्टि महाभारत के अनुशासनपर्व से इस प्रकार होती है—

सौदेवस्त्वथ काशीशो दिवोदासो ऽभ्यषिच्यत ।
दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम् ।।
वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ।।

इस प्रकार महाभारत में जिस दिवोदास का वर्णन है वह काशीपति था वाराणसी की प्रतिष्ठापना कर चुका था, हैहयों द्वारा पराजित होने पर भरद्वाज ऋषि की शरण गया था तथा भरद्वाज द्वारा बतलाये गये पुत्रेष्टि द्वारा उसे प्रतर्दन नामक वीर पुत्र प्राप्त हुआ था इतना वर्णन मिलता है। यह दिवोदास इसी धन्वन्तरि के वंश में था इसलिए उसने अपने नाम के आगे धन्वन्तरि शब्द का प्रयोग कर रखा था ऐसी मान्यता शर्मा जी की है। यदि यह मान्यता सत्य मान भी ली जावे तो वह आज की प्रथा के अनुसार यह व्यवस्था नहीं है कोई भी अपने वंश के पूर्वजों का सम्मान तो करता है पर वह स्वयं को पूर्वज नहीं कहता। काशीराज दिवोदास तो अपने को अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवः जरारुजामृत्यु हरोऽमराणाम् कहते हैं वे तो अपने को आदि देव का अवतार मानते हैं न कि अपने प्रपितामह का अवतार। पर यतः उनके प्रपितामह अब्जावतार थे अतः उन्हें वे स्वयं अपने को धन्वन्तरि आदि देव के अवतार के रूप में मानना चाहिए था न कि सीधे आदि देव ही अपने को बताना था। प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों को भी तोड़ा मरोड़ा नहीं जा सकता। साथ ही उनके द्वारा सुश्रुत संहिता में जो उन्होंने अपना परिचय दिया है उसे भी सामने रखकर उनकी अहमियत का ध्यान रखना होगा। उन्होंने जो कार्य किया है उसे कोई अवतारी पुरुष ही कर सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल धन्वन्तरि या आदि धन्वन्तरि जो स्वयं समुद्र मन्थन से उत्पन्न हुए थे वे देव रूप ही थे तथा बाद में उनके अवतार रूप में अन्य अनेक धन्वन्तरि हुए। मिलिन्दोपाह्न नामक पाली ग्रन्थ में भदन्त नागसेन ने जिन धन्वन्तरि का उल्लेख किया है—भन्ते नागसेन, ये ते अहेसुं टिकिच्छकानं पुब्बका आचारिया, नारदो, धम्मन्तरि अङ्गिरसो कपिलो कण्डरग्गिसामो, अतुलो पुब्बकच्चायनो सब्बे ये ते आचारिया आदि शब्दों में इन्हीं मूल धन्वन्तरि की ओर अंगुलिनिदेश है। पर जिन धन्वन्तरि से सुश्रुतादिक ने विद्या ग्रहण की वे काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि ही थे जो स्वयं को आदि देव धन्वन्तरि का अवतार मानते थे जो इस धरती पर शल्यतन्त्र का विकास अन्य तन्त्रों के साथ करने के लिए पैदा हुए थे—प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुं शल्यांगमंगैरपरैरुपेतम्। बौद्ध जातकों में मूल धन्वन्तरि का उल्लेख है। विक्रम की सभा में एक धन्वन्तरि का नामोल्लेख किया गया है पर यह नाम वैद्य का नहीं है अपि तु गणितो धन्वन्तरिः कवि: ऐसा दिया है।

एक बात और, वह यह कि चरकसंहिता में धन्वन्तरीय, धन्वन्तर आदि शब्द तो मिलते हैं पर दिवोदास का या सुश्रुत का नाम नहीं लिखा गया इससे लगता है कि सुश्रुतसंहिता पहले का ग्रन्थ है चरक बाद का। काश्यपसंहिता में धन्वन्तरि का नामोल्लेख किया गया है। चरकसंहिता में तो धन्वन्तरि सम्प्रदाय तक का वर्णन होने से धन्वन्तरि के साथ उसके अन्य सम्प्रदायवादियों तक का उल्लेख करके सुश्रुतसंहिता से परवर्ती होना ही सिद्ध करता है।

गरुणपुराण में भी हरिवंश पुराणोक्त वंशावली को ही स्वीकार किया गया है।

वैद्यो धन्वन्तरिस्तस्माद् केतुमांश्च तदात्मजः।
भीमरथः केतुमतो दिवोदासस्तदात्मजः ।।
—गरुड़पुराण अध्याय १३९

सुश्रुत ?

धन्वन्तरि के विषय में पूर्ण क्या थोड़ा भी ज्ञान ठीक-ठीक नहीं मिलता। वही स्थिति सुश्रुत की हो चली है। महाभारत अनुशासन पर्व उन्हें विश्वामित्र का पुत्र मानता है—

श्यामायनोऽथ गार्ग्यस्व जाबालिः सुश्रुतस्तथा ।
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः ।।

इसीको सुश्रुतसंहिता के उत्तर तन्त्र में स्वीकार किया गया है—

विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति ।
—उत्तर तन्त्र अ० ६६

चक्रदत्त में भी इसकी पुष्टि हुई है—अथ परम कारुणिको विश्वामित्र सुतः सुश्रुतः शल्य प्रधानमायुर्वेदतन्त्रं

प्रणेतुमारब्धवान् । ऋग्वेद में जो विश्वामित्र शब्द है या रामायण में जो विश्वामित्र का उल्लेख किया है वे प्राचीन महर्षि हैं जो सुश्रुत के पिता से भिन्न हैं । त्रेतायुग वाले राम के धनुर्वेदोपदेष्टा विश्वामित्र होते तो सुश्रुतसंहिता त्रेताकाल का होता उसमें कृष्ण का नाम न आता पर चिकित्सा स्थान अ० ३० में—

महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि ।
तपसा तेजसा वापि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ।।

महेन्द्र के साथ राम और कृष्ण तक के नामों का उल्लेख इन्हें कृष्ण के काल के बाद का ही स्वीकार कराता है । ये विश्वामित्र त्रेता युग से अलग थे और वैद्य भी रहे होंगे क्योंकि डल्लन ने एक उनका नुस्खा अपनी टीका मे दिया है :—तथा चोक्तं विश्वामित्रेण—यावशूकस्य पानं तु कुलत्थक्षारवारिभिः । ये वैद्य विश्वामित्र अपने पुत्र को भी आज के अनेक वैद्यों की तरह शल्यतन्त्र में जगत्प्रसिद्ध आचार्य भगवान् धन्वन्तरि के समान सर्वथा योग्य काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के आश्रम में पढ़ने भेजना चाहते थे और इसीलिए उन्हें आज्ञा देकर वाराणसी भेज दिया—

अथ ज्ञानदृशा विश्वामित्रप्रभृतयोऽविदन् ।
अयं धन्वन्तरिः साक्षात् काशिराजोऽयमुच्यते ।।
विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्रं सुश्रुतमुक्तवान् ।
वत्स वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम् ।।

भावप्रकाश में इन श्लोकद्वय में प्रमाण मिलता है । यह सुश्रुत किस काल में उत्पन्न हुआ इस पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का दायरा बहुत संकुचित और दूषित प्रतीत होता है । चीनी भाषा से श्री तुच्ची ने उपाय हृदय नामक एक बौद्ध दर्शन ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित किया है । यह ग्रन्थ लगभग २००० वर्ष पुराना है इसमें भैषज्य विद्या का वर्णन करने के बाद आगम वर्णन प्रसंग में 'यथा सुवैद्यको भेषजकुशलो मैत्रचित्तेन शिक्षकः सुश्रुतः' ऐसा लिखा है जो सुश्रुत की प्रतिष्ठा भैषज्य विद्या के आचार्य के रूप में की है । एक सज्जन तो सुश्रुत नाम का कोई विद्वान् कभी हुआ ही नहीं ऐसा प्रतिपादित करते हैं सुश्रुत के पारिवारिकजनों का सौश्रुतपार्थिवाः नाम से पाणिनि द्वारा प्रयोग सुश्रुत को पाणिनि से काफी पूर्ववर्ती स्वीकार कराने के लिए पर्याप्त है । महाभाष्यकार ने कुतपवासा सौश्रुतः कुतपसौश्रुतः लिखकर उसके वंश को अपने से पूर्ववर्ती स्वीकार किया है । इन सभी प्रमाणों से सुश्रुत पाणिनि के पूर्ववर्ती तथा दिवोदास के समान ही उपनिषत्कालीन बौद्धकाल से भी पहले के महापुरुष हैं यह मानना युक्तियुक्त है ।

विश्वामित्र पुत्र सुश्रुत जिसने सुश्रुतसंहिता लिखी एक और सुश्रुत का नामोल्लेख शालिहोत्र के पुत्र के रूप में भी मिलता है—

१—शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुतः परिपृच्छति ।
एवं पृष्टस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभ्यभाषत ।।
—शालिहोत्र

२—शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम् ।
तत्त्वं यद्वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम् ।।
—सिद्धोपदेश संग्रह

शालिहोत्र पुत्र सुश्रुत भी महाभारत कालीन हैं क्योंकि महाभारत के वनपर्व मे उसका नामोल्लेख किया गया है—शालिहोत्रोऽथ किन्तु स्याद् हयानां कुलतत्त्ववित् ।
—अ० ७२

गरुड़पुराण ने तो क्षीरसागर के मन्थन से प्राप्त धन्वन्तरि को ही सुश्रुत गुरु माना है—

क्षीरोदमथने वैद्यो देवो धन्वन्तरिर्ह्यभूत् ।
बिभ्रत् कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः ।।
आयुर्वेदमथाष्टांगं सुश्रुताय स उक्तवान् ।
—अध्याय १४२

नागार्जुन ?

डल्लन ने अपनी टीका में 'प्रतिसंस्कर्ताऽपीह नागार्जुनः' ऐसा उल्लेख किया है । पर इस डल्हणाचार्य के वाक्य के अतिरिक्त और कोई प्रमाण यह सिद्ध नही करते कि सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने किया है । चरक में जैसे 'अग्निवेशकृतेतन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते' लिखा मिलता है सुश्रुत संहिता में उपलब्ध नही होता । उपाय-

हृदय में जिस आर्य नागार्जुन का वर्णन किया गया है वह बौद्ध है—हेमराज शर्मा लिखते हैं—शान्तिप्रधाने, बौद्ध-मार्गपरिनिष्ठितो बोधिसत्त्वस्थानीयो विद्वान् शस्त्रसाध्यायां शल्यविद्यायां कुतो वा प्रवृत्तः स्यादित्यपि सन्देग्धि चेतः। अर्थ सुस्पष्ट ही है। अगर किसी तान्त्रिक नागार्जुन ने सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार किया होता तो भी ग्रन्थ पर बौद्धधर्म के दर्शन तथा विचारों की कुछ तो छाया पड़ी ही होती। पर इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म का लेशमात्र भी न होने से नागार्जुन के बौद्ध होने की कल्पना निरस्त हो जाती है। किन्तु आठवीं शताब्दी के अरब पर्यटक "अलबेरूनी" ने अपनी यात्रा के वर्णन में अपने से १०० वर्ष पूर्व रसायनविद्या निपुण बोधिसत्त्व नागार्जुन नामक विद्वान् का उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी में चीन के एक यात्री ह्वेनसांग ने भी शतवाहन के मित्र बौद्ध विद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का अपनी यात्रा में उल्लेख किया है जो पत्थर को भी सोना बनाने की क्षमता रखता है। राजतरंगिणीकार कल्हण भी भगवान् बुद्ध के जन्म के १५० वर्ष पश्चात् उत्पन्न महाविद्वान् नागार्जुन का उल्लेख इन शब्दों में करता है—

> तदाः भगवतः शाक्यसिंहस्य परनिर्वृते।
> अस्मिन्महीलोकधातौ सार्द्धं वर्षशतं ह्यगात्॥
> बोधिसत्त्वश्च देशे ऽस्मिन्नेको भूमीश्वरोऽभवत्।
> स च नागार्जुनः श्रीमान्..........................॥

शर्मा जी अपने संग्रहालय के ताड़पत्रों पर लिखे शालवाहन चरित से, "दृष्टतत्वो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाराजगुरुः श्रीनागार्जुनाभिधानः शाक्यभिक्षुराजः" ऐसा लिखा हुआ बतलाते हैं। शतवाहन कालीन ये नागार्जुन तान्त्रिक नागार्जुन हैं जिन्होंने तत्त्वप्रकाशादि ग्रन्थ लिखे हैं। वृन्द और चक्रपाणि ने अपने-अपने ग्रन्थों में नागार्जुन के कई योग दिये हैं इससे स्पष्ट है कि वैद्य विद्याचार्य के रूप में भी नागार्जुन की ख्याति थी। उपाय हृदयकार नागार्जुन दर्शन विषयक ज्ञान के बाद भैषज्य विद्या का उल्लेख तो किया है पर उसमें धातु-रसायन विषयक विषयों का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं है जो 'सिद्धे रसे करिष्ये निर्दारिद्रयमिदं जगत्' के घोषकर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इससे उपाय हृदयकार आर्य नागार्जुन अलग थे ऐसा भासित होता है। राजतरंगिणी का जो ऊपर उद्धरण दिया गया है वे भी नागार्जुन थे न कि रसशास्त्र के उद्धारक या सुश्रुत संहिता के प्रति संस्कर्ता। कौन वे नागार्जुन थे जिन्होंने सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार किया अभी भी जानना सम्भव नहीं हो पा रहा। इसके लिये शक्तिशाली प्रमाणों की आवश्यकता है। सम्भव है आयुर्वेद के परम विद्वान् पं० प्रियव्रत शर्मा, प्रोफेसर चिकित्सा-विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय ने अपने आयुर्वेद इतिहास विषयक ग्रन्थ में कुछ प्रकाश डाला हो पर वह ग्रन्थ हमें प्रकाशक महोदय या लेखक महोदय ने नहीं भेजा। हमारे जैसे लोग जो १४ घण्टे एक आसन पर बैठकर आयुर्वेद भारती का अध्ययन करते हैं उन्हें उत्तमोत्तम ग्रन्थों को प्रकाशक न भेजें यह एक विडम्बना ही कही जायगी क्योंकि ऐसे लोग देश में १०-१२ से अधिक नहीं हैं। आशा है आगे उत्पन्न होने वाले प्रकाशक अपने इन आयुर्वेद भारती के वरद किन्तु लक्ष्मी शप्तपुत्रों को न भूलेंगे। हमारे द्वारा लिखित ग्रन्थों को भी सभी विद्वानों को भेंट करना प्रकाशक महोदयों का कर्त्तव्य है इससे प्रचार ही होता है।

महामहोपाध्याय डल्लन या डल्हणाचार्य

ये ब्रजभूमि के ही रत्न हैं जिन्होंने संहिता पर निबन्ध संग्रह नामक विश्वविश्रुत टीका लिखी है। आप सौरवंशीय ब्राह्मण जाति में पैदा हुए जिस कुल में अनेक उत्तम वैद्य हुए। आप मथुरानगर के पास अंकोला नामक ग्राम के निवासी थे। इनके कुल में सर्वप्रथम गोविन्द नामक चिकित्सक हुए उनके पुत्र वैद्य जयपाल हुए उनके पुत्र भरत-पाल हुए जो वैद्य तो नहीं थे पर समस्त शास्त्रार्थ तत्वज्ञ थे उनके सुपुत्र महामहोपाध्याय डल्लन हुए जो सहनपाल देव नामक राजा की छत्रच्छाया में रहते थे। ब्रजभूमि में यह नाम डल्लन प्राचीन परम्परा का नाम नहीं है। ऐसा लगता है कि भरतपाल को बड़ी कठिनाई से कई पुत्रों के काल-कवलित हो जाने के बाद इनकी प्राप्ति हुई होगी इसीलिए

ऐसा विचित्र नाम रख दिया गया होगा आज भी डल्ला, दमड़ी, खचेरा आदि नाम उसी परिपाटी में व्रज में रखे जाते हैं कि किसी नाम से भी बच्चा जी पड़े। इनके नाम के आगे महामहोपाध्याय नामक विशेषण इनके अद्वितीय विद्वान् होने की सूचना देता है। टीका में वनस्पतियों के नामों के उल्लेख में व्रजभाषा के शब्द आते हैं इससे इनका व्रजप्रदेशीय होना सिद्ध हो जाता है। जैसे कण्टकी, काइवा अर्जुन को 'कौहा' मोरट को 'मोइहर' तिनिश को 'सादन' वनबर्बरिका को 'साउहा' सर्ज को 'राल' कर्परिकातुत्थ को 'खपरिया' मधूक को 'महुआ', कट्फल को 'कायफल', शणपुष्पा को 'शनहुली', स्वर्णक्षीरी को 'हियावली' श्लेष्मातक को 'लिसोड़ा' मूर्वा को 'हथोड़' जीवन्ती को 'डोडी', आज भी यहां बोला जाता है। डल्हण ने अपनी टीका में श्लेष्मा तक को सपिस्ता नहीं कहा न किसी यूनानी नाम को ही लिखा है इनसे इतना स्पष्ट होता है कि इन्होंने भी इस ग्रन्थ की टीका उस काल में की जब जर्राही का बोलवाला अधिक न हो पाया था। किन्तु महामहोपाध्याय का अलंकरण बहुत प्राचीन नहीं होने से उन्हें अधिक प्राचीन भी नहीं माना जा सकता। स्वयं आयुर्वेदीय इतिहास के अधिक जानकार न होने से इतिहास विषयक ग्रन्थों से पाठकगण सभी सुश्रुत-संहिता से सम्बद्ध महानुभावों की जानकारी कर लेंगे ऐसी प्रार्थना है।

सुश्रुत संहिता

शल्यशास्त्र या सर्जरी पर सुश्रुत संहिता विश्व का श्रेष्ठतम प्राचीन ग्रन्थ है। इसके कारण ही भगवान् धन्वन्तरि को शल्यशास्त्र का जनक या फादर आफ सर्जरी कहा जाता है। उनके शिष्य सुश्रुत ने जिस योग्यता से भगवान् धन्वन्तरि के समस्त लैक्चर नोटों को एकत्र कर इस संहिता की रचना की है वह भी अपने में अद्वितीय है। सबसे पहले सूत्रस्थान आता है। इसका पहला अध्याय "वेदोत्पत्ति नाम" वाला है, इसमें आयुर्वेद का परिचय दिया गया है कि यह अथर्ववेद का उपांग है इसकी रचना स्वयं ब्रह्मा जी ने एक लाख श्लोक रच कर की थी फिर यही लोगों की अल्प आयु और अल्प मेधा का ध्यान कर उसे संक्षिप्त कर ८ अंगों में बांट दिया गया। इनमें शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र, वाजीकरण आते हैं। आयु शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म संयोग का ज्ञान जिससे हो या जिसकी प्राप्ति जिस शास्त्र के द्वारा हो वह आयुर्वेद कहलाता है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान के द्वारा प्राप्त होता है। इस अध्याय में आठों अंगों में शल्यतन्त्र की अधिकतम महत्ता दी गई है इसे शाश्वत, पुण्य, स्वर्ग्य, यशस्य, आयुष्य तथा वृत्तिकर माना गया है। इस ज्ञान की शृङ्खला, ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र से धन्वन्तरि तक कही गई है। साथ ही इसी अध्याय में भगवान् धन्वन्तरि के अवतार के रूप में काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि उत्पन्न हुए हैं इसका भी उद्घोष किया गया है। यहीं पञ्च महाभूत शरीरिसमवायः पुरुषः यह पुरुष की व्याख्या की गई है। लोक को स्थावर, जंगम सौम्य, आग्नेय इन भेदों में स्वीकार किया गया है। ४ प्रकार के भूतग्राम और उनमें पुरुष की प्रधानता स्वीकार की गई है। यहीं ४ प्रकार की व्याधियों और उनको दूर करने के लिये संशोधन, संशमन, आहार, आचार से ४ निग्रहहेतु वतलाये गये है। यहीं आहार की महत्ता बल वर्ण ओज के मूल के रूप में दी गई है। यह आहार ६ प्रकार के मधुराम्ल लवण कटु तिक्त कषाय के आधीन है ये रस द्रव्य के आश्रित होते हैं। द्रव्यों को औषधियां कहा जाता है वे १. स्थावर—वनस्पति, वृक्ष, वीरुध, औषधि रूप ४ प्रकार की तथा २. जंगम—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज ४ प्रकार की तथा पार्थिव—स्वर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, मनःशिला, मृत्कपाल रूप होती हैं। बीजरूप से इस अध्याय में और भी बहुत कुछ दे दिया गया है। और जो यहां दिया है उसी की व्याख्या आगे १२० अध्यायों में दी जायगी ऐसी स्पष्ट सूचना दे दी है—बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम्। सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति॥ इन १२० अध्यायों को संहिता में सूत्र, निदान, शारीर,

चिकित्सा, कल्प और उत्तरतन्त्र इन ६ भागों या स्थानों में बांटा गया है। इसका प्रकाशन स्वयं काशिपति ने किया है जो पुण्यकर्मा और अखिल विश्व में पूज्य थे। वे राजा मृत्यु होने पर सीधे इन्द्रलोक गये यहां तक लिखा है। दूसरा अध्याय "शिष्योपयनीय" कहलाता है जिसमें किसे शिष्य बनाना, शिष्य बनाते समय क्या विधि अपनानी, उसे क्या उपदेश देना, किस प्रकार शिष्य की विद्या प्रकाशित होती है, यह सब बतलाते हुए कौन-कौन दिन आयुर्वेद का अनध्याय होता है स्पष्ट किया गया है। इसमें स्वतन्त्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु जब अपने देश के राष्ट्रपति या अन्य प्रधानमन्त्री आदि के बीमार होने पर भी पढ़ाई बन्द कर प्रार्थना करनी चाहिए कि वह स्वस्थ हो जावे।

तीसरा अध्याय "अध्ययन सम्प्रदानीय" कहलाता है इसमें पूरी संहिता के अध्यायों की सूची या अनुक्रमणिका दी गई है। सूत्रस्थान के ४६, निदान के १६, शरीर-स्थान के १०, चिकित्सास्थान के ४०, कल्पस्थान के ८ तथा उत्तरतन्त्र के ६६ इस प्रकार १२० अध्यायों की नामावलि दी गई है। इन्हीं में आयुर्वेद के आठों अंगों का समावेश होता है इनका अवश्य अध्ययन शिष्य को करना चाहिए, पढ़कर उसमें बतलाये हुए कर्मों का अभ्यास करना चाहिए ज्ञान और अभ्यास इन दोनों का ज्ञाता उभयज्ञ ही राजार्ह राजा के द्वारा चिकित्सा करने की आज्ञा देने योग्य माना जाता है—"उभयज्ञो हि भिषक्" राजार्हो भवति। जिस प्रकार रथ २ पहियों पर चलता है और संग्राम में काम आता है वैसे ही प्रत्यक्षज्ञान और प्रत्यक्ष कर्माभ्यास वाला उभयज्ञ वैद्य सभी अर्थों के साधने में समर्थ होता है।

> यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने।
> आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥

जो केवल कर्म जानता है पर शास्त्र में अनभिज्ञ है जैसे आजकल कितने ही चिकित्सक देखे जाते हैं उसे पूजनीय तो माना ही नहीं है सुश्रुत उसके वध तक की आज्ञा राजा को देता है—

> यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्र बहिष्कृतः।
> स सत्सु पूजां नाप्नोति वधञ्चार्हति राजतः ॥

साथ ही जो केवल शास्त्र जानता है कर्माभ्यासी नहीं है वह रोगी को देखकर घबरा जाता है। ये दोनों ही एक-एक पंख वाले पक्षी के समान बेकार माने गये हैं।

सूत्रस्थान का चौथा अध्याय "प्रभापणीय" कहलाता है। इसमें पहला ही श्लोक कमाल का है—

> यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य
> वेत्ता न तु चन्दनस्य।
> एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य
> चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति ॥

कि अगर रट-रट कर श्लोक कोई उनको बोलने वाला भले ही बन जाय पर उनके अर्थ को न प्रकट कर सके तो वह उसी प्रकार है जैसे कि चन्दन की लकड़ियों को ढोने वाला गधा जो केवल बोझ तो चन्दन का जानता है पर चन्दन के गुणों से परिचित नहीं है। इसलिए जो अनेक लोग अनेक शास्त्रों के पढ़ने की सिफ़ारिश करते हैं और उनको समझना आवश्यक नहीं मानते उन्हें सुश्रुत बोझ ढोने वाला गधा के समान् मूर्ख ही मानता है। इस प्रकार केवल एक शास्त्र निष्णात की भी उसने निन्दा की है क्योंकि एक शास्त्र से पूरा ज्ञान नहीं मिलता—तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः की उसने सिफारिश की है। इस विषय पर इस विशेषांक में शल्य-समन्वय के लेखक हरिद्वार के भिषक् सम्प्रदाय के मुकुट-मणि आचार्य अनन्तराम शर्मा ने बहुत ही गवेषणात्मक लेख पृष्ठ ५२-५४ में दिया है।

सूत्र का पांचवां अध्याय "अग्रोपहरणीय" कहलाता है। इसमे "त्रिविधं कर्म"—पूर्व कर्म, प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म का सटीक विचार किया गया है। इस विषय का विशद विवेचन किया है काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से शल्य विषयक स्नातकोत्तर ज्ञान से संवृद्ध और शल्यतन्त्र के प्रत्यक्ष कर्माभ्यास एवं शास्त्रज्ञान से संतृप्त सही मानियों से उभयज्ञ "आचार्य डा० सी० पी० शर्मा ने जो आजकल साहू रामनारायण आयुर्वेद महा-विद्यालय बरेली में प्राचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं तथा बरेली क्षेत्र के प्रमुख सर्जनों में आज जिनकी गिनती है। सर्जीकल ऑपरेशन कैसे किया जाय, किस गुणयुक्त भिषक् द्वारा किया जाय कितना किया जाय पहले क्या प्रिकॉशन

लें बाद में क्या सतर्कता बरतें इसे उन्होंने जितना स्पष्ट किया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। इस अध्याय में रक्षाकर्म का अपना विशेष महत्व है। किस प्रकार व्रण को सैप्टिक होने से बचाया जाय—

कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च।
रक्षाकर्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम्॥

इस अध्याय में पृथ्वी एवं आकाश में विचरण करने वाले निशाचरों का जो उल्लेख किया गया है वह रोगाणुओं (रोगकर्त्ता जीवांशों और वनस्पत्यंशों) की ओर ही सुस्पष्ट निर्देश है। इन निशाचरों से रक्षा के लिए जिन देवताओं का आह्वान किया गया है वे एण्टीबायोटिक टाइप के अवश्य नहीं हैं जो लाभ के साथ हानि भी पहुंचाते हैं वे तो सर्वथा रोगी को लाभ ही पहुँचाते हैं रक्षा ही करते हैं। इसके लिए उन्होंने अग्नि, सोम, पर्जन्य विद्युत, स्तनयित्नवः (मेघ), इन्द्र, मनुर्मति, गन्धर्व, वरुण, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, छाया, आप (जल), औषधियां, आकाश, वसुन्धरा, वैश्वानर, विष्णु, पुरुष, ब्रह्मा, ध्रुव का आह्वान किया है। इन सभी में इन निशाचर रूप रोगकारक जीवांशों के संहार की शक्ति बतलाई गई है। उदाहरण के लिए देहं तब वसुन्धरा—शरीर के पार्थिव तत्व की रक्षा पृथ्वी कर सकती है। यक्ष्मा में पार्थिवतत्व घटता रहता है शरीर का भार कम होता रहता है इसकी पूर्ति के लिए वसुन्धरा या पृथ्वी का एक मोल्ड स्ट्रैप्टोमायसीज से निर्मित स्टैप्टोमायसीन परम उपकारक सिद्ध होता है। इसी प्रकार जितने नाम गिनाए हैं उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयोग रोगनाशक रोगाणु संहारक रूप में ढूंढा जाना चाहिए। मेघ डिस्टिल्डवाटर देकर विद्युत—कॉटरी में सहायता करके,अग्नि प्रत्यक्ष स्टर्लाइजेशन में कार्यकर होने से तथा सूर्य की अल्ट्रावायोलैट किरणें रोगाणुओं को जलाकर हमारी रक्षा करती हैं।—

एतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्याव्याधिविनाशनैः।
मयैव कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नु हि॥

हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि एक पौराणिक या कर्मकाण्डी की तरह आयुर्वेद के सूत्रों को रट भर मत जाइये इनके अन्दर प्रवेश कीजिए और कुछ ऐसा खोजिये जो सारवान् हो। प्राचीनकाल में हम सफल आपरेशन करते थे और मरक संख्या आपरेटैड केसैज की नगण्य होती थी। लुई पाश्चुर और लिस्टर के पूर्व, गरम पानी, खौलता काढ़ा, शौच विचार सब उसी ओर इङ्गित करते हैं जिसे आज का सर्जन नये अक्षरों में लिखी पुस्तक में ढूंढता है। शस्त्रनिपात के कारण उत्पन्न वेदना को मुलहठी का चूर्ण घी में मिला गरम-गरम लेप करके सबसे पहले धन्वन्तरि ने ही शान्त किया था—

या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन॥

इसे पुनः करके देखने में क्या बाधा है?

छठा अध्याय सूत्र स्थान का ऋतुचर्या पर है। किस ऋतु में किस दोष का संचय और प्रकोप होता है इस पर बड़ा मार्मिक वर्णन स्टेट आयुर्वेद कालेज लखनऊ के शरीर विभागाध्यक्ष आचार्य "डा० पूर्णचन्द्र जैन' महोदय ने विशेषांक के पृष्ठ२५५ से २६० तक किया है। डा. जैन उन धीर वीर गम्भीर अधिकारियों में से हैं जिनका जीवन आयुर्वेदोन्नति हेतु किये गये कार्यों के लिए पूर्णतया समर्पित है वे चेतना के आगार और प्रेरणा के स्वरूप हैं। इस अध्याय का यह वाक्य—"कदाचिद् अव्यापन्नेषु ऋतुषु कृत्याभिशापरक्षः क्रोधाधर्मैरुपध्वस्यन्ते जनपदाः"। कभी-कभी जब ऋतुओं में कोई विकृति नहीं होती वे पूर्ण प्राकृत रूप में रहती हैं तब भी कृत्या—अभिशाप-रक्ष-क्रोध-अधर्म इनमें से कोई भी या कई या सभी मिलकर जनपदों का उपध्वंस कर देते हैं। चरक के जनपदोद्ध्वंसनीय विमान के विचारों के साथ यहां कितना साम्य है। यही आधुनिक जिसे अलर्जी (Allergy) कहते हैं इसका भी निदेश कर दिया गया है—विषौषधि पुष्पगन्धेन वायुना उपनीतेन आक्रम्यते यो देशः तत्र दोष-प्रकृति-अविशेषेण कास-श्वास-वमथु-प्रतिश्याय—शिरोरुक्-ज्वरैः उपतप्यन्ते—यही न लक्षण फ्लू और अलर्जी के आज व्याप्त हैं? सुश्रुत ने सूत्र रूप में उन्हें दिया है। वह कुछ आगे ग्रहनक्षत्रों के विवरण के प्रभाव की ओर भी इङ्गित करता है तथा गृह-दारा, शयन-आसन-यान-वाहन-मणि-रत्न-उपकरण के प्रभाव से उत्पन्न अलर्जी को भी स्वीकार करता है। इस व्यक्तिगत, देशगत या जागतिक अलर्जी की रक्षा के साधन भी सूत्र रूप में गिना देता है—

तत्रस्थानपरित्याग-शान्तिकर्म-प्रायश्चित्त-मंगल-जप-होम-उपहार-इज्या-अञ्जलि-नमस्कार-तपोनियमदयादान-दीक्षाभ्युपगम-देवता ब्राह्मणगुरुपरैर्भवितव्यम् एवं साधु भवति । इनमें क्या करना इस पर गवेषक सोचें । आज जो क्लाइमेट सूट न करने का सर्टिफिकेट डाक्टर जी देते हैं उसे स्थानपरित्याग के अन्तर्गत स्थानगत-अलर्जी होने पर वैद्य भी प्रमाणपत्र दे सकता है । "इज्या और होम" का इस देश में इतना व्यापक प्रसार कराया गया इसके पीछे क्या राज है कभी सोचा ? पूरा देश हर घर में घी पलाश गन्ध द्रव्य जलाता हुआ और वेद मन्त्रोच्चारण करता हुआ एक काल में मिलता था वह क्यों ? इसलिए कि जागतिक फ्लू से बचने और पर्यावरण के दूषण को रोकने का यज्ञ से बढ़कर कोई उपाय तब नहीं था । अब भी नहीं है । हमने मलेरिया-फाइलेरिया यक्ष्मा आदि रोगों को सीमित करके इसी यज्ञ के द्वारा रक्खा इसकी ओर आज रिसर्च क्यों कण्डक्ट नहीं की जाती है ? आज अगर

श्री गोपालशरण गर्ग सम्पादक—सुधानिधि

बता दिया जाय तो रूस और अमेरिका यूरोप और अन्य देशवासी घर-घर में अपने बच्चों को डिफ्थीरिया और पोलियो यक्ष्मा और कुष्ठ से बचाने हेतु हवन करेंगे और वेदमन्त्र बोलेंगे । मैं यह भावावेश में नहीं एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर कह रहा हूं ।

सूत्रस्थान का ७ वां अध्याय यन्त्रविधि कहलाता है । इसको आधार मान कर अपनी सतत जागरूक प्रतिभा के बल पर विशेषांक के पृष्ठ ८८ से १०३ तक यन्त्र-उपयन्त्र विमर्श नामक शीर्षक से इस विशेषांक के नवयुगीन प्रख्यात शिल्पी श्री गोपालशरण गर्ग ने एक मौलिक आकर्षक और सुन्दरतम लेख का सचित्र सृजन किया है । गोपाल हमारे स्वप्नों की साकार प्रतिमा है हमारे अहसासों का प्रतीक है हमारे इस सुप्रसिद्ध मासिक का भविष्य है वह जितना ही भोला है उतना ही निश्छल है उसने कानपुर विश्वविद्यालय की आयुर्वेद फैकल्टी के बी० ए० एम० एस० (आयुर्वेदाचार्य) पाठ्यक्रम के अंतिमवर्ष में, महाविद्यालययों के परीक्षार्थियों में सर्वाधिक अंक प्राप्त किये हैं । उसके कारण सहजगर्व से हमारा माथा ऊंचा उठ जाता है । सुख की बात तो यह है कि उसे अभी कुछ दिन पूर्व ही उसकी जीवन सङ्गिनी अखण्ड सौभाग्याकांक्षिणी बीना की प्राप्ति हुई है । उसके सामने विशाल कार्यक्षेत्र पड़ा है जहां हम अपने जीवनदीप के तेल के कुछ ही बिन्दु शेष रख पारहे हैं वहां उसके जीवनदीप की ज्योति अभी-अभी ही तो जगमगाई है प्रकाशपुंज उसके चारों ओर बिखरा पड़ा है । वह स्वर्गीय देवीशरण गर्ग की हीरकत्रयी में सबसे छोटा परन्तु अतीव उज्वल हीरक है ।

शस्त्रावचारणीय नामक आठवां अध्याय आता है । इसे शस्त्रानुशस्त्र विमर्श नाम से हमारे एक परम मित्र श्री हर्पुलमिश्र प्रवीण ने अपनी सुलेखनी से धन्य किया है । इसके सुचित्रित करने में गोपालशरण ने बहुत श्रम किया है । श्री हर्पुलजी ने मध्य-प्रदेश में आयुर्वेद निरीक्षक के पद का भार बड़ी सफलता से सम्हाला । आजकल आप रायपुर में पेंशनबाड़ा नामक मुहल्ले में चिकित्साकार्य में संलग्न रहते हैं । आप गोंदिया (महाराष्ट्र) के निवासी और स्व० पं० रामगोपाल वैद्य वर्य के सुपुत्र हैं जिन्होंने अपने जीवन काल में आयुर्वेद वाङ्मय के कई ग्रन्थ रचकर

अच्छी सेवा की। शस्त्र कौन सा अच्छा होता है इसमें उसका एक गुण सुसंस्थितम् बतलाया है इसका अर्थ होता

है जिस अंग या स्थान में उसको लगाया जाय वह ठीक से वहां बैठ जाय। वहा तक पहुँचने के लिए जितनी वक्रताएं मार्ग में आवें उतनी वक्रताएं उसकी बनावट में होनी ही चाहिए।

सूत्र स्थान का योग्यासूत्रीय नवां अध्याय है। जब शिष्य शास्त्रार्थ को अधिगत करले अर्थात् सारा थियोरिटिकल ज्ञान ले चुके तब उसे ऐक्सपैरिमेंटल ज्ञान या योग्या करावे क्योंकि बिना इस प्रैक्टीकल के मुख्यशस्त्र कर्मोपयोग में शिष्य अयोग्य ही रहेगा—सुबहुश्रुतोऽपि अकृतयोग्यः कर्मसु अयोग्यो भवति। उसने इस प्रकरण में पुस्तमय में अंगप्रत्यंग में पट्टी बांधना सिखावे ऐसा उल्लेख हैं। आज जो मेडिकल कालेजों में डमी प्रसूतितन्त्र में प्रसव विषयक ज्ञान देने के लिए रखी रहती है वह सुश्रुत कालीन परम्परा का ही परिपालन है। यद्यपि प्रकरण छोटा है पर इसमे उन सब प्रक्रियाओं का समावेश कर दिया गया है जिन्हें आज एक मार्डन मेडिकल कालेज में ऐक्सपेरिमेंटल-सर्जरी के अन्तर्गत छात्र को सिखाया जाता है।

सूत्र का दसवां अध्याय विशिखानुप्रवेशनीय है। विशिखा का अर्थ है वैद्यक व्यवसाय। इस व्यवसाय में किसे प्रवेश दें किसे न दें इस पर बड़ी चर्चा की गई तथा इतने नोर्म तैयार किये गये है—

i. जिसने वैद्यक शास्त्र का पूरे पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ लिया है।

ii. शास्त्र के अर्थ को समझ लिया है।

iii. चिकित्साकर्म व्यावहारिक रूप में अच्छी तरह देख लिया है।

iv. जो शास्त्र को पढ़ा सकने की सामर्थ्य रखता है।

v. राज्य की ओर से जिसे अनुज्ञा मिल गई है अर्थात् रजिस्ट्रेशन मिल चुका है।

vi. जो पवित्रता से रहता है और—हजामत प्रतिदिन बनाता है—श्वेत धवल परिधान में रहता है और जिसका वेष अनुद्धत नहीं है।

vii. कल्याण की भावना से जो ओतप्रोत है तथा

ix. जो प्राणियों के प्रति भ्रातृत्व भावना से ओतप्रोत है और उसकी सहायता के लिए बराबर तैयार है।

तेन वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या—ऐसे वैद्य को वैद्यक व्यवसाय में प्रविष्ट करना चाहिए। चिकित्सा किस प्रकार की जाय इसके लिए इस अध्याय में यह सूत्र दिया गया है—साध्यान् साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान्नोपक्रमेत्, परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत्। श्रोत्रिय, राजा, स्त्री, बाल, वृद्ध, भीरु, राजसेवक(पब्लिकसर्वेण्ट्स), जुआरी, दुर्बल, वैद्यविदग्ध, रोगछिपाने वालों, दरिद्र, कृपण, क्रोधी, अजितेन्द्रिय और अनाथ (अकेला जिसकी परिचर्या करने वाला कोई न हो) ऐसी सभी की साध्य व्याधियां प्रायः दुश्चिकित्स्यतम हो जाती हैं। एवं निरूप्य (इस प्रकार जान कर) चिकित्सां कुर्वन् (चिकित्सा करता हुआ) वैद्य धर्म-अर्थ-काम यशांसि प्राप्नोति (प्राप्त करता है)।

सूत्रस्थान का ग्यारहवां अध्याय क्षारपाकविधि के नाम से प्रसिद्ध है। इसविषय में गिरधारीलाल जी मिश्र ने इस विशेषांक में अच्छा प्रकाश डाला है।

अग्निकर्म विधि सूत्र स्थान का बारहवां अध्याय है इस पर एक लघु लेख क्षेत्रीय आयुर्वेदानुसन्धान केन्द्र झांसी के प्रभारी अधिकारी श्री मायाराम उनियाल शास्त्रि ने भेजा है। वैद्य उनियाल नई पीढ़ी के गवेषकों की प्रथम श्रेणी में स्थान पाते हैं। उन्होंने अपने लेख में एक बात सुस्पष्ट की है और वह यह कि सुश्रुतोक्त शल्यतन्त्रीय विविध साधनों

को जिनमें अग्निकर्म भी है संसार के सामने रखने में जो व्यक्तित्व सफल हुआ है वह डा० प्रभुजनार्दन देश पाण्डेय के कलेवर में पहचाना जाता है। सही तो यही है कि इस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैद्य समाज स्वयं काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के चिकित्साविज्ञान संस्थान में शल्यशालाक्य विभाग में स्वयं जाकर क्षाराग्निकर्मादि का प्रत्यक्षीकरण करे। इसी अध्याय में इतरथादग्ध (वैद्य द्वारा अग्निकर्म के अतिरिक्त आकस्मिक रूप से जल जाने के विविध रूप और चिकित्सा दी गई है। दग्ध विज्ञान नाम से एक लेख डा० सुरेशचन्द्र अग्निहोत्री हरदोई तथा वैद्य दरबारीलाल फतेहगढ़ के सम्मिलित प्रयास से लिखा जाकर इस विशेषांक में प्रसिद्ध किया जा रहा है। इन दोनों ही आयुर्वेद के ज्ञान से ओत-प्रोत महानुभावों ने वैज्ञानिक रूप में इस विषय का आलोडन और मनन प्रस्तुत किया है। उन्होंने आधुनिकतम ज्ञान का समावेश दग्ध निदान और चिकित्सा हेतु प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण में अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहत लक्षणम् के द्वारा जो ज्ञान सुश्रुत ने दिया है वह छूट गया है। गरम गैस या आग लगने में गरम धुंआ पी जाने पर फेंफड़ों की श्वसनिकाओं की श्लेष्मल कला जल उठती है कार्बनडाई औक्साइड का अलग प्रभाव मिलता है श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते-च्नेयं अन्यन्नवेत्ति च-श्रुतिश्चास्योपहन्यते-सीदत्यथ च मूर्च्छेति धूमोपहत की एक के बाद एक स्टेज बनती चली जाती है। श्वास तेज होना कष्ट से श्वास लेना, आक्षेप आना, सूंघने और सुनने की शक्ति का लोप और मूर्च्छा ये सभी एक के बाद एक उत्पन्न होकर रोगी को मार डालते हैं। इसकी चिकित्सा का कितना सुन्दर विधान सुश्रुत ने दिया है—

I. वमन कराना

सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराम्बु वा।
मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥
वमतः कोष्ठशुद्धिः स्याद्धूमगन्धश्च नश्यति।
विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥

II. कवलग्रह

दाहमूर्च्छातृडाध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः।
मधुरैर्लवणाम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥
सम्यग्गृह्णाति चेन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति ॥

III. शिरोविरेचन

शिरोविरेचनं चास्मै दद्याद्योगेन शास्त्रवित्।
दृष्टिर्विशुध्यते चास्य शिरोग्रीवं च देहिनः ॥

IV. आहार

अविदाहि लघुस्निग्धमाहारं चास्य कल्पयेत्।

इसी अध्याय में लू लगना (ऊष्णवातदग्ध) धूप लगना (हीटस्ट्रोक), शीतदग्ध, हिम,वर्षादग्ध, शीतवातदग्ध,तेजसा (विद्युत) दग्ध का भी संक्षेप में विचार किया गया है।

जलौकावचारणीय—यह सूत्रस्थान का १३ वां अध्याय है। इस पर लेखनी चलाई है "भिषगाचार्य हरिशंकर जी शाण्डिल्य" ने जो आजकल भरतपुर जिले के वरिश्रा ग्राम में राजकीय आयुर्वेद औषधालय के चिकित्साधिकारी हैं। लेख सचित्र है और बड़ी योग्यतापूर्वक विषय का प्रस्तुतीकरण किया है।

सूत्र का चौदहवां "शोणित वर्णनीय" अध्याय है। इस अध्याय में सुश्रुत ने पहले रस की परिभाषा दी है—तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविध वीर्यस्याष्ट विधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्य आहारस्य सम्यक्परिणतस्य यः तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इति उच्यते। इतनी सुन्दर संक्षिप्त सर्वांगपूर्ण परिभाषा भगवान् धन्वन्तरि के अतिरिक्त और कौन दे सकता है? उसी ने यह बतलाया कि यही रस सारे शरीर में परिभ्रमण करता है—हृदय से सारे शरीर में लगातार चक्कर काटता हुआ सारे ही शरीर का तर्पण, वर्धन, धारण और यापन करता है। अहरहर्गच्छतीति रसः यह रस की व्युत्पत्ति है। चिकित्सा संसार में यह खोज कि रस का संचरण होता है, सबसे पहले सुश्रुत ने की थी। यही रस रंजित होने पर रक्तधातु तैयार करता है। रस और रक्त की सुस्पष्ट कल्पना हमारे सभी संहिताकारों को थी। इस रस का आधुनिक महत्त्वपूर्ण रौल क्या है, इस विषय पर नवयुगीन चिकित्सा वाङ्गमय के श्रेष्ठतम लेखक विद्याविनयावनत "डा० केशवानन्दन नौटियाल" मारुति रसायनशाला, जंगमवाड़ी, वाराणसी ने किया है। सरल शब्दों में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के जटिलतम रहस्यों के उद्घाटन की कला नौटियाल जी ने स्वयं आविष्कृत की है। शल्यचिकित्सा में प्लाज्मा का उपयोग उनका एक अधि-

कारिक प्रबन्ध है जिसने विशेषांक को गरिमा का सुस्थिर कर दिया है। यह चौदहवां अध्याय आयुर्वेदीय फिजियालौजी का उद्‌घाटक अध्याय है। इसी प्रसंग में "शल्यचिकित्सा में जीवशोणित प्रयोग" के नाम से एक अत्यन्त उपादेय लेख का समावेश विशेषांक के पृष्ठ १६० से १६७ तक किया गया है। इसमें रक्ताधान(ब्लड-ट्रान्सफ्यूजन)सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएं संग्रहीत हैं। यह लेख सुधानिधि पर सदैव कृपा बनाये रखने वाले प्रदेश के श्रेष्ठतम राजकीय आयुर्वेद कालेज लखनऊ के विकृति विज्ञान विभाग के एक विद्वान् डा० एस० सी० गर्ग रीडर तथा एक विदुषी श्रीमती डा० आर० पी० गुप्ता लेक्चरार की सम्मिलित कृति है। हम आप दोनों के चिरऋणी रहेंगे, उनके इस सुन्दर और शालीन सहयोग के लिए।

सिराविस्रावण या रक्तमोक्षण पर हमें सौश्रुती के सुप्रसिद्ध लेखक ज्ञान-विज्ञान की परिधि जिनकी बांधी नहीं जा सकती ऐसे गुरुवर्य "श्री पं० रमानाथ द्विवेदी जी" की कृपा से "सिराव्यधचिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः" के शीर्षक में प्राप्त हुआ है। वे आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की चरकपीठ पर आसीन हैं जिसे कभी प्रातःस्मरणीय चरकचतुरानन कवि० पं० सत्यनारायण शास्त्री अलंकृत किया करते थे। लेख पृष्ठ १६८ से चालू होकर १७८ पर पूर्ण हुआ है।

इसी अध्याय से सम्बद्ध "अप्रवर्तमान रक्त चिकित्सा" पर एक लेख लिखने का साहस किया है, हमारे कनिष्ठ तनय चिरंजीव "राजेश कुमार त्रिवेदी" ने। उसके लिए यह क्षेत्र नितान्त नूतन है, छात्र जीवन है, परिपक्वता से बढ़ उसका उत्साह सराहनीय है। वह अभी राजकीय ललितहरि आयुर्वेद कालेज की तृतीय वर्ष का ही तो छात्र है। सुश्रुत ने जिस विषय को सूक्ष्म रूप में दिया है उसे उसने विस्तृत किया है।

इसी चौदहवें अध्याय के एक अंश का संस्पर्श हमारे पूज्य अग्रज आयुर्वेदतत्व मर्मज्ञ "वैद्य वंशीधर त्रिवेदी" के कनिष्ठ तनय "डा० जगदीश कुमार त्रिवेदी" ने अतिप्रवृत्त रक्तचिकित्सा पर पृष्ठ १८६ से १९४ तक विशेषांक में दिया है। चिरंजीव जगदीश कुमार एक सुयोग्य सच्चिकित्सक है। पहले वह आगरे की नगरपालिका के आयुर्वेद औषधालय का चिकित्साधिकारी था, अब वह राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय महावन जिला मथुरा का चिकित्साधिकारी है। यह अच्छे लेख लिखने में समर्थ है और वह आगे भी इस कला का विकास करेगा, ऐसा मुझे विश्वास है। इसी अध्याय ३८ और ३९ वें श्लोकों को लेकर मध्यप्रदेश के श्रेष्ठतम शासकीय आयुर्वेद कालेज, रायपुर के प्राचार्य श्री शिवसागर मिश्र ने जो अपनी विद्या और शालीनता एवं गौरव के लिए आयुर्वेद जगत् में विख्यात हैं, ने एक सर्वांगसुन्दर संक्षिप्त लेख प्रदान किया है। एतदर्थ उनको अनेकानेक सधन्यवाद।

सुश्रुत सूत्रस्थान का १५ वां अध्याय १४वें की तरह ही आयुर्वेदीय फिजियालौजी तथा पैथालौजी का उद्‌घाटक और मौलिक अध्याय है, नाम है "दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय अध्याय।" इस अध्याय में दोषधातुमल मूलं हि शरीरम् का प्रथम बार उद्‌घोष किया गया है। दोष, धातुओं और मलों के प्राकृत कार्य दिये गये हैं। उपधातुओं के कार्य भी वर्णित हैं। दोषों धात्वादिकों के क्षय और वृद्धि के लक्षण देकर चिकित्सासूत्र भी प्रतिपादित किये गये हैं। यहीं ओज की परिभाषा, क्रिया, गुण, क्षय और ओज के तीनों दोषों व्यापद् विस्रंस और क्षय का विस्तार से विवेचन किया गया है। रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यञ्च पर संक्षेप में, पर बहुत ही सारपूर्ण शोधकार्य द्वारा निष्पन्न ज्ञान का समावेश किया गया है। यहीं चिकित्सा सम्बन्धी यह निदेश भी भगवान् धन्वन्तरि ने प्रस्तुत किया है:—

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्याद् अस्वस्थस्य तु बुद्धिमान।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्॥
तावद्यावदरोगः स्यात् एतत्साम्यस्य लक्षणम्।

यहीं उन्होंने स्वस्थ की जगत्प्रसिद्ध परिभाषा इन शब्दों में दी है:—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

इस अध्याय में दोषादि के क्षय का जो विचार किया गया है, उसे आधार मानकर विश्व की एकमेव गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी जामनगर में शल्यशालाक्य विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष विद्वद्वर्य "डा० टी० सी० जैन" तथा उसी विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर "डा० हर्षद जनार्दन मंकोड़ी" ने "शल्यचिकित्सा में जलक्षय, प्रोटीन-

क्षय तथा विटामिन क्षय पर" एक १५ पृष्ठीय सर्वांग सुन्दर लेख भेजा है। कितने परिश्रम से और कितना उपादेय यह लेख आया है उसे पढ़ने पर ही इन कलाकार-द्वय के ज्ञान की परिधि से पाठक परिचित हो पावेंगे। आज शल्यचिकित्सा बिना इन विषयों का पूर्ण अध्ययन और उपयोग किये नहीं की जा सकती। उन्होंने यह सब आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है।

"कर्णव्यधबन्ध विधि" १६ वां अध्याय है,इस अध्याय का सारांश "डा० गजेन्द्रसिंह छोंकर" प्रवक्ता श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय हाथरस के द्वारा प्राप्त हुआ है "कर्णवेध-एक प्राचीन भारतीय परम्परा" के शीर्षक से। डा० छोंकर ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज के स्नातक हैं और सुधानिधि में बराबर लेख भेजते रहते हैं। इसी प्रसंग में "मानव-सौन्दर्य वृद्धि हेतु कर्णपालियों का वर्धन" विषय पर एक नोट इसी विद्यालय के वैद्याचार्य और प्रवक्ता डा० रामनिवास शर्मा का भी पठनीय है। इसी अध्याय में विश्व में अपनी धाक जमाने वाली और काल के सैकत पथ पर अपने गौरवपूर्ण पदचिन्ह छोड़ने वाली आयुर्वेदीय प्लास्टिक सर्जरी का पग-पग पर उल्लेख मिलता है।

सूत्र स्थान का सत्रहवां अध्याय "आमपक्वैषणीय" कहलाता है। इस अध्याय में जो विषय है उसके आधार पर "कविराज दीनदयाल सौभरि" भिषगाचार्य तथा जामनगर के पोस्टग्रेजुएट एवं कोयलाखान कल्याण संगठन नामक भारत सरकार के संस्थान में वैद्य सुपरिटेंडेंट के रूप में कार्यरत हैं तथा जिनका सुधानिधि के साथ जन्म से ही सम्बन्ध है। उन्होंने "शोफ और उसके त्रिविध रूप" नामक शीर्षक से इस विशेषांक में पृष्ठ २२० से २२८ तक एक परमोपादेय लेख प्रेषित किया है जो सारगर्भित और शल्यतन्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है।

व्रणलेपनबन्धविधि—सूत्रस्थान के अठारवें अध्याय में जितने संक्षेप में सुश्रुतसंहिता में दी गई है वह आधुनिक युग में बहुत विस्तृत हो गई है। उसमें "आलेपः आद्य उपक्रमः" नामक लेख तो हमारे पूज्य बड़े भाई साहब आयुर्वेद तत्त्व मर्मज्ञ पं. वंशीधर त्रिवेदी जी की कृपा से प्राप्त हुआ है जिनकी कृपाकोर ने मुझे आयुर्वेद पढ़ने के लिए प्रेरित किया तथा जिनके प्रोत्साहन से हमारे दोनों लड़के आयुर्वेद की शिक्षा ले चुके हैं या ले रहे हैं। इसी अध्याय का एक विषय "व्रणबन्धनविमर्श" के नाम से रायपुर झालावाड़ (राजस्थान) के सुयोग्य वैद्य श्री छगनलाल समदर्शी जी आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदभूषण की लौह लेखनी से पृष्ठ २३३ से २४९ तक पूरे १७ पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। समदर्शी जी एक उच्चकोटि के लेखक और सम्पादक हैं अपना कार्य बड़ी लगन और निष्ठा से तथा सटीक करते हैं। उन्होंने स्वयं अनेक चित्र भी बनाकर भेजे थे। इस लेख से बैंडेजिंग (व्रणबन्धन) का प्राचीन अर्वाचीन दोनों प्रकार का ज्ञान अच्छी तरह मिल जायगा तथा इस विशेषांक की उपादेयता इस तथा ऐसे ही लेखों से सार्थक हुई जान पड़ती है।

उन्नीसवां अध्याय "व्रणितोपासनीय" है इसे तहसील आयुर्वेद सम्मेलन हाथरस की तदर्थ समिति के नवनिर्वाचित अध्यक्ष "वैद्य. राधावल्लभ शास्त्री" ने बड़ी कुशलता और योग्यता से लिखकर दिया है।

फिर २० वें अध्याय में दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्याधिदर्शन और व्रणभेद पर एक वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत कर संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्॥ लिख आयुर्वेद चिकित्सा के ६ क्रियाकालों का स्पष्ट और मौलिक वर्णन किया गया है। यह वर्णन अन्य पैथियों से इसे स्पष्टतः विशेष पद पर आरूढ कर देता है। इस पर स्टेट आयुर्वेद कालेज लखनऊ के सीनियरमोस्ट "प्रोफेसर डा. पी. सी. जैन" और उनके सहयोगी तथा शरीर विभाग के रीडर 'पं. यज्ञदत्त शुक्ल" का मननीय लेख २५५ से २६० तक अतीव उपादेय होने से दिया जा रहा है।

बाईसवां "व्रणास्रावविज्ञानीय" अध्याय है। इसमें जितने विषयों का समावेश हो सकता है तथा उनसे सम्बद्ध अन्य विषयों को लेकर वैद्य पिता और वैद्य पुत्र दोनों ने मिलकर "व्रण विज्ञान" नामक एक विस्तृत लेख पृष्ठ २६१ से २७७ तक इस विशेषांक की शोभा बढ़ा रहा है। आयुर्वेद शिरोमणि वैद्य सुरेशचन्द्र स्नातक एक अति व्यस्त और प्रशस्ति प्राप्त चिकित्सक हैं उनके सुपुत्र विष्णुनारायण शर्मा आयुर्वेद व्यवसाय के लिए पूर्णतः समर्पित नवयुवक हैं। दोनों के सम्मिलित श्रम का प्रसाद यह लेख बहुत ही शल्यतन्त्रीय उपादेय सामग्री से परिपूर्ण हो गया

प्रोफेसर डा० पी० सी० जैन

है। तेईसवा "कृत्याकृत्यविधि" नामक अध्याय है इसमें साध्य, सुखसाध्य, कष्टसाध्य, याप्य और असाध्य व्याधियों का नामोल्लेख सुश्रुत ने करके रोगों का कैटेगराइजेशन किया गया है। साथ ही शुद्धव्रण, रोहणशील व्रण तथा सम्यग्रूढ व्रण की परिभाषा देते हुए एक सावधानी का निदेश निम्न शब्दों में किया है:—

दोषप्रकोपाद् व्यायामाद् अभिघाताद् अजीर्णतः।
हर्षात् क्रोधाद् भयाद्वाऽपि व्रणो रूढोऽपि दीर्यते॥

यह ज्ञान प्रत्येक सर्जन के लिए आज भी उतना ही उपयोगी है। इसे यदि प्रत्येक सर्जीकल वार्ड में दीवाल पर मोटे अक्षरों में लिखवा दिया जाय तो बहुत उपकार हो।

पच्चीसवां अध्याय "अष्टविधशस्त्रकर्मीय" है इसमें कौन-कौन रोग छेद्य, भेद्य, लेख्य, वेध्य एष्य, आहार्य, स्राव्य तथा सीव्य हैं उनकी सूची दी गई है। यहीं व्रण शोधन की महत्ता पर जोर दिया गया है किस प्रकार उन्हें सींना चाहिए किससे कैसे सीवें इसका विचार हुआ है। इस विषय पर इस युग के आयुर्वेदीय शल्य-शालाक्य-तन्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् सफल सर्जन "डा. पी. जे. देश पाण्डेय" प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष चिकित्सा विज्ञान संस्थान काशीहिन्दूविश्वविद्यालय का एक श्रेष्ठतम लेख

सर्जन डा० पी० जे० देशपाण्डेय

विशेषांक के आरम्भ में पृष्ठ. ६६ से ७७ तक दिया गया है। कहना नहीं होगा कि आयुर्वेदीय शल्यतन्त्र के पुनरुद्धार में डा. देश पाण्डेय ने अपना सम्पूर्ण जीवन एक तपस्यारत ऋषि के समान समर्पित कर रखा है। उन्होंने इस महत्वपूर्ण शाखा की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया है और सर्जरी के प्रत्येक क्षेत्र में प्राचीन भारतीय सर्जनों और मनीषियों द्वारा किये गये योगदान का प्रत्यक्षीकरण करके दिखाया है।

२६ वां अध्याय "प्रनष्टशल्यविज्ञानीय" है इसमें शल्य की परिभाषा, शल्य का स्वरूप और उसके विविध स्थानों से निर्हरण का विधान बतलाया गया है। शल्य निर्हरण में धनुष और घोड़े और वृक्ष की शाखा तक के उपयोग का आश्रय लिया गया है। कण्ठ में फंसे लाख के शल्य में गरम शलाका फंसाकर निकालने तक की युक्ति दी गई है। जल में डूबे के लिए भी विधान बतलाया गया है फांसी लगे व्यक्ति के लक्षण और व्यवस्था पर भी दो शब्द दिये गये हैं। सारी व्यवस्थायें फर्स्टएड जैसी हैं।

सूत्र स्थान का २८ वां अध्याय विपरीता-विपरीत व्रण विज्ञानीय है। इसमें व्रण के अरिष्ट लक्षणों का थोड़ा समावेश किया गया है। यहां एक बात और बड़े मार्के की कही है कि पूरा उपाय करने पर भी जो व्रण सिद्ध न हो उसे अपना यश चाहने वाले बुद्धिमान वैद्य को काफी पहले छोड़ देना चाहिये—

क्रियाभिः सम्यारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः।
वर्जयेत्तान् भिषक् प्राज्ञ-संरक्षन्नात्मनो यशः॥

३१ वां विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीय अध्याय है इसमें शुभाशुभ दूत लक्षणों से तथा शुभाशुभ स्वप्नों से रोगी के परिणाम तक पहुचने एवं पूर्वाभास का स्वरूप समझाया गया है। इसी श्रृंखला में पंचेन्द्रियार्थविप्रपत्ति नामक ३० वां अध्याय में इसमें शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध की विकृति से साध्यासाध्यता का ज्ञान कराया गया है। ३१ वें छाया विप्रतिपत्ति ३२ वें स्वभावविप्रतिपत्ति ३३ वें अवारणीय अध्यायों में अरिष्ट और मारक लक्षणों का ज्ञान कराया गया है। ३४ वां युक्तसेनीय अध्याय है इस विषय पर राजा और वैद्य नामक एक अच्छा और छोटा लेख दिया है व्याख्यानवाचस्पति डा० सुरेशचन्द्र शास्त्री उपाचार्य राजकीय बुन्देलखण्ड आयुर्वेद कालेज झांसी ने जो एक श्रेष्ठ वक्ता और भाषण कर्त्ता के रूप में इस देश में प्रसिद्ध हैं जिनका पूरा परिवार ही आयुर्वेद मय है।

३५ वां आतुरोपक्रमणीय नामक अध्याय है इसमें दीर्घायु और अल्पायु का वर्णन है शरीर की प्रमाण परीक्षा दी गई है इसी में विवाह योग्य वय २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की नारी का उल्लेख है—

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात कुशलो भिषक्॥

यहीं औपसर्गिक व्याधि का अर्थ परतन्त्र या सैकण्डरी बतलाया गया है। शुद्धचिकित्सा की परिभाषा वाग्भट से भी पूर्व सुश्रुत ने इन शब्दों में दी है—

या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया न तु या व्याधिं हरति अन्यं उदीरयेत्॥

इसी अध्याय में सम विषम, तीक्ष्ण और मन्द ये अग्नि के ४ भेद बतलाये गए हैं। फिर बालामध्य और वृद्धावस्था का विचार करके बल, सत्त्व, सात्मय भूमि आदि का विचार प्रस्तुत किया गया है।

सुश्रुत संहिता निदान स्थान में १६ अध्याय हैं। इनमें पहला वातव्याधि सम्बन्धी है इसमें वात दोष की विस्तृत चर्चा करते हुए वात रोगों का वर्णन किया गया है। दूसरा अर्श रोग निदान है। तीसरा अश्मरी रोग निदान है, चौथा भगन्दर, पांचवां कुष्ठ, छठा प्रमेह, सातवां उदर रोग, आठवां मूढ़गर्भ, नौवां विद्रधि, दशवां विसर्प नाड़ी, स्तन रोग, ग्यारहवां ग्रन्थि अपची अर्बुद, गलगण्ड विषयक, बारहवां वृद्धि, उपदंश, श्लीपद विषयक, तेरहवां ४१ क्षुद्र रोगों के विषय में, चौदहवां शूकदोष, पन्द्रहवां भग्नों के विषय में तथा सोलहवां मुख रोगों के निदान का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। निदान स्थान में सुश्रुत ने सर्जीकल महत्त्व के समस्त रोगों का समावेश करते हुए अपनी सीमा रेखा ही मानो निर्धारित कर दी है। रोगों का जो वर्णन इस स्थान में हुआ है वह एक दम स्पष्ट है दोष दूष्यों के आधार पर है और उसके निदान पूर्वरूप उपशय सम्प्राप्ति साध्यासाध्यतादि विभागों को लेकर ही किया गया है।

सुश्रुत शारीर स्थान सर्वभूतचिन्ताशारीर, शुक्रशोणित शुद्धिशारीर, गर्भावक्रान्तिशारीर, गर्भ व्याकरण शारीर, शरीर संख्या व्याकरण शारीर, प्रत्येक मर्म निर्देश शारीर, सिरावर्णन विभक्त शारीर, सिराव्यध विधि शारीर, धमनी व्याकरण शारीर और गर्भिणी व्याकरण शारीर इन १० अध्यायों में पूर्ण हुआ है। सुश्रुत संहिता का यह भाग आयुर्वेद की समस्त संहिताओं में श्रेष्ठतम माना जाता है। इस का यह श्लोक पूरे शारीर स्थान को कमाण्ड करता है—

प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञान विवर्धनम्॥
—शा० स्था० अ० ५ श्लो० ६०

और शारीर ज्ञान के उपयोग के बिना शल्यतन्त्र का ज्ञान होना संभव नहीं है इसलिए भी इसका बड़ा महत्त्व है—

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्ग विनिश्चयः।
शल्यज्ञानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित्॥

इसी अध्याय में सुश्रुत ने मृतक शोधन की पद्धति का ज्ञान दिया है जिसे आज मानव शरीर के डिसैक्शन का नाम दिया जाता है। यह विधि हमारे आचार्यों ने ही

सुश्रुत संहिता का चौथा स्थान चिकित्सित स्थान कहलाता है। इसमें चालीस अध्याय हैं। बहुत बड़ा ज्ञान इन अध्यायों की पंक्तियों में समाया हुआ है जो अधिकांश बहुत गवेषणा और तपश्चर्या के आधार पर आप्तप्रमाण के रूप में संचित किया गया है। पहला अध्याय द्विव्रणीय चिकित्सित है शारीर आगन्तु भेद से व्रण के २ भेद से यह आरम्भ होता है। व्रणों का दोषों से सम्बन्ध बतलाकर त्रिदोष सिद्धान्त की महत्ता अन्य आर्ष ग्रन्थों की तरह यहां भी प्रतिपादित की गई है। इसमें अनेक विषयों से जिनका शल्यतन्त्र में ज्ञान करना आवश्यक होता है परिचय कराया गया है। वात, पित्त, कफ के साथ रक्त को दोष रूप में प्रस्थापित किया गया है और उसके कारण शल्यतन्त्रीय रोगों में क्या अन्तर आता है उसे स्पष्ट किया गया है जैसे व्रणों के वर्णन में वात तथा रक्त इन दोनों के कारण अन्तर इस प्रकार बतलाया गया है—

i. रूक्षस्तनुस्तोदबहुलः सुप्त इव च रक्तारुणाभस्तद्वर्ण स्रावी चेति वातशोणिताभ्याम्।

ii. घृतमण्डाभो मीनधावनतोयगन्धिमृदुर्विसर्प्युष्ण कृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्याम्।

iii. रक्तो गुरुः पिच्छिलः कण्डूप्रायः स्थिरः सरक्त पाण्डुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्याम्।

सुश्रुत संहिता में विषय वर्णन प्रणाली बहुत स्पष्ट, थोड़े में पूर्ण होने वाली और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाली होती है—जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रणः। व्रणितोपासनीयम् नाम से एक लेख दीनोपकारक औषधालय के अध्यक्ष श्री राधावल्लभ वैद्यशास्त्री ने जहां देकर व्रण से पीडित रोगी की शैया, कक्ष, नियमादि का विवेचन किया है वहीं इस विषय का सर्वांगपूर्ण विवरण स्नातक वैद्य सुरेशचन्द्र तथा वैद्य विष्णुनारायण शर्मा ने प्रस्तुत किया है इसमें उन्होंने चरक संहिता के व्रणोपचार के ३६ उपक्रम समझाते हुए सुश्रुत के ६० उपक्रमों का भी उल्लेख कर दिया है। तीनों ही हाथरस में आयुर्वेद के स्तम्भ हैं।

सुश्रुत का दूसरा अध्याय सद्योव्रण चिकित्सित है। इसमें ऐक्सीडेंटों के कारण उत्पन्न छिन्नभिन्नादि व्रण सद्विद्या को सुश्रुत ने भले प्रकार प्रस्तुत किया है। वैद्य मदनमोहन लाल चरौरे ने सद्योव्रण विमर्श नाम से विषय पर विशेषांक में प्रकाश डाला है। श्री च[illegible] हमारे सुधानिधि सम्पादन विभाग में आरम्भ से ही [illegible] सोरों निवासी हैं।

तीसरा अध्याय भग्न चिकित्साध्याय है इसे हम[illegible] कुशल नवयुवक सम्पादक श्री गोपालशरण गर्ग त[illegible] पीलीभीत के स्वनाम धन्य आयुर्वेदिक कालेज के अध्[illegible] पक श्री डा० एस० के० शर्मा ने पूर्ण किया है। सु[illegible] का छठा अध्याय अर्श चिकित्सित है इस विशेषांक में [illegible] के सम्बन्ध में प्राच्य पाश्चात्य मत से तीन लेखकों [illegible] ओ० पी० वर्मा, डा० जहानसिंह तथा आई० सी० ली[illegible] ने अति सुन्दर प्रकाश डाला है। सुश्रुत का सातवां अध्[illegible] अश्मरी चिकित्सित है जिसका इस विशेषांक में अध्यवस[illegible] पूर्ण लेख दे रहे हैं कानपुर के पीयूषपाणि चिकित्सक [illegible] मुन्नालाल गुप्त। आंठवा अध्याय सुश्रुत में भगन्दर चि[illegible]त्सित के नाम से मिलता है इस रोग का आयुर्वेद [illegible] आधुनिक वर्णनयुक्त लेख ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज[illegible] डा० शिवस्वरूप त्रिपाठी ने प्रस्तुत किया है।

भगन्दर पर हम डा० देशपाण्डेय के किसी योग्य [illegible] विद्वान् शिष्य के लेख की आशा लगाये बैठे थे पर [illegible] पत्रों का उत्तर भी प्राप्त न होने से हम निराश हो ग[illegible]

नवां "कुष्ठ चिकित्साध्याय" है। दसवां "महा[illegible] चिकित्साध्याय" है। ग्यारहवां "प्रमेह चिकित्साध्याय[illegible] बारहवां "प्रमेहपिडिका चिकित्सित" तथा तेरहवां "[illegible] मेह चिकित्सित" नामक अध्याय है। पांचों अध्यायो[illegible] शल्यदृष्ट्या उपचार उतना नहीं जितना कायचिकि[illegible] की दृष्टि से है। चौदहवां अध्याय "उदर चिकित्[illegible] है। उदर चिकित्सा में बद्धगुदोदर तथा छिद्रोदर [illegible] इलाज शल्यतन्त्र के अन्तर्गत आता है। उदरं पाटयि[illegible] चतुरंगुलप्रमाणानि अन्त्राणि निष्कृष्य से लेकर व्रण[illegible] रस्य सीव्येत तक में लैपारोटोमी तथा इंटैस्टीनल आ[illegible] क्शन दूर करने या छिद्रोदर में छिद्रित स्थान को क्[illegible] पिपीलिकामिर्दशयेत् तक दिया है। जलोदर में [illegible] निर्हरण या पैरासिंटैसिस—नाड़ी संयोज्य दोष[illegible] अवसिंचेत् तक की जाती थी। जल निकल जाने के [illegible] कपड़े या चमड़े से कसकर पेट बांध दिया जाता थ[illegible] निःसृते च दोषे..................परिवेष्टयेदुदरम्। ऐसा[illegible]

से वायु द्वारा आध्मान नहीं होता। पथ्य की भी गजब की व्यवस्था है—षण्मासांश्च पयसा भोजयेत् जाङ्गलरसेन वा। हमने "महास्रोतीय रोगों के शल्योपचार" शीर्षक के अन्तर्गत अनेक उदर रोगों के नवीन निदान और चिकित्सात्मक अंश का समावेश दिया है। पन्द्रहवां अध्याय "मूढगर्भ चिकित्सित" का है जो शल्यतन्त्र से सम्बद्ध होते हुए भी आधुनिक विषय सम्बन्धी वर्गीकरण में प्रसूतितन्त्र के अन्दर समाविष्ट होने से इस विशेषांक की परिधि मे नहीं आता। सोलहवां "विद्रधि चिकित्सिताध्याय" है। विद्रधि का अर्थ है ऐब्सैस या बिना फूटा हुआ फोड़ा। अन्य विद्रधि की चिकित्सा शोफवत् करने का निर्देश है। उपनाह और स्वेद इन दोनों से उसे पकाते हैं—"तं पाचयित्वा शस्त्रेण भिन्द्याद् भिन्नञ्च शोधयेत्" यह पूरा चिकित्सा सूत्र है विद्रधि का। आभ्यन्तर विद्रधि होने पर तब कोई ब्राडस्पैक्ट्रम एन्टीबायोटिक तो था नहीं पर विद्रधि की सफल चिकित्सा की ही जाती थी। वरुणादिगण का क्वाथ और ऊषकादिगण का प्रतिवाप देकर इसी प्रकरण में अस्थिगत विद्रधि का भी स्पष्ट शल्योपचार दिया गया है—विद्रध्युक्तां क्रियां कुर्यात् पक्वेवाऽस्थि तु भेदयेत्। निःशल्यमथ विज्ञाय कर्त्तव्य व्रणशोधनम्॥

सत्रहवें अध्याय का नाम "विसर्पनाडीस्तनरोग चिकित्सित" है। नाडी या नालव्रण का छेदन क्षारसूत्र द्वारा करने का सर्वप्रथम विधान सुश्रुत ने ही बताया है। अठारहवां "ग्रन्थ्यपच्यर्बुद गलगण्ड चिकित्सित" नामक अध्याय है।

उन्नीसवां अध्याय "वृद्धि-उपदंश-श्लीपद चिकित्सिताध्याय" है। हमने शल्य रोगों में उपसर्गों का महत्त्व और उनकी रोकथाम मे प्रयुक्त औषधियों पर ३४८ से ३६७ तक एक बहुत उपयोगी लेख दिया है जो नवीन ज्ञान की पूर्ति करता है। इसके अलावा २० अध्याय और हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ "प्रमुख शल्यकर्म" के अन्तर्गत ऐपैण्डिक्स पर काशी विश्व-विद्यालय के डा० सुभाष वार्ष्णेय तथा लोकेन्द्रभान सिंह का, आन्त्रवृद्धि पर मल्लावा (हरदोई) के नवयुवक डाक्टर अशोक कुमार गुप्ता का, मूत्रवृद्धि (हाइड्रोसील) पर अलीगढ़ के सफल चिकित्सक श्री खचेरमल शास्त्री का तथा पौरुष ग्रन्थि वृद्धि पर गुरुकुल आयुर्वेद कालेज के छात्र श्री कमलेश वर्मा के लेख दिये गये हैं।

इस विशेषांक में आर्ष साहित्य का जहां आश्रय लिया गया है वहीं आधुनिकतम ज्ञानपूर्ण विविध ग्रन्थों का भी सहारा लिया गया है। इन ग्रन्थों में एक है "हैमिल्टन बेली" द्वारा सम्पादित "पाई" का "सर्जीकल हैंडीक्राफ्ट" जिसे ब्रिस्टल के जौन राइट एण्ड सन्स ने प्रकाशित किया है। पुस्तक अनेक बहुरंगे चित्रों से अलंकृत है।

ग्रेटब्रिटेन के २ प्रकाशकों का समाज सदा ऋणी रहेगा, जिनमें एक हैं ई एण्ड एस लिविंग्स्टोन तथा दूसरे हैं चर्चिल लोंगमेन ग्रुप लिमिटेड। इन्होंने "टैक्स्टबुक आफ आपरेटिव सर्जरी" का प्रकाशन किया है। उससे भी हमें पर्याप्त लाभ हुआ है। इस विशेषांक के लिए ज्ञान एवं अनुभव के कण एकत्र करने मे एतदर्थ हम उनके भी बहुत-बहुत आभारी हैं।

और भी कितने ही आर्ष अनार्ष प्राचीन नवीन ग्रन्थों और पुस्तकों से इस विशेषांक की कलेवर वृद्धि की गई है जिसके लिए हम उन सभी के हृदय से आभारी है।

मैं सुधानिधि के साथ उसके जन्म से ही सम्बद्ध रहा हूँ। स्वर्गीय देवीशरण गर्ग जिन्होंने अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित आयुर्वेद पत्र प्रकाशन की परम्परा को अपने पूरे जीवन चालू रखा तथा जिनके सदुद्योग से धन्वन्तरि मासिक उच्चतम स्थिति को पहुँचा तथा सुधानिधि ने भी नवीन सोपानों तक उठने में सफलता पाई, के कनिष्ठतम पुत्र सुधानिधि के सहायक सम्पादक श्री गोपालशरण गर्ग के इस विशेषांक में विशेष सहयोग के लिए आभार प्रकट करते हुए तथा उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए लोकसभा के गठन के पूर्व जब कहीं कांग्रेस कहीं जनता पार्टी और कांग्रेस फौर डेमोक्रेसी का निनाद हो रहा है और देश की राजनीति निश्चयात्मक करवटें बदल रही हैं। मैं यह शुभ कार्य करने के लिए पाठकों से आदेश लेता हुआ सभी सहृदय पाठकों, लेखकों और सहयोगियों से विदाई लेता हूँ।

सुधानिधि
सुश्रुत
शल्य-चिकित्सांक
सूत्र-खण्ड
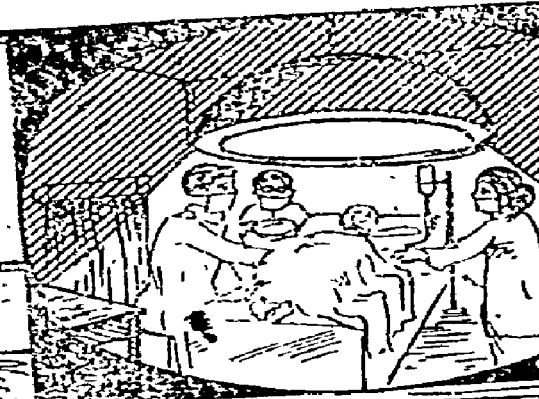
सुश्रुत संहिता

सुश्रुत संहिता, चरक संहिता के समान ही चिकित्सा ज्ञान के विषय में एक ऐनसाइक्लोपीडिया मानी जाती है। इसमें सर्जरी और गायनोकौलोजी, आफ़्थाल्मोलोजी और टौक्सोलोजी तथा अन्य अनेक चिकित्सा विज्ञान के विषयों पर श्रेष्ठतम ज्ञान का संकलन किया गया है। अनुसन्धान करने वालों के लिए इसमें इतनी सामग्री संग्रहीत है कि अगर विश्व के सभी अनुसन्धान केन्द्र एक-एक प्राबलम ले लें तो भी असंख्य शेष रह जावेंगी। हर विषय पर नपा तुला अनुभवपूर्ण विज्ञान सम्मत विचार व्यक्त किया गया है। इतना विपुल ज्ञान इतना विस्तृत वर्णन इतना उत्कृष्ट विवेचन वैदिक वाङ्मय की गरिमा के अनुकूल सामान्य व्यक्ति द्वारा देना कैसे सम्भव है, पर उसे दिया है। स्वयं काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि ने ही तथा वे साक्षात् भगवान् धन्वन्तरि के अवतार हैं जो जरा, रुजा और मृत्यु के अभिशाप से देव समाज का कल्याण करके मानव समाज के कल्याण के निमित्त इस भूलोक पर अवतरित हुए। उनके प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है। उन्होंने जलौका, क्षार, अग्नि आदि से मानवकष्टों के मेंटने के लिए सर्वांग सुन्दर उपचार की व्यवस्था की, यन्त्रों और शस्त्रों की सहायता लेकर उस युग में सफल शल्योपचार किये जब अनीस्थीसिया और एण्टीबायोटिक ड्रग्ज के सम्बन्ध में सोचना तक शक्य नहीं था। उन्होंने रक्त को तीनों दोषों के साहचर्य में लाकर प्रचलित आयुर्वेद में भी एक नई विद्या की सृष्टि की। उनका ज्ञान भगवान् आत्रेय के ज्ञान के पूर्व था या पश्चात् इस पर अलग-अलग मत हैं, पर जहां चरक धान्वन्तरसम्प्रदाय का उल्लेख करता है, वहां सुश्रुत पुनर्वसु का नाम तक नहीं लेता। यह तथ्य भी सुश्रुत ज्ञान को चरक ज्ञान के पूर्व का सिद्ध कर देता है। हमारे भारतीय चिंतकों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सर्वोपरि प्रगति की थी। इसका सजीव प्रमाण सुश्रुत संहिता है। हमने इसका चिकित्सास्थान तक का उल्लेख किया है। कल्पस्थान और उत्तरतन्त्र जो स्वयं में एक बहुत बड़ा ज्ञानभाण्डागार है। पाठकों के लिए अगले विशेषांक के लिए छोड़ दिये हैं। विशेषांक प्रकाशन की परम्पराएं इन संहिताओं पर नहीं, नहीं उनके एक-एक अध्याय और उससे भी बढ़कर एक-एक वाक्य पर निछावर हो सकती हैं।

—आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

नमो ब्रह्मप्रजापत्यश्विबलभिद्धन्वन्तरिसुश्रुत प्रभृतिभ्यः

आयुर्विद्यारत्न आचार्य वेदव्रत शास्त्री, आर्य औषधालय, कासगंज (एटा)

कविराज श्री नृपेन्द्रनाथसेन गुप्त तथा कविराज श्री वलाइचन्द्रसेन गुप्त द्वारा सम्पादित संशोधित और प्रकाशित सुश्रुत संहिता के आरम्भ में जिसमें महामहोपाध्याय श्री डल्हणाचार्यकृत निबन्धसंग्रह टीका भी समलंकृत हैं, उपर्युक्त वाक्य सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम उल्लिखित है। इस वाक्य में ब्रह्मा—प्रजापति—सबल—अश्विनीकुमार से लेकर धन्वन्तरि. सुश्रुत आदि आचार्यों को नमस्कार किया गया है।

इस नमस्कार प्रणाली में सुश्रुत संहिता के सूत्र-निदानात्मक तथा शारीरस्थानात्मक आधुनिक सुप्रसिद्ध आयुर्वेदरहस्यदीपिका व्याख्याकर डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, आयुर्वेदाचार्य महोदय को यह लिखने के लिए आभास या बोध हुआ है कि आज जिस रूप में सुश्रुत संहिता उपलब्ध है वह सुश्रुत प्रणीत मूल संहिता नहीं है। क्योंकि सुश्रुत स्वयं अपने को ही नमस्कार न लिखते जैसा कि ऊपर के वाक्य से स्पष्ट हो रहा है।

गुरुदेव डाक्टर घाणेकर ने इस तथ्य के लिए उपर्युक्त वाक्य के अतिरिक्त ५ प्रमाण और दिये हैं। इनमें एक है वृद्ध सुश्रुत नाम से अनेक उद्धरणों का मधुकोष व्याख्या, सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्या, निबन्ध संग्रह टीका आदि में तो पाया जाना, पर उपलब्ध सुश्रुत संहिता में उनका न पाया जाना; दूसरा है लिट् प्रयोगात्मक सुश्रुत संहिता के उद्धरणों का निर्माणकर्त्ता नागार्जुन नामक प्रतिसंस्कर्ता का होना—

"यत्र यत्र परोक्षे लिट्प्रयोगः तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यं। प्रतिसंस्कर्ताऽपीह नागार्जुन एव॥"

तीसरा है उत्तरतन्त्र का मूल संहिताग्रन्थ में बाद से मिलाया जाना, जिसका प्रमाण है—सुश्रुत संहिता के आदि ५ स्थानों—सूत्र, निदान, शारीर, चिकित्सा, कल्प में क्रमशः—४६, १६, १०, ४०, ८=१२० अध्यायों का ही उल्लेख होना—

बीजं चिकित्सितस्यैतत्समासेन प्रकीर्तितम्।
सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति॥

तथा बाद में उत्तरतन्त्र का समावेश किया जाना—

तत्र सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेषु अर्थवशात् संविभज्य उत्तरतन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः।

इसका प्रमाण है। चौथा है कल्पस्थान के अन्त में संहिता की समाप्ति का संकेत। पांचवां है उत्तरतन्त्र में निमि नामक अन्य ऋषि का उल्लेख किया जाना—

शालाक्यशास्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्त्तिताः।
विदेहाधिपकीर्त्तिता इति निमिप्रणीताः।

यद्यपि डाक्टर साहब के तर्कों में पर्याप्त प्राण हैं फिर भी इस सुप्रसिद्ध संहिताग्रन्थ का कर्त्ता भगवान् धन्वन्तरि के अतिरिक्त कोई नहीं है तथा यह उनके द्वारा ही गुम्फित है इसके भी कुछ प्रमाण मिलते हैं—

१—सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के ३९वें गद्यांश में भगवान् धन्वन्तरि द्वारा घोषणा करना कि विषयों के अनुसार पहले पांच स्थानों में १२० अध्यायों में वर्णन किया गया है तथा जो शेष विषय रह गये हैं उनका

व्याख्यान उत्तरतन्त्र में करेंगे—उत्तरेतन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः ।

जिस प्रकार किसी ग्रन्थ के निर्माण के समय ग्रन्थकर्त्ता आज भी परिशिष्ट जोड़ता है वैसे ही भगवान् धन्वन्तरि के द्वारा प्रदत्त व्याख्यानों की एकीय शृङ्खला के बाहर के विषयों को जिनका व्याख्यान भी भगवान् धन्वन्तरि ने ही किया था अलग नोट के रूप में सुश्रुत ने रखा और उसे उत्तरतन्त्र के नाम से प्रकट किया है ।

२—कल्पस्थान के अन्तिम श्लोकों में से एक में उत्तरतन्त्र का उल्लेख मिलना—

सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः ।

इहोद्दिष्टान् अनिर्दिष्टान् सर्वान् वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥

३—उत्तरतन्त्र के आरम्भ में ही भगवान् धन्वन्तरि का इस प्रकार उल्लेख होना—अथातः औपद्रविकमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

४—तन्त्रयुक्तिनामक ६५वें अध्याय में—स पूजार्हो भिषक्श्रेष्ठ इति धन्वन्तरेर्मतम् ।

उद्धरण में धन्वन्तरि का स्पष्ट उल्लेख होना आदि ।

अपने पूर्वज आचार्यों के प्रति नमन करके ग्रन्थारम्भ करना या ग्रन्थ की टीका करना हमारी भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है । इस वैद्यक वाङ्मय का उद्गम ब्रह्मा से माना जाता है । उसने प्रलयकाल समाप्त होने पर मत्स्य पुराणानुसार वेदों के ज्ञान का स्मरण किया तथा वेद प्रकटाये—तपश्चचार प्रथमममराणां पितामहः ।

आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः ॥

उसी ब्रह्मा के दक्षिण अंगुष्ठ से दक्षप्रजापति उत्पन्न हुए—अंगुष्ठाद्दक्षिणाद्दक्षः प्रजापतिरजायत ।

इसके पश्चात् मैथुनी सृष्टि दक्ष प्रजापति ने आरम्भ की—दक्षात्प्राचेतसादूर्ध्वं सृष्टिर्मैथुनसम्भवा ।

प्रजासृजेति व्यादिष्टः पूर्वं दक्षः स्वयम्भुवा ॥

श्रीमद्भागवतपुराण में ब्रह्मा जी की उत्पत्ति भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमलकोष बना उससे स्वयं भगवान् स्वरूप वेदमूर्ति ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए—

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः,

प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम् ।

तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता,

मत्स्यपुराण में दक्षप्रजापति द्वारा सबलाश्व की उत्पत्ति का वर्णन है । चरकसंहिता के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति दक्ष ने अश्विनीकुमारों को अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को तथा इन्द्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद बतलाया । अश्विनीकुमारों से धन्वन्तरि और धन्वन्तरि से सुश्रुतादि के ज्ञान का बीज सुश्रुत संहिता के उपर्युक्त नमस्कार में मिलता है । अश्विनीकुमार दो माने गये हैं । ये कायचिकित्सक एवं शल्यचिकित्सक दोनों ही थे । दक्षप्रजापति के भिन्न हुए सिर का ट्रान्सप्लाण्टेशन बकरे के सिर से किए जाने की अश्विनीकुमारों की कथा भी आती है । शल्यचिकित्सा का ज्ञान भगवान् धन्वन्तरि ने इन्हीं से प्राप्त किया होगा । वैसे समुद्रमन्थन से निकले १४ रत्नों में भगवान् धन्वन्तरि जो अमृतकलश लेकर प्रकट हुए वे भगवान् विष्णु के ही स्वरूप होने से उन्हें किसी अन्य से ज्ञान लेने की आवश्यकता हुई होगी यह कल्पनातीत है । —धन्वन्तरि उद्भव की कथा श्रीमद्भागवतपुराण में इस प्रकार दी हुई है—

अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः ।

उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥

दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः ।

श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥

पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः ।

स्निग्धकुञ्चितकेशान्तः सुभगः सिंहविक्रमः ॥

अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः ।

स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ॥

धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ।

यही कथा जनश्रुतियों में थोड़े बहुत भेद के साथ कही सुनी जाती है ।

सुश्रुतसंहिता के आरम्भ में टीकाकार ने ब्रह्मा, दक्षप्रजापति सबल अश्विनीकुमारों, भगवान् धन्वन्तरि एवं सुश्रुतादिक को नमस्कार किया है अर्थात् शल्यशालाक्यतन्त्र के निर्माण और अभिवृद्धि में जिन दैवी एवं मानुषी शक्तियों का योगदान हुआ है, उन सभी के प्रति साभार प्रणाम अर्पित किया गया है । प्रभृति या आदि से अन्य जो रह गये हैं उनको भी स्वीकार किया गया है ।

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवः

आयुर्विद्यारत्न आचार्य अम्बालाल जोशी, मकराना मोहल्ला, जोधपुर (राज.)

भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुतसंहिता के वेदोत्पत्ति नामक प्रथम अध्याय में शल्यतन्त्र तथा उससे सम्बन्धित इतर अंगों के ज्ञान-विज्ञान के इस धरती पर अवतरण के सम्बन्ध में इतिहास देते हुए अपना भी परिचय इन शब्दों में दिया है।

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो
जरारुजामृत्यु हरो ऽ मराणाम्।
शल्यांगमंगैरपरुपेतं
प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥

अर्थात् मैं आदिदेव धन्वन्तरि हूं जो देवताओं की वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु का नाशक हूँ। शल्यतन्त्र के साथ अन्य सभी चिकित्सा के अंगों के ज्ञान के साथ उसका उपदेश करने के लिए अब इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ हूँ।

डल्हण ने अपनी टीका में इस श्लोक की विशद व्याख्या की है। उसके अनुसार काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि ने अपने शिष्यों पर विश्वास जमाने के लिए कि वह कोई और न होकर स्वयं आदिदेव धन्वन्तरि का अवतार है यह श्लोक दिया है। डल्हण ने आदिदेव शब्द के कई अर्थ दिये हैं। सब से पहले उसने शंकर को आदि-देव बतलाया है। अन्य लोगों ने ब्रह्मादि देवों को आदि-देव माना है। कर्म्मदेवों में शतक्रतु आदि देवों को, प्रयोजन देवों में स्कन्दादि को लिया जाता है इन सभी में आदि-देव मैं धन्वन्तरि हूं। स्वयं आदिदेव होने के कारण मैं ही देवताओं की वृद्धावस्था, रोगों तथा मृत्यु को दूर करता रहा हूं। इस वाक्य से देवताओं की अजरता, नीरोगता और अमरता की उत्पत्ति में धन्वन्तरि ही कारणभूत आदिदेव हैं। इससे देवता भी बुड्ढे होते हैं, बीमार होते हैं तथा मरते हैं—ये तीन तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। उन्हें भी मनुष्यों की तरह चिकित्सा की आव-श्यकता पड़ती है और उसके लिए किसी वैद्य की तलाश रहती है। आदिदेव का अर्थ महत्त्वपूर्ण देव भी लिया जा सकता है। क्योंकि यह जरारुजामृत्युहर देव थे अतः इन से अधिक महत्त्व और किस का हो सकता है इस कारण भी इन्हें आदिदेव माना जाता है। वही आदिदेव धन्वन्तरि इस भूमि पर मनुष्यमात्र के कल्याण हेतु वृद्धावस्था, रोगावस्था और साक्षात् मृत्युदायक अवस्थाओं से उसकी रक्षा करने के लिए प्राप्त हुए। अवतारकाल में वे अपने साथ जिस ज्ञान को लाये उसमें शल्य या सर्जरी का ज्ञान तो था ही साथ में अन्य अंगों का ज्ञान भी लेकर आये जिसका उपदेश उन्होंने किया है।

पीछे जिस परम्परा का उल्लेख किया गया है। स्वयं दिवोदास धन्वन्तरि ने इस श्लोक के पूर्व उसका उल्लेख कर दिया है। वह इस प्रकार है—

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यां इन्द्र, इन्द्राद् अहं, मया तु इह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहित हेतोः॥१६॥

आयुर्वेद की क्रमिक उत्पत्ति का प्रतिपादन इस गद्यांश में किया गया है। इसे पहले "ब्रह्मा" ने कहा। ब्रह्मा से "प्रजापति दक्ष ने इसे पढ़ा। दक्ष से दोनों अश्विनी-कुमारों ने ग्रहण किया। अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने लिया। इन्द्र से मैंने (धन्वन्तरि ने) इस ज्ञान को प्राप्त किया। फिर जिस प्रकार ब्रह्मा ने अर्थियों (जिज्ञासुओं) के

लिए यह ज्ञान दिया उसी प्रकार मैंने भी जिज्ञासुओं के लिए प्रजा हित के कारण इस लोक में उसे प्रदान किया है।

सभी वैद्यगण यह जानते हैं कि देवताओं के चिकित्सक अश्विनीकुमार द्वय माने जाते हैं। फिर यह आदिदेव धन्वन्तरि कहां से आ गये यह शंका स्वतः ही स्फुरित होती है। इसी का समाधान उपर्युक्त वाक्य में किया गया है। जैसा कि इस विशेषांक के प्रथम लेख में लिखा जा चुका है कि धन्वन्तरि तो समुद्रमन्थन से प्राप्त हुए थे। समुद्रमन्थन से पूर्व धन्वन्तरि का कोई वजूद इतिहास स्वीकार नहीं करता। समुद्रमन्थन देवताओं और दानवों के सम्मिलित प्रयास से मन्दराचल, कच्छप और वासुकि नाग की सहायता से किया गया था। इसके लिए स्वयं भगवान् अजित् श्रीहरि ने देवताओं को प्रेरणा दी थी—

अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम्।
यस्य पीतस्य वै जन्तोर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत्॥

कि अमृत को उत्पन्न करने में बिना देर किये ही यत्न करना चाहिए। जिसके पीने से मरणासन्न जन्तु भी अमर हो जाते हैं। उन्हीं की योजना से अमृत प्राप्त करने का उद्यम दानवों से सुलह करके किया गया। दैत्यों के पास देवता आये। उनके राजा दैत्यराज बलि के साथ मिलकर समुद्र-मन्थन की योजना तैयार की गई। देव-दैत्यों के सम्मिलित प्रयास से मन्दराचल उखाड़ा गया। उसे ले चलना उनके वश की बात नहीं थी इसलिए स्वयं भगवान् ने प्रकट होकर गरुड़ द्वारा उसे समुद्रतट पर ले आया गया—

अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् सुपर्णः पततां वरः।
ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः।

नागराज वासुकि को अमृत पिलाने का लोभ देकर उसे मन्दराचल में लपेट नेती बनाली और जिस प्रकार दही को रई से मथा जाता है वैसे ही समुद्र का मन्थन आरम्भ किया गया। परन्तु मन्दराचल को साधने के लिए नीचे कोई आधार न होने से वह समुद्र में डूबने लगा—

मथ्यमाने सोऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोविशत्।
ध्रियमाणोऽपि बलिभिः गौरवात् पाण्डुनन्दन॥

इस पर भगवान् ने स्वयं कच्छप रूप धारण किया और उस मन्दराचल को अपनी पीठ पर साधा—

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥

और मन्दराचल के ऊपर उठते ही देव दैत्यों ने समुद्रमन्थन आरम्भ कर दिया। भगवान् ने असुरों में आसुरिशक्ति, वासुकि में निद्रा तथा देवों में देवशक्ति जगाकर यह महान् कार्य सम्पादित कराया। मन्दराचल को ऊपर से दबाकर वे उसे साधते रहे। समुद्रमन्थन के कारण सभी मगरमच्छ आदि जीव क्षुब्ध हो गये। इन सभी के सम्मिलित यत्न करने पर भी जब अमृत न निकला तब स्वयं अजित् भगवान् समुद्रमन्थन करने लगे—

मथ्यमानात् तथा सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः।
यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाजितः स्वयम्॥

उनके इस प्रकार मन्थन से समुद्री जीवों में बहुत क्षोभ हुआ तथा हलाहल विष जो अत्यन्त उग्र था सबसे पहले उत्पन्न हुआ—

निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्वणं हालहलाह्वमग्रतः।

इस विष के प्रचण्ड वेग से बचने का कोई उपाय न देखकर प्रजापति देवदेवेश्वर भगवान् सदाशिव के पास कैलाश शिखिर पर गये और प्रार्थना की कि इस विष से हमारी रक्षा कीजिए—

त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद् विषात्॥

उनकी लम्बी प्रार्थना को सुनकर शंकर जी ने सती से पूछा। उनके अनुमोदन कर देने पर सारे कालकूट हलाहल विष को अपनी हथेली पर उठा कर उसे पान कर गये—

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः॥

इसके पीने से उनका कण्ठ नीला पड़ गया।

जब शंकर जी उस विष को पी रहे थे तभी थोड़ी सी विष की बूंदें धरती पर गिर पड़ीं उससे स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के विष उत्पन्न हो गये—

प्रस्कन्नं पिवतः पाणेर्यत् किञ्चिज्जगृहुः स्म तत् ।
वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे ॥

समुद्रमन्थन करते समय दूसरे नम्बर पर कामधेनु उत्पन्न हुई उसे ब्रह्मवादी ऋषियों ने ग्रहण किया। उच्चैःश्रवा घोड़ा निकला उसे दैत्यराज वलि ने ग्रहण किया। फिर ऐरावत हाथी निकला जिसे देवराज इन्द्र ने ग्रहण किया। फिर कौस्तुभ मणि निकली जिसे भगवान् अजित् ने ग्रहण किया।

फिर कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ; फिर अप्सराएं निकलीं; दोनों देवलोक में चले गये। तत्पश्चात् भगवती लक्ष्मी प्रकट हुईं; जिन्हें विष्णु भगवान् ने स्वीकार किया—

वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं
रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥

लक्ष्मी जी के बाद वारुणी देवी प्रकट हुईं; उसे भगवान् की अनुमति से दैत्यों को सौंपा गया—

अथासीद् वारुणीदेवी कन्या कमललोचना ।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते ॥

वारुणीदेवी के आ जाने के बाद श्रीमद्भागवतपुराण में धन्वन्तरि का आविर्भाव इन शब्दों में दिया गया है—

अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः ।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥३१॥

हे महाराज परीक्षित ! जब कश्यपपुत्रों (देवों और दानवों) ने अमृत प्राप्त करने की लालसा से समुद्र का और मन्थन किया तब एक परम अद्भुत पुरुष प्रकट हुआ ॥३१॥

दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः ।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥३२॥

उस पुरुष की भुजाएं दीर्घ और पुष्ट थीं ग्रीवा शंख के समान उतार-चढ़ाव वाली और गोल थी, नेत्र अरुण थे, शरीर से तरुण और वर्ण श्यामल था। गले में माला पड़ी हुई थी तथा वह सब प्रकार के आभरणों (आभूषणों) से भूषित था।

पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
स्निग्धकुञ्चितकेशान्तः सुभगः सिंहविक्रमः ॥३३॥

वह पुरुष पीले वस्त्र पहने हुए था उसकी छाती विशाल थी कानों में चमकदार कुण्डल पहने हुए था। उसके बाल चिकने तथा घुंघराले थे, रूप सुन्दर और वह सिंह के समान पराक्रमी था।

अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः ।
स वै भगवतः साक्षाद् विष्णोः अंशांशसम्भवः ॥३४॥
धन्वन्तरिरितिख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ॥

वलयविभूषित (कंगनयुक्त) हाथों में अमृत से भरा कलश लिए हुए वह पुरुष भगवान् विष्णु के साक्षात् अंशांश से उत्पन्न था। वही आयुर्वेद का प्रवर्तक और यज्ञभोक्ता धन्वन्तरि के नाम से विख्यात हुआ।

उस अमृत कलश को दैत्यों ने धन्वन्तरि के हाथ से छीन लिया और फिर वे आपस में उसे पीने के लिए लड़ने लगे जिसे मोहनी रूप धारण कर भगवान् ने सारा अमृत देवताओं को पिला दिया। कुछ भाग राहु दैत्य को भी मिला जिसका सिर सुदर्शन चक्र ने धड़ से अलग कर दिया। देवताओं द्वारा अमृत पी लेने पर खीझे हुए दैत्यों ने उन पर आक्रमण कर दिया और बड़ी भारी लड़ाई हुई यह प्रसंग श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध में पढ़ा जा सकता है।

इस कथा से धन्वन्तरि का अवतार बाद का है और उसने इन्द्र से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया होगा यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है। कायचिकित्सा के ग्रन्थ चरक संहिता में इन्द्र से भरद्वाज ने ज्ञान प्राप्त कर अन्य ऋषियों को दिया जिनमें पुनर्वसु आत्रेय ने अपने शिष्यों अग्निवेशादि को पढ़ाया जिससे कायचिकित्सांग के ग्रन्थ रचे गये। इन्द्र ने धन्वन्तरि को जो ज्ञान दिया उसे लेकर उन्होंने देवलोक में देवताओं के जरा–रुजा–मृत्यु को दूर करने के लिए उपाय किये। फिर उन्होंने काशी में काशीराज दिवोदास के रूप में जन्म लेकर अपने पूर्व संचित शल्यांग प्रधान ज्ञान को सुश्रुतादि शिष्यों को वितरित कर धन्वन्तरीय शल्य–शालाक्यविज्ञों की शाला का निर्माण किया। इन्द्र तक काय और शल्य का ज्ञान एक ही आचार्य देते थे बाद में मर्त्यलोक

में ये दोनों शाखाएं अलग-अलग हो गईं एक आत्रेय सम्प्रदाय बना और दूसरा धान्वन्तर सम्प्रदाय, इनमें एक आज फिजीशियन और दूसरे सर्जन कहलाते हैं।

दिवोदास धन्वन्तरि

अथ खलु भगवन्तं अमरवरं ऋषिगणपरिवृतं आश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिं औपधेनव वैतरण औरभ्र पौष्कलावत करवीर्य्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतयः ऊचु ॥

इस गद्य खण्ड के प्रत्येक शब्द पर डल्हण ने अपने विचार प्रकट किये हैं। 'अथ' का अर्थ है मंगल। इसे मंगलार्थ प्रयोग किया जाता है। श्रोताओं को व्याख्यान की क्रियाफल सिद्धि के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। 'खलु' वाक्य की शोभा बढ़ाने और निश्चयपूर्वक कुछ कहने के लिये प्रयुक्त होता है। 'अमरवरं' का अर्थ है देवश्रेष्ठ क्योंकि पूर्वजन्म में अमृतकलशधारण किये हुए प्रकट हुए थे। कुछ लोग उन्हें ब्रह्मा का अवतार मानते हैं। 'ऋषिगणपरिवृतं' का अर्थ देवर्षि ब्रह्मर्षि राजर्षियों के समूहों से वेष्टित अर्थ है। दिवोदास धन्वन्तरि तपोज्ञान के बाहुल्य के कारण उक्त सभी प्रकार के ऋषियों के द्वारा घिरे रहते थे। 'आश्रमस्थं' का अर्थ वानप्रस्थाश्रम में स्थित है। दिवोदास राज्यचिन्ता से मुक्त अनाकुल चित्त वाले राजर्षि थे। 'काशिराजं' शब्द वाराणसी जनपद के राजा थे यह सूचित करता है। निर्वाणपद की अभिलाषा से कृत्रिम पुत्रत्व जिसने प्राप्त किया वे काशिराज। इस प्रकार अनेक विशेषण काशिराज के साथ जोड़कर सुश्रुत ने दिवोदास शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द की व्याख्या में डल्हणाचार्य लिखते हैं :—

(१) दिवितिशब्देनात्र तत्स्थानदेवाः कथ्यन्ते, तैः पूजाकाम्यया सम्प्रदीयते यस्मै स दिवोदासस्तम्—दिव् इति शब्द से उस स्थान के देवताओं को कहा जाता है। उन की पूजा की कामना से जिसके लिये दिया जाता है वह दिवोदास है उसके लिए।

(२) अन्ये तु दासयति कर्म्माणि यत्नेन करोतीति दासः, दिवः स्वर्गस्य दास दिवोदासस्तम्—जो यत्नपूर्वक कर्म करता है उसे दास कहते हैं। दिवः का अर्थ स्वर्ग का। इस प्रकार दिवोदास का अर्थ स्वर्ग का दास होता है। दिवोदासं का अर्थ दिवोदास को।

धन्वन्तरि की व्युत्पत्ति—धनुः शल्यशास्त्रं तस्य अन्तः पारम् एति गच्छति इति धन्वन्तरिः तम्। धनु अर्थात् शल्यशास्त्र उसके अन्त या पार को ले जाने वाला धन्वन्तरि कहलाता है। अतः धन्वन्तरि उसे कहते हैं जो शल्यशास्त्र का पारगामी विद्वान् हो। आचार्य किशोरी दास वाजपेयी धन्वन्तरि का एक विचित्र अर्थ करते हैं धन्वन् अर्थात् मरुभूमि और तरि तारने वाला या पार ले जाने वाला अर्थात् ऊंट। इससे धन्वन्तरि ऊंट जैसे ऊंचे कद वाले व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है। यह अर्थ आयुर्वेद के लिए महत्त्वहीन है। धन्वन्तरि शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति भी हो सकती है जिसे विस्तारभय से डल्हण ने नहीं लिखा।

दिवोदास धन्वन्तरि पौराणिक समुद्रमन्थन से प्राप्त धन्वन्तरि के ही अवतार रूप थे। शल्यशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। काशी के राजा थे जिन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश ले लिया था। उनके चारों ओर बड़े-बड़े विद्वान् और शिष्यगण छाये रहते थे। उन शिष्यों में औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित तथा सुश्रुत ये सात प्रधान शिष्य थे।

सुश्रुत संहिता में स्थान-स्थान पर "यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि" वाक्य का प्रयोग हुआ है। भगवान् शब्द के ३ अर्थ डल्हण ने दिये हैं—

१—समस्तैश्वर्यमाहात्म्ययशः श्रीकामार्थप्रसादैर्युक्तो भगवान् उच्यते—सब प्रकार के ऐश्वर्य, माहात्म्य, यश, श्री, काम और अर्थ तथा प्रसन्नता आदिकों से जो युक्त हो वह भगवान् कहलाता है।

२—अन्ये तु ज्ञानातिशयवान् पुरुषातिशयो भगवान्—कुछ लोग अतिशय ज्ञान सम्पन्न पुरुषश्रेष्ठ व्यक्ति को भगवान् कहते हैं।

३—अपरे तु अष्टगुणैश्वर्यवान् एव अत्र भगवान्—और भी कुछ व्यक्ति अष्टगुण ऐश्वर्य से युक्त महापुरुषों को भगवान् बतलाते हैं।

—शेषांश पृष्ठ ४४ पर

यत्किञ्चिदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेवं प्रवदन्ति शल्यम्

आयुर्विद्याविनोद आचार्य विजयशंकर त्रिवेदी
प्राचार्य, शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उज्जैन (म. प्र.)

शल्य क्या है ? जिसके नाम पर शल्यतन्त्र नामक एक महत्वपूर्ण आयुर्वेदीय अंग का सारा कलेवर बना है। इस प्रकरण में इसी की चर्चा की जा रही है। ऊपर की पंक्तियां डल्हण द्वारा लिखित हैं। पूरा श्लोक इस प्रकार दिया गया है—

अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम् ।
यत्किञ्चिदाबाधकरं शरीरे
तत् सर्वमेतत् प्रवदन्ति शल्यम् ॥

इसका अर्थ आयुर्वेद रहस्यदीपिका में इन शब्दों में दिया गया है—"शरीरिणां मनुष्याणां शरीरे अतिप्रवृद्धं मलजं मूत्रपुरीषकर्णमलप्रभृतिकम् अतिप्रवृद्धं दोषजं (दोष दूषितेषु अत्यर्थं धातुषु दोष संज्ञा) बालनखास्थिपूयास्रावादिकं वा, तथा स्थावराणां तृणकाष्ठपाषाणलोहलोष्ठप्रभृतीनां जङ्गमानां कृमिकीटादीनां वा यत् किञ्चित् आबाधकरं पीडाकरं तत् सर्वं शल्यं प्रवदन्ति।" अर्थात् जीवधारियों में मलज या दोषज स्थावर अथवा जंगम कोई भी पदार्थ जब अत्यन्त प्रवृद्ध होकर थोड़ी सी भी बाधा शरीर के अन्दर करता है तो वह शल्य कहलाता है।

शरीर के अन्दर ही दोष या दूष्य जब अत्यधिक दूषित होकर तथा बढ़कर पीड़ा पहुँचाने लगते हैं तो वे भी शल्य ही कहलाते हैं। ये दोषज शल्य हैं। कभी-कभी मल (मूत्रपुरीषादि) की मात्रा शरीर में अत्यधिक बढ़ जाने पर और उनके न निकलने पर भी शरीर में बहुत पीड़ा होती है। ये मलज शल्य बनते हैं। दोषज शल्यों में बाल (आंख पर परवाल रोग) नख (जब अंगुली या अंगूठे की कोर में घुस जाता है) अस्थि (गर्दन की कशेरुका के बढ़ जाने पर या अन्यत्र बढ़ने पर) पाकक्रिया में उत्पन्न पूय तथा विविध प्रकार के स्राव ये दोषज शल्य रूप शरीर में बहुत कष्ट देते हैं। मनुष्य शरीर में बाहर से स्थावर या जड़ पदार्थों से भी बहुत पीड़ा होती है तिनके या बांस या लकड़ी की फांस नुकीले पत्थर या धारदार हथियार की नोंक, आंख में पड़ा रेत या बालू का कण, मिट्टी का ढेला इसके उदाहरण हैं। जंगम या सजीव प्राणियों कृमिकीटादि के काटने या दंश से भी विविध प्रकार की पीड़ाएं होती हैं। ये सभी पीड़ाकर स्थावर जंगम मलज दोषज पदार्थ शल्य कहलाते हैं।

आयुर्वेद के अष्टांगों में शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र तथा वाजीकरणतन्त्र का इसी क्रम में सुश्रुत संहिता में उल्लेख किया गया है। शल्यांग की परिभाषा इन शब्दों में दी गई है :—

तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्ठास्थिबालनखपूयास्रावान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च ॥

इसके अन्तर्गत शल्योद्धरण, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्नि-प्रणिधान तथा व्रणविनिश्चय ये ३ कर्म गिनाये गये हैं। शल्यों में ऊपर जो जो गिनाए जा चुके हैं उनमें अन्तर्गर्भ का समावेश महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार गर्भावस्था का पूरा काल शल्यशास्त्रियों का विषय बन जाता है। यन्त्र-शस्त्रों का उपयोग क्षारकर्म-अग्निकर्म या तत्सम्बन्धी विविध कर्म एवं व्रण का विनिश्चय और चिकित्सा सब शल्यांग में समाविष्ट हैं।

शल्य शब्द शल् या श्वल् धातुओं से बना है। शल् हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त धातु है। दोनों ही धातुएं आशुगमन अर्थ में भी प्रयुक्त होती हैं। जिसमें हिंसा एवं शीघ्र प्रहार की भावना हो वह शल्य है। चक्रपाणिदत्त ने--शलनं हिंसनं शलः तथा च शल्यस्य हिंसाया निमित्तं संयोगो यस्य तत् शल्यम्---ऐसा अर्थ किया है। डल्हण ने एक तीसरा अर्थ और दिया है---"अपरे शलं रुजायामिति पठन्ति"। शल रुजा या दर्द के अर्थ में भी आता है।

ऊपर जो आबाधकरं का अर्थ पीडाकरं दिया है वह सीमित अर्थ है। पूर्ण अर्थ तो आबाधा करने वाला ही है अर्थात् शरीर की सर्वसामान्य स्वस्थक्रियाओं के निष्पादन में बाधा उत्पन्न करना। छाती का शल्य श्वास लेने निकालने में बाधा और पीड़ा दोनों ही पहुँचाता है। सामान्य फांस पीड़ा तो करती ही है सामान्य शरीर व्यापार के निष्पादन में बाधक भी होती है। आंख की किरकिरी कुछ भी तो नहीं करने देती।

हड्डी का शल्य शरीर को निष्क्रिय बना देता है। भूतपूर्व रेलवे मन्त्री स्व० श्री *ललितनारायण मिश्र* के उदर में प्रविष्ट हथगोले के सूक्ष्म से शल्यों ने कितना कष्ट पहुँचाया था वह सर्वविदित है।

शल्य युद्ध में प्रयुक्त साधन हैं। इनके प्रयोग के प्रभाव को मिटाने के लिए जो उपाय किये जाते हैं वे सभी शल्यतन्त्र के अन्तर्गत आते हैं। जिन्हें आज की भाषा में सर्जरी कहा जाता है। शल्यों का निकालना, पीड़ा का शमन करना और व्रणोपचार करना यही न आज के सर्जन करते हैं। वही धन्वन्तरि सुश्रुत, औरभ्र, औपधेनवादि शल्यवेत्ताओं का भी लक्ष्य रहा है।

शल् में यक् प्रत्यय जोड़ने से शल्य बनता है। शल्य में शल् के तीनों ही अर्थ आशुगमन, हिंसा और रुजा पूरे-पूरे प्रयोग में आते हैं। शल्य वस्तु शीघ्रता से शरीर में प्रविष्ट होती है या मलज--दोषज शल्य शीघ्र ही शरीर पर प्रभाव डालते हैं। वे सद्यः या कालान्तर में मारक हो जाते हैं तथा बहुत कष्टकर एवं बाधाकर होते हैं। सुश्रुत इस शल्य को दो प्रकार का "शारीरशल्य" तथा "आगन्तुकशल्य" मानता है। इन्हें समझाते हुए लिखता है--

सर्वशरीराबाधकरं शल्यं तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम्। तत्र शारीरं रोमनखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः। आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावाः दुःखं उत्पादयन्ति। अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृङ्गास्थिमयेषु, तत्रापि विशेषतो लोहेष्वेव विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद् दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः॥

अर्थात् समस्त शरीर में बाधा या पीड़ा पैदा करने वाला शल्य कहलाता है। उसकी चिकित्सा हेतु शल्यतन्त्र का उपदेश किया जाता है। शारीरिक शल्यों में रोम नख आदि दूषित धातुएं अन्न मल एवं दुष्ट दोषों का समावेश किया जाता है। आगन्तुशल्यों में शारीर शल्यों से व्यतिरिक्त पीड़ा देने वाले समस्त भावों का समावेश किया जाता है। इनमें लोह बांस, वृक्ष, तृण, सींग, अस्थि आदि लिये जाते हैं। इनमें भी लोहे का या लोहे के औजारों का विशसन या मारण हेतु बहुत प्रयोग किया जाता है उसका विशेष महत्त्व है। सुश्रुतकाल में लोहे के हथियारों में भी दुर्निवारक, सूक्ष्ममुख और दूर से ही मार करने के कारण शर या बाण का अधिक महत्त्व माना जाता था जो आज बम और बन्दूक की गोलियों के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं।

शल्यों की ५ गतियां

सर्वशल्यानां तु महतां अणूनां वा पञ्चविधो गतिविशेष ऊर्ध्वं अधो अर्वाचीनः तिर्यग् ऋजुः इति ॥७॥

बड़े या छोटे सभी प्रकार के शल्यों की मनुष्य के शरीर में १. ऊपर को (ऊर्ध्व), २. नीचे को (अधः), ३. बदली हुई (अर्वाचीन), ४. तिरछी (तिर्यक्) तथा ५. सीधी (ऋजु) ये ५ गतियां होती हैं।

शल्य लक्षण

किसी मनुष्य के शरीर में शल्य उत्पन्न हो जाने या लग जाने के सुश्रुत ने २ प्रकार—सामान्य तथा वैशेषिक लक्षण बतलाये हैं।

सामान्य लक्षण

श्यावं—रंग में श्याव या सायनोज्ड अथवा कृष्णाभ-गुलाबी वर्ण।

पिडकाचितं—आस-पास पिडकाओं या फुन्सियों की उत्पत्ति।

शोफवन्तं—आस-पास का स्थान सूजा हुआ—ईडेमेटस।

वेदनावन्तं—शल्यस्थान में पीडा या दर्द का लगातार होना।

मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं—उसमें से बार-बार या बराबर रक्तस्राव होना।

बुद्बुद्वद् उन्नतं—शल्यलग्न स्थान का बबूले की तरह फूला या उठा हुआ होना।

मृदुमांसं—शल्यलग्न स्थान की मांसपेशी की टोन नष्ट हो जाने से उसका कोमल या लुचलुचा हो जाना।

च—स्थान विशेष के कारण अन्य लक्षणों का होना।

व्रणं जानीयात् सशल्योऽयं इति—इन लक्षणों से युक्त व्रण को शल्ययुक्त जानना चाहिए।

सामान्य लक्षणं एतद् उक्तम्—ये शल्य के सामान्य लक्षण कहे गये हैं।

वैशेषिक लक्षण

त्वक् गते—विवर्णः शोफः भवति आयतः कठिनश्च—अगर शल्य केवल त्वचा तक ही गया हो तो वहां की त्वचा का रंग बदल जाता है। आस-पास के पूरे क्षेत्र में सूजन हो जाती है। यह सूजन चौड़ाई में और कड़ी होती है।

मांसगते—शोफाभिवृद्धिः, शल्यमार्गान् उपसंरोहः, पीडन असहिष्णुता, चोषपाकौ च—

अगर शल्य सामान्य मांस धातु में प्रविष्ट कर गया है तब सूजन काफी बढ़ जावेगी, जहां होकर शल्य गया है वह मार्ग बिना भरा रहेगा, पीड़न या दबाने का दर्द होगा—टेण्डरनैस, उस पेशी में चोप (विशेष प्रकार की चसक या जलन) तथा पाक होने लगेगा।

पेश्यन्तरस्थेऽपि—एतदेव चोषशोफवर्जम्—यदि शल्य पेशी में घुस गया हो तो वहां मांसधातु के ही सब लक्षण मिलेंगे किन्तु चोष और शोफ नहीं होगा पाक के अभाव के कारण।

सिरागते—सिराध्मानं सिराशूलं सिराशोफश्च—सिरा में शल्य के प्रविष्ट होने पर सिरा का फूलना, सिराक्षेत्र में वेदना का होना तथा उसके आस-पास के क्षेत्र में शोफ (सूजन) हो जाती है।

स्नायुगते—स्नायुजालोत्क्षेपणं, संरम्भश्च, उग्रा रुक् च—स्नायु में शल्य के प्रविष्ट हो जाने पर स्नायुसमूह ऊपर को उठ जाता है। संरम्भ (इन्फ्लेमेशन) तथा तीव्र वेदना होती है।

स्रोतोगते—स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः—स्रोतस् में शल्य लग जाने से जिस स्रोतस् में शल्य घुसा है उस स्रोतस् के जो-जो कोई कर्म और गुण होते हैं उनकी हानि हो जाती है।

धमनीस्थे—सफेनं रक्तमीरयन् अनिलः सशब्दो निर्गच्छति अङ्गमर्दः, पिपासा हृल्लासश्च—धमनी में शल्य के घुस जाने पर झाग के साथ रक्त को बाहर निकालता हुआ वायु आवाज के साथ निकलता है। रोगी को अंगमर्द प्यास और मिचलियां आती रहती हैं।

अस्थिगते—विविधवेदना प्रादुर्भवःशोफश्च—हड्डी में शल्य अटक या छिद जाने पर तरह-तरह की पीड़ाएं उत्पन्न हो जाती हैं और हड्डी सूज जाती है।

अस्थिविवरगते—ऽस्थिपूर्णता ऽस्थितोदः संहर्षो बलवांश्च—जब हड्डी के पोले भाग में शल्य घुस कर बैठ जाता है तब अस्थि भरी-भरी हो जाती है उसमें तोद और बहुत अधिक संहर्ष (भयंकर अस्थिशूल) होता है।

सन्धिगते—अस्थिवच्चेष्टोपरमश्च—अस्थियों के जोड़ों में शल्य घुस जाने पर अस्थिगत शल्य के समान लक्षण तो मिलते ही हैं। चेष्टोपरम (जोड़ की क्रिया का नाश) भी हो जाता है।

कोष्ठगते—आटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनञ्च व्रणमुखात्—शल्य जब कोष्ठ या महास्रोत के विविध मार्गों

में से किसी में प्रवेश करता है तो वहां आटोप और आनाह तथा मूत्र, पुरीष या आहार का दर्शन (स्थान के अनुसार) व्रणमुख पर होता है।

मर्मगते–मर्मविद्धवत् चेष्टते—जब शल्य किसी मर्म में प्रवेश करता है तो मर्मवेध के जो लक्षण अन्यत्र दिये गये हैं वे मिलते हैं। —सामान्य लक्षणं पुनर्मर्मणां पीडिते रुजोत्पत्तिर्विषमं च स्पन्दनम्। सामान्येनैव च–देहप्रसुप्तिः गुरुता संमोहः शीतकामिता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम्॥ इन लक्षणों को डाक्टर घाणेकर ने अंगरेजी के शॉक शब्द की संज्ञा दी है।

सूक्ष्मगतिषु शल्येषु एतान्येव लक्षणानि अस्पष्टानि भवन्ति—सूक्ष्म या सूक्ष्म गति वाले शल्यों में उपर्युक्त ये सभी लक्षण—विशेष या सामान्य अस्पष्ट रहते हैं।

शुद्ध देह वालों (स्वस्थ पुरुषों) के छोटे या बड़े अनुलोम प्रविष्ट शल्य आसानी से भर जाते हैं। विशेष करके कण्ठ, स्रोतस्, सिरा, त्वचा, पेशी एवं अस्थिविवर के शल्य। किन्तु जो शल्य दोषप्रकोप, व्यायाम, अभिघात अथवा अजीर्ण द्वारा प्रचलित होते हैं वे जल्दी ठीक नहीं होते अपि तु पुनःपुनः पीड़ा करने लगते हैं।

शल्य कहां है ?

शरीर में शल्य किस स्थान पर लगा है इसे जानना कभी-कभी आसान नहीं होता। आजकल की बन्दूक की गोली या छर्रे या हथगोला या बम के टुकड़े कहां-कहां घुसे हुए हैं इन्हें जानना सरल नहीं है। ऐक्सरे चित्र लेने पर ही उनका ठीक-ठीक बोध होता है। प्राचीन काल में वैद्यों ने कुछ इसके लिए सीधे-सादे उपाय निकाल लिये थे जिनमें कुछ इस प्रकार हैं :—

१—जहां की चमड़ी में शल्य गुप्त हो वहां मिट्टी उड़द या जौ या गेहूँ का आटा मलते हैं अगर वहां संरम्भ (शोथ और लालिमा) या वेदना का अनुभव हो तो वहां शल्य है ऐसा जानना चाहिए।

२—जहां शल्य होने का सन्देह हो उस स्थान पर जमा हुआ घी या मिट्टी का गीला लोंदा या पानी में घिसा हुआ चन्दन का लेप कर देना चाहिए। यदि जमा हुआ घी पिघलने लगे या मिट्टी या चन्दन का लेप सूखने लगें तो समझ लें कि यहीं शल्य है जिसकी गर्मी से घी पिघला या लेप सूखा है।

३—मांस में यदि शल्य गुप्त हो तो स्नेहन स्वेदन आदि विशेष क्रियाओं को वैद्य अनुलोम रूप में करे। थोड़े समय में पेशी के कृश एवं शिथिल होने पर और क्षुब्ध किया जाने पर शल्यस्थान में संरम्भ (शोथ और लालिमा) उत्पन्न हो जायगी तथा वहां वेदना होने लगेगी।

४—कोष्ठ, अस्थि, सन्धि, पेशी या किसी विवर में स्थित शल्य की भी इसी प्रकार परीक्षा करके शल्य कहां है यह निश्चित किया जाता है।

५—सिरा, धमनी, स्रोतस्, स्नायु इनमें कहीं शल्य गुप्त हो तो झटकेदार गाड़ी में रोगी को सवार करावे। या ऐसी सड़क पर होकर उसे ले जावे जहां गड्ढे हों। झटका लगने से रोगी उस स्थान में वेदना या संरम्भ का अनुभव करेगा जहां शल्य हो।

६—अस्थि में गुप्त शल्य को जानने के लिए अस्थियों का स्नेहन और स्वेदन करने से संरम्भ या वेदना का स्थल मालूम पड़ सकता है।

७—अस्थिसन्धियों में शल्य की उपस्थिति जानने के लिये स्नेहन स्वेदन द्वारा सन्धि को मुलायम करके उस सन्धि में होने वाली सभी क्रियाओं—आकुंचन, प्रसारण, एडक्शन, ऐब्डक्शन, बन्धन, पीडनादि को एक-एक कर करते हैं। जिस क्रिया से वेदना हो और जहां संरम्भ (शोथ और लालिमा) हो वहां शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिए।

८—किसी मर्मस्थान पर शल्य हो तो क्योंकि मर्म सिरा स्नायु मांसपेशी आदि में ही होने से अलग से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। ऊपर बताये अनुसार ही शल्य की खोज करनी चाहिए।

९—रोगी को हाथी के कन्धे पर बिठाना, घोड़े या गधे की पीठ पर बिठाना, पर्वत या पेड़ पर चढ़ाना, धनुष चलवाना, तेज गाड़ी में बिठलाना, कुश्ती लड़ाना, पैदल चलाना, तैराना, ऊंचा कुदाना, विविध प्रकार के आसन या व्यायाम कराना आदि से जहां वेदना या संरम्भ या दोनों प्रकट हों वहां शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिए।

१०—कभी-कभी जम्हाई लेने, छींकने, खांसने, डकार लेने, थूकने, हँसने, प्राणायाम करने, वात-मूत्र-शुक्र में से किसी का उत्सर्जन करने पर जहां-जहां वेदना या संरम्भ या दोनों हों वहां शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिए।

११—शरीर में जिस स्थान पर तोद पीड़ा शोथ लालिमा, सुप्तता, गुरुता हो तथा घर्षण से जहां तोद हो या पानी निकले तथा जिस स्थान को रोगी दबाने या छूने न दे (आतुरश्चापि यं देशं अभीक्ष्णं परिरक्षति) वहां शल्य की सम्भावना हो सकती है।

१२—अस्थिशल्य शरीर में धीरे-धीरे टुकड़ों या कणों में बिखर जाता है। सींग या लोहे का शल्य टेढ़ा हो जाता है। वृक्ष, बांस और तिनके की फांस को यदि न निकाला जावे तो वह शीघ्र रक्त मांस को पका देती है। स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल रांगा और सीसा के शल्य तथा अन्य मृदु और शीतल शल्य शरीरस्थ पित्ततेज से विलीन या द्रवीभूत हो जाते हैं ऐसा सुश्रुत कहता है। पर सींग, दांत, बाल, अस्थि, बांस, लकड़ी या उपल (पत्थर) और मिट्टी के शल्य शरीर में विशीर्ण (घुलते) नहीं होते।

शल्यरहित स्थान

जिस स्थान पर पहले शल्य हो और बाद में निकल गया हो तो उसका ज्ञान कैसे किया जाय इसके लिए सुश्रुत संहिता में कुछ लक्षण दिये गये हैं—

उस अंग की क्रियाओं में अल्प बाधा हो या कोई बाधा न हो,

वह स्थान सूजा हुआ न रहे,
वहां दर्द न हो,
वहां कोई उपद्रव न हो,
स्थान प्रसन्न या स्वस्थ हो,
उसके किनारे मृदु हों,
घिसने या दबाने से कष्ट न हो,
उठा हुआ न हो,
एषणी (प्रोब) डालने पर कहीं कोई बाधा न हो।
प्रसारण—आकुंचनादि क्रियाओं में कोई कष्ट न हो

तो ऐसे अंग या स्थान को चिकित्सक को निःशल्य या शल्यरहित घोषित कर देना चाहिए।

राजचिकित्सक और शल्यज्ञान पाठ्यक्रम

द्विविधं पञ्चगतिमत् त्वगादिव्रणवस्तुषु।
यो वेत्ति विष्टितं शल्यं स राज्ञः कर्तुमर्हति॥

—सु० सं० सू० स्था० अ० २६।

जो चिकित्सक शल्यों के दोनों प्रकारों, शल्यों की पांचों गतियों तथा त्वचा आदि में स्थित प्रकट या गुप्त शल्यों के स्थान को ठीक-ठीक जानता है वही राज-चिकित्सा करने योग्य होता है।

इसलिए गवर्नमेण्ट सर्विस में पहुँचने के लिए लालायित सर्जनों को उपर्युक्त पाठ्यक्रम को पूरी तरह पढ़कर और दीक्षित होकर ही जाना चाहिए।

(पृष्ठ ३९ का शेषांश)

धन्वन्तरि चाहे वे पुराणोक्त हों या काशिराजस्थ इन्होंने देवताओं तथा मनुष्यों को जो ज्ञान दिया और उनके जीवन की रक्षार्थ जो शल्यशास्त्र की क्रियात्मक शिक्षा दी उसके कारण वे निस्सन्देह भगवान् की कोटि में आते रहे और संहिताकारों एवं आप्त पुरुषों द्वारा भगवान् धन्वन्तरि के नाम से ही आदर और श्रद्धापूर्वक पुकारा जाता है।

काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशामृत का मूर्तरूप सुश्रुत संहिता है। इन उपर्युक्त सातों शिष्यों ने भगवान् के समीप जाकर उनके शिष्य बनने की इच्छा की। भगवान् ने उनका स्वागत किया और इन शब्दों के साथ अपने शिष्य या वत्सरूप में स्वीकार कर लिया—

तान् उवाच भगवान्—स्वागतं वः, सर्वे एव अमीमांस्या अध्याप्याश्च भवन्तो वत्साः॥२॥

एतद् हि अंगं प्रथमम्

आयुर्विद्यारत्न आचार्य श्रीनिवास उपाध्याय, साहित्यायुर्वेदाचार्य
शासकीय आयुर्वेद कालेज रायपुर (म० प्र०)

सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में शल्यतन्त्र को आद्य अंग तथा अष्टांगों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग बतलाया गया है—

तस्याङ्गवरं आद्यं प्रत्यक्ष–आगम–अनुमान–उपमानैः अविरुद्धं उच्यमानं उपधारय ॥१४॥

भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से कहा कि जिस शास्त्र में आयु के सम्बन्ध में विचार होता है अथवा जिसके द्वारा दीर्घायु प्राप्त होती है, उस आयुर्वेद के श्रेष्ठतम अंग या आद्य अंग या शल्यतन्त्र का प्रत्यक्ष आगम (वेद), अनुमान और उपमान इन चारों प्रमाणों से अविरोध दिखाकर जो ज्ञान दिया जा रहा है उसे तू सुश्रुत धारण कर।

अष्टांगों में शल्यतन्त्र की प्रथमता या आद्यत्व प्रतिपादन करने के लिए सुश्रुतसंहिता में एक इतिहास दुहराया गया है। यह इतिहास जनश्रुति के आधार पर अंकित किया गया है :—

श्रूयते हि यथा—ऐसा सुना जाता है कि,

रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति—रुद्र ने यज्ञ का (चरकसंहिता के अनुसार दक्ष का) सिर काट डाला।

ततो देवा अश्विनौ अभिगम्य ऊचुः—तब देवतागण दोनों अश्विनीकुमारों के पास जाकर कहने लगे।

नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः—तुम दोनों हम सबसे श्रेष्ठतम हो।

भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धातव्यमिति—आप दोनों के द्वारा यज्ञ के सिर का सन्धान किया जाना चाहिए।

तौ ऊचतुः एवमस्तु इति—वे दोनों अश्विनीकुमार बोले कि ऐसा ही होगा।

अथ तयोः अर्थे देवा इन्द्रं प्रासादयत्—उन दोनों के लिए (कि उन्हें यज्ञ का भाग या प्रसाद मिले) उन्होंने इन्द्र को प्रसन्न किया।

ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम्—उन दोनों अश्विनीकुमारों ने यज्ञ के सिर को जोड़ दिया।

इसी कथा को १ श्लोक में चरकसंहिता में दिया गया है—

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहौ इति स्मृतौ।
दक्षस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥

इस घटना ने अश्विनीकुमारों की श्रेष्ठता जहां देवताओं में प्रतिपादित की वहीं शल्यतन्त्र की महत्ता एवं श्रेष्ठता को आयुर्वेद के सब अंगों से अधिक भी मनवा दिया। अश्विनीकुमार जैसे सर्जन जिन्होंने कटे सिर को जोड़ दिया ऐसी घटना है जिसे अभी तक पूरा नहीं किया जा सका। आज जब एक सद्यः मृत महिला का हृदय निकाल कर हृद्रोगी के विकृत हृदय को निकाल कर दक्षिण अफ्रीका के एक डाक्टर ने सत्य सिद्ध कर दिया और हृदयसंधान या हार्ट ट्रान्सप्लाण्टेशन का आपरेशन कर दिया तब उस चिकित्सक के प्रति विश्व भर की

श्रद्धा उमड़ पड़ी। सिर का जोड़ना उससे कहीं बड़ी घटना है। उसके कारण देवलोक तक में प्रशस्ति की दुन्दुभि बजना स्वाभाविक है। यही घटना शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में भी लिखी गयी है। इतने आप्त प्रमाण उसकी सत्यता के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं।

उक्त ऐतिहासिक घटना के अतिरिक्त भी अष्टांगों में शल्यतन्त्र की महत्ता १६वें गद्यांश में स्पष्ट रूप से इन शब्दों में दी हुई है :—

अष्टासु अपि आयुर्वेद तन्त्रेषु एतदेव अधिकं अभिमतम्—आठों भी आयुर्वेद तन्त्रों में यह शल्यतन्त्र ही अधिक (श्रेष्ठतम) माना जाता है। उसके ३ प्रमुख कारण हैं :—

आशुक्रियाकरणात्—इसके द्वारा शीघ्र चिकित्सा हो जाने से,

यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्—यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि का व्यवहार होने से जिनमें शीघ्र क्रिया ही करनी होती है; तथा

सर्वतन्त्र सामान्याच्च—सभी तन्त्रों में शल्यतन्त्र की समानरूप से आवश्यकता होने से।

इसकी और भी महत्ता बतलाने के उद्देश्य से सुश्रुत ने आगे भी लिखा है :—

तदिदं शाश्वतं—इसी कारण से यह शल्यतन्त्र शाश्वत है अनादि काल से चलता चला आ रहा है। या रोगमुक्तिदाता (शाश्वत मोक्षदायक) है।

पुण्यं—श्रेष्ठ कर्म है,

स्वर्ग्यं—शल्यतन्त्र के ज्ञाता सर्जनों को स्वर्गरूप श्रेष्ठ फल देने वाला है,

यशस्यं—यश का विस्तार करने वाला है।

आयुष्यं—रोगी को रोगमुक्त करके प्राण बचाकर आयु प्रदान करने वाला है और शल्यचिकित्सक को सफलतारूप प्रसन्नता देकर आयु की वृद्धि करने वाला है।

वृत्तिकरं—द्रव्योपार्जन में सहायता करने वाला है। एक-एक आपरेशन के सर्जन लोग हजारों रुपये वसूल करते हैं। इसलिए इससे अच्छा और कौन धन्धा हो सकता है?

च इति—और भी अनेक लाभ इसके द्वारा होते हैं जिनमें प्रभाव और प्रभावजन्य सांसारिक लाभ भी आते हैं।

शल्य और शालाक्य ये दोनों तन्त्र एक दूसरे के साथ समानता रखते हैं। दोनों में यन्त्रशस्त्र क्षाराग्निकर्म का प्रयोग किया जाता है।

दोनों ही ऐहिक (लौकिक) तथा आमुष्मिक (पारलौकिक) कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। आयुर्वेद में शल्यतन्त्र की बहुत महत्ता सदा से ही चली आई है। आर्यों को सदैव युद्ध करने पड़ते थे। युद्ध विद्या में कुशलता का ही एक अंग वैद्य द्वारा शल्यापहरण करना भी था। युद्ध वैद्य भांति-भांति के शस्त्र कर्म करके रात-रात में ही योद्धा को पुनः युद्धक्षेत्र के काबिल बना देते थे। महाभारत के एक प्रसंग में घायल युधिष्ठिर को रात भर में ठीक करके पुनः दूसरे दिन लड़ने के लिए समर्थ बना दिया गया ऐसा अभिप्राय दिया गया है। शल्यतन्त्र का महत्त्व सदैव संसार में माना जाता रहेगा इसमें सन्देह नहीं किया जासकता है। ★

> वैद्यसमाज जब तक अच्छे शल्यतन्त्रविद् चिकित्सक नहीं तैयार करता तब तक इसे पूर्ण प्रतिष्ठा इस युग में प्राप्त हो सकना शक्य नहीं है।

आयुर्विद्याविनोद आचार्य महादेव प्रसाद पाण्डेय ए. एम. एस.
प्राचार्य शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, जबलपुर (म॰ प्र.)

व्याधियों के सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं :—तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते ॥ अर्थात् जिनका सम्बन्ध मनुष्यों को दुःख देता है उन्हें व्याधियां या रोग कहा जाता है। ये व्याधियां ४ प्रकार की होती हैं :—

१. आगन्तवः—आगन्तु व्याधियां
२. शारीराः—शारीर व्याधियां
३. मानसाः—मानसिक व्याधियां
४. स्वाभाविकाः—स्वाभाविक व्याधियां

इनमें आगन्तु व्याधियां अभिघात निमित्तज (चोट के कारण होने वाली) होती हैं; शारीरिक अन्नपान की खराबी से होने वाली—वात पित्त रक्त कफ में से एक या अनेक के वैषम्य से उत्पन्न होती हैं; मानस व्याधियां क्रोध, शोक, भय, हर्ष विषाद, ईर्ष्या, असूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि मनोद्वेगों तथा इच्छा एवं द्वेषजन्य होती हैं; स्वाभाविक व्याधियों में भूख, प्यास, वृद्धावस्था, निद्रा तथा मृत्यु आदि आती हैं।

दुःखसंयोग का नाम व्याधि ऊपर कहा गया है। "तच्च दुःखं त्रिविधम्" वह दुःख भी ३ प्रकार का भगवान् ने कहा है—आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख तथा आधिदैविक दुःख। इन तीनों दुःखों से ७ प्रकार की व्याधियों का एक और श्रेणी विभाजन सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान के २४वें अध्याय में किया गया है। ये व्याधि हैं :—

(I) आध्यात्मिक दुःख—१. आदिबलप्रवृत्ता व्याधियां
२. जन्मबलप्रवृत्ता व्याधियां
३. दोषबलप्रवृत्ता व्याधियां
(II) आधिभौतिक दुःख—४. संघातबलप्रवृत्ता व्याधियां
(III) आधिदैविक दुःख—५. कालबलप्रवृत्ता व्याधियां
६. दैवबलप्रवृत्ता व्याधियां
७. स्वभावबलप्रवृत्ता व्याधियां

इनमें संघातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त तथा दैवबलप्रवृत्त इन तीनों श्रेणियों की व्याधियों का समावेश आगन्तुज रोगों में किया जाता है।

द्वौ व्रणौ भवतः—शारीर आगन्तुश्चेति। तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः। आगन्तुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृङ्गचक्रेषुपरशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिघातनिमित्तः। तत्र तुल्ये व्रणसामान्ये द्विकारणोत्थानप्रयोजनसामर्थ्याद्द्विव्रणीय इत्युच्यते ॥२॥

व्रण दो प्रकार के होते हैं—शारीर व्रण तथा आगन्तु व्रण। उन दोनों प्रकार के व्रणों में "शारीर व्रण" वात, पित्त कफ और रक्त के सन्निपात के कारण बनता है। आगन्तुव्रण भी पुरुष, पशु, पक्षी, सर्प, सरीसृप इनमें से किसी के भी द्वारा किये जाने वाले अभिघात से, गिर जाने, पीड़न तथा प्रहार से, अग्नि द्वारा जल जाने से, क्षार, विष, तीक्ष्ण औषध के द्वारा जल जाने या गल जाने या कट जाने से, लकड़ी के टुकड़े, मिट्टी के खीपड़े,

सींग, चक्र, बाण, फरसा, शक्ति, (तीनधार वाला हथियार) कुन्त तथा आदि (तलवार, बन्दूक, तोप, तमंचा एवं अन्यान्य नूतन-पुरातन अस्त्र-शस्त्र) के अभिघात (चोट) से उत्पन्न होता है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के व्रणों में व्रणत्व (घाव) एक सा ही होता है किन्तु उत्पत्ति, प्रयोजन (शीतादि उपचार क्रिया) और दोनों की शक्ति या सामर्थ्य भिन्न होने से इन्हें "द्विव्रणीय" ऐसा कहा जाता है।

वक्तव्य—सूत्रस्थान के २२वें अध्याय में पीछे व्रण की निम्नांकित परिभाषा दी गई है—

वृणोति यस्मात् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति ।
आदेहधारणात् तस्मात् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥

अर्थात् शरीर में जो जीवनपर्यन्त रहने वाला दाग (व्रणवस्तु) डाल दे उस स्थिति को व्रण कहते हैं तथा जो भर जाने पर भी ज्यों का त्यों बना रहे। इसकी और सुन्दर व्युत्पत्ति आगे ५वें गद्यांश में दी गई है। शारीर-व्रण को निज व्रण भी कहते हैं। इसमें व्रणन अन्दर से ही अपने आप होता है तथा उसकी उत्पत्ति में वात, पित्त, कफ और रक्त इन चारों दोषों का कुछ न कुछ भाग रहता है। चारों के सन्निपात या प्रकोपयुक्त संमिश्रण का परिणाम ही शारीर व्रण होता है। इसमें अभिघात या चोट का कोई भी इतिहास नहीं मिलता। आगन्तु व्रण अभिघात (चोट—Trauma) जन्य होता है। यह चोट विविध बाह्य कारणों से लगती है। सुश्रुतसंहिता में ये कारण गिनाए गये हैं :—

१. मानवजाति द्वारा, पशुओं द्वारा, पक्षियों द्वारा, व्याघ्रादि हिंस्र जीवों द्वारा या सर्पादि द्वारा काटा जाना।
२. गिर जाना, दबाया जाना या प्रहार किया जाना ;
३. अग्नि, क्षार, विष तथा तीक्ष्ण औषधियों का स्पर्श होना ;
४. विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा शरीर पर चोट किया जाना।

शारीर व्रणों को Idiopathic ulcers तथा आगन्तुव्रणों को Traumatic ulcers कहा जाता है। दोनों की उत्पत्ति (Origin) भिन्न होती है। दोनों की चिकित्सा भिन्न होती है तथा दोनों की हानि पहुँचाने वाली शक्ति भी भिन्न होती है इसलिए दोनों की दो पृथक्-पृथक् कैटेगरी स्वीकार की गई हैं और इसी कारण अध्याय को द्विव्रणीय नाम दिया गया है।

व्रणों के दो प्रकार होते हैं इसे चरकसंहिता के सूत्र-स्थान के १९वें अध्याय में स्वीकार किया गया है—द्वौ व्रणाविति निजश्चागन्तुजश्च। इसी अध्याय में निज-विकारों की परिधि इन शब्दों में दी गई है—

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसंघा बहवः शरीरे।

न ते पृथक्पित्तकफानिलेभ्यः—तथा आगन्तुज विकारों को विशेष माना गया है—आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः ॥१७॥

एक महत्त्व की बात १८वें सूत्र में यह बतलाई गई है कि आगन्तुज विकार निज विकार का अनुसरण करते हैं तथा प्रवृद्ध आगन्तुज विकार का अनुसरण निज विकार करते हैं—आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निज-स्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः।

ऊपर सुश्रुत के मूल वाक्य द्वौ व्रणौ भवतः—शारीर आगन्तुश्चेति में च इति की ओर भी ध्यान जाना चाहिए। इस 'च' के सम्बन्ध में सुश्रुतसंहिता का महान् टीकाकार डल्हण लिखता है—"कथं द्वौ व्रणौ भवत इत्याह—शारीर आगन्तुश्च, अत्र केचित् 'शरीरसमुत्थश्च आगन्तुश्च' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च उभयत्र चकारकरणमुभयोश्च व्याकरणमुभयोः परस्परानुबन्ध सूचनार्थम्।" चरक का ऊपर का वाक्य पुष्ट करता है कि दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध कभी भी हो सकता है तथा बहुधा हुआ करता है और इसी लिए चिकित्सक का पथप्रदर्शन निम्न सूत्र में कर देता है :—

तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्—
ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥

यह निदेशक सिद्धान्त व्रणों ही नहीं अपि तु सभी प्रकार के निज और आगन्तुज रोगों पर लागू होता है।

चरकसंहिता चिकित्सास्थान का २५वां अध्याय भी सुश्रुतसंहिता के इसी स्थान के प्रथम अध्याय की भांति 'द्विव्रणीय चिकित्सितम्' नाम से ही लिखा गया है।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से उन्हीं के एक विद्वान् शिष्य अग्निवेश ने प्रश्न किया—

भगवन् पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोग संग्रहे ।
तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च वक्तुमर्हसि शर्मद ॥

हे शान्तिदाता गुरुदेव ! पहले जो दो व्रण बतलाये थे उनके लक्षण और चिकित्सा बतलाइये ।

गुरुजी ने उत्तर दिया—हे सौम्य (यह विशेषता उस शिष्य के लिए है जो जिज्ञासु है शान्त रहता है पौलिटिक्स के अपवाद से दूर निरन्तर अध्यवसाय में तत्पर है) उन दोनों प्रकार के व्रणों के लक्षण और चिकित्सा सुनो—

श्रूयतां विधिवत्सौम्य तयोर्लिगं च भेषजम् ।
"निजः शरीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्य हेतुजः ॥
वधबन्धप्रपतनाद्दंष्ट्रादन्तनखक्षतात् ।
आगन्तवो व्रणास्तद्वद् विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः ॥"

कि निज व्रण शारीरदोषोत्थ तथा आगन्तुजव्रण बाह्यहेतुज होते हैं । वध, बन्धन, प्रपतन, दंष्ट्रा, दन्त, नखक्षतजन्य, विषस्पर्श, अग्नि और शस्त्रजन्य आगन्तु होते हैं । —निज व्रणों की उत्पत्ति वातपित्तकफों के दुष्ट या कुपित होने तथा बाह्यमार्ग का अवलम्बन करने से होती है—

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम् ।
बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान्व्रणान् ॥

यहां चरक ने सुश्रुत की तरह रक्त को कारणभूत नहीं माना है । उसने दोषों के द्वारा किसी भी दूष्य में व्रण की उत्पत्ति स्वीकार की है रक्त भी उसमें एक दूष्य है । सुश्रुत ने रक्त को व्रणोत्पत्ति में एक आवश्यक कारण माना है । चरक की भावना को और भी स्पष्ट किया है चक्रपाणिदत्त ने । उसका कहना है कि निज व्रणों की उत्पत्ति भी अन्य रोगों की तरह दोषों के सामान्य प्रकोप से ही होती है कोई विशेष हेतु नहीं होता । व्रण का यदि कोई विशेष लक्षण मिलता भी है तो वहां संप्राप्ति की भिन्नता ही उस विशेषता का कारण होता है— "न पुनरत्रव्रणानां विशिष्टो हेतुरस्ति सामान्यवातादिहेतुस्तु विशिष्टव्रणलक्षणकार्योत्पत्तिः संप्राप्तिभेदाद्भवतीति ज्ञेयम् ।"

सर्वस्मिन्नेवागन्तुव्रणे तत्कालमेव क्षतोष्मणः प्रसृतस्योपशमार्थं पित्तवच्छीतक्रियावचारणविधिविशेषः; सन्धानार्थञ्च मधुघृतप्रयोग इत्येतद् द्विकारणोत्थानप्रयोजनम् । उत्तरकालन्तु दोषोपप्लवविशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः ॥३॥

इन सभी प्रकार के आगन्तुज व्रणों में क्षत (घाव) की चोट के कारण उत्पन्न और प्रसरित (फैली हुई) ऊष्मा (गर्मी) के उपशम के लिए तत्काल ही प्रकुपितपित्त की चिकित्सा के समान शामक शीतक्रिया के विशेष विधान का उपयोग करना चाहिए; आहत स्थान के सन्धान के लिए मधु (शहद) और घी मिलाकर चुपड़ना चाहिए । यह व्रणों के दो कारणों से उत्पन्न होने का प्रयोजन है । उत्तरकाल में (बाद में—एक सप्ताह व्यतीत होने पर) दोषोपप्लव (वातपित्त कफ रक्त दोषों की प्रकुपितावस्था) की विशेष स्थिति के अनुसार शारीरव्रण के अनुसार प्रतीकार (उपचार) करना चाहिए ।

वक्तव्य—चोट लगने के कारण या अभिघातजन्य या व्रण उत्पन्न होते ही सबसे पहले वहां उत्पन्न ऊष्मा की शान्ति के लिए व्यवस्था की जाती है । यह व्यवस्था उसी प्रकार की है जैसी कि प्रकुपित पित्त को शान्त करने के लिए की जाती है । ऊष्मा या पित्त गरम होता है उसे ठण्डा करने के लिए शीतोपचार करना चाहिए । आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सक भी शीतोपचार के ही पक्षपाती रहे हैं इसी कारण वे चोट पर पहले दिन लैड लोशन लगाकर उसे ठण्डा करते हैं । शीतोपचार के तुरत बाद अभिघातज व्रण या क्षत के सन्धान के लिए मधुघृत (शहद में घी मिला खरल में घोंट) को लगाते हैं । मधुघृत का प्रयोग सन्धानार्थं च शास्त्र में दिया है इसमें सन्धान तो कटे-फटे अंग को जोड़ने के लिए है तथा 'च' के लिए डल्हण—चकारः क्षतोष्मणो निर्वापणार्थं तथा मार्गावरोधक्रुद्ध वातरक्तशमनार्थञ्च—लिखता है । अर्थात् मधुघृत चुपड़ने से क्षत की ऊष्मा तो शान्त होती ही है साथ ही अभिघात के फलस्वरूप मार्गावरोध के कारण क्रुद्ध हुए वात तथा रक्त का शमन भी होता है ।

सबसे पहले शीतोपचार फिर मधुघृतलेपन ये २ उपचार आयुर्वेद की चिकित्सा के २ सिद्धान्तों के आधार पर किये जाते हैं । शीतोपचार हेतुप्रत्यनीक या हेतुविप-

रीत चिकित्सासिद्धान्त है। अभिघात से स्थान गरम हो गया जिसका कारण ऊष्मावृद्धि या पित्तकोप है उसके विपरीत यह उपचार है। मधुघृत लेप व्याधिप्रत्यनीक या व्याधिनाशक चिकित्सा के सिद्धान्त पर है। अभिघात से जगह कट-फट गई। उसे जोड़ना है सन्धान करना है। उस चोट के क्षेत्र में रक्त की वाहिनियों की टूट-फूट से रक्त का संचरण में अवरोध हो गया साथ ही वातिक तरंगों का भी अवरोध हो गया जिसके फलस्वरूप व्याधि उत्पन्न हुई सूजन और दर्द जिसे शान्त किया व्याधि प्रत्यनीक मधुघृत लेपन द्वारा।

तत्कालमेवेति यत्कालमेवाभिघातात्
क्षतमुत्पद्यतेतस्मिन्नेव काले।

यह दोनों उपचार जैसे ही क्षत उत्पन्न हो वैसे ही फौरन करने पड़ते हैं। यह सद्योव्रणत्व एक सप्ताह तक रहता है। बाद में दोषोपप्लवविशेषात् शारीरव्रणवत् प्रतीकार करना पड़ता है। दोषैः अनिलादिभिः उपप्लवो दूषणं तद्भेदात्। दोषों की दुष्टि जिस मात्रा में हो उसका आकलन करते हुए चिकित्सा शारीर या निज रोगों में की जाती है इसलिए सद्योव्रणत्व का समय पूर्ण हो जाने के बाद दोषदुष्टि का ध्यान देकर उपचार करना होता है। हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा के बाद ही व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा की स्थिति आती है। दोनों गम्भीर स्थितियों में साथ भी चलाये जा सकते हैं। पर सामान्य व्रण-चिकित्सा का नियम यही है।

इसी चिकित्साभेद को दर्शाने के लिए शास्त्रकार ने "इत्येतद् द्विकारणोत्थान प्रयोजनम्" इन शब्दों का समावेश ऊपर किया है। आगन्तुजव्रण में तत्काल कुछ और हेतुप्रत्यनीक एवं व्याधिप्रत्यनीक उपचार करना पड़ता है जो निजव्रणों में नहीं किया जाता, इसी कारण २ प्रकार के व्रण हैं उनकी उत्पत्ति के २ स्पष्टतया भिन्न कारण हैं तथा चिकित्सा की विधियों में भी पर्याप्त भेद है।

दोषोपप्लवविशेषः पुनः समासतः पञ्चदशप्रकारः प्रसरणसामर्थ्याद् यथोक्तो व्रणप्रश्नाधिकारे। शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके ॥४॥

दोषोपप्लव (वातपित्तकफरक्तदोषों के प्रकोप से उत्पन्न) विशेष स्थिति पुनः संक्षेप में प्रसरणसामर्थ्य के अनुसार १५ प्रकार की होती है जैसा कि व्रणप्रश्नाधिकार नामक २१वें सूत्रस्थान के अध्याय में पहले ही कहा जा चुका है। (सकल दोषोपप्लवरहित) शुद्ध व्रण सहित कुछ लोग इसके १६ प्रकार मानते हैं।

वक्तव्य—शरीरव्रण दोषोपप्लव के अनुसार १५ प्रकार के या शुद्ध व्रण को जोड़ कर १६ प्रकार के माने जाने का ऊपर इंगित किया है। दोषों के प्रसरण का विचार पीछे व्रणप्रश्नाध्याय में किया है;—यथा महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्य्य अपरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावत्येवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वानेकधा प्रसरन्ति—जैसे जब कहीं बहुत अधिक जल कहीं झरने लगता है तो वह बन्ध या बांध या सेतु को तोड़ देता है तथा दूसरे-दूसरे स्थानों पर संचित जल से मिल कर इतस्ततः सब जगह दौड़ जाता है। इसी प्रकार दोष भी प्रकोप के कारण बढ़कर कभी एक स्थान कभी दो कभी तीनों तक रक्त के साथ पहुँच कर अनेक प्रकार से प्रसार करते हैं। इनके १५ प्रकार निम्नांकित हैं।

१. वातः, २. पित्तं, ३. श्लेष्मा, ४. शोणितम्, ५. वातपित्ते, ६. वातश्लेष्माणौ, ७. पित्तश्लेष्माणौ ८. वातशोणिते, ९. पित्तशोणिते, १०. श्लेष्मशोणिते, ११. वातपित्तशोणितानि, १२. वातश्लेष्मशोणितानि, १३. पित्तश्लेष्मशोणितानि, १४. वातपित्तकफाः, १५. वातपित्तकफशोणितानि। अकेले प्रकुपित वात का प्रसरण, पित्त का, कफ का प्रसरण, रक्त का प्रसरण ये ४, दो-दो का कोप और प्रसार यह ६ तीन-तीन का प्रकोप और प्रसार ये ४ तथा चारों का एक साथ प्रकोप होकर प्रसार यह १ इस प्रकार १५ प्रकार से दोषों का प्रसार हो सकता है। पर एक व्रण सोलहवां ऐसा भी होता है जिसमें दोषों का प्रकोप प्रसार (उपप्लव) बिल्कुल ही न हो जिसे शुद्ध व्रण कहा गया है।

तस्य लक्षणं द्विविधं—सामान्यं वैशेषिकं च। तत्र सामान्यं रुक्। व्रण गात्रविचूर्णने व्रणयतीति व्रणः। विशेष लक्षणं पुनर्वातादिलिङ्गविशेषः ॥५॥

वाग्भट अष्टांग हृदय में रोगानुत्पादनीय चतुर्थ अध्याय में आगन्तुज रोगों का परिचय देते हुए लिखता है :—

ये भूतविषवायवग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः ।
रोगद्वेषभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः ॥

कि जो भूत, विष, वायु, अग्नि, क्षत, भंग, राग, द्वेष, भय आदि से उत्पन्न होते हैं वे आगन्तुज रोग कहलाते हैं । भूत क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है । कुछ लोग इन्हें ग्रह मानते हैं । परन्तु भूताभिषंगज विषमज्वर मलेरियल पैरासाइट द्वारा उत्पन्न विकार होने से भूत का अर्थ रोगोत्पादक जीवाणु भी लिया जा सकता है । प्राचीन आयुर्वेद अष्टांग में जो भूतविद्या एक अंग माना गया है तथा जो आज लुप्तप्राय है उसे घोस्टोलोजी न मानकर बैक्टीरियोलोजी मानने में क्या आपत्ति हो सकती है । बच्चों के ग्रहबाधाजनित प्रायः सभी रोग बैक्टीरियाजन्य ही तो पाये जाते हैं । भूत और विष को अलग न मानकर एक शब्द भूतविष मान लिया जाय तो उससे टॉक्जिक पदार्थ जिन्हें जीवाणु पैदा करते हैं लिया जा सकता है । यह भूतविष २ प्रकार का होता है—एक वह जिसे जीवाणु अपनी वृद्धि के साथ उत्पन्न करता है इसे बहिर्भूतविष या एग्जो टॉग्जिन की संज्ञा दी जा सकती है । दूसरा वह जो जीवाणु की मृत्यु के बाद उसके शरीर से प्राप्त होता है जिसे अन्तर्भूतविष या ऐण्डो टॉग्जिन की संज्ञा दी जाती है । बहुत प्रकार के रासायनिक या जैव विष सीधे-सीधे भी आगन्तुज रोगों को उत्पन्न किया करते हैं । वायु के द्वारा जीवाणुओं के प्रकार से, अग्नि के द्वारा जल जाने के बाद, क्षत या चोट या ट्रौमा से भंग या फ्रैक्चर हो जाने से भी आगन्तुज रोगों की उत्पत्ति होती है । इनके अतिरिक्त मानसिक आगन्तुज रोगों की कल्पना भी आयुर्वेद मानता है उसकी उत्पत्ति राग, द्वेष, शोक, भय आदि विकारों के द्वारा संभव मानी है । इन विविध शारीरिक या मानसिक रोगों को जो भूतादि या रागादि कारणों से उत्पन्न होते हैं उन्हें आगन्तुज रोगों की श्रेणी में रखा जाता है । इन आगन्तुज रोगों का शल्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्व है । आधुनिक समस्त सर्जरी इन्हीं आगन्तुजरोगकारक कारणों के चारों ओर घूमती ही दिखाई देती है ।

वाग्भट ने इन आगन्तुज विकारों को न उत्पन्न होने देने के लिये निम्नलिखित उपाय गिनाये हैं :—

१. त्यागः प्रज्ञापराधानाम्
२. इन्द्रियोपशमः
३. स्मृतिः
४. देशकालात्मकविज्ञानम्
५. सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्
६. अथर्वविहिता शान्तिः
७. प्रतिकूलग्रहार्चनम्
८. भूताद्यस्पर्शनोपायः

इन उपायों का बारीकी से अध्ययन करने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इनका पूरी तरह उपयोग आजकल भी इन्फैक्शनों (उपसर्गों) के रोकने के लिये किया जा रहा है । इनमें प्रज्ञापराध पहला है । प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि का दोष । बिना सोचे-समझे अशुद्ध वस्तु या वातावरण का प्रयोग । इन्द्रिय शान्ति और स्मृति स्वास्थ्यवर्धक । आहार-विहार के उपयोग की दृष्टि से आवश्यक है । देश का ज्ञान कहां कैसे रहना; काल का ज्ञान कब क्या खाना कब क्या पहनना; आत्मज्ञान हमें कौन पदार्थ अलर्जी पैदा करेगा, कौन वस्तु लेने से क्या हानि होगी इसका ज्ञान; सद्वृत्त अर्थात् हाईजीन(सोशल मेडिसिन) के नियमों का पालन, वातावरण की शुद्धि हेतु अथर्ववेदोक्त विधि विधानों से यज्ञादि कर्म करना, प्रतिकूलग्रहों का अर्चन पूजा या उत्पत्ति । उदाहरण के लिये उदर में रोगकारक जीवाणुओं को हटाने हेतु अनुकूल जीवाणुओं या इंटैस्टीनल फ्लोरा के उत्पादन का उपाय करना; तथा भूतादि (बैक्टीरिया) मानव शरीर का स्पर्श भी न करे उसके लिए प्रतिषेधात्मक तथा निर्जीवाणुकारक उपायों का अवलम्बन । इनके अतिरिक्त और क्या सोचा जा सकता है जो आगन्तुज रोगों से मानव समाज की रक्षा कर सके ।

शल्यशास्त्र क्षत और भंग के साथ ही आरम्भ होने से इसमें आगन्तुज रोगों का विशेष महत्त्व होता है ।

—शेषांश पृष्ठ ५४ पर

उभावेतौ अनिपुणौ असमर्थौ स्वकर्मणि

आयुर्विद्यावैभव आचार्य अनन्तराम शर्मा, डी० आई० एम० एस०
प्रोफेसर काय चिकित्सा विभाग, राजकीय ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज, हरिद्वार (उ०प्र०)

सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान के तृतीय अध्याय में २ प्रकार के ऐसे चिकित्सकों का समावेश किया है जो किसी भी प्रकार चिकित्साकर्म के अधिकारी नहीं माने जा सकते। इनके वर्णन के पूर्व इसी अध्याय में यह बतलाया गया है कि सुश्रुत के उत्तरतन्त्र में शालाक्यतन्त्र, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा तथा भूतविद्या का वर्णन किया गया है। वाजीकरण तथा रसायनतन्त्र चिकित्सा स्थान में वर्णित हैं। कल्पस्थान में विषतन्त्र का विवरण दिया गया है तथा शल्यतन्त्र का ज्ञान समस्त शल्य संहिता में बिखरा पड़ा है। इस प्रकार अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञान आदिदेव भगवान् धन्वन्तरि द्वारा प्रदान किया गया है। इस सम्पूर्ण ज्ञान को जो विधिवत् पढ़ते हैं और पढ़कर अभ्यास करते हैं वे चिकित्सक ही संसार में प्राणदाता कहलावेंगे।

राजार्हभिषक् या रजिस्टर्ड मेडिकल प्रैक्टीशनर

राजा के द्वारा चिकित्सा का अधिकार दिये जाने वाला भिषक् कौन हो सकता है। इसे सुश्रुतसंहिता में इन शब्दों में स्पष्ट किया है :—

एतद् हि अवश्यमेव अध्येयम्, अधीत्य च कर्मापि अवश्यं उपासितव्यम्, हि भिषक् राजार्हो भवति ॥

—सु० सं० सू० स्था० अ० ३।

अर्थात् इस सुश्रुतसंहिता को अवश्य ही पढ़ना चाहिए, पढ़कर इसमें बतलाये हुए कर्मों का भी अवश्य अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि विद्या और कर्माभ्यास (Theory and Practical) इन दोनों का ज्ञाता—उभयज्ञ—राजार्ह भिषक् होता है।

राजार्ह भिषक् शब्द रजिस्टर्ड मेडिकल प्रैक्टीशनर के लिये भगवान् धन्वन्तरि द्वारा प्रदत्त शब्द है नये शब्द गढ़ने वाला आयोग इन दो शब्दों में जो चेतना पायेगा वह उन तीन अंगरेजी शब्दों में नहीं पा सकेगा। आयोग ने डाक्टर के लिये भिषक् शब्द ग्रहण कर प्राचीन भारतीय शब्दशास्त्रियों के प्रयोग से लाभ उठाया है उसे राजार्ह भिषक् शब्द के ग्रहण में भी आपत्ति न होनी चाहिए। शब्दानुवाद की अपेक्षा अभिप्रायानुवाद यदि वह सटीक हो तो उसे लेने में आपत्ति न होनी चाहिये।

क्वैक्स या छद्मचरों के २ वर्ग

राजार्ह भिषक् का ज्ञान देते-देते २ प्रकार के क्वैकों (छद्मचरों) का विवरण भी भगवान् धन्वन्तरि ने इन शब्दों में दिया है :—

१—यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्यभीरुरिवाहवम् ॥

२—यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥

१—पहले प्रकार का वह व्यक्ति है जो केवल शास्त्रज्ञ शास्त्र का ज्ञाता तो होता है परन्तु शस्त्रकर्मादि क्रियाओं में कुशल नहीं होता। वह शस्त्रकर्मसाध्य रोगी को देख कर इस प्रकार घबरा जाता है जैसे डरपोक सिपाही युद्धस्थल में पहुँच कर घबरा जाता है।

२—दूसरे प्रकार का वह व्यक्ति जिसने विधिवत् शास्त्र का अध्ययन तो नहीं किया पर जो शस्त्रकर्म करने में निपुण है। ऐसा व्यक्ति उत्तम पुरुषों द्वारा आदर नहीं पाता है यह नहीं, वह राज्य या राजा के द्वारा प्राणदण्ड देने के योग्य होता है।

इन दोनों को ही सुश्रुत ने अयोग्य माना है :—

उभावेतौ—ये दोनों ही।

अनिपुणौ—अयोग्य।

असमर्थौ स्वकर्माणि—अपनी शल्य चिकित्सा के काम में असमर्थ होते हैं।

अर्धवेदधरौ एतौ—ये दोनों अधकचरे ज्ञान वाले या आधे-आधे ज्ञान वाले होते हैं।

एकपक्षाविव द्विजौ—वे उन दो पक्षियों के समान होते हैं जिनका एक बांया या दांया पंख टूटा हुआ हो।

आज भी ये दोनों प्रकार के अज्ञभिषक् या क्वैक भारतवर्ष के हर क्षेत्र में मिलते हैं। सुश्रुतसंहिता के अनुसार विधिवत् पाठ्यक्रम के अनुसार शास्त्राध्ययन और कर्माभ्यास किया हुआ वैद्य ही राजार्ह भिषक् है। कुछ डाक्टरों के कम्पाउण्डर ऑपरेशन करना सीख लेते हैं यद्यपि उन्होंने कभी कोई शास्त्राध्ययन किया हुआ नहीं होता। ऐसे लोग सुश्रुतकाल में राजा द्वारा शूली पर टांग दिये जाते थे। आज भी इनको कानूनी प्रश्रय तो होता नहीं परन्तु समाज अज्ञानवश अच्छे राजार्ह भिषकों की उपेक्षा कर इनके पास जाता रहता है और वे बढ़ के चिकित्सक बन-बैठते हैं। कुछ वैद्य केवल भाषाज्ञान को ही समस्त चिकित्सा मान लेते हैं वे आयुर्वेदीय ग्रन्थों का अच्छा अर्थ उसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार कोई कथावाचक रामायण या भागवत का अर्थ करता है। वे उस शास्त्र के प्रैक्टीकल ज्ञान से शून्य होते हैं। ऐसे कथावाचक भी एकपक्षीय विहंग के समान बतलाये गये हैं।

कथावाचक भिषक् प्राणदण्ड के योग्य इसलिये नहीं बतलाये क्योंकि इनकी कथा वार्ता किसी रोगी की जीवनहानि नहीं कर सकती। जब कि शस्त्रकर्माभ्यासी निरक्षरभट्ट कभी भी शास्त्रज्ञान की अज्ञतावश किसी भी रोगी को मृत्युपाश में आबद्ध कर सकता है। इसलिये उसे वधार्ह या प्राणदण्डयोग्य ठहराया गया।

मूर्ख चिकित्सकों के परित्याग में हेतु

ओषध्योऽमृतकल्पास्तु शस्त्राशनिविषोपमाः।
भवन्ति अज्ञैः उपहृताः तस्माद् एतान् विवर्जयेत्॥

क्योंकि अमृत के समान गुणकारी औषधियां विष के समान तथा शस्त्रकर्माभ्यास वज्र के समान इन अज्ञानी चिकित्सकों के गलत उपयोग हो जाने से इनका परित्याग कर दिया जाना चाहिए।

कुवैद्यों की उत्पत्ति में राजदोष

स्नेहादिष्वनभिज्ञा ये छेद्यादिषु च कर्मसु।
ते निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्या नृपदोषतः॥

स्नेहन स्वेदादि पंचकर्मों तथा छेद्य भेद्यादि शस्त्रकर्मों में जो अनभिज्ञ कुवैद्य होते हैं वे लाभ या धन कमाने के लोभ से मनुष्यों को मार डालते हैं वे ऐसा राजदोष के कारण या राज्यव्यवस्था की लापरवाही से ही किया करते हैं।

जगह-जगह जो चांदसी टाइप शस्त्रकर्माभ्यासी मिलते हैं या सींगी जलौका प्रयोक्ता पाये जाते हैं वे भी कुवैद्य की श्रेणी में ही आते हैं। अन्धपंगुन्यायानुसार एक शास्त्रज्ञ अकर्माभ्यासी अशास्त्रज्ञ कर्माभ्यासी के साथ जुड़ कर चिकित्साकार्य करे तो नृपदोष दूर हो सकता है। इसके लिए राज्यव्यवस्था इन दोनों प्रकार के क्वैकों को एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर चिकित्सा व्यवहार करने की सूचीबद्धता प्रदान कर सकता है पर वह भी सुश्रुत के एक पक्षाविव द्विजौ के अनुसार एक-एक पंख वाले दो ऐसे पक्षी ही रहेंगे जो दोनों मिलकर भी उड़ने में कदापि समर्थ न हो सकेंगे। इनका तो सफाया करने का ही विधान सुश्रुतसम्मत है। केवल उभयज्ञ—शास्त्र—शस्त्रकर्मज्ञानी—आधुनिक प्राचीन शल्यतन्त्राभ्यासी ही श्रेयस्कर हो सकता है—

वस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा॥

जिस प्रकार दो पहियों वाला रथ संग्राम के कार्य सम्पादन में समर्थ होता है वैसे ही बुद्धिमान् और उभयज्ञ राजार्ह भिषक् ही चिकित्सा के प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ होता है।

धन्वन्तरि पहले शास्त्राध्ययन पर जोर देते हैं फिर कर्माभ्यास के लिये प्रेरणा देते हैं। जो जैसे करना है

उसे पहले सिद्धान्त रूप में ग्रहण कर पीछे से कर्माभ्यास कराना ही उन्हें श्रेष्ठतम लगता है। शास्त्रान्त तक ज्ञान लेना फिर अध्ययनान्त में अभ्यास एवं सिद्धि हेतु यत्न करना शल्यचिकित्सा पाठ्यक्रम के २ महत्वपूर्ण अंग बतलाये गये हैं। इसलिये वे आगे प्रभाषणीय अध्याय लिखकर फिर अग्रोपहरणीय का वर्णन करते हैं।

अग्रोपहरणीय में त्रिविधि कर्म द्वारा शस्त्रकर्म का तथा उससे पूर्व एवं पश्चात् कर्मों का व्याख्यान दिया हुआ है। प्रभाषणीय में उससे पहले अध्ययनसंप्रदानीय नामक तृतीय अध्याय के विषयों को और विस्तार से समझाया गया है। पूरा अध्ययन करने के बाद भी यदि व्यक्ति उसके अर्थ को नहीं समझता तो वह भार लादे हुए गधे के समान केवल भार का ही ज्ञाता होता है चन्दन के गुणों का ज्ञाता नहीं हो पाता—

यथा खरश्चन्दनभारवही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य
चार्थेषु मूढाः खरवद् वहन्ति॥

इसलिए शास्त्र का खूब आलोडन मनन अर्थ ज्ञानादि मन लगाकर शिष्य को करना चाहिए।

यही नहीं, सुश्रुतसंहिता में कुछ ऐसे विषयों का भी समावेश हो गया है जो अन्य शास्त्रों के हैं। उनका ज्ञान ठीक-ठीक करने के लिये उन विषयों के विद्वानों का भी सम्पर्क किया जाना चाहिये और उनसे उसका पूरा भाषण सुनना चाहिए क्योंकि एक शास्त्र में अन्य सभी शास्त्रों का व्याख्यान करना संभव नहीं हो सकता—

अन्य शास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानां अर्थवशात् तेषां तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यम्, कस्मात्? न हि एकस्मिन् शास्त्रेशक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधःकर्तुम्।

इसी को आधार मानकर मिश्र चिकित्सापद्धति के पोषक उभयज्ञ चिकित्सक यह प्रचार करते हैं कि हमें शल्य शालाक्यादि विषयों में अपने आयुर्वेद में जो कुछ प्राप्त हो गया है उससे सन्तुष्ट न होकर संसार में नई-नई गवेषणाओं से चिकित्साज्ञान का जो विस्तार हुआ है उसे भी ठीक-ठीक ग्रहण कर अपने शास्त्र की अभिवृद्धि करनी चाहिये। और अपने इस मत के प्रमाण-स्वरूप प्रमापणीय अध्याय के निम्नांकित श्लोक को उद्धृत भी करते हैं—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः॥

अर्थात् केवल एक शास्त्र पढ़ा हुआ व्यक्ति उस शास्त्र के विषय में अधिकारी रूप में ज्ञान नहीं ले पाता। इसलिये चिकित्सक को अन्य इतर शास्त्रों का अध्ययन कर बहुश्रुत हो जाना चाहिए ताकि वह अपने शास्त्र में निश्चयपूर्वक तत्वनिर्देश एवं मार्गदर्शन कर सके। ●

पृष्ठ ५१ का शेषांश

ऊपर जो संघातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त और दैवबलप्रवृत्त व्याधियां बतलाई गई हैं उनमें भी कारणरूप में आगन्तुज रोगों के ही कारण आते हैं। संघात बलप्रवृत्त व्याधियां शस्त्रकृत और व्यालादिकृत क्षत या चोट ही उत्पन्न करती हैं। कालबलप्रवृत्ता शीत–उष्ण–वात–वर्षा के कारण शरीर की प्राकृत अवस्था में गड़बड़ी पैदा करती हैं। दैवबलप्रवृत्ता व्याधियों में तो बिजली गिरना, उल्कापात होना, उपसर्गज होना या आकस्मिक होना ये सब भी आगन्तुज कारण ही तो हैं।

चिकित्सा की दृष्टि से आगन्तुज रोगों के इस विवरण का तात्पर्य है चिकित्सक द्वारा इन रोगों की घातकता के सम्बन्ध में सावधान करना। चोट या आघात लग जाने से रोगी अचेत हो सकता है मर सकता है या जीवित रहने पर भी अपनी शरीर रचना या क्रिया के किसी ऐसे अंश से वंचित हो सकता है जो उसका शेष जीवन कष्टप्रद बना दे। इसलिये उसे निम्नांकित ३ कार्य अविलम्ब करने होते हैं:—

१. यह देखना कि आगन्तुज व्याधि का वास्तविक हेतु क्या है तथा उसके द्वारा रोगी को कितनी हानि की सम्भावना है?

२. यदि रोगी के जीवन के प्रति खतरा उत्पन्न हो गया हो या हो जाने की सम्भावना हो तो उसे तत्काल दूर करने के लिये हेतुप्रत्यनीक उपाय करना, हृदयगति को चालू रखना, श्वासावरोध को सुधारना, रक्तस्राव को रोकना, घबराहट एवं क्रिया स्थैर्य का उपचार करना।

३. पट्टी या खपच्ची बांधना और उसे युक्त चिकित्सा हेतु प्राथमिक उपचार के साथ ही अस्पताल तक पहुंचाने की व्यवस्था करना।

भिषक्शिरोमणि डा० सी० पी० शर्मा, ए. एम. बी. एस., डी. ए. वाई. एम.
प्राचार्य साहू रामनारायण आयुर्वेद महाविद्यालय, बरेली

सुश्रुतसंहिता सूत्र स्थान के पाचवें अध्याय को अग्रोपहरणीय अध्याय कहा जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणिदत्त लिखते है :—कर्मणामग्रे उपहरणं येषां यन्त्रशस्त्रादीनां तान्यग्रोपहरणानि तान्यधिकृत्य कृतोऽध्यायोऽग्रोपहरणीयः। शस्त्रकर्म करने के पहले जो यन्त्र-शस्त्रादि को सजा कर रखना पडता है उससे सम्बद्ध अध्याय।

इसी अध्याय में ३ प्रकार के कर्मो का नामोल्लेख करते हुए उनका वर्णन विविध व्याधियो का वर्णन करते समय किया जायगा ऐसा लिखा गया है—

त्रिविध कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मेति, तद् व्याधिं प्रति प्रत्युपदेक्ष्यामः।

अर्थात् कर्म तीन प्रकार के होते है:—१. पूर्वकर्म २. प्रधानशस्त्रकर्म तथा ३. पश्चात्कर्म।

इनके सम्बन्ध में उल्हणाचार्य ने अपनी टीका में कुछ इस प्रकार इङ्गित किया है—

१. तत्रैके—

लंघनादि विरेकान्तं पूर्वकर्म्म व्रणस्य च।
पाटनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म्म तत्स्मृतम्॥
बलवर्णाग्निकार्यन्तु पश्चात्कर्म समाचरेत्।

२. अन्ये तु—

संशोध्यस्य पाचनस्नेहनस्वेदनानि पूर्व्वकर्म।

३. अपरे तु—

चयादीनां पूर्वरूपान्तानां आतङ्कोत्पत्तेः प्राक् यत् क्रियते तत् पूर्वकर्म. आतङ्कोत्पत्तौ यत् तत् प्रधानं कर्म, निवृत्तातङ्कस्यानुबन्धोपचरणाय तत् तत् पश्चात् कर्म।

इस व्याख्या में लंघन से विरेचन तक व्रण के सब कर्म पूर्वकर्म कहे जाते है। पाटन रोपणादि प्रधान कर्म कहलाते है तथा शेष पश्चात् कर्म मे आते है। व्रण के निम्नलिखित ६० उपक्रम सुश्रुतचिकित्सा स्थान के पहले अध्याय मे दिये गये है उनको ही इन तीनों कर्मो मे इस प्रकार बांटा गया है—

तस्य व्रणस्य षष्टिः उपक्रमा भवन्तिः

पूर्वकर्म—

१.	अपतर्पणम्	(Fasting or low diet)
२.	आलेपः	(Plastering)
३.	परिषेकः	(Irrigating or spraying)
४.	अभ्यङ्गः	(Massaging)

५.	स्वेदः	(Fomentation)
६.	विम्लापनम्	(Rubbing)
७.	उपनाहः	(Poultice)
८.	पाचनम्	(Inducing suppuration)
९.	विस्रावणम्	(Draining)
१०.	स्नेहः	(Ingestion of fats)
११.	वमनम्	(Emesis)
१२.	विरेचनम्	(Hurgation)

प्रधानकर्म—

१३.	छेदनम्	(Excision)
१४.	भेदनम्	(Opening of an abscess)
१५.	दारणम्	(Bursting of an abscess by medication)
१६.	लेखनम्	(Scraping)
१७.	एषणम्	(Probing)
१८.	आहरणम्	(Extraction)
१९.	व्यधनम्	(Puncturing a vein)
२०.	विद्रावणम्	(Inducing discharge)

पश्चात्कर्म—

२१.	सीवनम्	(Suturing)
२२.	सन्धानम्	(Heping reunion or adhesion)
२३.	पीडनम्	(Pressing)
२४.	शोणितास्थापनम्	(Arrest of bleeding)
२५.	निर्वापणम्	(Cooling application)
२६.	उत्कारिका	(Massive poultices)
२७.	कषायः	(Washing with decoctions)
२८.	वर्तिः	(Lint or Plugging)
२९.	कल्कः	(Paste)
३०.	सर्पिः	(Application of medicated ghee)
३१.	तैलम्	(Application of medicated oil)
३२.	रसक्रिया	(Application of wet drug extracts)
३३.	अवचूर्णनम्	(Dusting with medicated powders)
३४.	व्रणधूपनम्	(Fumigation of an ulcer)
३५.	उत्सादनम्	(Raising of the bed of an ulcer)
३६.	अवसादनम्	(Destruction of exuberant granulation)
३७.	मृदुकर्म	(Softening)
३८.	दारुणकर्म	(Hardening of soft parts)

३९.	क्षारकर्म	(Application of caustics)
४०.	अग्निकर्म	(Cauterization)
४१.	कृष्णकर्म	(Blackening)
४२.	पाण्डुकर्म	(Colouring the scars yellow)
४३.	प्रतिसारणम्	(Rubbing with powders)
४४.	रोमसंजननम्	(Growing of hair)
४५.	लोमापहरणम्	(Epilation)
४६.	वस्तिकर्म	(Application of enemas)
४७.	उत्तरवस्तिकर्म	(Urethral or vajinal catheterization)
४८.	वन्धः	(Bandaging)
४९.	पत्रदानम्	(Application of green leaves)
५०.	कृमिघ्नम्	(Antiseptic and vermifugal measures)
५१.	बृंहणम्	(Application of restorative tonics)
५२.	विषघ्नम्	(Disinfectants and anti-toxic measures)
५३.	शिरोविरेचनम्	(Errhines)
५४.	नस्यम्	(Snuffs)
५५.	कवलधारणम्	(Holding in the mouth cavity certain drugs or gurgling)
५६.	धूमः	(Smoking)
५७.	मधुसर्पिः	(Application of the mixture of honey & ghee together)
५८.	यन्त्रम्	(mechanical cotrivances e. g. pulleys etc)
५९.	आहार	(Dieting)
६०.	रक्षाविधानम्	(Protection from malicious spirits)

जिस प्रकार शल्यतन्त्र की दृष्टि से ऊपर पूर्वकर्म, प्रधानकर्म तथा पाश्चात्कर्म का उल्लेख किया गया है वैसे ही डल्हण ने अन्यों का मत देकर संशोधन को भी ३ कर्मों में विभाजित किया है। पाचन, स्नेहन, स्वेदन से पूर्वकर्म—वमन—वस्ति—नस्य—शिरामोक्षण प्रधानकर्म तथा पेयादि अन्नसंसर्जन क्रम को पश्चात्कर्म की संज्ञा दी है। एक ने इस त्रिविध कर्म को व्याधि की उत्पत्ति के साथ मिलाया है। उसके अनुसार संचय प्रकोप प्रसरादि पूर्वरूप तक व्याधि की उत्पत्ति में पूर्वकर्म वनते हैं। रोग की साक्षात् उत्पत्ति प्रधानकर्म वनता है तथा रोगशान्ति हेतु किये गये विविध अनुवन्ध पश्चात्कर्म की संज्ञा धारण करते हैं।

सामान्यतः सर्जरी में ऑपरेशन के पूर्व की सारी तैयारी पूर्वकर्म कही जाती है। ऑपरेशन का पूरा कार्य प्रधान कर्म होता है। ऑपरेशन के वाद का रोगी की व्यवस्था तथा उपचार पाश्चात्कर्म के अन्तर्गत आता है। पहला प्रि-ऑपरेटिव मैनेजमेण्ट कहलाता है फिर ऑपरेशन कर्म होता है तत्पश्चात् पोस्ट ऑपरेटिव केयर की जाती है।

इन तीनों कर्मो का उपयोग सभी आपरेशनों के लिये किया जाता है पर प्रत्येक ऑपरेशन का पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म विल्कुल अलग-अलग होता है इस कारण इनका वर्णन अलग-अलग व्याधियों में अलग-अलग किया जावेगा।

ऊपर जो ६० व्रणोपक्रम दिये गये हैं उनमें कुछ विद्वानों ने किसी को कम करके कोई जोड़ दिया है।

सर्जन या शल्यचिकित्सक के साथ कार्य करने वाले सहायक शल्य-चिकित्सकों या सहायकों का यह कर्त्तव्य

है कि वे ऑपरेशन के पूर्व उसके लिये आवश्यक समस्त सम्भार को पूर्ण शुद्ध रूप में तैयार रखें शस्त्रकर्म की समाप्ति के बाद रोगी की रक्षा का उचित उपाय करें। इस सब के लिये उन्हें अपने अनुभव के आधार पर तथा सर्जन द्वारा दिये गये निर्देशों का अक्षरशः पालन करना चाहिये। साथ ही सर्जन का भी यह कर्त्तव्य है कि वह सारी व्यवस्था को स्वयं ठीक से देखने के बाद पूर्ण सन्तुष्ट हो जाने पर ही प्रधानकर्म के लिये तैयार हो जाना चाहिये।

यद्यपि प्रत्येक व्याधि में तीनों कर्मों का कुछ न कुछ भिन्न स्वरूप होता है फिर भी अग्रोपहरणीय अध्याय में तीनों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान दिया गया है। शल्यतन्त्र में शस्त्रकर्म की प्रधानता होती है। ये शस्त्रकर्म चरक ने यद्यपि ६ ही लिखे हैं पर सुश्रुत ने आठ स्वीकार किये हैं। ऊपर जो प्रधानकर्म में व्रणोपचार के जो आठ भेद दिये हैं उनसे ये कुछ मिलते और कुछ पृथक् हैं तच्च शस्त्रकर्माष्टविधं, तद्यथा छेद्यं भेद्यं लेख्यं, वेध्यं, एष्यं, आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति। इन शस्त्रकर्मों पर आगे अलग से लेख दिया जा रहा है इसलिये उनका समावेश यहां नहीं किया जा रहा है।

पूर्वकर्म का निदेश

अतोऽन्यतमं कर्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्वमेव उपकल्पयितव्यानि—यन्त्र शस्त्र क्षाराग्नि शलाकाश्रृङ्ग जलौकालाबूजाम्बवोष्ठपिचुप्रोतसूतपत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकषायालेपनकल्कव्यजनशीतोष्णोदककटाहादीनि, परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तः।

कल्पना कीजिये उस काल की जब शस्त्रकर्म किये जाते थे बिना अनीस्थीसिया के, बिना ऑपरेशन टेबिल के तथा बिना बिजली की रोशनी और आक्सीजन के। रोगी उठकर भाग न जाय इसके लिए बलवान् स्थिरचित और स्निग्ध हृदय तथा शौचपरायण उपचारक रखे जाते थे जो प्रधानकर्म के पूरे समय रोगी को सम्हालते थे। उस समय के भारतीय सर्जन अपने पास यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृङ्ग, जलौका, अलाबू, जाम्बवोष्ठ, पिचु (रुई), प्रोत (लिंट), सूत्र (धागा), पत्ते, पट्ट, मधु-घृत, वसा, दुग्ध, तैल, सन्तर्पण द्रव्य, कषाय, लेप की औषधियां कल्क, पंखा, शीतल जल, गरम जल तथा कड़ाही आदि रखकर ऑपरेशन किया करते थे। इसे वे संभार या सामग्री कहा करते थे। आज का सर्जन इनमें कई तो रखता ही नहीं पर आयुर्वेद में जिस निमित्त जो सामग्री रखी जाती थी उसके कार्य के सम्पादनार्थ विकल्प रूप में कुछ न कुछ नयी वस्तु सामग्री या उपकरण अवश्य रहता है।

प्रधानकर्म का निदेश

प्राचीनकाल में प्रधानकर्म या सर्जीकल ऑपरेशन किस प्रकार किया जाय इस पर भी कुछ निदेश दिये जाते थे जिनमें नीचे लिखा यह अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है :—

ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु—पूर्वकर्म हेतु सम्पूर्ण सामग्री तैयार हो जाने पर शुभ तिथि, करण, मुहूर्त्त तथा नक्षत्रों का ज्योतिषिाचार्य से ज्ञान करा कर दिन व समय निश्चित करावे।

दध्यक्षतान्नपानरत्नैरग्निं विप्रान् भिषजश्चार्चयित्वा—फिर प्रधानकर्म वाले दिन ही दही, चावल, अन्न, पान, रत्नादि द्वारा अग्नि, विप्रों और भिषक् का अर्चन करे। यह क्रिया आज ऑपरेशन की फीस जमा देने से ही हो जाती है।

कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनम्—रोगी के स्वयं बलि, मंगलकर्म और स्वस्तिवाचन करा देने के बाद—आजकल यह अनावश्यक हो चुका है।

लघुभुक्तवन्तम्—रोगी को थोड़ा भोजन कराके।

प्राङ्मुखं आतुरं उपवेश्य—रोगी को पूर्वाभिमुख बैठा कर (ताकि सूर्य का प्राकृतिक प्रकाश उस पर पड़ता रहे जिससे शस्त्रकर्म सरलता से किया जा सके) आजकल बिजली के प्रकाश की इतनी सुन्दर व्यवस्था की जाती है कि मुख किसी भी दिशा में रहे कोई फर्क नहीं पड़ता।

यन्त्रयित्वा—रोगी को दृढ़तापूर्वक बांधकर—आजकल ऑपरेशन के प्रकार के अनुसार रोगी को ऑपरेशन-टेबिल पर लिटाया तथा उसके कुछ अंगों को बांधा या जकड़ा भी जाता है।

प्रत्यङ्मुखो वैद्यः—वैद्य स्वयं पश्चिमाभिमुख बैठे। आजकल सर्जन जिस अंग का शस्त्रकर्म करता है टेबिल को अपने अनुकूल दांये-बांये ऊपर-नीचे घुमाकर ऐडजस्ट कर लेता है।

मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्—शस्त्रकर्म करते समय मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि धमनी को बचाता हुआ—

अनुलोमं शस्त्रं निदध्यात् आपूयदर्शनात्—जहां तक पूय दिखलाई पड़े वहां तक अनुलोम दिशा में शस्त्र प्रविष्ट करे।

सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च—जब पूय तक शस्त्र पहुँच जाय तो शीघ्र तथा एक बार में ही शस्त्र को निकाल ले।

महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यंगुलान्तरं त्र्यंगुलान्तरं वा शस्त्रपदं उक्तम्—पर यदि पाक का क्षेत्र बड़ा हो तो शस्त्र से २ या ३ अंगुल चीरा लगावे।

प्रधान शस्त्रकर्म में चीरने की विधि पहले और आज भी एक सी ही है। इसमें कोई अन्तर नहीं आया है।

शस्त्रकर्म से जो व्रण बने वह आयत, विशाल, सुविभक्त और निराश्रय होना चाहिए। अर्थात् व्रण क्लीन कट हो इतना गहरा और बड़ा हो कि सारा पूय आश्रित होकर निकाला जा सके। यह शस्त्रकर्म विद्रधि के पूर्ण परिपक्वावस्था में ही किया जावे आमावस्था में नहीं। ये सभी जिस व्रण में मिलते हैं वह प्रशस्तव्रण कहलाता है।

वैद्य को इस प्रधानकर्म के करते समय साहसी, शीघ्र शस्त्रकर्म करने वाला, जिसका शस्त्र पैनी धार वाला हो तथा वह बिना पसीना आये या कांपे इस कर्म को करने में समर्थ हो वही शस्त्रकर्म करने योग्य वैद्य माना जाता है।

यदि एक व्रण करने से पूरा पूय न निकले तो फिर वैद्य स्वबुद्धि से सोचकर कई व्रण करके सारा पूय निकाल दे ताकि दोष शेष न रहे :—

यतो यतो गतिं विद्याद् उत्संगो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्याद् यथा दोषो न तिष्ठति॥

जहां-जहां पूय की गति का पता चले या जहां पूय के कारण स्थान उठा या उभरा-उभरा सा हो वहां-वहां चीरा देते जाना चाहिए जिससे कोई दोष या दुष्टि या पूति अवशिष्ट न रहे।

प्रधानकर्म में कुछ और निदेश

(क) तत्र भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेष्टकक्षाकुक्षिवंक्षणेषु तिर्यक् छेद उक्तः।

(ख) चन्द्रमण्डलवत् छेदवन् पाणिपादेषु कारयेत्।

(ग) अर्धचन्द्राकृतींश्चापि गुदे मेढ्रे च बुद्धिमान्॥

(घ) अन्यथा तु सिरास्नायुच्छेदनम्, अतिमात्रं वेदना, चिराद् व्रणसंरोहो, मांसकन्दीप्रादुर्भावश्चेति॥

(ङ) मूढगर्भोदरार्शोऽश्मरीभगन्दरमुखरोगेषु अभुक्तवतः कर्म कुर्वीत।

भ्रू, गण्ड, शंख, माथा, अक्षिपुर (ऊपरी पलक), ओष्ठ, मसूड़ा, बगल, कोख तथा वंक्षण सन्धि के क्षेत्र में तिर्यक् छेद (तिरछा चीरा) देना चाहिये। हाथ-पैरों में चन्द्रमा के समान गोल तथा गुद और मेढ्र पर अर्धगोल चीरा लगाना चाहिये, यदि ऐसा न किया गया तो सिरा और स्नायुएं कट जाती हैं जिससे बहुत दर्द होता है व्रण का रोहण भी बहुत देर में होता है तथा मांस की ग्रन्थि बन जाती है। मूढगर्भ, उदर, अर्श, अश्मरी भगन्दर और मुखरोगों में प्रधान कर्म के लिए रोगी को खाली पेट ही रखना चाहिए।

पश्चात्कर्म का निदेश

ततः शस्त्रं अवचार्य शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य, समन्तात् परिपीड्यांगुल्या-व्रणमभिमृज्य प्रक्षाल्य कषायेण प्रोतेन उदकं आदाय तिलकल्कः मधुसर्पिः प्रगाढां औषधयुक्तां नातिस्निग्धां नातिरूक्षां वर्ति प्रणिदध्यात्, ततः कल्केन आच्छाद्य घनां कवलिकाः दत्त्वा, वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्, वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत्, रक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत।

जब शस्त्रकर्म या प्रधानकर्म किया जा चुके और पूय का आहरण कर लिया जावे तब शस्त्र निकाल कर शीतल जल देकर आश्वासन भिषक् दे। फिर व्रण के चारों ओर अंगुलि से दबा-दबाकर कषाय से उसे धोकर व्रण में अवशिष्ट कषाय के जल को कपड़े से सुखाकर

तिलकल्क घृतमधु के साथ अन्य शोधक द्रव्यों से युक्त न बहुत चिकनी न बहुत रूखी वर्ति बनाकर उस व्रण में रख दे फिर कल्क से उसे ढंक दे मोटी कवलिका (रुई का पैड) रख कर कपड़े की पट्टी से उसे बांध दे। वेदनाहर तथा रक्षोघ्न द्रव्यों की धूप दे तथा रक्षोघ्न मन्त्रों से उसकी रक्षा करे।

ततो गुग्गुलु अगुरु सर्जरस वचा गौरसर्षप चूर्णौ लवणनिम्बपत्रविमिश्रैः आज्ययुक्तैः धूपयेत् । आज्य शेषेण च अस्य प्राणान् समालभेत ॥

उसके अनन्तर गुगुल, अगर राल, वच, पीली सरसों का चूर्ण बना नमक के पत्तों का कल्क डाल घी के साथ मिला धूपन करे। इस प्रकार करने के बाद जो घी बचे उससे रोगी के होश को (उसे हृदयादि प्रदेशों पर मलते हुए) ठीक करे।

फिर एक नये घड़े में जल लेकर उस जल से निम्न वेद मन्त्रों द्वारा रक्षा कर्म रूप प्रोक्षण करे :—

कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ।
रक्षाकर्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥
नागाः पिशाचाः गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः ।
अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा ॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः ।
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्म्या दिव्या राजर्षयस्तथा ।
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः ॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च ।
सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥
उदानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्नवः ।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥
कामांस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ।
प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥
चक्षुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः ।
नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥
रेतस्त्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।
आकाशं खानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्माऽऽत्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति देवाश्च कुर्वताम् ।
(स्वस्ति ते चन्द्रसूर्यौ च स्वस्ति नारदपर्वतौ ।)
स्वस्त्यग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्धतां तव ।
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥
इति स्वाहा ॥

एतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्या व्याधिविनाशनैः ।
मयैवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥

यह रक्षा मन्त्र बड़े काम का है। यह जहां रोगों विशेषकर पश्चात्कर्मीय विकारों की शान्ति हेतु प्रार्थना का काम करता है वहीं यह भी इंगित करता है कि प्राचीन काल में भी भिषक्प्रवर यह जानते थे कि कुछ ऐसी अदृश्य दुष्ट निशाचरी शक्तियां पृथिव्यां (धरती पर) अन्तरिक्षे च (आकाश में) दिक्षु (दिशाओं में) वास्तु-निवासाश्च (घरों में) निवास करती हैं जो रोगी का अहित कर सकती हैं। उनसे रक्षा हेतु उन्होंने भी उसके लिये रक्षाकरी शक्तियों का आह्वान इन मन्त्रों में किया है। मुनि, ब्रह्मा, दिव्य राजर्षि, पर्वत, नदी, समुद्र, अग्नि, वायु, सोम, व्यान, अपान, उदान, समान, स्तनयित्नु (मेघ), इन्द्र, मनु, गन्धर्व, वरुण, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, रात्रि, जल, औषधियां, आकाश, पृथ्वी, वैश्वानर, विष्णु, पुरुषोत्तम, ब्रह्मा, ध्रुव इनमें कुछ को बार-बार कुछ को एक ही बार विभिन्न अंग-प्रत्यंगों की रक्षा का भार सौंपा गया है तथा ब्रह्मा जी, देवताओं, चन्द्र, सूर्य, नारद, पर्वत, अग्नि, वायु, इन्द्र से प्रत्यक्ष रोगी के कल्याण की प्रार्थना की गई है। इस प्रार्थना से ईतियां (विनाशक शक्तियां) कमजोर पड़ती हैं रोगी व्यथारहित हो जाता है तथा उसकी आयु की वृद्धि होती है।

वे लोग इन कष्टदायक अदृश्य संसार को जानते थे जो मनुष्यों क्या पशु-पक्षी (थलचर, जलचर, नभचर) पेड़-पौधों तक को रोग देकर बने काम को बिगड़ते हैं। उन्हें वे नाग, पिशाच, गन्धर्वों, पितरों, यक्ष और राक्षसों की श्रेणियों में रखते थे। जब व्यक्ति धरती से आकाश तक और समुद्र के सबसे नीचे तल से पर्वत की मीलों की

ऊंचाई तक रक्षा का कोई साधन नहीं देखता तब वह प्रार्थना करता है। प्राचीन भारतीय सर्जन भी यही करते थे। प्रार्थना का बल व्यक्ति को असीम शक्ति देता है उसके क्लेशों को काट देता है और दुःखो वेदनाओं को सहन करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। प्रार्थना से मरा हुआ भी जी पड़ता है, मुर्दा भी चलने लगता है। इन प्रार्थनाओं से वे उन भूतात्माओं को जमाते थे जो पर्वत-पर्वत वृक्ष-वृक्ष पर निवास करती हुई प्राचीन लोग माना करते है। वे अदृष्ट हानिकर शक्तियों का नाश करने में समर्थ वे मानते थे।

आज सर्जन की शक्ति पहले से बहुत बढ़ गई है और वह बिना प्रार्थना या रक्षामन्त्रों के शस्त्रकर्म सफलता से कर लेता है।

ततः कृतरक्षं आतुरं आगारं प्रवेश्य आचारिकं आदिशेत्—रक्षा मन्त्रों के पढ़ने के बाद ही रोगी को ऑपरेशन-गृह से अस्पताल में या आतुरागार में प्रवेश किया जाकर आचारिक नियमों का निदेश किया जाता था। इन नियमों का वर्णन व्रणितोपासनीय नामक उन्नीसवें अध्याय में बतलाये गये हैं।

ततस्तृतीयेऽह्नि विमुच्यैवमेव बध्नीयाद् वस्त्रपट्टेन, न च एनं अपरेद्युः मोक्षयेत् ॥ द्वितीयदिवसपरिमोक्षणाद् विग्रथितो व्रणाश्चिरादुपसंरोहति, तीव्ररुजश्च भवति।

व्रण की जो पट्टी शस्त्रकर्म के समय बांधी गई थी उसे तीसरे दिन खोले और व्रण को साफ कर पुनः पट्टी बांध दे। दूसरे दिन पट्टी खोलने की जल्दी न करे क्योंकि उससे व्रण में गांठें पड़ जाती है उसका रोहण देर में हो पाता है तथा तीव्र वेदना उत्पन्न हो जाती है। ये निर्देश कल्पना प्रसूत नहीं है व्यवहार की कसौटी पर खरे उतरने के बाद ही लिखे गये हैं। असैप्टिक सर्जरी के काल के पूर्व के ये निदेश आज भी उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। बुद्धिमान् भिषक् के लिए हेमन्त, शिशिर, वसन्त (शीतकाल) में तीसरे दिन तथा शरद्, ग्रीष्म, वर्षा (उष्णकाल) में दूसरे दिन व्रण खोलने का भी स्पष्ट निदेश है।

न च एनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्; स हि अल्पेनापि अपचारेण आभ्यन्तरं उत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति ॥

जब व्रण सम्यक्तया शुद्ध हो ले तब उसके रोपण की व्यवस्था करनी चाहिये। अगर पूय व्रण में उपस्थित हो तो उसका जल्दी में रोपण नहीं करना चाहिये क्योंकि थोड़े ही अपथ्य या अपचार के कारण भीतरी भाग में उत्संग या उभार पैदा करके बहुत हानि कर देता है।

पश्चात्कर्म के अन्य निदेश

तस्माद् अन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद् व्रणम् ।
रूढेऽपि अजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत् ॥
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावत् स्थैर्योपसंभवात् ॥

इस कारण व्रण जब बाहर भीतर पूर्ण शुद्ध हो जाय तब उसका रोपण करे। रोपणकाल में तथा जब तक स्थिरता पूरी तरह न प्राप्त हो तब तक अजीर्ण, व्यायाम, मैथुनादि कर्मों का रोगी परित्याग किये रहे साथ ही हर्ष, क्रोध और भय को भी पास न फटकने दे।

शस्त्रनिपात के कारण व्रण में जो वेदना उत्पन्न हो जाती है उसकी शान्ति हेतु गुनगुने मुलहठी का चूर्ण मिले घी से उसे सिक्त करने (लगाने) से शान्त हो जाती है।

अध्याय अन्तिम उपदेश—

सर्जीकल एमर्जेंसी होने पर

अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक् ।
प्रदीप्तागारवत् शीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥

अतिशीघ्र विनाशक रोग स्थिति (ऐमर्जेंसी) में उपर्युक्त पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म की विधि के अनुसार चलने की भिषक् को आवश्यकता नहीं है वहां तो शीघ्र कोई उपयुक्त प्रतिकार की व्यवस्था उसे कर देनी चाहिए। क्योंकि जब किसी मकान में आग लग जावे और वह जलने लगे तब किस विधि को अपनावें इसका विचार न करें जैसे भी आग बुझे यह ध्यान धर प्रतिक्रिया करनी पड़ती है।

त्रिविधकर्म विषयक कितना विपुल सटीक ज्ञान प्राचीनों को था यह सहज ही उक्त वर्णन से समझा जा सकता है। वे सफल सर्जन थे और सिर से पैर तक सभी प्रकार के ऑपरेशन करते थे। उनको भारत के बाहर भी राजा लोग ले जाते थे और उनका उपकार मानते थे।

आधुनिक शल्यतन्त्र और पूर्वकर्म

आजकल एक सर्जन के लिए पूर्वकर्म का स्वरूप कुछ भिन्न ही है। इसमें वह प्राचीनकाल की तरह कुछ सम्भार की व्यवस्था मात्र नहीं करता। वह रोगी को सबसे पहले बड़े ध्यान से देखता है। रोगी के रोग का पूरा-पूरा इतिवृत्त लेता है उसकी सार्वदैहिक परीक्षा करता है। उसके मूत्र की जांच की जाती है, रक्त के कणों का गणन किया जाता है, सीरम विज्ञान का पता लगाते हैं। रोगी के वक्ष का क्षकिरणचित्र लेते हैं। यदि रोगी ५० वर्ष से ऊपर है तो उसका इलैक्ट्रो कार्डियोग्राम भी लेना आवश्यक समझा जाता है। उसके मल की परीक्षा करके मालूम किया जाता है। कि उसमें गुप्तरूप से रक्त तो नहीं जाता है। रक्तशर्करा का भी ज्ञान किया जाना आवश्यक है। निम्नलिखित १२ रासायनिक परीक्षण भी किये जाते हैं—

१. कैल्शियम
२. अकार्बनिक फास्फोरस
३. ग्लूकोज
४. रक्तस्थ यूरिया
५. यूरिकाम्ल
६. कोलैस्टरौल
७. टोटल ब्लड प्रोटीन
८. अल्ब्युमिन
९. टोटल बिलीरुबीन
१०. अल्कलाइन फॉस्फेटेज
११. ब्लडग्रुप का ज्ञान
१२. व्रण के स्राव में जीवाणुओं की पहचान

इन तथा ऐसे ही अन्य आवश्यक परीक्षणों के साथ-साथ रोगी की जो-जो शिकायतें हों प्रत्येक पर पूरा ध्यान दिया जाता है। यदि कोई विशेष परीक्षण इन शिकायतों का पूरा ज्ञान करने के लिए जरूरी हो तो वह भी कराया जाता है। यही नहीं, यदि विशेषज्ञों से राय लेना उचित जान पड़े तो वह भी पूर्वकर्मों के आवश्यक कर्मों में ही आता है। श्रोणि तथा गुद की परीक्षा भी करानी आवश्यक होती है। मलाशय का दर्शन भी यदि उस अंग की कोई शिकायत हो, करके पहले देख लेनी चाहिए।

आधुनिक पूर्वकर्म इतना व्यापक होता है कि रोग क्या है ? कहाँ है ? क्यों है ? इन सभी प्रश्नों के सप्रमाण उत्तर प्राप्त हो जाते हैं। यही नहीं, रोगी की प्रकृति, रक्त-स्राव की प्रवृत्ति, एण्टीबायोटिक द्रव्यों के प्रति उसकी अलर्जी, मानसिक विचार हो तो मानसिक उपचार करने वाले तज्ज्ञ की राय भी ली जानी चाहिए। अयुर्वेद की सत्त्व परीक्षा भी इसी दृष्टि से बतलाई गई है। प्रवरसत्त्व व्यक्ति शस्त्रकर्म को निर्भीकता से करवा लेता है। अवर सत्त्व के लिए छोटा शस्त्रकर्म भी घबराहट प्रदान कर देता है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि बड़े शस्त्रकर्म के कारण रोगी में उपसर्ग की वृद्धि रक्तस्राव तथा चयापचय की गड़बड़ी पैदा कर सकता है। और भी उपद्रव आरम्भ हो सकते हैं जो शस्त्रकर्म के पूर्व छिपे हुए रहते हैं।

शल्यतन्त्र के आधुनिक पूर्वकर्म का यह पहला लक्ष्य होता है कि उन सभी सम्भावनाओं को पहचान लिया जावे तथा उन पर नियन्त्रण कर लिया जावे जो प्रधानकर्म या ऑपरेशन को खतरनाक बना सकती हों। इन सम्भावनाओं में क्रियाभिघात या शॉक एक है, रस-धातु की कमी, रक्तक्षय, रक्तगत लवणों का असन्तुलन, श्वसनसंस्थान के उपसर्ग, हृदक्षत अपूर्ति, मधुमेहज अम्लोत्कर्ष, वृक्कों का क्रियामान्द्य, उच्चशरीरताप अन्य हैं। अतिपाती रोगों को (एमर्जेंसियों) में यद्यपि सर्जन के पास उपचार के लिये समय तो बहुत कम होता है फिर भी इतना तो होता ही है कि रोग का तथा रोगी की स्थिति का पूरा-पूरा आकलन किया जा सके।

आधुनिक शल्यतन्त्रीय पूर्वकर्म में जैसा कि ऊपर लिखा जा लिखा जा चुका है तज्ज्ञों के साथ परामर्श का विशेष महत्त्व होता है। यह परामर्श ३ परिस्थितियों में किया जाना आवश्यक होता है उनमें पहली है जब रोगी स्वयं उसकी मांग करे, दूसरी है कोई मेडिकोलीगल जटिलता के उत्पन्न होने की संभावना हो अथवा जब सर्जन उसकी आवश्यकता रोगी के हित में समझता हो।

इन परामर्शों में एक हृदयरोग विशेषज्ञ के साथ किया जाना चाहिए। दूसरा परामर्श किसी अन्य सर्जन के साथ या कायचिकित्सक के साथ रोग की गम्भीरता का अनुभव होने पर कर लेना चाहिये।

अनीस्थीसिया के लिये खास कर जब सर्जन को कोई बड़ा शस्त्रकर्म करना हो तो किसी अनैस्थेटिस्ट से परामर्श करना जरूरी होता है। अच्छा हो कि यह परामर्श काफी दिन पहले कर लिया जावे ताकि शस्त्रकर्म के दिन कोई झंझट उत्पन्न न होने पावे। इससे शस्त्रकर्म के सुचारू रूप से हो जाने की आशा बढ़ जाती है।

किसी व्यक्ति पर किये जाने वाले शस्त्रकर्म में अनीस्थीसियाविज्ञ का पूर्वपरामर्श बड़ा लाभदायक सिद्ध होता है। वह शस्त्रकर्म के पूर्व खाना या न खाना तथा क्या-क्या सावधानी बरतनी चाहिए इसके पूरे निदेश दे सकता है। यदि यह परामर्श न किया जा सके तो शल्यवेत्ता को स्वयं ही ये निदेश रोगी को देने पड़ते हैं।

जब किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो कि उसके रोग का उपचार शस्त्रकर्म है तो उसके तथा उसके परिवार वालों के मन में अनेक शंका कुशंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं जिससे मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा रोगी शस्त्रकर्म के पूर्व ही नर्वस हो जाता है। इसलिये रोगी के मनोबल को ऊंचा उठाने का काम भी शल्यवेत्ता चिकित्सक का ही होता है। चिकित्सक को शस्त्रकर्म के द्वारा क्या-क्या खतरे आ सकते हैं। इसे उसके बालबच्चों या पत्नी या घरवालों को बतला देना चाहिये, इससे आगे चलकर परिवारीजन भी शस्त्रकर्म हेतु रोगी को तैयार करने में सहायक हो जाते हैं तथा रोगी का मनोबल ऊंचा हो जाता है।

सामान्यत: शस्त्रकर्म करने के पूर्व शल्यवेत्ता को रोगी से या उसके संरक्षक से शस्त्रकर्म करने की अनुमति या परमिट लिखित में ले लेनी होती है जिसमें ऑपरेशन से होने वाले खतरों से रोगी या संरक्षक को पहले से ही आगाह कर दिया जाता है। अतिपाती रोगावस्था में जहां जीवन-मरण अधर में लटके होते हैं ऐसी अनुमति प्राय: आवश्यक नहीं होती।

कुछ सर्जन ऑपरेशन के पूर्व एक नोट तैयार करते हैं जिसमें रोगी पर की गई विविध परीक्षाओं के आधार पर रोग तथा उपचार का निर्णय लिखा जाता है। शल्योपचार कौन सा होगा यह भी दे दिया जाता है। यह नोट ऑपरेशन से एक-दो दिन पहले ही लिखा जाता है जिसमें पूर्वकर्म की व्यवस्था का भी उल्लेख रहता है। इस नोट के साथ ही शस्त्रकर्मपूर्वी कुछ आदेश भी शल्यवेत्ता प्रसारित करता है जिनका सम्बन्ध त्वचा, आहार, वस्तिकर्म, सोने के समय अनैस्थिटिस्ट के निदेश तथा अवस्थाओं के लिये क्या व्यवस्था की जानी है इसका स्पष्ट उल्लेख रहता है। इन आदेशों का अक्षरश: पालन किया जाने पर ही शल्यवेत्ता शस्त्रकर्म के लिये तैयार होता है।

जहां शस्त्रकर्म करना होता है वहां की त्वचा को तैयार करना पड़ता है। शस्त्रकर्म से १२ घंटे पूर्व ठोस आहार रोक देते हैं ८ घंटे पूर्व तरल आहार भी नहीं देते। उदर के शस्त्रकर्मों में वस्तिकर्म आवश्यक होता है। अन्यों में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन रोगियों को कब्ज रहता है उन्हें ८ से १२ घंटे पूर्व सफाई के लिये एनीमा दिया जाता है।

विशेष व्यवस्था—रक्त के ट्रान्सफ्यूजन के लिये; नासा–आमाशय ट्यूब, मूत्राशयिक कैथेटर, सिरा या धमनी में कैथेटर फिक्स करने के लिये आवश्यकतानुसार करनी पड़ती है। कुछ लोग जो इन्सूलिन लेते हैं या अन्य किसी द्रव्य का सतत उपयोग करते हैं उसे ऑपरेशन के समय देते रहना है या नहीं या किस मार्ग से उसे देना है इसके लिए भी विशेष निदेश देने होते हैं। इसी प्रकार कौन सा एण्टीबायोटिक किस मार्ग द्वारा दिया जाना है इसका भी निर्णय करना होता है।

यदि किसी शस्त्रकर्म में जटिलता हो तो उसकी दृष्टि से भी आदेश प्रसारित किये जाते हैं। यह सब शस्त्रकर्म के पूर्व प्रि-आपरेटिव केयर के अन्तर्गत आता है।

पश्चात्कर्म और आधुनिक शल्यचिकित्सा

रोगी पर शल्यकर्मगृह में प्रधानशस्त्रकर्म हो चुकने के बाद जब उसे वापस उसकी शैया पर भेजा जाता है तब शल्यवेत्ता सर्जन द्वारा स्पष्ट आदेश निदेश भी साथ ही भेजे जाते हैं। रोगी के साथ एक चिकित्सक या अनुभवी उपचारक भी शैया तक जाता और नर्स को जुबानी भी बहुत सी बातें जो पश्चात्कर्म की दृष्टि से उस रोगी के लिये जरूरी हों बताया जाता है नीचे कुछ विशिष्ट पश्चात्कर्मीय सावधानियां दी जा रही हैं।

जीवन के आधार

रक्तदाब, नाड़ी की गति और श्वसनक्रिया ये जीवनाधार माने जाते हैं। हर बड़े शस्त्रकर्म के बाद नर्स को हर १५ या २० मिनट पर रोगी का ब्लडप्रैशर लेना चाहिये नाड़ी की गति और श्वसनगति नोट करनी चाहिये। जब ये तीनों ठीक-ठीक चलती हों तो फिर घंटे-घंटे भर पर इन्हें नोट किया जाता है। अगर किसी रोगी को रक्तदाब गिरने लगता है तो उसकी सूचना प्रधान चिकित्सक या शल्यकर्म करने वाले सर्जन को दी जाती है।

हृदय की गति के लिये पश्चिम के अस्पतालों में तो इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम का लगातार लेना चालू रखा जाता है। कैन्द्रिय सिरादाब का अंकन भी आजकल जरूरी हो गया है इसके लिये इंटर्नल जुगुलर या सबक्लेवियन सिरा द्वारा दक्षिण अलिन्द या सुपीरियर वेना केवा तक कैथेटर डाले रखा जाता है। और ज्यों ही रोगी में क्रियातिपात (शॉक) अथवा हृदयगति या श्वासगति में दिक्कत आती है उसे नापा जाता है। अल्पमूत्रता होने पर या कई बोतलें चढ़ाने के समय भी उसे नापते हैं।

यदि शस्त्रकर्म किये गये व्रण से रक्तस्राव होने लगे या श्वास की गति अवरुद्ध होने लगे या हृदय की गति अनियनिमत होने लगे तो उसके तुरन्त उपचार की व्यवस्था करनी होती है। वास्तव में तो ऑपरेशन से कहीं अधिक जिम्मेवारी पोस्ट ऑपरेटिव केयर में आती है।

शैयासन

जब रोगी का शस्त्रकर्म पूरा हो जाय और वह अपनी शैया पर अस्पताल में आ जावे तब उसे किस आसन या पोजीशन में रखा जाना है यह निदेश भी नर्स के पास शल्यवेत्ता को पहुँचा देना चाहिए। सिरहाना ऊंचा या नीचा करना, करवट से लिटाना, बिठाये रखना क्या जरूरी है यह पहले से ही लिखकर देना होता है। जब तक रोगी संज्ञाहर द्रव्य के प्रभाव में बेहोश पड़ा हो हर आधे घंटे पर उसका करवट बदलना होता है। होश आने पर भी घंटे-घंटे पर करवट बदलते हैं। यह क्रम ८ से १२ घंटे तक करते हैं। कभी-कभी शल्यवेत्ता-चिकित्सक के निदेश पर रोगी का हिलना-डुलना रोका भी जाता है। जब तक रोगी चलने-फिरने में स्वयं समर्थ न हो जाय उसके पैरों और टांगों को हर एक या दो घंटों पर बदलते-उदलते रहना चाहिए। वृद्धों में या जब चलने-फिरने की मनाही हो अन्तःशल्यता (ऐम्बोलिज्म) की रोक-थाम के लिये टांगों तक इलास्टिक के मोजे पहना देते हैं।

श्वसनचिन्ता

शस्त्रकर्म के बाद श्वासगति में चिन्ताकारक संकट उत्पन्न होकर उसे जीवन संकट में बदल देता है। इस पर पश्चात्कर्मी की सदैव दृष्टि रहनी चाहिए। श्वास आती-जाती रहे, रुक न जाय तथा श्वसन मार्ग खुला रहे इसके लिए खांसी आना या ट्रैकिया में सक्शन (आचूषण) की व्यवस्था करना या बाहर से कण्ठनाड़ी (ट्रैकिया) में कैथेटर पास करने की भी व्यवस्था भी करनी पड़ सकती है।

ऑक्सीजन की व्यवस्था सदैव आवश्यक होती है। यदि रोगी की नाड़ी की गति बढ़ गई हो, बेचैन हो उठा हो मानसिक क्रियाओं में गड़बड़ी होने लगी हो और हवा के लिये छटपटाने लगा हो तो उसे तत्काल ऑक्सीजन देनी पड़ती है। अधिक ऑक्सीजन की कमी होने पर नाड़ी की गति मन्द पड़ जाती है त्वचा (चेहरा ओष्ठ अंगुलिया) श्याव होने लगती हैं और रोगी मूर्च्छाग्रस्त हो जाता है।

आहार—तरलों का ग्रहण और निष्कासन।

ऑपरेशन के कितनी देर बाद क्या आहार देना या न देना चाहिए इसका भी विधान है जो अपने निदेशों में शल्यचिकित्सक लिखकर देता है। रोगी को तरल पदार्थ कितनी मात्रा में दिये जा रहे हैं इसका लेखा-जोखा तरल संतुलन हेतु आवश्यक होता है। सिरा द्वारा ग्लूकोज या सैलाइन या अन्य द्रव कितनी मात्रा में २४ घण्टों में देने चाहिए इसे भी पूर्व ही निदेशित करना पड़ता है। साथ ही मूत्रमार्ग में कैथेटर लगाकर मूत्र की राशि का हिसाब भी रखना पड़ता है। यह संभव है कि जितनी मात्रा में तरल द्रव्य दिये जा रहे हैं उससे काफी कम

पेशाव उतर रहा हो । ऐसा तभी होता है जब क्रियातिपात के कारण वृक्कों की मूत्र-उत्पादन की क्षमता घट गई हो । कितनी-कितनी देर बाद मूत्रराशि को नापा जाना है, इसका निदेश भी पहले से किया जाता है। ऑपरेशन के बाद ६ से ८ घण्टे के अन्दर रोगी को मूत्र-त्याग करना चाहिए। यदि वह इस काल में मूत्र नहीं त्यागता तो उसकी सूचना चिकित्सक को तत्काल भेजी जानी चाहिए ।

अन्य विचार

दर्द से शान्ति देने के लिए या उपसर्ग रोकने के लिए क्या दवा कब देनी चाहिए तथा अगले २४ घण्टों में रोगी के कौन-कौन परीक्षण प्रयोगशाला में किये जाने आवश्यक हैं इसका निदेश भी शल्यवेत्ता को देना चाहिए ।

अवस्था विचार

पश्चात्कर्म में रोगी की अवस्था का भी विचार किया जाता है । यदि रोगी बालक या शिशु है तो या वृद्ध है या स्थूल है या गर्भिणी है तो इन सबका विचार करना पड़ता है । बच्चों को कोई भी उपसर्ग जल्दी पकड़ लेता है वे जल्दी डिहाइड्रेड हो जाते हैं। उन्हें बुखार भी बहुत तेज हो जाता है । नवजात शिशुओं में विटामिन के की मात्रा कम होने से उनमें रक्तस्राव की प्रवृत्ति बड़ी हुई होती है । इसलिए शिशुओं और बालकों का नर्सिंग अनुभवी हाथों में ही देना चाहिए ।

वृद्धों को शल्य चिकित्सा से इसलिए वंचित करना उचित नहीं है कि वे वृद्ध हैं। यदि उन्हें हृदय या वाहिनियों का कोई खास रोग नहीं है और उनके गुर्दे ठीक-ठीक कार्य कर रहे हैं तो ऑपरेशन करने में हिचक नहीं होनी चाहिए । इन रोगियों में ६० वर्ष के ऊपर पेट के कैंसर की प्रवृत्ति कुछ देशों में देखी जा सकती है उसका ध्यान पहले ही कर लेना चाहिए । छोटी से छोटी पेट की खराबी का इसी दृष्टि से पूर्वकर्म में ज्ञान कर लेना चाहिए । इन लोगों को बहुत अधिक मात्रा में तरल पदार्थ सिरा द्वारा नहीं दिये जाते । उनको निद्राकर दवाओं की थोड़ी सी मात्रा भी काफी होती है। वार्बीट्यूरेट्स उन्हें कष्ट देते हैं । जटामांसी और तगर का चूर्ण ही उन्हें नींद ले आता है । रोगी के बल प्रकृति और व्यवहार पर ध्यान न देते हुए ही चिकित्सात्मक कदम उठाने चाहिए ।

स्थूल व्यक्ति बहुत संकट पैदा कर सकता है इसे न भूलना चाहिए । इसके पश्चात्कर्मीय काल में व्रण देर में भरते हैं उनकी सिराओं में घनास्र पैदा होने की ज्यादा सम्भावना रहती है । अच्छा हो कि ऑपरेशन से पूर्व रोगी का शरीरभार कम करने के उपाय सर्जन पहले करले तब शस्त्रकर्म करना स्वीकार करे ।

गर्भावस्था में बड़ा शस्त्रकर्म न करना ही श्रेयस्कर माना जाता है । यह स्मरण रहना चाहिए कि गर्भिणी को ऑक्सीजन की कमी से गर्भस्थ शिशु के अंगों के निर्माण में विकार उत्पन्न हो जाते हैं । गर्भिणी का क्षकिरण परीक्षण गर्भ पर सदैव बुरा असर डालने वाला होता है इसलिए यह परीक्षण कम से कम कराना चाहिए न करावें तो और भी अच्छा है ।

व्रणरोहण विचार

कुछ रोगियों के व्रणों का रोहण बहुत देर में होता है ऐसा क्यों हो रहा है इसकी खोज की जाकर उसका उपचार किया जाना चाहिए ।

अलर्जी या अनुहृषता

कुछ लोगों को कुछ दवाएं अलर्जी पैदा कर देती हैं, उसका ज्ञान सर्जन को शुरू में ही कर लेना चाहिए । पेनिसिलीन, एण्टीटिटैनस सीरम, प्रोकेन, वार्बीट्यूरेट्स, ऐस्पिरीन, सल्फोनैमाइड्स, अंडे, दूध, आयोडीन तक अलर्जी या अनुहृषता पैदा कर सकते हैं इनके प्रति पश्चात्कर्मकाल में भी शल्यचिकित्सक को सजग रहना चाहिए ।

चिकित्सा विचार

रोगी को जो चिकित्सा या औषध दी जा रही हों उनके बारे में समय-समय पर विचार किया जाना चाहिए । डिजिटैलिस, कॉर्टिकोस्टराइड्स, इन्सूलिन जो पहले से दिये जा रहे हों चालू रखे जा सकते हैं पर उनकी मात्रा पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए । जिन लोगों को कोर्टिजोन पहले दिया गया हो तो ऑपरेशन के बाद भी इसकी आवश्यकता को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए क्योंकि शस्त्रकर्म के कारण उत्पन्न मानसिक तनाव में अधिवृक्क ग्रन्थियां उसका निर्माण कम या बन्द भी कर सकती है । अनीस्थीसिया की दृष्टि से भी कुछ दवाओं के लेते रहने के सम्बन्ध में तज्ज्ञ को परामर्श देना पड़ता है ।

प्रकृति के आधार पर शल्य कर्मोत्तर
शरीर क्रिया में प्रतिक्रिया

लेखक—* डा० चौधरी * डा० शर्मा एवं * प्रो० देशपाण्डेय

अभिघात के कारण स्वाभाविक शारीर क्रिया पर उल्लेखनीय प्रतिक्रिया होती है—यह एक प्राचीन और आधुनिक विज्ञानसेवियों का स्वीकृत सत्य है। सुश्रुत ने कहा—

धातुक्षयात्स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः ॥३७॥
(सु० सू० १४)।

रक्तस्रुति के कारण धातुक्षय होने से अग्नि बलहीन हो जाती है और वायु अत्यधिक कुपित हो जाता है। अतः प्रयत्नपूर्वक इसका प्रतिकार करना चाहिये। अविकन्तु—

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम् ।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः ॥२८॥
(सु० सू० १५ अ०)।

शरीर में आघात लगने से, धातु क्षय होने पर, कोप, शोक, अत्यधिक चिन्ता, परिश्रम, उपवास वा क्षुधा इत्यादि के कारण ओज इसके स्रोतों से निकल जाता है। वायु से उत्तेजित होकर पित्त इस ओजः को विस्रंसेन वा स्थानच्युति कर देता है।

चर्चिल, हार्वार्ड, केनन, सेली तथा परवर्त्ती विद्वजन जैसे एफ्० डी० मुर और इनके सहकर्मियों ने अभिघात का धातुपाक, अन्तःस्रावी ग्रन्थि विज्ञान और रोगी की पोषण क्षमता पर प्रभाव कर विषय में प्रभूत कार्य किया है। अतः आधुनिक काल में शल्य रोगी में रोगलक्षण, धातुपाक तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थि पर उद्भूत क्रिया परम्परा को समझने के लिये हमें विस्तृत उपादान उपलब्ध है। एफ्० डी० मुर ने शल्य रोगियों के विभिन्न स्तर तथा यूथबद्ध करण के विषय में काफी कार्य किया था। इन तथ्यों की सहायता से यथोचित सूक्ष्मता के साथ शल्य रोगियों में शारीर प्रतिक्रिया का निर्धारण करना कथञ्चित् सहज हुआ है। परन्तु आधुनिक कर्मियों के द्वारा संग्रहीत विस्तृत तथ्य होते हुए यह एक कौतूहलास्पद विषय है कि पारिपार्श्विक एक ही प्रकार होते हुए भी शस्त्रकर्मोत्तर शारीरिक प्रतिक्रिया व उपद्रव सदैव एक प्रकार नहीं होते हैं। स्वाभाविक शारीरिक क्रिया दो रोगियों में एकसी नहीं होती है।

* डा० रवीन्द्रचन्द्र चौधरी, रीडर शल्य शालाक्य विभाग चिकित्सा विज्ञानसंस्थान वाराणसी
* डा० एम० एम० शर्मा, रीडर शल्य शालाक्य विभाग चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान वाराणसी
* प्रो० डा० पी० जे० देशपाण्डेय ए० एम० एम० एस० प्रोफेसर शल्य शालाक्य विभाग चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान वाराणसी

दृष्टान्ततया शस्त्रकर्मोत्तरकाल में एक रोगी में वेदना और अरति हो सकती है और इसके लिए औषधि प्रदान आवश्यक होता है। परन्तु साथ ही साथ दूसरा शल्य रोगी शस्त्रोपचार के वाद विना किसी उपद्रव के तथा औषधि का प्रयोजन न होते हुये आरोग्य लाभ कर सकता है। एक शस्त्रोपचार के रोगी को अच्छी निद्रा, स्वाभाविक शारीरिक क्रिया जैसे वायु, मल, मूत्र का विसर्जन-वेग दूसरे से पहले आ सकते हैं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के कर्मियों ने धातुपाक (metabolic) अन्तःस्रावी ग्रन्थि (endocrine) और जैवरासायन (biochemica) घटित परिवर्तनों का केवल उल्लेख किया है। परन्तु इनके कारणों को निर्देश नहीं किया। आयुर्वेदिक संहिता ग्रन्थों में इन मूलभूत शारीरिक क्रिया वैषम्य के बारे में प्रचुर उपादान मिलता है। सुश्रुताचार्य कहते हैं कि इस वैषम्य का कारण है मनुष्य की जन्मगत प्रकृति के ऊपर मनुष्य के आचरण, कार्य, मिजाज तथा अङ्गप्रत्यङ्ग निर्भर करते हैं। मनुष्यकी जैसी प्रकृति होगी, उसी के अनुसार उसके रोग होने की सम्भावना है।

उपस्थित अध्ययन में रोगी का शस्त्रोपचार के पहले उनकी प्रकृति का निरूपण किया गया है तथा शस्त्रोपचार के उपरान्त उनकी शारीरिक क्रिया किस प्रकार हुई—इसका पूरी तौर पर निरूपण किया गया।

सुश्रुत ने जिन स्वाभाविक शारीरिक वेगों का उल्लेख किया है, वे हैं—वायु, मल, मूत्र का त्याग, वेदना, क्षुधा, पिपासा, निद्रा। प्रत्येक रोगी की प्रकृति के अनुसार इन वेगों का अध्ययन किया गया था।

यह देखा गया था कि ये शारीरिक क्रिया-वेग कतिपय निर्दिष्ट प्रकृति विशिष्ट मनुष्यों में कुछ शीघ्रतर आते हैं। परन्तु दूसरी श्रेणीगत रोगी में ये क्रियायें कुछ विलम्ब से आती हैं। एक दोषज प्रकृति वाले पुरुष के लक्षण, द्वि दोषज प्रकृतियुक्त पुरुष के लक्षण से कुछ भिन्न हैं। हमने इनके तारतम्य को देखकर शरीर-क्रिया के औसत का विचार करके इनका श्रेणी विभाग किया है। इससे हमें जो अंक मिले, वे वहुत अर्थपूर्ण हैं और प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से मनुष्यों का, प्रकृति विभाग का यथार्थ्य प्रतिपादन होता है।

उपाय व अवलम्बन

(Methods & material)

वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय के सर सुन्दरलाल अस्पताल के शल्य-शालाक्य, प्रसूति और अस्थिविकार विभाग की अन्तरङ्ग शाखा के शस्त्रोपचार प्राप्त रोगियों को शय्यापार्श्विक उपादानों को लेकर यह वर्त्तमान अध्ययन किया था।

आयुर्वेदीय शास्त्रग्रन्थों में उल्लिखित सूत्रों के आधार पर तैयारी एक रोगी-विवरणी में रोगियों का शारीर-क्रिया वेग सम्वन्धी विवरण को लेकर अनुसन्धानान्तर्गत प्रत्येक रोगी की प्रकृति का निरूपण किया गया।

रोगियों का वर्गीकरण

अभिघात का गुरुत्व के अनुसार शस्त्रोपचरित रोगियों को चार वर्ग में विभाजित किया गया।

१—प्रथम वर्ग में उन शस्त्रोपचरित रोगियों को ग्रहण किया गया है जिनको सामान्य अभिघात हुआ था, जैसे अन्त्रवृद्धि (Hernia), अनवनत मुष्क (Undescended tastes), वंक्षणज ग्रन्थिशोथ (Inguinal Lyerphadenitis), ब्रौकियेल फिश्चुला (bronchial fistula), मूत्रज वृद्धि (Hydrocele) निरुद्ध प्रकश (Phimosis) और क्षुद्रशोथ वा अर्वुद। इन रोगियों में शस्त्रकर्म की गम्भीरता सामान्य थी तथा सिरावेधकृत अन्तः द्रवप्रयोग सीमित था। किसी-किसी रोगी को शस्त्रकर्मोत्तर द्वितीय वा तृतीय दिवस में किञ्चित् चलने को दिया गया था।

२—द्वितीय वर्गयुक्त रोगियों को मध्यम श्रेणी का अभिघात हुआ था। इन वर्गों में नाभिगत अन्त्रवृद्धि (Umbilical Hernia), स्तनगत शस्त्रोपचार(Mastectomy), मृदु व मूलीभूत लिया गया था। द्रवपूरण रक्त और इलैक्ट्रोलाइट का प्रयोजन इसमें प्रथम वर्ग की अपेक्षा कम था।

३—तृतीय वर्ग में दारुण अभिघात हुआ था—जैसे आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन (gastro-jejunostomy), आंशिक आमाशय-छेदन (Partial gestrectomy), पित्ताशय छेदन (Cholecystectomy), अन्त्रपाशछेद

(Resection of intestinal loop), अन्त्रान्त्र संयोजन (Intestinal anastomosis), अन्त्रपुच्छछेदन (appendicectomy), गर्भाशय छेदन (hyoterectomy), डिम्बकोषग्रन्थि छेदन (ovarion cystectomy), वृक्क छेदन (nephrectomy), वृक्काश्मरी छेदन (pylolithotomy), वस्ति-अर्बुद छेदन (Excision of bladder tumour), भगास्थ्यूर्ध्ववस्ति–अश्मरी–निर्हरण (Suprapubic cystolithotomy) इनमें से प्रत्येक रोगी में द्रवपरिपूरण (fluid replacement) और रक्त-दान (blood-transfusion) किया गया था तथा साधारण निःसंज्ञीकरण के पश्चात् शस्त्रोपचार किया गया था। ये गम्भीरतर उदर गह्वरस्थ शस्त्रोपचार वर्ग के अन्तर्मुक्त हैं।

४—चतुर्थ वर्ग—इसमें अस्थि-भग्न रोगियों को लिया गया था—जैसे अङ्ग छेदन (amputation) उर्वस्थि का निम्न भाग का दूसरा मनुष्य से स्थानान्तरीकरण (homografting of the lower end of the femur), साइनो भेक्टोमी(Synovectomy), जान्वस्थिकर्त्तन (Patellectomy) धातुओं से अस्थि संयोजन (arthrodesis), अस्थि छेदन (osteotomy), कृत्रिम अस्थि भग्नोत्तर अस्थि पुनः संयोजन (openreduction), अस्थि नलकान्तः स्थिरीकरण (intramedulla fasiation), इन रोगियों को बहुत दिन तक विश्राम देने के कारण तथा शस्त्रकर्म के पूर्व भी दीर्घ विश्राम होने से अतिरिक्त समस्या-पीड़ित थे। शस्त्रकर्मजन्य अभिघात भी गम्भीर था।

रोगियों का अध्ययन

एक विशेष रूप में प्रस्तुत रोगी–विवरणपत्र में रोगियों की उन्नति शस्त्रकर्मोत्तर काल में यथाक्रम लिखी जाती थी। रोगियों का नियमानुसार इतिहास लिखा जाता था। जिसमें उनका वयः, लिङ्ग (स्त्री या पुरुष) रोग-स्थिति काल, बहुविध विकृति विज्ञान विषयक परीक्षा तथा रोग-विनिश्चय लिखे जाते थे। रोगी विवरणी पत्र रोगियों के चिकित्सालय में अवस्थानुकूल, साधारणतया ८ दिन तक अथवा कभी-कभी इससे अधिक काल तक किया, जब तक सीवन सूत्र न निकाले जाते थे, तब तक लिखे जाते थे। परन्तु अस्थि विषयक रोगियों में ८ दिन तक इतिहास लिपिबद्ध किया गया था। चलच्छक्तिमान् रोगियों का शरीर भार ८ दिन में लिया जाता था—जिससे शस्त्रकर्मोत्तर काल में इनकी भारहानि का पता चले।

सुश्रुतानुसार रोगियों को ५ वयोवर्ग में विभाजित किया गया था—

(१) शिशु—१– १५ वत्सर
(२) युवा—१६–३० ,,
(३) प्राप्तवयस्क—३१–४० ,,
(४) परिहाणि —४१–७० ,,
(५) वृद्ध —७१ से अधिक

व्यवसाय

रोगी का व्यवसाय वा वृत्ति के अनुसार श्रम के गुरुत्व के अनुसार रोगियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया—

(१) आसीन व उपवेशन बहुल—बुनकर, व्यवसायी, चाकरीजीवी, दरजी—जो बैठकर अपने कार्य करते हैं।

(२) कर्मव्यस्त—जो क्रियाशील होकर घर के कार्य करते हैं, जैसे विद्यार्थी।

(३) श्रमिक—जो अपने हाथ से काम करते हैं, जैसे—मजदूर, किसान।

इन तीनों वर्गों के मनुष्यों को तीन प्रधान प्रकृतियों में विभक्त किया गया है।

निःसंज्ञीकरण—पूर्ण संज्ञानाश के पश्चात् जिनको शस्त्रोपचार किया गया था उन सब रोगियों को इस अध्ययन का अन्तर्मुक्त किया गया था।

संज्ञाहरणपूर्व औषधि के एट्रोपिन (atropine) और फेनार्जेन आदि दिये गये थे। संज्ञाहरण युक्त रोगी की अचेतनावस्था काल की अवधि लिपिबद्ध की गयी थी। प्रति रोगी में ईथर का व्यवहृत परिमाण (मि० लि०) और उसका स्थिति काल लिखा जाता था। प्रति व्यक्ति में प्रति मिनट में ईथर का व्यय समय के द्वारा पूरा ईथर परिमाण को भाग करने से मिलता था। वर्ग के हिसाब से व्यय निरूपण करते समय प्रति मिनट का औसत व्यय

पेशाव उतर रहा हो। ऐसा तभी होता है जब क्रियातिपात के कारण वृक्कों की मूत्र-उत्पादन की क्षमता घट गई हो। कितनी-कितनी देर बाद मूत्रराशि को नापा जाना है, इसका निदेश भी पहले से किया जाता है। ऑपरेशन के बाद ६ से ८ घण्टे के अन्दर रोगी को मूत्र-त्याग करना चाहिए। यदि वह इस काल में मूत्र नहीं त्यागता तो उसकी सूचना चिकित्सक को तत्काल भेजी जानी चाहिए।

अन्य विचार

दर्द से शान्ति देने के लिए या उपसर्ग रोकने के लिए क्या दवा कब देनी चाहिए तथा अगले २४ घण्टों में रोगी के कौन-कौन परीक्षण प्रयोगशाला में किये जाने आवश्यक हैं इसका निदेश भी शल्यवेत्ता को देना चाहिए।

अवस्था विचार

पश्चात्कर्म में रोगी की अवस्था का भी विचार किया जाता है। यदि रोगी बालक या शिशु है तो या वृद्ध है या स्थूल है या गर्भिणी है तो इन सबका विचार करना पड़ता है। बच्चों को कोई भी उपसर्ग जल्दी पकड़ लेता है वे जल्दी डिहाइड्रेड हो जाते हैं। उन्हें बुखार भी बहुत तेज हो जाता है। नवजात शिशुओं में विटामिन के की मात्रा कम होने से उनमें रक्तस्राव की प्रवृत्ति बड़ी हुई होती है। इसलिए शिशुओं और बालकों का नर्सिंग अनुभवी हाथों में ही देना चाहिए।

वृद्धों को शल्य चिकित्सा से इसलिए वंचित करना उचित नहीं है कि वे वृद्ध हैं। यदि उन्हें हृदय या वाहिनियों का कोई खास रोग नहीं है और उनके गुर्दे ठीक-ठीक कार्य कर रहे हैं तो ऑपरेशन करने में हिचक नहीं होनी चाहिए। इन रोगियों में ६० वर्ष के ऊपर पेट के कैंसर की प्रवृत्ति कुछ देशों में देखी जा सकती है उसका ध्यान पहले ही कर लेना चाहिए। छोटी से छोटी पेट की खराबी का इसी दृष्टि से पूर्वकर्म में ज्ञान कर लेना चाहिए। इन लोगों को बहुत अधिक मात्रा में तरल पदार्थ सिरा द्वारा नहीं दिये जाते। उनको निद्राकर दवाओं की थोड़ी सी मात्रा भी काफी होती है। वार्वीट्यूरेट्स उन्हें कष्ट देते हैं। जटामांसी और तगर का चूर्ण ही उन्हें नींद ले आता है। रोगी के वल प्रकृति और व्यवहार पर ध्यान न देते हुए ही चिकित्सात्मक कदम उठाने चाहिए।

स्थूल व्यक्ति बहुत संकट पैदा कर सकता है इसे न भूलना चाहिए। इसके पश्चात्कर्मीय काल में व्रण देर में भरते हैं उनकी सिराओं में घनास्र पैदा होने की ज्यादा सम्भावना रहती है। अच्छा हो कि ऑपरेशन से पूर्व रोगी का शरीरभार कम करने के उपाय सर्जन पहले करले तब शस्त्रकर्म करना स्वीकार करे।

गर्भावस्था में बड़ा शस्त्रकर्म न करना ही श्रेयस्कर माना जाता है। यह स्मरण रहना चाहिए कि गर्भिणी को ऑक्सीजन की कमी से गर्भस्थ शिशु के अंगों के निर्माण में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। गर्भिणी का क्षकिरण परीक्षण गर्भ पर सदैव बुरा असर डालने वाला होता है इसलिए यह परीक्षण कम से कम कराना चाहिए न करावें तो और भी अच्छा है।

व्रणरोहण विचार

कुछ रोगियों के व्रणों का रोहण बहुत देर में होता है ऐसा क्यों हो रहा है इसकी खोज की जाकर उसका उपचार किया जाना चाहिए।

अलर्जी या अनुहृषता

कुछ लोगों को कुछ दवाएं अलर्जी पैदा कर देती हैं, उसका ज्ञान सर्जन को शुरू में ही कर लेना चाहिए। पेनिसिलीन, एण्टीटिटैनस सीरम, प्रोकेन, वार्वीट्यूरेट्स, ऐस्पिरीन, सल्फोनैमाइड्स, अंडे, दूध, आयोडीन तक अलर्जी या अनुहृषता पैदा कर सकते हैं इनके प्रति पश्चात्कर्मकाल में भी शल्यचिकित्सक को सजग रहना चाहिए।

चिकित्सा विचार

रोगी को जो चिकित्सा या औषध दी जा रही हों उनके बारे में समय-समय पर विचार किया जाना चाहिए। डिजिटैलिस, कॉर्टिकोस्टराइड्स, इन्सूलिन जो पहले से दिये जा रहे हों चालू रखे जा सकते हैं पर उनकी मात्रा पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए। जिन लोगों को कौर्टीजोन पहले दिया गया हो तो ऑपरेशन के बाद भी इसकी आवश्यकता को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए क्योंकि शस्त्रकर्म के कारण उत्पन्न मानसिक तनाव में अधिवृक्क ग्रन्थियां उसका निर्माण कम या बन्द भी कर सकती है। अनीस्थीसिया की दृष्टि से भी कुछ दवाओं के लेते रहने के सम्बन्ध में तज्ज्ञ को परामर्श देना पड़ता है।

प्रकृति के आधार पर शल्य कर्मोत्तर

शरीर क्रिया में प्रतिक्रिया

लेखक—* डा० चौधरी * डा० शर्मा एवं * प्रो० देशपाण्डेय

अभिघात के कारण स्वाभाविक शारीर क्रिया पर उल्लेखनीय प्रतिक्रिया होती है—यह एक प्राचीन और आधुनिक विज्ञानसेवियों का स्वीकृत सत्य है। सुश्रुत ने कहा—

धातुक्षयात्स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः ॥३७॥
(सु० सू० १४)।

रक्तस्रुति के कारण धातुक्षय होने से अग्नि बलहीन हो जाती है और वायु अत्यधिक कुपित हो जाता है। अतः प्रयत्नपूर्वक इसका प्रतिकार करना चाहिये। अधिकन्तु—

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम् ।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः ॥२८॥
(सु० सू० १५ अ०)।

शरीर में आघात लगने से, धातु क्षय होने पर, कोप, शोक, अत्यधिक चिन्ता, परिश्रम, उपवास वा क्षुधा इत्यादि के कारण ओज इसके स्रोतों से निकल जाता है। वायु से उत्तेजित होकर पित्त इस ओजः को विस्रंसेन वा स्थानच्युति कर देता है।

चर्चिल, हार्वार्ड, केनन, सेली तथा परवर्त्ती विद्वजन जैसे एफ्० डी० मुर और इनके सहकर्मियों ने अभिघात का धातुपाक, अन्तःस्रावी ग्रन्थि विज्ञान और रोगी की पोषण क्षमता पर प्रभाव कर विषय में प्रभूत कार्य किया है। अतः आधुनिक काल में शल्य रोगी में रोगलक्षण, धातुपाक तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थि पर उद्भूत क्रिया परम्परा को समझने के लिये हमें विस्तृत उपादान उपलब्ध है। एफ्० डी० मुर ने शल्य रोगियों के विभिन्न स्तर तथा यूथबद्ध करण के विषय में काफी कार्य किया था। इन तथ्यों की सहायता से यथोचित सूक्ष्मता के साथ शल्य रोगियों में शारीर प्रतिक्रिया का निर्धारण करना कथञ्चित् सहज हुआ है। परन्तु आधुनिक कर्मियों के द्वारा संग्रहीत विस्तृत तथ्य होते हुए यह एक कौतूहलास्पद विषय है कि पारिपार्श्विक एक ही प्रकार होते हुए भी शस्त्रकर्मोत्तर शारीरिक प्रतिक्रिया व उपद्रव सदैव एक प्रकार नहीं होते हैं। स्वाभाविक शारीरिक क्रिया दो रोगियों में एकसी नहीं होती है।

---

* डा० रवीन्द्रचन्द्र चौधरी, रीडर शल्य शालाक्य विभाग चिकित्सा विज्ञानसंस्थान वाराणसी
* डा० एम० एस० शर्मा, रीडर शल्य शालाक्य विभाग चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान वाराणसी
* प्रो० डा० पी० जे० देशपाण्डेय ए० एम० एम० एस० प्रोफेसर शल्य शालाक्य विभाग चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान वाराणसी

दृष्टान्ततया शस्त्रकर्मोत्तरकाल में एक रोगी में वेदना और अरति हो सकती है और इसके लिए औषधि प्रदान आवश्यक होता है। परन्तु साथ ही साथ दूसरा शल्य रोगी शस्त्रोपचार के बाद बिना किसी उपद्रव के तथा औषधि का प्रयोजन न होते हुये आरोग्य लाभ कर सकता है। एक शस्त्रोपचार के रोगी को अच्छी निद्रा, स्वाभाविक शारीरिक क्रिया जैसे वायु, मल, मूत्र का विसर्जन-वेग दूसरे से पहले आ सकते हैं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के कर्मियों ने धातुपाक (metabolic) अन्तःस्रावी ग्रन्थि (endocrine) और जैवरासायन (biochemica) घटित परिवर्तनों का केवल उल्लेख किया है। परन्तु इनके कारणों को निर्देश नहीं किया। आयुर्वेदिक संहिता ग्रन्थों में इन मूलभूत शारीरिक क्रिया वैषम्य के बारे में प्रचुर उपादान मिलता है। सुश्रुताचार्य कहते हैं कि इस वैषम्य का कारण है मनुष्य की जन्मगत प्रकृति के ऊपर मनुष्य के आचरण, कार्य, मिजाज तथा अङ्गप्रत्यङ्ग निर्भर करते हैं। मनुष्यकी जैसी प्रकृति होगी, उसी के अनुसार उसके रोग होने की सम्भावना है।

उपस्थित अध्ययन में रोगी का शस्त्रोपचार के पहले उनकी प्रकृति का निरूपण किया गया है तथा शस्त्रोपचार के उपरान्त उनकी शारीरिक क्रिया किस प्रकार हुई—इसका पूरी तौर पर निरूपण किया गया।

सुश्रुत ने जिन स्वाभाविक शारीरिक वेगों का उल्लेख किया है, वे हैं—वायु, मल, मूत्र का त्याग, वेदना, क्षुधा, पिपासा, निद्रा। प्रत्येक रोगी की प्रकृति के अनुसार इन वेगों का अध्ययन किया गया था।

यह देखा गया था कि ये शारीरिक क्रिया-वेग कतिपय निर्दिष्ट प्रकृति विशिष्ट मनुष्यों में कुछ शीघ्रतर आते हैं। परन्तु दूसरी श्रेणीगत रोगी में ये क्रियायें कुछ विलम्ब से आती हैं। एक दोषज प्रकृति वाले पुरुष के लक्षण, द्वि दोषज प्रकृतियुक्त पुरुष के लक्षण से कुछ भिन्न हैं। हमने इनके तारतम्य को देखकर शरीर-क्रिया के औसत का विचार करके इनका श्रेणी विभाग किया है। इससे हमें जो अंक मिले, वे बहुत अर्थपूर्ण हैं और प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से मनुष्यों का, प्रकृति विभाग का यथार्थ्य प्रतिपादन होता है।

उपाय व अवलम्बन

(Methods & material)

वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय के सर सुन्दरलाल अस्पताल के शल्य-शालाक्य, प्रसूति और अस्थिविकार विभाग की अन्तरङ्ग शाखा के शस्त्रोपचार प्राप्त रोगियों को शय्यापार्श्विक उपादानों को लेकर यह वर्त्तमान अध्ययन किया था।

आयुर्वेदीय शास्त्रग्रन्थों में उल्लिखित सूत्रों के आधार पर तैयारी एक रोगी-विवरणी में रोगियों का शारीर-क्रिया वेग सम्बन्धी विवरण को लेकर अनुसन्धानान्तर्गत प्रत्येक रोगी की प्रकृति का निरूपण किया गया।

रोगियों का वर्गीकरण

अभिघात का गुरुत्व के अनुसार शस्त्रोपचरित रोगियों को चार वर्ग में विभाजित किया गया।

१—प्रथम वर्ग में उन शस्त्रोपचरित रोगियों को ग्रहण किया गया है जिनको सामान्य अभिघात हुआ था, जैसे अन्त्रवृद्धि (Hernia), अनवनत मुष्क (Undescended tastes), वंक्षणज ग्रन्थिशोथ (Inguinal Lyerphadenitis), ब्रौंकियेल फिश्चुला (bronchial fistula), मूत्रज वृद्धि (Hydrocele) निरुद्ध प्रकश (Phimosis) और क्षुद्रशोथ वा अर्बुद। इन रोगियों में शस्त्रकर्म की गम्भीरता सामान्य थी तथा सिरावेधकृत अन्तः द्रवप्रयोग सीमित था। किसी-किसी रोगी को शस्त्र-कर्मोत्तर द्वितीय वा तृतीय दिवस में किञ्चित् चलने को दिया गया था।

२—द्वितीय वर्गयुक्त रोगियों को मध्यम श्रेणी का अभिघात हुआ था। इन वर्गों में नाभिगत अन्त्रवृद्धि (Umbilical Hernia), स्तनगत शस्त्रोपचार(Mastectomy), मृदु व मूलीभूत लिया गया था। द्रवपूरण रक्त और इलैक्ट्रोलाइट का प्रयोजन इसमें प्रथम वर्ग की अपेक्षा कम था।

३—तृतीय वर्ग में दारुण अभिघात हुआ था—जैसे आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन (gastro-jejunostomy), आंशिक आमाशय-छेदन (Partial gestrectomy), पित्ताशय छेदन (Cholecystectomy), अन्त्रपाशछेद

(Resection of intestinal loop), अन्त्रान्त्र संयोजन (Intestinal anastomosis), अन्त्रपुच्छछेदन (appendicectomy), गर्भाशय छेदन (hyoterectomy), डिम्बकोषग्रन्थि छेदन (ovarion cystectomy), वृक्क छेदन (nephrectomy), वृक्काश्मरी छेदन (pylolithotomy), वस्ति-अर्बुद छेदन (Excision of bladder tumour), भगास्थ्यूर्ध्ववस्ति-अश्मरी-निर्हरण (Suprapubic cystolithotomy) इनमें से प्रत्येक रोगी में द्रवपरिपूरण (fluid replacement) और रक्त-दान (blood-transfusion) किया गया था तथा साधारण निःसंज्ञीकरण के पश्चात् शस्त्रोपचार किया गया था। ये गम्भीरतर उदर गह्वरस्थ शस्त्रोपचार वर्ग के अन्तर्मुक्त है।

४—चतुर्थ वर्ग—इसमें अस्थि-भग्न रोगियों को लिया गया था—जैसे अङ्ग छेदन (amputation) उर्वस्थि का निम्न भाग का दूसरा मनुष्य से स्थानान्तरीकरण (homografting of the lower end of the femur), साइनो भेक्टोमी(Synovectomy), जान्वस्थिकर्त्तन (Patellectomy) धातुओं से अस्थि संयोजन (arthrodesis), अस्थि छेदन (osteotomy), कृत्रिम अस्थि भग्नोत्तर अस्थि पुनः संयोजन (openreduction), अस्थि नलकान्तः स्थिरीकरण (intramedulla fasiation), इन रोगियों को वहुत दिन तक विश्राम देने के कारण तथा शल्यकर्म के पूर्व भी दीर्घ विश्राम होने से अतिरिक्त समस्या-पीड़ित थे। शल्यकर्मजन्य अभिघात भी गम्भीर था।

रोगियों का अध्ययन

एक विशेष रूप में प्रस्तुत रोगी-विवरणपत्र में रोगियों की उन्नति शस्त्रकर्मोत्तर काल में यथाक्रम लिखी जाती थी। रोगियों का नियमानुसार इतिहास लिखा जाता था। जिसमें उनका वयः, लिङ्ग (स्त्री या पुरुष) रोग-स्थिति काल, बहुविध विकृति विज्ञान विषयक परीक्षा तथा रोग-विनिश्चय लिखे जाते थे। रोगी विवरणी पत्र रोगियों के चिकित्सालय में अवस्थानुकूल, साधारणतया ८ दिन तक अथवा कभी-कभी इससे अधिक काल तक किंवा, जब तक सीवन सूत्र न निकाले जाते थे, तब तक लिखे जाते थे। परन्तु अस्थि विषयक रोगियों में ८ दिन तक इतिहास लिपिवद्ध किया गया था। चलच्छक्तिमान् रोगियों का शरीर भार ८ दिन में लिया जाता था—जिससे शस्त्रकर्मोत्तर काल में इनकी भारहानि का पता चले।

सुश्रुतानुसार रोगियों को ५ वयोवर्ग में विभाजित किया गया था—

(१) शिशु—१– १५ वत्सर
(२) युवा—१६–३० ,,
(३) प्राप्तवयस्क—३१–४० ,,
(४) परिहाणि —४१–७० ,,
(५) वृद्ध —७१ से अधिक

व्यवसाय

रोगी का व्यवसाय वा वृत्ति के अनुसार श्रम के गुरुत्व के अनुसार रोगियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया—

(१) आसीन व उपवेशन वहुल—बुनकर, व्यवसायी, चाकरीजीवी, दरजी—जो बैठकर अपने कार्य करते हैं।

(२) कर्मव्यस्त—जो क्रियाशील होकर घर के कार्य करते हैं, जैसे विद्यार्थी।

(३) श्रमिक—जो अपने हाथ से काम करते हैं, जैसे—मजदूर, किसान।

इन तीनों वर्गों के मनुष्यों को तीन प्रधान प्रकृतियों में विभक्त किया गया है।

निःसंज्ञीकरण—पूर्ण संज्ञानाश के पश्चात् जिनको शस्त्रोपचार किया गया था उन सब रोगियों को इस अध्ययन का अन्तर्मुक्त किया गया था।

संज्ञाहरणपूर्व औषधि के एट्रोपिन (atropine) और फेनार्जेन आदि दिये गये थे। संज्ञाहरण युक्त रोगी की अचेतनावस्था काल की अवधि लिपिबद्ध की गयी थी। प्रति रोगी में ईथर का व्यवहृत परिमाण (मि० लि०) और उसका स्थिति काल लिखा जाता था। प्रति व्यक्ति में प्रति मिनट में ईथर का व्यय समय के द्वारा पूरा ईथर परिमाण को भाग करने से मिलता था। वर्ग के हिसाब से व्यय निरूपण करते समय प्रति मिनट का औसत व्यय

लिया गया था तथा फलों की तुलना और अध्ययनार्थ पञ्जीकृत किया गया था।

आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन कृत (gastro-jejunostomy) रोगियों का पृथक् विवेचन किया गया। क्योंकि उनकी संख्या सर्वापेक्षा वृहत् एकक थी। इस वर्ग के फलाफल की भी विविध प्रकृतियों से तुलना की गई थी।

वेदना

वेदना का तीव्रता की दृष्टि से तीन स्तर पर विभाग किया गया था, जैसे तीव्र, मध्यम, मृदु। अगर वेदना-शान्ति के लिये पेथिडिन (Pethidine) वा मोर्फिन (Morphine) देने की आवश्यकता पड़ी, तो इसको तीव्र कहा जाता है। वेदना (नोवल्जिन) जातीय वेदना-स्थापक औषधि से शान्त हो तो उसको मध्यम कहते है। अगर वेदना दूर करने लिये कोई औषधि की आवश्यकता न पड़े अथवा केवल अवस्थान परिवर्त्तन से वेदना कम हो जाय तो मृदु कहा जाता है।

वेदना अंक (Pain-index)—

तीव्र वेदना को ५ नम्बर दिया गया, मध्यम को ३, मृदुवेदना को १ पाइन्ट दिया। ये पाइन्ट आठ दिन तक प्रत्येक रोगी में गिना जाता था।

$$\text{वेदना अंक} = \frac{\text{पूरा योग संख्या}}{\text{दिन की संख्या}}$$

दृष्टान्त—

प्रथम ३ दिन तीव्र + द्वितीय ३ दिन मध्यम + शेष दो दिन मृदु

$$= \frac{५ \times ३ + ३ \times ३ + १ \times २}{८}$$

$$= \frac{१५ + ९ + २}{८} = \frac{१३}{४} = ३.२५$$

इस प्रकार से वेदना-अंक। प्रतिशत औसत प्रत्येक वर्ग व प्रकृति का निकाला गया।

निद्रा—

इसके २ प्रधान वर्ग—(१) औषधिसाधित (Induced) और स्वाभाविक—(विना औषधि) में शस्त्रकर्मोत्तर काल में बांटा गया प्रत्येक वर्ग के तीन स्तर थे—(१) गम्भीर, (२) छिन्न, (३) अनिद्रा।

निर्णय-विधि—

किसी एक रात की गम्भीर निद्रा को ५ पाइन्ट, छिन्न निद्रांक ३ पाइन्ट, अनिद्रा को १ पाइन्ट दिया गया। वर्गानुसार निद्रा-अंक को स्तरक्रम के हिसाब से किया गया।

औषधिकृत व स्वाभाविक निद्रा का इस प्रकार औसत मापा गया।

पिपसा—

अगर रोगी बार-बार अधिक पानी चाहे तो पिपासा तीव्र, सम्भाव्य जलाकांक्षा मृदु, पिपासा के अभाव को अनुपस्थित संज्ञा दी गयी।

पिपासा-अंक पहिले की तरह लिया गया।

$$\text{पिपासा-अंक} = \frac{\text{पूरा पिपासा पाइन्ट}}{\text{दिन संख्या}}$$

पिपासा-अंक का माध्यम, प्रत्येक वर्ग का औसत प्रतिशत, प्रकृति के अनुसार इसका प्रावल्य निरूपण किया गया।

जलादिपान तथा मध्यत्याग परिमाण

इस प्रकरण में तृतीय वर्ग की सिरान्तः जलीय सूची ग्रहण के कारण उदर-गह्वरान्तः शस्त्रक्रिया हेतु लिया गया।

द्रव परिपूरण

शस्त्रोपचार के पश्चात् ४ दिन तक यह अध्ययन किया गया था। एक प्रकृतिविशिष्ट व्यक्तियों का सम्पूर्ण सूचिवेधतः जलपूरण किया गया, द्रवों का योग किया गया था और माध्यम निकाला।

द्रव निष्कासन—

खिंचाव से निष्कासित आमाशयस्थ सम्पूर्ण द्रव और मूत्र परिमाण का योग कर के माध्यम निकाला गया।

क्षुधा—

साधारणतया तृतीय वर्ग के रोगियों को प्रथम चार दिन मुख से कुछ खाने-पीने को नहीं दिया गया था, अथवा जब तक इन का वायु निस्सरण नहीं हुआ था। भोजन की अत्यधिक इच्छा होने से इसको तीव्र, किञ्चित् बुभुक्षा रहे तो "मृदु" और बिल्कुल इच्छा न हो तो क्षुधा का "अभाव" कहा जाता है।

क्षुधा-अंक = क्षुधा-अंक योग / दिन संख्या

एक-एक प्रकृति वाले वर्ग का क्षुधा-अंक माध्यम इस आधार पर तुलना की जाती थी। क्षुधा का स्तर प्रकृति और वर्ग में औसत पर विचार किया गया था।

उपद्रव—तीन भेद

(१) कास और मृदु उरः-कष्ट—कफहेतु
(२) वमन, विवमिषा —पित्तहेतु
(३) आध्मान —वातजन्य

श्वेतरक्त कणिका (W. V. C.) और इयोसिनोफिल (Eosinophils) का माध्यम मूल्य :—

शस्त्रकर्म पूर्व और शस्त्रकर्मोत्तर

उत्ताप:—

शस्त्रकर्म पूर्व और शस्त्रकर्मोत्तर

शरीर-भार :—

द्वितीय वर्ग वातज न होने से और चतुर्थ वर्ग को "प्लैप्टारवद्ध" दीर्घ दिन तक रखने से—इस मद में नहीं रखा गया।

प्रत्येक रोगी का शरीर-भार शस्त्रकर्म के पहले तथा शस्त्रकर्म के पश्चात् आठवें दिन में किलो के हिसाव से लिया गया। सव प्रकृति वाले के भार-ह्रास की गणना की गई।

स्वाभाविक शारीर-क्रिया का पुनरावर्त्तन

इससे अभिघात के वजह की दोष-प्रावल्य का परिमाप होता है।

पूर्ण संज्ञाहरण के बाद रोगी की चेतना पुनः प्राप्ति में समय लिखा गया था। प्रथम वर्ग में पूर्ण संज्ञाहरण और स्थानिक संज्ञा नाश—दोनों रहने से, द्वितीय वर्ग में वातिक रोगी न रहने से, इन दोनों वर्गों को इस मद से पृथक् रखा गया था। तृतीय और चतुर्थ वर्ग में किसी विशिष्ट प्रकृति वाले की चेतना पुनः प्राप्ति का समय घण्टा में योग किया गया और योगसंख्या को उन प्रकृति वाले व वर्ग वाले की संख्या से भाग किया गया था। संज्ञाहरण के पश्चात् पुनः संज्ञाप्राप्ति का समय मध्यम निकाला गया था।

मूत्र-त्याग—

शस्त्रोत्तर काल में प्रथम मूत्र-त्याग अपनी इच्छा व नाड़ीयन्त्र से करने का समय लिखकर प्रत्येक प्रकृति का माध्यम मूल्य निकाला गया है।

वायु-निस्सरण—

शस्त्रकर्म के बाद प्रथम वायु-निस्सरण का समय-माध्यम निकाला गया था।

मलत्याग—

प्रथम मलत्याग समय माध्यम लिया गया।

मुखस्रोत से भोजन कराना—

तृतीय वर्ग का भोजन कराने के समय की विभिन्नता हेतु इस वर्ग की ही गणना इसमें हुई।

प्रथम भोजन का कराना रायेल्स ट्यूब (Rayal's tube) निकालने के उपरान्त अथवा वायु निस्सरण के बाद हुआ था और घंटा में लिपिबद्ध हुआ।

तृतीय वर्ग के तीन प्रकृति वाले में प्रथम मुख से द्रवपान कराने में समय का घंटा माध्यम लिया गया था।

संहत द्रव्य भोजन—पूर्व रीति अनुसार।

चलना-फिरना—द्वितीय व चतुर्थ वर्ग छोड़कर घंटा में लिया गया था।

विलम्बित रोपण—केवल द्वितीय वर्ग लिया गया था। जिन रोगियों में सीवन सूत्र निकालते समय स्राव तथा व्रणधार व्याधिनासा रहने से जीवाणु संक्रमण प्रतिपन्न हुआ था—उन रोगियों को इस वर्ग में लिया गया था। केवल व्रण के धार का यहां विचार किया गया। तीनों प्रकृति वाले में इसका उद्भव का औसत लिया गया था।

दीर्घ दिन आरोग्यशालावास :—

इसका कारण व्रण में जीवाणु संक्रमण व तज्जन्य रोगियों को दीर्घ दिन के लिये आरोग्यशाला में रहना साधारणतया प्राथमिक मिलन (primary union) के रोगियों को दसम शस्त्र कर्मोत्तर दिवस में छुट्टी दी गयी। इसीलिये इस अवधि के (दसवें दिन) बाद

अस्पताल में रहने वाले इस अध्ययन में लिये गये। प्रत्येक रोगी का अस्पताल में अतिरिक्त रहने का दिवस लिखा गया और प्रत्येक प्रकृति वाले के अतिरिक्त रहने के दिवस का औसत प्रतिशत देखा गया।

पर्यवेक्षण और फलाफल
(bbservation & results)

१७४ रोगियों की विभिन्न प्रकृति व वयोवर्गों के साथ अध्ययन किया गया।

रोगी संख्या १७४

प्रकृति

दोषज प्रकृति	रोगी संख्या	औसत प्रतिशत
वातिक	३६	२०·६९
पैत्तिक	६३	३६.२१
कफज	७५	४३.१०

शस्त्र कर्म—वयः दृष्टि से वर्ग

रोगी	वयः क्रमवर्ष	रोगी संख्या	वातिक	पैत्तिक	कफज
शिशु	०–१५	१९	१	३	१५
तरुण वा युवा	१६–३०	६८	११	२२	३५
प्राप्त वयस्क	३१–४०	३३	७	१५	११
परिहाणि	४१–७०	५३	१७	२३	१३
वृद्ध	७१ वातदूर्ध्व	१			१
	जोड़	१७४	३६	६३	७५

सर्वोच्च वयः क्रम—युवा—६८, प्रकृति–कफज–३५

लिङ्ग

प्रकृति	पूर्ण रोगी-संख्या	पुरुष	स्त्री
वातिक	३६	३१	५
पैत्तिक	६३	२८	३५
कफज	७५	४४	३१

स्त्रियों में पैत्तिक सर्वाधिक

व्यवसाय

व्यवसाय	वातिक	पैत्तिक	कफज	कुल	औसत प्रतिशत
आस्यारत	१२	१५	२०	४७	२७·०१
कर्मप्रवण	७	३६	३९	८२	४१·१२
श्रमिक	१७	१२	१६	४५	२५.८७
सर्वाधिक कर्मप्रवण	३६	६३	७५	१७४	

संज्ञाहरण

(G. A.) साधारण संज्ञाहरण से १५३ रोगियों का शस्त्रोपचार किया गया था। प्रत्येक रोगी में ईथार के साथ अन्य संज्ञाहर द्रव्यों का उपयोग किया गया।

	पूर्ण साधारण संग्राहरण रोगी		आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन रोगी (Gastro-Jejunostomycaus)	
प्रकृति	रोगी-संख्या	मि० लि० ईथार	पूर्ण रोगी-संख्या	इथार मि० लि०
वातिक	२९	१·०५	५	१·३०
पैत्तिक	५७	१·१२	६	१·२९
कफज	६७	१·०८	५	१·२७
द्रष्टव्य :—	१५३		१६	

आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन रोगियों में वातिक में प्रति मिनट ईथारव्य सर्वाधिक–१·३० मि० लि० — कफजे सबसे न्यून–१·२७ मि० लि०

वेदना

विभिन्न प्रकृति में वेदना–अंक का औसत मूल्य

वर्ग	वातिक	पैत्तिक	कफज
१ म	२·४२	१·९५	१·५३
२ य	×	१·५०	१·८५
३ य	२·८९	२·३०	२·०६
४ चतुर्थ	२·८७	२·५६	२·०३

वातिक वेदना–अंक सूची सर्वाधिक है

वेदनातारतम्यानुसार वेदना का औसत प्रतिशत

वेदना का न्यूनाधिक्य	वातिक	पैत्तिक	कफज
तीव्र	४६·१६	४४·६०	३९·६८
मध्यम	४०·३३	३२·१५	३३·४१
मृदु	१३·५१	२३·२५	२६·४१
	१००·००	१००·००	१००·००

वातिक प्रकृति वाले की वेदना-अंकसूची सर्वाधिक थी

निद्रा–औषधि साधित

निद्राभेद	प्रकृति	I	II	III	IV
औषधि संधित	वातिक	१३·०	×	१६·२१	२१·००
"	पैत्तिक	३·०	११·३०	१५·३४	९·२१
"	कफज	९·०	१४·००	१३·०८	१०·११

निद्रा–स्वाभाविक

निद्राभेद	प्रकृति	I	II	III	IV
स्वाभाविक	वातिक	३५·४५	×	१५·५८	२३·५०
"	पैत्तिक	४१·००	२८·००	३३·६०	४०·३०
"	कफज	४०·१२	३७·००	३८·३३	३८·२१

दृष्टव्य—वातिकों में औषधिकृत निद्रा-अंक सूची सर्वाधिक, पैत्तिकों में सर्वनिम्न। पैत्तिकों में सर्वाधिक स्वाभाविक निद्रा-अंकसूची I & IV वर्गमें थी।

लिया गया था तथा फलों की तुलना और अध्ययनार्थ पञ्जीकृत किया गया था।

आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन कृत (gastro-jejunostomy) रोगियों का पृथक् विवेचन किया गया। क्योंकि उनकी संख्या सर्वापेक्षा वृहद् एकक थी। इस वर्ग के फलाफल की भी विविध प्रकृतियों से तुलना की गई थी।

वेदना

वेदना का तीव्रता की दृष्टि से तीन स्तर पर विभाग किया गया था, जैसे तीव्र, मध्यम, मृदु। अगर वेदना-शान्ति के लिये पेंथिडिन (Pethidine) वा मोर्फिन (Morphine) देने की आवश्यकता पड़ी, तो इसको तीव्र कहा जाता है। वेदना (नोवल्जिन) जातीय वेदना-स्थापक औषधि से शान्त हो तो उसको मध्यम कहते हैं। अगर वेदना दूर करने लिये कोई औषधि की आवश्यकता न पड़े अथवा केवल अवस्थान परिवर्त्तन से वेदना कम हो जाय तो मृदु कहा जाता है।

वेदना अंक (Pain-index)—

तीव्र वेदना को ५ नम्बर दिया गया, मध्यम को ३, मृदुवेदना को १ पाइन्ट दिया। ये पाइन्ट आठ दिन तक प्रत्येक रोगी में गिना जाता था।

$$\text{वेदना अंक} = \frac{\text{पूरा योग संख्या}}{\text{दिन की संख्या}}$$

दृष्टान्त—

प्रथम ३ दिन तीव्र + द्वितीय ३ दिन मध्यम + शेष दो दिन मृदु

$$= \frac{५ \times ३ + ३ \times ३ + १ \times २}{८}$$

$$= \frac{१५ + ९ + २}{८} = \frac{१३}{४} = ३.२५$$

इस प्रकार से वेदना—अंक। प्रतिशत औसत प्रत्येक वर्ग व प्रकृति का निकाला गया।

निद्रा—

इसके २ प्रधान वर्ग—(१) औषधिसाधित (Induced) और स्वाभाविक—(बिना औषधि) में शस्त्रकर्मोत्तर काल में बांटा गया प्रत्येक वर्ग के तीन स्तर थे—(१) गम्भीर, (२) छिन्न, (३) अनिद्रा।

निर्णय-विधि—

किसी एक रात की गम्भीर निद्रा को ५ पाइन्ट, छिन्न निद्रांक ३ पाइन्ट, अनिद्रा को १ पाइन्ट दिया गया। वर्गानुसार निद्रा-अंक को स्तरक्रम के हिसाब से किया गया।

औषधिकृत व स्वाभाविक निद्रा का इस प्रकार औसत मापा गया।

पिपसा—

अगर रोगी बार-बार अधिक पानी चाहे तो पिपासा तीव्र, सम्भाव्य जलाकांक्षा मृदु, पिपासा के अभाव को अनुपस्थित संज्ञा दी गयी।

पिपासा-अंक पहिले की तरह लिया गया।

$$\text{पिपासा-अंक} = \frac{\text{पूरा पिपासा पाइन्ट}}{\text{दिन संख्या}}$$

पिपासा-अंक का माध्यम, प्रत्येक वर्ग का औसत प्रतिशत, प्रकृति के अनुसार इसका प्राबल्य निरूपण किया गया।

जलादिपान तथा मध्यत्याग परिमाण

इस प्रकरण में तृतीय वर्ग की सिरान्तः जलीय सूची ग्रहण के कारण उदर-गह्वरान्तः शस्त्रक्रिया हेतु लिया गया।

द्रव परिपूरण

शस्त्रोपचार के पश्चात् ४ दिन तक यह अध्ययन किया गया था। एक प्रकृतिविशिष्ट व्यक्तियों का सम्पूर्ण सूचिवेधतः जलपूरण किया गया, द्रवों का योग किया गया था और माध्यम निकाला।

द्रव निष्कासन—

खिचाव से निष्कासित आमाशयस्थ सम्पूर्ण द्रव और मूत्र परिमाण का योग कर के माध्यम निकाला गया।

क्षुधा—

साधारणतया तृतीय वर्ग के रोगियों को प्रथम चार दिन मुख से कुछ खाने-पीने को नहीं दिया गया था, अथवा जब तक इन का वायु निस्सरण नहीं हुआ था। भोजन की अत्यधिक इच्छा होने से इसको तीव्र, किञ्चित् बुभुक्षा रहे तो "मृदु" और बिल्कुल इच्छा न हो तो क्षुधा का "अभाव" कहा जाता है।

क्षुधा-अंक = क्षुधा-अंक योग / दिन संख्या

एक-एक प्रकृति वाले वर्ग का क्षुधा-अंक माध्यम इस आधार पर तुलना की जाती थी। क्षुधा का स्तर प्रकृति और वर्ग में औसत पर विचार किया गया था।

उपद्रव—तीन भेद

(१) कास और मृदु उरः-कष्ट—कफहेतु
(२) वमन, विवमिषा —पित्तहेतु
(३) आध्मान —वातजन्य

श्वेतरक्त कणिका (W. V. C.) और इयोसिनोफिल (Eosinophils) का माध्यम मूल्य :—

शस्त्रकर्म पूर्व और शस्त्रकर्मोत्तर

उत्ताप:—

शस्त्रकर्म पूर्व और शस्त्रकर्मोत्तर

शरीर-भार :—

द्वितीय वर्ग वातज न होने से और चतुर्थ वर्ग को "प्लैष्टारवद्ध" दीर्घ दिन तक रखने से—इस मद में नहीं रखा गया।

प्रत्येक रोगी का शरीर-भार शस्त्रकर्म के पहले तथा शस्त्रकर्म के पश्चात् आठवें दिन में किलो के हिसाब से लिया गया। सब प्रकृति वाले के भार-ह्रास की गणना की गई।

स्वाभाविक शारीर-क्रिया का पुनरावर्त्तन

इससे अभिघात के वजह की दोष-प्रावल्य का परिमाप होता है।

पूर्ण संज्ञाहरण के बाद रोगी की चेतना पुनः प्राप्ति में समय लिखा गया था। प्रथम वर्ग में पूर्ण संज्ञाहरण और स्थानिक संज्ञा नाश—दोनों रहने से, द्वितीय वर्ग में वातिक रोगी न रहने से, इन दोनों वर्गों को इस मद से पृथक् रखा गया था। तृतीय और चतुर्थ वर्ग में किसी विशिष्ट प्रकृति वाले को चेतना पुनः प्राप्ति का समय घण्टा में योग किया गया और योगसंख्या को उन प्रकृति वाले व वर्ग वाले की संख्या से भाग किया गया था। संज्ञाहरण के पश्चात् पुनः संज्ञाप्राप्ति का समय मध्यम निकाला गया था।

मूत्र-त्याग—

शस्त्रोत्तर काल में प्रथम मूत्र-त्याग अपनी इच्छा व नाड़ीयन्त्र से करने का समय लिखकर प्रत्येक प्रकृति का माध्यम मूल्य निकाला गया है।

वायु-निस्सरण—

शस्त्रकर्म के बाद प्रथम वायु-निस्सरण का समय-माध्यम निकाला गया था।

मलत्याग—

प्रथम मलत्याग समय माध्यम लिया गया।

मुखस्रोत से भोजन कराना—

तृतीय वर्ग का भोजन कराने के समय की विभिन्नता हेतु इस वर्ग की ही गणना इसमें हुई।

प्रथम भोजन का कराना रायेल्स ट्यूब (Rayal's tube) निकालने के उपरान्त अथवा वायु निस्सरण के बाद हुआ था और घंटा में लिपिबद्ध हुआ।

तृतीय वर्ग के तीन प्रकृति वाले में प्रथम मुख से द्रवपान कराने में समय का घंटा माध्यम लिया गया था।

संहत द्रव्य भोजन—पूर्व रीति अनुसार।

चलना-फिरना—द्वितीय व चतुर्थ वर्ग छोड़कर घंटा में लिया गया था।

विलम्बित रोपण—केवल द्वितीय वर्ग लिया गया था। जिन रोगियों में सीवन सूत्र निकालते समय स्राव तथा व्रणधार व्याविनाश रहने से जीवाणु संक्रमण प्रतिपन्न हुआ था—उन रोगियों को इस वर्ग में लिया गया था। केवल व्रण के बार का यहां विचार किया गया। तीनों प्रकृति वाले में इसका उद्भव का औसत लिया गया था।

दीर्घ दिन आरोग्यशालावास :—

इसका कारण व्रण में जीवाणु संक्रमण व तज्जन्य रोगियों को दीर्घ दिन के लिये आरोग्यशाला में रहना साधारणतया प्राथमिक मिलन (primary union) के रोगियों को दसम शस्त्र कर्मोत्तर दिवस में छुट्टी दी गयी। इसीलिये इस अवधि के (दसवें दिन) बाद

अस्पताल में रहने वाले इस अध्ययन में लिये गये। प्रत्येक रोगी का अस्पताल में अतिरिक्त रहने का दिवस लिखा गया और प्रत्येक प्रकृति वाले के अतिरिक्त रहने के दिवस का औसत प्रतिशत देखा गया।

पर्यवेक्षण और फलाफल
(bbservation & results)

१७४ रोगियों की विभिन्न प्रकृति व वयोवर्गों के साथ अध्ययन किया गया।

रोगी संख्या १७४

प्रकृति

दोषज प्रकृति	रोगी संख्या	औसत प्रतिशत
वातिक	३६	२०·६६
पैत्तिक	६३	३६.२१
कफज	७५	४३.१०

शस्त्र कर्म—वयः दृष्टि से वर्ग

रोगी	वयः क्रमवर्ष	रोगी संख्या	वातिक	पैत्तिक	कफज
शिशु	०–१५	१६	१	३	१५
तरुण वा युवा	१६–३०	६८	११	२२	३५
प्राप्त वयस्क	३१–४०	३३	७	१५	११
परिहाणि	४१–७०	५३	१७	२३	१३
वृद्ध	७१ वातदूर्ध्वं	१			१
	जोड़	१७४	३६	६३	७५

सर्वोच्च वयः क्रम—युवा—६८, प्रकृति–कफज–३५

लिङ्ग

प्रकृति	पूर्ण रोगी-संख्या	पुरुष	स्त्री
वातिक	३६	३१	५
पैत्तिक	६३	२८	३५
कफज	७५	४४	३१

स्त्रियों में पैत्तिक सर्वाधिक

व्यवसाय

व्यवसाय	वातिक	पैत्तिक	कफज	कुल	औसत प्रतिशत
आस्यारत	१२	१५	२०	४७	२७·०१
कर्मप्रवण	७	३६	३९	८२	४१·१२
श्रमिक	१७	१२	१६	४५	२५.८७
सर्वाधिक कर्मप्रवण	३६	६३	७५	१७४	

संज्ञाहरण

(G. A.) साधारण संज्ञाहरण से १५३ रोगियों का शस्त्रोपचार किया गया था। प्रत्येक रोगी में ईथार के साथ अन्य संज्ञाहर द्रव्यों का उपयोग किया गया।

पूर्ण साधारण संज्ञाहरण रोगी			आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन रोगी (Gastro-Jejunostomycaus)	
प्रकृति	रोगी-संख्या	मि० लि० ईथार	पूर्ण रोगी-संख्या	इथार मि० लि०
वातिक	२६	१·०५	५	१·३०
पैत्तिक	५७	१·१२	६	१·२६
कफज	६७	१·०८	५	१·२७
द्रष्टव्य :—	१५३		१६	

आमाशय-क्षुद्रान्त्र संयोजन रोगियों में वातिक में प्रति मिनट
ईथारव्य सर्वाधिक–१·३० मि० लि० — कफजे सबसे न्यून–१·२७ मि० लि०

वेदना

विभिन्न प्रकृति में वेदना-अंक का औसत मूल्य

वर्ग	वातिक	पैत्तिक	कफज
१ म	२·४२	१·६५	१·५३
२ य	×	१·५०	१·८५
३ य	२·८६	२·३०	२·०६
४ चतुर्थ	२·८७	२·५६	२·०३

वातिक वेदना-अंक सूची सर्वाधिक है

वेदनातारतम्यानुसार वेदना का औसत प्रतिशत

वेदना का न्यूनाधिक्य	वातिक	पैत्तिक	कफज
तीव्र	४६·१६	४४·६०	३९·६८
मध्यम	४०·३३	३२·१५	३३·४१
मृदु	१३·५१	२३·२५	२६·४१
	१००·००	१००·००	१००·००

वातिक प्रकृति वाले की वेदना-अंकसूची सर्वाधिक थी

निद्रा—औषधि साधित

निद्राभेद	प्रकृति	I	II	III	IV
औषधि संघित	वातिक	१३·०	×	१६·२१	२१·००
"	पैत्तिक	३·०	११·३०	१५·३४	९·२१
"	कफज	९·०	१४·००	१३·०८	१०·११

निद्रा—स्वाभाविक

निद्राभेद	प्रकृति	I	II	III	IV
स्वाभाविक	वातिक	३५·४५	×	१५·५८	२३·५०
"	पैत्तिक	४१·००	२८·००	३३·६०	४०·३०
"	कफज	४०·१२	३७·००	३८·३३	३८·२१

द्रष्टव्य—वातिकों में औपधिकृत निद्रा-अंक सूची सर्वाधिक, पैत्तिकों में सर्वनिम्न। पैत्तिकों में सर्वाधिक स्वाभाविक निद्रा-अंकसूची I & IV वर्गों में थी।

निद्रा-अंक—औषधि प्रतिशत

औषधि-साधित

निद्राभेद	प्रकृति	गम्भीर	छिन्न	अनिद्रा	
औषधिसाधित	वातिक	६५.४६	२९.५८	४.६३	१००.००
,,	पैत्तिक	५५.४६	४०.९१	३.६३	१००.००
,,	कफज	६०.३३	३३.४६	६.२१	१००.००

स्वाभाविकी

निद्राभेद	प्रकृति	गम्भीर	छिन्न	अनिद्रा	
स्वाभाविकी	वातिक	४९.६६	४४.९७	५.३७	१००.००
,,	पैत्तिक	७०.७६	२६.९८	२.२६	१००.००
,,	कफज	७९.०१	१६.७१	४.२८	१००.००

द्रष्टव्य—"औपधि-साधित गम्भीर निद्रा" औसत प्रतिशत वातिक रोगियों में सर्वाधिक जैसे ६५.४६%; सर्व निम्न पैत्तिक में रहा जैसे—५५.५६%

स्वाभाविक निद्रा गम्भीर औसत प्रतिशत सर्वाधिक रहा। कफज प्रकृति में जैसे ७९.०१%; सर्व निम्न रहा वातिक में। विच्छिन्न निद्रा सर्वाधिक रहा वातिक में। सर्व निम्न कफज में रहा।

पिपासा

विभिन्न वर्गों में पिपासा-अंक माध्यम

वर्ग	वातिक	पैत्तिक	कफज
१	४.२३	४.४१	४.२५
२	×	४.३०	३.८०
३	३.५२	४.१३	३.९५
४	४.००	४.९४	४.८६

पिपासा-अंक पैत्तिक में सर्वाधिक, कफज में सर्व निम्न रहा।

पिपासा-न्यूनाधिक्य का औसत प्रतिशत विचार

प्रकृति	गम्भीर	मृदु	अभाव	पूर्ण
वातिक	६८.०१	२८.५५	३.४४	१००.००
पैत्तिक	८४.०८	१३.८३	२.०९	१००.००
कफज	७६.७०	१९.८५	३.५५	०.००

तीव्र पिपासा पैत्तिक में सर्वाधिक—८४.०८, वातिक में सर्व निम्न थी—६८.०१

द्रव-परिपूरण (intake) और द्रव निष्कासन (output)

केवल ३ नम्बर वर्ग में शस्त्रकर्मोत्तर द्रवपरिपूरण तथा द्रव निष्कासन के प्रथम ४ दिन का औसत-मूल्य मिलि लिटर में दिया गया।

प्रकृति	द्रव परिपूरण (intake)	द्रव निष्कासन (output)
वातिक	६८३१·०४	३२७६·६५
पैत्तिक	६६८६·१४	२७३८·२६
कफज	६१७६·०२	३०१२·३२

सर्वाधिक द्रव परिपूरण पैत्तिक प्रकृति वाले में, सर्व निम्न कफज में हुआ।
सर्वाधिक द्रवनिष्कासन वातिक में सर्व निम्न पैत्तिक में हुआ।

क्षुधा

क्षुधा-अंक सूचक

वर्ग	वातिक	पैत्तिक	कफज
१	३·३६	३·३६	३·७४
२	×	२·७४	२·७२
३	२·०६	२·५६	२·७८
४	२·६०	३·५७	४·५१

क्षुधा-अंक मूल्य कफज अधिकतम है।

क्षुधा का तारतम्यानुसार औसत प्रतिशत

प्रकृति	उत्तम	मृदु	सर्वथा अभाव
वातिक	४०.५३	५०·६२	८·८५
पैत्तिक	६०·६०	३१·६६	७·११
कफज	६८·६३	२६·०२	५·३५

उत्तम क्षुधा-अंक कफज प्रकृति में सर्वाधिकतम मिला (६८·६३%)
वातिक में यह सर्वापेक्षा कम था (४०·५३%)।

उपद्रव

शस्त्रकर्मोत्तरकाल में विभिन्न प्रकृति वाले रोगी में उपद्रव का औसत प्रतिशत

प्रकृति	वमि व विवमिषा	कास	आध्मान
वातिक	२२·२०	३३·३०	५२·७१
पैत्तिक	३०·५१	३६·६१	२८·५१·
कफज	२०·००	४५·३३	२१·३१

कास अधिकतया कफज प्रकृति वाले रोगी में, वमि, विवमिषा पित्तज प्रकृति में और आध्मान वातिक प्रकृति विशिष्ट रोगी में अधिकतर हुआ था।

शरीर-भार हानि

प्रकृति	भार-हानि का औसत किलोग्राम से	कुल रोगी-संख्या
वातिक	२·३३	३४
पैत्तिक	२·५०	५४
कफज	२·२३	५६,

अधिकतम भार-हानि पैत्तिक प्रकृति विशिष्ट रोगी में हुई।
न्यूनतम हानि कफज में हुई।

श्वेत रक्त कणिका—संख्या

कुल श्वेत कणिका हानि का औसत-मूल्य प्रति क्यु० मि० लि०

प्रकृति	शस्त्रकर्मपूर्व	शस्त्रकर्मोत्तर	अन्तर
वातिक	७८४२·४८	५१२७·४५	—२७१५·०३
पैत्तिक	७३२९·०६	८२२३·९६	+ ८९४·९०
कफज	७५३०·२१	८७७२·३१	+१२४२·१०

शस्त्रकर्म के पूर्व सब प्रकृति विशिष्ट रोगी में श्वेतरक्त कणिका प्रति मि० लि० प्रायशः एक प्रकार थे। पैत्तिक और कफज में प्रायः १०००/ क्यु० मि० की वृद्धि हुई। परन्तु वातिक में प्रभूत हानि अर्थात् २५००/ क्यु० मि० लि० से अधिक हानि मिली।

इयोसिनोफिल (eosinophils %)

शस्त्रकर्म पूर्व व शस्त्र कर्मोत्तर चतुर्थ दिवस का इयोसिनो% औसत

प्रकृति	शस्त्रकर्म पूर्व	शस्त्रकर्मोत्तर	अन्तर
वातिक	७·१०	३·६०	—३·५०
पैत्तिक	९·९९	४·६२	—५·३७
कफज	९·५५	५·४०	—४·१५

द्रष्टव्य—इयोसिनो % पैत्तिक में शस्त्रकर्म के पहले सर्वाधिक, वातिक सर्व निम्न था। शस्त्रक्रिया के उपरान्त सब प्रकृति वाले में यह घट गया। पैत्तिक में सबसे अधिक, वातिक में सब से कम घटा।

उत्ताप

शस्त्रकर्म पूर्व व पश्चात् उत्ताप का औसत मूल्य

प्रकृति	शस्त्रकर्म पूर्व	शस्त्रकर्मोत्तर	अन्तर
वातिक	९८·१९	९८·५१	+०·३२
पैत्तिक	९८·२०	९८·९४	+०·७४
कफज	९८·२१	९८·५९	+०·३८

पैत्तिक प्रकृति वाले में सबसे अधिक उत्ताप वृद्धि हुई।

शारीरिक क्रियाओं का पुनः प्रत्यावर्त्तन

संज्ञानाश से पुनः संज्ञालाभ—३ व ४ वर्गों में

प्रकृति	कुल रोगी संख्या	पुनः संज्ञालाभ का समय घण्टा में
वातिक	२३	२·६९
पैत्तिक	५२	३·२९
कफज	५१	३·५७

वातिक में संज्ञालाभ शीघ्रतम कफज में अधिकतम विलम्ब से

शस्त्रकर्मोत्तर काल में प्रथम मूत्रत्याग (२ नम्बर वर्ग छोड़कर)

मूत्र त्याग में शस्त्रकर्म के बाद घण्टों का औसत मूल्य

प्रकृति	कुल रोगी संख्या	घण्टा का औसत मूल्य
वातिक	३६	१३·४२
पैत्तिक	५८	११·४७
कफज	७०	९·५४

कफज में सर्वापेक्षा शीघ्र मूत्रत्याग हुआ, वातिक में सबसे विलम्ब से।

शस्त्रकर्मोत्तर प्रथम वायु निस्सारण (२ नम्बर वर्ग छोड़कर)

प्रकृति	कुल रोगी संख्या	घण्टा का औसत मूल्य
वातिक	३६	४१·१५
पैत्तिक	५८	३५·०१
कफज	७०	३५·४०

पैत्तिक में सर्वाग्रे वायु-निस्सरण हुआ, वातिक में सबसे पीछे हुआ।

शस्त्रकर्मोत्तर प्रथम मल-त्याग (२ नम्बर वर्ग छोड़कर)

प्रकृति	कुल रोगी संख्या	शस्त्रकर्मोत्तर घण्टा औसत
वातिक	३६	९८·८७
पैत्तिक	५८	९०·१३
कफज	७०	६९·३१

मल-त्याग कफज में सर्वाग्रे, वातिक में सब के पीछे।

प्रथम मुख से भोजन (३ नम्बर वर्ग)

प्रकृति	कुल रोगी संख्या	शस्त्र कर्मोत्तर घण्टा औसत
वातिक	२१	६७·६०
पैत्तिक	४७	७१·२७
कफज	३७	६६·२१

कफज प्रकृति में सर्वाग्रे, पैत्तिक मे सबसे देर में।

प्रथम ठोस (सहंत) भोजन (३ नम्बर वर्ग केवल)

प्रकृति	कुल रोगी संख्या	घण्टा औसत
वातिक	२१	१३४·७१
पैत्तिक	४७	१२५·५०
कफज	३७	१२१·८६

कफज में सर्वाग्रे भोजन दिया गया, वातिक में सब से देर में।

सञ्चरण (चलना-फिरना)

कफज प्रकृति में सर्वाग्रे, पैत्तिक में सब से देर में

वर्ग	वातिक		पैत्तिक		कफज	
	कुल रोगी	घण्टा औसत	कुल रोगी	घण्टा औसत	कुल रोगी	घण्टा औसत
१ नं०	१३	६३·९२	६	७७·५	१९	५३·०
२ नं०	२१	११४·४७	४७	११४·७८	३७	१०१·८६

विलम्बित व्रणरोपण और सीवन विद्रधि (stitchabscess)
(३ नम्बर वर्ग)

प्रकृति	कुल रोगी	विलम्बित व्रणरोपण	औसत प्रतिशत
वातिक	२१	२	९·५२
पैत्तिक	४८	९	१८·७५
कफज	३७	२	५·४३

विलम्बित अस्पताल में अवस्थान का औसत
(३ नम्बर वर्ग)

प्रकृति	कुल रोगी	दिन का औसत
वातिक	२१	४·०
पैत्तिक	४८	८·५
कफज	३७	४·१५

पैत्तिक प्रकृति वाला रोगी अधिकतम दिन में अस्पताल में ही रहे।

सिद्धान्त

(१) शस्त्र कर्मोत्तर काल में रोगियों की शारीरिक प्रतिक्रिया उनकी विशिष्ट प्रकृति के साथ तुलना की जा सकती है।

(२) पैत्तिक प्रकृति वाले रोगियों में सर्वापेक्षा अधिक पिपासा, अधिमतम द्रव परिपूरण आवश्यकता तथा उत्तापाधिक्य मिले। इनमें चिकित्सा इन विषय के आधार पर करनी चाहिये।

(३) कफ प्रकृति वाले रोगी को गम्भीर निद्रा, कम पिपासा, न्यूनतर द्रव ग्रहणावश्यकता, अधिकतर क्षुधा, अधिक वेदनासंहता, न्यूनतर शारीरभार ह्रास, सुष्ठुतर रोपण, शीघ्रतर काल में सञ्चरण के कारण इनको बैठे रहने देना तथा द्रवग्रहण—अधिक आवश्यक नहीं है।

(४) कफ प्रकृति वाले को कास प्रायशः होता है। इसी लिये इनमें द्रवपरिपूरण न्यूनतम होना चाहिये।

(५) वातिक प्रकृति वाले चञ्चल मति होते हैं। इनको वेदनानाशक और संज्ञानाशक औषधियों की आवश्यकता अधिक होती है। इनकी क्षुधा कम होती है, आध्मान अधिक होता है। निःसंज्ञ अवस्था से शीघ्रतर चेतना पाते हैं। वायु, मूत्र, मल-त्याग अधिक देर में होता है। इसी लिये जब कष्ट तीव्र होता है तब औषधि देना चाहिये, पहले नहीं।

(६) वातिक प्रकृति रोगी में गुरु भोजन वर्जनीय है। कफज में श्वास का व्यायाम उचित है। पैत्तिक प्रकृति-विशिष्ट रोगी में उष्ण ऋतु तथा शरद ऋतु में शस्त्रोपचार तथा वातिक प्रकृति में वर्षा ऋतु में शस्त्रोपचार परिहार उचित है।

(७) विचार से इस प्रकार बहुत विधिनिषेध उद्भावन सम्भव हैं।

शस्त्रकर्माष्टविधम्

शल्य विद्याविनोद प्रोफेसर डा० प्रभु जनार्दन देशपाण्डेय ए. एम. एम. एस.
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष शल्य-शालाक्य, चिकित्सा विज्ञान संस्थान-वाराणसी

भगवान् धन्वन्तरि अपने परम शिष्य सुश्रुत को व्याख्यान करते हुए कहते हैं :—

अस्मिन् शास्त्रे—इस शल्यतन्त्र विषयक शास्त्र में;

शस्त्रकर्मप्राधान्यात्—शस्त्रकर्म की प्रधानता (importance) के कारण;

शस्त्रकर्म एव—शस्त्रकर्म का (Surgical opration) ही;

तावत्—तव;

पूर्व उपदेक्ष्यामः—सवसे पहले हम उपदेश करेंगे;

तच्च शस्त्रकर्म अष्टविधम्—और वह शस्त्रकर्म आठ प्रकार का होता है।

तद्यथा—वह इस प्रकार है :—

१. छेद्यम्—छेदन (Excision) शरीर से किसी भाग को काट कर अलग करना;

२. भेद्यम्—भेदन (Incision) चीरना;

३. लेख्यम्—लेखन (Scraping) खुरचना;

४. वेध्यम्—वेधन (Puncturing) किसी नुकीली वस्तु से छेद करना;

५. एष्यम्—एषण (Probing) शलाका डालकर अन्वेषण करना;

६. आहार्यम्—आहरण (Extraction) वाहर खींचकर निकालना;

७. विस्राव्यम्—विस्रावण (Draining) पूय आदि को वाहर निकालना;

८. सीव्यम्—सीवन (Suturing) टांके लगाना;

इति—इतना;

कुछ शास्त्रकारों ने इस आठ की संख्या को कम वेश भी माना है। चरक संहिता में यह संख्या ६ मानी गई है :—

पाटनं व्यधनञ्चैव छेदनं लेखनं तथा।
प्रोञ्छनं सीवनञ्चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥

इस षड् शस्त्रकर्मों में एषण और आहरण का उल्लेख चरक शस्त्रकर्म में नहीं करता है। डल्हणाचार्य ने भी इसका इङ्गित स्वीकार किया है।

एषणाहरणे केचिन्न मन्यन्ते तथापि छित्वा भित्वाऽपि एषण—आहरणे क्रियेते, अतोऽत्र शस्त्रकर्मणि निर्दिष्टे। अर्थात् एषण-आहरण इन दो को शस्त्रकर्म में कुछ विद्वान् नहीं मानते तो भी छेदन, भेदन के वाद शलाका या प्रोव का प्रयोग करना पड़ता है तथा खींचकर भी दुष्टि को वाहर करना पड़ता है इस लिये यहां इन दोनों को शस्त्रकर्म में ही उल्लेख किया जा रहा है। सुप्रसिद्ध टीकाकार डाक्टर घाणेकर इन दोनों को यन्त्रकर्म मानते हुए भी इनका शस्त्रकर्म के अन्तर्गत गिनना स्वीकार करते हैं।

वाग्भट ने अष्टविध शस्त्रकर्म को न मानकर ५ नये और जोड़े हैं —

उत्पाट्य पाट्य सीव्यैष्यलेख्यप्रच्छनकुट्टनम्।
छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः ॥
—अ० हृ० सू० स्था० अ० २९ श्लो० २८।

इसमें उत्पाटन (Extraction), कुट्टन (Pricking), मन्थन (Drilling), ग्रहण (Catching) और दहन

(Cauterization) को और गिनाया है। इस प्रकार १३ शस्त्रकर्म कहे हैं।

अष्टांगसंग्रह में शस्त्रों की २६ संख्या गिनाई गई है तथा उन शस्त्रों का किस-किस कर्म में उपयोग होता है वे १२ कर्म बतलाये हैं :—

१. तत्र द्वयं आद्यं "लेखने"
२. वृद्धिपत्रादि त्रीणि "पाटने"
३. चत्वारि "भेदने"
४. मण्डलाग्रादीन्यष्टौ "छेदने"
५. कुशपत्रादीनि पञ्च "प्रच्छाने"
६. कुठारिकादीनि षट् "व्यधने"
८. सूच्यः "सीवने"
८. सूचीकूर्चः "कुट्टने"
९. खजो "मथने"
१०. "एषण्येषणे"
११. वडिशो "ग्रहणे"
१२. नखशस्त्रं "उद्धरणे"

जिसे संग्रहकार ने उद्धरण कहा है वही हृदयकार उत्पाटन बतलाते हैं। शस्त्रकर्म के प्रकार एवं विविध संहिताओं में उनकी संख्या को सरलता की दृष्टि से एक स्थान पर सारिणी में नीचे दिया जा रहा है :—

शल्यकर्म के प्रकार एवं संहिताओं में उनकी संख्या

संख्या	सुश्रुत (८)	चरक (६)	वाग्भट (११)
१	छेदन	पाटन	वेदन
२	भेदन	व्यधन	भेदन
३	लेखन	छेदन	लेखन
४	एषण	लेखन	एषण
५	आहरण	प्रोञ्छन	आहरण
६	वेधन	सीवन	वेधन
७	विस्रावण		विस्रावण
८	सींवन		सीवन
९			उत्पाटन
१०			कुट्टन
११			मन्थन
			ग्रहण
			दहन

भगवान् धन्वन्तरि ने जिन अष्टविध शस्त्रकर्मों का ऊपर उल्लेख किया है वे कर्म कहां-कहां या किस रोग में प्रयुक्त होते हैं इस पर उन्होंने जो व्याख्यान दिया है उसे सुश्रुत ने सूत्रस्त्रान के पच्चीसवें अध्याय में वतलाया है।

१—छेदन कर्म और छेद्य रोग सूची

छेदन को अंगरेजी में एक्सीजन (काटकर निकाल देना)* कहते हैं। कौन रोगों में छेदन कर्म करना चाहिए इसकी सूची इस प्रकार है—

छेद्यः भगन्दरा ग्रन्थिः श्लैष्मिकः तिलकालकः।
व्रणवर्त्मार्बुदान्यर्शश्चर्मकीलोऽस्थिमांसगम् ॥
शल्यं जतुमणिर्मांससंघातो गलशुण्डिका।
स्नायुमांससिराकोथो वल्मीकं शतपोनकः ॥
अध्रुषश्चोपदंशाश्च मांसकन्दचधिमांसकः।

अर्थात् भगन्दर (फिश्चुला), कफज ग्रन्थि (सिस्ट), तिलकालक (त्वचा पर बिना उभरा तिल), व्रणवर्त्म नाड़ी व्रण या सायनस), सब प्रकार के अर्बुद (ट्यूमर्स) अर्श, चर्मकील (वार्ट या कण्डाइलोमा), अस्थिगतशल्य, मांसगतशल्य, जतुमणी (सहज तिल), मांससंघात (एडी नोमा आफ दि पैलेट—तालु का ग्रन्थ्यर्बुद), गलशुण्डिका (इलोंगेटेड यूवूला), स्नायुकोथ, मांसकोथ, सिराकोथ (गेंग्रीन), वल्मीक (एक्टीनो मायकोसिस), शतपोनक (शूकदोष), अध्रुष (तालुपाक), उपदंश, मांसकन्दी तथा अभिमांस (अक्कल दाढ़) ये छेद्य रोग हैं।

इन छेद्य रोगों की उपर्युक्त सूची देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन अधिकांश रोगों को आजकल छेदनीय माना जाता है उन सभी का समावेश सुश्रुतसंहिता में किया गया है। मेलेनोमा का छेदन कर्म नीचे फार्कुहार्सन की आपरेटिव सर्जरी से दिया जा रहा है।—

२—भेदन कर्म और भेद्य रोगसूची

भेदन अर्थात् इन्सीजन● चाकू से काटना। भेदन रोगों की सूची इस प्रकार है—

भेद्या विद्रधयोऽन्यत्र सर्वजाद्ग्रन्थयस्त्रयः ॥
आदितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः।
प्रमेहपिडकाशोमस्तनरोगावमन्थकाः ॥

---

* Excision—An act of cutting away or taking out.

● Incision—A cut with a knife for the purpose of reaching upto the root of the sepsis just to cleanse it,

कुम्भीकानुशयीनाड्यो वृन्दी पुष्करिकालजी ।
प्रायशः क्षुद्ररोगाश्च पुप्पुटी तालुदन्तजौ ॥
तुण्डिकेरी गिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाकिणः ।
वस्तिस्तथाश्मरी हेतोर्मेदोजा ये च केचन ॥

जिन रोगों में भेदन नामक शस्त्रकर्म किया जाता है वे हैं—सान्निपातिक विद्रधि को छोड़ कर शेष सभी प्रकार की विद्रधियां (abscesses), वातज ग्रन्थि, पित्तजग्रन्थि, कफज ग्रन्थि, वातज विसर्प, पित्तज विसर्प, कफज विसर्प, वृद्धि रोग (हाइड्रोसील-हर्निया), विदारिका (कक्षा-वंक्षणस्थ लसीका ग्रन्थियों का शोथ), प्रमेहपिडका (कारवंकिल), व्रणशोफ, स्तनविद्रधि, अवमन्थक (शूकदोष), कुम्भीक (शूकदोष), अनुशयी (क्षुद्ररोग), नाड़ीव्रण, वृन्द, एकवृन्द (दोनों कण्ठ रोग), पुष्करिका, अलजी (शूकरोग), प्रायः सभी क्षुद्ररोग, तालु पुप्पुट, दन्त पुप्पुट, तुण्डिकेरी (टॉन्सिल वृद्धि), गिलायु (गलरोग), अन्य पकने वाले मुखरोग, अश्मरी यदि वस्ति में उपस्थित हो तो उसका भी भेदन करना चाहिए अन्यथा वस्ति का भेदन नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त कई अन्य मेदोज रोग भी वतलाये हैं। त्वचा के भेदन की एक विधि नीचे दी जा रही है जिसमें आर्टरी फार्सेप्सों से बाह्यत्वचा की वाहिनियों का रक्तस्राव भी रोका गया दिखलाया गया है।
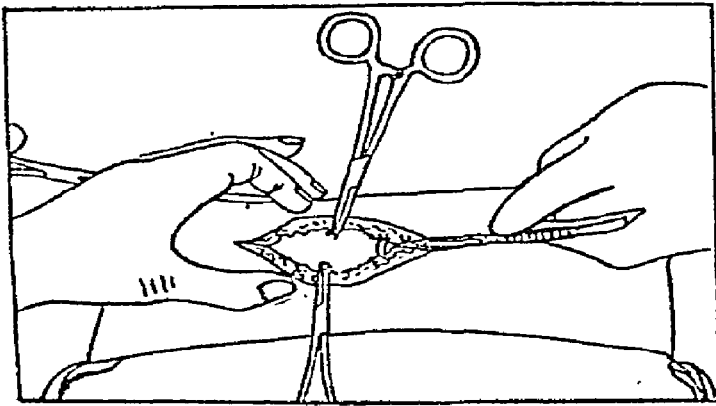
३—लेखन कर्म और लेख्य रोग सूची

लेखन का अर्थ है खुरचना या खुरच-खुरच कर निकालना। यह शस्त्रकर्म सुश्रुत संहिता में निम्नांकित रोगों में करने का विधान है—

लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः किलासं उपजिह्विका ।
मेदोजो दन्तवैदर्भो ग्रन्थिवर्त्माधिजिह्विका ॥
अर्शांसि मण्डलं मांसकन्दी मांसोन्नतिस्तथा ॥

चारों प्रकार की (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज) रोहिणियां, श्वेतकुष्ठ, उपजिह्विका (रैन्युला), मेदोज रोग, दन्तवैदर्भ (दांतोंकी जड़ों में सूजन तथा मलवद्धता) ग्रन्थिवर्त्म (ट्रैकोमा या रोहू), अधिजिह्विका (इपीग्लाटाइटिस), अर्श (कण्डाइलोमा), मण्डलकुष्ठ (दाद), मांसकन्दी (छोटे-छोटे मांसांकुर या वार्ट), मांसोन्नति (मांस का वढ़ जाना)।

४—वेधन कर्म और वेध्यरोग सूची

वेधन करना अर्थात् सुई या नोकदार शस्त्र डालकर वन्द तरल को वाहर निकालना। यह वहीं किया जाता है जहां कोई तरल पदार्थ इकट्ठा हो।

वेध्याः शिरा वहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम् ।

सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण वहुत प्रसिद्ध कर्म है। मूत्रवृद्धि या हाइड्रोसील तथा जलोदर (एसायटीज) इन दोनों में वृषणों और उदर की कला में जल संचित हो जाता है। रक्तनिकालने या इस जल को निकालने के लिए वेधनकर्म करना होता है।

५—एषणकर्म तथा एष्य रोग

एक वार किसी अंग या शरीरावयव पर छेदन, भेदन कर दिया जाने के वाद वहां का सारा पूय या दुष्ट पदार्थ निकालने के लिए पोली या ठोस प्रोव (शलाका) डालकर रास्ता वनाना पड़ता है। इस रास्ते को वन्द होने से वचाने के लिए उसमें पतले कपड़े (गॉज) की पट्टी डालनी पड़ती है या ट्यूव लगानी पड़ती है। यह सव एषणकर्म है। लोहादि शलाकया अन्तरन्वेषणं एषणम्।

एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मर्गिणश्च ये ।

सुश्रुतसंहिता में एषणकर्म नाड़ी व्रणों (सायनसों), शल्ययुक्त व्रणों, और तिर्यक्गति या मार्ग वाले व्रणों के लिये प्रयुक्त होता है।

६—आहरणकर्म तथा आहार्य रोग

आहरण का अर्थ है खींचकर निकालना (Traction)[1] जैसे कान का मैल तव तक कान में ही वना रहेगा जव तक उसे कान कुरेदनी शलाका जिसके एक सिरे पर चम्मच जैसी रचना होती है कान में धीरे से डालकर

[1] Traction Process of dragging or pulling.

निकाला न जावे। आहरण को आकर्षण डल्हण ने बतलाया है जो खींचने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

आहार्य रोगों के बारे में सुश्रुत ने निम्नांकित सूची दी है:—

आहार्याः शर्करास्तिस्रो दन्तकर्णमलोश्मरी।
शल्यानि मूढगर्भश्च वर्च्चश्च निचितं गुदे॥

तीन प्रकार की शर्कराएं—मूत्रशर्करा, पादशर्करा, दन्तशर्करा, दांत का मल, कान का मल; अश्मरी, सब प्रकार के शल्य, मूढगर्भ तथा गुद में संचित कड़ा मल ये सभी आहरण कर्म द्वारा ही निकाले जाते हैं।

७—विस्रावणकर्म तथा स्राव्य रोग

विस्रावण या स्रावण का अर्थ है वहाकर निकाल देना जैसे चुंगी की नालियों में पानी। इसे ड्रेनिंग (Draining)[२] कहते हैं। कौन-कौन रोग स्राव्य या विस्राव्य हैं इसे इन शब्दों में सुश्रुत ने लिखा है:—

स्राव्या विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजादृते।
कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः॥
पाल्यामयाः श्लीपदानि विषजुष्टञ्च शोणितम्।
अर्वुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादि तस्तु ये॥
त्रयस्त्रयश्चोपदंशाः स्तनरोगाः विदारिका।
शौषिरो गलशालूकं कण्टकाः कृमिदन्तकः॥
दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुप्पुटः।
पित्तासृक्कफजाश्चौष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयशः॥

इस सूची में वे सभी शल्य शालाक्यजन्य परिस्थितियां आगई हैं जिनमें पूय, लसी, तरल, रक्त आदि का संचय किसी अंग या शरीरावयव में हो जाता है। यही नहीं, वायु का जमाव भी स्राव्य रोग के अन्तर्गत दिया है। इनकी सूची यह है:—

सन्निपातज विद्रधि को छोड़ शेष पांचों प्रकार की विद्रधियां—वातज, पित्तज, कफज, क्षतज, तथा रक्तज स्राव्य हैं। सन्निपातज असाध्य[३] होने से स्राव्य नहीं है। कुष्ठ (जिसमें तरल संचित हो), दर्द के साथ वायु का संचय (जैसे आध्मान के अतिशय होने पर), एक देशज शोफ, कर्णपाली के रोग, श्लीपद, विषजुष्ट रक्त (ल्यूकीमिया का रक्त), अर्वुद, विसर्प, ग्रन्थियां (सिस्ट)[४] जो वात, पित्त, कफ, इन तीनों में से किसी भी दोष के कारण उत्पन्न हो, तीनों प्रकार के (वातज, पित्तज, कफज) उपदंश, स्तन विद्रधि, विदारिका (बगल या जांघ की लसीका ग्रन्थि का पाक), शौषिर (जिजीवाइटिस), कण्ठशालूक (टॉन्सिलाइटिस), कण्टक (पद्मिनी कण्टक या पाद कण्टक), कृमिदन्त (डेंटल केयरीज), दन्त वेष्ट (पायोरिया ऐल्वियोलैरिस), उपकुश (पायोरिया का ही एक प्रकार), शीताद (स्पंजी गम्स), दन्तपुप्पुट (गमवॉइल), कफज ओष्ठ रोग, पित्तज ओष्ठरोग, रक्तज ओष्ठरोग (एपिथेलियोमा आफ दि लिप) तथा अनेक क्षुद्र रोग।

८—सीवनकर्म तथा सीव्यरोग

सीवन अर्थात् सीना स्यूचर करना यह भी शस्त्र द्वारा किया जाने वाला कर्म है जिसकी आवश्यकता उन सभी शस्त्रकर्मों में की जाती है जहां कटे या काटे हुए भाग को सीना पड़ता है। इनकी सूची जो सुश्रुत संहिता में दी है वह इस प्रकार है:—

सीव्या मेदसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः।
सद्यो व्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः॥

इसीको अष्टांग हृदयकार ने और भी विशद रूप में बतलाया है—

सद्यः सद्योव्रणान् सीव्येद् विवृतान् अभिघातजान्।
मेदोजान् लिखितान् ग्रन्थीन् ह्रस्वाः पालिश्च कर्णयोः॥
शिरोऽक्षिकूटनासौष्ठगण्डकर्णोरुबाहुषु।
ग्रीवाललाटमुष्कस्फिङ् मेढ्रपायूदरादिषु॥
गंभीरेषु प्रदेशेषु मांसलेषु अचलेषु च।

अष्टांग संग्रहकार ने सीवनयोग्यव्रण नीचे लिखे हुए बतलाये हैं:—

---

२ Draining-To draw off a fluide or gas.

३ उक्ता विद्रधयो ह्येते तेषु असाध्यस्तु सर्वजः

४ By a cyst is usually meant a more or less rounded cavity, with a distinct lining membrane distended with fluid or semisolid material.

सीव्यास्तु मेदःसमुत्था भिन्नलिखिताः कफग्रन्थि रल्प-पालीकः कर्णः सद्योव्रणाश्च । शिरोललाटाक्षिकूट कर्णनासागंडौष्ठकृकारिकावाहूदरस्फिक्पायुप्रजननमुष्कादिषु अचलेषु मांसवत्सु च प्रदेशेषु ।

अं० सं० सू० स्था० अ० ३८

सीवनकर्म की सूची में मेदोभव रोग (मेदोवृद्धि तथा मेदोग्रन्थि) जिनका भेदन और लेखन ठीक-ठीक किया जा चुका हो, सद्योव्रण, चलसन्धिव्यपाश्रित व्रण, कफज ग्रन्थि, छोटी कर्णपाली को जोड़ने के लिये । शिर, ललाट, अक्षिकूट, कर्ण, नासा, गण्ड, ओष्ठ, कृकाटिका, वाहु, उदर, स्फिक्, पायु, प्रजनन (शिश्न); मुष्क आदि के सद्योव्रण, अचल गम्भीर एवं मांसलभागों के सद्योव्रणों का भी सीवन किया जाता है ।

सीवनकर्म (*Ligaturing* या *Suturing*)

यत्र सीव्यो व्रणः तत्र (१) चलास्थिशल्यपांशुतृण-रोमशुष्करक्तादीनि अपोह्य (२) विच्छिन्न प्रविलम्बि मांसं सन्ध्यस्थीनि च यथास्थाने सम्यक् स्थापयित्वा, (३) स्थिते रक्ते—यथार्ह सूच्योपहितेन स्नायु-सूत्र-वालान्य-तमेन सीव्येत् । शणाश्मन्तक मूर्वातसीनां वा वल्कैः ।

—अष्टांग संग्रह सू. स्था. अ. ३८

जहां व्रण को सीना हो वहां ३ काम पहले करे, एक—टूटी हिलती हुई अस्थि को यदि वह उसमें हो तो या कोई शल्य, पांशु (धूल मिट्टी), तिनका, रोम या सूखा हुआ रक्त या अन्य वाह्य पदार्थ को पहले निकाल दे । दो—यदि व्रण में मांस लटकता हो तो उसे तथा सन्धि-अस्थि को यथास्थान ठीक-ठीक वैठा दे । तीन—अगर वहां रक्तस्राव हो रहा हो तो उसे रोक दे जव वह रुक जाय तव योग्य विधि से सूची में स्नायु (कंगारू का टेंडन आज कल प्रयुक्त होता है) सूत्र, वाल डालकर सीना शुरू करे । इनके स्थान पर शण (सन) क्षौम (रेशम सूत्र-सुश्रुत) अश्मन्तक, मूर्वा, अलसी के वल्कल गिलोय (सुश्रुत) का डोरा डालकर भी सिया जा सकता है । सुश्रुत का कथन है कि यदि नं. एक पर कहे पदार्थों को निकाल व्रण को शुद्ध न कर लिया जाय तो व्रण वहुत पकता है और उसमें वहुत दर्द होता है—

पांशुरोमनखादीनि चलमस्थिभवेच्च यत् ।
अहृतानि ततोऽमूनि पाचयेयुः भृशं व्रणम् ॥
रुजश्च विविधाः कुर्युः तस्मादेतान् विशोधयेत् ।

—सु० सं० सू० स्था० अ० २५

आज कल कैटगट (तांत) या सिल्कवर्म गट रेशम के कीड़े से वनाये धागे से सीने का रिवाज है । कैटगट वन्द कांच की ट्यूव में आती है जिसे तोड़कर निकाला जाता है । तोड़ने के लिए उसे या तो गॉज में लपेट कर तोड़ते हैं या ट्यूवको कर स्वस्तिकायन्त्र (फारसैप्स) से तोड़ते हैं ऐसा करने से हाथ को क्षति नहीं होती ।
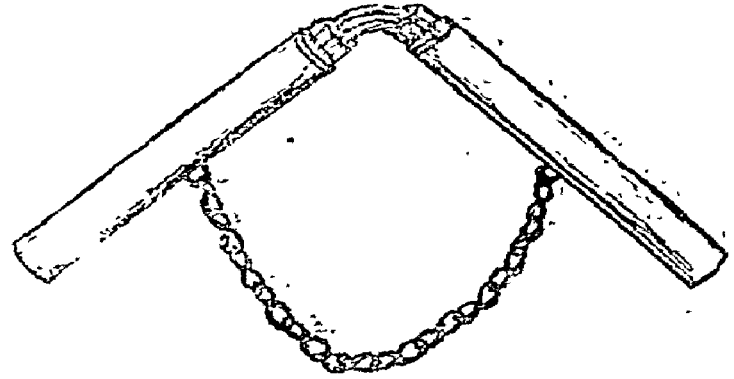
सुइयां भी सीधी, अर्धगोल, तिर्यक् कई प्रकार की होती हैं उनमें डोरा डालने की भी एक कला होती है उसे उसी विधि से डालना चाहिए । फिर डोरा निकल न जाय इसके लिए उसमें एक गाँठ लगा देते हैं—
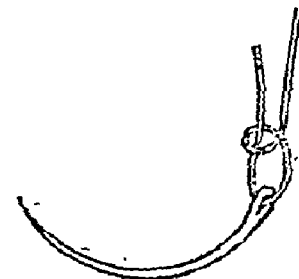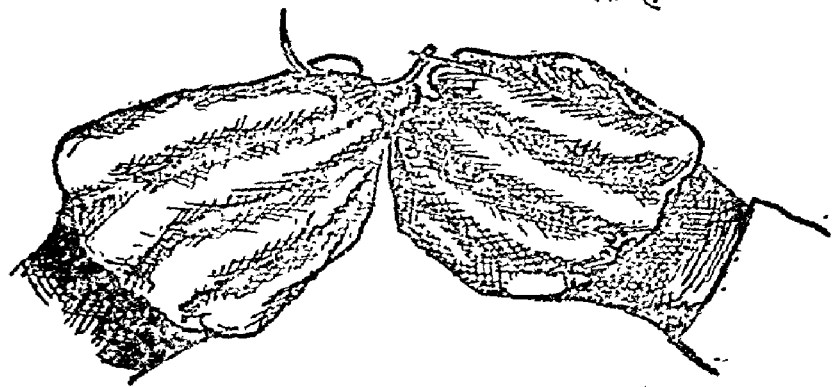
सिल्कवर्म या आजकल का जो कृत्रिम डोरा आता है उसके सरकने या ढीले होने की काफी गुंजाइश होती है इसलिए यह आवश्यक है कि गांठ ऐसी लगाई जाय जो ढीली न हो जाय। यह गांठ रीफ नोंट या सर्जन्स नोंट ही हो सकती है :—
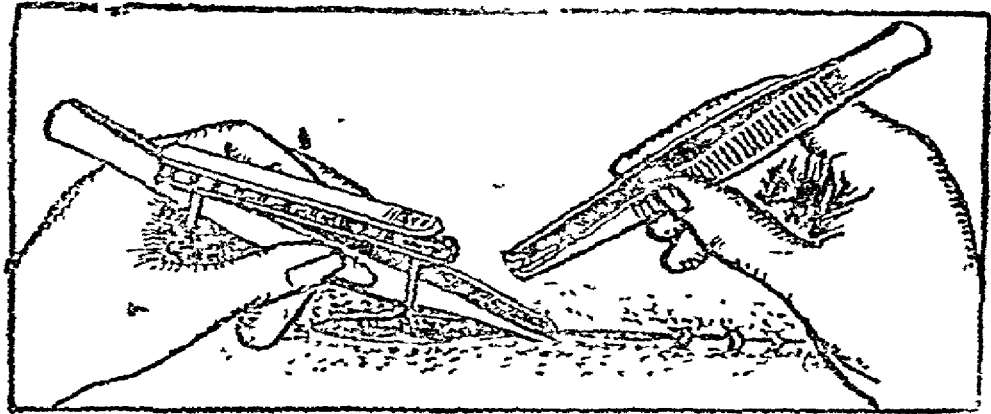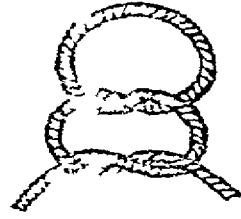
माइकिल क्लिप प्रयोग

सीवनकर्म का निषेध—किस व्रण को सीना चाहिए यह ऊपर लिखा जा चुका है पर जिनका सीवन निषिद्ध (*contra-indicated*) है उन्हे न सीना चाहिए। ये है—

न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मारुतवाहिन.।
नान्तर्लोहितशल्याश्च तेषु सम्यग्विशोधनम् ॥—सुश्रुत

तथा असीव्या वंक्षणवक्षः कक्षादिषु प्रचलेषु अल्पमांसेषु च वायुनिर्वाहिणो ऽन्तर्लोहितशल्या विषाग्निक्षारकृताश्च व्रणा ॥—वृद्धवाग्भट
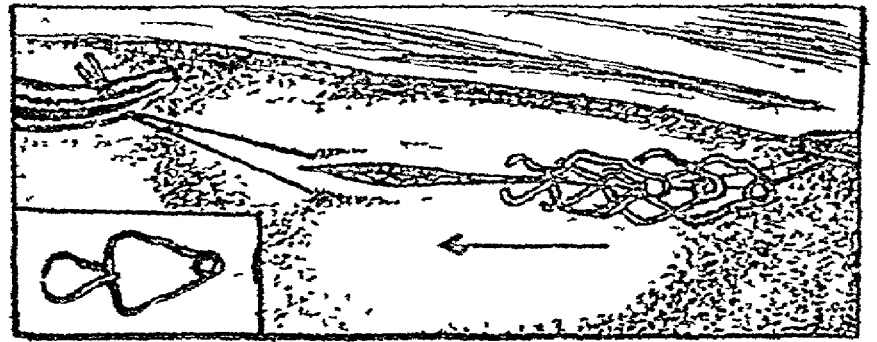
इन दोनो विद्वानो के अनुसार क्षारकर्म, अग्निकर्म के द्वारा बने या बनाये गये व्रणों को सीना निषिद्ध है। जिन व्रणों से वायु या गैस निकलती हो उन्हें भी न सियें। वायु पैदा करने वाले एनीरोब वर्ग के जीवाणु होते है जिनमें बैसीलस वेलचाय तथा विब्रियो सैप्टिक प्रसिद्ध है। इनके कारण गैस गेंग्रीन बनती है। जिन व्रणों के अन्दर रक्त के थक्के या सूखा जमा हुआ रक्त हो या अन्य अपद्रव्य हो जिसकी सूची ऊपर दी गई है तो उनको विना शुद्ध किये हुए न सीना चाहिए। इनके अलावा चलनशील अंगो के व्रण भी सीने योग्य नहीं होते। वंक्षण, वक्ष, कक्षा (बगल) ऐसे ही अंग है। या जहाँ मांसकम हो जैसे मस्तक या माथा वहां भी नही सीना चाहिए। क्योकि इन स्थानो से टांके उखड या टूट जाते हे। आजकल ऐसे स्थानो पर ऐधीझिव प्लास्टर लगाने की प्रथा हे। क्लिपे लगाने का भी रिवाज हैं। माइकेल की क्लिप या हैरिफ की क्लिपो का प्रयोग किया जा सकता है।

हैरिफ क्लिप प्रयोग

जहा टाकों पर अधिक जोर पड़ता हो, वहां क्लिप प्रयोग के अलावा सिल्कवर्म से भी सीते हैं। सिल्कवर्म को रबर की ट्यूब में पिरोकर कसकर लगाते है। पाई की सर्जिकल हैंडीक्राफ्ट से नीचे का चित्र इसे प्रदर्शित करने हेतु साभार लिया गया है :—
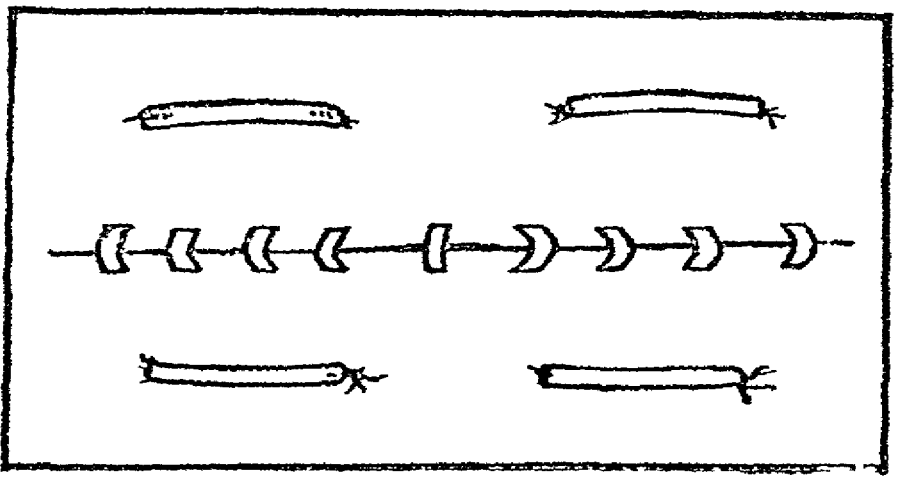
सीवन के ४ भेद

किसी व्रण को कैसे सिया जाय इस पर भी शास्त्र-वाक्य प्राप्त होते हैं जो यह बतलाने के लिए पर्याप्त हैं कि उस काल में यह विषय एक पूर्ण व्यावहारिक था तथा आये दिन भारतीय शल्यवेत्ता व्रणों को विभिन्न प्रकार से जैसा जहां आवश्यक होता था सीते रहते थे। सीने के प्रकार सीवनविकल्प कहे जाते थे—सीवनविकल्पास्तु समासेन चत्वारः। गोफणिका, तुन्नसेवनी, वेल्लितकं ग्रन्थिबन्धनमिति। तेषां नामभिरेव कृतिविभागः प्रहार-वशाच्चोपयोगः। —अष्टाग संग्रह सू० अ० ३८

इसी को सुश्रुत ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

सीव्येद् वेल्लितकं शनैः॥
सीव्येद् गोफणिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम्।
ऋजुग्रन्थिमयीं वाऽपि यथायोगमथापि वा॥
—सू०स्था० अ० २५

इस प्रकार सीने के या स्यूचरिंग के ४ प्रकार आयुर्वेद के शल्यतन्त्र के अन्तर्गत बतलाये गये हैं—

१. गोफणिका सीवन—इसे डा० घाणेकर के अनुसार ब्लांकेट स्यूचर कहते हैं। इसमें एक ही डोरे से लगातार टांके लगाये जाते हैं। पहले चिकित्सक चिमटी से व्रण के ओष्ठ को पकड़ता है और सुई को अपनी ओर से दूसरी ओर निकालता है और पहला टांका लगा देता है। फिर उस ओर से सुई का डोरा अपनी ओर को सुई द्वारा लाया जाता है,अब इस डोरेयुक्त सुई को फिर दूसरी ओर ले जाते हैं। इस समय सहायक वैद्य के द्वारा पकड़े हुए डोरे के ऊपर से सुई निकाली जाती है जिससे एक प्रकार का फन्दा बन जाता है। ऐसे फन्दे बराबर बनते चले जाते हैं, यहां तक कि व्रण पूरा का पूरा सिल जाता है। इस सीवन का उपयोग बड़े व्रणों को बन्द करने हेतु किया जाता है।

२. तुन्नसेवनी सीवन—इसे डाक्टर घाणेकर अपनी आयुर्वेदरहस्यदीपिका सुश्रुत टीका में 'हाल्स्टैड्स सबक्युटिकुलर स्टिच (*Halstead's Subcuticular Stitch*) बतलाते हैं। इसमें उसी प्रकार टांके लगाये जाते हैं जैसे फटे कपड़े रफू किये जाते हैं। इसके बारे में टैबर लिखता है—

Suture Subcuticular—*A buried continuous suture in which the needle in passed horizontally under the epidermis in to the*
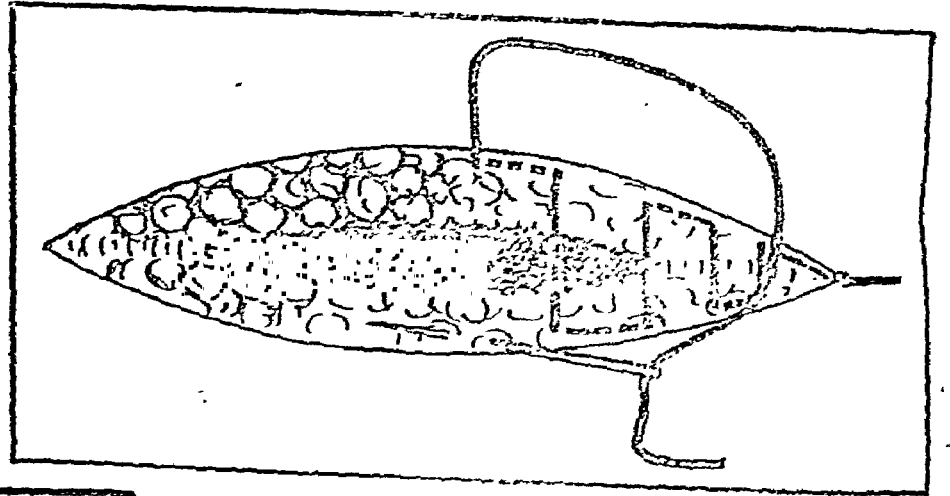
cutis vera, emerging at the angle of the wound and the material is wound obout the pins, crossing them first at one end and then at the other end in a figure of eight fasion, thus holding the lips of the wound firmly together.

३. वेल्लितक सीवन—इसे ग्लोवर का कण्टिनुअस स्यूचर डा० घाणेकर बतलाते हैं। इसका प्रयोग ताजे (फ्रेश) निर्दोष (असैप्टिक) व्रण को सीने में किया जाता है। वृक्ष पर चढ़ी लता को एक ओर से देखने से जैसी आकृति दिखाई देती है वैसी सीवन इसमें दिखाई देती है।
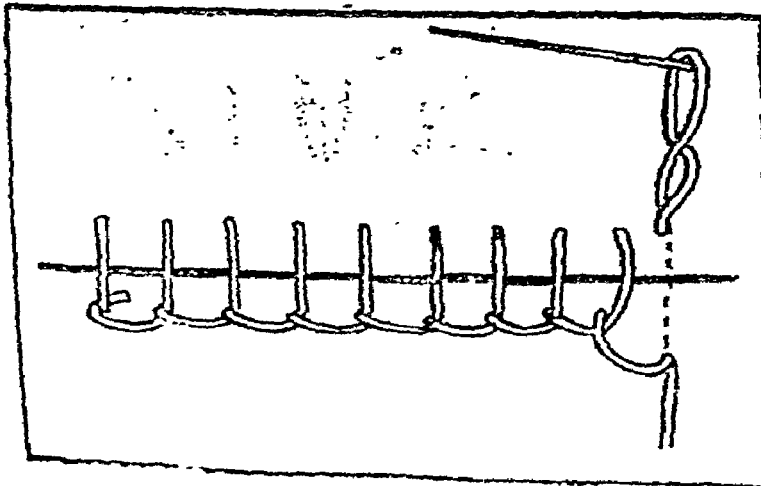
व्रण में एक ओर से दूसरी ओर लगातार टांके लगाये जाते हैं। इसमें एक ही डोरा एक व्रणोष्ठ को सीकर दूसरे को वाहर से भीतर की ओर सीते हैं। टैवर इसके वारे में लिखता है—

A continuous stitch in which the needle is, after each stitch, passed through the loop of the proceding stitch.
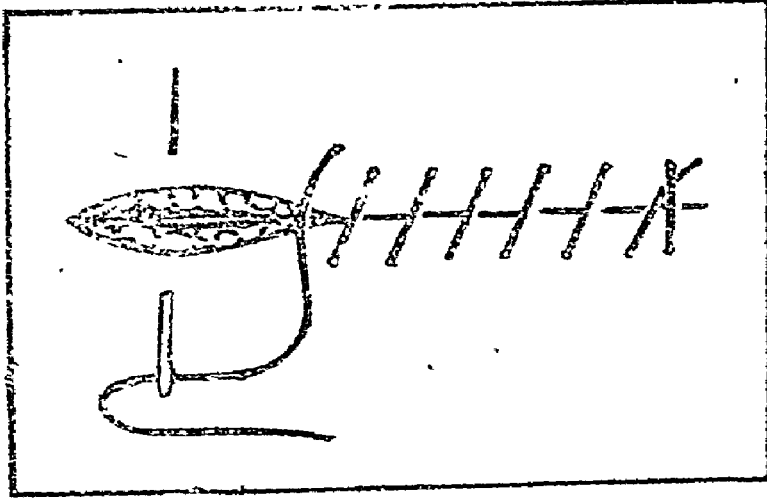
वेल्लितक सीवन

४. ऋजुग्रन्थि सीवन या ग्रन्थिवन्धन—इसे डा० घाणेकर इण्टरप्टैड स्यूचर मानते हैं। इसके विषय में टैवर लिखता है—

A suture formed by single stitches inserted separatly, the needle being usually passed through, lip from without inward and through the other from within outward.

इसमें अलग-अलग एकल टांके लगाये जाते हैं। सुई एक व्रणोष्ठ से वाहर से अन्दर की ओर लाई जाती है। डा० घाणेकर के अनुसार थोड़ी-थोड़ी दूर पर गांठ बांधते हुए टांके लगाये जाते हैं। नीचे पाई का चित्र इस सीवन को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है—
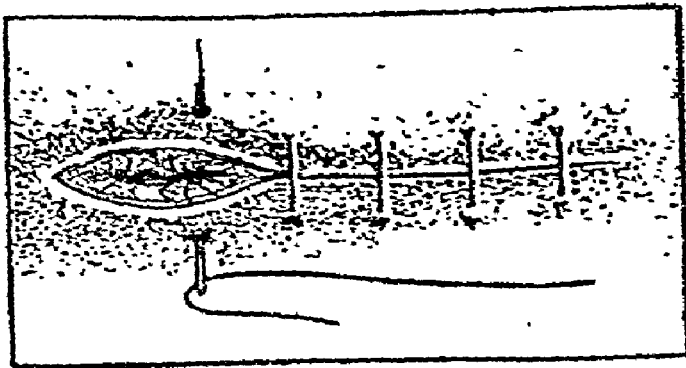
यह सीवन प्रायः वाह्य त्वचा के सीवन के लिए प्रयोग की जाती है।

सीवन क्रिया (*Suturing*)

देशेऽल्पमांसे सन्धौ च सूची वृत्ताऽङ्गुलद्वयम्।
आयता त्र्युङ्गुला त्र्यस्रा मांसले वाऽपि पूजिता॥
धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोदरोपरि।
इत्येतास्त्रिविधा सूचीस्तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः॥
कारयेन्मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिमण्डलाः।
नाऽति दूरे निकृष्टे वा सूचीं कर्मणि पातयेत्॥
दूराद्रुजो व्रणौष्ठस्य सन्निकृष्टेऽवलुञ्चनम्।

—सु० सं० सू० स्था० अ० २५

थोड़े मांस वाले अङ्ग में तथा सन्धियों में दो अंगुल लम्बी और वृत्तमुख सुई की आवश्यकता होती है। अधिक मांसल स्थान के लिए ३ अंगुल लम्बी और ३ धार वाली सुई पूजित होती है। मर्मस्थान, वृषणकोष तथा उदर में सीवन कर्म हेतु धनुष के समान वक्र (अर्ध-चन्द्राकार) सुई चाहिये। ये ३ प्रकार की तीक्ष्ण नोंक वाली ठीक-ठीक वनाई हुई सुइयां होती हैं। इन्हें मालती-पुष्प के वृन्त के अग्रभाग के समान परिमण्डल वाली होनी चाहिए।

सीवन कर्म न अधिक दूर और न अधिक पास ही करना चाहिए। दूर पर सीने से व्रण के ओष्ठों में वेदना बढ़ती है तथा बहुत पास सीने से किनारों (व्रणौष्ठों) के टूट जाने की संभावना हो जाती है।

किसी व्रण को कैसे सिया जाय, उस पर सुइयों के प्रकार और सीने की प्रक्रिया का इङ्गित ऊपर के श्लोकों में कर दिया गया है फिर भी यह ध्यान देने योग्य वात है कि जो घाव या व्रण सिया जाय वह पूरा का पूरा नीचे गहराई से ही सिया जाना अभीष्ट होता है। अगर सुई उथली ही डाली गई तो व्रण का कुछ अंश विना सिला रह जाता है। देखें आगे के दोनों चित्र—

पर जब व्रण की पूरी गहराई तक सुई और धागा जाकर पूरा लूप वनाता है तव व्रणौष्ठ नीचे से ऊपर एक साथ पूरे के पूरे सिल जाते हैं जैसा कि नीचे के चित्रों में दिखलाया गया है—
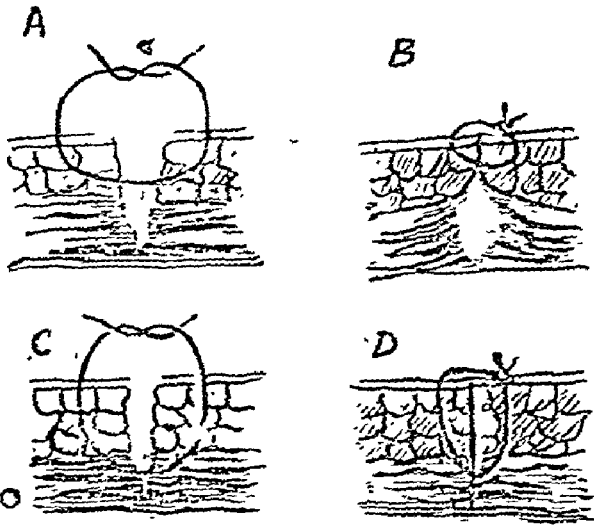
A. सुई को कम गहराई तक ही ले जाकर सिया जा रहा है।
B. पूरा टांका लगने के उपरान्त भी नीचे एक बिना सिली गुहा रह गई है।
C. सिलाई व्रण की पूरी गहराई से की जा रही है।
D. सिलने के बाद नीचे से ऊपर तक व्रण ओष्ठ एक दूसरे से चिपक गये हैं।

सीवन के उपरान्त, रेशमी वस्त्र या रुई के पिचु से सिये हुए भाग को ढंक दिया जाता है। उसके चारों ओर प्रियंगु, सौवीरांजन, मुलहठी, लोध्र इनका चूर्ण तथा शल्लकीफल का चूर्ण तथा अलसी के वस्त्र की राख बुरक दी जाती है। फिर व्रणितोपासतीय अध्यायोक्त पश्चात्कर्म के अन्य कार्य किये जाते हैं।

एतदष्टविधंकर्म समासेन प्रकीर्तितम् ।
चिकित्सितेषु कार्त्स्न्येन विस्तरस्तस्य वक्ष्यते ॥

यह आठ प्रकार का शस्त्रकर्म संक्षेप में बतलाया गया है। पूर्णरूप से उसका विस्तार चिकित्सास्थान में अलग-अलग रोगों की चिकित्सा में किया जावेगा।

ये आठों प्रकार के शस्त्रकर्मक हीं अकेले-अकेले, कहीं दो-दो मिलकर, कहीं तीन या अधिक एक साथ करने पड़ते हैं :—

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा ।
विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥

सामान्यतः जहां छेदन या भेदन करना पड़ता है वहां सीवन तो करना ही होता है इसलिए २ शस्त्रकर्म एक साथ अधिकांश रोगों में हो जाते हैं। भेदन जब किसी विद्रधि का किया जाता है तो उसकी पाकिटों से पूय निकालने के लिए एषण कर्म भी करना पड़ता है उसके बाद सीवन होता है इस प्रकार ३ कर्म हो जाते हैं। कहीं छेदन या भेदन के बाद एषण और लेखन करके सीवन कर्म किया जाता है इस प्रकार एक ही विकार की शल्य-चिकित्सा में ४-४ शस्त्रकर्म किये जाते हैं।

शस्त्रकर्मोत्तर ४ व्यापत्तियां

व्यापत्तियां या कम्प्लीकेशन्स शस्त्रकर्म करते समय हो सकती हैं। ये व्यापत्तियां ४ प्रकार की शास्त्रकारों ने बतलाई हैं :—

१. हीन छेद—आवश्यकता से कम काटना;

२. अतिरिक्त छेद—आवश्यकता से अधिक शरीर का भाग काटना;

३. तिर्यक् छेद—तिरछा काट देना;

४. आत्मगात्र छेद—शल्यचिकित्सक द्वारा अपना ही शरीर काट लेना।

हीनच्छेद नामक व्यापत्ति का कारण शल्यकर्म करने वाले का अज्ञान, लोभ, अहितकर वाक्य योग (रोगी से प्रेम के कारण सम्बन्धियों द्वारा दी गई गलत सलाह), भय, मोह अथवा अन्य कोई भाव उसे कुशस्त्र (अल्पशस्त्र) प्रयोग कराता है तो विकार शेष रह जाते हैं। ऐसे अयुक्तयुक्त शस्त्रकर्म के करने वाले वैद्य को उग्र विषैले सर्प के समान हानिकर समझ कर उसका परित्याग कर देना चाहिए। उससे क्षारकर्म, अग्निकर्म या केवल औषध प्रयोग भी जीवन की इच्छा रखने वाले किसी भी रोगी को कदापि न कराना चाहिए। उसी प्रकार—

तदेव युक्तं त्वति मर्मसन्धीन्
हिंस्यात् सिराः स्नायुमथास्थि चैव ।
मूर्खप्रयुक्तं पुरुषं क्षणेन
प्राणैर्वियुञ्ज्यादथवा कथंचित् ॥

अधिक गहरा लम्बा या टेढ़ा अथवा अस्थान में प्रयुक्त किया हुआ शस्त्रकर्म मर्म, सन्धि, सिरा, स्नायु, अस्थि का छेदन कर देता है और कभी-कभी क्षणमात्र में ही प्राणों का नाश तक कर देता है।

मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धियों—इन ५ प्रकार के मर्मस्थानों में छेदन या वेध हो जाने के कारण—भ्रम, प्रलाप, शक्तिपात या शरीर का अवपात (कोलैप्स),

मोह, विकृत चेष्टा, ग्लानि, तापांश की वृद्धि, अंग शैथिल्य, मूर्च्छा, ऊर्ध्ववात तथा वातजन्य अनेक प्रकार की तीव्र पीड़ाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है। क्षत में से मांस के धोवन जैसा रक्त निकलता है तथा सर्वेन्द्रियोपरम या इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकने में असमर्थता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है।

छेदन या भेदन से सिरा के विद्ध होने से इन्द्रगोप सदृश लाल रक्त प्रचुर परिमाण में बहने लगता है- तथा रक्तस्राव के कारण उत्पन्न वायु अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देता है।

छेदन भेदनादि शस्त्रकर्मो से जब स्नायुविद्ध हो जाती है तब अंग की वक्रता, शरीरावयवसाद, क्रियाओं के करने में अशक्ति, अत्यधिक वेदना तथा व्रण का देर में रोपण के लक्षण मिलते हैं।

छेदन भेदन द्वारा चल या अचल सन्धि में वेध हो जाने से अत्यन्त शोथ, अत्यन्त तीव्र वेदना, बलक्षय, सन्धियों में फूटन तथा सूजन, तथा सन्धिकर्म की हानि ये लक्षण बनते हैं।

छेदन भेदन द्वारा अस्थि के विद्ध हो जाने पर रात-दिन घोर ऐसी पीड़ा कि किसी भी उपाय से वह शान्त नहीं होती, प्यास, अंगों में अवसाद, क्षतस्थान में शोथ तथा पीड़ा मिलती है।

मांस मर्म में छेदन भेदन के कारण उसे स्पर्श का ज्ञान नहीं रहता तथा उसका रंग फीका पड़ जाता है।

इतनी व्यापत्तियों के अलावा अपने हीं अंग को गलती से काट लेने वाला वैद्य कुवैद्य बतलाया गया है और उसे अपना जीवन चाहने वाले व्यक्ति को तत्काल उसे छोड़ देने की सलाह दी जाती है :—

आत्मानमेवाथ जघन्यकारी,
शस्त्रेण यो हन्ति हि कर्म कुर्वन्।
तमात्मवानात्महनं कुवैद्यं,
विवर्जयेदायुरभीप्समानः ॥
—सु० सं० सू० स्था० अ० २५

पाश्चात्य शल्य विज्ञान भी आत्मगात्रच्छेद की संभावना को स्वीकार करता है पर वह सर्जन में नहीं, सहायक में इसका होना मानता है। तथा ऐसे सहायक को जिसने अंगुली किसी शस्त्र से स्वयं की असावधानी से काटली हो उसे प्रिक्ड फिंगर (*Pricked finger*) की संज्ञा दी है। कटी अंगुली होने पर आपरेशन थियेटर से उसे तत्काल अलग करके उसका रबर का दस्ताना हाथ से उतार कर उसे जोरों से चूसा जाता है ताकि कटी अंगुली का जहर शरीर में न मिल जाये। यही नहीं, वहां से रक्तस्राव कराने के उद्देश्य से अंगुली जहां कटी है वहां से आगे टूर्नीकेट को बांध देते है। यदि यह ऐक्सीडेन्ट ऐसे घाव पर कार्य करते समय हुआ है जो उपसृष्ट हो तो उपसर्गकारी जीवाणु को जानकर युक्तियुक्त एण्टीबायोटिक भी साथ ही देते हैं।

भिषक् के लिए रोगी पुत्रवत्

इसी प्रकरण में भगवान् धन्वन्तरि ने नीचे के श्लोकों में भिषक् और रोगी का सम्बन्ध पिता और पुत्र जैसा प्रतिपादित किया है—

मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः।
अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥
विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्कते।
तस्मात् पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक् ॥

रोगी माता, पिता, पुत्र, बन्धु-बान्धव सभी से शंका करता है पर वैद्य के अन्दर पूर्ण विश्वास व्यक्त करता है, और अपना शरीर और जीवन बिना शंका वैद्य या भिषक् के हाथ में सौंप देता है। इसलिए भिषक् या वैद्य का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह आतुर या रोगी को पुत्र की तरह प्यार करते हुए उसका पालन तथा जीवन रक्षा करे।

जो इस प्रकार दोषरहित आचरण करता है वह भिषक् धर्म अर्थ कीर्ति, सन्मान और स्वर्गलोक तक प्राप्त कर लेता है—

धर्मार्थौ कीर्तिमित्यर्थं सतां ग्रहणमुत्तमम्।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥

यन्त्र उपयन्त्र विमर्श

डा० गोपालशरण गर्ग बी० ए० एम० एस० आयुर्वेदाचार्य, सम्पादक-'सुधानिधि'

यन्त्र की परिभाषा तथा लक्षण

मनः शरीरावाधकराणि शल्यानि ।
तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि ॥
(सु० सू० अ० ७) ।

अर्थात् मन और शरीर को पीड़ा देने वाले शल्य के आहरण या निष्कासन करने वाले उपायों को यन्त्र कहते हैं ।

उपर्युक्त सुश्रुत की यन्त्र सम्बन्धी परिभाषा से स्पष्ट है कि शरीरगत शल्यों को निर्मूल करने वाले उपकरणों का नाम यन्त्र है, अतः यह जानना आवश्यक है कि यहां शल्य शब्द से क्या तात्पर्य है। शल्य शब्द शल् (तीव्रगतौ) धातु से वना है तथा परिभाषा के रूप में शल्य के सम्वन्ध में सुश्रुत ने 'शलतीति शल्यम्' कहकर सम्वोधित किया है अर्थात् वाह्य वस्तुएं जो शरीर तथा मन को कष्ट पहुँचाती हैं, शल्य कहलाती हैं। इसमें वाण, गोली, कण्टकादि का प्रवेश ही शरीर में शल्य का वोधक है। आंग्ल भाषा में शल्य को *Foregin body* कहकर सम्वोधित कर सकते हैं।

उपर्युक्त यन्त्र की सुश्रुतीय परिभाषा के अतिरिक्त वाग्भट ने यन्त्र की परिभाषा और स्पष्ट करते हुए कहा है—

नाना विधानां शल्यानां नाना देश निवेशिताम् ।
आहृतावभ्युपायो यस्तद् यन्त्रं तच्च दर्शने ॥
(अ० हृ० सू० अ० २५) ।

अर्थात् यन्त्र वह है जो शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में प्रविष्ट नानाविध शल्यों को अपहृत करने के कार्य में आते हैं। वाग्भट इसको और स्पष्ट करते हुये कहते हैं—

अर्शो भगन्दरादीनां शस्त्रक्षाराग्नि योजने। शेषाङ्ग-परिरक्षायां तथा वस्त्यादि कर्मणि। घटिकालावुश्रृङ्गश्च जांववोष्ठादि कानि च। (अ० हृ० सू० २५)

अर्थात् रोगी परीक्षार्थ अर्श, भगन्दरादि में शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोगार्थ, शेष अंगों के रक्षार्थ तथा वस्ति आदि कर्मों में जो व्यवहार किये जाते हैं तथा घटिका, अलावु, श्रृङ्ग जांववोष्ठादि जिसके उदाहरण हैं वे यन्त्र कहलाते हैं।

यन्त्रों की संख्या

यन्त्रों की संख्या के सम्वन्व में सुश्रुत के निम्न वाक्य उल्लेखनीय हैं।—

यन्त्र शतमेकोत्तरम्, अत्र हस्तमेव प्रधानतम् ।

अर्थात् यन्त्र १०१ हैं जिनमें हाथ प्रधान यन्त्र है, ऐसा सुश्रुत का मत है।

वाग्भट ने यन्त्रों की संख्या के सम्वन्ध में निम्न वचन कहे हैं—

अनेक रूप कार्याणि यन्त्रादि विविधान्यतः ।
विकल्प्य कल्पयेत् ब्रह्मा यथा स्थूलन्तु वक्ष्यते ॥
(अ० हृ० सू० अ० २५) ।

अर्थात् यन्त्र अनेक आकृतियों और कार्यों के कारण विविध प्रकार के होते हैं और शस्त्रकर्म करने वाले वैद्य उन्हें आवश्यकतानुसार कल्पना करके निर्माण कर लेते हैं।

अतः स्पष्ट है कि सुश्रुत के अनुसार वाग्भट ने यन्त्रों की निश्चित संख्या का उल्लेख नहीं किया तथा सुश्रुत से पृथक् कुछ नवीन यन्त्रों का उन्होंने उल्लेख किया है।

यन्त्राणां षड्विधत्वम्

आकार के भेद से यन्त्रों के ६ भेद सुश्रुत ने इस प्रकार उल्लेख किये हैं—

तानि षट् प्रकाराणि; तद्यथा स्वस्तिक यन्त्राणि, संदंश यन्त्राणि, ताल यन्त्राणि, शलाका यन्त्राणि, उपयन्त्राणि चेति। (सु० सू० अ० ७)

अर्थात् यन्त्र ६ प्रकार के होते हैं—

(१) स्वस्तिक यन्त्र, (२) संदंश यन्त्र,
(३) ताल यन्त्र, (४) नाड़ी यन्त्र,
(५) शलाका यन्त्र, (६) उपयन्त्र।

प्रकार भेद से यन्त्र संख्या—

उपर्युक्त ६ प्रकार के यन्त्रों की पृथक्-पृथक् संख्या इस प्रकार है :—

(१) स्तस्तिक यन्त्र — २४
(२) संदंश यन्त्र — २
(३) ताल यन्त्र — २
(४) नाड़ी यन्त्र — २०
(५) शलाका यन्त्र — २०
(६) उपयन्त्र — २५

१०१

निम्न सारिणी में उपर्युक्त १०१ यन्त्रों का नाम सहित वर्णन किया जा रहा है—

स्वस्तिक (२४)	संदंश (२)	ताल (२)	नाड़ी (२०)	शलाका (२०)	उपयन्त्र (२५)
सिंह मुख	१. सनिग्रह	१. एकताल	भगन्दर —२	गण्डूपदमुखी २	रज्जु
व्याघ्र मुख	२. अनिग्रह	२. द्विताल	अर्शो यन्त्र —२	सर्पफणमुखी २	वेणिका
वृकमुख			व्रण यन्त्र —१	शरपुंखमुखी २	चर्म
तरक्षु मुख			बस्ति यन्त्र—४	बडिशमुखी २	अन्तर्वल्कल
ऋक्ष मुख			उत्तरबस्ति—२	मसूरदलमुखी २	लता
द्वीपि मुख			मूत्रवृद्धि स्रावक १	खल्लमुखी ३	वस्त्र
मार्जार मुख			जलोदर यन्त्र —१	अग्निकर्मार्थे ३	अष्ठीलाश्म
शृगाल मुख			धूमनेत्र —३	नासाअर्बुदा	मुद्गर
मृग मुख			निरुद्धप्रकश —१	हरणार्थ १	पाणितल
एर्वारुक मुख			सनिरुद्ध गुद —१	अंजनार्थ १	पादतल
काक मुख			अलाबू —१	कोलास्थि	अंगुलि
कंकमुख			शृङ्ग —१	दलमुखी १	जिह्वा
कुरर मुख				मूत्रमार्ग	दन्त
चास मुख				विशोधनार्थ १	नख
मास मुख					मुख
शशघाती					केश
उलूक मुख					अश्वकटक
चिल्ली मुख					शाखा
श्येन मुख					निष्ठीवन
गृध्र मुख					प्रवाहण
कौंच मुख					हर्षण
भृङ्गराज मुख					अय स्कान्त
अंजलिकर्ण मुख					क्षार
अवभंजन मुख					अग्नि
नन्दी मुख					भेपज

यन्त्र निर्माण द्रव्य—

सुश्रुत ने इस सम्बन्ध में 'तानि प्रायशो लौहानि भवन्ति, तत्प्रति रूपकाणि वा तदलाभे।' (सु० सू० अ०७)

अर्थात् यन्त्र प्रायः लोहादि धातुओं के बनते हैं तथापि धातु के अभाव में काष्ठ, वेष्ठ, शृङ्ग, हाथी दांत आदि के बनाये जा सकते हैं।

यन्त्रों की आकृति—

तत्र नाना प्रकाराणां व्यालानां मृगपक्षिणां मुखैर्मुखानि यन्त्राणां प्रायशः सदृशानि; तस्मात्तत्सारूप्यादागमादुपदेशादन्ययन्त्र दर्शनाद् युक्तितश्च कारयेत्।

(सु० सू० अ० ७)।

अर्थात् यन्त्रों के मुख (Head) प्रायः व्याल, मृग, पक्षियों के मुख तुल्य होते हैं, अतः यन्त्रों का निर्माण पशु पक्षियों के समान शास्त्र के अनुसार वृद्ध वैद्यों के उपदेश से, अन्य यन्त्रों को देखते हुये युक्तिपूर्वक कराना चाहिये।

यन्त्र निर्माण विधि—

समाहितानि यन्त्राणि खरश्लक्ष्ण मुखानि च।
सुदृढ़ानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत्॥

अर्थात् यन्त्र ठीक परिमाण के, भीतर के खर तथा वाहर से श्लक्ष्ण मुख वाले मजवूत (*Strong*), अच्छे रूप वाले (सुरूपाणि) तथा अच्छी पकड़ने वाले वनवाने चाहिये।

उपर्युक्त विवरण के पश्चात् आकार भेद से वर्णित ६ प्रकार के यन्त्रों का वर्णन किया जा रहा है।

आकार भेद से यन्त्रों का विस्तृत वर्णन

१. स्वस्तिक यन्त्र, परिभाषा, रचना एवं कार्य—

स्वस्तिक यन्त्र साधारणतया १८ अंगुल लम्वे लोह धातु के २ फलकों (*Blades*) से वनने वाले उपकरण थे। इन फलकों के मध्य में एक दृढ़ कील (*Nail*) लगा रहता था तथा इन फलकों के अग्रभाग अंकुश जैसे मुड़े रहते थे। इसकी रचना को वाग्भट ने और अधिक स्पष्ट किया है तथा कील वाले स्थान को उन्होंने कण्ठ कहा है यह कण्ठ फलकों के ठीक मध्य में न होकर अधिक आगे की ओर होता है तथा स्वस्तिक यन्त्र को २ विषम भाग में वांट देता है उसका अग्रभाग जिसे मुख कहते हैं छोटा और पीछे का भाग या मूल भाग (*Handle*) वांरग कहलाता है। इस स्वस्तिक यन्त्र को खोलने पर फलक पृथक्-पृथक् होकर ४ भागों में वट जाते हैं और (स्वस्तिक (卐) के समान आकार के दिखायी देते हैं, इसी लिये इनका नाम स्वस्तिक यन्त्र रखा गया है। उपर्युक्त भाव को निम्नांकित चित्र में समझा जा सकता है। इस चित्र में सिंहमुख स्वस्तिक यन्त्र की रचना दिखाई गयी है तथा स्वस्तिक यन्त्र के सभी भागों का पृथक्-पृथक् चित्रण किया गया है :—
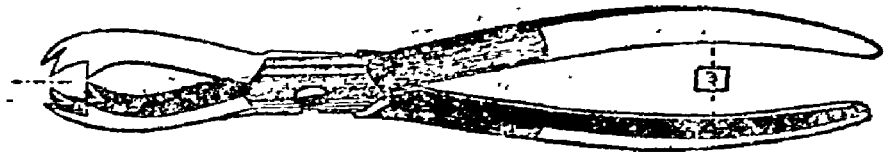
सिंहमुख

नामकरण विधि और प्रकार

सुश्रुतोक्त २४ स्वस्तिक यन्त्रों में सिंह से मृगैवसिक तक ९ यन्त्र तो पशुओं के नाम पर दिये गये हैं तथा शेष १५ पक्षियों के नाम पर हैं। पशुओं के मुख समान ९ स्वस्तिक यन्त्र स्थूल (*Visible*) शल्यों के निकालने के कार्य में आते होंगे जवकि अन्य १५ स्वस्तिक यन्त्र सूक्ष्म (***Deep & Invisible***) शल्यों के निष्कासनार्थ प्रयुक्त होते होंगे।

सुश्रुत ने जिन पशु-पक्षियों के नाम से स्वस्तिक यन्त्रों के नाम दिये हैं उनमें से अनेकों के नाम इस समय विदित नहीं है। सम्भव है सुश्रुत के समय में यह पशु-पक्षी होंगे और इस समय यह लुप्त हो गये हैं या देशान्तर को चले गये होंगे।

स्वस्तिक यन्त्रों की प्रयोग विधि

सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार स्वस्तिक यन्त्रों का उपयोग अस्थिगत वाणादि शल्यों को निकालने के कार्य में आते थे परन्तु निश्चय ही २४ स्वस्तिक यन्त्रों का उपयोग उनकी रचना के अनुसार पृथक्-पृथक् प्रकार से होता होगा। एक यन्त्र शरीर में सर्वत्र कार्य नहीं कर सकता। सुश्रुतोक्त स्वस्तिक यन्त्रों में से कुछ यन्त्रों का

आजकल आधुनिक शल्यशास्त्र में भी वर्णन मिलता है, उनमें से कुछ स्वस्तिक यन्त्रों का वर्णन यहां दिया जा रहा है—

१. सिंहमुख स्वस्तिक यन्त्र—आधुनिक शल्य शास्त्र वाले इसे *Lion forcep* अथवा *Fergusson's lion saw* कहकर पुकारते हैं। यह *bone* को पकड़ने के कार्य में आता है इसलिए *Bone holding forcep* के नाम से भी जाना जाता है। इसकी रचना चित्र नं० १ दिखाई गयी है। *A guide of Surgical Instruments* में इस सम्बन्ध में निम्न वर्णन मिलता है—

Fergusson's—*Also known as Lion Forcep because of its resemblance to the saws of a lion, when opened. Blades have stout and blunt teeth. Used to catch the bone ends, for manipulating them during the amputation, e.t.c*

२. कंकमुख स्वस्तिक यन्त्र—सुश्रुत ने कंकमुख के सम्बन्ध में लिखा है—

निवर्तते साध्ववगाहते च शल्यं
निगृह्योद्धरते च यस्मात्।
यन्त्रेष्वतः कंक मुखं प्रधानं स्थानेषु
सर्वेस्वधिकारि चैव॥
—सु० सू० अ० ७

अर्थात् कंकमुख यन्त्र भली प्रकार घूम सकता है और गम्भीर से गम्भीर शल्य तक पहुँचकर और उसे पकड़कर बाहर निकालता है इसी कारण कंकमुखयन्त्र सभी यन्त्रों में प्रधान है और शरीरगत सभी स्थानों के लिये उपयोगी है।

कंकमुख को बगुला का मुख मानकर *Surgical Instruments of the Hinduse* में इसकी रचना काल्पनिक रूप में निम्न दर्शायी गयी है—
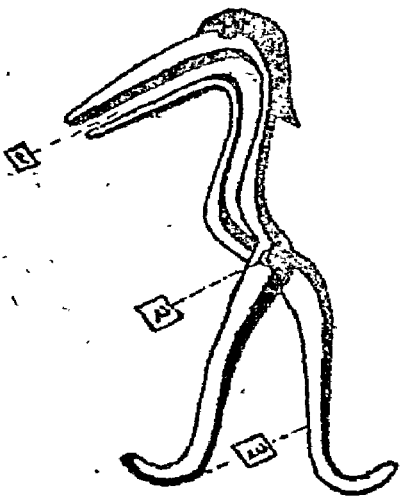
उपर्युक्त २ प्रमुख स्वस्तिक यन्त्रों के अतिरिक्त अन्य स्वस्तिक यन्त्रों का भी वर्णन किया जा सकता है।

आधुनिक शल्यशास्त्र में प्रयुक्त कुछ नवीन स्वस्तिक यन्त्र

आजकल स्वस्तिक यन्त्रों की रचना के समान जो *forcep* मिलती हैं उनमें मुख्य तथा उपयोगी निम्न हैं—

1. Universal tooth forcep (**स्येन मुख स्वस्तिक यन्त्र**—यह सब प्रकार के दांत निकालने का यन्त्र है, यह उत्तम शस्त्र लौह (*Steel*) से बनता है। इसके मुख के अगले भाग पर भीतर की ओर ऐसी गहराई या कटाव (*notch*) होती है जिसे विधिपूर्वक दबाने से प्रत्येक दांत फंस जाता है, आजकल इसकी रचना निम्न प्रकार होती है—
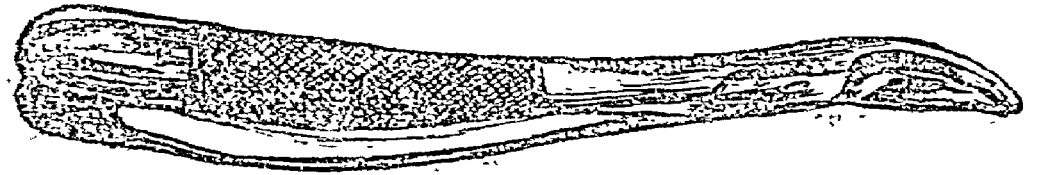
2. Artery Forcep (**धमनी ग्राही स्वस्तिक यन्त्र**)—यह अत्यन्त प्रचलित यन्त्र है। इस यन्त्र का प्रयोग शस्त्रकर्म में कटी हुयी धमनियों और शिराओं के सिरों को पकड़कर रक्तस्राव बन्द करने के लिए किया जाता है, इनके पीछे के भाग में ऐसा ग्रह (*Catch*) होता है जिससे दोनों फलक परस्पर जकड़ जाते हैं, इसकी रचना नीचे दी जा रही है—
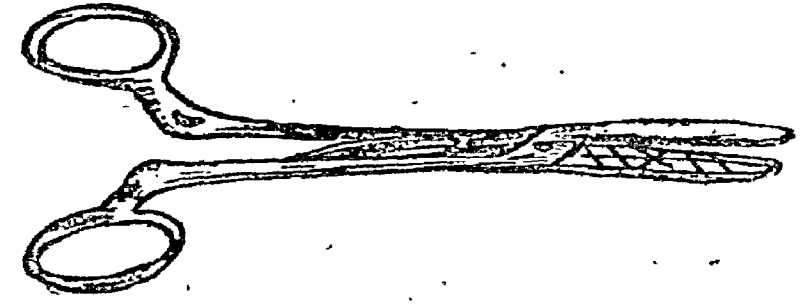
3. Lithotomy Forcep (**अश्मरी निष्कासक स्वस्तिक यन्त्र**)—यह मूत्राशय से अश्मरी निकालने के कार्य में आता है इसके अग्रभाग चम्मच (*spoon*) के

आकार के होते हैं और भीतर से खर (*rough*) होते हैं, इसकी रचना नीचे दी जा रही है—
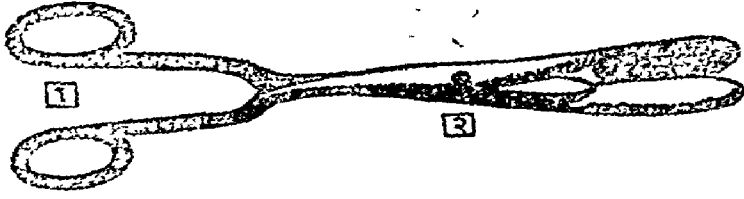
अश्मरी निष्कासक यन्त्र (कुररमुख)

उपर्युक्त तीन स्वस्तिकयन्त्रों के अतिरिक्त अन्य स्वस्तिक यंत्रों का भी उपयोग आजकल होता है। उदाहरणार्थ *Skull forcep, Uterine forcep, Goitre forcep* इत्यादि।

२. संदंशयन्त्र परिभाषा, रचना एवं कार्य—

"सम्यग्दृश्यतेऽनेनेति संदंशः" अर्थात् जो अच्छी प्रकार दंश करले या पकड़ले उसे संदंश कहते हैं। यह स्वस्तिक यन्त्रों से मिलते-जुलते ही उपकरण हैं जिनका उपयोग कोमल अङ्गों यथा त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु आदि से शल्य निकालने के काम में आता है, सुश्रुत लिखते हैं—

सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदंशौ षोडशांगुलौ भवतः, त्वङ्मांससिरा स्नायुगत शल्योद्धरणार्थ मुपदिश्येते ॥११॥

—सु० सू० अ० ७

अर्थात् संदंश यन्त्र सनिग्रह तथा अनिग्रह २ प्रकार के तथा १६ अंगुल लम्बे होते हैं तथा त्वचा, मांस, सिरा और स्नायु में आसक्त शल्य को निकालने के कार्य में आता है।

सनिग्रह संदंश यन्त्र—जिन संदंशों में दोनों फलक (*Blades*) एक कील द्वारा जुड़े रहते हैं, सनिग्रह कहलाते हैं। इसकी तुलना लुहारों के पास मिलने वाली सडांसी से की जा सकती है जैसा निम्न चित्र में दिखाया गया है—
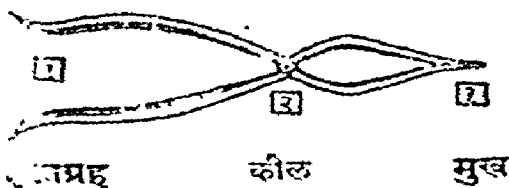
सनिग्रह संदंश-यन्त्र

अनिग्रह संदंश यन्त्र—बिना कील का संदंश यन्त्र अनिग्रह संदंश यन्त्र कहलाता है। इसका आगे का भाग खुला होता है। आजकल इस प्रकार का यन्त्र साधारण चीमटी या *Dressing forceps* कहलाता है। साधारण चीमटी का आकार V के आकार का होता है, नीचे चित्र में प्राचीन तथा अर्वाचीन संदंश यन्त्रों को दिया गया है—

अनिग्रह संदंश (प्राचीन)

1 2 3
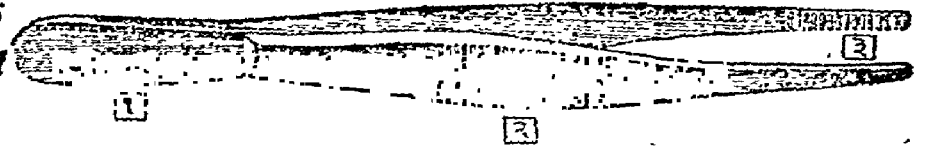
अनिग्रह संदंश (नवीन)

वाग्भट द्वारा वर्णित संदंश यन्त्र

उपर्युक्त सुश्रुत के २ संदंशों के अतिरिक्त वाग्भट ने दो और संदंशों का वर्णन किया है—(१) पक्ष्मकोप संदंश (२) मुचुण्डी संदंश।

पक्ष्मकोप संदंश—इसके सम्बन्ध में वाग्भट ने 'षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्म शल्योप पक्ष्मणाम्' कहकर पक्ष्मकोप संदंश का वर्णन किया गया है। इसका उपयोग सूक्ष्म शल्यों का उपपक्ष्मों (*Cilia*) को निकालने में होता है, आधुनिक शल्यशास्त्र में (*Cilia forcep*) इसी का परिवर्तित रूप है।

मुचुण्डी संदंश—इसके सम्बन्ध में वाग्भट "मुचुण्डी सूक्ष्मदन्तर्जुमूले रुचक भूषणा। गम्भीर व्रण मांसाना-मर्म्मणः शेषितस्यच" (अ० हृ० सू० अ० २५) अर्थात् मुचुण्डी छोटे-छोटे दांतों से युक्त और ऋजु (सरल), मूल में एक वलय (*Ring*) युक्त यन्त्र है जो गम्भीर व्रण तथा मांसादि और छिन्न अर्म (*Pterygium*) के शल्यकर्म के कार्य में आ जाता है। इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है—
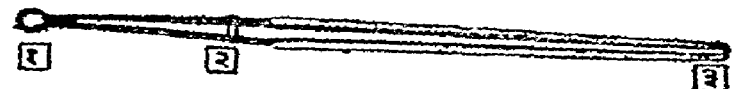
मचुण्डी रुचकभषणा

आजकल इसका उपयोग प्रायः नासागत रोमों को निकालने के लिए किया जाता है।

३. तालयन्त्र परिभाषा, रचना एवं कार्य—

यन्त्रों का तीसरा वर्ग तालयन्त्रों का सुश्रुतादि ने बताया है परन्तु टीकाकारों में ताल शब्द की व्याख्या में मतभिन्नता है। कुछ लोग कांसे की भाण्ड समान वस्तु को ताल मानते हैं। डल्हण ने ताल को मछली की तालु समान बताया है। सामान्य शब्दों में ताल को चम्मच के समान उपकरण (*Spoon shaped Instrument*) समझ सकते हैं। जिन्हें आधुनिक भाषा में *Scoop* भी कहा जाता है। तालयन्त्र के सम्बन्ध में सुश्रुत के निम्न वाक्य अवलोकनीय हैं—

तालयन्त्रे द्वादशांगुले मत्स्यताल वदेकताल द्वितालकें, कर्ण नासा नाड़ी शल्यानामाहरणार्थम्।

—सु० सू० अ० १७

अर्थात् तालयन्त्र १२ अंगुल लम्बे मछली के तालु के समान आकृति वाले एकताल (*Single scoop*) और दो ताल (*Double scoops*) दो प्रकार के होते हैं। इनका कार्य नासा, कर्ण, नाड़ी व्रणादि गत शल्यों का आहरण है।

वर्तमान में सुश्रुतोक्त तालयन्त्रों के समान रचना वाले उपकरण उपलब्ध होते हैं। यथा कान के लिए *Ear scoop* या *Aural scoop*, नासा के लिए *Nasal scoop* तथा नाड़ी व्रणादि के लिए *Sinus scoop* का व्यवहार किया जाता है, इनके चित्र नीचे दिये जा रहे हैं—
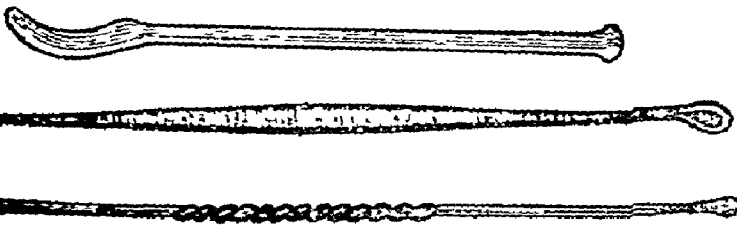
१. एकताल २. द्विताल

डल्हण ने एकताल तथा दूसरा द्विताल का अर्थ किया है उन्होंने सुश्रुत की टीका में लिखा है—

"अन्येतु मत्स्यतालवदेकतालक द्वितालके इति पठन्ति' व्याख्यानयन्ति च मत्स्योऽत्र मेट्टुलिमत्स्यः, तज्य लौहमय तालकाकारं मुखं भवति, अतस्तन्मुखार्धाकारं यन्त्रमेक तालकं, सर्वमुखाकारं द्वितालकं, तालकोऽत्र अपवारकादि कपाट सन्धिवन्धनं लौहमय मुच्यते।"

मेट्टुलु एक प्रकार की मछली है उसका अर्धमुख एकताल तथा सर्वमुख द्विताल है। द्विताल में एक छल्ला लगा रहता है (चित्र देखें) जब शल्य मुख में फंस जाता है तो बन्धन दबाकर मुख बन्द कर दिया जाता है और द्विताल बाहर खींच लिया जाता है।

द्विताल

आधुनिक शल्यशास्त्र में वर्णित पित्ताश्मरी तालयन्त्र—आधुनिक शल्य शास्त्र में सुश्रुत के द्वारा वर्णित तालयन्त्र के आकार का जो सर्वाधिक ग्राह्य रूप मिलता है वह *Gallstone scoop* या पित्ताश्मरी तालयन्त्र में देखा जा सकता है। यह आकार में कुछ लम्बा, गोल तथा गहरा होता है। इसके किनारे तीक्ष्ण नहीं होते तथा आकार की दृष्टि से यह छोटे तथा बड़े दो प्रकार के मिलते हैं।

४. नाड़ीयन्त्र परिभाषा, रचना एवं कार्य—

नाड़ी के समान आकृति वाले अर्थात् अन्दर से सुषिर (पोले) यन्त्र को नाड़ीयन्त्र कहते हैं, आंग्ल शब्दों में इन्हें *Tubular Instruments* भी कहा जा सकता है। सुश्रुत ने नाड़ी यन्त्रों के सम्बन्ध में निम्न वाक्य कहे हैं—

नाड़ी यन्त्राण्यनेक प्रकाराणि, अनेक प्रयोजनानि एकतो मुखानि, उभयतो मुखानिक्षः, तानि स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं, रोगदर्शनार्थं, आचूषणार्थम्, क्रिया सौकर्यार्थम् चेति.......... (सु० सू० अ० ७)

अर्थात् नाड़ीयन्त्र भीतर से पोले होते हैं तथा अनेक प्रकार और अनेक प्रयोजन के होते हैं कुछ एक मुखी, कुछ उभयमुखी वाले होते हैं। इनका कार्य स्रोतों में अवरुद्ध शल्यों को निकालना है। इनकी चौड़ाई स्रोतों के मुख के अनुसार होनी चाहिए

और लम्बाई मुख के अनुसार होती है। यह भगन्दर, अर्श, व्रण, वस्ति, उत्तरवस्ति, मूत्रवृद्धि, दकोदर, घूम, निरुद्ध प्रकश, सनिरुद्ध गुद आदि रोगों में प्रयुक्त होते हैं।

संक्षेप मे विचार करने पर नाड़ी यन्त्र दो प्रकार के बतलाये गये हैं। एक वह जिनका उपयोग रोग दर्शन में होता है, दूसरे वे जिनका उपयोग रोग की चिकित्सा में होता है। रोग के निदान में सहायक अनेक आधुनिक यन्त्र नाड़ी यन्त्रों के समान पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ कुछ ऐसे यन्त्रों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

१. नासिका वीक्षण यन्त्र (*Nasal spaculum*)
२. वस्तिदर्शक यन्त्र (*Systoscope*)
३. नेत्रदर्शक यन्त्र (*Opthalmoscope*)
४. कर्णवीक्षण यन्त्र (*Aural speculum*)
५. गलान्तः दर्शक यन्त्र (*Laryngoscope*)
६. आमाशय दर्शक यन्त्र (*Gastroscope*)
७. गुदादर्शक यन्त्र (*Rectoscope*)

इसका विस्तृत वर्णन सम्बन्धित विषयों के ग्रन्थों में उपलब्ध हो सकता है। संक्षिप्त रूप में कुछ यन्त्रों का वर्णन यहां किया जा रहा है—

नासिका वीक्षण यन्त्र (Nasal speculum)—इसका उपयोग घ्राणार्बुद, घ्राणार्श और घ्राणगत शल्य के दर्शनार्थ एवं शस्त्र-क्रिया में होता है। इसका दैर्घ्य २ अंगुल और छिद्र प्रदेशिनी अंगुलि के प्रवेश योग्य होता है। यन्त्र के पार्श्व में एक छिद्र रहता है।

इसके द्वारा नासिका रन्ध्र में प्रधमन नस्य द्वार. चूर्णादि को प्रविष्ट किया जाता है। आधुनिक यन्त्र संसार में नासा, नासागत विकारों के देखने तथा चिकित्सा कर्म में सुविधा के लिए इसी प्रकार का यन्त्र व्यवहार में आता है। इसे *Nasal speculum* कहते हैं। इसमें *Handle* के द्वारा आगे के भाग को छोटा-बड़ा करने का प्रबन्ध होता है। नासा से नस्य देने की क्रिया को प्रधमन (*Insufflation*) कहते हैं। इस कार्य में *Nasal Insufflotor* का प्रयोग किया जाता है। इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है—
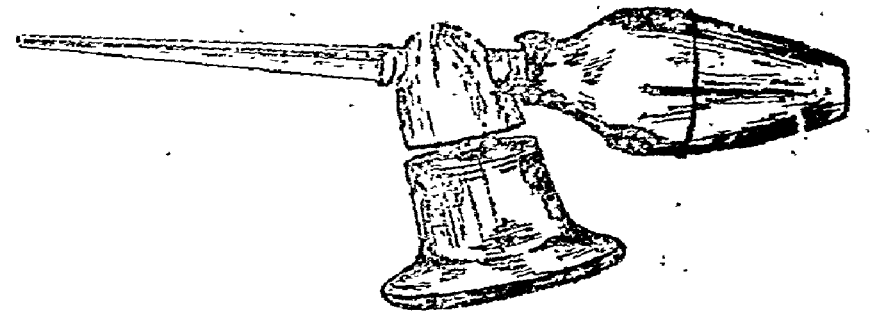
कर्ण वीक्षण यन्त्र (Aural speculum)—इसका उपयोग कान के अन्दर के शल्यों को देखने के कार्य में आता है। आजकल कर्ण-परीक्षा के लिए दो प्रकार के यन्त्र काम में आते हैं, एक में कृत्रिम प्रकाश की व्यवस्था नहीं होती। इसमें एक ओर का भाग फनल की तरह होता है, जिसका मुख प्रकाश की ओर रखा जाता है। इसमें आगे की ओर कर्ण परीक्षार्थ उपकरण लगा रहता है। दूसरे प्रकार का यन्त्र कृत्रिमप्रकाशयुक्त रहता है। इस यन्त्र के साथ कर्ण परीक्षा के लिए *Carpieces* लगे रहते हैं, इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है—
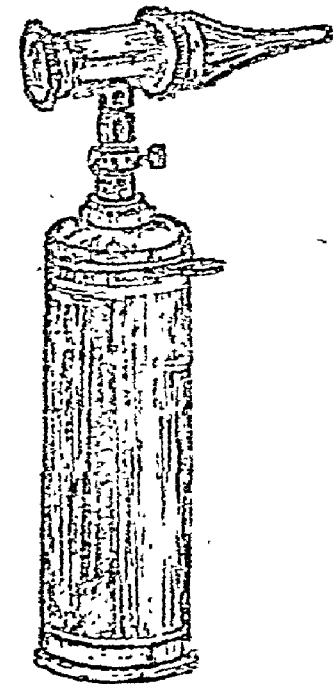
गुदा दर्शक यन्त्र—सुश्रुत के अनुसार यह हाथी दांत, लोहे, सींग या लकड़ी के बनाये जाते हैं तथा इनका आकार गौ के स्तन के समान होता है जो बीच में पोले होते हैं। पुरुषों तथा स्त्रियों में इनकी लम्बाई तथा चौड़ाई पृथक्-पृथक् होती है। पुरुषों में यह ४ अंगुल लम्बी तथा

५ अंगुल चौड़ी होती है जबकि स्त्रियों में ४ अंगुल लम्बा और ६ अंगुल चौड़ा होता है। इनमें २ छेद होते हैं एक छिद्र से रोग की परीक्षा की जाती है तथा दूसरे से क्रिया की जाती हैं। यह यन्त्र विशेष रूप से अर्शोपचार के कार्य में आता है और इसके द्वारा क्षार, अग्नि आदि क्रियायें सम्पन्न होती हैं। इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है।

आजकल इस हेतु जिस यन्त्र का उपयोग होता है उसे प्रोक्टोस्कोप (*Proctoscopse*) कहते हैं इसमें एक नलिका होती है जो आगे की ओर कम व्यास वाली तथा पीछे की ओर क्रमशः बड़े व्यास की होती है। पीछे के सिरे से एक हैंडिल लगा रहता है जिसकी सहायता से यह नलिका पकड़ी जा सकती है। इस नलिका में एक आब्टूरेटर फंसाया जाता है जो आगे से गोल होता है तथा जब यह नलिका में फंसता है तो यह आगे का गोल सिरा नलिका के आगे के सिरे से बाहर निकल जाता है और नलिका आगे से बन्द हो जाती है इस आब्टूरेटर का पिछला सिरा गोल करके इस प्रकार का बना होता है कि उसे आसानी से पकड़ा जा सकता है तथा हथेली से उस पर पर्याप्त दबाव डाला जा सके।

इस यन्त्र की व्यवहार विधि सम्बन्धित पुस्तकों में ही देखनी चाहिये यहां इस यन्त्र का चित्र दिया जा रहा है—
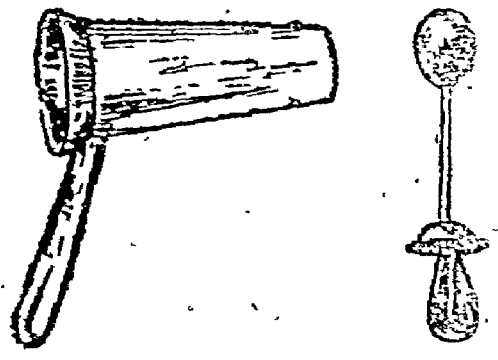
इस चित्र में आब्टूरेटर को शेष यन्त्र से पृथक् दिखाया है

योनि परीक्षण यन्त्र—सुश्रुत के अनुसार इस यन्त्र की बनावट ४ खण्डों की होती है यह चारों खण्ड एक ओर एक मुद्रिकावत बंधे रहते हैं और सम्मिलित अवस्था में कमल के समान दिखाई देते हैं यह भीतर से पोले होते हैं और इनके अन्दर ६ अंगुल के परिधि की नाड़ी होती है। पश्चात् उनके मध्य में प्रत्येक खण्ड से लगी हुई चार शलाकायें मुख पर्यन्त लगी रहती हैं।

आजकल योनि परीक्षण यन्त्र कई प्रकार के आते हैं जिनमें फर्गूसन का वृत्ताकार योनि परीक्षण यन्त्र (*Fergusson's Vaginal Speculum*) तथा कुस्को का योनि विस्फारक यन्त्र (*Cusco's Speculum*) मुख्य हैं जिनकी समानता नाड़ी यन्त्रों से की जा सकती है इन दोनों के चित्र नीचे दिये जा रहे हैं।
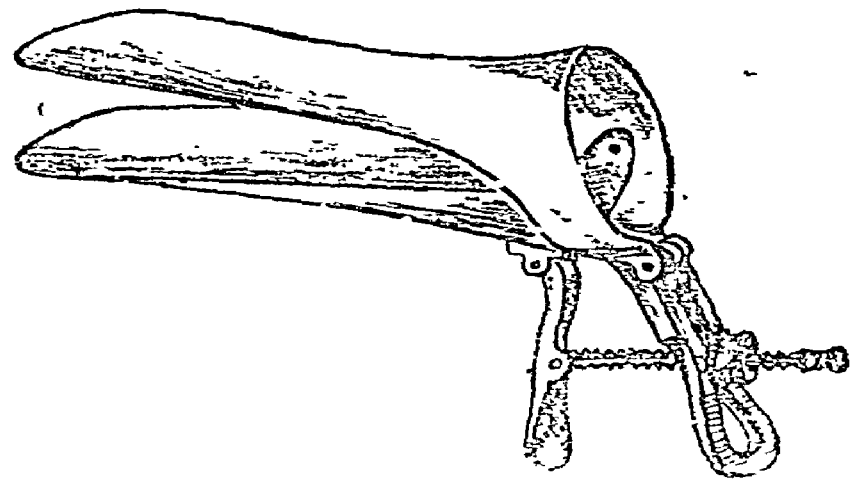
कूस्को का दो फलक वाला योनि विस्फारक यन्त्र
(Cusco's Bivalve Vaginal Speculum)
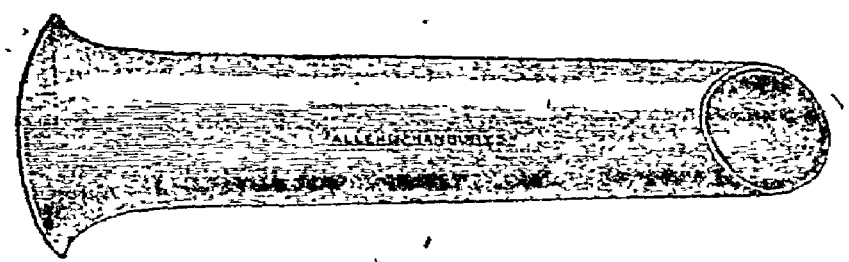
फारगूसन का योनि विस्फारक

यहां कुछ प्रमुख नाड़ी यन्त्रों का वर्णन किया गया है अन्य नाड़ी यन्त्रों का उल्लेख आधुनिक ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

५. शलाका यन्त्र, परिभाषा, रचना एवं कार्य—

शलाका यन्त्र छड़ या सलाई (*Rod*) के समान आकृति का यन्त्र है जो अनेक प्रकार के होते हैं तथा अनेक कामों में आते हैं और प्रयोजन के अनुसार मोटे तथा लम्बे होते हैं इनकी रचना, संख्या, कार्य तथा उनके सम्भावित आधुनिक पर्याय निम्न तालिका में दिये गये हैं—

शलाका यन्त्र (RODS)

संस्कृत नाम शलाका	आङ्गलपर्याय	संख्या	कार्य	दैर्घ्य
गण्डूपदमुखी	ब्लंट प्रोब (Blunt Probe)	२	एषण	यथावश्यक
सर्पफणमुखी	रीट्रैक्टर्स (Retractors)	२	व्यूहन	(१) सोलह अंगुल (२) बारह अंगुल
शरपुंखमुखी		२	चालन	(१) दस अंगुल (२) बारह अंगुल
वडिशमुखी	हुक (Hook)	२	आहरण	मछली पकड़ने के अंकुश सदृश मुड़ा हुआ लोहे का यन्त्र
मसूरदलमात्रमुखी		२	स्रोतोगत-शल्योद्धरणार्थ	(१) आठ अंगुल (२) नौ अंगुल
खल्लमुखी (दर्व्याकृति)	चम्मच जैसे (Spoon Shaped)	३	क्षारौपफप्रणिधानार्थ	आठ अंगुल
जाम्ववंवदन अंकुशवदन	काटरी (Cautery)	३ ३	अग्निकर्म	आवश्यकतानुसार
कोलास्थिदल मात्रमुखम्	नैजलक्यूरेट (Nasal curette)	१	नासार्श में दाह कर्म के लिये	आवश्यकतानुसार
अञ्जनार्थशलाका	कोलीरियमप्रोब (Collyrium Probe)	१	अंजनार्थ	आठ अंगुल
मूत्रमार्गविशोधनार्थ	यूरेथ्रलसाउण्ड्स (Urethral Sounds)	१	मूत्रमार्गान्वेषण के लिये	यथावश्यक

उपर्युक्त शलाकाओं का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है—

(१) **गण्डूपद मुखी शलाका**—यह शलाका गण्डूपद (केंचुवे *earthworm*) की तरह होती है अर्थात् इसका मुख गण्डूपद के समान मुख वाला होता है इसे अंग्रेजी में *Blunt probe* कहते हैं इसका कार्य एषण या ढूंढना (*exploration*) है तथा इसकी सहायता से भगन्दर, नाड़ी व्रणादि में व्रण की गहराई तथा पूयादि का ज्ञान किया जाता है। इसके अतिरिक्त निरुद्धप्रकश में भी अग्रचर्म काटने से पूर्व गण्डूपद शलाका उसके भीतर प्रवेश करके देखने के कार्य में आती है कि चमड़ा शिश्न मुण्ड से पृथक् है या चिपका हुआ है। इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है—
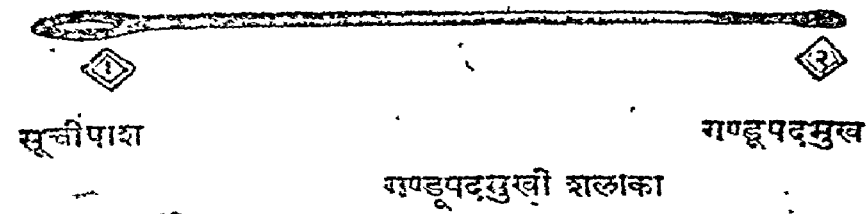
गण्डूपदमुखी शलाका

(२) **सर्पफणमुखी शलाका**—सर्प के समान फण की तरह जिस शलाका का मुख हो उसे सर्पफणी शलाका कहते है। इसका कार्य सुश्रुत ने 'व्यूहन' बताया है। व्यूहन के सम्बन्ध में डल्हण ने कहा है 'व्यूहनम् उर्व्वीकरणम्' 'छित्वा उत्तण्डितस्य उद्धरणार्थम्' अर्थात् व्यूहन कटे हुये व्रण के किनारे को ऊपर उठाने को कहते हैं आजकल इस प्रकार का उपयोग *Retractor* नामक यन्त्र से होता है इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है—

आधुनिक शल्य विज्ञान में स्थान भेद से *Retractor* कई प्रकार के होते हैं यथा उदर के लिये *Abdominal Retractor*, कपोलों को खोलने के लिये *Cheek Retractor*, आंखों को खोलने के लिये *eyelid Retractor*, योनि द्वार को खोलने के लिये *Vaginal Retractor* आदि-आदि।

(३) **शरपुंखमुखी शलाका**—अर्थात् बाण के मुख के समान आकृति वाली शलाका शरपुंखमुखी शलाका कहलाती है इसका कार्य सुश्रुत ने चालन या हिलाना (*Moving*) बताया है जिससे अस्थि में स्थित शल्य ढीला हो जावे ऐसे यन्त्रों को आजकल *elevators* कहते हैं जो कई प्रकार के होते हैं यथा *Bone elevators, Skull elevators, Dental elevators* आदि। सुश्रुत के अनुसार शरपुंखमुखी शलाका की रचना निम्न प्रकार हो सकती है—
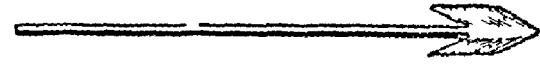
(४) **वडिशमुखी शलाकायें**—वडिश मछली पकड़ने वाले कांटे को कहते हैं इसका कार्य आहरण या फंसी हुई वस्तु को ऊपर उठाना होता है यह २ प्रकार के होते हैं—(१) थोड़े मुड़े हुये या किंचिदानत (*Slightly bent*) (२) अधिक मुड़े हुये (*Fully Curved*) जैसा कि नीचे के चित्रों में दिखाया गया है—
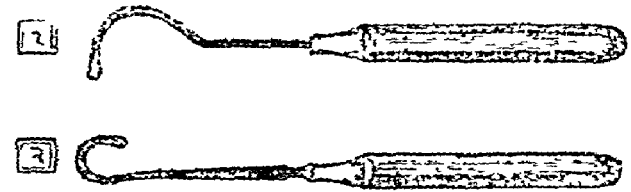
वडिशयन्त्र (Hooks)

१. किंचिदानत २. अत्यानत

आधुनिक शल्य शास्त्र में भी इस प्रकार की रचना वाले यन्त्र उपलब्ध होते हैं यथा नेत्रों के लिये *Eye Hook*, नेत्रताल को निकालने के लिये *Lens Hook* आदि।

(५) **मसूरदलमुखी शलाकायें**—यह संख्या में २ होती हैं तथा इनका अग्र भाग मसूर के समान कुछ मुड़ा हुआ होता है जो कर्णनासा मुखादि से शल्यों को निकालने के लिये प्रयुक्त होता है यह एक प्रकार की तालयन्त्र के समान रचना वाली शलाका है परन्तु तालयन्त्र मुख में

कुछ गहरा होता है और मसूरदल में अग्र भाग चपटा होता है यही इन दोनों में विशेष अन्तर है ।

(६) खल्लमुखी शलाकायें—ये संख्या में तीन होती हैं तथा इनकी आकृति चमचे की तरह होती है । क्षार, तैलादि को कर्ण नासा में डालने का कार्य इन शलाकाओं से किया जाता है । सुश्रुत के अनुसार ये क्रमशः कनिष्ठिका, मध्यमा तथा अनामिका अंगुली के नख के गर्त सदृश होती हैं ।

(७) अग्नि शलाकायें—सुश्रुत ने अग्निकर्म के प्रयोग में आने वाली ६ प्रकार की शलाकाओं का वर्णन किया है, जो अर्श, दुष्ट व्रण, अर्श कील, अर्बुदादि को जलाने के लिये कार्य में आती हैं । सुश्रुत ने जो ६ अग्नि शलाकायें बतायी हैं उनमें ३ जांबव मुखी तथा ३ को अंकुश वदन का नाम दिया गया है ।

जांबव मुखी—जो जामुन के फल के समान अण्डाकार हो वह जांबव मुखी कहलाती हैं ।

अंकुशमुखी—जो अंकुश के समान मुड़ी हुई होती हैं वह अंकुश मुखी कहलाती हैं ।

आजकल अग्नि कर्म के लिये प्लेटिनम आदि धातु के तारों का प्रयोग होता है ।

(८) नासार्बुदी शलाका—यह सुश्रुत के मतानुसार वेर की गुठली के समान खरल के आकार की, तीक्ष्ण ओष्ठ वाली होती है । आजकल इसी प्रकार का यन्त्र *Nasal curetter* के नाम से काम में लाया जाता है । यह शस्त्र *Adenoids* (गले के ऊपर की ओर गलशुण्डी (*uvula*) के पीछे होने वाली छोटी ग्रन्थियों) को काटने के कार्य में भी आता है इस कारण इसे *Adenoide Curetter* भी कहते हैं ।

(९) अंजन शलाका—यह नेत्रों में सुरमा लगाने की अत्यन्त प्रचलित शलाका है । सुश्रुतानुसार यह चिकनी, मृदु, आठ अंगुल लम्बी, मध्य में किंचित् पतली दोनों ओर मटर के समान मोटी और कमल के समान अग्र भाग वाली होनी चाहिये । यह लेखन, रोपण और प्रसादन गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न पदार्थों की बनाई जाती है यथा—स्वर्ण, ताम्र, रजत, शीशा आदि ।

(१०) मूत्रमार्ग विशोधिनी शलाका—सुश्रुतानुसार यह मालती पुष्प के फूल की नाल के समान पतली और गोल होनी चाहिये । इसका कार्य मूत्रमार्ग का अन्वेषण करना बताया गया है । उष्णवात आदि मूत्रेन्द्रिय के रोगों में मूत्रमार्ग के तंग हो जाने पर मूत्रकृच्छ्र की अवस्था में इसका प्रयोग किया जाता है ।

आजकल इस कार्य के लिये जिस यन्त्र का प्रयोग होता है वह *Bougie* (बूजी) के नाम से जाना जाता है इसे ***Dilating Sound or Stricture Sound*** भी कहते हैं यह अन्दर से ठोस होती है और आगे से पतली और पीछे शनैः-शनैः मोटा होती जाती है और अन्त में गोल चपटे आकार की होती है जिसके द्वारा इसे पकड़कर अन्दर प्रवेश किया जाता है यह अनेक नम्बरों की होती है और कम नम्बर से अधिक नम्बर तक क्रमशः प्रयोग की जाती है इसका चित्र नीचे दिया जा रहा है—
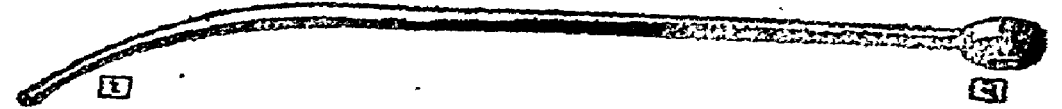
मूत्रमार्गशोधनी शलाका (Bougie)

उपर्युक्त शलाकाओं का वर्णन सुश्रुत में वर्णित है । वाग्भट ने उपर्युक्त शलाकाओं के अतिरिक्त पांच अन्य शलाकाओं का वर्णन किया है—

(१) कर्ण शोधन शलाका—इस यन्त्र के किनारे अश्वत्थ पत्र सदृश होते हैं । कर्ण रोग की चिकित्सा में इसका प्रयोग होता है । इस यन्त्र के अग्रभाग पर छोटे चम्मच की आकृति रहती है । आधुनिक युग में इसका प्रतिनिधि *Ear Scoop* के नाम से जाना जा सकता है ।

(२) गर्भशंकु—यह शंकु मूढ़गर्भ का शिरोविदारण करने के पश्चात् आहरण करने के लिये प्रयुक्त होता है । इसकी लम्बाई अन्य शंकुओं की भांति १०-१६ अंगुल और चौड़ाई आठ अंगुल की होती है । मूढ़गर्भ के आहरण में मण्डलाग्र अथवा अंगुलीय शस्त्र से शिरोविदारण करके शिरःकपालों का आहरण करने के पश्चात् शंकु को *clavicle* में लगाकर मृत शिशु को निकालने का विधान है यदि सिर के कपालास्थियों का भंजन न हुआ हो तो

अक्षिकूट अथवा कपोल प्रदेश में लगाकर निकालना चाहिये। आजकल इस काम में *Blunt Hook and crochet* नामक यन्त्र व्यवहार होता है।

(३) सर्पफण शलाका—इसका उपयोग अश्मरी हरण के लिए होता है इसलिये इसे अग्रवक्र भी कहा जाता है (सुश्रुत)

(४) शरपुंख मुख—यह यन्त्र चार अंगुल लम्बा होता है इसका उपयोग दांत निकालने में किया जाता है। आजकल इसका प्रयोग *Tooth elevetor* के रूप में होता है।

(५) अर्धेन्द्र मुखीशलाका—इसका उपयोग वक्षणीय आंत्रवृद्धि (*Bubnocele*) में होता है यद्यपि सुश्रुत ने इसका शलाका प्रकरण में नाम नहीं दिया अपि तु आंत्रवृद्धि की चिकित्सा में इसका वर्णन बताया है।

उपयन्त्र वर्णन

उपयन्त्र की परिभाषा—उपयन्त्र का शाब्दिक अर्थ है 'यन्त्रैरुपमितानि' अर्थात् यन्त्रों का सादृश्य रखने वाले, समीपवर्ती अथवा छोटे यंत्र। दूसरे शब्दों में जो काम पड़ने पर यन्त्रों के अभाव में यन्त्रकर्म करने में समर्थ होते है उन्हें उपयन्त्र कहा जाता है।

उपयन्त्रों की संख्या—उपयन्त्रों की संख्या २५ बतायी गयी है जो सुश्रुत ने इस प्रकार दी है—

उपयन्त्राण्यपि—रज्जुवेणिकापट्टचर्मान्तर्वल्कलल-तावस्त्राष्ठीलाश्ममुद्गरपाणितलांगुलिजिह्वादन्तनखमुखबा-लाश्वकटकशाखाष्ठीवनप्रवाहणहर्षायस्कान्तमयानिक्षारा—ग्निभेषजानि चेति । सु० सू० अ० ७।

अर्थात्—(१) रज्जु (२) वेणिका (३) पट्ट (४) चर्म (५) अन्तर्वल्कल (६) लता (७) वस्त्र (८) अष्टीलाश्म (९) मुद्गर (१०) पाणिपादतल (११) अंगुलि (१२) जिह्वा (१३) दन्त (१४) नख (१५) मुख (१६) बाल (१७) अश्वकटक (१८) शाखा (१९) ष्ठीवन (२०) प्रवाहण (२१) हर्ष (२२) अयस्कान्त (२३) क्षार (२४) अग्नि (२५) भेषज

इनका पृथक्-पृथक् वर्णन तथा कार्य विधि नीचे दी जा रही है—

(१) रज्जु—डोरी, रस्सी या सूत्र को रज्जु कहते है जो मूंज, कपास, सन आदि द्रव्यों से बनाई जाती है रज्जु का उपयोग कई कार्यों में होता है यथा—

(अ) व्रणों के सीवन कर्मों में,

(आ) अर्श, भगन्दर, नाड़ीव्रणादि में क्षारकर्म आदि के लिए

(इ) सर्प विष के वेग को रोकने के लिए

(ई) शस्त्रकर्म के समय प्राचीन काल में रोगी को बांधने के लिए

(२) वेणिका—यह भी रज्जु का ही एक रूप है वेणिका रज्जु की अपेक्षा दृढ़ होती है।

(३) पट्ट (*Silk cloth*)—पट्ट अर्थात् पट्टी जो सिल्क आदि मुलायम वस्त्र की बनी होती है जिसका बंधन कर्म (*Bandeging*) में प्रयोग होता है। यह सिल्क आदि के अतिरिक्त अलसी या सन से बने वस्त्र (क्षौम), रूई से बने कपड़े (कपास) आदि से भी निर्मित हो सकती है। इनका विस्तृत वर्णन व्रण बन्धन अध्याय में दिया गया है।

(४) चर्म (*Leather*)—चमड़े का टुकड़ा भी उपयन्त्रों में वर्णित है इसका कार्य निम्न बताया गया है—

(१) जलोदर में जल निष्कासन के बाद बांधने हेतु

(२) गुदभ्रंश में गोफणा बन्ध के लिए

(३) सर्प विष में स्थान को बांधने के लिए

(५) अन्तर्वल्कल (*Inner bork of tree*)—पलाशादि वृक्षों की भीतरी छाल जो मृदु तथा सरल होती है, भग्न (*Fracture*) आदि के बन्धन में प्रयुक्त होती है।

आजकल इस कार्य के लिए (*Splints*) कुशा का प्रयोग किया जाता है। कुशा के उपयोग में कई वृक्षों के वल्कल सुश्रुत ने बताये हैं यथा—महुवा, उदुम्बर, अश्वत्थ, पलाश, अर्जुन, बांस, सर्ज वट। भावमिश्र ने इन वृक्षों के अलावा कदम्ब तथा निचुल की वल्कल को भी कुशा (*splint*) के योग्य बताया है।

(६) लता (*creeper*)—रज्जु आदि के स्थान पर बन्धन कर्म के लिये लता का प्रयोग किया जाता है सुश्रुत ने लता का एक और कर्म बताया है—

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमस्ति राज्यो लता मिश्च न सम्भवन्ति।
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतः परिवर्जयेत्तम् ॥
(सु० ५)

सर्प विष की साध्यासाध्यता के परिज्ञान के लिये विषयुक्त रोगी पर लता से आघात करने को बतलाया है जिन रोगियों में लता की धारियां नहीं बनती अथवा शस्त्र से काटने और शीतल जल का परिषेक करने पर प्रतिक्रिया नहीं होती उसे असाध्य समझना चाहिए ।

(७) वस्त्र (*Cotton cloth*)—वस्त्र का उपयोग शल्य चिकित्सा में बहुत होता है। साधारणतया बन्धन कर्म में वस्त्र का उपयोग सर्वाधिक होता है इसके अतिरिक्त जो भी कार्य वेणिका, रज्जु तथा चर्म के हैं वही कार्य वस्त्र के समझने चाहिए ।

(८) अष्ठीलाश्म (*Round stone*)—यह एक विशेष प्रकार का गोल तथा लम्बा पत्थर होता है जिसका उपयोग कई कार्यों में होता है यथा अस्थि में प्रविष्ट हुए अटके हुए बाणों को निकालने में इसका प्रयोग होता है इसके अतिरिक्त चरक ने मृतः प्रसूत शिशु के लिये जो अश्मसंघटन की विधि बताई है उसमें इन्हीं का उपयोग होता है । इसके अतिरिक्त वाग्भट ने इसका एक और उपयोग बताया है कि जब ग्रीवा की शिराओं का वेधन किया जाता है तो रोगी के दोनों हाथों में पत्थर रखकर जोर लगाया जाता है जिससे ग्रीवा की शिरायें अधिक स्पष्ट हो जाती है ।

अष्ठीकाश्म
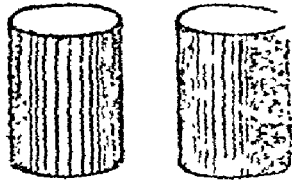
(९) मुद्गर (*Hammer wooden*)—काष्ठ अथवा लोह की बनी हथौडी या मोंगरी अस्थिगत शल्य के चलाने के लिये प्रयुक्त होती है आजकल भी *bone hammer* के नाम से इसका उपयोग शल्यकर्म में होता है

मुद्गर (Mallet)

(१०) पाणितल एवं पादतल (*Palm of the hand & sole of the foot*)—हाथ उपयोग की दृष्टि से सर्व प्रधान यन्त्र है । बिना हाथ के शल्य शास्त्र का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, परन्तु यहां उपयन्त्रों में पाणितल की गणना का अर्थ विशिष्ट अर्थो में है अर्थात् पाणितल द्वारा किये गये वह कर्म जो यन्त्रों के अभाव में किये जाते हैं यहां समाविष्ट किये गये हैं ये कर्म निम्न हो सकते हैं—

(१) व्रण शोफादि की चिकित्सा में अंगुष्ठ द्वारा विम्लापन की क्रिया में हस्ततल तथा पादतल दोनों का उपयोग होता है।

(२) हनुसन्धि विश्लेष(*Dislocation of mendible*) में अंगूठे तथा अँगुली की सहायता से उसे यथास्थान लाया जाता है।

(३) नवजात शिशु में ओष्ठ तालु कण्ठ आदि की सफाई के लिये अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है ।

(४) कंठ में शल्य प्रवेश हो जाने पर रोगी के कन्धे पर मुट्ठी के द्वारा प्रहार करके शल्य निर्मूल किया जाता है।

(५) हड्डी आदि कठोर स्थान पर शल्य के प्रवेश कर जाने पर पादतल से उसे निकाला जाता है।

(११) अंगुलि (*Finger*)—हस्ततल या पादतल के समान ही अंगुलियों के कार्य समझने चाहिए ।

(१२) जिह्वा (*Tongue*)—रस के ज्ञानार्थ रसना का प्रयोग होता है। प्रमेह आदि में रसना के द्वारा मूत्र की मधुरता का ज्ञान करने के लिये बताया गया है परन्तु आजकल ऐसा करना उचित नहीं समझा जाता। इसके अतिरिक्त नेत्रगत शल्य को जिह्वा द्वारा निकालने का भी विधान बताया गया है ।

(१३) दन्त (*Teeth*)—दन्त से तात्पर्य हस्तिदन्त से समझना चाहिये । हस्तिदन्त का प्रयोग अनेक औषधियों में किया जाता है परन्तु इसका प्रमुख उपयोग यन्त्रादि के निर्माण में होता है।

(१४) नख (*Nail*)—नख का उपयोग त्वचा-मांसगत सूक्ष्मशल्यों के निकालने के लिये किया जाता है । आधुनिक युग में शल्य में शल्य क्रिया के समय

त्वचा के भिन्न-भिन्न पर्तों को स्वतन्त्र करने में नखों का उपयोग किया जाता है। कभी-कभी स्फोट आदि में जब पूय या जल भर जाता है तो नखों को शुद्ध करके उससे भेदन का कार्य किया जाता है।

(१५) **मुख** (*Mouth*)—मुख का प्रयोग विष, दुष्ट-स्तन्य, पूयादि के आचूषण में विशेष रूप से होता है। शृंग आदि के प्रयोग के समय रक्त आचूषण की विधि मुख के द्वारा ही की जाती है इसके अतिरिक्त मज्जागत विद्रधि में अस्थि में छेद्र करके नाड़ी को प्रवेश कराके वायु का चूषण मुख द्वारा करने का विधान है। आजकल चूषण कार्य के लिए चूषण पम्प (*Suction pump*) का प्रयोग किया जाता है।

(१६) **बाल** (*Hair*)—अपरापातन, कण्ठगतशल्य, व्रण सीवन शिरोगत व्रणादि में बालों का प्रयोग किया जाता है।

आज कल भी सीवन द्रव्यों में बाहर के सीवनों में घोड़े के केशों का प्रयोग होता है और कण्ठासक्त शल्यों के निकालने में विषेपतः छोटे और तेज विजातीय द्रव्यों के निकालने में केशों के बने यन्त्र (*Probang and coin catcher*) प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त मस्सों के काटने के लिये भी घोड़े का बाल बांध कर उन्हें काटा जाता है।

(१७) **अश्वकटक** (*Bridle*)—अश्वकटक घोड़े की लगाम को कहा जाता है। अस्थिगत शल्य को निकालने के लिये अश्वकटक का उपयोग बताया गया है। अस्थिगत शल्य को घोड़े की लगाम के साथ बांध दिया जाता था तथा घोड़े में चाबुक मारी जाती थी तब घोड़ा शिरोवेग से शल्य को निकाल देता था।

(१८) **शाखा** (*Branch of a tree*)—वृक्ष की शाखा का उपयोग भी अस्थिगत शल्य को निकालने के लिये किया जाता था। वृक्ष की डाल को झुकाकर उससे शल्य बांध दिया जाता था तथा उसके उपरांत शाखा को छोड़ दिया जाता था शाखा के ऊपर उठने के साथ-साथ शल्य भी खिंचा चला जाता है।

(१९) **ष्ठीवन** (*Spitting*)—मुख या कण्ठस्थ शल्य को ष्ठीवन अर्थात बलपूर्वक थूकने से रोगी बाहर निकाल देता है अतः ष्ठीवन को उपयन्त्रमें सम्मिलित किया गया है।

(२०) **प्रवाहण** (*Forcing out*)—वात,मूत्र, प्रीष और गर्भ के अवरोध में यन्त्र के अभाव में प्रवाहण या कुन्थन क्रिया उपयन्त्र का कार्य करती है। वमन, विरेचन और अश्रु प्रवर्तनादि के द्वारा आमाशय, आन्त्र और नेत्र के विजातीय पदार्थों का निर्हरण भी प्रवाहण के ही अन्तर्गत् समझना चाहिए।

(२१)) **हर्षण** (*Joy*)—यह हृदय या मनोगत दुख जिसे सुश्रुत ने शोक शल्य कहा है, को उन्मूलन करने का एक मात्र साधन है। हर्ष सूचना, आश्वासन, प्रियकथा आदि से रोगी का ध्यान बदलने से दुख निवृत्त या न्यून हो जाता है अतः हर्षण को उपयन्त्र में समावेष किया गया है।

(२२) **अयस्कान्त** (*Magnet*)—लौह शल्य के परीक्षार्थ तथा निष्कासनार्थ अयस्कान्त या चुम्बक का प्रयोग किया जाता था। आजकल भी अयस्कान्त का प्रयोग नेत्रगत लौह शल्यों को निकालने के कार्य में होता है। सन्दिग्ध शल्य स्थान पर (लौह की सूई आदि के प्रवेश कर जाने पर) चुम्बक द्वारा उसकी परीक्षा करने हेतु भी चुम्बक का प्रयोग आजकल किया जाता है।

(२३) **क्षार** (*Alkaline*)—क्षार तथा क्षार सूत्रों का प्रयोग शल्यकर्म में प्राचीन काल से प्रचिलित है इसका विस्तार से वर्णन क्षारकर्म-विधि में दिया गया है।

(२४) **अग्नि** (*Cautery*)—अर्श, भगन्दर, दुष्ट व्रणादि पर इसका प्रयोग किया जाता था इसका विस्तृत वर्णन अग्निकर्म विधि के अध्याय में दिया गया है।

(२५) **भेषज** (*Drugs*)—भेषज शब्द से इस वर्ग के भीतर ऐसी औषधियों का समावेश किया गया है जो शल्यगत रोगों में यन्त्र के अभाव में वही कार्य करती है जो यन्त्र के द्वारा सम्पन्न किया जाता है अतः भेषज को उपयन्त्र माना गया है।

व्रणशोफ की अवस्था से लेकर पक्वव्रण की अवस्था तक जिस-जिस रूप से भेपज का प्रयोग सम्भव है उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) शामक भेपज—शोफ की अवस्था में पीड़ा शमनार्थ यथा–देवदारु, अरणी, बिजौरा आदि।

(२) पाचक भेषज— पूय उत्पादन के लिए (पुल्टस) यथा—तिल, सरसों, सत्तू सन आदि

(३) दारक भेषज—विद्रधि के विदारण हेतु यथा—भल्लातक, चित्रक, दन्ती करंज आदि

(४) पीडन भेषज—पूयादि के स्राव के लिए—जौ, गेहूँ, उड़द आदि

(५) शोधक भेषज—व्रणशोधन के लिए यथा—शंखिनी, कनेर, मालती, आरग्वध आदि

(६) रोपण भेषज—व्रण को भरने के लिए यथा—पृश्न-पर्णी, हल्दी, लोध्र, अगर आदि

(७) व्रण धूपन—कृमियों को निर्जीव करने के लिए यथा—राल, देवदारु, सालसारादि गण की औषधियां

(८) लेखन भेषज—व्रणों में मांसांकुर आदि की उत्पत्ति होने पर उन्हें निर्मूल करने के लिए यथा—कसीस सैन्धव लवण, मैनसिल, सिरीष और करंज का फल आदि

इस प्रकार सुश्रुत ने २५ उपयन्त्रों का वर्णन किया है। जिसका वर्णन यथा सम्भव ऊपर दिया गया है। वाग्भट ने उपर्युक्त २५ उपयन्त्रों में वेणिका, अन्तर्वल्कल, लता, अंगुलि, अश्वकटक, ष्ठीवन, प्रवाहण, क्षार, अग्नि और भेषज इन १० उपयन्त्रों को सम्मिलित नहीं किया है तथा उनके स्थान पर चार अन्य उपयन्त्रों का समावेश किया है जिनका संक्षिप्त विवरण दिया जारहा है :—

१. आन्त्र (Intestine)—यहां मेष, अजा आदि की शुष्क अन्त्रों का वर्णन किया गया गया है, यह छेदन के अनन्तर सूक्ष्म सिरादि के बन्धन के कार्य में आता है। आजकल बिडाल नामक जन्तु की आन्त्र जो *Catgut* के नाम से जानी जाती है वस्तुतः यह आविष्कार आयुर्वेद का ही है।

२. काल (Time)—काल यद्यपि यन्त्र नहीं, तो भी विद्रधि, व्रणशोथादि के पकने और फटकर भरने में समय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। सुश्रुत ने भी क्रिया-कालः का वर्णन किया है।

३. पाक (Suppuration)—व्रणों के पाक की प्रतीक्षा करना आवश्यक है।

४. भय (Fear)—हर्ष के साथ भय भी आवश्यक है जब रोगी शस्त्र कर्म के समय काबू में न आये या कोलाहल करे तो उसे डरा-धमकाकर चुप करा दिया जाता है तब वह शस्त्र कर्म की पीड़ा सहन कर लेता है।

यन्त्र कर्माणि (Functions of Instruments)

यन्त्र कर्मों का सुश्रुत ने इस प्रकार वर्णन किया है—

यन्त्र कर्माणि तु निर्घातन, पूरण, बन्धन, व्यूहन, वर्तन, चालन, विवर्तन, विवरण, पीडन, मार्ग विशोधन, विकर्षण, आहरण, आञ्छन, उन्नमन, विनमन, मज्जन, उन्मथन, आचूषण, ऐषण, दारण, ऋजुकरण, प्रक्षालन, प्रधमन, प्रमार्जनानि चतुर्विंशतिः ॥ —सु० सू० अ० ७

इन क्रियाओं की संक्षेप में व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

१. निर्घातन—शल्य को पाषाणादि से आघात करना (Hammering)

२. पूरण—वस्ति के द्वारा कर्ण, गुदा, नेत्र और योनि में औषध का भरना (Filling)

३. बंधन—रज्जु से अथवा चर्म से या पट्ट से बांधना (Bandaging)

४. व्यूहन—व्रणोष्ठों को मिलाना (Bringing together the edges of the wound)

५. वर्त्तन—यथास्थान स्थापन (Replacement)

६. चालन—एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना अथवा अटके हुए शल्य को निकालना (Transfering Moving a foreign body)

७. विवर्त्तन—शल्य को ऐंठकर निकालना (Turning round)

८. पीडन—व्रणगत पूय और स्राव को दबाकर निकालना (Pressing)

९. विवरण—संकीर्ण मार्ग को चौड़ा करना (Dilatation)

१०. मार्गविशोधन—मूत्रमार्ग और गुदा को साफ करना (Clearing the urethra and Rectal cannal)

११. विकर्षण—पकड़कर खींचना (Extraction)

१२. आहरण—बाहर ले आना (Pulliug out)
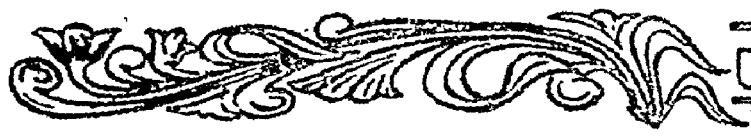
१३. आंछन—संकुचित अङ्गों का खींचना (Pulling up)

१४. उन्नमन—अधःस्थित शल्य को ऊपर ले जाना (Elevation)

१५. विनमन—उभरी हुई हड्डी आदि को नीचे दबाना (Depression)

१६. भंजन—तोड़ना (Crushing)

१७. उन्मथन—शलाका द्वारा विलोडन (Probing or stiring)

१८. आचूषण—दूषित रक्त को शृङ्गादि के द्वारा चूसना (Suction)

१९. एषण—गण्डूपदमुखी शलाका से मार्गान्वेषण (Exploration)

२०—दारण—फाड़ना (Splitting)

२१. ऋजुकरण—सीधा करना (Straightening)

२२. प्रक्षालन—व्रण को धोना (washing of wound)

२३. प्रधमन—नाड़ी की सहायता से औषधि का चूर्ण फूंकना (Blowing or insuflation)

२४. प्रमार्जन—पोंछना (Rubbing out as a foreign body in the eye)

यन्त्रों के दोष (Defects of the Instruments)

यन्त्रों के दोषों का वर्णन सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—

तत्र अतिस्थूलम्, असारम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अग्राहि, विषमग्राहि, वक्रं, शिथिलम्, अत्युन्नत, मृदुकीलं, मृदुमुखं, मृदुपाशमिति द्वादश यन्त्र दोषाः।

—सु० सू० अ० ७

अर्थात् यन्त्रों के १२ दोष हैं—

१. अति स्थूल—यन्त्र की मोटाई अधिक नहीं होनी चाहिए। अतिस्थूल यन्त्र भद्दा (Clumsy) प्रतीत होगा।

२. असार—यन्त्र अच्छे, पक्के (Durable) लोह के बने होने चाहिए।

३. अतिदीर्घ—अत्यधिक लम्बा नहीं होना चाहिए।

४. अतिह्रस्व—बहुत छोटे नहीं होने चाहिए।

५. अग्राही—अच्छी तरह न पकड़ में आने वाले अग्राही कहलाते हैं, यन्त्र का दोष है।

६. विषमग्राही—टेढ़ी-मेढ़ी पकड़ वाला यन्त्र दोषयुक्त होता है।

७. वक्र—टेढ़ा (Curved) यन्त्र दोषयुक्त होता है।

८. शिथिल—शिथिल होने से पकड़ने में नहीं आता अतः दोषयुक्त होता है।

९. अत्युन्नत—जिस यन्त्र का कोई भाग विशेष रूप से उन्नत या उठा हुआ हो वह दोषयुक्त समझना चाहिए।

१०. मृदु कील—मृदु कील वाले यन्त्र दोष युक्त होते हैं, जोर या दबाव डालने पर मृदुकील के टूटने से यन्त्र बेकार हो जाता है।

११. मृदुमुख—यन्त्र का मुख या अग्रभाग कोमल होना उसके दोषयुक्त होने का परिचायक है; कोमल अग्र वाला यन्त्र पकड़ के कार्य में उपयुक्त नहीं होता।

१२. मृदुपाश—कोमल पाश वाला यन्त्र दोषयुक्त होता है। यह दोष विशेषरूप से स्वस्तिक यन्त्रों में पाया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त लेख में यन्त्रों की परिभाषा, लक्षण, संख्या, आकार, भेद से यन्त्रों की गणना तथा उनका वर्णन, उपयन्त्रों की परिभाषा, संख्या, विविध उपयन्त्रों का वर्णन, यन्त्रों के कर्म तथा यन्त्रों के दोषों का सविस्तार वर्णन किया गया है तथा आवश्यकतानुसार आधुनिक शल्य यन्त्रों का विवरण भी दिया गया है। उपर्युक्त लेख में जिन पुस्तकों की सहायता ली गयी है विशेष रूप से—सुश्रुत संहिता, अष्टांग हृदय, अष्टांग संग्रह तथा डा० रमानाथ द्विवेदी कृत सौश्रुती, पं० सुरेन्द्र मोहन द्वारा रचित आयुर्वेदीय यन्त्र-शस्त्र परिचय, डा० दाऊदयाल गर्ग द्वारा लिखित यन्त्र-शस्त्र परिचय, डा० अनन्तराम शर्मा कृत शल्य समन्वयः, डा० जी० एन० मुखोपाध्याय लिखित Surgical instruments of Hindus पुस्तकों के नाम प्रमुख हैं। मैं उन सभी लेखक महोदयों का हृदय से आभारी हूं। यदिप्रस्तुत लेख छात्रों वैद्यों के लिए थोड़ा भी लाभप्रद सिद्ध हुआ तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूंगा।

शस्त्र अनुशस्त्र विमर्श

आयुर्वेद शिरोमणि आचार्य पं० हर्षुल मिश्र 'प्रवीण', पेंशनवाड़ा रायपुर (म० प्र०)

☆

शस्त्रकर्म या सर्जीकल आपरेशनों में सुश्रुत के मत से वीस प्रकार के शस्त्रों का उपयोग वतलाया गया है। सुप्रसिद्ध सुश्रुत टीकाकार गुरुदेव डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर के मत से वीस यह संख्यावाचक शब्द होते हुए भी यहां प्रकार का वोधक है। शस्त्रों के प्रकार कुल वीस ही होते हैं पर एक-एक प्रकार में कई-कई शस्त्र आ सकते हैं इसलिये उनकी संख्या वीस से कहीं अधिक होती है। यदि केवल वीस ही शस्त्र होते तो आज ऑपरेशन थियेटरों के शस्त्रकक्ष इतने भरे हुए न देखे जाते।

शस् वध या हनन के लिए प्रयुक्त कर्म है। जिसका उपयोग इस कार्य निमित्त किया जाय वह शस्त्र है जैसे खड्ग या तलवार।

सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान के आठवें शस्त्रावचारणीय नामक अध्याय में वीस शस्त्रों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

विंशतिः शस्त्राणि—शस्त्र २० होते हैं।

तद्यथा—वे इस प्रकार हैं :—

१. मण्डलाग्र शस्त्र—६ अंगुल लम्वा शस्त्र का अग्रभाग गोल होता है। इसके २ प्रकार हैं—एक जिसका सिरा गोल और दूसरा उस्तरे के समान। वाग्भट ने इसे तर्जनी के अन्तर्नख जैसा वतलाया है। इसके छेदन और लेखन २ कार्य हैं।

(i) गलशुण्डिका या टॉन्सिल के काटने के लिए, इसका प्रयोग वतलाया गया है—

अंगुष्ठांगुलिसंदंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थितम्॥

(ii) मूढगर्भ में शिरोविदारण के लिए वृद्धिपत्र तीक्ष्णाग्र होने के कारण उपयोगी नहीं माना जाता मण्डलाग्र उपयुक्त वतलाया गया है—

मण्डलाग्रेण कर्त्तव्यं छेदमन्तर्विजानता।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन्॥

(iii) सुश्रुत एवं चक्रदत्त में कई नेत्ररोगों के शस्त्रकर्मों में जैसे अर्म, पोथकी तथा सिराजाल के लिये मण्डलाग्र का उपयोग किया जाता था।

(iv) चक्रदत्त ने जिह्वाकण्टक रोग में कण्टकों का लेखन मण्डलाग्र से करके पिप्पल्यादिगण के द्रव्यों को मधु मिलाकर प्रतिसारण का विधान किया है।

आचार्य रमानाथ द्विवेदी अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक सौश्रुती में यह मानते हैं कि जो शस्त्र गर्भशिर और कपाल के भेदन में प्रयुक्त होता था वह नेत्रगोलक जैसे कोमल अंग पर लेखन कर्म में कैसे प्रयुक्त होता था वह एक ही आकार-प्रकार का कैसे हो सकता है। अर्थात् वह कई आकार-प्रकार का होता होगा।
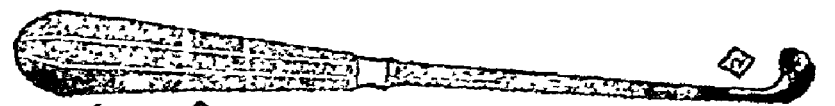
मण्डलाग्र शस्त्र शिरोविदारण हेतु

आधुनिक शस्त्रों में यह सर्क्युलर नाइफ या उस्तरा जैसा गोल सिरे वाला चाकू या डिकैपिटेशन हुक या शार्प क्युरेट कहा जा सकता है।

२. करपत्रशस्त्र—हाराणचन्द्र सरस्वती ने इसकी व्युत्पत्ति दी है—

'कण्टकैराचितत्वात् करात् पततीति करपत्रम्' कण्टकों या कांटों से युक्त हाथ से चलाया जाने वाला या धीरे-धीरे गिरने वाला शस्त्र करपत्र कहलाता है। कांटे जैसे दांते जिसमें हों। इसे बोन सॉ (Bone Saw) या हड्डी काटने का आरा कहते हैं। —छेदेऽस्थ्नां करपत्रन्तु। इसकी धार खर (खुरदरी) होती है। इसके दांते सूक्ष्म होते हैं (सूक्ष्मदन्तम्) तथा लम्बाई वाग्भट के अनुसार दस अंगुल की, सुश्रुत के मत से ६ अंगुल की तथा भोज के मत से १२ अंगुल की होती है।

> द्वादशांगुलदीर्घं स्यात्तु चाचितकण्टकम्।
> करपत्रं विजानीयात् भिषगाकृतिमानतः॥
> —भोज।

इसकी चौड़ाई वाग्भट ने २ अंगुल मानी है—विस्तारे द्वयंगुलम् इसकी पकड़ने की मुट्ठी (त्सरु) अच्छी होनी चाहिऐ—सुत्सरु बन्धनम्, अस्थिच्छेदनार्थम् इसे वृद्ध वाग्भट ने लिखा है।

आजकल अस्थि काटने के ये आरे अनेक प्रकार के होते हैं। इन्हें आधुनिक शस्त्रों में नेजल सॉ, हेज सॉ, आदम्स सॉ, ब्यूचर्स सॉ आदि श्री अनन्तराम शर्मा ने शल्य समन्वय में गिनाये हैं। आचार्य रमानाथ द्विवेदी करपत्र को अस्थिवेधक या ट्रिफाइन भी माना है, क्योंकि यह भी अस्थिछेदक अस्थिछेदनार्थ भी प्रयोग होता है। उन्होंने जीवक द्वारा शिरःशूल के रोगी की कपालास्थियों को छेदकर रोगकारक पदार्थ निकाल कर सीं दिया।
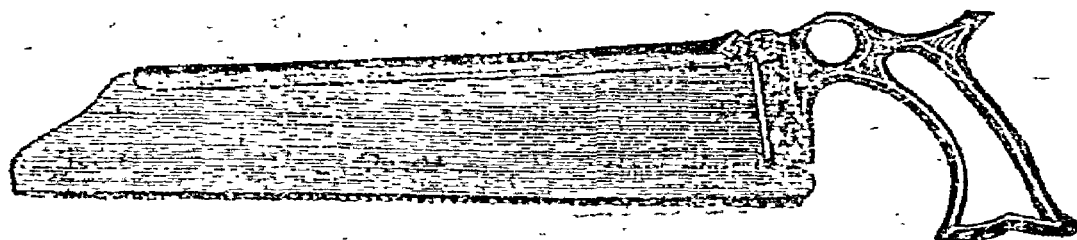
३. वृद्धिपत्र शस्त्र—वृद्धि एक अष्टवर्ग की औषधि है, उसके पत्ते के समान चौड़ा यह शस्त्र होने से उसका यह नाम वृद्धिपत्र रखा गया है। वृद्धिपत्रमिति वृद्धिरायतत्वेन समृद्धिः पत्रे पत्राकारे फले यस्य तद् वृद्धिपत्रम्—हाराणचन्द्र। इसके २ भेद प्रयताग्र तथा अञ्चिताग्र बतलाये गये हैं। प्रयताग्र का अग्र भाग सीधा तथा अञ्चिताग्र का अग्र भाग मुड़ा हुआ होता है। वृद्धिपत्र को क्षुर या छुरा या उस्तरा भी कहा जाता है। प्रयताग्र या ऋज्वग्र का उपयोग छेदन, भेदन और पाटन में किया जाता है—

> वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने।
> ऋज्वग्रमुन्नते शोफे गम्भीरे तु तदन्यथा॥

अञ्चिताग्र के फिर २ उपभेद—दीर्घवक्त्र (लम्बा मुंह) तथा ह्रस्ववक्त्र (छोटा मुंह) होते हैं। प्रयताग्र की विद्रधियों को चीरने के लिए तथा अञ्चिताग्र का दीर्घमुख वाला गम्भीर भाग की विद्रधियों को काटने के लिए तथा ह्रस्वमुख छोटी विद्रधियों के काटने के लिए प्रयोग किया जाता है। छोटे-बड़े आकार के ये कई होते हैं।

वृद्धिपत्रशस्त्र के द्वारा छेदन भेदन पाटन सम्बन्धी निम्नांकित कार्य किए जाते हैं—

(क) पक्वशोफादिषु प्राज्ञः पाटनं तेन कारयेत्—पक्व शोथ को काटने के लिए

(ख) शस्त्रकर्मणि निष्णातः पाटनं तेन कारयेत्—किसी भी पाटन कर्म में

(ग) अववाहुक, विश्वाची और गृध्रसी की वेदनाओं में वृद्धिपत्र से चीरा लगाकर गुञ्जाफल का कल्क बना चीरे पर रगड़ने से इन वातरोगों में वेदना शीघ्र शांत हो जाती है।

(घ) सन्निपातज मूर्च्छा में सिर में ब्रह्मरन्ध्र के पास क्षुर या वृद्धिपत्र से चीरा लगा चीरे के स्थान पर अंगुली से रसौषध का घर्षण करने से मूर्च्छा से व्यक्ति जग जाता है।

(ङ) सर्पदंष्ट मूर्च्छा में सिर में काकपद जैसा चीरा वृद्धिपत्र से लगाकर औषधि लगाने से

चिकित्सा की जाती है ।

(च) रोमयुक्त व्रण के बाल काटने के लिए वृद्धिपत्र का उपयोग लिखा है ।

(छ) मेदोज वृद्धि में मेद पाटन हेतु इसका प्रयोग होता है ।

(ज) लूतादंश में त्वचा के विदारण में वृद्धिपत्र का उपयोग किया जाता है ।

आधुनिक शस्त्रों में वृद्धिपत्र का प्रयताग्र भेद स्कालपेल (Scalpel) कहलाता है तथा अंचिताग्र बिस्चुरी कहा जाता है । बिस्चुरी दीर्घवक्त्र तथा ह्रस्ववक्त्र दोनों ही प्रकार की होती है ।
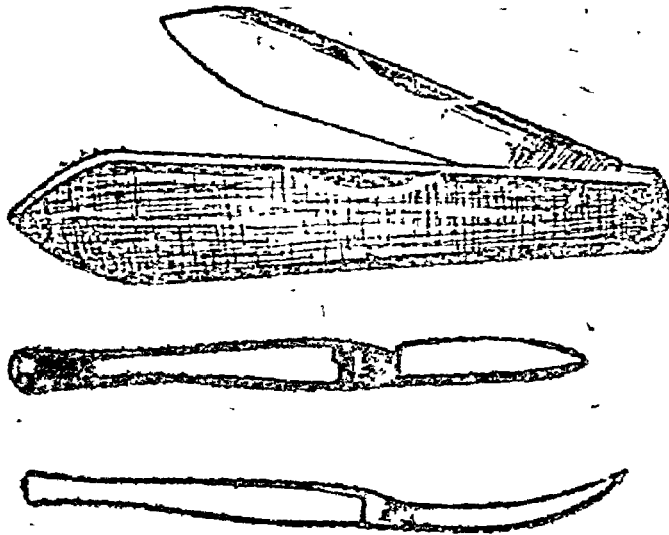
४. नखशस्त्र—इसे नेल पेरर (Nail parer) भी कहा जाता है । यह नाखून काटने के लिए प्रयुक्त होता है ।

नखशस्त्रमष्टांगुलमेकतोऽश्वकर्णमुखमन्यतो वत्सदन्तमुखं सूक्ष्मशल्योद्धृती । —अ० सं० सू०

नखशस्त्र ८ अंगुल का होता है उसका एक भाग अश्वकर्ण (घोड़े के कान) जैसा तथा दूसरा भाग बच्चे के दांत जैसा होता है । उल्हण नख को काटने के शस्त्र को नखशस्त्र मानते हैं—नखानां छेदनाय शस्त्रं नखशस्त्रम् । नाइयों की नहेंनी ही नखशस्त्र है तथा जिसका मुख आधे अंगुल का होता है—

नखानां छेदने कार्यं शस्त्रमष्टांगुलायतम् ।
अर्द्धांगुलं मुखं तस्य तीक्ष्णधारं तु कल्पयेत् ॥

वाग्भट इसे दो मुख वाला मानता है जिसकी एक ओर की धार वक्र और दूसरी ओर की ऋजु (सीधी स्ट्रेट) होती है । वह इसे ९ अंगुल का बतलाता है—

वक्रर्जुधारं द्विमुखं नखशस्त्रं नवांगुलम् ।
सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छानलेखने ॥

फलकाप्य ने हस्त्यायुर्वेद में दस अंगुल लम्बे तीन अंगुल के फल वाले रम्पक नामक नखशस्त्र का उपयोग लिखा है ।

कुछ नखशस्त्र वक्रधार वाले ८ अंगुल के तथा ऋजुधार वाले ९ अंगुल के होते हैं—अष्टांगुलं वक्रधारमृजुधारं नवांगुलम् ।

५. मुद्रिका शस्त्र—इसे अंगुलिशस्त्र भी कहते हैं । इसके सम्बन्ध में मालुकि लिखते हैं—

मुद्रिकया विवद्धं स्याद् वृद्धिपत्रं सलक्षणम् ।
द्वयंगुलं मुद्रिकाशस्त्रं क्षुरसंस्थानमेव च ॥

अंगूठी में पहने जा सकने योग्य वृद्धिपत्र (क्षुर) जैसी धार वाला २ अंगुल का शस्त्र होता है । वाग्भट लिखता है—कुर्यादंगुलिशस्त्रकम् ।

मुद्रिकानिर्गतमुखं फलेत्वर्धांगुलायतम् ।
योगतो वृद्धिपत्रेण मण्डलाग्रेण वा समम् ॥
तत्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम् ।
सूत्रवद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदनभेदने ॥

अंगूठी की तरह पहना जाने योग्य जिसका फल आधा अंगुल चौड़ा होता है, इसका फल वृद्धिपत्र या मण्डलाग्रशस्त्र जैसा होता है । इसे प्रदेशिनी अंगुली के आगे के पोर में पहना जाता है । इसमें दृढ़ सूत्र बांधा जाता है । यह गलरोग के छेदन भेदन शस्त्रकर्मों में प्रयुक्त होता है । सूत्र को मणिबन्ध (कलाई) में शल्यवैद्य बांधकर ही इसका प्रयोग करता है ताकि यह सरक कर गले में न उतर जाय ।

इसे आधुनिक रिंग स्कालपैल कहा जाता है। इसका नाम फिंगर नाइफ कहा जाता है।

मुद्रिकाशस्त्र

६. **उत्पलपत्रशस्त्र**—हस्त्यायुर्वेद में उत्पलपत्र नामक शस्त्र का वर्णन पालकाप्य ने शस्त्रविधि अध्याय में शल्यस्थान में इस प्रकार दिया है—

तच्चाष्टांगुलप्रमाणमध्यर्धांगुलि-विस्तृतमुभयतोधारम्।

अर्थात् ८ अंगुल लम्बा १॥ अंगुल चौड़ा दो धार वाला उत्पलपत्र शस्त्र होता है। इसके सम्बन्ध में भोज का यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है—

तुल्यमुत्पलपत्रेण तीक्ष्णधारं समाहितम्।
षडंगुलं प्रमाणेन शस्त्रमुत्पलपत्रकम्॥
तत्पत्रं त्र्यंगुलायामकार्यमंगुलविस्तृतम्।

अर्थात् उत्पलपत्र शस्त्र नीलकमलदल जैसा होता है। इसकी धार तीक्ष्ण होती है। ६ अंगुल लम्बा होता है। इसका फलक ३ अंगुल लम्बा और १ अंगुल चौड़ा होता है।

इस उत्पलपत्र का उपयोग छेदन और भेदन नामक शस्त्रकर्मों के लिए किया जाता है।

इसे आधुनिक लैंसेट (Lancet) कहते हैं।

उत्पलपत्रशस्त्र

७. **अर्धधार शस्त्र**—इसके विषय में डल्हण का यह वक्तव्य है:—

अर्धधारा यस्य तदर्धधारं चक्रधारमिति प्रसिद्धम्, अन्ये अध्यर्धधारमिति पठन्ति, अधिकं अर्धधारां यस्य तदध्यर्धधारम्।

जिस शस्त्र के फलक में एक ओर को ही धार हो उसे अर्धधारशस्त्र कहते हैं। यह चक्रधारशस्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। दूसरे शल्यकर्मवेत्ता इसमें डेड़ धार मानते हैं। एक ओर पूरी धार तथा दूसरी ओर आधे फलक पर धार और उसे वे अध्यर्धधार के नाम से पुकारते हैं। कुछ अध्यर्धधार को आधे से अधिक फलक में धार का होना ही स्वीकार करते हैं।

भोज लिखता है—

अर्धधारन्तु कर्त्तव्यंशस्त्रमष्टांगुलायतम्।
उरस्यंगुलविस्तारं फले तद् द्वयंगुलं भवेत्॥

इसके अनुसार यह ८ अंगुल का होता है जिसके अन्दर एक अंगुल चौड़ा, दो अंगुल लम्बा फलक होता है यह छेदन भेदन हेतु प्रयुक्त होता है।
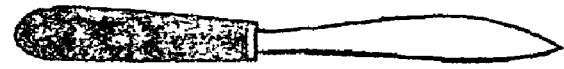
यह एक प्रकार का नाइफ या चाकू है।

७. **सूची शस्त्र**—इसके विषय में सूत्रस्थान के २५वें अध्याय में भगवान् धन्वन्तरि लिखते हैं—

देशेऽल्पमांसे सन्धौ च सूची वृत्ताऽङ्गुलद्वयम्।
आयता त्र्यंगुला त्र्यस्रा मांसले वाऽपि पूजिता॥
धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोदरोपरि।
इत्येतास्त्रिविधाः सूचीस्तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः॥
कारयेन्मालती पुष्पवृन्ताग्र परिमण्डलाः॥

इस वर्णन के अनुसार सूची ३ प्रकार की होती है, एक २ अंगुल की गोल सूची जो थोड़े मांस वाले स्थानों और सन्धियों में सीने के काम आती है। दूसरी ३ अंगुल लम्बी ३ धार वाली मांसल अंगों को सीने के काम आती है। तीसरी धनुष के समान अर्द्ध चन्द्राकार जो मर्मस्थान, वृषणकोश, उदर को सीने के लिए प्रयुक्त की जाती है। इस प्रकार ३ प्रकार की सुइयां होती हैं, जिनका अग्रभाग तीक्ष्ण होता है। मालती के पुष्प के वृन्ताग्र जैसी गोल नुकीली उसकी नोंक होती है।

आधुनिक भाषा में इनको स्यूचरिंग नीडिल्स (*Suturing needles*) कहा जाता है। सुश्रुतोक्त सूचियों जैसी ही आज भी इनका व्यवहार किया जाता है। सुइयों के आविष्कार की कहानी सुश्रुत संहिता जितनी प्राचीन तो कम से कम बन ही जाती है।
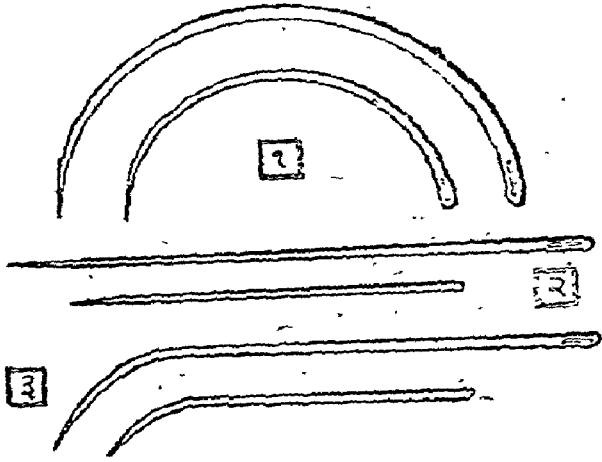
१. वृत्ताकार सूची　　　　२. सीधी सूची
३. त्रिधार वक्रसूची

६. कुशपत्र शस्त्र—यह कुश नामक घास के पत्ते के समान होता है—कुशपत्रमिति कुशपत्रतुल्यं कुशपत्रम्। इसके विषय में उल्हण ने लिखा है—

द्व्यङ्गुलं कचकं विद्याद् अंगुलं फलमुच्यते ।
वृन्तं स्यात् त्र्यंगुलं मध्ये कुशपत्रस्य लक्षणम् ॥

इसका कचकं २ अंगुल का, फल १ अंगुल का तथा वृन्त ३ अंगुल का होता है ।

हस्त्यायुर्वेद में कुशपत्र का निम्नांकित वर्णन दिया गया है—

नवांगुलं कुशपत्रम् । पञ्चांगुलं वृन्तम् । चतुरंगुलं पत्रम् । अध्यर्धांगुलतुलविस्तृतम् उभयतोधारम् । कुशपत्राकृति गम्भीरपाकभेदनार्थम् । —शल्यस्थान, शस्त्रविधि अध्याय । इस वर्णन के अनुसार कुशपत्र ६ अंगुल का होता है, जिसका वृन्त या वेंटा ६ अंगुल का होता है । यह पत्र या फल १॥ अंगुल चौड़ा दोनों तरफ धार वाला कुश के पत्र जैसे आकार का (नोंकदार) होता है । इसका उपयोग गहराई में बने पाकों का भेदन करने के लिए किया जाता है । सुश्रुत इसे विस्रावणकर्म के लिए उपयोगी मानता है । जलोदर का जलसंचय कुशपत्र के द्वारा विस्रावण द्वारा ही निकाला जाता है । रक्तविस्रावण कर्म की डा० घाणेकर प्रच्छान मानते हैं ।

डल्हण और पालकाप्य के कुशपत्रों का भेद मनुष्य और हाथी के आकार की दृष्टि से छोटा या बड़ा है ।

वाग्भट ने कुशपत्र और वक्ष्यमाण आटीमुख दोनों का उपयोग स्राव्ये या रक्तस्रावण हेतु बतलाया है तथा दोनों का फलक २ अंगुल का स्वीकार किया है—

कुशाटावदने स्राव्ये द्व्यङ्गुलं स्यात्तयोः फलम् ।
—अ० हृ० सू० स्था० अ० २६

आधुनिकों की दृष्टि में यह एक प्रकार का चाकू ही है । अधिकांश अनुवादक इसे पैजेट नाइफ (Paget's knife) या विस्चुरी मानते हैं ।

पैजेट नाइफ

(१०) आटीमुख शस्त्र—जलवर्द्धनी नामक एक जलपक्षी आटी कहलाता है । उसके मुख की आकृति वाला शस्त्र आटीमुख शस्त्र कहलाता है—आटीमुखमिति जलवर्द्धनी नाम पक्षि-विशेषः, तन्मुखवत् मुखं यस्य तदाटीमुखम् । इसके बारे में और भी विवरण डल्हन ने इन शब्दों में दिया है—

वृन्तं सप्ताअंगुलं विद्यात् तस्याग्रे फलमिष्यते ।
आटीमुखप्रकारं हि फलमंगुष्ठमायतम्
आटीमुखं विजानीयात् तत् स्रावणविधौ मतम् ॥

अर्थात् इसका वेंटा ७ अंगुल का उसके आगे फलक होता है जो एक अंगूठे के बराबर चौड़ा होता है । इस फल का आकार प्रकार आटी नामक जल पक्षी जैसा होता है । इसका उपयोग स्रावण के लिए किया जाता है ।

आटी का वैज्ञानिक नाम टार्डस जिंजिनीमस डा० घाणेकर ने लिखा है उन्होंने चन्द्र चक्रदत्त द्वारा इसे हांकबिल सीजर्स मानने से इनकार कर दिया है जो उन्होंने इन्टरप्रिटेशन आफ एन्शिमेन्ट हिन्दू मेडिसिन में लिखा है । उनका कहना है कि सुश्रुत वाग्भट आदि इसका उपयोग

आटीमुखशस्त्र

रक्तविस्रावण के लिए करते हैं इस कारण यह शस्त्र कैंची जैसा नहीं हो सकता। इसे उन्होंने एक प्रकार का लेंसेट माना है इसे कुछ लोग स्ट्रेट गम लेंसेट मानते हैं।

(११) शरारिमुख शस्त्र—शरारि के मुख की आकृति का यह शस्त्र होता है। शरारि मुखशस्त्र का वर्णन डल्हण के शब्दों में यों है—शारारिर्दीर्घचञ्चु पक्षिविशेषः स द्विविधः धवलस्कन्धः रक्तशीर्षश्च,धवलस्कन्धस्य शरारि-रिति संज्ञा। शरारिमुखवन्मुखं यस्य तच्छरारिमुखम्, तस्य शस्त्रस्य लोके कर्त्तरीति संज्ञा, ताञ्च द्वादशाअंगुलां चलत्पलाशां कुर्य्यात्। अर्थात् एक लम्वी चोंच वाला पक्षी होता है। वह धवलस्कन्ध तथा लालसिर इन २ भेदों में पाया जाता है। इन में धौले कन्धे वाला शरारि कहलाता है। शरारि के मुख जैसी आकृति वाला शस्त्र शरारि-मुखशस्त्र कहलाता है। इसी शस्त्र को लोक में कर्तरि या कैंची कहते हैं। सुश्रुत ने—तेषां नामभिरेव आकृतयः प्रायेण व्याख्याताः लिखकर नाम से ही शस्त्रों की आकृतियाँ बतलादी गई हैं—ऐसा लिखा है। इसी के साथ दशांगुला शरा-रिमुखी सा च कर्तरीति कथ्यते लिख कर शरारिमुख के कर्तरि या कैंची होने के सभी सन्देह दूरकर दिये हैं।

शरारिमुख के कर्तरि होने में सन्देह वाग्भट ने पैदा किया है। उसके शरारिमुख तथा त्रिकूर्चक को स्रावण के लिए उप-योगी बतलाया है तथा कर्तरि का अलग वर्णन किया है। कर्तरि को स्नायुसूत्रकच्छेदन के लिये उपयोगी बतलाया है। डा० घाणेकर इस विवाद को यह लिखते हुए मिटाते हैं।

"इसका अर्थ यह हो सकता है कि सुश्रुत का शरारि-मुखशस्त्र दो फल का कर्तरि के सदृश था और वाग्भट का शरारीमुख एक फल का लान्सेट नाइफ सदृश था। अंगरेजी में कर्तरी को पेयर आफ सीझर्स कहते हैं।"

शरारि-पक्षी की चोंच अन्तर्धार वाली २ फलकों की ही होती है यह समुद्री पक्षी है जो इस चोंच से कैंची की तरह काट-काट कर मछली मैंढक या अन्य जीवों को खाता है। इसके दोनों फलक नुकीले होने के कारण या छेदन भेदन और विस्रावण तीनों में ही समर्थ होता है।

चक्रपाणिदत्त ने कर्तरि का लक्षण यों लिखा है:—

आनुपूर्वायतां तीक्ष्णां प्रमाणेन दशांगुलम्।
त्रिभागे कीलयोगं हि जानीयात कर्तरीं भिषक्॥

अर्थात् यह उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत और नुकीला होता जाता है। लम्वाई दश अंगुल की होती है। एक तिहाई भाग पर कील से दोनों फलक जुड़े होते हैं।

इसके द्वारा व्रण के बाल काटे जाते हैं:—

रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति।
क्षुरकर्तरिसंदंशैस्तस्य रोमाणि कर्तयेत्॥
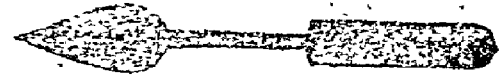
शरारीमुखशस्त्र
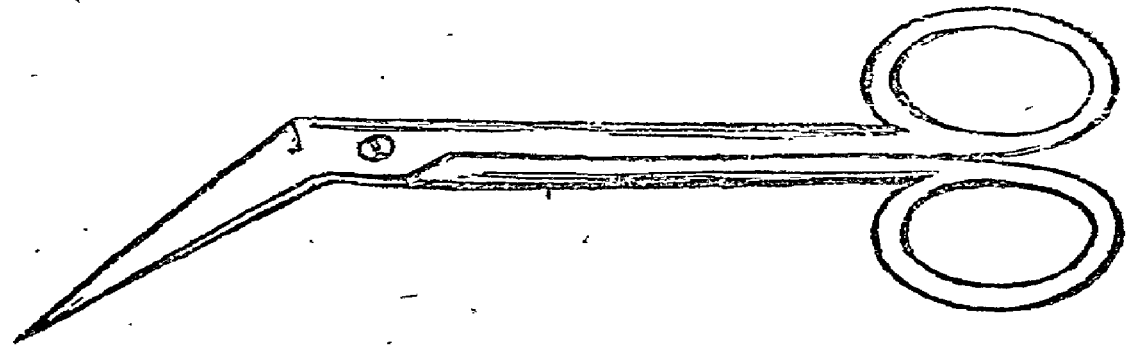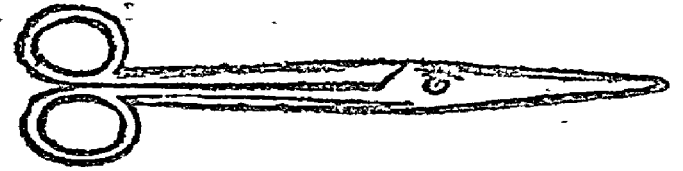
(१२) अन्तर्मुख शस्त्र—इसके सम्बन्ध में डल्हण लिखता है—अन्तर्मुखमिति मध्यमुखं, तल्लक्षणमाह—

अष्टांगुलं प्रमाणेन जिह्मधारेण चाप्लुतम्।
शस्त्रमन्तर्मुखं नाम चन्द्रार्द्धमिव चोद्गतम्॥ इति

इस शस्त्र का मुख भीतर की ओर रहता है। यह आठ अंगुल का होता है। इसकी धारा टेढ़ी या वक्र होती है। यह अर्द्ध चन्द्राकार शस्त्र द्वारा गर्भ के दोनों वाहुओं के छेदन की ओर इङ्गित हारीत करता है—अथवार्द्ध चन्द्रेण शस्त्रेण्णैव मृतगर्भस्य वाहुयुगलं सञ्छिद्य वाहू निःसारयेत्। हारीतसंहिता तृतीय स्थान अध्याय ५१ वृद्धवाग्भट अन्त-र्मुखमर्द्ध चन्द्राकारध्यर्द्धांगुलफलम्—१॥ अंगुल फलक वाले अर्ध चन्द्राकारशस्त्र को अन्तर्मुखशस्त्र मानते हैं। इसका उपयोग भी विस्रावण हेतु किया जाता है

आधुनिक भाषा में इसे कर्व्ड विस्चुरी (*Curved bistoury*) कहते हैं।
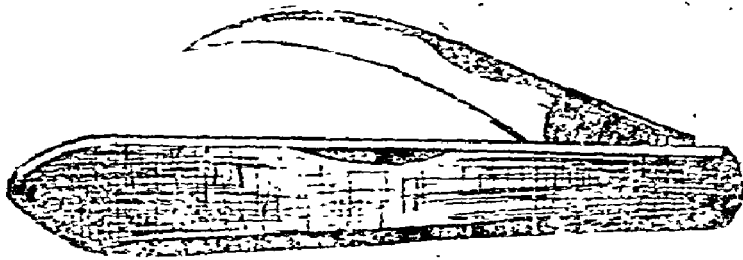
(१३) त्रिकूर्चक शस्त्र—डल्हण ने लिखा है-त्रिकूर्च्चकमिति त्रयः कूर्च्चा यस्य तत् त्रिकूर्च्चकम्, तत्र तन्त्रान्तरम्—

अंगुलानि तथाष्टौ च शस्त्रं कार्यं त्रिकूर्च्चकम् ।
फलैरन्तर्मुखाकारै रंगुलैरन्वितं त्रिभिः ॥
एकैकस्य फलस्यैषामन्तरं व्रीहिसाम्मितम् ।
वृन्तं पञ्चांगुलायामं कार्य्यं रुचकभूषितम् ॥ इति

त्रिकूर्चक शस्त्र में ३ कूर्च या ब्रुश होते हैं। अन्य ग्रन्थों में यह आठ अंगुल का शस्त्र है जिसके ३ फलक अन्तर्मुख के आकार के ३ अंगुल के व्रीहि बराबर दूरी पर स्थित होते हैं। वृन्त का आयाम ५ अंगुल का होता है। यह एक सुन्दर वलय के रूप में होता है और आभूषण के रूप में प्रयुक्त होता है।

हाराणचन्द्र ने त्रयः कूर्चाः क्षुद्रच्छुरिका यन्त्र तत्त्रिकूर्चकम् बतलाया है। इसके अनुसार छोटी छुरी जैसे ३ शस्त्र एक साथ लगे हुए हों।

चन्द्र चक्रवर्ती इसके नाम के आधार पर इसे ट्रोकार मानते हैं। जिसे डाक्टर घाणेकर मानने को तैयार नहीं है।

वाग्भट ने कूर्च और खज ये दो शस्त्र अलग से दिये हैं—

कूर्च—सर्ववृत्तास्ताश्चतुरंगुलाः ।
कूर्चो वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताष्टौ वा सुबन्धनाः ॥
स योज्यो नीलिकाव्यङ्गकेशशातेषु कुट्टने ।

यह कूर्च शस्त्र चार अंगुल के एक गोल पीठ पर सात या आठ सुईयों का एक गोलाई में बन्धन होता है जो नीलिका, व्यंग, केशशातन और कुट्टन (गुदना गोदने) में प्रयुक्त होता है।

खज—अर्द्धांगुलमुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः खजः ।
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक् ॥

आठ काँटे या बालों से जड़ा आधे अंगुल के मुख वाला गोल खज होता है इसे हाथ से रगड़ कर नासा से रक्त का निर्हरण किया जाता है।

वाग्भट के दोनों शस्त्र ब्रुशों के प्रकार हैं जबकि सुश्रुतीय त्रिकूर्चक एक प्रकार का विस्रावण करने के लिए प्रयुक्त शस्त्र है।
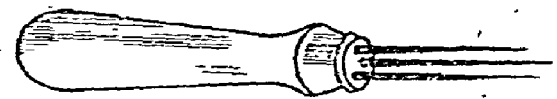
१४. कुठारिका शस्त्र—वाग्भट इसे कुठारी कहता है—

पृथुः कुठारी गोदन्तसदृशार्धांगुलानना ।
तयोर्ध्वदण्डया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां शिराम् ॥

कुठारी चौड़ी, गाय के दांत जैसा आधे अंगुल मुख वाला। अस्थि के ऊपर वाली सिरा का वेध उसके ऊपर वाले दण्ड से किया जाता है।

पालकाप्य ने कुठाराकृति शस्त्र का वर्णन कुठारो शस्त्रप्रच्छेदनार्थम्। प्रच्छेदन और प्रच्छन्न दोनों के लिए बतलाया है।

डल्हण—कुठारतुल्या कुठारिका लिखते हुए तन्त्रान्तर का यह वर्णन करते हैं :—

कुठारिकाया वृन्तं स्यात् सार्द्धसप्तांगुलायतम् ।
फलमर्द्धांगुलायामं गोदन्त सदृशं समम् ॥ इति

अर्थात् कुठारिका शस्त्र का बेंट ७॥ अंगुल लम्बा तथा उसका फलक आधे अंगुल का गाय के दांत जैसा नीचे से मोटा ऊपर पतला होता है।

कुल्हाड़ी या कुठारिका बहुत प्रसिद्ध और लकड़ी काटने के लिये प्रयुक्त बड़ा शस्त्र है। इसी की आकृति का सूक्ष्म रूप में यह शस्त्र मानवशल्यकर्मों पर प्रयुक्त होता है।

इसे आधुनिक एक्सशेप्ड नाइफ (Axe-Shapd Knife) मानते हैं।

१५. व्रीहिमुखशस्त्र—व्रीहि के मुख के समान आकृति वाला शस्त्र, व्रीहि का अर्थ धान या चावल है।

धान के आकार का यह शस्त्र "भोज", के इस वर्णन के द्वारा बनाया जाता है।

शस्त्रं व्रीहिमुखं कार्य्यमंगुलानि षडायतम् ।
द्वयंगुलं तस्य वृन्तं स्यात् तत्फलं चतुरंगुलम् ॥
तन्मुखं व्रीहिविस्तारं तनुसंगूढकण्टकम् ॥ इति

व्रीहिमुख शस्त्र ६ अंगुल लम्बा बनाना चाहिये। उसका बेंट २ अंगुल का तथा फलक ४ अंगुल का हो। उसके मुख का विस्तार व्रीहि (धान) जैसे आकार का हो, पतला हो और उसका कण्टक वाला नुकीला भाग ढंका हुआ होना चाहिए। इसे पकड़ने का विधान सुश्रुत ने तलप्रच्छादितवृन्तमंगुष्ठ प्रदेशिनीभ्यां व्रीहिमुखम् द्वारा इसे, अंगूठा और तर्जनी से ऐसे पकड़ना चाहिए कि उस का बेंट हथेली से ढंक जावे।

वाग्भट ने इसे भोज के शस्त्र वर्णन से बहुत छोटा लिखा है :—

—तथा अध्यर्धांगुले फले ।
व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं च तच्छिरोदरयोर्व्यधे ॥

इसके अनुसार इसका फल १॥ अंगुल का ही होता है। इसे हथेली से ढंका जा सकता है। इसे शिर और उदर के वेध करके पानी निकालने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

इसे आजकल ट्रोकार एण्ड कैन्युला कहते हैं। क्योंकि इसका मुख व्रीहि जैसा नुकीला और ढंका होता है तथा उसका उपयोग वेधन के लिए ही किया जाता है।

१६. आराशस्त्र—डल्हण लिखता है—आरेति आरा असिश्चर्मकाराणां शस्त्रम् आरा एक असि है जिसे चर्मकारों का शस्त्र कहते हैं। तन्त्रान्तर का वर्णन उसने यह लिखा है—

आरा द्वयष्टांगुलायामा कर्त्तव्या तु विशाम्यते ।
तिल प्रमाणन्तु फलं तस्याः कार्यं समाहितम् ॥
दूर्वांकुरपरीणाहं वृन्तं गोपुच्छसन्निभम् ॥ इति

यह तन्त्रान्तरीय वर्णन असि (तलवार) का नहीं है बल्कि दूब के अंकुर जितने परिणाह वाले तिल प्रमाण २ अंगुल फलक वाले ८ अंगुल लम्बे शस्त्र का वर्णन है। जिसे ऑल (awl) या सूजा कहते हैं।

वाग्भट का आरा शस्त्र आधा अंगुल लम्बा और गोल होता है। इससे कच्चे या पके शोफ का वेध करते हैं। मोटी कर्णपाली में भी इससे वेध किया जाता है। इसे मूल या जड़ से पकड़ने का निदेश सुश्रुत ने किया है।

१७. वेतसपत्र शस्त्र—वेतस पत्र जैसा यह शस्त्र होता है। इसके विषय में "भोज" लिखता है—

तीक्ष्णमंगुलविस्तारं चतुरंगुलमायतम् ।
अंगुलानि तु चत्वारि वृन्तं कार्यं विजानता ॥ इति

यह ४ अंगुल का शस्त्र है जो तेजधार वाला होता है चौड़ाई १ अंगुल तथा बेंट ४ अंगुल का होता है। इसका उपयोग भी वेधनकर्म हेतु किया जाता है। आचार्य अनन्तराम शर्मा ने वाग्भटार्थकौमुदी के हवाले से बतलाया है कि वेतसपत्र के समान इसकी धार दन्तुर होती है—वेतसपत्रवत् तन्तुरत्वादस्य वेतसपत्रमिति संज्ञा। इसे डा० घाणेकर तथा आचार्य रमानाथ द्विवेदी संकीर्ण फलक वाला चाकू या नैरो ब्लेडेड नाइफ मानते हैं।

१८. बडिश शस्त्र—डल्हण के अनुसार बडिशमिति बडिशतुल्यं बडिशं मत्स्यवेधनमाहुः—बडिश मछली पकड़ने का कांटा जैसा शस्त्र बडिशशस्त्र कहलाता है। इसके विषय में वह तन्त्रान्तर का नीचे लिखा वर्णन देता है—

बडिशे चापि कर्त्तव्ये प्रमाणे तु षडंगुले ।
स्वानतन्तु तयोरेकमेकं नात्यानतं भवेत् ॥
अर्द्धपञ्चांगुलं वृन्तं शेषं कार्य्यं मुखं तयोः ।
अर्द्धचन्द्राकृतिर्वक्त्रं कार्य्यं नात्यानतस्य तु ॥
स्वानतं नामयेत् तत्र बडिशञ्च भिषग्वरः ।
वृन्ताग्रयोरन्तरं स्याद् यावदर्द्धांगुलं मतम् ॥ इति

बडिश शस्त्र ६ अंगुल का होता है। यह २ प्रकार का बतलाया है। एकस्वानतबडिश और दूसरा नात्यानतबडिश। इनमें नात्यानत बडिश का ५॥ अंगुल का बेंट होता है। शेष आधा अंगुल का उसका मुख अर्द्धचन्द्राकार मुड़ा हुआ होता है। स्वानत बडिश को बेंट के आगे आधा अंगुल पूरा का पूरा मोड़ दिया जाता है।

स्वानत के द्वारा गलशुण्डिका या नेत्र के अर्म को या मूत्रमार्ग में पड़े शल्य को या अश्मरी को निकालने के लिये प्रयोग किया जाता है ।

सौश्रुती के अनुसार "चक्रदत्त" इसके द्वारा अर्बुद को काटने के पूर्व उसे पकड़कर स्थिर करने के लिए प्रयोज्य बतलाता है ।

इसे आधुनिक हुक(Hook)कहते हैं । इसका चित्र यन्त्रों के प्रकरण में दिया जा चुका है ।

१९. दन्तशंकु शस्त्र—डल्हण इसका परिचय इस प्रकार देता है—दन्तशंकुरिति कपालिका शर्करादिदन्तदोषहरणाय शंकुर्दन्तशंकुः—दांतों के कपालिका, शर्करा आदि दोषों को खुरच कर निकालने के लिए जिस शस्त्र का प्रयोग किया जाता है वह दन्तशंकु कहलाता है ।

इसके सम्बन्ध में 'भोज' लिखता है—

कार्य्यः षडंगुलायामो दन्तशंकुर्विजानता ।
शंकुवच्चमुखं तस्य कार्य्यमर्द्धांगुलायतम् ।।
चतुरस्रं समञ्चैव तीक्ष्णधारं समाहितम् ।
वृन्ताग्रं तस्य कर्त्तव्यं शस्त्रं व्रीहिमुखाकृति ।।
कपालिकां शर्कराञ्च दन्तस्थां तेन शोधयेद् ।

अर्थात् ६ अंगुल लम्बा दन्तशंकु जानना चाहिए । इसका मुख शंकु जैसा आधे अंगुल का बनाया जाता है । यह चौकोण होता है जिसकी एक सी तीक्ष्ण धार होती है यह बेंट के आगे बनाई जाती है । इससे कपालिका, शर्करा (टार्टार) जो दांत पर चिपका होता है खुरचा जाता है ।

इसी को 'वाग्भट' दन्तलेखन शस्त्र बतलाता है—

एकधारं चतुष्कोणं प्रबद्धाकृति चैकतः ।
दन्तलेखनकं तेन शोधयेद्दन्तशर्कराम् ।।

इसे आज कल टूथ स्केलर (Tooth Scaler) कहा जाता है ।
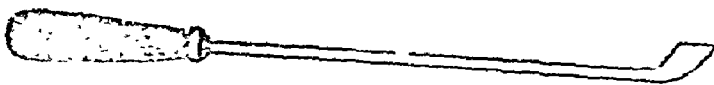
२०. एषणी शस्त्र—एषणी का विचार यन्त्राध्याय में शलाकाओं के अन्तर्गत किया जा चुका है । गण्डूपदाकार एषणी वहां वर्णित है । 'डा० घाणेकर का' कहना है कि एषणी के ३ कार्य अन्वेषण, भेदन तथा आनुलोमन है । अन्वेषण हेतु गण्डूपदकारमुखी एषणी यन्त्रगत शलाका में दी जा चुकी है । भेदन या भेदन के साथ अन्वेषण कार्य हेतु तीक्ष्णमुखी एषणी चाहिए उसका समावेश शस्त्रों में यहां हुआ है । 'वृद्ध वाग्भट ने' 'एषण्येषणे भेदने च' लिखकर इसकी पुष्टि की है । एषण तथा भेदन २ काम एषणियों के बतलाये हैं । वाग्भट की सूचीमुखा एषणी भेदन के लिये ही है—

गतेरन्वेषणे श्लक्ष्णा गण्डूपदमुखैषिणी ।
भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा ।।

अर्थात् अन्वेषण हेतु चिकने केंचुए सदृश मुख वाली एषणी का प्रयोग किया जाता है । भेदन के लिए दूसरी सूचीमुखा एषणी का व्यवहार होता है यह पोली होती है जिसकी जड़ में छेद होता है ।

आधुनिक भाषा में इन्हें प्रोब (Probe) कहते हैं ।

वाग्भट ने 'सर्पास्य' शस्त्र दिया है जो घ्राण और कर्ण के अर्शों को काटने के लिए प्रयुक्त होता है । लिंगनाशवेधनी शलाका यह कैटेरेक्ट या मोतियाबिन्द को वेधने वाली शलाका है इसे कैटैरेक्ट नीडिल कहते हैं ।

कूर्च, खज, कर्तरी का पहले यथास्थान विचार किया जा चुका है । कर्णवेधन के लिए 'वृद्ध वाग्भट' एक ही शस्त्र का प्रयोग करता है पर पतली कर्णपाली के लिए 'वाग्भट' यूथिकामुकुलानन तथा मोटी के लिए सूची त्रिभाग सुषिरा त्र्यंगुला कर्णवेधनी का प्रयोग बतलाता है ।

वे सभी शस्त्र उत्तम तथा ग्रहण या पकड़े जा सकें ऐसे बनाये जाने चाहिए जिसमें सुलोह (आजकल स्टेनलैस स्टील) का प्रयोग हो, धार तेज हो देखने में ठीक हों उनका मुखाग्रभाग ठीक वैसा ही हो जैसा इस अंग के अनुकूल हो, चिकने हों । अधिक वक्र, कुण्ठित, खण्डित, खर धार वाले (करपत्र को छोड़कर) बहुत भारी या तुच्छ या बहुत दीर्घ बहुत ह्रस्व शस्त्र नहीं होने चाहिये । उन पर ठीक-ठीक पानी या पायना चढ़ाना चाहिए । इनका निर्माण कर्मकोविद कर्मार इंजिनियरों से बनवाना चाहिए ।

—शेषांश पृष्ठ ११५ पर

व्रणः कर्मणि शस्यते

वैद्य रामजीलाल शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य फिरोजाबाद (आगरा)

☆

सुश्रुत संहिता सूत्र स्थान के पांचवें अध्याय में व्रण कितना बड़ा किया जाय इस पर विशेष विचार करते हुए लिखा गया है :—

तत्रायतो विशालःसमः सुविभक्तो निराश्रय इति व्रणगुणाः ॥

भवतश्चात्र

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः ।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ॥८॥

जब कहीं कोई विद्रधि बनने लगती है पाक प्रारम्भ हो जाता है तब उसे चीरने के लिए शल्यवेत्ता भिषक् को शस्त्रकर्म करना पड़ता है। शस्त्रकर्म करने वाले वैद्य के गुण इसी अध्याय में निम्नांकित दिये गये हैं :—

शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथु ।
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥६॥

अर्थात् जो शस्त्रकर्म करने वाला वैद्य हो उसमें ये गुण होने ही चाहिए :—

१. शौर्यम् अस्वेद वेपथु—शूरवीरता, या मन की निर्भयता—डरा और कांपते हाथों वाला वैद्य या सर्जन यह कार्य नहीं कर सकता न उसे करने देना चाहिए। इसलिए वैद्यक शिक्षा देते समय ही कौन विद्यार्थी अधिक हिम्मत वाला है उसी को शस्त्रकर्म निष्णात बनाने के लिये उपाध्याय को प्रेरित करना चाहिए; उसे शस्त्रकर्म करते समय न तो पसीना आना चाहिए न हाथ या शरीर कांपना चाहिए;

२. आशुक्रिया—चीरने या शस्त्रकर्म को शीघ्रता से सम्पन्न करने की आदत होनी चाहिए;

३. शस्त्रतैक्ष्ण्यम्—सर्जन के द्वारा प्रयुक्त शस्त्र (सर्जीकल इन्स्ट्रूमेंट) तेज या तीक्ष्ण धार वाला होना चाहिए;

४. असंमोह—इसका अर्थ रक्तस्राव देखकर मूर्च्छित होने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, ऐसा करते हैं यह भाव तो प्रथम शौर्य अस्वेद वेपथु में ही आ जाता है। मोह या संमोह मूर्च्छा के लिए प्रयुक्त शब्द होने पर तो सर्जन की बीमारी का बोध होता है बीमार आदमी शस्त्रकर्म नहीं कर सकता। रक्तजमूर्च्छा भी रोग के अन्दर आती है। उसे तो शस्त्रकर्म का अधिकार ही नहीं हो सकता जैसे किसी अपस्मारी को शस्त्रकर्म करने का अधिकार नहीं हो सकता। यह असंमोह शब्द सामान्य मोह का विशेष रूप है यदि किसी डाक्टर का किसी रोगी के साथ निकट का सम्बन्ध हो तो वह शस्त्रकर्म करने में मोह के वशीभूत हो तो उसे शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिए।

५. प्राप्तकालकृतश्चापि—जब काल प्राप्त होगया हो तब ही वैद्य को चीरा लगाना चाहिए। इसके ३ अर्थ डल्हण ने दिये हैं—

(i) युक्ते काले कृते—जब विद्रधि पक कर तैयार हो जाय उस युक्त या उपयुक्त समय पर उसे चीरना चाहिए;

(ii) एतेन शस्त्रक्षाराग्निसाध्यो बालवृद्धयोरप्राप्तकालः तयोर्व्रणे शस्त्रादिनिषेधात् शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म ये तीनों ही बाल्यकाल तथा वृद्धावस्था में नहीं किये जाते, इन दोनों कालों में इनका ... बतलाया गया है। इसी कारण ये ...

लिए अप्राप्त काल होते हैं। इनके अतिरिक्त यौवन एवं प्रौढ़ावस्था प्राप्तकाल कहे जाते हैं।

(iii) अथवा शीतकाले अग्निसाध्यो व्रणो ग्रीष्मे स एव अप्राप्तकालः—अथवा शीतकाल में अग्निकर्म द्वारा साध्य व्रण के लिए ग्रीष्म ऋतु अप्राप्त काल माना जाता है अतः ग्रीष्म ऋतु में अग्निकर्म नहीं करना चाहिए।

प्राप्तकालकृतश्चापि को डल्हण ने एक अन्य मत से युक्तकालकृत लिखा हुआ बतलाया है—अन्ये तु युक्तकालकृत इति पठन्ति। तत्र समपाक इत्याचक्षते। युक्तकालकृतः सम्यकपाककृतः प्रतिक्रिया इत्यपरे।—जिसका अर्थ समपाक है। कुछ लोग युक्तकालकृत को सम्यक्पाककृत जिसका ठीक-ठीक पाक किया जा चुका हो ऐसा मानते हैं। जब पाक ठीक से हो जाय तब उसके प्रतीकार या प्रतिक्रिया के रूप में वैद्य द्वारा व्रण बनाना चाहिए।

ऊपर जो आयतश्च विशालश्च इत्यादि शब्दों के साथ श्लोक दिया है वह सुश्रुत संहिता में कुछ ने पढ़ा ही नहीं है।

आयत का अर्थ दीर्घ और विशाल का अर्थ विस्तीर्ण होता है। कुछ लोग आयतश्च विशालश्च इसमें जो २ च आये हैं उन से—आयतोऽपि विशालोऽपि आयतविशाल इति प्रतिपादयन्ति—आयत (दीर्घ) भी और विशाल (विस्तीर्ण) भी इस प्रकार दीर्घविस्तीर्ण ऐसा अर्थ करते हैं।

सम शब्द से समपाक ऐसा लिया जाता है—समः इति समपाकः असमपाको हि किञ्चित् पक्वः किञ्चिदपक्वः शस्त्रपातनाय न गुणो भवति जिसका अर्थ है जब विद्रधि या व्रणशोथ पूरा-पूरा पक और एक सा पक जाय तब उसे समपाक कहते हैं। असमपाक में कुछ भाग पक्का और कुछ भाग कच्चा रहता है। ऐसे अवपक्के भाग में शस्त्रकर्म गुणदायक नहीं रहता। समो निम्नोन्नतत्वरहित न कहीं नीचा न कहीं ऊंचा—एकसा तथा सुविभक्तो हीनातिदोषवर्जकः हीनदोष और अतिदोष रहित।

ठीक-ठीक शस्त्रकर्म नहीं कर पाता, कभी छोटा या बड़ा चीरा लगा जाता है फिर उसके मन में शंका जाग्रत होती है कि कहीं रोगी मर न जाय तबउसके हाथ पैर फूल जा सकते हैं और वह मूर्च्छित भी हो सकता है। इसलिये ऑपरेशन कर्म करने वाले सर्जन का रोगी के साथ कोई ऐसा सम्बन्ध न हो जो उसके मन को मोह या संमोह कर सके।
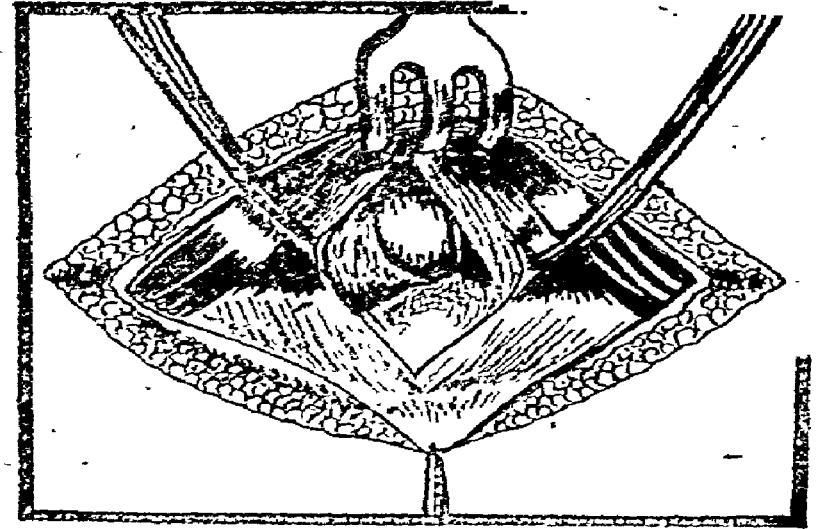
यह भेदन शस्त्रकर्म है इसमें लगाया हुआ चीरा आयत और विशाल या आयत विशाल सम सुविभक्त एवं निराश्रय स्पष्ट दीख रहा है।

वैद्यकृत—व्रण के गुण

शस्त्रकर्म के लिये जिस प्रकार के वैद्यसर्जन की आवश्यकता है उसे ऊपर लिखा जाचुका है उससे भी पहले सुश्रुत का तत्रायतो विशालः वाला उद्धरण दिया गया है जो व्रण के गुण के विषय में ज्ञान देता है। किसी भी शल्यकर्म को करने के लिये सबसे पहले सर्जन को बीमारी की जड़ तक पहुँचकर उसका उच्छेद करने के लिए उस भाग के ऊपर वाली त्वचा में चीरा लगाकर व्रण बनाया जाता है। यह व्रण कितना बड़ा हो इस पर भगवान् धन्वन्तरि ने जो निदेश दिये हैं वे आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसे उन्होंने व्रण के गुण ऐसा नाम दिया है ये गुण हैं:—

१—व्रण का आयत और विशाल होना—इतना चौड़ा और बड़ा व्रण होना चाहिए कि रोग की जड़ तक पहुँचना और उसको शुद्ध करना सरल हो जाय, अगर व्रण छोटा किया गया तो कभी-कभी वह बन्द तक हो सकता है।

२—सम हो अर्थात् उसकी गहराई सर्वत्र एक सी हो;

३—व्रण सुविभक्त हो समसुविभक्त हो जिसे evently and equally divided ऐसा अंगरेजी में अनुवाद किया गया है। ठीक-ठीक विभाजन किया जावे;

४—व्रण निराश्रय हो—इस गुण को कुन्जलाल भिषग्रत्न ने does not involve vital part of the patient अर्थात् व्रण बनाते समय किसी मर्म का छेदन न हो। डा० घाणेकर—अंगुलि मर्दन द्वारा जिसके भीतर पूय के लिये कोई आश्रय (Pockets) नहीं बचा हुआ है—ऐसा अर्थ करते हैं। इसे डल्हण ने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है—

(i) निराश्रयः जिह्वादन्तसन्ध्याद्यप्राप्यदेशमनाश्रितः

(ii) निराश्रयो मर्माद्यनाश्रितः

(iii) निराशय इत्यन्ये तत्राननुषङ्गीत्यर्थः

जिसके अनुसार जीभ, दांत, सन्धि आदि से अलग स्थान पर व्रण हो या मर्म स्थान से दूर व्रण हो अथवा अन्य किसी पहले बने व्रण के साथ मिला हुआ व्रण न हो।

वैद्यकृतव्रण दूसरा भी किया जा सकता है

एकेन वा व्रणेनाऽशुध्यमाने नाऽन्तरा बुद्धयाऽवेक्ष्या-परान् व्रणान् कुर्यात्। भवति चात्र

यतो यतो गतिं विद्यात् उत्सङ्गो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्याद् यथा दोषो न तिष्ठति॥

एक व्रण बनाने के बाद भी यदि पाकस्थान में अशुद्धि बनी रहे तो वैद्य को अपनी बुद्धि का उपयोग करते हुए स्थान-स्थान पर अन्य भी व्रण बना देने चाहिए। जहां-जहां नाड़ीव्रण हो जिसे गति शब्द से ऊपर दिखाया गया है या जहां-जहां उत्संग (उभार) पूय के कारण उठ गया हो वहां-वहां इस प्रकार व्रण बना देने चाहिए (चीरे लगा देने चाहिए) जिस प्रकार दोष (दोषोऽत्र पूयः—पूय या पीव) वहां न बैठा रह जाय। या पूय निकलने के बाद वात आदि दोषों का अनुबन्ध वहां न रहने पावे। ☆☆

पृष्ठ ११२ का शेषांश

शस्त्रों के सम्बन्ध में सुश्रुत का यह श्लोक मननीय है।

यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम्।
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत्॥

जब शस्त्र ठीक से शान चढ़ा हो बाल तक काट दे इतना पैना हो उसमें अच्छा हैंडिल हो तथा वह जिस अंग में प्रयुक्त करता हो वहां ठीक-ठीक बैठ (संस्थित हो) जाय तथा स्टैण्डर्ड प्रमाण का बना हो उसीका प्रयोग शल्यभिषक् को करना चाहिए।

अनुशस्त्र—शस्त्र के सदृश या शस्त्र के स्थान पर जिनसे कार्य लें वे अनुशस्त्र होते हैं। इनका वर्णन सुश्रुत ने किया है। इनमें बांस, स्फटिक, कांच, कुरुविंद या कोरंडम नामक पाषाण, जलौका, आदि (कॉटरी), क्षार, नख, गोजिह्वा (गावजुबां), पारिजाता का पत्ता, सागौन का पत्ता, करीर, बल और अंगुलियां आते हैं।

अन्त में वैद्य का शस्त्रज्ञान में नैपुण्य हेतु निम्नांकित श्लोक द्वारा आह्वान किया गया है।

प्रयोगज्ञस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति नित्यशः।
तस्मात् परिचयं कुर्यात् शस्त्राणां ग्रहणे सदा॥

—सु० सू० अ० ८

शस्त्रों के प्रयोग के ज्ञाता वैद्य को सदा सफलता मिला करती है इस कारण से शस्त्रग्रहण का अभ्यास वैद्य को बराबर करते रहना चाहिए।
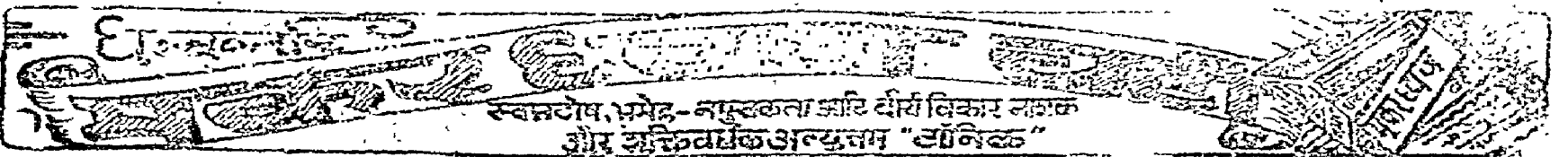
आयुर्वेदाचार्य डा० सत्यनारायण खरे, डी. एस. सी. ए., ए., एम. बी. एस.
चिकित्साधिकारी–जिला परिषद औषधालय ककवारा (झांसी)

मानव जीवन के स्वास्थ्य रक्षणार्थ जितनी काय-चिकित्सा आवश्यक है, उतनी ही शल्य-चिकित्सा आवश्यक है। आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र में सर्वप्रथम प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक महर्षि सुश्रुत हो चुके हैं, जिन्होंने शल्य-चिकित्सा द्वारा ही विभिन्न प्रकार की शल्य व्याधियों को नष्ट किया। इसलिए 'सुश्रुत संहिता' ग्रन्थ जो प्रकाशित किया गया, उसमें विभिन्न व्याधियों को शल्य-क्रिया द्वारा ही निर्मूल किया गया है। जिन यन्त्र-शस्त्रों (Instruments) का वर्णन उपरोक्त ग्रन्थ में उपलब्ध है, उन्हीं यन्त्रों का निर्माण आधुनिक युग में किया गया है एवं पाश्चात्य वैज्ञानिकों को जो कुछ भी 'शल्य विज्ञान' के बारे में सीखने को मिला वह आदि ग्रन्थ 'सुश्रुत संहिता' में ही है। वे केवल शल्य-क्रिया ही करते थे। इस कारण 'सुश्रुत संहिता' ग्रन्थ में शल्य-चिकित्सा ही देखने को मिलती है।

'शल्य' शब्द का अर्थ है कि मानव शरीर में कोई बाह्य वस्तु की प्रविष्टि अथवा शरीर की क्रियाओं में कोई ऐसी विकृति होना, जिसके निष्कासन या जोड़ने के बिना शरीर की प्राकृतिक क्रियायें या अङ्ग नियमित न हो जावें। इस प्रकार की 'निष्कासन या संहित' की क्रिया को 'शल्य क्रिया (Operation) कहते हैं।

जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थ (ऐतरेय, शतपथ) में ऐसी कथा का उल्लेख है कि जब रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया, तब सभी देवताओं ने अश्विनी कुमारों से उनके सिर को धड़ से जोड़ने की प्रार्थना की तब अश्विनी कुमारों ने यज्ञ के सिर को संहित कर दिया।

इस प्रकार की शस्त्र-क्रिया आधुनिक युग में विश्व में देखने को नहीं मिलती है फिर भी इस कथन पर अन्वेषण चल रहा होगा।

इस प्रकार की कोई भी शल्य क्रिया जिस व्यक्ति पर की जाती है, उक्त रोगी के शरीर में व्रण हो जाता है। ऐसे रोगी को व्रणित कहते हैं। इसमें शल्यक व रोगियों को क्या सावधानियां या कर्म या उपासना करनी आवश्यक होती हैं। इस प्रकार के कर्म को रक्षाकर्म या व्रणितोपासना (Sterlization) कहते हैं। इसमें व्रण करते समय कितनी शुद्धता व सावधानी की आवश्यकता है एवं शल्य-क्रिया के बाद कितनी शीघ्रता के साथ व्रण रोपण हो जावे। इन सभी कार्यकलापों को 'व्रणितोपासना' कहते हैं। इसमें कुछ कर्त्तव्य शल्य चिकित्सक के हैं व कुछ कर्त्तव्य रोगी के हैं जिससे उचित आहार-विहार के द्वारा व्रण का रोपण हो जावे और इसमें पूयोत्पत्ति न हो सके।

शल्य क्रिया के समय पूर्वकर्म (ऑपरेशन के पहले तैयारी) प्रधान कर्म (मुख्य ऑपरेशन का कार्य) एवं पश्चात्कर्म (व्रण का रोपण एवं बाह्य विषैले कीटाणु व आघात से रक्षा आदि) किये जाते हैं। इन्हीं तीनों अवस्थाओं में पथ्यों का निर्देश एवं कुछ अनुपालन आवश्यक होता है। यह सभी कार्य रक्षाकर्म के अन्तर्गत आते हैं।

अतएव 'शल्य-क्रिया' में इस कर्म का विशेष महत्व है। इन्हीं कार्यों की सुरक्षा से रोगी को जीवनदान प्राप्त

होता है। अस्तु प्रस्तुत 'सुश्रुत शल्य-चिकित्सांक' में शल्य क्रिया से सम्बन्धित जितनी भी चिकित्सा व्यवस्था है, सभी का उल्लेख होगा।

इसके मुख्य विषय 'व्रणितोपासना' पर कुछ उपयोगी अंश प्रस्तुत लेख में उल्लिखित है—

निम्न प्रकार के पथ्य व्रणित रोगी को अपनाने चाहिए एवं जो औषधियां व सावधानियां चिकित्सक को प्रयोग करना है वह इस प्रकार से हैं—

१. पूर्णशैया विश्राम—'उत्थान संवेश परिवर्तन चङ्क्रमणोच्चैभाषणादिषु"

अर्थात् उठने, बैठने, हिलने, डुलने, करवट बदलने, टहलने तथा जोर से बोलने आदि से वंचित रहकर व्रण की रक्षा करनी चाहिए। व्रणित रोगियों को शक्तिशाली होते हुए भी इन कार्यों को नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन कार्यों के करने से वायु की वृद्धि होकर व्रण में पीड़ा होने लगती है और व्रण का रोपण शीघ्रता से नहीं हो पाता है।

२. ग्राम्यधर्म का निषेध—गम्य स्त्री का दर्शन, संभाषण एवं स्पर्श तक दूर रखना चाहिए। मैथुन संबंधी सभी आहार-विहार का निषेध होना चाहिए। अश्लील उपन्यास, सिनेमा एवं अन्य सहायक कारण जो शुक्रादिक प्रधान धातुओं के स्खलन में सहयोगी हैं उनसे दूर रहना चाहिए क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि——अधिक सेवन पर—'तारच मृत्युश्च मैथुनात्।'

इस प्रकार की क्रिया से शुक्र का स्खलन होने से शरीर की स्वाभाविक शक्ति (Immunity) का ह्रास होता है जिससे व्रणरोपण में देर हो सकती है एवं व्रणित रोगी अगर अधिक मैथुन करने का साहस करता है तो उसकी जीवन रक्षा कठिन है एवं व्रण रोपण में भी विलम्ब होता है।

३. मद्य का परिहार—यदि रोगी मद्य पीने का अभ्यासी हो तब भी उसको अरिष्ट, आसव अथवा सुरा सभी द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सभी मद्य अम्ल, उष्ण, रूक्ष और तीक्ष्ण होते हैं, साथ ही आशुकारी होने से व्रण को विकृत कर देते हैं। इस कारण व्रण रोपण में विलम्ब होता है।

४. मानसिक प्रसन्नता—रोगी को सदैव प्रसन्न रहना चाहिए। व्रणित के सम्मुख अनिष्ट वस्तुओं को नहीं रखना चाहिए। जिनसे उसके मन पर ईर्ष्या, भय, क्रोध व शोक आदि का भाव जागरित न हो। इसी प्रकार रात्रि जागरण, दिवास्वप्न, अनशन, विषमाशन और अध्यशन भी व्रण के रोपण में बाधक होते हैं। इन कारणों से अग्निमांद्य हो जाता है जिसके कारण अजीर्ण रोग होने की संभावना रहती है जिससे वायु विकृत होने के कारण शोफ, पीड़ा, दाह और अधिक पूयोत्पादन स्राव होने लगता है।

५. अप्रशस्त आहार—नया अन्न, उड़द, हरेशाक, अम्ल (खट्टे), नमकीन एवं कटु पदार्थ, गुड़ के बने पदार्थ, शुष्क शाक, मांस, भेड़ व बकरी का मांस, शीत जल, दूध, दधि, तक्र आदि का परित्याग व्रण रोगी को करना चाहिए। इन आहारों के सेवन से व्रणों में दोष वृद्धि या पूयोत्पत्ति होती है।

६. व्रण रोगी के योग्य आहार—पुराने चावलों का भात, जांगल पशुओं का मांस-रस से व्रण रोपण शीघ्र हो जाता है। अनेक प्रकार के शाक चौलाई, बथुआ, छोटी मूली, पटोल, करेला, घृतभृष्ट सैंधव युक्त आंवला अनार एवं दालों में मूंग की दाल का यूष, जौ का सत्तू उपयोग श्रेष्ठ है।

७. स्वच्छ एवं प्रकाश युक्त निवास—व्रण रोगी को स्वच्छ व प्रकाशयुक्त सूखे स्थान पर निवास करना चाहिए। मक्खियों को यथा सम्भव दूर रखना चाहिए। अगर रोगी ग्रामीण क्षेत्र में मक्खियों से अधिक परेशान रहता हो तो मच्छरदानी का प्रयोग करना चाहिए।

रोगी को अधिक देर तक तेज हवा, धूप, धूम्र व ओस वाले स्थान में नहीं रहना चाहिए और न अधिक भोजन करना चाहिये।

नोट—कुछ अस्पतालों में मैंने देखा है कि जो भोजन रोगियों को अस्पताल से मिलता है वह रोगी के रोग व प्रकृति के विपरीत प्रभाव वाला है तो उसे वह भोजन या तो मिलना ही नहीं चाहिए अथवा रोगी जानता है कि उक्त भोजन उसे लाभदायक नहीं है तो वह स्वतः

उसे सेवन न करे। जैसा कि पहले उल्लिखित किया जा चुका है।

उपरोक्त विधियों के उपरांत रोगी को दैहिक अथवा भौतिक उपचार के अतिरिक्त जो उपाय आवश्यक है जो तंत्र-मंत्र से सम्बन्धित हैं परन्तु इस वैज्ञानिक युग में इस पर विश्वास कम करते हैं। तो फिर भी आधिदैविक या आध्यात्मिक विधानों का अनुसरण श्रेयस्कर है।

लेकिन ऐसा देखा गया गया है कि कुछ रोगियों में सभी उपयुक्त चिकित्सा के उपरान्त भी अगर व्रणरोपण नहीं हो रहा है तब यह समझना चाहिए कि ग्रह बाधा या निशाचरों के उपद्रव से रोगी कष्ट उठा रहा है जैसा कि शास्त्र में उल्लिखित है—

'निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः।
रक्षाविधानैर्विविधैर्यमैः सनियमैस्तथा ।।'

अर्थात् निशाचरों से व्रणित रोगियों की नित्य विविध प्रकार के उपायों से रक्षा करने की आवश्यकता रहती है।

रोगी को देवता, ब्राह्मण एवं गुरु की उपासना में लगा रहना चाहिए, वहां छोटे केश वाले, कटे हुए नाखून वाले, पवित्र वस्त्र धारण करने वाले, श्वेत वस्त्र पहनने वाले पवित्र आदमियों का प्रवेश होना चाहिए। रोगी के पास पूज्य पुरुषों द्वारा शान्ति एवं मंगल पाठ करना चाहिए।

इन उपायों से ग्रह एवं राक्षसों के दुष्प्रभावों को दूर किया जा सकता है। इनको धूप, बलि आदि उपहारों द्वारा दूर किया जाता है। रोगी के पास कुछ स्वजनों को सदैव रखना चाहिए तथा दीपक, जल, शस्त्र, माला, पुष्प या धान्य का लावा आदि द्रव्यों द्वारा कमरे को सजाया जाना चाहिए।

प्रातः-सायं दोनों समय में अपर आशीर्वचनों के द्वारा उपाध्याय और वैद्य को रोगी के रक्षा का विधान करना चाहिए।

शल्य क्रिया के उपरान्त दस दिनों तक नित्य सर्षप, अरिष्ट पत्र (नीम की पत्ती), घी व लवण के द्वारा धूप करना चाहिए। रोगी के सिर पर छत्रा, अतिछत्रा, लांगली, जटिला, ब्रह्मचारिणी लक्ष्मी, गुहा, अतिगुहा, शतवीर्या, सहस्रवीर्या, सिद्धार्थ आदि दिव्य औषधियों को धारण करना चाहिए।

प्राचीनकाल में धूम्र आदि द्वारा जो शुद्धीकरण होता था वह अब विशोधन (Sterlization) की क्रिया से सम्बन्धित है।

ग्रामीण क्षेत्रों में प्रसूता व अन्य रोगी के पास तेज-धार वाला शस्त्र चाकू या हँसिया रखते हैं। इसका महत्व केवल पिशाचों से रक्षा करना ही है। रोगी की औषधि, यन्त्र व मन्त्रों द्वारा रोगमुक्त करना ही रक्षाकर्म कहलाता है।

प्राचीनकाल में विशोधन के लिए निम्न विधियों का उल्लेख मिलता है—

१. शल्यकर्त्ता की पवित्रता—शल्यक को नख और रोम काटकर छोटे रखना चाहिए। शल्य क्रिया के पहले हाथों को अधिक से अधिक सह्य गर्म पानी से साफ करना चाहिए। नख, अंगुलियों व हस्त रेखाओं के मैल को अच्छी तरह से साफ करना चाहिए। शल्यक को स्वच्छ व श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए। पाश्चात्य ग्रन्थों में हाथों की सफाई साबुन व गर्म पानी से करने के बाद ७० प्रतिशत अलकोहल में भीगे वस्त्र को हाथों में बलपूर्वक रगड़ना चाहिए।

सुश्रुत में शल्यक को इस प्रकार रहने को लिखा है—

"सदा नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा त्वया भवितव्यम्।"

२. विशोधित जल—शुद्ध पात्र में पानी को उबाल कर रख लिया जाता है, यह जल खौलने के कारण जीवाणु रहित हो जाता है। इसके द्वारा हाथों व शस्त्रों की सफाई की जाती है। प्राचीन काल में इस प्रकार के जल से भरा घट होता था जैसाकि शास्त्र में उल्लिखित है—

"उदककुम्भाच्चापो गृहीत्वाप्रोक्षयन् रक्षाकर्म कुर्य्यात्।"

इस घड़े से आवश्यकतानुसार जल निकालकर प्रक्षालन में व्यवहार करके रक्षा करने का विधान है।

इसी प्रकार आज भी उबलते हुये जल में शोधन की प्रथा चल रही है।

३. जीवाणुनाशक चूर्ण—जिस प्रकार आज विभिन्न प्रकार के डस्टिंग पाउडर (सिवाजोल) आदि की तरह ही प्राचीनकाल में जीवाणुनाशक चूर्ण अवधूलन हेतु काम में आते थे।

१—पंचवल्कल (वड़, गूलर, पीपल, पारस व पाखर के पत्ते) का चूर्ण शुक्ति चूर्ण के साथ मिलाकर अथवा धाय व लोध्र का चूर्ण व्रण शोधक व विसर्पनाशक है।

२—"निम्वपत्र वचाहिंगुसर्पिर्लवणसैन्धवैः।
धूपनं कृमि रक्षोघ्नं व्रण कण्डु रुजापहम्॥"

अर्थात् नीम की पत्ती, वच, हीग, घी, सैंधव आदि का धूपन और चूर्णन, कृमिघ्न, रक्षोघ्न, व्रणगत कण्डु एवं पीड़ा को दूर करता है।

३—न्यग्रोधादिगण—वट, अश्वत्थ, गूलर, पाकर, मुलहठी, आमला, अर्जुन, आम, चोरकपत्र, जम्बू, मधूक, रोहिणी, वेंत, कदम्ब, लोध्र, मल्लातक व पलाश आदि ऐसे द्रव्य है जो ग्राही, भग्नसाधक व व्रण्य है। इनके चूर्ण का अवधूलन करना चाहिये।

४—इसके अतिरिक्त अशोक, कटहल, शाल व केला का चूर्ण भी व्रणरोपक व विषनाशक होता है।

५—शंखभस्म, दुग्धपाषाण व टंकणचूर्ण भी अवचूर्णन में कई कार्यो के काम आता है। प्रथम दो चूर्ण मुंहासे (युवानपिडिका) एवं टंकणचूर्ण स्राव को रोकने व पूय को कम करता है।

४. जीवाणु नाशक लेप, वर्ति व कल्क—प्राचीन काल मे ये योग मलहम की तरह काम में लाये जाते थे। विभिन्न प्रकार की वनौषधियों के चूर्ण को घृत, मधु, मोम व तेल मिश्रित कर लेप व कल्क तैयार किये जाते थे। उनमे कुछ इस प्रकार से है—

१—किसी स्थान पर शस्त्र लग जाने के कारण जो सद्यः व्रण हो जाता है उस पर तुरन्त घृत, मुलैठी व मधु का लेप करना चाहिये।

अगर ऐसे स्थान जहां (खेत, जंगल आदि) कोई अन्य साधन या वस्तु उपलब्ध न हो तो तुरन्त व्रणित को अपने व्रण पर मूत्र लेप करना चाहिये। यह टिञ्चर आयोडीन जैसा काम कर रक्तस्राव को बन्द कर देता है।

२—घृत और मधु का मिश्रण विषहर, रक्षोघ्न, जंतुघ्न एवं कृमिघ्न है। एवं मधुर रस होने के कारण संधान करने वाला होता है।

३—लशुनकल्क भी व्रण के ऊपर लेप करने से कृमिघ्न होता है।

४—तिलकल्क, मधु, सर्पि इत्यादि द्रव्यों को मिलाकर औषधियुक्त वर्ति का व्रणिधान करना चाहिये।

५—निम्वपत्र को घृत व मधु के साथ प्रलेप बनाकर व्रण पर प्रयोग करने से शीघ्र लाभ मिलता है एवं सर्वत्र उपलब्ध है। अल्प मूल्य है।

५. जीवाणुनाशक तेल, घृत एवं रस—यह भी व्रण विशोधन के काम में आते है—

प्राचीनयुग में वैसलीन या लेनोलीन के स्थान पर घृत व मधु व तेल द्वारा मलहम का निर्माण होता था जो व्रण के विशोधन मे काम आते थे। जो इस प्रकार हैं—

१. सिक्थ तेल—तिल का तेल ५ भाग, देशी मोंम १ भाग, को वगलिप्त कड़ाही में खौलावे। द्रव हो जाने पर छानकर गाढ़ा बनने तक गाढ़ा करते रहना चाहिये। यह सभी लेपो व मलहम के काम आता है।

(अ) टंकणाम्ल चूर्ण (वोरिक पाउडर) इसी को शुद्ध सुहागा कहते है, को सिक्थ तेल को एक और आठ के अनुपात में मिलाकर मलहम तैयार करना चाहिये। दग्ध व्रण के शोधन व रोपण मे व्यवहृत होता है

(आ) यशदामृत मलहर—सिक्थ तेल ६ तोला मे पुष्पाञ्जन (यशदभस्म या जिंकपाउडर) को मिलाकर वनाना चाहिये। यह रोपण कार्यो में व्यवहृत होता है।

(इ) मदनादि तेल—कुछ लेप केवल मधु में ही मिलाकर तैयार किये जाते है जैसे मदनफल ५ भाग, कपूर २ भाग, एवं मधु का मिश्रण वनाकर कण्डू में लाभप्रद होता है।

(ई) पञ्चगुण तेल—तिल तेल ३२ भाग, गुग्गुल १ भाग, शिलारस १ भाग, श्रीवेष्टक १ भाग, सिक्थ १ भाग, राल १ भाग, त्रिफला ३ भाग, निर्गुण्डीपत्र ३ भाग, निम्वपत्र ३ भाग, जल १२८ भाग, कर्पूर १ भाग। इन

सबको तेल पाक की विधि से पाक करके तेल की सिद्धि होती है।

यह तेल व्रणशोफ शामक, व्रणशोधक तथा रोपक है। तत्काल कटे घाव में लगाने से व्रण में पूयोत्पत्ति नहीं होती है। वायु शामक होने के कारण हर एक प्रकार के वातिक शूल अथवा अभिघातज पीड़ा में लाभदायक है। इसी प्रकार बाजार में सर्वगुण तेल भी प्राप्त होता है।

६. कुछ जीवाणुनाशक घोल या क्वाथ—जैसे कि आजकल विभिन्न शक्ति के घोल बनते हैं वैसे ही कुछ काष्ठौषधियों के क्वाथ यंत्र उपयन्त्र एवं शस्त्र के विशोधन में प्रचलित हैं।

जैसा कि विशोधन के लिये पटोल और नीम की पत्ती के काढ़े का व्यवहार होता है। इससे व्रण शुद्ध हो जाता है। यह तीव्र जीवाणुनाशक है। इसी प्रकार वातिक व्रणों में पञ्चमूल या दशमूल क्वाथ का पैत्तिक व्रणों में न्यग्रोधादि गण की औषधियां तथा कफज व्रणों में आरग्वधादि गण की वनस्पतियों के क्वाथ का प्रयोग होता है।

७. कुछ रासायनिक पदार्थों के घोल—जीवाणुनाशक एवं शोधन की प्रक्रिया में निम्न घोल काम में आते हैं—

इसमें गंधक द्रव—इसमें नौनियागंधक १ भाग, चूना १ भाग, जल १६ भाग, गंधक को कूटकर चूरा कर लें, फिर चूना और जल को मिलाकर पकावें। जल द्रव का रंग नारंगी वर्ण का हो जाय तो छानकर रख लेना चाहिये। इसका प्रयोग पामा, विचर्चिका क्षुद्र कुष्ठों एवं चर्म विकारों में होता है।

इसी प्रकार तुत्य द्रव को तुत्य २ रत्ती व परिश्रुत जल ५ तोला, के घोल में बनाकर छान लेना चाहिये। यह दुष्ट तथा जीर्ण व्रणों का शोधन और लेखन करता है।

८. वाष्प एवं धूपन के द्वारा शोधन—गृह तथा वस्त्र की शुद्धि के लिये चरक में लिखा है कि मयूर पुच्छ, सरसों एवं चन्दन आदि को घृत में मिलाकर जलाने से धुयें के द्वारा घर, शयन करने के आसन तथा वस्त्र आदि का विष विनष्ट हो जाता है। वे शुद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार दूषित व्रणों के धूपन के लिये कई प्रकार के नाड़ीयन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। क्षौम, यव, घी, और मधु का धूपन में प्रयोग किया जाता है। व्रण में नीम और वचादि का धूपन प्रशस्त है।

मूढ़गर्भ की अवस्था में योनि व गर्भाशय के धूपन में कृष्ण सर्प के निर्मोक (कैंचुली) का धूपन बताया गया है।

९. अग्नि के द्वारा विशोधन—"अग्नि तप्तेन शस्त्रेण छिद्यात्"।

अग्नि तप्त शस्त्रों से ही छेदन करना चाहिये। यह विशोधन की सर्वोत्तम विधि है।

१०. पायना विधि—इस विधि में यन्त्र शस्त्रों को तप्त करके पुनः उन त्रिविध द्रव (तैल, उदक अथवा क्षार में) रखने से शस्त्र की धार तीक्ष्ण भी रहती है एवं जीवाणु रहित और निर्दोष रहती है।

इस प्रकार उपरोक्त विधियों द्वारा ज्ञात होता है कि प्राच्य शस्त्र चिकित्सकों को जीवाणुनाशक (एसेप्टिक, एण्टीसेप्टिक और डिसइन्फैक्टेन्ट) का विशेष ज्ञान था। आधुनिक वैज्ञानिक एवं शल्य चिकित्सकों से अधिक व्रणित की रक्षा करते थे जैसा कि रोगी के पास तेज शस्त्र द्वारा राक्षसों के उपद्रवों की रक्षा करते थे। इसका उपयोग आज के चिकित्सक नहीं करते हैं।

प्राचीनकाल में मृदु काष्ठौषधियों के कषाय का व्यवहार, मध्ययुग में कषाय तथा मृदु वीर्य रसायनिक घोलों का प्रयोग एवं आधुनिक काल में तीव्र रसायनिक द्रव्यों के द्रवों का स्तेमाल।

इस प्रकार तीव्रतम जीवाणु और तृणाणु नाशक घोलों का प्रयोग जहां तक हो सके वस्त्र, यन्त्र, शस्त्र, विस्तर एवं कमरे के विशोधन में करना चाहिये क्योंकि अधिक तीक्ष्ण गुणवाली औषधि स्थानिक धातुओं को नष्ट करती है इसलिये व्रणरोपण के लिये मृदु प्रभावकारी घोल प्रयोग में लाने चाहिये। एवं शारीरिक शक्ति के वर्द्धन में रसायनों का प्रयोग करना चाहिये।

जिस समय मैं आयुर्वेद विश्व-विद्यालय झांसी में अध्ययन करता था उस समय हमारे गुरुदेव R. M. O. डा० देवराज शर्मा जो कि आज स्वतन्त्र रूप से सीपरी बाजार झांसी में जन-सेवा में लीन हैं। वे निम्न बहुत

सस्ता व्रणरोपक तेल प्रयोग करते थे जिसका नाम 'फिटकरी का तेल' है—

इसमें फिटकरी को शुद्ध करके १ भाग लेकर सरसों के तेल ८ भाग में मिलाकर तेल पाक करना चाहिए। इसके बाद इसे ठण्डा करके साफ कांच की शीशी में रख लेना चाहिए। इसी का गॉज व्रण के ऊपर रोजाना बांधना चाहिए। यह व्रण, कुष्ठ और विसर्पनाशक है एवं बहुत सस्ता योग है।

प्राच्य शास्त्रों के अनुसार व्रणितोपासना पर प्रकाश डाला गया है। अब पाश्चात्य वैज्ञानिक किस प्रकार विशोधन क्रिया द्वारा व्रणित की रक्षा करते हैं।

इसके जन्मदाता लार्ड लिस्टर थे। इन्होंने अन्वेषण से पता लगाया कि जिस प्रकार शर्करा में खमीर मिला देने से मद्य उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार वाह्य जीवाणु रक्त में मिलकर पूयोत्पत्ति करते हैं। पूयोत्पत्ति जीवाणु की संख्या पर निर्भर रहती है। अगर रक्त के श्वेतकण ज्यादा एवं शक्तिशाली हैं तो पूयोत्पत्ति नहीं होती है, अगर इनकी संख्या विपरीत है तो पूयोत्पत्ति ज्यादा होती है। श्वेतकण के मृत होने पर ही पूय बनती है जिससे इसका रंग सफेद होता है। इस प्रकार उक्त जीवाणुओं से व्रण की रक्षा के लिए लार्ड लिस्टर ने शल्य क्रिया में जीवाणु नाशक चूर्ण, मलहम एवं विभिन्न घोलों द्वारा व्रण की रक्षा की जिससे पूयोत्पत्ति कम हो गई एवं रोगी भी शल्य क्रिया में शीघ्र स्वस्थ होते देखे जा रहे हैं।

इस युग में व्रणित की शुद्धता या रक्षा तीन प्रकार से की जाती है, वह इस प्रकार हैं—

१, कृमिघ्न (Dis infectant)—रासायनिक पदार्थों द्वारा जीवाणुओं से रक्षा करना।

२. कीटाणुनाशक (Antiseptic)—इसमें रासायनिक पदार्थों द्वारा जीवाणुओं को नष्ट करना होता है।

२. निर्विषत्व (Aseptic)—इसके द्वारा जीवाणुओं की वृद्धि को रोकना होता है। इन्हीं को समयानुसार शल्य क्रिया में उपयोग में लाते हैं।

१. कुछ विसंक्रामक द्रव्य इस प्रकार हैं—

(थ) एक्रीफिलेविन—यह लाल रंग का चूर्ण होता है। इसका घोल पीला होता है, जो जल में घुलनशील है। इसमें तीव्र जीवाणुनाशक शक्ति है। इसका घोल १:१०० का नेत्रों के लिए एवं १:५०० का त्वचा एवं व्रणों (Ulcer) के काम आता है।

यह पूयमेह (Gonorrhoea) के व्रणों को थोड़े ही समय में शुद्ध कर देता है।

(अ) वोरिक एसिड का घोल—यह मृदु विसंक्रामक है। इसका घोल मुख, नेत्र तथा अन्य कोमल श्लैष्मिक कलाओं के धोने के काम आता है। इसका घोल किञ्चित् उष्ण जल २ औंस में १० रत्ती वोरिक एसिड पाउडर डालकर बनाते हैं।

(इ) आयोडीन—यह काले रंग के छोटे-छोटे कणों के रूप में होता है इसका घोल स्पिरिट में बनाया जाता है। इसको शोथ पर, रक्तस्राव व चर्म की शुद्धि के काम में लाते हैं।

(ई) अल्कोहल ७० प्रतिशत और रेक्टीफाइड—स्पिरिट—अल्कोहल अधिक विसंक्रामक है इसे हाथ धोने या चर्म को स्वच्छ करने के काम में लाया जाता है। परन्तु स्पिरिट को शस्त्रों की शुद्धि के काम में लाते है।

(उ) **पोटेशियम परमैंगनेट**—यह बैंगनी रंग का चूर्ण है इसको २% का घोल के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह अधिक शक्तिशाली एवं विषैला कम है। यह अनेकों विषों को भी निष्क्रिय करता है इसलिए किसी विषैले पदार्थ के सेवन के वाद आमाशय प्रक्षालन के काम में आता है। दन्तनिष्काशन में व्रण की रक्षा इसी के घोल से की जाती है। इसके द्वारा व्रण धोने से व्रण का रंग भूरा हो जाता है।

(ऊ) हाइड्रोजन पर आक्साइड—यह जल की भांति होता है इसमें आक्सीजन ज्यादा होती है जिससे जीवाणु नष्ट होते हैं एवं सड़ा गला हुआ भाग इसके सम्पर्क से झाग उबलने लगता है एवं साफ कर देता है। जब इसकी आक्सीजन का अंश कम हो जाता है तब यह जल क्रिया हीन हो जाता है। इसको समान भाग जल के साथ मिलाकर व्रण पर प्रयोग में लाना चाहिए। इसे व्रण, विद्रधि में कर्णस्राव में एवं मुखव्रण के काम आता है। इससे रक्तस्राव भी बन्द हो जाता है।

(ए) डिटोल—यह बहु विसंक्रामक होता है। इस को जल में मिला देने से दूधिया घोल बन जाता है। यह विषहीन होता है। इसका प्रयोग व्रण, आघात, हाथ साफ करने, खुजली में नहाने हेतु एवं प्रसव के समय जननाङ्ग के साफ करने के काम में आता है

इसी प्रकार वोरिक एसिड पाउडर, आयडोफार्म व जिंक आक्साइड पाउडर मलहम व प्लास्टर के रूप में काम में लाते हैं। सिवाजोल पाउडर व सल्फानिलामाइक पाउडर का भी उपयोग आजकल ज्यादा होरहा है। इनसे पूयोत्पत्ति नहीं होती है और व्रणरोपण शीघ्र होजाता है।

अब जो शस्त्र शल्य क्रिया में प्रयोग किये जाते हैं उनका विसंक्रमण इस प्रकार किया जाता है।

१. शस्त्रों का विसंक्रामण—तेज धार वाले शस्त्र जैसे चाकू, कैंची आदि को छोड़कर सभी औजार जल में आधा घण्टे तक उवाले जाते हैं। इनके लिए एक पात्र (Sterlizer) निकिल धातु का चौकोर आता है। इसमें एक चलनी होती है जिसमें २ कुण्डे होते हैं जिनको पकड़कर वाहर निकाल लेते हैं। नीचे पात्र में जल भर दिया जाता है ऊपर से ढक्कन वन्द कर दिया जाता है। नीचे स्प्रिट लैम्प द्वारा गर्मी दी जाती है जब पानी उबलने लगे तब शस्त्रों को डाल देना चाहिए फिर शस्त्र शुद्ध होने के वाद स्वच्छ ताम चीनी की वड़ी ट्रे में रख लेना चाहिए। तेज धार वाला शस्त्र कार्वोलिक अम्ल के घोल द्वारा विसंक्रामित करते हैं। इसमें ३ मिनट रखने के वाद स्प्रिट में रखते हैं। इन स्वच्छ शस्त्रों को चिमटी (Forceps) से पकड़ना चाहिए न कि हाथों से।

२. वस्त्रों का विसंक्रामण—व्रणों के उपचार के लिए कीटाणु नाशक वस्तु के वस्त्र लगाते हैं। बड़े आपरेशन में विसंक्रामित वस्त्र का ही प्रयोग करना चाहिए। व्रण में जो गॉज व रूई का प्रयोग किया जावे वह विसंक्रमित होनी चाहिए। इसमें सोखने वाली रूई (Absorbant-cotton) का ही प्रयोग करना चाहिए। कुछ लोग खराब बिना सोखने वाली रुई फैंक कर देते हैं। कम्पनी वालों को ऐसा नहीं करना चाहिए।

वस्त्रों को विसंक्रामक यंत्र में १२० डिग्री सेन्टीग्रेट तक २० मिनट तक रखना चाहिए। विसंक्रामित करने के वाद इसे समयानुसार इसका प्रयोग करना चाहिए।

३. विषहारी वस्त्र—पूय के जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए गॉज को विसंक्रमित द्रवों के घोल में डुवोकर प्रयोग करना चाहिए। आजकल एक्रीफिलेविन या मरक्यूरोक्रोम के घोलों का प्रयोग अधिक किया जाता है। इसके साथ कुछ जीवाणुनाशक पाउडरों का भी प्रयोग करना चाहिए।

४. हाथों की शुद्धि—आधुनिक शस्त्र चिकित्सा में सफलता का विशेष श्रेय प्रत्येक वस्तु के निर्विषत्व और स्वच्छता पर निर्भर करता है। शल्य-क्रिया के पहले सर्जन और उसके सहायकों को अपने हाथों को पूर्णतया स्वच्छ कर लेना चाहिए। आपरेशन कमरे के अन्दर सभी लोगों को स्वच्छ शुद्ध गाउन (कोट) पहनना चाहिए। इसी प्रकार शिर व मुख पर स्वच्छ कपड़ा बांधना चाहिए एवं जूतों को पहन कर नहीं जाना चाहिए।

सर्जन के नख सदैव कटे रहने चाहिए। आपरेशन के पहले हाथों को साबुन से पूर्णतया साफ करना चाहिए यहां तक कि हथेली की रेखाओं पर साबुन व ब्रुश रगड़ना चाहिए। वाद में ७०% अल्कोहल में भीगे हुए वस्त्र से हाथों को ५ मिनट तक रगड़ना चाहिए। वाद में विसंक्रामित रवड़ के दस्ताने पहनने चाहिए।

रवड़ के दस्ताने प्रयोग में लाने चाहिए। अगर यह फट जावें तो इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

५. रोगी के चर्म की शुद्धि—जिस अङ्ग में शल्य क्रिया की जाती है, वहीं की त्वचा की शुद्धि आवश्यक है। कक्षा पेड़ू, जननांग और गुदा के स्थानों पर अगर शल्य-क्रिया होनी हो तो वहां और अधिक चर्म की शुद्धता आवश्यक है। शल्य कर्म के २ घण्टे पूर्व उस्तरे या सेफ्टी-रेजर द्वारा चर्म के रोम या बालों को पूर्णतया साफ कर देना चाहिए। साबुन के द्वारा चर्म के मैल व गन्दगी को साफ कर देना चाहिए। इसके बाद उष्ण जल से रुई द्वारा साफ करना चाहिए। किसी चिकनी वस्तु का लेप हो तो उसे हटाने के लिए ईथर का लेप या तारपीन का तेल लगाने से त्वचा साफ हो जाती है।

इसके बाद उसमें विसंक्रामक टिञ्चर आयोडीन का लेप या मरक्यूरोक्रोम का लेप त्वचा पर किया जाता

है। इसका लेप शल्य क्रिया के समय ही किया जाता है। उदरस्थ त्वचा की शुद्धि १२ घण्टे पहले की जाती है।

रोगी के मेज पर पहुँचते ही उसको शुद्धवस्त्रों से ढंक दिया जाता हैं। केवल शस्त्रकर्म वाला स्थान ही खुला रखते हैं।

६. टाँके और बन्धन—व्रण के सीवन के लिए 'कैटगट' और 'सिल्क वर्मगट' का प्रयोग किया जाता हैं। रेशम, सन, रेशम के कीड़े से बनाया हुआ धागा काम में लाते हैं। जिन धागों को काम में लावें, उन्हें उबालकर शुद्ध किया जाता है। बाद में कार्बोलिक घोल ६०:१ की शक्ति में 'विसंक्रमित' होने देते हैं।

(अ) कैटगट—यह पशुओं की आंत्र से बनाई जाती है, यह उबालने से जिलैटिन नाशक पदार्थ में बदल जाती है। इस कारण इसके विसंक्रामण की निम्न दो विधियां हैं—

I. (१) रसकर्पूर—२ ग्राम परिस्रुत जल ४०० सी० सी० विलयन।

(२) क्रोमिक ऐनहाइड्राइड—४ ग्राम, परिस्रुत जल ३०० सी० सी० घोल।

नं० २ घोल भूरे रंग का होता है। इसमें सल्फ्यूरिक अम्ल इतना मिलाना चाहिए कि घोल का रंग बिलकुल हरा हो जावे। इसके बाद इसमें इतना जल मिलाया जाय कि घोल ५०० सी० सी० हो जावे।

इस प्रकार इस घोल में नं० १ का घोल मिला दिया जाता है। फिर इसमें २४ घण्टे तक कैटगट रखना चाहिए। इसके बाद निकालकर सुखा लेना चाहिए। इसके बाद पुनः कार्बोलिक घोल में रखना चाहिए। इस प्रकार के विसंक्रमित कैटगट को 'सल्फोक्रोमिक कैटगट' कहते हैं।

II. आयोडीन कैटगट—इसमें आयोडीन १ औंस पुटेशियम आयोडाइड २ औंस, परिस्रुत जल १० औंस इस घोल को बनाकर बोतल में रख लेते हैं। वह इस प्रकार है—

(अ) उपरोक्त घोल १ भाग, परिस्रुत जल ३ भाग और मिथिलेटेड स्पिरिट ६ भाग, इसमें १ प्रतिशत आयोडीन है।

(आ) आयोडीन घोल—आधा भाग, परिस्रुत जल ३॥ भाग और स्पिरिट ६ भाग। यह घोल आधा प्रतिशत आयोडीन का है।

इस प्रकार कैटगट को प्रथमघोल में आठ दिन तक उसके बाद दूसरे घोल मे रख देते हैं।

आजकल बाजार में विसंक्रमित कैटगट शीशियों में प्राप्त होते हैं जो सुविधानुसार प्रयोग में लाना चाहिए।

७. प्लोत—यह शोषक रुई व गॉज के चौकोर बड़े-बड़े टुकड़े होते हैं, जो पहले से ही तैयार कर शुद्ध कर लिये जाते हैं। जिससे रुई व गॉज को हाथों से न छूना पड़े। ऐसे प्लोत के दोनों ओर गॉज और बीच में रुई होती है।

इस प्रकार शल्यक्रिया में विसंक्रमण का अधिक महत्व है। आजकल परिवार नियोजन का पुरुषों की नसबन्दी का साधारण शल्यकर्म चल रहा है जिससे सर्जन को बहुत कम समय मिलता है। अतः उनके सहायकों को चाहिए इसमें सभी प्रकार की सावधानी व स्वच्छता रक्खें। जिससे प्रत्येक व्यक्ति समय से स्वस्थ व सुखी रहे। क्योंकि जरा सी असावधानी में टांके स्थान पर पीड़ा व सूजन हो जाती है जिससे व्यक्ति मानसिक रूप से अधिक चिन्तित रहता है।

इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को चाहिए कि जो पट्टी उन्हें बांधी गई है वह गंदी न करें और न उसको निकालने का प्रयास करें। इससे बाहरी कोई भी दूषित वस्तु द्वारा उसके व्रणको हानि पहुंच सकती है। इसके अतिरिक्त उपरोक्त व्रणित को क्या-क्या सावधानियां आवश्यक हैं उन पर चलना चाहिए।

अस्तु शल्य चिकित्सा में शुद्धता व विसंक्रमण का महत्व अधिक है। धूल व दूषित वस्तु का स्पर्श व्रण में नहीं होना चाहिए एवं व्रण की शुद्धता व सुरक्षा ही शल्यकर्म की सफलता है। इसके अतिरिक्त सभी ऑपरेशन कराने वालों को ए० टी० एस० का इन्जेक्शन लगवाना चाहिए एवं जब रोगी व्रण से मुक्त हो जावे तब दशमूलारिष्ट भोजनोपरान्त एक माह तक प्रयोग में लाना चाहिए। इसको कोई भी स्त्री या पुरुष सेवन कर सकता है और अपने शरीर को स्वस्थ, सुखी बनाना चाहिए।

वैद्य रामनिवास शर्मा वैद्याचार्य
अध्यक्ष-कैंट होमियो क्लीनिक, हाथरस

★

एक सफल शल्य चिकित्सक के निर्माण हेतु प्राचीन भारत में जो प्रयत्न किये जाते थे उनमें 'योग्या' का विशेष स्थान होता था। किसी भी मानव के शरीर पर छेदन भेदनादि शस्त्रकर्म सहसा किसी अनाड़ी या नौसिखिया के द्वारा नहीं कराये जा सकते हैं, इसे प्राचीन गुरुवर्ग भले प्रकार जानता था। भगवान् धन्वन्तरि ने एतद्विषयक ज्ञान सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान के नवें अध्याय में कराया है। वे अपने प्रिय शिष्य को इन शब्दों में निर्देश देते हैं—

अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत्। स्नेहादिषु छेद्यादिषु च कर्मपथमुपदिशेत्। सुबहुश्रुतोऽपि अकृतयोग्यः कर्मसु अयोग्यो भवति॥

समस्त सर्जरी विषयक शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी शिष्य को योग्या कराई जानी चाहिए। स्नेहन, स्वेदन, छेदन, भेदन, एषण, आहरण, लेखनादि शस्त्रकर्म कैसे किये जाते हैं, उनके व्यावहारिक ज्ञान का उपदेश शिष्य को दे। क्योंकि कितना ही पढ़ा हुआ शिष्य क्यों न हो अगर उसने योग्या नहीं की तो वह शस्त्रकर्म या सर्जीकल ऑपरेशन करने के काम में आयोग्य रहता है।

सैद्धान्तिक (थियोरिटिकल) ज्ञान प्रत्यक्षकर्माभ्यास के बिना प्रत्यक्ष कर्मों के लिए ठीक नहीं रहता, यह बताना ही उपर्युक्त पंक्तियों का अभिप्राय है। दो प्रकार के व्यक्ति आजकल सर्जरी के क्षेत्र में मिलते हैं। एक जिन्होंने शास्त्र के अर्थ को विधिवत् नहीं पढ़ा पर वे कर्माभ्यास में निपुण हैं। दूसरे जिन्होंने कर्माभ्यास नहीं किया। शास्त्र के समस्त अर्थ को अधिगत कर रखा है। दोनों ही भगवान् धन्वन्तरि के मत से बेकार हैं। उन्हें वधार्ह (वध के योग्य) तक लिखा जा चुका है। उन्हें तस्कर तक लिख दिया है:—

शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत्।
यः कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः॥

योग्या या प्रत्यक्ष कर्माभ्यास जीवित मनुष्यों पर नहीं कराया जा सकता। जिन वस्तुओं का प्रयोग योग्या के लिए किया जाया करता था, उनकी सूची नीचे दी जा रही है:—

१. पुष्पफल—कूष्माण्ड, कुंहड़ा या पेठा या काशीफल।
२. अलाबू—लौकी ताजी तथा लौकी की तोंबी।
३. कालिन्द—तरबूजा।
४. त्रपुस—खीरा।
५. एर्वारु—ककड़ी।
६. कर्कारुक—कूष्माण्ड भेद।
७. तथा इसी प्रकार के अन्य बड़े-बड़े फल।
८. दृति—चर्मपुटक—चमड़े की मुशक।
९. वस्ति—मूत्रपुटक—पशुओं की वस्तियां।
१०. प्रसेवक—चर्मखल्लपुट—चमड़े का बना पात्र।
११, इसी प्रकार के अन्य पात्र जिनमें कीचड़ मिला पानी (उदकपूर्णपङ्केषु) भरा गया हो।
१२. रोमयुक्त फैला हुआ चमड़ा।
१३. मृत पशुओं की शिराएं।
१४. कमलनाल तथा उत्पलनाल।
१५. घुणों से खायी हुई लकड़ी।
१६. घुणों से खाया बांस।
१७. नल—नरसल या नरकट।
१८. नाली—नालिका या कलम्बक।
१९. शुष्क अलाबु—लौकी की सूखी तोंबी।
२०. पनस—कटहल के फल की मज्जा।
२१. बिम्बी—कुन्दरू का फल।
२२. बिल्व—बेल के फल की मज्जा।
२३. मृतपशु दन्त—मरे पशुओं के जबड़े जिनमें दांत लगे हुए हों।

२४. सेमर का तख्ता (शाल्मलीफलक) जिस पर मोंम का परत जमाया हो ।
२५. सूक्ष्म वस्त्र (पतले कपड़े) ।
२६. घन वस्त्र (मोटे कपड़े) ।
२७. मृदु चर्म (कोमल चमड़ा) ।
२८. पुस्तमय पुरुष—मिट्टी, कपड़ा, रवर या प्लाष्टिक का बना पुरुष या स्त्री का शरीर जिसे अंगरेजी में डमी कहते हे ।
२९. मृदुमांस तथा मृदुमांसखण्ड ।
३०. उदकपूर्ण ऐसा घट जिसके पार्श्व में टोंटी लगी हो ।

इन उपर्युक्त पदार्थों के द्वारा तथा जिस प्रकार का कर्म करना हो उसके लिए जिस अङ्ग का सादृश्य जिस किसी वस्तु के साथ उपर्युक्त सूची के अलावा हो उसे भी लेने की और उस पर प्रयोग या ऐक्सपेरिमेण्ट करने की शास्त्राज्ञा है—

एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि ।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु ॥
तस्मात्कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु ।
यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत् ॥

शस्त्रकर्मो की दृष्टि से छेदन, उत्कर्तन, परिकर्तन और कर्म ताजी बड़े फलों पर कराये जाते थे । एक पेठा रख दिया और छात्र से कहा कि इस पर २ इन्च लम्बा आधा इन्च गहरा एक सा चीरा लगाओ । प्रत्येक छात्र अपने-अपने फल पर अभ्यास करता था । भेदन कर्म के लिए पंक जलपूर्ण दृति पर अभ्यास कराया जाता था । लेखन कर्म रोमयुक्त चमड़े पर कराया जाता था । छात्र लेखन यन्त्रों में से एक को लेकर चमड़े से बालों को लेखन कर्म द्वारा साफ करते थे । वेधन कर्म के लिए मृत पशु का शरीर ले लेते थे उसमें सिराओं और धमनियों को ढूढते थे और उनका वेध करना सीखते थे । आजकल यह काम तथा अन्य शस्त्रकर्मो का अभ्यास मानव के मृत शरीर (कैडेवर) पर कराया जाता है । एषणकर्म घुनी लकड़ी में या घुने वांस में छेदों में होकर एषणी डालकर कराया जाता था । आहरण के लिए कटहल का फल पका हुआ रख देते थे, उसमें से बीज निकलवाये जाते थे । बेल के पके फल से मज्जा या बीज अलग कराते थे । मृत पशु के मुख से दांत उखड़वाये जाते थे । वही नहीं बड़े-बड़े कपड़े या मिट्टी के बने पुरुष या स्त्री की मूर्ति पर पट्टी बांधना सिखाया जाता था । आज की डमियां जो मेडिकल कालेजों के एनाटोमी तथा मिडवाइ-फरी विभागों में रखी रहती है, प्राचीन सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट विधि का ही तो उपयोग है ।

अग्निकर्म, क्षारकर्म, नेत्रप्रणिधान आदि भी मृत पशुओं पर कराया जाता था । इतनी व्यवस्था इतनी प्रतिभा का प्रदर्शन प्राचीन आचार्यो की अपनी थाती थी । जिसका वृहत् रूप आज देखा जाता है । उन्होंने जिन परिस्थितियों में सफल सर्जन तैयार किये वह सर्वथा प्रशंसनीय है । उन परिस्थितियों मे अनेक देशों में सर्जन क्या सामान्य चिकित्सक भी तैयार न हो सके ।

विशिखानुप्रवेश

स्नातक वैद्य सुरेशचन्द्र आयुर्वेद शिरोमणि, अध्यक्ष--भूषण प्रयोगशाला, हाथरस

विशिखा का अर्थ है कर्ममार्ग। चिकित्सा रूपी कर्म के प्रवेश का मार्ग विशिखानु प्रवेश कहा जाता है—याह-शस्त्र वैद्यस्य कर्ममार्गप्रवेशाधिकारः तादृशं वक्तुं आह—इसका आधुनिक भाषा में अर्थ होगा मेडिकल प्रैक्टिस में रजिस्ट्रेशन का अधिकार किसे है या कब होना चाहिए इसका विचार विशिखानु प्रवेश में सुश्रुतसंहिता में किया गया है।

अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रं निगदता राजानुज्ञातेन नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानत्केन अनुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेण अकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहायनता वैधेन विशिखानुप्रवेष्टव्या।

विशिखा में प्रवेश का अधिकारी भगवान् दिवोदास धन्वन्तरि के मत से निम्न लिखित विशेषता प्राप्त वैद्य होता है:—

१. जिसने सम्पूर्ण चिकित्सातन्त्र का अध्ययन कर लिया हो;

२. जिसने चिकित्सा सम्बन्धी सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ को गुरु प्रदत्त प्रवचनों के द्वारा भलीभांति समझ लिया हो;

३. चिकित्सा कर्म—मेडिकल, सर्जिकल, गायनालोजीकल आदि चिकित्सा की व्यावहारिक विधियों का भले प्रकार अवलोकन कर लिया हो;

४. शस्त्रकर्म का व्यावहारिक ज्ञान योग्य के द्वारा ले लिया हो;

५. शस्त्र का इतना ज्ञान कर चुका हो कि शास्त्र सम्बन्धी स्वयं भी भाषण देने में समर्थ हो चुका हो;

६. राजा के द्वारा या प्रशासन की ओर से जिसे चिकित्साकर्म करने की अनुज्ञा या अनुमति प्राप्त हो गई हो;

७. जिसका बाह्यवेष मनोहारी सज्जनोचित (अनुद्धत) हो—नाखून कटे हुए, हजामत बनी हुई, स्नानादि किया हुआ हो;

८. जिसका मन सदा प्रफुल्लित रहता हो;

९. कल्याणाभिव्याहार—मंगलमय वाणी से युक्त हो;

१०. जो कुहक (क्वैक) या मायावी न हो;

११. जो अपने को सब प्राणियों का बन्धु मानकर उनकी सहायता करने का भाव लिए हुए हो;

विशिखानु प्रवेश के लिए अधिकारी इस वैद्य की कितनी उदात्त कल्पना प्राचीन काल में की गई थी। उसकी पहली आवश्यकता अधिगततन्त्र-उपासिततन्त्रार्थ-निगदित शास्त्र होता था। यानी पूर्ण सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक जिसने गुरुओं के द्वारा पढ़ समझ कर पूरा कर लिया हो तथा जो उस पाठ्यक्रम को पढ़ाने की सामर्थ्य रखता हो। दूसरी आवश्यकता—राजा की अनुज्ञा का प्राप्त होना है। डल्हण लिखता है—राजानुज्ञातेन राज्ञा अभिमतेन, राजा हि प्रजापालनतत्परः, तत् प्रमादात् वैद्य-प्रतिरूपका राष्ट्रं चरन्ति लोककण्टकभूताः तस्मद्राज्ञा परीक्ष्य अनुज्ञातेन विशिखा अनुप्रवेष्टव्या अर्थात् राजादेश या शासनादेश द्वारा ही वैद्य को चिकित्सा करने के लिए प्रमाणित करना चाहिए। क्यों कि प्रजापालन का काम राजा का है। उसके राज्य में कोई बीमार न रहे। बीमार होने पर अच्छे वैद्यों द्वारा उनका दुख दूर किया जावे। जब शासन में प्रमाद आ जाता है तब वैद्यों के प्रतिरूप

अर्थात् नकली वैद्य समाज के लिए काँटों के समान दुख-दायी इतस्ततः राष्ट्र में विचरण करने लगते हैं वे न शास्त्र पढ़े होते हैं न गुरूपदेश लिए हुए न राजाज्ञा ही उन्हें प्राप्त होती है ऐसे अनेक व्यक्ति चरक और सुश्रुत चक्रपाणिदत्त और डल्हन के समय उपस्थित थे। इसलिए चिकित्सा व्यवसाय में प्रवेश के पहले वैद्य की परीक्षा लेकर ही उसे शासनादेश चिकित्सा करने का दिया जावे।

कर्मज्ञता, शास्त्रज्ञता तथा राजानुज्ञाप्राप्ति के साथ बाह्यवेश भी चिकित्सक का युगानुकूल होना चाहिए। डल्हणकाल तक वैद्य के वेश में शरीर की सफाई, नख रोमों की सफाई के साथ-साथ श्वेत परिधान तक तो आज भी ग्राह्य है छत्र-दण्ड प्रयोग आज की फैशन में नहीं आता। उपनाहधारण यथावत् सभी कालों में वैद्य या डाक्टर के लिए मान्य है। एक बात जो विशेष महत्त्वपूर्ण है वह है वैद्य या डाक्टर का अनुद्धतवेश होना-देखने में वह असज्जन या गुण्डा जैसा न लगना चाहिए इसी को डल्हण साधु-जन वेश-सज्जनोचित वेश-बतलाता है।

एतेन अयुक्तकायवेशनिषेधः—ड०

बाह्यशौच के साथ-साथ वैद्य या चिकित्सक का अन्तः शौच भी परमावश्यक है। उसी के लिए सौमनस्य एवं कल्याणाभिव्याहार की बात कही गई है। बन्धुभूतव्यवहार भी इसी के लिए है। अकुहक का अर्थ निष्कपटता भी इसी के लिए आवश्यक है। कुहक का एक अर्थ-कुहकः शास्त्रहीनः परमविश्वासकारको मायावी, डल्हण ने दिया है जिसे आधुनिक भाषा में क्वैक कहते हैं। सम्भवतः हकार का एकार करने से कुऐक ही Quack हो जिसे क्वैक कहा जाता है। अकुहकेन का अर्थ डाक्टर घाणेकर ने निष्कपटवृत्ति से ऐसा दिया है।

सुसहायवता शब्द से साधुसहायेन डल्हण ने लेते हुए अन्यथापुरचारिणो वैद्यस्य सहायदोषेण दोषः स्याद्, सहायश्चात्मरक्षार्थं आतुरपरिचर्यार्थं वा देकर यह बतलाया है कि अपनी रक्षा तथा आतुरपरिचर्या के लिए वैद्य या चिकित्सक को अपने साथ सहायकों का ले जाना भी आवश्यक है। उसके साथ एक नर्स या कम्पाउण्डर या सहायक वैद्य भी रहना चाहिए।

विशिखा को सुप्रसिद्ध सुश्रुतटीकाकार हाराणचन्द्र चक्रवर्ती रोगी के घर का मार्ग मानते हैं—प्रशस्तवर्त्मापरपर्यायोऽपि विशिखाशब्दोऽत्रातुरावासवर्त्ममात्रे प्रवर्तते गमकत्वात्। कौन वैद्य रोगी के घर जाकर चिकित्सा करने के योग्य माना जाना चाहिए उसकी योग्यताओं का उल्लेख विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय में किया गया है। क्योंकि आगे जो सुश्रुत संहिता में वर्णन है वह रोगी के घर जाने से ही सम्बन्ध रखता है—

ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्योपविश्यातुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपाय रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत् तु न सम्यक् षडिधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः; तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ॥३॥

ऐसा योग्य वैद्य जिसकी कल्पना ऊपर की जा चुकी है, दूत, निमित्त, शकुन, मङ्गल और अनुलोमता का ज्ञान करते हुए रोगी के घर की ओर यात्रा करे उसके गृह में प्रवेश करे और रोगी को देखे, छुए और पूछे। दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न ये तीन ही रोगों के विज्ञान के उपाय जानने चाहिए ऐसा एक विद्वान् का मत है। परन्तु यह उचित नहीं है। रोगों के विज्ञान के ६ उपाय हैं, यथा—सुनकर, देखकर, छूकर, सूंघकर, चखकर (पांच ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करते हुए) तथा प्रश्न पूछकर।

इन पांच में चखकर परीक्षा का निषेध चरक विमान स्थान में स्पष्टतया किया गया है—प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वान् इन्द्रियार्थान् आतुरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानत्।

वाग्भट ने भी उपर्युक्त सामान्य त्रिविध रोगी परीक्षा को स्वीकार किया है—दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्। पर रोगों के विज्ञानोपाय—रोगाणां विशेषेण निश्चितं ज्ञानं स्वरूपावधारणं तस्योपायः के लिए षड्विध परीक्षा ही उपयोगी मानी गई है। आधुनिक विज्ञान भी इस षड्विध परीक्षा को ही अप्रत्यक्षरूप से मान्यता प्रदान करता है।

षड्विध रोगी परीक्षा

रोगी की षड्विध परीक्षा में प्रश्न के अतिरिक्त पांचों ज्ञानेन्द्रियों के उपयोग करने की बात कही गई है।

श्रोत्रेन्द्रिय के प्रयोग द्वारा सुनकर, स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा छूकर, चक्षुरिन्द्रिय द्वारा देखकर, रसनेन्द्रिय द्वारा चखकर, घ्राणेन्द्रिय द्वारा सूंघकर परीक्षा की जाती है। आज भी चखने का स्थान रासायनिक परीक्षाओं ने ले लिया है। प्राचीनकाल में भी चखने पर जोर नहीं दिया जाता था। चरक संहिता के विमान स्थान में इस रसनेन्द्रिय परीक्षा का विरोध करते हुए लिखा गया है—रसं तु खलु आतुरशरीरगतं इन्द्रियवैषयिकं अपि अनुमानादवगच्छेत्—कि रस तो आतुर के शरीर में रसनेन्द्रिय का विषय होने पर भी उसे अनुमान से ही जाने। न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणं उपपद्यते—इसका प्रत्यक्ष चखकर ज्ञान कर लेना उचित है। तस्मादातुरप्रश्नेनैव आतुरमुख रसं विद्यात्। इस कारण आतुर से प्रश्न करके ही उसके मुख के रस का ज्ञान करे। आगे लिखा है कि यदि उसके शरीर पर डींगर रेंगे तो शरीर की विरसता, मक्खियों के अधिक बैठने से शरीर की मधुरता। रक्तपित्त होने पर जीवरक्त है या रक्तपित्त है इसे जानने के लिये रक्त को कुत्ते या कौए को खिलावे, यदि खाले तो जीवरक्त अन्यथा नहीं इसका अनुमान कर ले। एवम् अन्यानपि आतुर शरीरगतान् रसान् अनुमिमीत—इसी प्रकार शरीर के अन्य रसों का अनुमान करे। इसी की पुष्टि इन्द्रिय स्थान में—

मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्।

द्वारा की गई है। प्रमेहादि रोगों में शरीर का रस चखकर भी जाना जाया करता होगा। स्वयं नहीं तो वैद्य रोगी द्वारा ही उसका शरीर चखवाकर कैसा रस है वह पूछा करता था।

सुनने के द्वारा परीक्षा हेतु तत्र सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छति इत्येवमादयः लिखा गया है। झागयुक्त जब रक्त कहीं से निकलता है तो उसका कारण वायु होता है और वह शब्द के साथ बाहर जाती है। यह तो उदाहरण मात्र है। आज कल श्रवण हेतु परकशन और ऑसकल्टेशन का उपयोग किया जाता है। शरीर के अन्दर की ध्वनियां स्टैथैस्कोप से सुनी जाती हैं। अंगुलिताड़न द्वारा विकृत अविकृत ध्वनियों को सुना जाता है। पॅल्पेशन (छूना) स्पर्शनेन्द्रिय की परीक्षा है। ज्वर- शोफ आदि रोगों में शरीर या शरीरांग कभी गर्म कभी ठण्डा, श्लक्ष्ण कभी कर्कश, कभी मृदु कभी कठिन पाया जाता है। नेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष देखकर या ऐक्सरे के चित्र द्वारा अन्दर के अंगों की विकृति देखी जाती हैं। शरीर का उपचय (पुष्टि) या अपचय, आयु, बल, वर्ण सम्बन्धी विकार देखकर ही पहचाने जाते हैं। साध्यासाध्यता के अनेक लक्षणों का ज्ञान सूंघकर ही किया जाता है। रामनगर के काशिराज के अस्पताल में डा. दासगुप्ता मोतीझरा के रोगी की परीक्षा रोगी के मुख को सूंघकर ही करते थे और वह प्रायः सटीक होती थी। व्रण या व्रणातिरिक्त कई रोगों में सूंघने से गन्धविशेष का ज्ञान होता हैं। कैंसर की कुणपगन्ध (सड़े मुर्दे, की गन्ध, कौन नहीं पहचानता।

पञ्चेन्द्रिय परीक्षा के स्थान पर दर्शन श्रवण और स्पर्शन का अधिकतर चिकित्सक समाज में व्यवहार किया जाता है। घ्राण और रसना के उपयोग का अर्थ है चिकित्सक के द्वारा रोगी के किसी रोग की विशेष परीक्षा के साथ स्वयं को भी उपसृष्ट कर लेना इसी कारण आज ये ३ परीक्षाएं ही अधिक प्रचलित हैं। रोग की पूर्ति हेतु लैबोरेटरी में परीक्षण कराये जाते हैं।

प्रश्नों को सभी कालों में चिकित्सकवर्ग ने स्वीकार किया है। निजी चिकित्सा में जहां कई-कई रोगियों के कारण वैद्य या डाक्टर का कमरा भरा रहता है तथा एक रोगी पर अधिक समय लगना वैद्य या रोगी के लिए संभव नहीं होता वहां रोगी से या उसके साथ आये हुए व्यक्ति से प्रश्न पूछ कर ही रोग का निदान किया जाता है। सुश्रुत लिखता है—

प्रश्नेन च विजानीयात्—प्रश्न करके ही निम्नांकित को जानना चाहिए—

१. देश—कहां रोग हुआ ?

२. काल—नित्यग-आवस्थिक काल का ज्ञान

३. जाति—कौन वर्ण का रोगी है

४. सात्म्य—किस वस्तु का सेवन रोगी को अलर्जी पैदा नहीं करता—यद् यस्य सेवितंसत् सुखाय सम्पद्यते तद् तस्य सात्म्यम्।

५. आतंक समुत्पत्ति—रोग की उत्पत्ति कैसे हुई

५. वेदना समुच्छ्राय—दर्द कहां-कहां हैं तथा कितना है ?

७. बल—व्यायाम की शक्ति कितनी है

८. अन्तराग्नि—अन्न के पचने की शक्ति कितनी है। पाचकाग्नि मन्द विषम तीक्ष्ण या सम है इसका ज्ञान।

९. वातमूत्रपुरीष की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति—वात, मूत्र, मल, आर्तव, रक्तस्राव आदि की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति का ज्ञान।

१०. कालप्रकर्ष—किस काल में रोग उत्पन्न हुआ और कैसे-कैसे बढ़ा

११. च—गुह्यदेश से पूय आदि की प्रवृत्ति का ज्ञान।

वैद्य को परामर्श

इन सभी परीक्षाओं से रोग का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही चिकित्सा करनी आवश्यक है। यदि वैद्य ने ठीक-ठीक रोगज्ञान नहीं किया तो वह रोग की चिकित्सा सफलता-पूर्वक नहीं कर सकता। सुश्रुत लिखता है—

मिथ्या दृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥

अर्थात् जिन रोगों की परीक्षा शास्त्रविधानानुसार नहीं की जाती। तथा जिसके बारे में ठीक-ठीक नहीं बतलाया गया तथा जिस पर चिकित्सक ने ठीक-ठीक विचार नहीं किया वे रोग वैद्य को मोहित कर लेते हैं अर्थात् ठीक-ठीक उपचार नहीं किया जा सकता।

इसलिए षड्विध परीक्षा का अवलम्बन करते हुए तथा और भी जिस प्रकार रोग का ज्ञान ठीक-ठीक हो सके, उसके द्वारा बराबर रोग का ज्ञान वैद्य को अपनी सफलता की इच्छा हेतु करते ही रहना चाहिये—

तस्मात परीक्ष्याः सततं भिषजा सिद्धिमिच्छता।
युक्त्यैव व्याधयः सर्वे प्रमाणैर्दर्शनादिभिः॥

चिकित्सक को स्वयं दिलचस्पी लेकर रोग परिज्ञान करके ही सन्तुष्ट होना चाहिए।

एवम् अभिसमीक्ष्य—इस प्रकार रोगी को षड्विध परीक्षा करके;

साध्यान् साधयेत्—साध्य रोगों को स्वस्थ करना चाहिए;

याप्यान् यापयेत्—याप्य रोगों का इलाज करते रहना चाहिए;

असाध्यान्नोपक्रमेत्—असाध्य रोगों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए;

परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत्—एक वर्ष से ऊपर के विकारों को प्रायः छोड़ दे।

याप्य रोग जब तक इलाज किया जाय तब तक रोग दबा रहता है दवा बन्द होते ही रोग फिर चालू हो जाता है। असाध्य रोगों की चिकित्सा न करना शास्त्रादेश है। नवीन ज्ञान के आधार पर अनेक असाध्यरोग और साध्य या कष्टसाध्य का रूप ले लेते हैं। सामान्यतः एक वर्ष पुराना सर्जीकल रोग प्राचीनकाल में वैद्यों द्वारा छोड़ दिया जाता था। कोई-कोई रोगी लाभान्वित भी हो जाता था। डल्हण का कथन है कि इनमें एक दोषज ठीक हो सकता है द्विदोषज कष्टसाध्य होता है त्रिदोषज में कोई लाभ होना संभव नहीं है खासकर जो त्रिदोषज रोग प्रत्येक ऋतु में बलवान् ही रहे उसे ठीक करना संभव नहीं है।

सावधानियां

१. साध्य रोग भी श्रोत्रिय[1] (बुद्धिजीवी), नृपति, स्त्री, बाल, वृद्ध, भीरु, राजसेवक (गवर्नमेण्ट सर्वेण्ट्स), कितव (जुआरी), दुर्बल, वैद्यविदग्ध (वैद्य की बात न मानने वाला), व्याधिगोपक (रोग छिपाने वाला), दरिद्र, कृपण, क्रोधी, अजितेन्द्रिय और अनाथ (अकेला या एकाकी) व्यक्तियों में कष्टसाध्य हो जाया करते है। इसलिए इन लोगों के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखते हुए और पूरे प्रिकाशनों का पालन करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।

२. स्त्रियों के साथ एक साथ बैठना, उनके अकेले रहने पर घर में निवास करना तथा उनसे परिहास (हंसी

—शेषांश पृष्ठ १३८ पर

१. श्रोत्रिय शब्द सभी प्रकार के बुद्धि जीवियों के लिए प्रयुक्त होता है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

डल्हण का कहना है कि वेदार्थपरिपालन हेतु नित्य स्नानादिकर्म करते रहने वाले श्रोत्रियों की व्याधि बढ़ जाया करती है।

आयुर्वेदवाचस्पति कवि० गिरधारीलाल मिश्र, असम आयुर्वेदभवन, शिवसागर(असम)

इस प्रसंग में क्षार-पाक तथा क्षारविधि इन दो विषयों का समावेश किया जा रहा है। क्षारपाक या क्षार का निर्माण कैसे किया जाता है उसे रोग दूर करने के लिए कैसे या किस-किस विधि से प्रयुक्त किया जाता है इसका यहां विचार किया जा रहा है। इस विषय का ज्ञान सुश्रुत सूत्रस्थान, चिकित्सास्थान तथा अष्टांगहृदय अष्टांगसंग्रह से एकत्र किया गया है।

क्षार की महत्ता (Importance of kshar karma)

सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत्।
छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि॥
दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च।
अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते॥

अर्थात् सभी प्रकार के शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों में क्षार कर्म श्रेष्ठ माना जाता है। यह छेदन भेदनादि अनेक कर्मों को उन विषय स्थानों और रोगों में करता है जहां शस्त्र प्रयोग करना कठिन या खतरे से खाली न हो। कष्ट से जिनका उपचार होता है या जो शस्त्रसाध्य नहीं है या अतिकष्टदायक हैं। क्षार का न केवल बाह्य अपि तु आभ्यन्तर प्रयोग एवं क्षारपान तक कराया जाता है। इन सभी कारणों से क्षार शस्त्र-अनुशस्त्र सभी में श्रेष्ठतम माना जाता है।

सुश्रुत—शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमश्छेद्यभेद्यलेख्यकरणात् त्रिदोषघ्नत्वात्, विशेषक्रियावचारणाच्च— इन शब्दों में क्षार को प्रधानतम बतलाता है। क्योंकि क्षार छेदन भेदन लेखन इन ३ शस्त्रकर्मों को कर सकता है। त्रिदोषनाशक है तथा इसका विशेषरूप से भी प्रयोग हो सकता है।

डल्हण ने जलौका को प्रधान, अग्निकर्म को प्रधानतर तथा क्षारकर्म को प्रधानतम बतलाया है।

वृद्धवाग्भट इसका परिचय देते हुए लिखता है— क्षार नाना प्रकार की औषधियों के समवाय से निकाला जाने के कारण इसमें सभी रसों का अधिष्ठान है। कटु रस और लवण रस की अधिकता है। यह तीक्ष्ण, दाहक, पाचन, अवदारण (फोड़ने-फाड़ने वाला), विलयन (विलीन करने या गलाने वाला), शोधन, रोपण करने वाला होता है। यह कृमिनाशक, आमदोषनाशक, मेदोघ्न और विष को दूर करता है। सब शस्त्रों और अनुशस्त्रों में वरिष्ठ है। छेदन, भेदन, पाटन, लेखन कर्म में प्रयुक्त होता है। गुदादि संकुचित अवयवों में जहां शस्त्र प्रयोग करने में बाधा आती है इसका प्रयोग किया जाता है। नासार्श, अर्बुद, दुष्ट व्रणों में बार-बार जहां शस्त्रसाध्य रोग का प्रकोप हो जाता हो वहां क्षार का प्रयोग किया जाता है।

सुश्रुत इसे कटु, ~ण, तीक्ष्ण, पाचन, विलयन, शोधन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, लेखन, क्रिमि—आम-कफ-कुष्ठ-विष-मेद नाशक बतलाते हुए अधिक सेवन से पुंस्त्व का नाशक और बतलाता है।

क्षार शब्द क्षरणात् क्षणनाद्वा इस प्रकार क्षरण या क्षणन से बनता है। क्षर स्यन्दन अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसका अर्थ है निःस्यन्दन या झिरना या गिरना भित्वा भित्वाऽऽशयान् क्षारःक्षरत्वात् क्षारयत्यधः (च० सं० चि० अ० ५) क्षार अपनी क्रिया से काट-काटकर नीचे गिराता है। क्षणन में क्षण धातु हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त होती है क्षणन करना अर्थात् नष्ट करना इस अर्थ में प्रयुक्त होती है। क्षार की यह क्षरण या क्षणन शक्ति उसके अनेक औषधियों से तैयार होने के कारण आती है। यह सौम्य होते हुए भी दहन पचन दारण कर्म में अत्यन्त शक्तिशाली पायी जाती है।

क्षारों के २ वर्ग

सुश्रुत के अनुसार क्षार २ प्रकार के होते हैं:—

१. प्रतिसारणीय क्षार

२. पानीय क्षार

वृद्धवाग्भट भी २ प्रकार के क्षार स्वीकार करता है—

१. बाह्य परिमार्जन

२. अन्तः परिमार्जन

प्रतिसारणीय वह क्षार है जो प्रतिसारणार्ह (प्रतिसारण के योग्य) हो। पानीय जो पानार्ह (पीने के योग्य हो)। शनैर्घर्षणमंगुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम् के अनुसार अंगुलि से घर्षण प्रतिसारण कहलाता है। यहां किसी दुष्टिग्रस्त भाग का क्षार से घर्षण करना है। यह बाह्य परिमार्जन हेतु प्रयुक्त होता है। पानीय पीने के या अन्तः परिमार्जन के लिए प्रयुक्त होता है। जो क्षार बाहर या घाव में सीधे-सीधे लगाये जाते हैं वे प्रतिसारणीय क्षार कहलाते हैं। पानीय क्षार पिलाये जाते हैं। पानीय क्षारों को क्षारोदक कहा जाता है।

प्रतिसारणीय क्षारों का प्रयोग कुष्ठ, किटिभ (Asoriasis), दद्रु, (मण्डलकुष्ठ) किलास, भगन्दर, अर्बुद, दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, मशक बाह्यविद्रधि, बाह्यकृमि, बाह्यविष, ग्रन्थि, नेत्रवर्त्म के रोग, मुख रोग, उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकुश, दन्तवैदर्य, तीनों प्रकार की रोहिणियों में किया जाता है। प्रतिसारणीय क्षार इन रोगों में अनुशस्त्र सरीखा काटने का काम करता है। कुछ लोग एतेषु रोगेषु चैवानुशस्त्रप्रणिधानमुक्तम् का अर्थ i इन रोगों में क्षार निपातन करना कहा है ii शस्त्रानुशस्त्रकर्म के बाद प्रयोग करना कहा है ऐसे अर्थ करते हैं। इन रोगों में बाहर क्षार को लगाने या प्रयोग करने का संकेत है।

पानीयक्षार या क्षारोदकों का प्रयोग गरविष, गुल्म, उदररोग, अग्निसङ्ग (वे रोग जिनमें अग्नि लय या कम होती है जैसे वातश्लैष्मिक ग्रहणी रोग, विसूचिका, अलसक विलम्बिका आदि रोग), अजीर्ण, अरोचक, आनाह, शर्करा, अश्मरी, आभ्यन्तर विद्रधि, कृमिरोग, विष और अर्श तथा उदरशूल में क्षारपान के रूप में किया जाता है।

पानीयक्षार का निषेध—रक्तपित्त, ज्वर, भ्रम, मद, मूर्च्छा, तिमिररोग से पीड़ित व्यक्तियों में पानीयक्षार नहीं दिया जाता। पित्तप्रकृति वालों को बालकों, वृद्धों तथा दुर्बलों को भी इसे नहीं देते।

वृद्धवाग्भट ने दोनों प्रकार के क्षारों के निषेध पर बहुत प्रकाश इन शब्दों में डाला है—

न तु उभयोऽपि योज्यो भीरुदुर्बलक्षामवातपित्तार्दित ज्वरातिसार पाण्डुशिरोहृदयरोगमेहाक्षिपाकतिमिरारोचकातुरकृतवमनविरेकर्तुमतीगर्भिण्युद्वृत्तफलयोनिसर्वांगशूलविषमद्यपीतेषु। मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तर मुष्कशोफः स्रोतःस्वल्पमांसेषु च देशेषु अक्ष्णोश्चान्यत्र वर्त्मरोगात् तथाऽतिशीतोष्णवर्षदुर्दिन प्रवातेषु ॥

क्षार का उपयोग कहां न करें इस प्रकार यह पूरी सूची दी गई है। इसमें डरपोक, दुबले, पतले, वातरोगी, पित्त रोगी, ज्वरी, अतीसार, पाण्डुरोगी, शिरःशूल से पीडित, हृद्रोगी, प्रमेही, अक्षिपाक, तिमिर अरुचि से पीडित या जिसने वमन लिया हो या विरेचन किया हो, ऋतुमती स्त्री, गर्भिणी स्त्री, उद्वृत्तफलायोनि रोग वाली स्त्री, जिसे सारे शरीर में शूल हो, या जिसने विष पीलिया हो या शराब पी रखी हो उन्हें क्षारपान कदापि न कराना चाहिए। बाह्य प्रयोगार्थ मर्म, सिरा, स्नायु सन्धि, तरुणा-

स्थि, सेवनी, धमनी, गला, नाभि, नख के भीतर, मुष्क शोफ पर, स्वल्पमांसवाले स्रोतों में तथा नेत्रों में क्षार नहीं लगाते। आंख के पलक के रोग (रोहू या ट्रैकोमा) होने पर प्रयोग करते हैं। अधिक शीत, अधिक गर्मी या वर्षा में या मेघाच्छन्न दिन (दुर्दिन) या जब आंधी चल रही हो तो उस समय पर भी क्षारपान या क्षार का वाह्य प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

वाग्भट ने सर्वांगशोथ, शिशु, धमनी, मेढ्रस्रोत (यूरेथ्रा) में भी क्षार प्रयोग निषिद्ध माना है।

प्रतिसारणीय क्षार निर्माण

प्रतिसारणीय क्षार के प्रकार सुश्रुत संहिता में वर्णित हैं। ये हैं (१) मृदु (२) मध्यम तथा (३) तीक्ष्ण प्रतिसारणीय क्षार। जो इनको बनाने की इच्छा रखे वह शरद् ऋतु में पर्वत पर शुभ दिन शुद्ध होकर जाय। वहां अच्छे स्थान पर उगे हुए परिपूर्ण वीर्य वाले असित मुष्कक (कालामोखा—Elaeo daualrou glaucum pers) के पेड़ के पास जाकर उसका पहले दिन आवाहन करें और दूसरे दिन उसे उखाड़ लें। उसे काटकर छोटे-छोटे टुकड़े करलें और वायुरहित घिरे हुए घेरे या स्थान में इकट्ठा करके चूने के पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े डाल तिल की लकड़ियों को रख आग लगा दें। जब अग्नि शान्त होकर राख बन जावे तो उस राख को तथा चूने को अलग-अलग एकत्र करलें।

जिस प्रकार काले मोखे की राख बनाई है उसी प्रकार कुटज, पलाश (ढाक), अश्वकर्ण (डिप्टैरोकार्मस ऐलैटस रॉक्स), पारिभद्र (फरहद), विभीतक (बहेड़ा), आरग्वध (अमलतास) तिल्वक (वाइबर्नम नर्वोसम डी. डौन अर्क (आक), स्नुही (सेहुंड-यूफोर्बिया) अपामार्ग, पाटला, नक्तमाल (करंज), वृष (अडूसा), कदली (केला) चित्रक (प्लम्बैगो झिलैनिका लिन), पूतीक (करंज-चिरबिल्व-होलोप्टेलिया इंटिग्रीफोलिया प्लांश), इन्द्रवृक्ष, आस्फोता (हाफरमाली या वलारिस सोलेनेसिया), कनेर, सप्तपर्ण, अग्निमन्थ, गुंजा, चारों प्रकार की कोशातकी तुरई, कड़वी-तुरई घीयातुरई और वंदाल-में से जिस किसी को लेकर जड़, फल, पत्र और शाखा सहित लेकर टुकड़े करके जलाकर राख करलें।

इस उपर्युक्त प्रकार से तैयार की गई मोखा वृक्ष की राख को २ भाग लें तथा एक भाग कुटज आदि में से किसी एक की राख लेकर इकट्ठी करलें यह मिश्रण १ द्रोण लें इसे क्षार द्रोण कहते हैं। इस क्षारद्रोण से ६ गुना पानी या गोमूत्र लेकर पानी या गोमूत्र और क्षारद्रोण को कड़ाई में डालकर इधर-उधर आलोडित करें। फिर इसे कपड़े में छान लें। राख फैंक दें। इक्कीस बार कपड़े में छान कर फिर दूसरी कड़ाही में डाल औटावें और धीरे-धीरे करछुल से चलाते जावें। जब स्वच्छ तीक्ष्ण, लालवर्ण का पिच्छिल रूप हो जाय तब फिर उसे गाढ़े या मोटे कपड़े में छान लें और छने हुए द्रव को पुनः कड़ाही में औटावें। कपड़े के ऊपर जो रह जाय उसे फेंक दें। कड़ाही में गाढ़ा होते हुए द्रव में से १॥ कुडव (१२ पल) निकाल दूसरे लोहे के पात्र में रख दें। शेष को उबलने दें।

इस दूसरे पात्र में फिर कटशर्करा, भस्म शर्करा, क्षीरपाक, और शंखनाभि को तपा-तपा कर लाल करके उस १॥ कुडव जल में बारी-बारी से बुझावें और उसी जल में पीसकर रखलें। २ द्रोण जल में ८ पल शंखनाभि के हिसाब से लें। उसी प्रमाण में कट शर्करादि भी पड़नी चाहिए। डल्हण चारों २–२ पल लेने को लिखता है पीसा हुआ पदार्थ डालना प्रतीवाप कहलाता है। यह प्रतीवाप लोहे के कड़ाही में जिसमें शेष पानी औटाया जा रहा है डालते जाते हैं साथ ही करछुल से लगातार चलाते जाते हैं। तब तक चलाते हैं जब तक वह न बहुत पतला रहे और न बहुत गाढ़ा। इसे लोहे के संकीर्ण मुख वाले पात्र में भरकर मुख बन्द करके रख देते हैं। यह मध्यम दर्जे का प्रतिसारणीय क्षार बना।

यदि बिना प्रतीवाप डाले सीधा-सीधा पका लिया जाय तो वह मृदु प्रतिसारणीय क्षार बनेगा।

यदि कटशर्करादि के साथ-साथ शुक्ति बराबर मात्रा में दन्ती, द्रवन्ती (जयपाल), चित्रक, कलिहारी, पूतीक के पत्ते, तालपत्री (मुशली) विडलवण, सुवर्चिका, स्वर्णक्षीरी, हींग, अतीस इनमें जो मिले उसका चूर्ण भी प्रतीवाप के साथ डाल दें। इन सभी द्रव्यों के साथ पकाया गया पाक्य नामक तीक्ष्ण प्रतिसारणीय क्षार तैयार होता है। इन मृदु, मध्यम और तीक्ष्ण क्षारों का उपयोग व्याधि

बल (रोग और रोगी की शक्ति के अनुसार) करे। यदि क्षार का बल घट जाय तो पूर्वोक्त क्षारोदक डालकर पुनः औटालें और प्रयोग करें।

वाग्भट—मध्यमक्षार के निर्माण के लिए कटशर्करादि के स्थान पर चूने के पत्थर, सीप, कौड़ी और शंखनाभि लेने के लिए और उन्हें तपा तपाकर डालने के लिए निदेशित करता है। तथा मुर्गा, मोर, गीध, कंक, कबूतर की बीट, गौ आदि पशुओं और पक्षियों के पित्तों हरताल, मनःशिला और लवणों को डालकर चलाने पर जोर दिया है। जब औटते-औटते खूब भाप निकलने लगे बुलबुले आने लगें और अवलेह जैसा गाढ़ा हो जाय तब उसे उतार कर ठण्डा करके लोहे के पात्र में भरकर डाट लगा जौ के ढेर में दबा दें। उसका यह भी कहना है कि मृदुक्षार बनाने के लिए शंखकौड़ी आदि को तपाकर क्षारोदक में बुझा तो देते हैं पर क्षारोदक में पीस पीसकर नहीं डालते जैसाकि मध्यमक्षार बनाने के लिए ऊपर लिखा गया है।

तीक्ष्णक्षार निर्माण हेतु वाग्भट, उपरोक्त पदार्थ दन्ती द्रवन्ती आदि यथावत् डालने को निदेशित करता है। सुवर्चिका के स्थान पर स्वर्जिकाक्षार डालता है। ये दोनों एक ही द्रव्य हैं।

क्षार के गुण और दोष

आयुर्वेदज्ञों के लिए क्षार निर्माण और प्रयोग सदा प्रैक्टीकल विषय रहा है। पाक ठीक बना या नहीं इसके लिए उन्होंने उसके गुण और दोषों को स्पष्टरूप से लिखा है—

तत्र नातितीक्ष्णो नाति मृदुः श्वेतः श्लक्ष्णः शीघ्रः पिच्छिलः, शिखरी, सुखनिर्वाप्योऽल्परुक् विष्यन्दी चेति दशक्षारस्य गुणाः।

अर्थात् क्षार न तो अधिक तीक्ष्ण हो, न अधिक मृदु हो, सफेद रंग का हो, चिकना हो, पिच्छिल हो, शीघ्रगामी हो, शिखरी-शोरे के समान कलमों वाली (लालचन्द्र जी का अर्थ), सुखपूर्वक शान्त किया जा सकने योग्य या लगाया जाने योग्य, थोड़ी वेदना करने वाला और विष्यन्दी दोष का स्रावण करने वाला हो। 'सुश्रुत' ने विष्यन्दी के स्थान पर अविष्यन्दी लिखा है जिसका अर्थ डा० घाणेकर ने स्पर्शित स्थान से अधिक चारों ओर न फैलने वाला या जिसके लगाने से अधिक स्राव न हो यह अर्थ किया है। कविराज कुंजलाल ने दोष स्रावण वाला ही अर्थ—Power of Secreting the morbid fluids—माना है। वाग्भट ने न विष्यन्दी न चातिरुक् लिखा है। क्लेद को उत्पन्न न करने वाला लिखा है।

क्षार के दोष विद्वानों ने इस प्रकार गिनाए हैं—

वृद्ध वाग्भटः—	सुश्रुतः—
१. अत्युष्ण	१. अतिउष्ण
२. अतिशीत	२. अतिश्वेत या अतिशीत
३. अतितीक्ष्ण	३. अतितीक्ष्ण
४. अतिमृदु	४. अतिमृदु
५. अतितनु	५.
६. अतिघन	६. अतिसान्द्र
७. अतिपिच्छिल	७. अतिपिच्छिल
८. विसर्पी	८. अतिसर्पि
९. हीनौषध	९. हीन द्रव्यता
१०. हीन पाक	१०. अपक्वता

क्षारक्रिया (Action of Kshar)

—शस्त्रतेजसोरपि कर्मकृत्।
आचूषन्निव संरम्भाद्गात्रमापीडयन्निव॥
सर्वतोऽनुसरन् दोषान् उन्मूलयति मूलतः।
कर्मकृत्वा गतरुजः स्वयमेवोपशाम्यति॥
अ० हृ० सू० स्था० अ० ३०

क्षार शस्त्रकर्म तथा अग्निकर्म इन दोनों का भी कार्य कर देता है। संरंभ पैदा करने के कारण चारों ओर से जैसे कोई चूस रहा या चोष पैदा कर रहा हो, शरीर के उस भाग को जहां क्षार लगाया है दबाता हुआ सा व्रण में सर्वत्र फैलते हुए दोषों को जड़ से उखाड़ फेंकता है। इस प्रकार क्रिया करके रोग को दूर करके स्वयं भी शान्त हो जाता है।

क्षार-प्रयोग-विधि

(Method of Application of Kshar)

तत्र क्षारसाध्यव्याधिव्याधितमुपवेश्य निवातातपे देशे असम्बाधे अग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेन उपसंभृतसम्भारं, ततोऽस्य तमवकाशं निरीक्ष्य अवघृष्य अवलिख्य प्रच्छयित्व

शलाकया क्षारं प्रतिसारयेत्, दत्त्वा वाक्शतमात्रं उपेक्षेत।
—(सुश्रुत सू० अ० ११)

जिस रोगी की व्याधि क्षारसाध्य हो उसे निवात तथा आतपरहित स्थान में जहां कोई बाधा न हो अग्रोपहरणीय अध्याय में बतलाये विधान के अनुसार क्षारकर्मोपयोगी समस्त सामग्री पास ही जहां रखी हो वहां बिठा कर वैद्य स्वयं उसके उस स्थान का भले प्रकार अवलोकन करे जहां उसे क्षार लगाना है। उस स्थान को घिसकर या अवलेखन करके तथा थोड़ा प्रच्छान करके शलाका के द्वारा क्षार लगादे फिर १०० अक्षर गिनने में जितना समय लगे उतनी देर परीक्षा करे।

वृद्धवाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में पिचु (रुई का फोहा), वर्ति, शलाका, दर्वी (छोटी चम्मच), अंजलिका (कटोरी) घृत, मधु, शुक्त, तुषोदक, दही का पानी, दूध, जल, लेप, शैया तथा आसन आदि उपकरण रख कर क्षारयोग्य व्यक्ति को बिठा कर या लिटाकर या योग्य परिचारकों से पकड़वा कर रोग का छेदन या लेखन कर प्रच्छान लगादे या शलाका के एक भाग में रुई या कपड़ा लपेट कर उसे क्षार में डुबोकर उस पच्छा लगे स्थान पर पोत दे। १०० की गिनती गिनने तक शान्त बैठा रहे और रोगी की उपेक्षा कर दें।

इस १०० मात्रा के गिनने तक काल में रोगस्थान पर क्षार लगा रहने से वह स्थान क्षारदग्ध हो जाता है तथा वहां कालापन आ जाता है। यही क्षारदग्धी का लक्षण है। क्षारदग्ध हो जानेपर उस स्थान पर अम्लवर्ग के द्रव्यों में से किसी का भी प्रयोग कर क्षार को न्यूट्रल कर दें फिर वहां घी और शहद मिलाकर लगादें।

क्षारोत्तर कर्म का "वाग्भट" ने सुन्दर वर्णन इन शब्दों में किया है :—

क्षारं प्रमार्जनेनानु परिमृज्यावगम्य च।
सुदग्धं घृतमध्वक्तं तत्पयोमस्तु काञ्जिकैः॥
निर्वापयेत्ततः साज्यैः स्वादुशीतैः प्रदेहयेत्।
अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च॥

अर्थात् क्षार को पोंछकर साफ करने वाले पिचु या कपड़े से पोंछ दें। रोगस्थान को सम्यक् दग्ध हुआ पाने पर क्षारदग्ध स्थान पर घी और मधु मिलाकर लेप कर दें। फिर दग्धस्थान पर दूध, दही का पानी तथा कांजी ढाले। फिर वहां मधुर शीतवीर्य मुलहठी आदि द्रव्यों के चूर्ण में घी मिला कर लेप कर दें ताकि वहां का कष्ट कम हो जावे। रोगी को उस स्थान पर क्लेदन करने के लिए अभिष्यन्दी (उड़द, दही आदि) पदार्थ खिलावे।

क्षारदग्धविशीर्ण न होने पर रोपण प्रयोग

यदि उपरोक्त क्षार प्रलेपन प्रक्रिया के बाद भी दृढ़मूल होने के कारण क्षारलिप्त अर्श आदि विशीर्ण न हों तो वहां पर इस आलेप को अच्छी तरह लगाना चाहिए :—

खट्टी कांजी के पात्र में तलछट के रूप में पड़े हुए पदार्थ को लेकर तिलों तथा मुलहठी के साथ बराबर की मात्रा में सिल पर बारीक पीसकर लेप कर दें। यह तिल कल्क जिसमें घी मिला हुआ है अच्छा व्रण-रोपण है।

इस पर शिष्य सुश्रुत ने भगवान् से प्रश्न किया कि कांजी में अम्लरस है वह उष्णवीर्य और तीक्ष्ण गुण वाली है इस आग्नेय पदार्थ के लेप से अग्नि के समान तीक्ष्ण क्षार की शान्ति कैसे होगी? इस पर धन्वन्तरि ने कहा कि हे वत्स! यदि तू ऐसा समझता है तो जो मैं आगे बतलाता हूँ उसे सुनो—क्षार में अम्ल को छोड़ शेष सभी रस पाये जाते हैं तब वह तीक्ष्ण लवण रस (क्षार) अम्ल के साथ मिलता है तो :—

अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्ण लवणे रसः।
माधुर्यं भजते त्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति॥
माधुर्यात् शमं आप्नोति वह्निः अद्भिः इवाप्लुतः॥

उसकी तीक्ष्णता नष्ट होकर वह मधुर हो जाता है। मधुर हो जाने से शान्ति उसी प्रकार मिलती है जैसे आग पर पानी डालने से वह शान्त हो जाती है। अम्ल और क्षार एक दूसरे के साथ मिलकर निष्क्रिय या न्यूट्रल हो जाते हैं यह जो आज विज्ञानवेत्ता जानते हैं वही धन्वन्तरि ने अपने शब्दों में स्पष्ट किया है।

सम्यक्–असम्यक् अति क्षारदग्ध

जब क्षार किसी रोग के कारण बने दुष्ट भाग को ठीक-ठीक जला देता है तो विकार शान्त हो जाता है, वह अंग हलकापन अनुभव करता है, वहां का स्राव

बन्द हो जाता है। जब हीनदग्ध होता है तो व्याधि की वृद्धि हो जाती है रोगस्थान में तोद, खुजली और जड़ता पैदा हो जाती है। जब अति क्षारदग्ध हो जाता है तो वहां दाह, पाक, लाली, स्राव—ये लक्षण तो स्थान के रूप में मिलते ही हैं अङ्गमर्द, क्लम, पिपासा के सामान्य लक्षण हो जाते हैं तथा किसी में मूर्च्छा होकर प्राणान्त तक हो जाता है। इसलिए पहले हमने जो क्षारकर्म के लिये अयोग्य व्यक्ति बताये हैं उनपर क्षारकर्म न किया जावे ऐसा धन्वन्तरि और वाग्भटों का स्पष्ट निर्देश है। —"अथ नैतेक्षारकृत्याः।"

क्षारसाध्य रोग होने पर भी उपद्रवस्वरूप शरीर पर यदि शोथ हो, रोगी की अस्थियों में पीड़ा हो, अन्न से रोगी को द्वेष हो गया हो, हृदय में पीड़ा हो, सन्धियों में शूल हो तो भी क्षारकर्म नहीं करना चाहिए।

अल्पमति अनुभवहीन वैद्य के द्वारा किया क्षारकर्म जहां विष अग्नि शस्त्र और वज्र की तरह मृत्यु को बुला देता है वहीं बुद्धिमान् चतुर शास्त्र और कर्माभ्यास में निपुण वैद्य के द्वारा किया गया क्षारकर्म रोगी के कठिन से कठिन रोगों को शीघ्र ही दूर कर देता है।

विविधरोग और क्षार चिकित्सा

अर्श रोग में क्षार चिकित्सा

अर्श रोग में प्रतिसारणीय क्षार के तीन उपादान है—
(१) क्षार प्रलेप, (२) क्षार सूत्र, (३) क्षार सूचीवेध

क्षार प्रलेप—

(क) हल्दी के चूर्ण को स्नुही-क्षीर में मिलाकर अर्श पर प्रलेप करने से मस्से गिर जाते है।

(ख) मुर्गे की बीट, हल्दी, पिप्पली चूर्ण को गोमूत्र में पीसकर लेप करें।

(ग) कासीस, हरताल, सैन्धव, कनेर, वायविडङ्ग, करञ्ज, अमलतास, जामुन, आक का दूध, इन्द्रायण, जमालगोटा, चित्रक, श्वेतफूल के अर्कदुग्ध, स्नुहीक्षीर से सिद्ध किया तैल लगाने पर अर्श नष्ट हो जाते हैं।

—सुश्रुत अर्शचिकित्सा अध्याय ६/१२

प्रलेप विधि—सुश्रुताचार्य ने प्रलेप के लिए विशेष विधि का उल्लेख करते हुए लिखा है—बलवान् रोगी को जो अर्श रोग से पीड़ित है, उसे स्नेहन, स्वेदन के अनन्तर वात-जनित वेदना वृद्धि की शान्ति के लिए स्नेहन-युक्त गर्म और थोडा पतला (घृतयुक्त दलिया) भोजन करावें। फिर साफ और समतल भूमि पर, तख्त पर लिटावें। दूसरे पुरुष की गोद में उसका सिर रखकर सूर्य की ओर उसकी गुदा का अभिमुख करावें, कमर कुछ ऊंची रहे और अगला धड़ कुछ नीचा रहे। अब उसे कपड़े की पट्टी से बांध देवें और परिचारकों के द्वारा पकड़ कर रखवावें ताकि रोगी हिल न सके।

सुश्रुताचार्य ने अर्शयन्त्र के निर्माण एवं आकार की भी विधि दी है तथा उक्त अर्शयन्त्र द्वारा जो अर्श दृष्टि लभ्य है—सर्वप्रथम दाहिनी ओर के अर्श पर क्षार का प्रलेप करें तथा इसके व्रण के रोपण के लगभग एक सप्ताह पश्चात् बाई ओर के अर्श पर, इसके बाद पीठ की तरफ के तथा अन्त में आगे की तरफ के अर्श पर लेप करने का विधान है। योग्य अर्श को कूर्च अथवा शलाका से उठाकर रुई से स्वच्छ कर क्षार का लेप किया जाता है—लगभग आधा मिनट तक लगा रहने के बाद क्षार को पोंछ दिया जाता है। रोगी एवं व्याधि के बलानुसार पुनः ऐसा ही किया जाता है, जब तक कि अर्श पके हुए जामुन के रंग के, दवे हुए और थोड़े झुके हुए न हो जायें।

शमनोपचार—अर्श पर उपरोक्त प्रलेप का लेपन करने से असह्य वेदना एवं जलन होती है अतः वेदना एवं जलन शान्त्यर्थ—

(क) गोघृत में मधुयष्टि चूर्ण मिलाकर लगाना चाहिए।

(ख) गोघृत में कपूर को घोलकर मस्सों पर गाढ़ा लेप करने से वेदना और जलन एकदम कम हो जाती है।

(ग) बरनौल (Burnol) या एक्रीफ्लेविन आइण्टमेंट (Acriflavin ointment) लगाने से भी जलन-वेदना तुरन्त कम हो जाती है।

द्रष्टव्य—क्षार लेप करने के पूर्व अर्श व गुदाद्वार के चारों ओर शतधौत घृत या बरनौल लगा देनी चाहिए। ऐसा करने से जलन कम होगी और क्षार द्वारा बाहर की अन्य त्वचा को हानि नहीं पहुँचेगी।

उक्त शमनोपचार कर 'अर्शोयन्त्र' को निकाल लिया जाता हैं। यन्त्र द्वारा अर्शांकुर सम्यक् दग्ध हुआ कि नहीं अच्छी तरह से परीक्षण कर लेना चाहिए। सम्यक् दग्ध के लक्षण अधोलिखित हैं—

सम्यग् दग्ध—सम्यक् दग्ध हो जाने पर अर्शांकुर पके हुए जामुन फल के समान, झुके हुए एवं दबे हुए होंगे। दोषानुसार वातार्श में जामुनवत्, पित्तार्श में मृग और मयूर के कण्ठवत् एवं कफार्श में वृहती पुष्प के वर्णवत् होते हैं। साथ ही साथ वातानुलोमन एवं पाचन के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं।

हीनदग्ध—में अर्श-का वर्ण कृष्ण पड़ जाता है, व्रण-रोपण नहीं होता। कण्डु, वायु की विपरीतता एवं इन्द्रियों की अप्रसन्नता रहती है।

अतिदग्ध—में गुदा में जलन, मूर्च्छा, ताप, तृष्णा, अधिक रक्तस्रावजन्य उपद्रव होते हैं।

क्षार-सूत्र—

सुश्रुतोक्त क्षार प्रयोग सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए, क्षार के विविध रूपों की स्वबुद्धया परिकल्पना कर श्री माधवप्रसाद आचार्य, राष्ट्रीय चिकित्सा केन्द्र, जामनगर और डा० प्रभाकर जनार्दन देशपाण्डे, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी ने अर्श तथा भगन्दर की सफल चिकित्सा क्षार सूत्र द्वारा की है। प्राचीन काल से परम्परागत क्षार सूत्र द्वारा चिकित्सा करने वाले 'सिद्ध संप्रदाय' भी पूर्वी बंगाल, राजस्थान, मद्रास में मौजूद हैं।

क्षार-सूत्र निर्माण—(क) स्नुहीक्षीर, अपामार्ग क्षार, नृसाद और हरिद्रा चूर्ण को विशिष्ट स्वच्छ कांच-पात्र में एकत्रित कर, इस मिश्रण में कार्पाससूत्र को २१ बार सुखा-सुखाकर आप्लावित किया जाता है।

(श्री माधवप्रसाद आचार्य जी का अनुभूत)

(ख) स्नुही क्षीर, हरिद्रा चूर्ण, कड़वी तुम्बी का क्षार, कड़वी तरवी का क्षार, अपामार्ग क्षार, अर्क पंचांग क्षार तथा कबूतर की बीट को कांचपात्र में एकत्रित कर, इस मिश्रण मे २१ बार कार्पाससूत्र को सुखा-सुखाकर आप्लावित करें।

(प्राणाचार्य श्री हर्पुल मिश्रा जी का अनुभूत)

प्रयोग विधि—क्षार सूत्र के प्रयोग से पूर्व गुदांकुरों को तथा गुदवल्ली को गोघृत अथवा तिल तैल से स्निग्ध कर लेना चाहिए तथा अर्शोयन्त्र डालकर अभिप्रेत अर्शांकुर को अंगुली से उठाकर उसको क्षार-सूत्र द्वारा बांध दिया जाता है। सूत्रबन्धन के तीन दिनों में अंकुरों का पतन हो जाता है।

अंकुरों के निर्जीव हो जाने पर तीसरे दिन कर्तरी से काट कर उक्त भाग को पृथक् कर दिया जाता है, इसमें रोगी को किसी भी प्रकार की वेदना का अनुभव नहीं हो पाता।

प्रयोग काल—में मलविसर्जन में विशेष बाधा न हो एतदर्थ—'शिवाक्षार पाचन चूर्ण' का प्रयोग रुग्ण को कराया जाता है। अंकुर के पतन के बाद व्रणरोपणार्थ 'जात्यादि घृत' का प्रयोग किया जाता है जिससे व्रण का सम्यक् प्रकार से रोपण हो जाता है और इस विधि से निर्मूल हुआ अर्श पुनः नहीं होता।

भगन्दर में उसका मुंह खोलने के लिए क्षार-सूत्र को सुई से पिरो कर बांध देते हैं और प्रतिदिन गांठ खोलकर उसी धागे पर क्षार लेप कर पुनः बांध देते हैं। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में भगन्दर का मुंह खुल जाता है।

क्षार सूचीवेध का निर्माण एवं प्रयोग—

(क) नृसाद, अपामार्गक्षार, चक्रमर्दक्षार, स्नुहीक्षीर, भल्लातक तैल एवं सिल्हकपत्र सुरासार के मिश्रण को विविध अनुपात में यथा मात्रा (अर्शांकुरों के काले पड़ जाने तक) में सूचीवेध क्रिया द्वारा अंकुरों में प्रविष्ट करने पर केवल ७ दिन में ही अर्शांकुरों का पतन हो जाता है। तत्पश्चात् व्रणरोपणार्थ "जात्यादि घृत" लगाया जाता है एवं अर्श समूल नष्ट हो जाते हैं (श्री माधव-प्रसाद जी आचार्य अनुभूत)।

(ख) एक मन पानी में १ सेर सज्जी, १ सेर बिना बुझा चूना, मिट्टी की नांद या घड़े में डाल दें। ७ दिन पड़ा-रहने दें। ७ रोज बाद ऊपर का निर्मल जल लोहे की कड़ाही में डालकर जलावें। जब पानी ५ सेर शेष रहे तब आधा सेर लहसुन का रस डाल दें तथा पुनः पानी गर्म करें, जब ३० तोले मात्र शेष रहे तब उतार ले एवं शीतल होने पर त्वचा पर लगाकर देखें। यदि

त्वचा जल जाय तो क्षार पूर्णरूप से तैयार हो गया अन्यथा नहीं। उस क्षार में १६ तोले तिल का तैल एक तोले क्षार में प्रयुक्त कर रख लेवें। यह इञ्जैक्शन वायल (Injection Vail) तैयार हो गया।

प्रयोग विधि—रोगी को हलका विरेचन देकर पश्चात् वोरिक लोशन या रसकर्पूर (Mercury Perchloride) के (१००० में १) घोल को अर्श पर लगाकर स्वच्छ कर, अर्श यन्त्र की सहायता से अर्श को देखकर सब अर्शांकुरों में सूचीवेध द्वारा उक्त औषधि भर दें। ज्योंही औषधि अर्श में जायगी, अर्श का रंग श्वेत हो जायेगा पेट दर्द होने पर (Spas Mendon Tablet) दें। लगभग ३-४ रोग में अर्श में दुर्गन्ध पैदा होकर गिर जायेगा। सात रोज पश्चात् घाव भरना प्रारम्भ होगा। Injection लगाने के पश्चात् लहसुनयुक्त तिल तैल की गोफणवन्धन युक्त पट्टी बांधते रहें इसीसे शोधन-रोपण का कार्य सम्पन्न हो जायेगा एवं १५ दिन में रुग्ण पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा इस विधि से स्वस्थ हुआ रुग्ण पुनः अर्श व्याधि से पीड़ित न होगा।

(श्री वैद्यराज युगलकिशोर जी शांडिल्य का अनुभूत)

तुलनात्मक विशिष्टता—

आयुर्वेदीय सूचीवेध द्वारा आभ्यन्तर अर्शांकुरों का पतन हो जाता है, गुदवलियों में पुनः प्राकृतिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्थानीय स्रोतोरोध सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है जिससे रोग के पुनरागम की सम्भावना ही नहीं रहती तथा आभ्यन्तर अर्श की चिकित्सा की इस विधि को पूर्णतया गुणकारी एवं निरापद मानते हुए शतप्रतिशत सफल स्वीकार किया गया है।

एलौपैथी में क्षारकर्म के लिए सिल्वर नाइट्रेट, यूरिया क्वीनाईन, फेनौल आदि द्रव्यों के विविध अनुपात के मिश्रणों से निर्मित सूचीवेध का प्रयोग अर्शांकुरों में प्रविष्ट कराकर अंकुरों को दग्ध करते हैं। इस क्रिया से अर्शांकुरों के परितः और मूल में कठिन दीवार (फाईब्रोसिस) बन जाती है, जिससे अर्श फूलने न पावें किन्तु अर्शों का पतन नहीं हो पाता तथा गुदवालियों में न्यूनाधिक स्रोतोरोध बना ही रहता है जिससे रोग का पुनरागमन हो जाता है।

द्रष्टव्य—क्षार चिकित्सा में जलन तो होती है अतः रुग्ण को भी थोड़ा सहनशील होना आवश्यक है। क्षार चिकित्सा से नष्ट हुए अर्शांकुरों का पुनरागमन नहीं होता। अधिक जलन हो तो पहले उक्त स्थान को संज्ञाहीन करके फिर क्षारकर्म करने चाहिए।

सावधानी—क्षारसूत्र एवं सूचीवेध प्रयोग अत्यन्त ही सावधानी से करना चाहिए। क्षार सूचीवेध इतना गहरा न करें कि वह क्षार गुद आन्त्र में पहुँच जाय अन्यथा भगन्दर होने का भय रहता है सूचिकावेधन में अधिक द्रव की मात्रा न दें अन्यथा सड़ान उत्पन्न हो सकती है इसके विपरीत आवश्यकता से कम द्रव होने पर लाभ अल्प होगा या नहीं होगा। अतः चिकित्सक को पूर्णतः प्रायोगिक प्रशिक्षण प्राप्त करके ही चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए अन्यथा अनधिकार चेष्टा 'प्राणाचार्य' को प्राणहर्त्ता व 'यमराज सहोदर' बना देती हैं।

पानीयक्षार—उदररोग, गुल्मरोग, अश्मरी आदि में क्षार औषधियों का पेय (पीने के रूप में) प्रयोग किया जाता है। चूर्ण आदि के रूप में प्रयुक्त क्षार औषधियां भोजन का पाचन करती हैं।

(क) **सोडावाटर**—जो उदरशूल को नष्ट करता है हाजमा पाचक है। चूने का पानी जो मन्दाग्नि, यकृत् विकार में पिया जाता है—पानीयक्षार ही है।

उदररोग तथा गुल्मनाशक—महाशंख द्राव ५ मि. लि. कुमार्यासव ५०० मि. लि. में मिलाकर ३० मि. लि. औषधि समभाग जल से भोजनोत्तर पीने से समस्त प्रकार के उदरशूल एवं गुल्मनाशक है पाचनशक्तिवर्द्धक एवं बलकारक है। 'शिवाक्षार पाचन चूर्ण १ मासा भोजनोत्तर खाकर ऊपर से औषधि पीने से पुराने गैस्टिक के रोगी भी स्वास्थ्य लाभ पाते हैं। उदर रोगों में शतशोनुभूत योग है।

अश्मरी नाशक—हजरूल यहूदभस्म ४-४ रत्ती ३० मि. लि. पाषाणभेद स्वरस के साथ प्रातः सायं सेवन करने से पथरी चूर्ण बनकर विना आपरेशन के ही मूत्रमार्ग से निकल जाती है और रोग समूल नष्ट हो जाता है। यवक्षार, वज्रक्षार का प्रयोग भी उदररोग एवं मूत्र विकारों में प्रशस्त है। श्वेतपर्पटी आज के युग की सर्व-

श्रेष्ठ मूत्र प्रवर्तक क्षारीय औषधि ही है। शंखकपर्दक भस्म भी क्षारीय महौषधियां हैं। पानीयक्षार के विविध उपादानों का प्रयोग चिकित्सकगण रात दिन करते हैं लेख विस्तार भय से अधिक विवेचन नहीं कर रहे हैं।

क्षार-विभ्रम

अष्टांगसंग्रह में क्षारविभ्रम का अच्छा वर्णन किया जाकर उसकी चिकित्सा के लिए भी उचित निर्देश दिये गये हैं उन्हें यहां अविकल दिया जा रहा है—

ज्वरातिसारतृण्मोहमूर्च्छा हृद्वेदनार्तिभिः ।
कक्षं दहत्यग्निरिव शरीरं क्षार विभ्रमः ॥

क्षार विभ्रम (गलत ढंग से प्रयुक्त क्षार से उत्पन्न व्याधियां शरीर को उसी प्रकार जला देती हैं जैसे अग्नि घास या तृणों को जला डालती है। अतिक्षार दग्ध से ज्वर–अतीसार, तृष्णा, मोह, मूर्च्छा, हृद्वेदना और बेचैनी उत्पन्न हो जाती है।

पाययेतातियोगेऽतस्तं शीघ्रं सघृतं दधि ।
सगुडं वा दधिसरं तैलं वा ससितोपलम् ॥

अतिक्षार दग्ध होने पर शीघ्र ही घी दही और गुड़ या दही की मलाई और मिश्री या मीठा तेल और मिश्री मिलाकर पिला देना चाहिए।

धात्रीफल कपित्थाम्ल दाडिम स्वरस घृतम् ।
द्विगुणे साधितं पानसेकैः क्षारातिरुग्धरम् ॥

अथवा आमलों, कैथ, तथा खटे अनार के रस २–२ भाग में १ भाग घृत सिद्ध करके से अतिक्षारदग्ध का कष्ट मिट जाता है।

दाडिमामलकाम्रातकपित्थकरमर्दकात् ।
आम्राच्च मातुलुङ्गाच्च रसं मृद्वग्निना पचेत् ॥
ततो निवृत्तक्षाराय दद्यान्मात्रां यथाबलम् ।
क्षारो निवर्तते तेन प्रसादं त्वक् च गच्छति ॥
शोणितातिप्रवृत्ती तु बाह्यान्तः शिशिरो विधिः ॥

अ० सं० सू० अ० ३६

यदि पूर्वकथित उपचार से उपद्रव शान्त न हो तो अनार, आमला, आमड़ा, कैथ, करौंदा, कच्चा आम, बिजौरा नीबू इन सब का रस लेकर मन्द-मन्द अग्नि पर स्टील या ताम चीनी के पात्र में थोड़ा गरम करलें इसे जितनी मात्रा में वह पीकर पचा सके उतनी मात्रा में पिलावें। इसे अतिक्षारदग्ध पान या अतिक्षारदग्ध के उपद्रव शान्त हो जाते हैं त्वचा या श्लेष्मकला प्रसादित हो जाती है। ★★
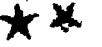
पृष्ठ १२६ का शेषांश

दिल्लगी) करना वैद्य के लिए वर्जित है। अन्न के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु स्त्रियों से न ग्रहण करे। पति की अनुमति से दी गई या गवर्नमेण्ट रूल्स के अन्तर्गत आदिष्ट वस्तु उनसे ग्रहण की जा सकती है।

लोकपरिवाद से बचने के लिए यह सावधानियां बरतनी चाहिए। यही नहीं, कुछ कानूनी अड़चनों से बचने के लिए और अपने ऊपर पुलिस आदि की कुदृष्टि से रक्षार्थ भी ऊपर जो सूची दी गई है उसमें किये गये व्यक्तियों की चिकित्सा में सावधानी बरतनी बहुत आवश्यक है।

एवं निरूप्य चिकित्सां कुर्वन् धर्मार्थकामयशांसि प्राप्नोति

इस प्रकार वैद्य विचार कर अगर चिकित्सा करे तो धर्म, धन, इच्छापूर्ति और यश चारों ही प्राप्त करता है।

इस गद्यांश से स्पष्ट है कि चरक संहिता में नार्थार्थं नापि कामार्थं अथ भूतदयां प्रति, का जो आदर्श उपस्थित किया है उसे सुश्रुत संहिता में स्वीकार नहीं किया गया है। इस काल का वैद्य धर्म, अर्थ, काम और यश चारों को ही चाहता है तथा उसे प्राप्त करने का उसका अधिकार भी स्वीकार किया गया है।

यह सारा ज्ञान सुश्रुत ने विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय में देकर कितना वैद्य समाज का उपकार किया है। योग्यता का सम्पादन, राजाज्ञा की प्राप्ति, शुभवेषधारण, अकुहकता, रोगियों के प्रति बन्धुभाव, रोगियों की षड्विधि परीक्षा, रोग ज्ञान में मोहका कारण, साध्य-याप्य असाध्य व्याधियों में वैद्य का कर्त्तव्य, साध्य रोगियों में भी कष्टसाध्य हो सकने वाले व्यक्तियों की सूची, महिलाओं के साथ चिकित्सा विषयक विशेष सावधानी सभी को उच्चस्तरीय दृष्टि से वर्णित किया है जो विश्व के समस्त चिकित्सक समाज को पठनीय और मननीय है। ●●

वैद्य मायाराम उनियाल शास्त्री, प्रभारी अधिकारीः क्षेत्रीय आयुर्वेद अनुसन्धान केन्द्र (सी० सी० आर० आई० एम० एच०) ग्वालियर रोड, झांसी, उ० प्र०

यदि हम गम्भीरतापूर्वक आयुर्वेदीय इतिहास का अवलोकन करें तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेदीय शास्त्र क्षाराग्नि क्रिया में वैदिककाल से लेकर बौद्धकाल की परम्परा में अत्यधिक उन्नत एवं विकसित थी। उस समय समग्रविश्व के वैज्ञानिक भारत में आकर भारतीय चिकित्सकों से इस विद्या में विशेषज्ञता प्राप्त कर संसार में आयुर्वेद की उज्वल कीर्ति का यशोगान करते थे लेकिन आज इस तथ्य को सहसा कौन स्वीकार करेगा कि आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी के आविष्कर्ता भारतीय थे। भारत में शस्त्र-क्षाराग्नि कर्म करने वालों का एक पृथक् सम्प्रदाय था, वह धन्वन्तरि सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है यही कारण है कि आचार्य चरक ने शस्त्रक्रिया से सम्बन्धित रोगों के चिकित्सा के अधिकार की घोषणा धन्वन्तरियों को थी। उस काल में अर्श, भगन्दर, लिङ्गनाश, पोथकी, अश्मरी, गुल्म, गण्डमाला, आदि कतिपय प्रकार की विकृतियों में क्षार एवं अग्नि-कर्म के द्वारा रोगों की सफल चिकित्सा की जाती थी। आयुर्वेद के ये प्राचीन सिद्धान्त आज भी वैज्ञानिकों का मार्गदर्शन प्रदान करने की क्षमता रखते हैं।

यह निर्विवाद सत्य है कि सहस्त्रों वर्ष पूर्व के सुश्रुत कालीन शस्त्रक्षाराग्निकर्म आज के मानव पर सफलतापूर्वक किये जासकते हैं, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विश्वविख्यात शल्य शास्त्री डा० प्रभाकर जनार्दन देशपाण्डेय हैं। विश्वविख्यात आयुर्वेद शल्यशास्त्री ने अमेरिका, कैलिफार्नियां, विस्कोसिन, औरिलैंड आदि कतिपय देशों के विश्वविद्यालय एवं वैज्ञानिक संगोष्ठियों में भाग लेकर यह सिद्ध किया कि आधुनिक शास्त्र प्राचीन सुश्रुत की देन है। आचार्य सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा के जो सिद्धान्त उस समय प्रतिपादित किये थे वे आज भी सत्य है, एवं मूल सिद्धान्तों की क्रियाओं में परिवर्तन करना ही अनुसन्धान है। डा० देशपाण्डेय ने इन मूल सिद्धान्तों के आधार पर भगन्दर जैसे रोग की सफल चिकित्सा क्षारसूत्र द्वारा करके एक ज्वलन्त उदाहरण पेश किया है। आधुनिक शल्यशास्त्र सुश्रुत की देन है, इस बात का संकेत इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि हारवर्ड यूनिवर्सिटी के मेडियाट्रिक्स के अस्पताल में चिकित्सा विज्ञान का इतिहास शिला-चित्रों के माध्यम से चित्रित किया गया है, उन चित्रों में भगवान् धन्वन्तरि का भी चित्र है। उस चित्र में धन्वन्तरि काल २५०० वर्ष ईसा पूर्व लिखा है। उसमें महर्षि सुश्रुत एवं उनके शिष्यों के नाम अंकित हैं। इस बात की पुष्टि कादम्बनी में प्रकाशित लेख 'भारतीय चिकित्सा पद्धति की ओर पश्चिम का झुकाव' से सिद्ध होता है।

बौद्धकाल में भी क्षार एवं अग्निकर्म चिकित्सा काफी विकसित थी, इस बात की पुष्टि सीमान्त प्रदेश जम्मु काश्मीर राज्य के तिब्बत से लगा हुआ लद्दाख क्षेत्र के एमचियों द्वारा अग्निकर्म विधि से भी हो जाती है।

जुलाई १९७५ में भारतीय चिकित्सा पद्धति एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धान परिषद् भारत सरकार का वनौषधि सर्वेक्षण दल लेह लद्दाख क्षेत्र में गया तो

उस दल की सदस्यता का सुअवसर मुझे भी प्राप्त हुआ। इस कार्यकाल में मैंने लद्दाख क्षेत्र के एमचियों (स्थानिक चिकित्सकों) से सम्पर्क स्थापित किया, तथा प्रारम्भिक सर्वेक्षणों से यह पाया कि लद्दाख क्षेत्र जिसको भाषा भोट (तिब्बती) है, यहां पर सुश्रुत विधि द्वारा ही अग्निकर्म किया जाता है। अग्निकर्म (दग्ध चिकित्सा) यहां की मुख्य चिकित्सा है। इसके अतिरिक्त यहां के एमची रक्त-मोक्षण, एक्वायङ्कर भी करते हैं जो कि बहुत उपादेय हैं, चीन, तिब्बत में इसी चिकित्सा का प्रचलन है। शीर्षक लेख मे सुश्रुत अग्निकर्म की उपादेयता, प्रकार एवं विधि का लद्दाखी एमचियों के अग्निकर्म का तुलनात्मक परिचय दिया गया है। आशा है कि विद्वान् पाठक लाभान्वित हो सकेंगे।

अग्निकर्म की उपादेयता

(१) जो रोग औषधि के प्रयोग द्वारा ठीक नहीं होते वे भी अग्निकर्म के द्वारा ठीक होते हैं। यथा—भेषज शस्त्रक्षारी रसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च।

—सु० सू० अ० १२

(२) क्षारप्रयोग से ठीक हुए रोगों का पुनः हो जाना सम्भव है किन्तु अग्निकर्म से रोग पूर्णतः निर्मूल होजाता है। अतः उसका दुबारा होना सम्भव नहीं है।

तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भवात्।

सू० सू० अ० १२

(३) अग्निकर्म किया गया विसंक्रमण (Sterliza tion) परमविश्वसनीय है क्यों कि महर्षि सुश्रुत ने छेदनादि अष्टविध शस्त्रकर्म में अग्नितप्त शस्त्र से छेदन करने का उपदेश दिया है। इस तरह करने से व्रण पकते नहीं है, "अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्" अन्यथा अतप्त शस्त्रच्छेदने पाकभयंस्यात् ॥ डल्हण ॥ इसकी अन्य विशेषता यह भी है कि अग्निदग्ध स्थान से रक्तस्राव नहीं होता। उष्णता के कारण रक्तवाहिनियों का संकोच हो जाता है। दाह संकोचयेत्सिराः इस प्रकार से अग्निकर्म की उपादेयता आयुर्वेद ग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हैं।

पाश्चात्य वैद्यक में इस रोग निवारणार्थ क्रिया को कॉटरी (Cautery) जलाना कहते हैं। जब लोह शलाका आदि को अग्नि पर तप्त कर शरीर पर प्रयुक्त करते हैं। वह अग्निकर्म (Acutal Cauterization) कहते हैं। यह दहनकर्म लौह, स्वर्ण, यशद शलाकाओं औषधियों एवं रासायनिक पदार्थों द्वारा किया जाता है। आजकल विद्युत दहन भी किया जाता है जिसे Electrocautery या Galuano Cautery कहते हैं। विद्युत दहन से अत्युच्च ताप द्वारा शरीरान्तः स्थित तन्तुओं का दहन Diathermy Cautery(डायथर्मी काटरी) कहलाता है। यह उपजिह्वा आदि घातक व्याधियों में विशेष उपयोगी है। कभी-कभी हिमशीत पदार्थो को भी तन्तुओं को नष्ट करने के लिये तत्प्रयुक्त किया जाता है। इसे हिमदहन (Cold-Cautery) कहते हैं। हिम वर्षा निलैदग्धे सु० सू० १२ हिमदग्धस्तुषारदग्ध इति लोकोक्त्या हिमदग्धेऽपि दाहसाद्यश्यमस्ति "डल्हणः" इस प्रकार हिमदहन की भी उपादेयता आयुर्वेद में है। लद्दाख क्षेत्र के स्थानिक एमचियों का भी कहना है कि कुछ अवस्था विशेष में बर्फ के द्वारा रोगोपचार करते हैं।

अग्निकर्म के उपकरण एवं रोगानुसार प्रयोग

पिप्पली, अजाशकृत, गाय बैल का दांत शलाका जम्बुफल, लौह, ताम्र, रजत, स्वर्ण आदि धातुओं से निर्मित शलाकायें अग्निकर्म में प्रयुक्त की जाती हैं।

मधु, गुड़ स्नेह पदार्थ, सर्गरस तैल, घृतादि पदार्थो से भी दहन कर्म किया जाता है, अष्टांग संग्रहकार ने सूर्यकान्त, मणि, सूची, कांस्य घृत, वसादि का परिगणन दहन द्रव्यों में किया है, हेमताम्रयो रूप्यकास्यैर्मसदाह "अष्टांग संग्रह"।

(१) त्वचा में स्थित विकार जैसे मूत्रज, तिलकालक, चर्मकील आदि को नष्ट करने के लिए सूर्यकान्त, पिप्पली, वर्ति, अजाशकृत, गोदन्त, शर शलाकादि का प्रयोग किया जाता है, यथा त्वग्दाहो वर्तिगोदन्त सूर्यकान्तशरादिभिः।

(२) वेदनायुक्त रक्ताव्य और म्लान अङ्गों, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शिरोवेदना, शंखवेदना, और ललाटकी वेदना, पिप्पलादि द्रव्यों से दहन कर्म किया जाता है। त्वग्दाहो ययास्वमभिष्यन्दादिपु तु भ्रू शंख ललाटदेशेपु।

अ० सं० सू० ४०

(३) मांस पदार्थ सूची, शलाका, घृत, तैल, ताम्र, लौह, स्वर्ण आदि शलाकाओं का प्रयोग किया जाता है।

ग्रन्थि, अर्बुद, अर्श, भगन्दर, गण्डमाला, नाड़ीव्रण आदि रोगों में मांसदाह किया जाता है। त्वचास्थित यशकादि को नष्ट करने के लिए अपेक्षाकृत कम ताप की आवश्यकता होने से अजाशकृत पिप्पली आदि द्रव्यों के उपयोग करने का निर्देश है। किन्तु अर्बुद आदि गहरे मांस में स्थित विकारों में शालाकाओं द्वारा ही दहन कर्म किया जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न धातुओं में स्थित भिन्न-भिन्न रोगों को नष्ट करने के लिए भिन्न-भिन्न ताप की आवश्यकतानुसार दहनकर्म किया जाता है।

दहनकर्म विधि—शुभ दिन तथा शुभ मुहूर्त में दाह कार्य के लिए रोगी को उत्तम प्रकाश में पूर्व की ओर शिर करके बिठाना चाहिए। तत्पश्चात् निर्धूम अग्नि अनेक धातुओं से निर्मित शलाकाओं को रक्त वर्ण की कर लेनी चाहिए तथा व्याधि के अनुसार दाग देना चाहिए, यह कर्म तब तक करना चाहिए जब तक कि सम्यग् दग्ध न हो जाय, दहन कर्म से पूर्व रोगी को पिच्छल अन्न खिलाना चाहिए क्योंकि अग्नि रूक्ष होती है।

मुझे लद्दाख क्षेत्र के एमचियों (वैद्यों) के साथ तीन मास रहने का सुअवसर मिला। उस कार्यकाल में उस क्षेत्र के स्थानिक एमचियों को इस अग्निकर्म का प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करने का अवसर मिला। प्रायः इस क्षेत्र में इस चिकित्सा का विशेष प्रचलन है। यहां के ग्रामीणों की भी इस दहनकर्म में विशेष आस्था है, ये लोग विशेष रूप से शिरोरोग, नेत्ररोग, भौं, ललाट, कनपटी एवं वर्त्मरोगों में, सन्धिशोथ, उदरशूल, अश्मरी, शोथ, वातप्रकोप की वेदना मांसयुक्त व्रण, अर्श, चर्मकील आदि कतिपय व्याधियों में ताम्र लौह की विभिन्न आकार की शलाकाओं द्वारा अग्निकर्म करते हैं। इसे स्थानिक भाषा में 'तोरने' मरदन कहते हैं।

यहां चिकित्सकों को इसका कर्माभ्यास प्रधान चिकित्सक कराता है तथा ये लोग विभिन्न उपकरणों औषध द्रव्यों एवं शीत दहन आदि सभी क्रियायें करते हैं। विस्तारभय से देना यहां पर सम्भव नहीं है। ये लोग भी सुश्रुत विधि के अनुसार वलय कङ्कण की भांति अर्द्धचन्द्र ◡ स्वतिक 卐 अष्टापद ※ विन्दु .... विलेखा या रेखा — — की आकृति में दाग करते हैं। महर्षि सुश्रुत ने उपर्युक्त प्रकारों का अग्निकर्म हेतु स्पष्ट आदेश दिया है। यथा—तत्र वलय विन्दु विलेखा प्रतिसारणानीति दहन विशेषाः ॥ सु० सू० अ० १२ ॥ महर्षि सुश्रुत ने प्रतिसारण विधि द्वारा भी दहनकर्म का संकेत किया है। जिसका अभिप्राय है कि तप्त की गई शलाका से रोगग्रस्त स्थान का घर्षण करना प्रतिसारण कहलाता है। 'तप्तशलादिभिरवघर्षणम्' महर्षि सुश्रुत ने मूत्राशय स्थित अश्मरी का शस्त्रकर्म करने के उपरान्त जिस मार्ग से अश्मरी को बाहर निकाला जाता है कभी-कभी वह मार्ग बन्द नहीं होता है और उसमें मूत्र आता रहता है। उसे बन्द करने के लिए अग्निकर्म का विधान है। इस सम्बन्ध में डल्हण ने स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं कि सद्योव्रण में मूत्र आना स्वाभाविक है किन्तु शल्यकर्म के उपरान्त एक सप्ताह के पश्चात् भी यदि मूत्र आता रहे तो उस अवस्था में व्रण का दहन करना चाहिए।

दहन लक्षण

त्वचा के दग्ध में निम्न लक्षण होते हैं—शब्द, प्रादुर्भाव, दुर्गन्धता।

१. त्वक् संकोच—"तत्र शब्द प्रादुर्भावो दुर्गन्धता त्वक् संकोच"

२. मांसदग्ध में—दग्ध स्थान कपोतवर्ण का किंचित् सूजन एवं वेदनायुक्त एवं व्रण सूखा तथा संकुचित होता है।

३. शिरा एवं स्नायुदग्ध में—व्रण काला एवं अरुण वरण का होना, रुधिरादि स्राव का रुक जाना, उन्नत होना आदि लक्षण होते हैं।

४. वर्त्म रोगों में—वर्त्मरोम कूपों में दहनकर्म के लिये पहले गीले वस्त्र से ढक लेना चाहिये, ऐसा निर्दिष्ट सुश्रुत ने दिया है।

अग्निकर्म निषेध—पित्तप्रकृति, अन्तःशोणित, प्रबल बाल, वृद्ध, भीरु, अनेक व्रण पीड़ित, पाण्डु, प्रमेही, रक्तपित्ती, गर्भिणी, ज्वर पीड़ित, सविषशल्य, मर्मस्थान, मर्मशीतव्रण, नेत्रव्रण, कुष्ठव्रण, सविषव्रण आदि कतिपय अवस्थाओं में दहनकर्म निषेध है।

दग्ध विज्ञान

डा० सुरेशचन्द्र अग्निहोत्री बी.ए.एम.एस. आयुर्वेदाचार्य, गोपालकुटीर, हरदोई
वैद्य दरबारीलाल आयुर्वेदभिषक्, अशोक भेषज्य भवन, फतेहगढ़ (फर्रुखाबाद)

★

दग्ध शब्द से आयुर्वेद में प्रमाद दग्ध तथा इतरथा दग्ध का भावार्थ लिया जाता है। अग्निकर्म में प्रमाद करने से या अतिरिक्त आकस्मिक दाह से जब दग्ध हो जाता है तब वह प्रमाद दग्ध या इतरथा दग्ध कहलाता है। आयुर्वेद में इतरथा दग्ध तथा प्रमाद दग्ध के चार भेद बताये हैं :—

(१) प्लुष्ट दग्ध
(२) दुर्दग्ध
(३) सम्यक् दग्ध
(४) अति दग्ध

इनके पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार बताये हैं :—

(१) प्लुष्ट दग्ध—यह अत्यन्त साधारण दग्ध है तथा इसमें केवल त्वचा मात्र झुलस जाती है जिससे त्वचा विवर्ण हो जाती है।

(२) दुर्दग्ध—त्वचा में दारुण फफोले पड़ जाते हैं, चूसने की सी पीड़ा होती है, जलन होती है। त्वचा का रंग लाल हो जाता है, पाक होकर लम्बे समय में शान्ति मिलती है।

(३) सम्यक् दग्ध—इसमें व्रण अधिक गहरा नहीं होता। जला हुआ स्थान पके हुये ताल फल के समान रंग का हो जाता है तथा न अधिक ऊंचा और न अधिक नीचा त्वचा, मांस, सिरा के दाह लक्षणों से युक्त होता है।

(४) अति दग्ध—अति दग्ध की अवस्था में मांस नीचे की ओर लटक जाता है जला हुआ अवयव विघटित हो जाता है, सिरा, स्नायु, सन्धि एवं अस्थियों का अतिशय नाश हो जाता है; ज्वर, दाह, तृषा, मूर्च्छा आदि उपद्रव हो जाते हैं। व्रण बहुत दिनों के बाद भरता है तथा व्रण भरने पर जले हुये स्थान का वर्ण शरीर के सामान्य व्रण के समान नहीं होता।

सार्वदैहिक लक्षण—स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त दग्ध के रोगी में तीव्र वेदना, दाह, ज्वर, तृषाधिक्य आदि सार्वदैहिक लक्षण मिलते हैं इनका सुश्रुत निम्न कारण बताते हैं—

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति ।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते ॥१७॥
तुल्य वीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा ।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते ॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च बाधते ॥१८॥

सु० सू० अ० १२

अर्थात् अग्नि से विदग्ध हुआ रक्त बहुत अधिक कुपित हो जाता है। इस कुपित रक्त से मनुष्य का पित्त भी प्रकुपित हो जाता है क्योंकि दोनों के गुणधर्म समान हैं। दोनों रक्त एवं पित्त समान वीर्य (उष्ण), समान रस (कटु), समान हेतु तथा अधिकार वाले हैं इस कारण जले हुए मनुष्य को तीव्र वेदना होती है तथा विदाह होता है। भयानक छाले उत्पन्न हो जाते हैं तथा ज्वर तृष्णा उत्पन्न होती है।

सुश्रुत ने अग्निदग्ध के स्थानिक और सार्वदैहिक लक्षण बताये हैं उनका केवल सम्बन्ध आकस्मिक जलनेमात्र

से नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष अग्निकर्म करते हुये वैद्य की गलती से जो दग्ध हो जाता है उससे भी है, इसलिये सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है कि यह चारों प्रकार के अग्निदग्ध के लक्षण वैद्य को अपने कार्य में प्रसाधक होते हैं—

तदे तच्चतुर्विधमग्निदग्ध लक्षण मात्मकर्म प्रसाधकं भवति।

आधुनिक दृष्टि से दग्ध (Burn) का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है अतः यहां पर आधुनिक दृष्टि से भी दग्ध के सम्बन्ध में वर्णन देना आवश्यक है।

आधुनिक दृष्टि से दग्ध

आधुनिक दृष्टि से दग्ध या जलने को २ शब्दों से प्रयुक्त किया जाता है।

(१) Burn (रुक्ष दग्ध). (२) Scalds (स्नेह दग्ध)

(१) रुक्षदग्ध (Burn)—जब शुष्क ताप यथा धातु के जलते हुए टुकड़े के सम्पर्क में आने से, अग्निशिखा (Flame) के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने से मनुष्य जलता है तो वह जलना रुक्षदग्ध (Burn) कहलाता है।

(२) स्नेहदग्ध (Scalds)—जब स्निग्ध पदार्थो यथा उबलता हुआ दुग्ध, जल, भाप आदि से मनुष्य जलता है तो वह स्नेहदग्ध कहलाता हैं।

दग्ध के प्रकार

(Classification of Burns)

दग्ध की गम्भीरता के अनुसार तथा वर्णन की सुविधा के लिये दग्ध को आधुनिक दृष्टि से निम्न श्रेणियों में बांटा जाता है—

प्रथम श्रेणी के दग्ध (First Degree burn)—इसको केवल झुलसना कहा जा सकता है इसमें चर्म पर विस्फोट उत्पन्न नही होते और त्वचा केवल लाल हो जाती है। इसका कारण यह होता है कि ताप के कारण स्थानिक रक्त नलिकायें विस्फारित हो जाती है जिससे उस स्थान पर रक्त प्रवाह बढ़ जाता है और लालिमा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रथम श्रेणी दग्ध को आयुर्वेद के प्लुष्ट दग्ध से समानता दी जा सकती है।

द्वितीय श्रेणी के दग्ध (Second Degree burn)—इसमें स्थान लाल तथा शोथयुक्त हो जाता है एवं वहां फफोले, फलक तथा विस्फोट पड़ जाते हैं। इन फफोलों में पीले रंग का या पानी के समान तरल एकत्रित हो जाता है। इसमें पीड़ा की अधिकता होती है तथा विस्फोटों में उपसर्ग पहुँच जाने के कारण पूयोत्पादन हो सकता है। इसकी समानता आयुर्वेद के दुर्दग्ध से की जा सकती है।

तृतीय श्रेणी के दग्ध (Third Degree burn)—इस श्रेणी के दाहों में चर्म का ऊपरी भाग नष्ट हो जाता है जिसके कारण तन्तिकाओं के सूक्ष्म अंग बाहर निकल आते है जिनसे अत्यन्त पीड़ा होती है। स्वेद ग्रन्थियां तथा केशमूल प्रभावित नहीं हो पाते है। अतः रोहण शीघ्र हो जाता है तथा क्षत चिन्ह भी अधिक नहीं बनता। इसकी तुलना आयुर्वेद के सम्यक् दग्ध से की जा सकती है।

चतुर्थ श्रेणी के दग्ध (Forth degree burn)—इस अवस्था के दाहों में चर्म के पूर्णनाश के साथ-साथ ऊतकों का भी नाश हो जाता है जिसके कारण दग्ध स्थान स्थान पर काले, शुष्क, चेतनाहीन धब्बे से पड़ जाते हैं जिनके चारों ओर शोथ के लक्षण दिखाई पड़ते है। तन्तिका सूत्रों के अगले भाग के जलकर नष्ट हो जाने से पीड़ा अधिक नहीं होती और रोहण बहुत धीरे-धीरे होता है। रोहण के पश्चात् क्षत चिन्ह (Scar) अधिक बनती है जिसके सिकुड़ने से अंग का आकार बिगड़ जाता है। इस श्रेणी के दग्ध की तुलना आयुर्वेद के अतिदग्ध से की जा सकती है।

पंचम श्रेणी के दग्ध (Fifth degree burn)—इस अवस्था में चर्म के नीचे के पेशीसूत्र भी जल जाते हैं। इस अवस्था को भी आयुर्वेद के अतिदग्ध में समावेशित किया जा सकता है।

छठवीं श्रेणी के दग्ध (Sixth degree burn)—इस अवस्था में सम्पूर्ण अंग जलजाते है तथा साथ में अस्थि तक झुलस जाती है। इसका समावेश भी अतिदग्ध अवस्था में किया जा सकता है।

दग्ध व्रण की अवस्थाएं—

सामान्य व्रण की तरह दग्ध व्रण की भी साधारणतया तीन अवस्थाएं होती है—

१. विनाश की अवस्था—इस अवस्था में दाह के कारण जितनी भी धातुओं का विनाश होना होता है, हो जाता है।

२. शोथ एवं कोथ की अवस्था—दग्ध स्थान और उसके थोड़ा आस-पास शोथ रहता है और मृत ऊतक गल-गलकर अलग हो जाते हैं।

३. विरोहण की अवस्था—जब व्रण धीरे-धीरे ठीक हो जाता है।

लक्षणों के अनुसार दग्ध की अवस्थाएं

१. प्रथम अवस्था या प्रथम अवसादावस्था (Stage of primary shock)—जलने के साथ प्रारम्भ होकर यह अवस्था ३६–४८ घण्टे तक रहती है। इसका कारण जले हुए स्थान पर क्षोभ होना तथा तन्त्रिकातन्त्र (Sensary nerves) का जल जाना होता है। यह अवस्था भावुक रोगियों (emotional pafients) में अधिक पायी जाती है।

२. द्वितीय अवस्था या द्वितीय अवसादावस्था (Stage of secondary shock)—यह अवस्था जलने के कुछ घण्टों के पश्चात् प्रारम्भ होती है तथा यह लगभग ४८ घन्टे तक बनी रहती है। इस अवस्था का कारण जलीयांश की कमी (Fluide loss) होता है।

३. तृतीय अवस्था या विषमयावस्था (Stage of acute toxaemia)—यह अवस्था जलने के ७२–९८ घन्टे बाद उत्पन्न होती है तथा २–३ दिन तक रहती है। इस अवस्था में रोगी को तीव्र ज्वर (१०२ या इससे अधिक) होता है रोगी को अत्यधिक बेचैनी (Restlessness), वमन (Vomiting) आदि लक्षण विशेषरूप से मिलते हैं सामान्य रूप से निम्न लक्षण भी मिल सकते हैं—

(१) नाड़ी की गति बढ़ सकती है। (Rapid pulse)

(२) श्वसन गति बढ़ सकती है। (Rapid respiration)

(३) रक्तदाब घट सकता है। (Fall of B. P.)

(४) मूत्र अल्प मात्रा में आसकता है (Scanty urine)

(५) रक्त गत यूरिया बढ़ सकती है (Increase of blood uria)

४. चतुर्थ अवस्था (Stage of septic toraemia)—यह अवस्था जलने के १ सप्ताह बाद कभी भी प्रारम्भ हो सकती है तथा १–२ सप्ताह तक बनी रह सकती है। यह अवस्था संक्रमण के कारण उत्पन्न होती है जिसके कारण निम्न प्रभाव पड़ता है—

(१) रोहण (Healing) क्रिया देर से होती है।

(२) द्वितीय श्रेणी का दग्ध तृतीय श्रेणी में बदल सकता है।

(३) व्रण वस्तु (Scar) अधिक बनता है।

इसके अतिरिक्त इस अवस्था में निम्न लक्षण मिलते हैं—

(१) रोगी को अरुचि तथा मलावरोध होता है

(२) व्रण से दुर्गन्धित स्राव की उत्पत्ति होती है।

(३) रक्ताल्पता (Anaemia) के लक्षण मिल सकते हैं।

(४) स्थानीय लिम्फ नोड्स बढ़ जाती हैं।

(५) श्वेत रक्त कणों की वृद्धि हो सकती है।

पंचम अवस्था या रोहण की अवस्था (Stage of Healing)—इस अवस्था में रोगी ठीक होने लगता है तथा उसका वजन बढ़ने लगता है तथा व्रण भरकर साफ होने लगता है यह अन्तिम अवस्था होती है।

दाह से मृत्यु के कारण (Cause of death in burn)—

(१) यदि रोगी अग्नि से मृत अवस्था में ही निकाला गया है तो मृत्यु का कारण प्रायः श्वासावरोध होता है। धुआँ तथा ताप की अधिकता के कारण दम घुट जाना बहुत कुछ सम्भव होता है।

(२) प्रथमावस्था में मृत्यु स्तब्धता (Shock) के कारण होती है।

(३) तीसरी अवस्था में मृत्यु का कारण पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा उपसर्ग होने के कारण होता है। इस अवस्था में आन्तरिक अंगों की विकृति भी कभी-कभी मृत्यु का कारण बन सकती है।

दग्ध की साध्यासाध्यता (Prognosis of burn)

दग्ध की साध्या-साध्यता आगे लिखी बातों पर निर्भर करती है:—

(१) **दग्ध क्षेत्र** (Area of burn)—दग्ध क्षेत्र का साध्या-साध्यता में सर्वाधिक महत्त्व है शरीर का जितना अधिक भाग जलता है उस स्थिति को उतना ही अधिक गम्भीर समझा जाता है चिकित्सा में सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण शरीर को उसकी महत्ता के अनुसार नम्वर दिये जाते है यह नियम 'नव नियम' या Rules of nine कहलाता है इसमें पृथक्-पृथक् अंगों की प्रतिशत निम्न प्रकार मानी गई है—

(४) **प्रकार** (Type)—किस वस्तु से दग्ध हुआ है यह भी महत्व रखता है यथा रासायनिक द्रव्यों तथा विद्युत से होने वाले दग्ध अधिक गम्भीर होते हैं।

(५) **लिंग** (Sex)—स्त्रियों तथा विशेषकर भावुक स्त्रियों में रोग की गम्भीरता अधिक होती है।

(६) **उपद्रव** (Complication)—उपद्रव उत्पन्न हो जाने पर रोगी की अवस्था गम्भीर होती जाती है इसलिए साध्या-साध्यता की दृष्टि से उपद्रवों का दग्ध में विशेष महत्व है।

अंग	प्रतिशत	विभाजन
शिर (Head)	९ प्रतिशत	
धड़ (Trunk)	३८ प्रतिशत	आगे का भाग (Front) १८ प्रतिशत पीछे का भाग (Back) १८ प्रतिशत
अधोशाखा (Lower limb)	३८ प्रतिशत	जाघें (Thigh) १८ प्रतिशत, पांव (leg) १४ प्रतिशत पंजे (feet) ६ प्रतिशत
ऊर्ध्वशाखा (Upper limb)	१८ प्रतिशत	ऊपर का हाथ (Arm) तथा नीचे का हाथ (Fore arm) दोनों १२ प्रतिशत, हाथ (Hand) ६ प्रतिशत
	१०० प्रतिशत	

उपर्युक्त तालिका के अनुसार जलने के भाग की प्रतिशत देख लेते है। यदि दग्ध १०—२० प्रतिशत है तो विशेष चिन्ता की वात नहीं होती। २०—२५ प्रतिशत तक जल जाने की स्थिति में अवस्था गम्भीर होती है तथा ५० प्रतिशत से अधिक की अवस्था में रोगी की स्थिति अत्यन्त घातक होती है।

(२) **आयु** (Age)—आयु की साध्या-साध्यता की दृष्टि से बहुत महत्त्व होता है। बच्चों में रोग की साधारण अवस्था भी गम्भीर होती है क्यों कि उनमें रासायनिक सन्तुलन शीघ्र विगड़ जाता है।

(३) **स्थान** (Site)—शाखाओं के दग्ध की अपेक्षा मध्य भाग और उससे भी अधिक चेहरे के दग्ध भयंकर होते हैं इसी प्रकार नितम्ब (Buttoks) का भी अधिक महत्त्व समझा जाता है।

दग्ध की चिकित्सा

आयुर्वेद में दग्ध चिकित्सा का वर्णन पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है। सुश्रुत ने दग्ध के विभिन्न भेदों की चिकित्सा निम्न प्रकार वताई है—

प्लुष्ट—इसकी आयुर्वेदिक चिकित्सा 'अग्नि प्रपतन' बतायी गयी है। अग्नि प्रपतन से तात्पर्य दग्ध भाग पर उष्णोपचार करने से है इसलिए सुश्रुत दग्ध स्थान को आग पर तपाने के लिए निर्देश करते है। इसका कारण यह है कि रक्त का विलयन होकर या रक्त संचार में वृद्धि होने से दग्ध स्थान की ऊष्णता कम हो जाती है। यदि उष्णोपचार के विपरीत शीतल उपचार प्लुष्ट दग्ध की अवस्था में करेंगे तो हानि होगी क्योंकि जल ठंडा होने

से उसके प्रयोग से रक्त संचार में कमी होगी और रोग ठीक होने के बजाय बढ़ जायगा।

दुर्दग्ध—सुश्रुत ने दुर्दग्ध की चिकित्सा 'शीतामुष्णां च दुर्दग्धे' अर्थात् दुर्दग्ध में शीत उष्ण दोनों प्रकार के उपचार करने चाहिए कहकर बतायी है। दुर्दग्ध में जो गहरा जला हुआ भाग रहता है उस पर ठंडी क्रिया और प्लुष्ट सदृश साधारण जला भाग रहता है उस पर उष्णोपचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दाह की न्यूनता में उष्णोपचार तथा दाह की अधिकता में शीतोपचार प्रशस्त समझा जाता है।

सम्यक् दग्ध—सम्यक् दग्ध में सुश्रुत वंशलोचन, अश्वत्थ की छाल, रक्त चन्दन, गेरु, गुड़ूची इन्हें घृत में मिलाकर लेप करने के लिए निर्देश करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने सम्यक् दग्ध में ग्राम्य पशुओं, आनूप पशुओं तथा जलचर प्राणियों के मांस को पीसकर लेप करने का भी वर्णन किया है। तीव्र दाह की अवस्था में सुश्रुत सम्यक् दग्ध की चिकित्सा पित्तज विद्रधि के समान बताते हैं।

अति दग्ध—अतिदग्ध में जलने के कारण कटे लटके हुए मांस को निकालकर शीतल उपचार करना चाहिए तथा व्रण स्थान पर शालिचावल तथा तिन्दुकी का चूर्ण घृत में मिलाकर लेप करना चाहिए तत्पश्चात् व्रण स्थान का गिलोय के पत्ते या कमल के पत्ते से आच्छादन करना चाहिए। सुश्रुत ने 'क्रियाश्च निखिलां कुर्याद् भिषक् पित्त विसर्पवत्' कहकर यह स्पष्ट किया है कि अतिदग्ध में सम्पूर्ण क्रिया वैद्य को पित्त विद्रधि के समान करनी चाहिए।

इस प्रकार आयुर्वेद में दग्ध के सभी भेदों की सामान्य चिकित्सा उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार की जाती है। इनके अतिरिक्त निम्नांकित योगों का प्रयोग दग्ध चिकित्सा में लाभकारी है।

(१) हर्र बड़ी के वक्कलों का चूर्ण, कर्दम (कीचड़) जीरा सफेद का चूर्ण, शहद असली, मोम असली देशी, राल इनको पीसकर गाय के घी में मिलाकर लेप करने से अग्निदग्ध व्रण शीघ्र ही अच्छा हो जाता है।

(२) श्वेत तुलसी की अन्तर्धूम भस्म करके घी या जल में मिलाकर लेप करें तो अग्निदग्ध व्रण ठीक हो जाता है।

(३) पीपल वृक्ष की छाल का चूर्ण छिड़कने से अग्निदग्ध व्रण को आराम हो जाता है।

(४) जौ (यव धान्य) लेकर उनकी अन्तर्धूम भस्म करके तिल के तैल में पीसकर लेप करने से शीघ्र ही अग्निदग्ध व्रण अच्छा हो जाता है।

(५) मोम, मुलहठी, लोध, राल, मूर्वा की जड़, चन्दन लाल, मंजीठ इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर चौगुना गाय का घी डालकर विधिपूर्वक घी पकाकर दग्धव्रण पर लगावें। यह सभी प्रकार के व्रणों के रोपण करने के लिये उत्तम है।

(६) लालचन्दन, बरगद की दाढ़ी, मंजीठ, मुलहठी, पुण्डरीक काष्ठ, दूब, पतंग, धाय के फूल समान भाग ले इन सब का कल्क करे, तिल का तैल कल्क से चौगुना तथा गाय का दूध तैल से चौगुना डालकर तैल पाक कर लेवे। इस तैल को लगाने से अग्नि दग्ध व्रण शीघ्र ही रोपण हो जाता है।

(७) लाङ्गली घृत—हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, मुलहठी, लोध, कायफल की छाल, कबीला, मेदा, महामेदा, कलिहारी की जड़, पीपल छोटी, हर्र बड़ी, बहेड़ा, आमला, नीम के पत्ते—प्रत्येक द्रव्य १-१ तो० ले, गाय का घी एक सेर ले और गाय का दूध २ सेर लेकर सबको मिलाकर घी पका लेवें। घृत पाक होने पर घी को छानकर मोम असली ८ तो० मिला देवें। यह लाङ्गली घृत व्रणों को रोपण करने में परम श्रेष्ठ है। अग्निदग्ध में विसर्प में, कीट तथा मकड़ी के व्रणों में, चिरकाल से हुये दुष्ट नाड़ी व्रण तथा मर्माश्रित व्रणों में यह घी अत्यन्त लाभ करता है।

(८) धाय के फूलों का चूर्ण अलसी के तैल में मिलाकर लगाने से व्रण का नाश होता है।

(९) त्रिफला की अन्तर्धूम भस्म को अलसी के तैल में मिलाकर लेप करने से अग्निदग्ध व्रण शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

(१०) पुराने चूने को दही के पानी में पीसकर लेप करने से तैल से जलने से हुये छालों को लाभ होता है।

(११) आंख में अग्नि से छाला आदि पड़ने पर लहसोड़े (लभेड़े) की छाल, त्रिफला, दारुहल्दी, वंशलोचन इनका क्वाथ करके आंख में डाले।

(१२) थूहरे या आक का दूध आंख में पड़ गया हो तो गाय का घी आंख में डाले या असली गुलाबजल डाले तो शीघ्र लाभ होता है। एक बार एक आदमी की आंखों में सेंहुड़ का दूध उसे काटते समय गिर गया जिस से आंखें एक दम लाल हो गई और दर्द के कारण बड़ी बेचैनी हुई। जो जिसने बताया सो डाला लेकिन आराम न हुआ तब एक व्यक्ति ने गुलाबजल डालने को कहा, गुलाबजल डाला गया जिससे उसे बहुत जल्द आराम आ गया।

इनके अतिरिक्त एक मलहम का प्रयोग नीचे दे रहा हूँ जो सैकड़ों रोगियों पर अनुभूत है। कभी फेल नहीं हुआ शीघ्र लाभ करता है। जलन को लगाते ही शान्त करता है और व्रणों को भी शीघ्र ठीक करता है। इसके मुकाबिले बरनोल बेकार है। अग्निदग्ध के अतिरिक्त सर्प में, मकड़ी के व्रण में तथा क्षत से एवं फोड़ों से ये व्रणों में भी शीघ्र लाभ करता है।

योग इस प्रकार है :—गिरी (नारियल) का तैल ५ तो०, मोम, मुर्दासिंग, सफेदा काशगरी या जिंक आक्साइड, बोरिक एसिड, राल १-१ तो०, कर्पूर ३ माशा।

निर्माणविधि—प्रथम नारियल का तैल आग पर चढ़ा कर गरम करें फिर उसमें राल पिसी हुई मिला दें इसके बाद मोम डाल दें जब मोम पिघल जाय तो कर्पूर डाल दें और कर्पूर डालने के बाद आग पर से उतार लें फिर शेष दवाओं का कपड़छन चूर्ण मिला घोट कर मलहम बनालें। बस मलहम तैयार है, इसे अग्निदग्ध पर लगावें।

दग्ध की आधुनिक चिकित्सा

दग्ध की चिकित्सा का वर्णन आधुनिक विज्ञान की पुस्तकों में पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है। यहां संक्षिप्त रूप में दग्ध की चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है—

दग्ध की सार्वदैहिक चिकित्सा
(General Treatment of Burn)

दग्ध का अवस्था में स्थानिक चिकित्सा से भी अधिक महत्वपूर्ण सार्वदैहिक चिकित्सा समझी जाती है और रोग के लक्षण तथा उपद्रवों के अनुसार क्रमशः चिकित्सा क्रम अपनाया जाता है। इसका वर्णन नीचे दिया जारहा है—

१. **पीड़ा**—दग्ध के रोगी में पीड़ा मिलना स्वाभाविक है, यह पीड़ा तीव्र होने पर मॉर्फीन $\frac{1}{8}$-$\frac{1}{4}$ ग्रेन या पैथीडीन १०० मि० ग्रा० पेशी में या $\frac{1}{8}$ ग्रेन शिरा में देने से पीड़ा में शान्ति मिलती है।

२. **द्रव चिकित्सा** (Fluide Therapy)—दग्ध चिकित्सा में द्रव चिकित्सा का अत्यधिक महत्व है क्योंकि दग्ध की अवस्था में शरीर द्रव तथा इलेक्ट्रोलायट का अत्यधिक असन्तुलन हो जाता है जिसके कारण अवसाद आदि लक्षण रोगी में देखने को मिलते हैं। द्रवनाश के कारण ही अत्यधिक प्यास, रक्तदाब का गिरना, मूत्राघात आदि लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं अतः यह आवश्यक है कि प्रथम २४ घण्टे मे रोगी को नारमल सैलाइन और प्लाज्मा को समान मात्रा में मिलाकर दिया जाय। इनकी मात्रा का निर्णय रोगी के शरीर-भार, आयु, रोगी के लक्षणों की स्थिति को देखकर किया जाता है। साधारणतः प्रारम्भ में लगभग २ पिण्ट (४० औंस) प्लाज्मा या डैक्स्ट्रान (Dextran) का प्रयोग किया जाता है। सिरा द्वारा तरल का प्रयोग करने में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रोगी के मूत्र से उसका निकास किस क्रम से हो रहा है। कम से कम प्रतिघण्टे लगभग ५० मि० लि० मूत्र आना चाहिये। ४८ घण्टे के पश्चात् तरल की मात्रा सीमित करदी जाती है अन्यथा फुफ्फुसीय आर्द्र शोथ (Pulmonary Oedema) आदि उपद्रव होने का भय रहता है।

३. **रुधिराधान** (Blood Transfusion)—२५% से अधिक जलने पर रोगी को रुधिराधान या ब्लड ट्रान्सफ्यूसन की आवश्यकता पड़ सकती है अतः उस अवस्था में रोगी का रक्तग्रुप शीघ्र जांच कराकर रुधिराधान कराना चाहिए।

इसके अतिरिक्त निम्न बातों का भी ध्यान रखना होता है—

(i) प्लाज्मा या रुधिर की व्यवस्था न होने तक रोगी को ग्लूकोज सैलाइन ५% सिरा मार्ग द्वारा ड्रिप विधि से देते रहना चाहिए।

(ii) प्लाज्मा तथा सैलाइन का प्रयोग सिरामार्ग से बारी-बारी से करना चाहिए।

(iii) तीव्र अवसाद (Acute shock) की अवस्थामें Nomal Saline 8 mg. प्रतिपिण्ट या हाइड्रो कार्टीसो न 50-100 mg. शिरान्तर्गत ड्रिप विधि से ४-६ घण्टे देने से रोगी की अवस्था में तीव्रगति से लाभ होता है।

४. A. T. S. का प्रयोग—प्रथम २४ घण्टे में ही A. T. S. १५०० यूनिट की मात्रा में अवश्य दे देना चाहिये।

५. उपसर्ग का प्रतीकार—दग्ध चिकित्सा में उपसर्ग (Infection)का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये, इसके लिए निम्न बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं—

(i) स्थानिक चिकित्सा में पूर्णत: जीवाणुहीनता का ध्यान रखना चाहिये तथा उपसर्ग रोकने के लिए उपसर्ग-नाशक मलहमों का प्रयोग व्रण स्थान पर करना चाहिये।

(ii) रोगी में ज्वर की वृद्धि, निद्रानाश, बेचैनी की अधिकता, नाड़ी की तीव्रता आदि लक्षण उपसर्ग की भीषणता के परिचायक हैं अतः इस अवस्था में व्रण स्राव की परीक्षा और वर्धन (Culture) करके उपसर्गकारक कीटाणुओं का पता लगाकर उनके लिए सटीक उपसर्ग नाशक एण्टीबायोटिक का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु सभी अवस्थाओं में यह सम्भव नहीं होता, अतः रोगी की स्थिति तथा लक्षणों को देखते हुये पैनिसिलीन, टैट्रासाइक्लीन, टैरामाइसिन का प्रयोग करना चाहिये। प्रोकेन पैनिसिलीन का सूचीवेध तथा टैरामाइसिन कैपसूलों का प्रयोग सर्वाधिक उपयोगी पाया गया हैं।

दग्ध की स्थानिक चिकित्सा
(Local Treatment of Burn)

१. यदि अंग केवल झुलस मात्र गया हो तो किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है तथा साधारणतः किसी दग्ध उपयोगी मलहम का प्रयोग करना चाहिए।

२. गर्मी के स्रोत से तुरन्त दग्ध भाग को पृथक् करना आवश्यक है जिससे क्षत अधिक गहराई तक न पहुँच पाये।

३. दग्ध स्थान पर ½ प्रतिशत शक्ति के सिलवर नाइट्रेट घोल में भीगे मुलायम गॉज की ड्रेसिंग करने तथा गर्म पानी या औषधियुक्त साबुन से जीवाणु रहित करके दग्ध-नाशक मलहमों का प्रयोग किया जाता है। बाजार में निम्न मलहम विशेषरूप से प्राप्त होती हैं—

१—म्यूरासिन S. K. F., २—माइवेसिन Glaxo
३—बरनौल Boots, ४—टैनाफैक्सB. W. Co.,
५—टेनेक्स A. H. Co., ६—क्रिस्टापेन Glaxo,
७—नीवासल्फ आदि।

५. फफोले पड़ जाने की अवस्था में फफोलों को फोड़कर मलहम आदि का प्रयोग करना चाहिये। फफोलों को फोड़ने में उपसर्ग बढ़ने की अत्यधिक सम्भावना होती है। अतः फफोलों को फोड़ने से पूर्व उस पर कोई एण्टीसैप्टिक (Antiseptic) घोल का लेप करते रहते हैं और तब उस फफोले के आधार पर अग्नितप्त सुई से छिद्र कर देते हैं। तत्पश्चात् साफ रुई से फफोले से निकले तरल को सुखाकर ऊपर पट्टी बांध देते हैं। घाव में रुई को चिपकने से बचाने के लिए उस पर कुछ मलहम अवश्य लगा देनी चाहिये।

६. दग्ध की नवीन तथा उत्तम चिकित्सा आजकल बन्धन रहित विधि (Exposer method) मानी जाती हैं। इसमें संक्रमण का ध्यान रखते हुये व्रण स्थान को पूर्णतया स्वच्छ और शुष्क कर सल्फोनेमाइड पेनिसिलीन पाउडर काफी मात्रा में छिड़क देना चाहिए और उसे खुला छोड़ देना चाहिए।

यहां स्मरणीय है कि आयुर्वेद में दग्ध को खुला छोड़-कर उसमें बन्धन का निषेध बताया गया है—'अबन्ध्याः क्षाराग्निदग्धाः पाकात् प्रकुपिताः [सु०]' जो इस बात का परिचायक है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी आयुर्वेद सर्जन इस तथ्य को समझते थे।

७. यदि व्रण की ड्रेसिंग करना आवश्यक हो तो ड्रेसिंग करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्रणवस्तु के संकोच के कारण अंगों, विशेषकर हाथ तथा पावों की अंगुलियों आदि का आकार विकृत न हो जाय इसके बचाव के लिये यदि आवश्यक हो तो कुशाओं (Splints) का प्रयोग भी किया जा सकता है।

८. मृत ऊतकों के पृथक् हो जाने पर तथा व्रण के स्वस्थ प्राकृतिक अवस्था के आने पर त्वचारोहण (Skin-grafting) भी दग्ध चिकित्सा में उपयोगी कार्य समझा जाता है क्योंकि इसके द्वारा रोगी के अंगों की स्थिति को सामान्य अवस्था में लाया जा सकता है। ★★

जलौकावचारणम्

वैद्य हरिशंकर शाँडिल्य भिषगाचार्य, राजकीय आयुर्वेद औषधालय, बरिधा (भरतपुर)

अथातो जलौकाऽवचारणीयमध्यायं व्याख्यास्याम: ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि: ॥२॥

जलौका क्या है ?

जलमासामायुरिति जलायुका:; जलमासामोक इति जलौकस: ।

जल में ही जिनकी आयु अर्थात् जीवन है उन्हें "जलायुका" कहते हैं, अथवा जल ही जिनका ओक अर्थात् निवास स्थान है उन्हें जलौकाएं कहते हैं ।

विमर्श—जलौका का प्रचलित नाम जोंक है । इनकी उत्पत्ति जल में ही होती है, जल ही इनका निवास, पोषण एवं प्राप्ति का मूल स्थान है अर्थात् ये जल में ही जीवन प्राप्त कर सकती हैं । एतावता इन्हें जलौका कहा जाता है । अंग्रेजी भाषा में इन्हें Leech लीच, या Hirudu हिरुडू कहते हैं ।

रक्तनिर्हरणार्थ जलौका का महत्व—

नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकस: ।

राजा, धनवान, बालक, वृद्ध, डरपोक, दुर्बल, स्त्री, तथा सुकुमार प्रकृति वाले (रक्तज रोग) पीड़ितों के रक्त निर्हरण के लिए जलौका प्रयोग करना एक सुकुमार विधि है । (वर्तमान में प्रचलित, सूचीवेध द्वारा भी रक्त-निर्हरण करना सुगम उपाय है ।

चिकित्सा में जलौकाओं का प्रयोग क्षेत्र—

शीताधिवासा मधुरा जलौका वारि सम्भवा ।
तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने ॥

शीतल स्थान (जल) में निवास करने तथा जल में ही उत्पन्न होने से, रस में मधुर होने से, पित्त प्रधान रक्त रोगों में या पित्त दूषित रक्त का अवसेचन जलौकाओं द्वारा करना चाहिए ।

चिकित्सा में त्याज्य एवं प्रयोज्य जलौकाएं—

आयुर्वेद के महान् वैज्ञानिक, शल्याचार्य महर्षि सुश्रुत ने इन जलौकाओं के दो वर्ग बताए हैं (१) सविष (२) निर्विष । प्रत्येक वर्ग में ६-६ जलौकाएं वर्णित की हैं । इस प्रकार कुल १२ प्रकार बताए हैं ।

सविष जलौकाओं के नाम व स्वरूपादि—

तत्र सविषा—कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इन्द्रायुधा सामुद्रिका गोचन्दना चेति ।

(१) कृष्णा—अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिरा:—कृष्णा ।

कृष्णा जलौका—ये अंजन (कज्जल) के समान काली होती है इनका शिर चौड़ा होता है ।

(२) कर्बुरा—वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षि:—कर्बुरा ।

कर्बुरा जलौका—ये जलौका वर्मि नामक मछली के आकार वाली होती है । उदर प्रदेश में रेखांकित, नतोदर तथा पृष्ठ प्रदेश की ओर उन्नतोदर होती है । ये रंग में भूरी होती है ।

(३) अलगर्दा—रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी—अलगर्दा ।

अलगर्दा जलौका—इसका शरीर रोमयुक्त तथा वलीयुक्त होता है । दोनों पार्श्व फूले हुए होते हैं और मुख काला होता है ।

(४) इन्द्रायुधा—इन्द्रायुधवदूर्ध्वराजिभिश्चित्रिता—इन्द्रायुधा ।

सविष जलौकायें
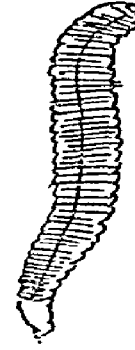
कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इन्द्रायुधा सामुद्रिका गोचन्दना

निर्विष जलौकायें

कपिला पिंगला शंकुमुखी मूषिका सावरिका पुण्डरीक मुखी
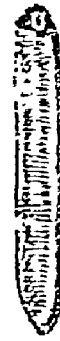
इन्द्रायुधा जलौका—इन्द्रधनुप के समान पृष्ठ देश में विचित्र रंगों से युक्त, रेखान्वित जलौका इन्द्रायुधा जलौका कहलाती है ।

(५) सामुद्रिका—ईषदसित पीतिका विचित्र पुष्पा-कृति चित्रा—सामुद्रिका ।

सामुद्रिका जलौका—ये जलौकाएं किञ्चिद् काली तथा पीले रंग की होती हैं और कई रंग के विन्दुयुक्त पुष्पों के समान दिखाई पड़ती हैं ।

(६) गौचन्दना—गौवृपणवदधोभागे द्विधा भूता-कृतिरणुमुखी—गौचन्दनेति ।

गौचन्दना जलौका—इनके नीचे का भाग वैल के वृपण के समान द्विविभक्त सा दीख पड़ता है तथा मुख छोटा होता है ।

इनके अतिरिक्त आचार्य वाग्भट ने सामान्य रूप से अति चपल और स्थूल पिच्छिल आदि सविष जलौकाओं के लक्षणों का उल्लेख किया है । इन सभी सविप जलौ-काओं का प्रयोग चिकित्सा कार्य में वर्जित माना है । आधुनिक मतानुसार सविप जलौकाओं को Hirudo Detrimental नाम से कहा गया है ।

आचार्य सुश्रुत इन सविप जलौकाओं की उत्पत्ति विषैले मत्स्य, कीड़े, मेंढ़क आदि के सड़े हुए मलमूत्र से दूपित जल में मानते हैं ।

सविष जलौकाओं के प्रयोग से हानि—

इन उपरोक्त सविप जलौकाओं में से किसी का प्रयोग करने पर इनके दंश में उस दंशित स्थान पर एव

तत्समीपस्थ प्रदेश में शोथ व तीव्र कण्डू, तथा मूर्च्छा, ज्वर, दाह, मद, छर्दि एवं अंगसाद आदि स्थानिक एवं सर्वांगिक लक्षण उत्पन्न होते है।

सविष जलौका दंश की चिकित्सा——

उपरोक्त दंशज लक्षण उत्पन्न होने की स्थिति मे निशोथ, कलिहारी, यष्टिमधु (मुलैठी) हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मंजिष्ठा, अमलतास, पाचों नमक, सोठ, मरिच, पीपल, सब समभाग इन १५ द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर मधु मिलाकर सीग के बने पात्र मे रखें।

इस प्रयोग को पीने, आलेप करने व नस्य रूप में प्रयुक्त करें। यह सर्व, विषनाशक उत्तम व अचूक प्रयोग है।

इन्द्रायुधा नामक जलौका द्वारा काटा हुआ रोगी असाध्य होता है, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है।

निर्विष जलौकाओं के नाम व स्वरूपादि——

अथ निर्विषा——कपिला, पिङ्गला, शंकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी सावरिका चेति।

१. कपिला——मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धामुद्गवर्णा कपिला।

कपिला जलौका——मनःशिला के समान वर्ण वाली पार्श्व तथा पृष्ठदेश में मूग के समान वर्ण वाली और स्निग्ध (चिकनी) होती है।

२. पिङ्गला——किञ्चिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गाऽऽशुगा च–पिङ्गला।

पिङ्गला जलौका——यह कुछ रक्तपीताभ वर्ण वाली आकृति में गोल, और शीघ्र चलने वाली होती है।

३. शंखमुखी——यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घ तीक्ष्ण मुखी——शंकुमुखी।

शंकुमुखी जलौका——यह यकृत् के समान वर्ण वाली (काले बेंगनी रंग युक्त) शीघ्र रक्त चूसने वाली तथा लम्बे और तीक्ष्ण मुख वाली होती।

४. मूषिका——मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगंधा च मूषिका।

मूषिका जलौका——यह जलौका मूषिका (चूहा स्त्रीलिङ्ग) के समान आकृति और वर्ण वाली तथा अनिष्ट गंध (दुर्गन्ध) वाली होती है।

५. पुण्डरीक मुखी——मुद्गवर्णा पुन्डरीकतुल्यवक्त्रा——पुण्डरीक मुखी।

पुण्डरीक मुखी जलौका——मूंग के समान हरे वर्ण वाली, कमल के समान मुखवाली जलौका पुण्डरीकमुखी कहलाती है।

६. सावरिका——स्निग्धापद्मपत्रवर्णाऽष्टा दशांगुल प्रमाणा——सावरिका। सा च पश्वर्थे।

सावरिका——चिकनी कमलपत्र के समान वर्ण वाली और अठारह अंगुल लम्बी होती। यह जलौका हाथी, घोड़े आदि पशुओं के दूषित रक्तनिर्हरण में प्रयुक्त होती है।

इनके अतिरिक्त आचार्य वाग्भट निर्विष जलौकाओं के लक्षणों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि जो जलौका शैवाल (काई) की तरह हरित श्याम वर्णाभ, गोल आकार वाली, पृष्ठ देश में कत्थई रंग वाली होती है। नीलवर्ण रेखाओं से युक्त पतली और कोमल शरीर वाली होती है वे रक्त निर्हरणार्थ प्रशस्त होती है। तथा इन्हीं को चिकित्सा कार्य में उपयोगी माना है।

निर्विष जलौकाओं का उत्पत्ति स्थान

तत्र पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीक शैवलकोथजाता विमलेष्वम्भस्सु च निर्विषाः॥

पद्म, नीलकमल, रक्तकमल, कुमुद, सौगन्धिक कमल, श्वेत कमल और शैवाल (काई) इनके कोथ में तथा निर्मल जल मे निर्विष (कपिला पिङ्गला आदि) जलौकाएं उत्पन्न होती है।

इन्हें आधुनिक वैज्ञानिक Hirudo Medicinalis नाम से कहते है।

जलौका संग्रहण व संरक्षण

तासां ग्रहणमार्द्रचर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णीयात्।

इन (निर्विष) जलौकाओं को गीले चमड़े से पकड़े या अन्य प्रयोग (विधि) से अर्थात् सद्योहत प्राणी की मांसपेशी पर मक्खन, घी और दुग्ध लगाकर इनसे पूरित पानी में डालकर पकड़े रहे, ये खाने के लोभ से आकर चिपक जाती है तब इन्हें पकड़ ले।

अथैनां नवे महति घटे सरस्तडागोदक पङ्कमावाप्य निदध्यात्। भक्ष्यार्थे चासामुपहरेच्छैवलं वल्लूरमौदकांश्च कन्दांश्चूर्णीकृत्य, शय्यार्थे तृणमौदकानि च पत्राणि

स्यहात्यहाच्चाम्योऽन्यज्जलं भक्ष्यञ्च दद्यात्। सप्तरात्र्यात् सप्तरात्र्याच्च घटमन्यं संक्रामयेत् ॥

इन पकड़ी हुई जौंकों को, एक नवीन बड़े घड़े में तालाब या सरोवर के जल को भरकर उसमें कुछ कीचड़ छोड़कर तैयार किये जल में छोड़ दें। शैवाल, शुष्कमांस, कमलनाल, सिंघाड़े आदि कंदो का चूर्ण इनके खाने के लिए घड़े में छोड़ दे। इनके सोने के लिए जल में होने वाले कमल आदि के हरे पत्ते छोड़ दे। तीन-तीन दिन पर घड़े का जल व अन्य सामग्री बदल देनी चाहिये। तथा सात-सात दिन के बाद घड़े को भी बदलकर नवीन घड़ा प्रयोग करना चाहिये।

विमर्श—मृत्तिकापात्र (घड़े) के स्थान पर कांचपात्र (नांद) वगैरह का भी प्रयोग करना प्रशस्त है। इससे जल की निर्बलता की देख-रेख भी हो जाती है। तथा जलौका की चर्या का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

जलौका साध्य रोग

गुल्मार्शो विद्रधीन् कुष्ठ वातरक्त गलामयान्।
नेत्ररुक् विषवीसर्पाञ्श्मयन्ति जलौकसः॥

—अष्टांग हृदय सू० अ० २६

आचार्य वाग्भट ने गुल्म, अर्श, विद्रधि कुष्ठ (Skin diseases) वातरक्त, कंठ व गले के रोग, नेत्र रोग, विष दष्ट, विसर्प आदि को जलौकासाध्य निर्दिष्ट किया है।

विमर्श—उपरोक्त गुल्मादि रोगों में जलौकावचारण का आचार्य का विशेष निर्देश ही जानना चाहिये। अन्यथा रक्तज सभी रोगों में जिनमें पित्तदुष्टि, रक्तावगाढ़ता परिलक्षित हो, जलौकावचारण हेतु प्रशस्त समझना चाहिये।

जलौकावचारण का व्यावहारिक विवेचन

उपयोगार्थ जलौका संख्या निर्णय

दोषदुष्टि एवं पीड़ित क्षेत्र के अनुसार इनकी संख्या निर्धारित करनी चाहिये। एक जलौका, एक बार में सामान्यतः ४ से १५ मि० लि० तक रक्त का आचूषण करती है। इसी हिसाब से कितना रक्त निर्हरण करना अपेक्षित है इसका ध्यान रखते हुए उतनी ही जलौकाओं को रक्तमोक्षण कर्म हेतु तैयार करना चाहिये।

पूर्वकर्म

जलौका सिद्धि—रक्तमोक्षणार्थ प्रयोग से पूर्व निर्धारित जलौकाओं को सरसों एवं हरिद्रा मिश्रित जल में ४८ मिनट रखें। इससे जलौकाओं की क्षुधा बढ़ती है, चेतन्यता आती है, रक्ताचूषण की इच्छा जागृत होती है। बिना इस सिद्धि के निर्विष जलौका का प्रयोग भी अवांछनीय है।

रोगी सिद्धि—शरीर शोधनार्थ पंचकर्मों में वर्णित पूर्वकर्म, स्नेहन, स्वेदनकर्म यहां भी अपेक्षित हैं क्योंकि, सिरावेध से पूर्व इन कर्मों को संपादित करने का निर्देश आचार्य सुश्रुत द्वारा किया गया है। परन्तु अगर तत्काल ही स्नेहन किया जावेगा तो जलौका त्वचा को (स्नेह के कारण) भली प्रकार से नहीं पकड़ पाती है। अतः जलौकावचारण से एक दिन पूर्व स्नेहन, स्वेदन करना उचित होगा। तदुपरान्त त्वचा के ऊपर स्थित स्नेह को हटाने हेतु विरूक्षण कर्म (जीवाणु रहित बालुका बुरक कर) करना चाहिये।

प्रधानकर्म (जलौकावचारण)

उपरोक्त विधिना जलौका एवं रोगी की तैयारी करने के बाद सर्वप्रथम कर्मदक्ष, निर्भय, प्रियदर्शन एवं शुभ्रावस्त्रालंकृत वैद्य अपने हाथों को साबुन से धोकर सुखाकर, बोरिक पाउडर मलकर, हाथों पर रबर के दस्ताने (ग्लव्स) पहिने। जलौका जो कि स्वभाव से ही स्निग्ध एवं पिच्छिल होती हैं ग्लव्स की सहायता से सुविधापूर्वक पकड़ी जा सकती हैं। तब विकृत अवयव पर क्षीरादि लगाकर या कुछ रक्त बिन्दु, सुई की अग्र नोंक द्वारा निकाल कर, उस स्थान पर जलौका को मुख की ओर से लगावे। सिद्ध जलौका बुभुक्षित व रक्तपिपासु होने से उस स्थान को पकड़ कर रक्त आचूषित करने लग जाती है। सम्यक् अवचारणार्थ निम्न सावधानियां बरतें।

सावधानियां

(अ) अगर जलौका सीमित क्षेत्र में लगानी हो तो एक कागज छोटे-छोटे छेदयुक्त उस विकृत स्थान पर रख दें। जलौका कागज के ऊपर से घूमती हुई छेदयुक्त

स्थान से चर्म पर चिपक जाती है। इस तरह उसका इधर-उधर अन्यत्र लगने का भय नहीं रहता।

(व) जब जलौका किसी अन्तः अवयव पर यथा गुदा गर्भाशय व कण्ठ में लगानी हो तो एक कांच नलिका (तलें में छिद्र युक्त) में जलौका को रखें उसका मुखतलस्थ छिद्र से बाहर निकला हुआ हो। ऐसी स्थिति में उक्त स्थलों पर लगावें। इससे जलौका के अन्दर गम्भीर प्रदेश में परिसर्पण की भीति नही रहती है।

(स) रोगी के समीप तम्बाकू, गन्धक या सिरका की गन्ध नहीं होनी चाहिये अन्यथा जलौका नहीं लगती है।

(द) इतने पर भी जलौका दंश ग्रहण नहीं करे तो दूसरी जलौका का प्रयोग करना चाहिये।

(इ) जब जलौका रक्तपान करना प्रारम्भ करदे तो उसके शरीर पर श्वेत, आर्द्र, वस्त्र खंड या गॉज का टुकड़ा लपेट दें। मुख खुला रखें।

जलौका लगने की परीक्षा—जब जलौका अपने मुख को घोड़े के खुर के समान करके स्कन्ध प्रदेश को ऊंचा करके रक्ताचूषण करने लगे तो उसे सम्यक्‌दंशित समझ लें।

जलौका सर्वप्रथम रक्त में से अशुद्ध रक्त का ही आचूषण करती है। शुद्ध रक्त का पान उपरान्त में करती है, यह उसमें एक विशिष्ट विवेक शक्ति है। जब शुद्ध रक्त का आचूषण करने लगे तब उसे पृथक् कर दें। पृथक् करने के लिये उसके मुख पर सैंधव लवण का सूक्ष्म चूर्ण बुरक दें, जिससे तुरन्त रक्त चूषना बन्द करके दंश स्थान को छोड़ देती हैं। (शुद्ध रक्त ग्रहण करने पर रोगी को अरति, हृल्लास आदि तथा दंशित स्थान में तोद, कण्डू आदि दुर्लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। यही समय जलौका के हटाने का है।)

इस प्रकार जलौका छुड़ाने के बाद वैद्य को पश्चात्-कर्म में सावधानीपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए।

पश्चात् कर्म

१. जलौका परिचर्या।

२. रुग्ण परिचर्या।

जलौका परिचर्या—जलौका को दंश स्थान से पृथक् कर उसके मुख पर हरिद्रा, सैंधव मिश्रित जल को मले फिर बाएँ हाथ की अंगुलि एवं अंगुष्ठ की सहायता से जलौका का पूंछ की ओर से मृदु पीड़न करता हुआ मुख मार्ग से आचूषित रक्त की वमन करावें। सम्यक्‌वान्त जलौका को एक जलपात्र में छोड़ दे। अगर यह जलौका अपने भक्ष्य की खोज में उस जलपात्र में इतस्ततः फिरने लगे तो उसे सम्यक्‌वान्त समझे। यदि एक ही स्थान पर जाकर बैठ जाय तो उसे दुर्वान्त समझ कर पुनः वमन करावे। जलौका को अशुद्ध रक्त का वमन सम्यक्‌रूपेण नहीं कराने से उसे "इन्द्रमद" नामक रोग हो जाता है जिससे वह भविष्य में रक्तपान करने के अयोग्य हो जाती है।

रुग्ण परिचर्या—दूसरा परिचारक को जलौका के हटने के बाद तुरन्त ही रुग्ण परिचर्या में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। क्योंकि जलौका के लालास्राव में स्थित स्कन्दन निरोधी पदार्थ Hirudin नामक जलौका के दंश से पृथक् होने पर भी स्रुत रक्त को जमने नहीं देता है। अतः उपचारकर्ता को सर्वप्रथम व्रण प्रक्षालन कर रक्तस्राव निरोध करके व्रणोपचार करना चाहिये। एतदर्थ शतधौत घृत का पिचु बनाकर रखे, शीत परिषेक करे। यदा-कदा २-३ घण्टे तक भी रक्तस्राव होता रहता है। ऐसी परिस्थित में स्फटिका चूर्ण का प्रयोग प्रशस्त है।

सुख स्मरणार्थ रोगों में प्रयोग स्थलों का सामान्य निर्देश—

१. रक्तजन्य शिरःशूल में गण्डप्रदेश पर जलौका प्रयोग करे।

२. रजावरोधजन्य शिरःशूल में भगोष्ठों के समीप जलौका प्रयोग प्रशस्त है।

३. उदर एवं पार्श्वशूल में शूल वाले स्थान के विपरीत दिशा में जलौका प्रयुक्त करे।

४. कभी-कभी अर्श रोगी के बहते हुए रक्त का अवरोध हो जाने पर एक प्रकार का अर्धावभेदकवत् शिरःशूल उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में गुदा के परितः किनारों पर जलौकाएं लगानी चाहिये।

शल्यचिकित्सा में प्लाज्मा का उपयोग
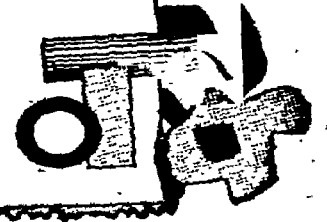
डा० केशवानन्द नौटियाल, शंकुधारा वाराणसी

*

आधुनिक काल में जिसे ब्लड कहा जाता है वह आयुर्वेदीय दो प्रमुख धातुओं का मिश्रण है। एक जिसे रसधातु कहते हैं और दूसरी रक्तधातु। जिसे आधुनिक चिकित्सक ब्लड सर्क्युलेशन कहता है उसे प्राचीन भारतीय चिकित्सक रस संवहन के नाम से पुकारता था 'कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनो ह्यतः—सुश्रुत निदान स्थान का अध्याय १।

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा।।
चरक चिकित्सा स्थान अ० १५

यह रस समस्त उपयोगी आहार का जिसे एक व्यक्ति सेवन करता है उसका तेजोभूत सार है—तत्र पाञ्चभौतिक चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्य अष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणोपेतस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रस' इत्युच्यते।

यह रस गति धातु से बना है तथा इसकी व्युत्पत्ति है अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः। जो दिनानुदिन लगातार चलता ही रहे वह रस है। यह रस हृदय से निकलकर धमनियों में जाता है और सारे शरीर में चक्रवत् भ्रमण करता हुआ (संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्) समस्त शरीर का दिनानुदिन तर्पण, वर्धन, धारण और यापन करता है—

स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यगाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा।

यह सारा रससंवहन किसी अदृष्ट के कारण लगातार चलता रहता है। यही रस जो हृदय से निकलता है सम्पूर्ण शरीर को तर्पित करता है और सिराओं के द्वारा हृदय को लौट आता है :—

हृदो रसो निःसरति तस्मादेव च सर्वशः।
सिराभिः हृदयं चैति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः।।
—भेलसंहिता सूत्रस्थान अ० २१

यह रस जिसका मूल हृदय और धमनियां हैं सारी धातुओं का प्रतर्पण करता है—

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्राणीरितो रसः।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्।।
—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय ४६

उपर्युक्त प्राचीन महत्त्वपूर्ण तथा पूर्ण वैज्ञानिक विवरण से यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ब्लडसर्क्युलेशन का ज्ञान हमारे भारतीय चिकित्सा के आचार्यों को बहुत पहले से था। विलियम हार्वे को जो इसका प्रथम खोजक बतलाया जाता है वह भारतीयों के द्वारा खोजे हुए ज्ञान की अवहेलना करना है और अपने को झूठे ही किसी खोज का प्रथम ज्ञाता बताने का है। यह ज्ञान हमारे आयुर्वेदीय ग्रन्थों के कर्ताओं को सदा ही रहा है।

यह रस शरीर की सम्पूर्ण धातुओं को भोजन प्रदान करता है उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और जो तत्व उनमें कार्य करते-करते घट जाते हैं उनको प्रदान करने का कार्य भी बराबर करता रहता है। जिस

प्रकार एक पत्ते में एक मूल सिरा होती है उसी से अनेक शाखाएं निकलती हैं फिर उन शाखाओं से सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतानवत् सिराएं और अणुसिराएं निकलती हैं वही स्थिति मानव शरीर में पाई जाती है। पहले १० मूल सिरा उनसे ७०० सिराएं बनती हैं जिनसे पत्ररेखाप्रतानवत् असंख्य अणुसिराएं निकलती हैं और सारे शरीर को रस पहुँचाकर उसका तर्पण वर्धन यापन किया करती हैं :—

दशमूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्व सर्वतो वपुः।
रसात्मकं वहन्त्योज तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ॥
स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्।
भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु ॥

—अष्टांग हृदय शारीरस्थान अध्याय ३

ये वाक्य यह प्रकट करते हैं कि वाग्भट के काल तक प्राचीन भारतीय चिकित्सकों ने मानव शरीर की रचना तथा क्रिया का प्रैक्टीकल ज्ञान कर रखा था वे कितनी धमनियां और सिराएं हैं इन्हें गिनते थे और ठीक-ठीक एतद्विषयक ज्ञान रखते थे।

वे यह भी मानते थे कि सिराओं के द्वारा केवल एक-एक दोष का ही गमन नहीं होता अपि तु वह सर्वशरीर वर्धक तत्वों का एक साथ वहन करने वाली ही होती है। आधुनिक विचारों के मत में तो उसका प्रत्येक घटक निश्चित मात्रा में होता है इसे वे भी स्वीकार करते थे। वे यह भी मानते थे कि रोगकारक प्रकुपित दोषों का संचरण इन रसवाही सिराओं के ही माध्यम से होता था फिर जब उन्होंने शरीर रचना का व्यापक अध्ययन और अन्वेषण किया तो उन्हें ऐसी वाहिनियां या सिराएं भी मिलीं जिनसे वायु, पित्त, कफ, रक्त का अलग-अलग वहन होता है। इसका व्यापक विचार सुश्रुत ने शारीरस्थान के सातवें अध्याय में किया है—

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलाः सिराः।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूच्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥
तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिरा कफात् ॥
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः।

यह रस शरीर के सुदूरतम भागों में किस प्रकार पहुँचता और पहुंच कर वहां तर्पण, वर्द्धन, यापन, धारण, जीवनादि कार्यो को सम्पन्न करता है इस पर भी उन्होंने बहुत लम्बा अनुसन्धान करके रस की ३ प्रकार की गतियों को निश्चित किया था—

स (रसः) शब्दार्चिजलसन्तानवद् अणुना विशेषेण अनुधावति एवं शरीरं केवलम्।

—सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अ० ४

इस पर डल्हण और चक्रपाणिदत्त की बड़ी-बड़ी टीकाएं हैं। इसका संवहन शब्द सन्तानवत् अर्चिसन्तानवत् और जल सन्तानवत् अणु विशेष के रूप में होता है। शब्दवाही अण्ड, प्रकाशवाही अण्ड और जलवाही अण्ड जिस प्रकार अपनी-अपनी गतियों से विश्व में प्रसार करते हैं वैसे ही तीनों प्रकार से रस भी मानव या प्राणी शरीर में प्रसरण कर सर्वत्र पहुँच जाता है और वहां अपने तर्पण धारणात्मक कार्यो को सम्पन्न करता है।

यही रस रंजकपित्त के द्वारा रंगा जाने पर रक्त बनता है या रस के तेज को पित्त की ऊष्मा रक्त में बदल देती है। या तेज के द्वारा जलधातु के रंजन से रक्त बनता है। ये ३ कल्पनाएं रक्त के सम्बन्ध में आयुर्वेद में वर्णित हैं:—

शार्ङ्गधर संहिता—

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः।
रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम् ॥

चरक संहिता—

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणा स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥

सुश्रुत संहिता—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥

वे रक्तमज्जा में रक्त के लालकणों की उत्पत्ति तक न पहुँच पाये थे। उन्होंने आमाशय (स्टमक फैक्टर—इंट्रीजिक फैक्टर) अन्न (वाह्य फैक्टर) यकृत् (हीमेटिनिक फैक्टर) तक तो ट्रेस कर लिया पर आगे खो गये। वे रक्त की उत्पत्ति में यकृत् और प्लीहा के शैशवीय रोल को तो जान गये पर सरक्तमज्जा में ये लालकण आजीवन तैयार होते हैं यहां तक न पहुँच सके इसी कारण

उनके रक्त सम्बन्धी वर्णन में सब कुछ मिलता है उत्पत्ति विषयक नवीन ज्ञान का अभाव होता है । "स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागं उपैति"—के द्वारा आप्य रस को यकृत् प्लीहा तक उन्होंने ट्रेस कर लिया था तथा उसके बाद वहां से लालरक्त के रूप में उन्होंने उसे देख भी लिया था । अधिक रक्तक्षय होने पर यकृत् और प्लीहा द्वारा पुनः रक्त निर्माण ने इसकी पुष्टि कर दी थी तथा अतिरक्तस्राव या अतिरक्तक्षय होने पर रक्त को क्षौद्र (मधु) में मिलाकर पीने को तथा बकरी के ताजे यकृत् (कलेजी) को कूट कर पित्त मिलाकर खिलाने को स्वीकार किया था—

अति निःसृतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक् ।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् ।।
—सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र अ० ४५

उन्होंने धातुपोषणक्रम—रसाद् रक्तं ततो मांसम् को स्वीकार किया था । रक्त की पुष्टि करना रसधातु का कार्य माना था 'रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति' । यही नहीं रस ही स्त्रियों के रजःसंज्ञक आर्तव की प्रवृत्ति का कारण है—'रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञं प्रवर्तते' । इससे रस और रक्त की रिश्तेदारी का पूरा-पूरा आयुर्वेदीय ज्ञान हो जाता है । इस दृष्टि से शरीर में कहीं भी रस धातु की कमी हो या रक्तधातु की कमी हो तो उसकी पूर्ति रसधातु साक्षात् प्रदान करने से हो सकती है । रस क्या रक्त आदि समस्त धातुओं का प्रीणयिता रस ही है इसलिए उसकी रक्षा के लिए उचित रसवर्द्धक आहार विहार के सेवन में सावधानी बरतने की शास्त्राज्ञा है:—

तत्रैषां (सर्वे) धातूनां अन्नपानरसः प्रीणयिता ।
रसजं पुरुषं विद्यात् रसं रक्षेत्प्रयत्नतः ।।
अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ।
—सुश्रुत सूत्र स्थान अ० १४

अर्थात् इन सभी धातुओं का रस (अन्नपानज रस) ही प्रीणन करने वाला है । यह पुरुष रसज है इसलिए रस की प्रयत्नपूर्वक उचित अन्न से उचित पान से तथा उचित आचार से रक्षा की जानी चाहिए ।

इस तथ्य को आधुनिकों ने स्वीकार किया हुआ है । वे यह जान गये हैं कि रसधातु ही सम्पूर्ण धातुओं का पोषण करती है । इसी का ज्ञान उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा किया हुआ है । ब्लड में जो दो आयुर्वेदीय धातुएं—रसधातु तथा रक्तधातु हैं उनको वे क्रमशः प्लाज्मा तथा फौर्म्ड ऐलीमेण्ट्स कहते हैं । फौर्म्ड ऐलीमेण्ट्स में रक्त के लाल कण श्वेत कण और प्लेटलैट्स आते हैं । लालकणों के कारण रक्त लाल दिखाई देता है । इन्हीं को आयुर्वेद रक्त या रुधिर धातु की संज्ञा देता है । यही लोहित कहलाता है । वह भाग जिसमें लोहा हो वह लोहित होता है । लाल कणों में हीमोग्लोबिन लोहयुक्त होता है इसे सभी जानते हैं ।

रसधातु या प्लाज़्मा में ९ प्रतिशत घन भाग होता है । इसमें ७ प्रतिशत उसकी प्रोटीनें होती हैं जिनको प्लाज्मा प्रोटीनें कहा जाता है । इन प्लाज्मा प्रोटीनों के ३ प्रकार—फाइब्रिनोजन, अल्व्यूमिन तथा ग्लोब्यूलिन कहलाते हैं । मानव के रक्त से इस रस धातु को अलग करके उसका उपयोग किया जा सकता है और आजकल उसे ग्लूकोज या ग्लूकोज सैलाइन की तरह सिरा द्वारा चढ़ाया जाता है । रक्त की अपेक्षा मानव रसधातु (ह्यूमेन प्लाज्मा तथा सीरम) का उपयोग अधिक लाभप्रद निम्नांकित अवस्थाओं में माना जाता है :—

१. ऐसा शॉक (क्रियातिपात) जो रक्तस्राव के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुआ हो । शल्य-चिकित्सा में जब किसी चोट के कारण उत्पन्न असह्य वेदना से शॉक हुआ हो तो ह्यूमन प्लाज्मा को सिरा द्वारा दिया जा सकता है । किन्तु जहां अत्यधिक रक्तस्राव होने के कारण शॉक उत्पन्न हुआ हो वहां मानव रक्त को चढ़ाना परम आवश्यक होता है ।

२. बहुत गम्भीर उपसर्ग की स्थिति में जब विशिष्ट या अविशिष्ट एण्टीबौडीज देना रुग्ण के लिए आवश्यक हो ।

३. जब रोगी के शरीर में शोथ के कारण, जल जाने के फलस्वरूप जलोदर आदि से कई बार जल निकालने के कारण या अन्य कारणों से रक्तप्रोटीनों की कमी हो गई हो जिसे हाइपोप्रोटीनिमिया कहते हैं ।

४. उन परिस्थियों में जब अनेक ऐसी रक्तविकृतियां उत्पन्न हो गई हों जिनमें फाइब्रीनोजन की कमी हो जाने से रक्त गलने लगा हो ।

५. मस्तिष्कगत ऐसा शोफ (इडीमा) जो अभिघात या विषरक्तता के कारण उत्पन्न हुआ हो।

६. वे सभी परिस्थितियां जिनमें रक्त का चढ़ाना आवश्यक होने पर भी रक्त की प्राप्ति नहीं हो पा रही। इन सब में रक्त आने तक प्लाज्मा का प्रयोग किया जा सकता है।

७. अगर किसी रोगी को बहुत अधिक रक्तस्राव हो रहा हो और उसके रुकने का कोई लक्षण प्रकट न हो रहा हो और विशेष रूप से ऐसी परिस्थिति में जब रक्तस्राव का कारण तत्काल जानना सम्भव न हो वहां ताजा रक्त या ताजा प्लाज्मा ५०० मिली लिटर की मात्रा में सिरा द्वारा चढ़ाया जा सकता है। ६ घण्टे के अन्दर खींचा गया रक्त या प्लाज्मा जिसे सिलीकोनाइज्ड या प्लास्टिक कंटेनरों में सब सावधानियां बरतते हुए सुरक्षित किया हो इस्तेमाल किया जा सकता है बशर्ते कि रक्त के प्रयोग की विधि ठीक-ठीक प्रयोगकर्त्ता को ज्ञात हो तथा जिसे रक्त चढ़ाया जाने से पूर्व रक्त का मैचिंग ठीक-ठीक कर लिया गया हो। इस विषय में आगे प्रकाश डालेंगे।

आजकल शुष्क मानव प्लाज्मा का उपयोग जल मिलाकर किया जाता है। यह बहुत ही अच्छी विधि मानी जा रही है। एक बार प्लाज्मा का जलीयांश निकाल चूर्ण रूप में उसे रख लिया जाय तो वह ५ वर्ष तक कभी भी प्रयोग में लिया जा सकता है।

इसे बनाने की विधि इस प्रकार है—पहले मानव रक्त निकाल लेते हैं उसे साइट्रेटेड बनाकर सेण्ट्रीफ्यूज करते हैं। फिर द्रवभाग अलग कर लेते हैं। इस द्रवभाग को सुखाने की अनेक विधियां हैं। सब का उद्देश्य द्रवभाग से जल को दूर करना होता है। एक विधि यह भी है कि पहले इस द्रवभाग या मानव प्लाज्मा को इतना ठण्डा करते हैं कि वह जम जाय। फिर इसे जमे हुए प्लाज्मा या सीरम को हाई वैकुअम के संयन्त्र में डालकर सुखाते हैं। जमाना और सुखाना बहुत तेजी के साथ किया जाता है। तेजी के साथ करने से उनके गुणों में परिवर्तन नहीं आता उसकी प्रोटीनें, एण्टीबौडीज और कम्प्लीमेण्ट्स सभी लगभग यथावत् रहते हैं। प्लाज्मा का यह शुष्क चूर्ण बिगड़ता भी जल्दी नहीं है। द्रव प्लाज्मा तो शीघ्र ही बिगड़ने लगता है। जैसे ऊपर लिखा जा चुका है शुष्कचूर्ण के रूप में प्लाज्मा की चिकित्सात्मक क्षमता ५ वर्ष तक अक्षुण्ण रहती है इस शुष्कचूर्ण की बोतल में जितना लिखा हो उतना वाटर फौर इञ्जैक्शन मिला देते हैं या नौर्मल सैलाइन या ग्लूकोज और सैलाइन का आइसोटोनिक सौल्यूशन मिलाते हैं। फिर उसे हिलाकर ठीक कर लेते हैं। इस प्रकार उसका पुनर्गठन (रिकॉन्स्टीट्यूशन) कर लेने पर ३ घण्टे के अन्दर उसे सिरा द्वारा रोगी के रक्त में चढ़ा देना पड़ता है।

चाहे मानव प्लाज्मा या मानव सीरम तत्काल बना हुआ चढ़ाया जाय या उसके शुष्क चूर्ण का पुनर्गठन करके चढ़ाया जाय उससे होमोलोगस सीरम जॉण्डिस (समजात सीरमी कामला) उत्पन्न होने का खतरा बना ही रहता है इसे कदापि न भूलना चाहिए। प्रसंगवश कोशिका रहित बिना जमे रक्त का द्रवभाग प्लाज्मा कहलाता है तथा रक्त के जमने के बाद तथा कोशिकीय भाग निकाल देने के पश्चात् जो तरल भाग रहता है उसे सीरम कहते हैं। सीरम में फाइब्रीनोजन नहीं रहती जबकि प्लाज्मा में वह उपस्थित रहती है। दोनों में इस अन्तर के अलावा, फैट्स, आर्गेनिक तथा इनऑर्गेनिक लवण, इम्यूनबौडीज तथा अन्य घुलनशील पदार्थ एक से रहते हैं।

प्लाज्मा प्रतिस्थायी या प्लाज्मा सब्स्टीच्यूट्स

कभी-कभी ऐसा भी होता है जब मानव प्लाज्मा या प्लाज्मा का शुष्कचूर्ण भी उपलब्ध नहीं हो पाता। इस स्थिति में बाजार में कई कम्पनियों के प्लाज्मा सब्स्टीच्यूट्स (रसधातु प्रतिस्थायी) मिलते हैं। प्लाज्मा के प्रयोग से होने वाले समजात सीरमी कामला के खतरे को देखते हुए तथा युद्धकाल में बहुत अधिक मात्रा में प्लाज्मा की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी खोजकों ने प्लाज्मा प्रतिस्थापियों को खोज निकाला है।

किसी भी प्लाज्मा प्रतिस्थायी में कौन-कौन गुण होने चाहिए इसे सहज ही सोचा जा सकता है। ये गुण निम्नांकित होने चाहिए :—

१. शीघ्र ही उपलब्ध हो सके;

२. उसको रखने से उसमें कोई विकृति पैदा न हो तथा उसे देर तक रखा जा सके;

३. उसकी शुद्धि आसानी से की जा सके तथा इस प्रक्रिया से उसमें कोई अन्य दूषण न आ सके;

४. उसका गाढ़ापन, परासरण (ऑस्मोटिक) दाव वही हो जो प्लाज्मा का होता है;

५. काफी समय तक रक्त में रह सके;

६. मूत्रल न हो;

७. उसका रोगी के रक्त पर कोई भी दुष्प्रभाव न होने पावे;

८. मूल्य इतना कम हो कि गरीव आदमी भी खरीद सके;

९. यह भी ज्ञात हो कि रक्त में मिलने के बाद इसका उत्सर्जन किस प्रकार होता है तथा वह किसी हानिकारक पदार्थ को वनाते हुए नहीं निकलता;

१०. उनसे किसी प्रकार की अलर्जी या प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न होनी चाहिए;

प्लाज्मा का स्थान ले सकने वाला ऐसा कोई आदर्श प्रतिस्थायी अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है। जो प्लाज्मा प्रतिस्थायी बाजारों में मिलते हैं उन में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—

नाम कम्पनी	नाम प्रतिस्थायी	घटक	पैकिंग
वाईफोर—जिनेवा	आइसो—प्लाज्मा	पोलीविनापाइरोलीडोन ४० ग्रा.; सोडियम क्लोराइड ५.५ ग्रा., पोटा० क्लोराइड ०·५ ग्रा. सोडि० वाई कार्वोनेट ३·६ ग्राम	५०० मि. लि.
पाण्चर लैवोरेटरीज कलकत्ता	औस्मोप्लाज्मा		५४० मि. लि.
वेयर	पेरिसिटोन इन्फ्यूजन	पोलीविनापायरोलीडोन ४% या ६% नार्मल सैलाइन में	५०० मि. लि. (४%) १०० मि. लि. (६%)
वंगाल इम्म्यूनिटी	प्लाज्मैक्स	प्रति १०० मि. लि. में— पोलीविनाइल पाइरोलीडोन ३·५ ग्राम सोडियम क्लोराइड ६०० मि. ग्रा. पोटाशियम क्लोराइड ४२ मि. ग्रा. कैलशियम क्लोराइड (एन्हाइड्रस) २५ मि. ग्रा. मैग्नेशियम क्लोराइड २·२४ मि. ग्रा.	५४० मि. लि.
डेज	पी० वी० पी० सौल्यूशन	प्रति १०० मि. लि. में— पोलीविनाइल पाइरोलीडोन ३·५ ग्राम सोडियम क्लोराइड ६०० मि. ग्रा. पोटाशियम क्लोराइड ४२ मि. ग्रा. कैल्शियम क्लोराइड हाइड्रेटेड २५ मि. ग्रा. मैग्नेशियम क्लोराइड ०·२४ मि. ग्रा.	५४० मि. लि.

एल्वर्ट डैविड	सायोप्लाज्म सौल्यूशन		५४० मि. लि.
टाटा फाइसन	डैक्स्ट्रन–११०	६% डैक्स्ट्रन नौर्मल सैलाइन में	५४० मि. लि.
		६% डैक्स्ट्रन ५% डैक्स्ट्रोज में	५४० मि. लि.
	डैक्स्ट्रावेन–१५०	६% डैक्टट्रावेन नौर्मल सैलाइन में	५४० मि. लि.

ये प्रतिस्थायी प्लाज्मा के समान कोलॉइड होते हैं। ये अपने परासरणी दाब के द्वारा संवहन के आयतन को बनाए रखते हैं। इनके इञ्जैक्शन से जो सिरा में दिया जाता है ये अपनी ओर अन्तरालित ऊतियों के द्रवों को खींच लेते हैं इनके अणु बड़े होने से ये न तो ऊतकों में ही पाये जाते है और न वृक्कों द्वारा ही शीघ्र तब तक उत्सर्जित हो पाते हैं जब तक रक्त का आयतन प्राकृत मात्रा तक न बढ़ जाय। शॉक या क्रियातिपात होने पर रक्तवाहिनियों से रक्त रस की मात्रा एक दम घट जाती है जिसकी पूर्तितत्काल प्लाज्मा या प्लाज्मा प्रतिस्थायी देकर पूरी करनी पड़ती है।

इन प्रतिस्थापियों में एक डैक्स्ट्रन है यह एक जटिल पौलीसैकराइड है जो शर्करा पर एक बैक्टीरिया के द्वारा तैयार किया जाता है। इसका ६% घोल हलका पीले से रंग का द्रव होता है इसे २० से ४० मि. लि. प्रति मिनट की दर से सिरा में डालते हैं। ५०० मि. लि. की मात्रा है। डैक्स्ट्रन के छोटे अणु पहले २४ घण्टों में निकलने लगते है जो ४-५ दिन तक निकलते रहते हैं। इसका ९० प्रतिशत १० दिन में निकल जाता है। ६४% मूत्र में २% मल में तथा २६ प्रतिशत हवा में कार्बनडाई औक्साइड के रूप में। इसके प्रयोग से कुत्तों के यकृत् और प्लीहा में हानि हुई पाई गई है। कुछ व्यक्तियों में इससे अलर्जी के लक्षण मिलते हैं पर वे गम्भीर नहीं होते। जिन लोगों के फुफ्फुसों में शोथ हो या दक्षिण हृद्भेद हो उन्हें इसका प्रयोग सोच समझ कर करना चाहिए।

पौलीविनाइल पाइरोलीडोन को पी वी पी भी कहते है। इसके घोल स्थायी और विषहीन रहते हैं। इसका ३·५% का नौर्मल सैलाइन में बना घोल प्रयोग में लाते है। इसके प्रयोग से न तो एण्टीजन सम्बन्धी प्रतिक्रिया होती है और न ज्वर आता है और न कोई अन्य खास टौग्जिक प्रतिक्रिया ही पाई जाती है। सिरावेध द्वारा देने पर ३ दिन के अन्दर इसका ७५% मूत्र द्वारा निकल जाता है। १०% मल द्वारा निकलता है। यह सामान्यतः हानिरहित है पर ई० एस० आर० २४ घण्टे तक बढ़ाए रखता है।

यह शॉक में जो रक्तस्राव के कारण या दग्ध से हुआ हो या जलाभावजन्य हो बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। ५०० से १००० मि. लि. तक इसे सिरा द्वारा चढ़ाया जा सकता है।

जिलैटिन सौल्यूशनों को भी प्लाज्मा प्रतिस्थायी के रूप में प्रयोग किया गया है पर उनमें कई ऐसे दोष हैं जिनके कारण उन्हें प्रयोग में लाया जाना अपेक्षाकृत अन्य प्रतिस्थायी के आवश्यक नहीं है।

शल्य चिकित्सा में जीवशोणित प्रयोग

डा० एस० सी० गर्ग, एम.बी.बी.एस., एम.डी., डी.सी.पी. रीडर विकृति विज्ञान
डा० श्रीमती आर० पी० गुप्ता, एम. बी. बी. एस., डी. सी. पी. लेक्चरर विकृतिविज्ञान
स्टेट आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ

धातुविकास या धातु निर्माण क्रम में रसधातु से रक्त-धातु का निर्माण होता है यह शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है। जीवरक्त या जीवशोणित का प्रयोग सुश्रुत सूत्र स्थान के १४ वें अध्याय में आर्तवशोणित के बाद किया गया है। इसका स्पष्ट वर्णन सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय ३४ में विरेचनातियोग में सचन्द्रकं सलिलं अधः स्रवति लिखकर ततो मांसधावन प्रकाशं उत्तरकालं जीवशोणितञ्च लिखा गया है। यहीं अतिप्रवृत्ते वा जीव-शोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जुनयुक्तेन सुशीतेन आस्थापयेत् आदि चिकित्सा लिखी गई है। यहीं यह भी बतलाया गया है कि रक्तपित्त रोग में जो रक्त निकलता है तथा बिना रक्तपित्त जो जीवशोणित निकलता है उसकी पहचान क्या है :—

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थंतास्मिन्पिचुंप्लोतं वा क्षिपेत्। यद् उष्णोदक-प्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति प्लोतं तज्जीवशोणितं अवगन्तव्यम् समक्तञ्चशुने दद्यात् सक्तु-संमिश्रं वा। स यद् उपभुञ्जीत तज्जीवशोणितं अवगन्तव्यम्, अन्यथा रक्तिपित्तम् इति ॥

जब गुदमार्ग से अधिक रक्त निकलने लगे तो वह जीवरक्त है या रक्तपित्त का पित्त दूषितरक्त है इसे जानने के लिए पिचु(आक का बौंडी का कपड़ा) या प्लोत (कपास के सूत से बना कपड़ा) उसमें डाल दें। जब वह रक्तसे भीग जाय तब निकाल कर गरम जल से अच्छी तरह धोवें। यदि धोने पर भी रंग न छूटे तो इस रक्त को जीवशोणित मानना चाहिए। दूसरी परीक्षा है चावलों के भात या सत्तुओं में इस रक्त को मिलाकर कुत्ते के आगे डाल दें वह अगर उसे खाले तो जीवरक्त है अगर न खाय तो रक्तपित्त है ऐसा जाने।

ये दोनों परीक्षाएं आज लैबोरेटरी टैस्ट तथा क्लीनिकल टैस्ट के अन्तर्गत आती हैं। रोग निदान के लिए हम भी जानवरों का प्रयोग करते थे तथा प्रयोग शालाओं का उपयोग करते थे यह उपर्युक्त उद्धरण से ही सुस्पष्ट हो जाता है। चरक सिद्धिस्थान में छठे अध्याय में भी यही २ परीक्षाएं दी गई हैं वहां उसने कुत्ता ही नहीं वायस (कौए) को भी एक्सपेरिमेन्टल एनीमल माना है—

तेनान्नं मिश्रितं दद्याद् वायसाय शुनेऽपि वा।
भुंक्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुंक्ते पित्तमादिशेद् ॥

इस जीवरक्त को पांच भौतिक माना जाता है इसकी विस्रता (आम गन्धता) पृथ्वी का, द्रवता जल का, राग (लाल रंग) अग्नि का, स्पन्दन वायु का तथा लघुता आकाशमहाभूत का गुण है।

रक्तपित्त के रक्त को जहां पहले निकलने देने का विधान है वहीं जीवरक्त को तत्काल बन्द करने की

शास्त्राज्ञा है। इस कारण प्राचीन भारतीय सर्जन जीवरक्त और रक्तपित के रक्त की प्रत्यक्ष परीक्षा कर शीघ्र निर्णय लेते थे।

आजकल जीवशोणित का चिकित्सा के रूप में बहुत उपयोग किया जा रहा है। सर्जरी या सर्जीकल आपरेशनों की विना रक्त या जीवशोणित की सद्यः उपस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्राचीन काल में रक्त के महत्त्व को तो समझ लिया गया था—तेषां (धातूनां) क्षय वृद्धि शोणितनिमित्ते—द्वारा इस रक्त की महत्ता सब धातुओं की वृद्धि एवं क्षय में परमावश्यक है इसे भी मान लिया गया था तथा उसके वातदुष्ट होने पर फेनिल अरुण, कृष्ण, परुष, तनु, शीघ्रगमनशील होना, अस्कन्दि (न जमने वाला); पित्तदुष्ट होने पर नील, पीत, हरित, श्याव, विस्रगन्धवाला, पिपीलिका मक्षिकाओं के लिए अप्रिय और अस्कन्दि, श्लेष्म दुष्ट होने पर गैरिकोदक वर्ण का, स्निग्ध, शीतल, वहल, पिच्छिल, चिरस्रावी, मांसपेशी जैसे रंग का; सन्निपातदुष्ट का सर्व लक्षण युक्त कांजी जैसे वर्ण का होता है। इसका अच्छी तरह विचार कर लिया गया था। रक्त जमता है या लगातार बहता है इसके विषय में भी खोज करली गई थी तथा प्रकृतिस्थ रक्त (नॉर्मल ब्लड) को जानने के लिए—भी स्पष्ट निदेश दे दिये गये थे। यही नहीं वे इस तथ्य तक भी पहुँच गये थे :—

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥

कि देह का मूल रक्त है रक्त ही उसका धारण करता है इसलिये इस रक्त का संरक्षण यत्नपूर्वक करना चाहिए। रक्त ही जीवन या जीवन का आधार होता है इस स्थिति को सदैव स्मरण रखना चाहिए।

रक्त के कार्यों में 'रक्त' वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च, के द्वारा मानव शरीर के वर्ण का प्रसादन, मांस की पुष्टि और जीवन प्रदान करना ये तीन बातें खास तौर पर लिखी गई हैं।

इन सबसे यह ज्ञात होता है कि मानव जीवन के लिए रक्त कितना उपयोगी है इसे वे अच्छी तरह से जान गये थे। पर रक्त का चिकित्सा में भी औषधि के रूप में उपयोग हो सकता है इसे वे पूरी तरह समझ न पाये थे। पूरी तरह न समझने का यह अर्थ नहीं कि वे उसका उपयोग थोड़ा भी नहीं जानते थे। इसका उदाहरण सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय १५ का सूत्र है :—

दोषधातुमलक्षीणो वलक्षीणोऽपि वा नरः ।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ॥

जिसके अनुसार दोष, धातु, मल, वल में से किसी के भी क्षीण हो जाने पर व्यक्ति अपनी-अपनी क्षीण हुई वस्तु (दोष, धातु, मल, वल) की वृद्धि के लिए तत्तद्वस्तुवर्द्धक अन्नपान को लेने की इच्छा करता है। रक्त एक धातु है उसकी क्षीणता जहां रक्तक्षयजनक रोगों से होती है वहां प्रत्यक्ष रक्तस्राव के कारण भी हो सकती है अतः उसे ठीक करने के लिए रक्तवर्द्धक वस्तुओं या खाद्य पेय पदार्थों के प्रयोग की इच्छा होती है तथा उसकी पूर्ति हेतु इन्हें लेना पड़ सकता है तथा उन उनके लेने से रक्तादि क्षय दूर हो जाते हैं।

यद् यदाहारजातं हि क्षीणः प्रार्थयते नरः ।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमदोहति ॥

डल्हणाचार्य ने अपनी सुश्रुत टीका में इन खान-पानों का विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया है जो विविध क्षयों को दूर करते हैं। इसी प्रसंग में उसने रसक्षीण द्वारा रक्त की इच्छा अन्य अनेक पदार्थों के साथ करना तथा रक्तक्षीण द्वारा रक्तसिद्ध मांस खाने की इच्छा को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

इक्षुं मांसरसं मन्थं मधुसर्पिर्गुडोदकम् ।
असृङ्मांसं यवागूञ्च रसक्षीणोऽभिवाञ्छति ॥
द्राक्षादाडिमयुक्तानि सस्नेहलवणानि च ।
रक्तसिद्धानिमांसानि रक्तक्षीणोऽभिकांक्षति ॥

ये दो सूत्र चिकित्सा के क्षेत्र में नेत्रोन्मीलन का काम करते हैं। रसधातु या प्लाज्मा की कमी शरीर में होने पर व्यक्ति को ईख का रस, मांसरस, मन्थ, मधु-घृत, गुड़+जल, रक्त, मांस, और यवागू खाने की इच्छा होती है। रक्तक्षीण होने पर उसे द्राक्षा, दाडिमयुक्त स्नेह सहित नमक पड़े हुये रक्त डालकर पकाये हुये मांस के सेवन करने की इच्छा होती है।

आज क्या हो रहा है! रसक्षय और रक्तक्षय में जो डल्हण कहता है उससे आगे आज का युग वढ़ पाया है

क्या ? केवल थोड़ा अन्तर आया है। वह जिन पदार्थों को मुख द्वारा सेवन कराता है वही थोड़ा रूप बदलकर सिरा द्वारा सेवन कराये जा रहे हैं। ईख का रस ग्लूकोज वा डैक्स्ट्रोज सौल्यूशन हो गया है। द्राक्षा स्वरस शुद्ध ग्लूकोज है ही; दाडिम डालने से ग्लूकोज + विटामिन सी + विटामिन के हो जाता है; नमक पड़ा द्राक्षा स्वरस और दाडिम रस का परिष्कृत रूप विटामिन युक्त सैलाइन ग्लूकोज ही होता है। असृक् से मानव रक्त मानव प्लाज्मा लिया जाना सर्वथा उपयुक्त है। मांसरस का विकल्प हाइड्रोलाइसेट्स हैं, इसे कौन नहीं जानता। यवागू मुख द्वारा सेवित वार्लीवाटर है। स्नेह भी मुख द्वारा ही लिये जा रहे हैं जब तक कि इनके किसी परिष्कृत रूप का आविष्कार नहीं हो जाता इन्हें मुख द्वारा ही लिया जाता रहेगा।

उस काल में औषधियां मुख द्वारा प्रायः दी जाती थीं। नासा मार्ग से भी दी जाती थीं, त्वचा में मलकर रोमकूपों से होकर भी शरीर में भेजी जाती थीं। वस्तियन्त्र द्वारा मूत्रमार्ग, पुरीपोत्सर्जक गुदमार्ग तथा स्त्रियों में योनिमार्ग में भी दवाएं चढ़ाई जाती थीं। बाद में त्वचा में खरोंच कर दवा मलकर सीधे रक्त में भी मिलाई जाती थीं। कुछ लोग यह भी कहने लगे हैं कि वस्तिक्रिया का अर्थ कैथेटराइजेशन मात्र न करके इसे इंजैक्शन का प्रयोग भी कहा जा सकता है। वस्ति को जो चिकित्सा का अर्द्ध भाग माना जाने लगा था वह अब इंजैक्शनों को वस्तिकर्म के अन्तर्गत मान लेने से आज भी सटीक बैठता है।

जो कुछ भी हो, रक्तमार्ग द्वारा औषध सेवन की विधि को हमें निःसंकोच आधुनिक विज्ञान की विधि मानकर ही स्वीकारना चाहिए और जोरजबर्दस्ती करके उसे आयुर्वेदज्ञों द्वारा आविष्कृत मानने तक, तब तक नहीं जाना चाहिये जब तक कि इसके सुस्पष्ट प्रमाण किसी लुप्त ग्रन्थ में न प्राप्त हो जाएं। आधुनिक उपलब्ध संहिताएं इस विधि को अपने वर्णन में नहीं दे पाईं।

वैज्ञानिक ने प्राचीनकाल में सोचा तो होगा ही जब वह रक्तमोक्षण कर्म करके प्रतिदिन विविध रोगियों का सैकड़ों मिलीलिटर रक्त बाहर निकालता होगा कि क्या वह रक्त को रक्तक्षीण की नसों में दूसरे स्वस्थ व्यक्ति से लेकर नहीं भर सकता ? पर रक्त निकलते ही उसके सामने जमता था इसलिये उसे बिना जमी स्थिति में कैसे रखा जावे और कैसे अन्य व्यक्ति की सिरा में प्रविष्ट कराया जावे इसे वह चाहते हुये भी नहीं कर पाया होगा, इसे सहज ही आंका जा सकता है। किसी भी ज्ञान या विज्ञान के तथ्य को आयुर्वेद ग्रहण कर उसे न अपना सके, ऐसा कहीं भी इंगित नहीं है। सदैव अपने वर्विष्णु गुण के कारण ही इसकी कलेवर वृद्धि हुई है। समस्त कूपीपक्व रस रसायन, सूचीवेध रस इसके प्रमाण हैं, जिनका आविष्कार और प्रयोग वृहत्त्रयीकाल के बाद हुआ। इस दृष्टि से हम किसी भी नवीन चिकित्सा विधि को यन्त्र-शस्त्र उपकरण या औषधि को अपने सिद्धान्तों के आधार पर अपनालें और प्रयोग में लावें यह अनायुर्वेदीय कभी भी नहीं हो सकता—

तदेव युक्तं भेषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
स चैव भिषजां श्रेष्ठः रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्॥

यह चरक वाक्य ही पर्याप्त है। संसार भर की किसी भी वस्तु का उपयोग करते हुए श्रेष्ठ भिषक् के रूप में समाज में बने रहने के लिए।

ब्लड ट्रान्सफ्यूजन या रक्ताधान

जीवशोणित या जीव रक्त को रोगी मनुष्य की सिरा द्वारा प्रविष्ट कर उसे तत्काल लाभ पहुँचाने के सदुद्देश्य से प्रयत्न करते करते वैज्ञानिक रक्ताधान की जटिल किन्तु परमोपादेय प्रक्रिया को पूर्ण करने में सफल हुआ है।

रक्ताधान किन-किन परिस्थितियों में करना आवश्यक है, इस पर काफी साहित्य आज उपलब्ध है। हमारे विशेषांक का प्रसंगोपात्त विषय शल्यतन्त्र होने से हम नीचे केवल सर्जीकल परिस्थियों का ही नामोल्लेख करेंगे। ये परिस्थितियां निम्नांकित हो सकती हैं—

(क) रक्तस्राव—रक्तस्राव प्रायः तीन कारणों से होता है—१. चोट लगने से

२. रक्तवाहिनियों के विदीर्ण होने से
३. रक्तस्रावकारी रोग बन जाने से

चोट भी २ प्रकार की होती है। एक आपरेशन करके जान-बूझकर चोट या अभिघात पहुँचाना और दूसरे किसी अकस्मात् दुर्घटना में चोट लग जाना। इसी प्रकार रक्त वाहिनियों का विकार भी कई तरह से मिलता है—एक आमाशय व्रण के विदीर्ण हो जाने से खून बहना और रक्तवमन हो जाना, अर्बुदों के द्वारा रक्तवाहिनी तक पहुचकर उसे विदीर्ण कर देना, अन्न प्रणाली में सिराओं का फट जाना आदि। रक्तस्रावक रोगों में प्रशीताद या स्कर्वी, हीमोफिलिया, पर्प्यूरा आदि आते है।

(ख) शॉक या क्रियातिपात—चोट लगने से जल जाने से या अन्य किसी मनोद्वेगजन्य कष्ट से रक्त की अकस्मात् कमी होकर व्यक्ति अचेत हो जाता है, घबड़ा जाता है और तात्कालिक चिकित्सा की उसे आवश्यकता पड़ती है।

(ग) अन्य विविध परिस्थितियां—इसमें किसी भी कारण से अरक्तता या पाण्डुरोग का पाया जाना, कार्बन मोनो-आक्साइड विषता, उपसर्ग की गम्भीरता, अत्यन्त कार्श्य आदि आते है। ल्यूकीमिया और ल्यूकोपीनिया में बिना रक्तस्राव के भी रक्ताधान करना पड़ सकता है। भयंकर कामला होने पर रक्ताधान की आवश्यकता ऑपरेशन के पहले तथा बाद में भी पड़ा करती है।

निषेध—कुछ ऐसी भी परिस्थितियां वैज्ञानिकों ने गिनाई है जिनमें रक्ताधान कराना कदापि संभव नही माना जाता। ये परिस्थियां हैं:—

१. अगर हृदय में कोई गम्भीर रोग हो जिसके कारण हृत्पेशी में अभिघात हो हृद्वाहिनियों में गम्भीर उपद्रव हो अथवा सर्वांगशोथ के साथ दक्षिणभागीय हृद्भेद हो गया हो;

२. दोनों वृक्कों मे कोई अतिप्रवृद्ध विकार हो;

३. फेफड़ों में शोथ या ऋणास्र (इन्फार्क्शन) हो;

४. अत्युच्च रक्तदाब हो;

५. प्लीहोदर के साथ पोलीसाइथीमिया—बहुलोहित कोशिका अरक्तता हो।

प्रयोग के लाभ और हानियां (कठिनाइयां)

रक्ताधान से क्या-क्या लाभ है और क्या-क्या हानिया या कठिनाइयां इसके प्रयोग में आती हैं, उनका भी विचार किया जाता है। रक्ताधान की सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि यह प्रत्येक चिकित्सक के वश की बात नहीं कि वह उन पूरी सावधानियों को जो रक्त निकालने और चढ़ाने में की जाती है, बरत सके। दूसरी कठिनाई है कि यह कोई ग्लूकोज या नार्मल सैलाइन तो है नही कि एक सामान्य कम्पाउण्डर भी उसकी बोतल चढ़ा ले। यह एक पूरी तकनीक है। रक्त चढ़ाने से पहले दाता के रक्त का ग्राहक के रक्त के साथ मैचिंग करना पड़ता है तथा मैचिंग के पूर्व दाता और ग्राहक दोनों के रक्त के ग्रुप या वर्ग का ज्ञान करना पड़ता है। रक्त को निकालते समय उसे ३.८% सोडियम साइट्रेट के साथ मिलाकर रखना पड़ता है ताकि वह जमे नही। रक्त को स्टोर करना भी कठिन काम है। एक बार लिये गये रक्त को ३ सप्ताह से पूर्व ही स्तेमाल करना होता है। बाद में तो उसे फैंक देना पड़ता है। इन सब पर पार पाने के बाद रक्ताधान करने के बाद रोगी में सम्भावित प्रतिक्रियाओं से जूझने के लिये भी चिकित्सक को तैयार रहना पड़ता है। इन सभी कठिनाइयों पर जो विजय प्राप्त कर लेता है और रक्ताधान की कला में दक्ष हो जाता है उसके लिये यह कार्य बिल्कुल कठिन नही होता। सुश्रुत के एक श्लोक को थोड़ा परिवर्तित कर अनाड़ी के द्वारा रक्ताधान और बुद्धिमान् के द्वारा प्रयुक्त रक्त की हानि और लाभ की सूचना इस प्रकार मानी जा सकती हैः—

विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पः रक्तं भवत्यल्पमतिप्रयुक्तः।
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥

जो लोग रक्ताधान करने में समर्थ न हों और आवश्यकता पड़े ही तो, प्लाज्मा का आधान किया जा सकता है। विशेषकर शॉक की स्थिति में। प्लाज्मा के आधान में रक्त को मैच करने की आवश्यकता नही पड़ती। प्लाज्मा को ३ माह की अवधि तक प्रयोग भी किया जा सकता है, बाद में वेकार हो जाता है। किन्तु प्लाज्मा को तैयार करना भी विशेपज्ञ का काम है, प्रयोग तो सामान्य भिषक् भी कर सकता है।

रक्ताधान के पूर्व की सावधानियां

जिस व्यक्ति से रक्त लेना हो (दाता), जिस व्यक्ति को रक्त चढ़ाना हो (ग्राहक) इन दोनों की परीक्षाएं पहले करनी पड़ती हैं तव उनका रक्त लिया दिया जाता है। रक्त की भी बारीकी से जांच की जाती है।

ग्राहक—ग्राहक को रक्त देने के पूर्व उसे न तो कोई अलर्जी होनी चाहिये न उसके मूत्र में अल्ब्यूमिन उत्सर्जित होना चाहिये तथा उसका हृदय और फँफड़ा पूर्ण स्वस्थ होने चाहिये। हृदय का रोग होने पर या फुफ्फुसों में शोथ होने पर रक्ताधान वर्जित माना जाता है।

ग्राहक को रक्त देते समय खाली पेट रखने की रिवाज है क्योंकि रक्त निकालते समय उसे उवकाई और उल्टियां आ सकती हैं। पर आज के विशेषज्ञ खाली पेट रखना वहुत आवश्यक नहीं मानते हैं।

ग्राहक के रक्त का ग्रुप या वर्ग निकालना परम आवश्यक होता है तथा चढ़ाने के पूर्व दाता के रक्त के साथ ग्राहक का रक्त मिलाकर (मैंच कर) के देखा जाना नितान्त आवश्यक माना जाता है।

दाता—जिसका रक्त निकालना हो उसे मलेरिया, इम्पेटिगो और सिफलिस (फिरंग, आतशक) के रोग नहीं होने चाहिए। रक्त देने के २४ घण्टे पूर्व उसे भोजन में कोई प्रोटीन न खाने देनी चाहिए क्योंकि अन्यथा ग्राहक में अलर्जी की प्रतिक्रिया अधिक मिलती है। रक्त में W. R., Kahn तथा M. T. आदि की परीक्षाएं लैवोरेटरी से करा लेनी चाहिये, इनके नास्त्यात्मक होने पर ही रक्त निकाला जाता है। दाता के रक्त का ग्रुप (वर्ग) तथा मैचिंग भी पहले से ही कर लेना आवश्यक होता है।

रक्त—दाता के द्वारा दिये गये रक्त का अध्ययन के पूर्व उसकी परीक्षा की जाती है। रक्त का गलन या हीमोलाईसिस तो वोतल में नहीं हो गई इसकी विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। वोतल में रखे गये रक्त के सैलों और प्लाज्मा से विभेदक रेखा स्पष्ट देखी जा सकती है। अगर हीमोलाइसिस हो गई तो दोनों का भेद मिट जायगा। जरा सी भी हेजीनैस या डिफ्यूजनैस का अर्थ हीमोलायसिस होता है। ऐसे रक्त को चढ़ाना सर्वथा वर्जित माना जाता है।

साथ ही प्लाज्मा पुराना हो जाने से या रक्त में स्नेहांश (लाइमीनिया-वसारक्तता) होने से प्लाज्मा गँदला (टर्विड) हो जाता है उसका प्रयोग भी निषिद्ध है।

चिकित्सा—रक्त को पूर्ण असैप्टिक स्थिति में सुरक्षित रूप से स्टोर करना ठीक विधि से रक्ताधान करना और रक्तधान काल में ग्राहक (रोगी) पर बराबर दृष्टि रखना चिकित्सक का कर्त्तव्य है। उसकी जरा भी भूल या असावधानी रोगी के प्राण ले सकती है तथा सतर्कता गये हुए प्राणों को लौटा सकती है क्योंकि—रक्त जीव इति स्थितिः।

रक्ताधानविधि

रक्त को सिरा द्वारा चढ़ाने में किसी वल का प्रयोग नहीं करना पड़ता। वोतल का रक्त गुरुत्वाकर्षण के द्वारा उससे संलग्न प्लास्टिक प्रणाली द्वारा नीचे उतरता है। खुली विधि और वन्द विधि २ में से किसी का भी प्रयोग किया जाता है। अग्रवाहु में क्यूवीटल फौसा (कफोणि खात) की सिरा में सूची लगा दी जाती है। जव यह विधि काम नहीं करती तो खुली विधि का उपयोग किया जाता है यह विधि अधिक समय तक रक्त चढ़ाने के लिए भी वहुत उपयोगी है। यहां सुई खुली सिरा में संलग्न की जाती है। धमनी द्वारा रक्त नहीं चढ़ाया जाता पर जव रोगी के शरीर में रक्त की इतनी कमी हो कि हृत्पेशी की वाहिनी के लिए भी रक्त थोड़ा पड़ जाय तो इस प्रकार की अति गंभीर परिस्थितियों में धमनी का भी उपयोग किया जा सकता है।

सामान्यतया उपकरण को एडजस्ट ऐसे किया जाता है कि एक मिनट में २० से ३० वूंद रक्त रोगी की सिरा में गिरता रहे। पर जव रक्त की कमी अत्यधिक हो जाती है और परिस्थिति गंभीर हो जाती है तो धारा के रूप में जल्दी-जल्दी रक्त का आधान कराया जा सकता है कभी-कभी प्राण वचाने के लिए रवरवल्व या मर्फी के इंस्ट्रूमेंट के द्वारा वल लगाकर और तेजी से भी रक्त का आधान कराया जा सकता है। गति स्थिर करने के लिए रवर या पौलीथीन ट्यूब में एक मर्फी ड्रिप लगादी जाती है जिसमें रक्त वूंद-वूंद या धार से संचित वोतल से गिरता रहता है।

रक्ताधान की व्यापत्तियां

रक्त रोगी की सिरा द्वारा चढ़ा तो दिया गया पर उसके बाद क्या-क्या व्यापत्तियां (कम्प्लीकेशनें) उत्पन्न हुईं, इनका हिसाब रखना भी बहुत आवश्यक होता है। ये व्यापत्तियां ४ प्रकार की हो सकती हैं। पहली है रक्ताधान की गलत विधि के कारण उत्पन्न होने वाली व्यापत्ति। दूसरी है रक्त की खराबी के कारण उत्पन्न व्यापत्ति, तीसरी है रक्ताधान के समय विकारी जीवाणुओं के प्रवेश के कारण बनने वाली व्यापत्तियां तथा चौथी है असंयोज्य (इन्कम्पैटिबिल) रक्त की प्रतिक्रियाएं।

गलत रक्ताधान विधिजन्य व्यापत्तियों के कारण दो माने जाते हैं। एक बहुत तेजी से रक्त का आधान करने से रक्तपरिभ्रमण का फेल हो जाना या रोगी को रक्त चढ़ाने के समय ही कम्प (राइगर) चढ़ आना या फेफड़ों में शोफ उत्पन्न हो जाना, इसमें से किसी या सभी व्यापत्तियों की उत्पत्ति देखी जा सकती है। दूसरा है बहुत अधिक मात्रा में रक्त का आधान कर दिया जाना जिसे ओवर ट्रान्सफ्यूजन कहा जाता है। इस असावधानी के कारण भी फेफड़ों में शोफ (इडीमा) होना या दक्षिणी भाग का हृद्भेद (राइट्साइडेड फेल्योर) होना या यदि कई दिन लगातार रक्ताधान किया गया हो तो सिरा में घनास्रोत्कर्ष या घनास्रसहित सिरापाक होना पाया जा सकता है।

खराब रक्तजन्य व्यापत्तियों के भी कई रूप देखने में आते हैं। इनमें रोगकारक जीवाणुओं के असावधानी से प्रविष्ट हो जाने के फलस्वरूप रोगी को औपसर्गिक रोग हो सकते हैं। खराब रक्त रोगी के शरीर में सबसे पहले अलर्जिक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करता है। शरीर में चकत्ते (पित्ती) उठ आते हैं, खुजली मचली है, सांस बार-बार फूलता हुआ आता है, वाहिनी-वातनाड़ीशोफ हो सकता है। शरीर का तापांश बढ़ना या ज्वर होना तो सामान्य बात है, पुराने साइट्रेट के कारण भी ज्वरांश हो जाता है।

दाता के रक्त में विकारजनक जीवाणुओं या विकृतिजनों की उपस्थिति की ओर यदि पहले से परीक्षण न कर लिये गये तो ग्राहक रोगी के शरीर में सिफलिस मलेरिया और कामला में से जिसका भी विकृतिजन हो प्रकट हो जाता है। इसीलिए सब प्रकार स्वस्थ दाता का रक्त लेना ही सदा श्रेयस्कर माना जाता है।

असंयोज्य रक्ताधान की प्रतिक्रियाओं में दाता के रक्त के लाल कणों का गलन या रक्त संलयन (हीमोलायसिस) एक है जो शुरू में भी हो सकती है तथा विलम्ब से भी प्रकट हो सकती है। शुरू की १-२ घण्टे में ही शुरू हो जाती है जिसमें रोगी के सिर में तेज दर्द होने लगता है। उसे उल्टियां आती हैं, मिचली या हृल्लास चलना बराबर जारी रहता है, कम्प चढ़ता है और अतितीव्र ज्वर हो जाता है। विलम्बित रक्तसंलयन २ या ३ दिन के बाद अपना प्रभाव दिखाता है। इसके कारण रोगी का शरीर पीला पड़ जाता है (कामला) पेशाब में हीमोग्लोबिन प्रकट होने लगती है (मांजिष्ठ मेहता), रक्तक्षय (अनीमिया) हो जाता है। मूत्र की मात्रा घटने लगती है। दाता के लालकणों के गलने के साथ ही साथ ग्राहक के रक्त में यूरिया की मात्रा बढ़ने लगती है और उसे शीघ्र यूरीमिया हो जाता है। बार-बार रक्ताधान के कारण रक्तवर्णकता (हीमोक्रोमेटोसिस) हो जाती है। आजकल रीसस फैक्टर का ज्ञान कर लिया गया है। कुछ लोग रीसस नैगेटिव होते हैं और कुछ रीसस पौजिटिव। अगर किसी रीसस नैगेटिव महिला को रीसस पोजीटिव दाता के रक्त का आधान कर दिया गया तो उसकी पहली या दूसरी या आगे की सन्तानों पर उसका असर पड़ता है।

अगर रक्त का बहुत अधिक मात्रा में आधान किया गया तो वह अपना अलग ही गुल खिलाता है। अधिक मात्रा किसे माना जाय इस पर भी वैज्ञानिकों ने अपना फ़ैसला दिया हुआ है। अगर २४ घण्टे में किसी व्यक्ति के ५ लिटर रक्त चढ़ा दिया जाय तो यह अतिमात्रा माना जाता है। या इतनी तेज रफ्तार से रक्ताधान किया जाय कि एक घण्टे में मनुष्य के शरीर का आधा रक्त (ढाई लिटर) चढ़ा दिया जाय तो यह भी अतिमात्रा ही होती है। अतिमात्रा में रक्ताधान से कई प्रकार के उपद्रव बनते हैं पर कहीं-कहीं अतिमात्रा में रक्ताधान करना भी पड़ता है जब रोगी का जीवन खतरे में होता है। अतिमात्रा में रक्ताधान से जो परिस्थितियां होती हैं

उनमें जब रक्तस्कन्दन प्रक्रिया का खराब हो जाना, रक्त के बिम्बाणुओं का घट जाना, डिफिब्रिनेशन संलक्षण पैदा हो जाना और साइट्रेटित रक्त के कारण ग्राहक के रक्त में हाइपोकैल्शीमिया उत्पन्न हो जाना आते हैं। रक्त की अधिक राशि में पहुँच आने के फलस्वरूप साइट्रेट विषता पैदा हो सकती है। अगर वृक्कों की क्रिया ठीक नहीं है तो अम्लोष्कर्ष (ऐसीडोसिस) उत्पन्न हो जाता है, पोटाशियम अधिक मात्रा में पहुँचने से हाइपर पोटाशीमिया मिलने लगता है। रक्त का पी. एच. गिर जाता है। इन सबसे हृदय में विकम्पन (कार्डियक फिब्रिलेशन) पैदा हो जाता है। यही नहीं हृदय की गति रुककर रोगी काल के कराल गाल में भी प्रविष्ट हो सकता है।

इसलिए रक्त का आधान करना खेल न समझना चाहिए। इसके लिए पूरी-पूरी सावधानी दाता से लेकर ग्राहक तक रक्त निकालने, स्टोर करने से लेकर चढ़ाने की गति और मात्रा के नियन्त्रण तक की जानी चाहिए।

पाई के सर्जीकल हैण्डीक्राफ्ट में रक्ताधान और रसाधान का बहुत अच्छा सचित्र वर्णन किया गया है, उसे पाठकों को अच्छी तरह देखने से भी काफी ज्ञान मिल सकता है। उस पुस्तक में कई निदेश बड़े काम के दिये हैं जिनमें कुछ इस प्रकार हैं:—

१. परीक्षा करो कि रक्त शुद्ध अवस्था का है—स्टोर किये रक्त में ऊपर जो प्लाज्मा पाया जाता है वह स्वच्छ नीबुआ वर्ण का होता है। रक्त में वसा अधिक न आवे इसके लिए दाता को ४ घण्टे पूर्व घी या तेल या अन्य स्निग्ध पदार्थ न खाने का निदेश है। रक्त को ४° से ६° सेंटीग्रेड तापांश पर स्टोर करना चाहिए। रक्त को जमने न दें, न कमरे के तापमान पर रखें।

२. ग्राहक के मूत्र की परीक्षा की जावे। अल्ब्यूमिन्यूरिया होने पर रक्ताधान न करें। मूत्र में ऐसिडिटी हो तो मुख से या सिरा द्वारा क्षार दें।

३. चाहे यूनिवर्सल डोनर का ही रक्त क्यों न लिया जाय, हर बोतल के रक्त को ग्राहक के रक्त से संयोज्यता परीक्षा करली जावे।

४. चाहे कुछ भी क्यों न हो रक्तों को कभी एक दूसरे में न मिलावें। क्योंकि अलग-अलग रक्त संयोज्य होने पर भी मिलाने पर असंयोज्य (इनकम्पैटिबिल) हो जाते हैं।

५. हीमोग्लोबिनोमीटर से सदा परिचित रहें। कितना रक्त रोगी को चाहिए इसका ज्ञान इसी यन्त्र द्वारा मिलता है। शिशु और बच्चों को १५ मि० लि० प्रति पौंड शरीर भार के हिसाब से रक्त की अधिकतम चढ़ाने की मर्यादा मानी जाती है।

६. वायु अन्तः शल्यता (एयर एम्बोलिज्म) का सदा ध्यान रखें। बार-बार रबर ट्यूब के प्रयोग करने से सिरा में वायु जा सकती है। अन्यथा गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

७. प्रतिक्रियाओं और व्यापत्तियों के प्रति सावधानियां बरती जावें।

रक्त की बोतल को धीरे से उठावें, जोर से हिलावें नहीं, केवल उसे धीरे से उलट दें। उसे कभी गर्म न करें यदि वह तत्काल रिफ्रीजरेटर से निकाली गई और ठण्डी है तो ६६° फ० के वाटर बाथ पर थोड़ी देर रखें। अधिक देर रखने पर संचित रक्त आसानी से जम सकता है। एक बोतल खाली होने के बाद दूसरी चढ़ाते समय पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए। सुरक्षित रक्त को फिल्टर करके देने की पद्धति है। रक्ताधान सिरा में या अस्थि मज्जा में किया जाता है।

सिरा में सुई प्रवेश के समय कई प्रकार के डिफैक्ट (दोष) मिल सकते हैं। इनमें प्रथम (A) है, जब सुई की नोंक सिरा प्राचीर से छू जाय, दूसरा (B) है सुई सिरा
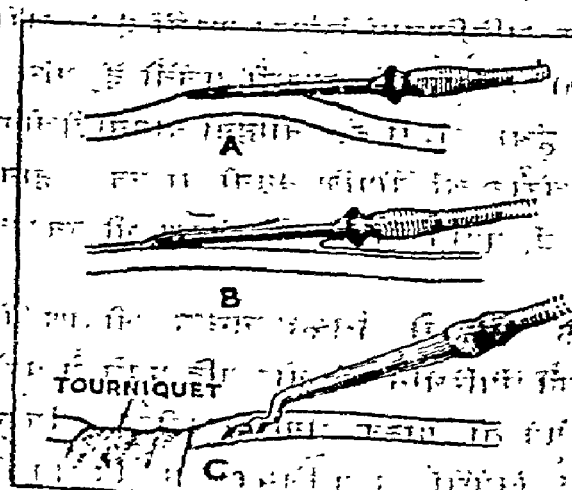
के ऊपरी चोल में ही घुसे, तीसरा (C) है जब सिरा ढूंढने को लगाये गये टूर्नीकेट को न हटाया जाय। तीनों चित्र में प्रदर्शित हैं।

पाई ने कण्टीन्युअस ड्रिप सूचीवेध द्वारा रक्ताधान के लिए आफीसर्स अपरेटस का निम्न चित्र दिया है:—
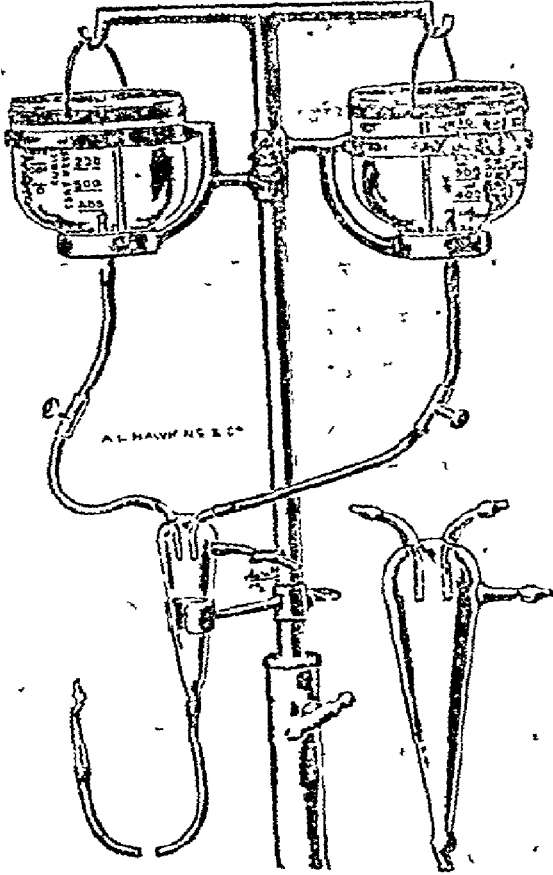
इस यन्त्र के एक भाग में रक्त और दूसरे में सैलाइन है। दोनों का क्रम इस प्रकार किया गया है कि कोई भी द्रव जब चाहें चढ़ाया या बदला जा सकता है।

जिस दाता का रक्त निकाला जाय उसे रक्त निकालने के बाद १०-१५ मिनट शैया पर लिटाये रखना चाहिए। उसे १०-१५ मिनट बैठाकर हलका नाश्ता देना चाहिए।

ताजा रक्त लेकर चढ़ाया जाय या स्टोरकिया हुआ रक्त चढ़ाया जाय कोई खास अन्तर नहीं होता यदि सब सावधानियां पहले से करली गई हैं तो।

शल्य चिकित्सा आपकी स्वयं की चिकित्सा है, इसे समझना तथा इसका क्रियात्मक ज्ञान होना प्रत्येक वैद्य को अति आवश्यक है।

सिराव्यधश्चिकित्सार्द्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः

खेमजी वासनजी चरकपीठाध्यक्ष आचार्य श्री रमानाथ द्विवेदी,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, मालवीय नगर, वाराणसी

सिरावेध या रक्तमोक्षण प्राचीन काल से शल्य तन्त्र की आधी चिकित्सा मानी जाती थी। इस विषय का बहुत विस्तृत विवरण आयुर्वेदीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है जो इस बात का प्रमाण है कि प्राचीनकाल में रक्त-मोक्षण कर्म का चिकित्सात्मक उपयोग बहुत व्यापक रूप में होता था उसी को परवर्ती यूनानी हकीमों ने फसद खोलने के नाम से प्रयोग किया। यह रक्तमोक्षण या रक्तावसेचन कर्म किन-किन में किया जाता था इस पर बहुत सटीक विचार किया जा चुका है—

रक्तावसेचनं कार्यं आदौ एव विचक्षणैः।
शोथे महति संरब्धे वेदनावति च व्रणे॥

अर्थात् रक्तमोक्षण कर्म के विचक्षणों (स्पेशियलिस्टों) द्वारा रक्तमोक्षण या रक्तावसेचन का कार्य उन रोगों में शुरू से ही करना चाहिए जहां शोथ बहुत बढ़ा हुआ हो या बहुत संरम्भ (इन्फ्लेमेशन) हो तथा जहां व्रण में बहुत वेदना हो रही हो।

शोथ प्रायः बहुत से रोगों में देखा जाता है जहां शोथ होता है वहां रक्ताधिक्य (कंजैशन) हो जाता है जिसके कारण वेदना होकर स्थिति गम्भीर बन सकती है उसे दूर करने के लिए प्राचीनकाल में रक्तमोक्षण कर्म की शरण ली जाती थी। कहीं भी शोफ या सूजन हो जाने पर वह शुरू में कच्चा या अपक्व रहता है। बाद में परिपक्व हो जाता है अर्थात् उसमें पूयोत्पत्ति (पस बन जाना) हो जाती है। रक्तमोक्षण शोफ की अपक्व अवस्था में किया जाता है। परिपक्व व्रण में सिरामोक्षण का कोई खास उपयोग नहीं माना जाता। कच्चे फोड़े में या अपक्व शोफ में रक्तमोक्षण करने से उसका दर्द बन्द होता और उसके पकने की क्रिया खतम हो जाती है इसलिए जैसे ही शोफ उत्पन्न हो शास्त्रानुसार उसका परीक्षण करके रक्तमोक्षण कर देना चाहिए—

वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च।
अचिरोत्पतिते शोफे कुर्यात् शोणितमोक्षणम्॥

इसी को और स्पष्ट किया गया है नीचे के शब्दों में। आधुनिक भाषा में रक्तमोक्षण का इण्डीकेशन कहां होता है उसे शास्त्रकारों ने इन शब्दों में दिया है—

सशोफे कठिने श्यावे सरक्ते वेदनावति।
संरब्धे विषमे वाऽपि व्रणे विस्रावणं हितम्॥

सूजन हो कठिनता हो श्यावता हो लाली हो दर्द हो या संरम्भजन्य विषमता हो या विषमयता हो तो व्रण का विस्रावण करके रक्त निकाल देना चाहिए।

रक्त कैसे निकाला जाय इसके लिए प्राचीन भारतीय सर्जनों ने बड़ी गवेषणा की थी अनेक उपाय निकाले थे। कालान्तर में वे उपाय सारे विश्व में फैल गये। ये उपाय दो प्रकार के थे एक में शस्त्र को साधन मानकर चलना पड़ता था दूसरे में शस्त्र को छोड़ अन्य साधन अपनाये जाते थे। शस्त्र रहित इन साधनों में सिंगी लगाना (शृंग प्रयोग), तोंबी लगाना (अलाबु प्रयोग), गिलास या घटी का प्रयोग तथा जोंक लगाना (जलौका प्रयोग) ये चार प्रयोग आते हैं। शस्त्र प्रयोग में सिरावेध और पच्छा (प्रच्छान्न) लगाना ये चलते हैं। जलौका के विषय में इस

विशेषांक में अन्यत्र विचार किया जा रहा है। शृंग, अलाबु और घटी का उपयोग त्वचा के दोषों को दूर करने के लिए किया जाता है। प्रच्छान्न पिण्डीभूत रक्त को हटाने के लिए होता है। सिरावेध तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा निर्दिष्ट स्थान की सिरा को वेध कर रक्त निकालने के लिए होता है। सिरावेध आत्यधियिक अवस्था में या सर्वाङ्ग विष रक्तता होने पर या ऐसे रुधिर विकार में जिसका रूप सर्वाङ्गीण हो किया जाता है।

विस्राव्यरोग—तच्च शस्त्रकर्माष्टविधम् नामक लेख में विस्राव्य रोगों की सूची दी जा चुकी है पृष्ठ ८१ पर देखें। फिर भी पाठकों के लाभार्थ उनकी सूची नीचे दी जा रही है—

१. त्रिदोषज विद्रधि को छोड़ जो असाध्य मानी गई है शेष पांचों विद्रधियां।

२. सब प्रकार के कुष्ठ।

३. वायुः सरुजः (सशूल वात विकार)।

४. शोफोयश्चैक देशजः (एक स्थानीय शोफ लोकलाइज्ड इडीमा)।

५. कर्णपाली के रोग।

६. श्लीपद (फाइलेरिया)।

७. विषजुष्टं च शोणितम् (टॉक्जीमिया या टॉक्जीमिक स्टेट)।

८. अर्बुद (ट्यूमर्स)।

९. विसर्प (एरिसिपेलस)।

१०. ग्रन्थि (सिस्टें) आरम्भिक ३ प्रकार की।

११. ३ प्रकार के उपदंश।

१२. स्तनों के रोग।

१३. विदारिका नामक क्षुद्ररोग।

१४. सौषिर नामक दन्त रोग।

१५. गलशालूक (टॉन्सिलाइटिस)।

१६. वातकण्टक नामक पाद रोग।

१७. कृमिदन्त (डेंटल केमरीज)।

१८. दन्तवेष्ट (पायरिया अल्वियोलैरिस)।

१९. उपकुश (एक प्रकार की जिंजीवाइटिस)

२०. शीताद (स्पंजीगम्स तथा स्कर्वी)

२२. ओष्ठ रोग–पित्तज, कफज तथा रक्तज (इपीथीलियोमा आफ दि लिप)

इस सूची से इसके विस्तृत उपयोग का अच्छा ज्ञान मिल जाता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि अनेक रोग ऐसे हैं जिनमें स्थानीय रक्तमोक्षण काफी रहता है कुछ सर्व शरीरव्यापी रोगों में सर्वांगीण हित की दृष्टि से रक्तमोक्षण करना पड़ता है। दोषों का अधिक गहरा अवस्थान होने पर रक्तमोक्षण कर्म आवश्यक होता है।

रक्तमोक्षण का निषेध

पहला प्रश्न आता है कि क्या उक्त परिस्थितियों में सभी को रक्तमोक्षण कराने का शास्त्रीय निदेश है? इसका उत्तर स्वयं भगवान् दिवोदस धन्वन्तरि ने इन शब्दों में दिया है:—

बाल—शिशुओं और बालकों की

स्थविर—वृद्धों की

रूक्ष—रूखे

क्षतक्षीण—उरःक्षत (ब्रांकिऐक्टेसिस) से पीड़ित

भीरु—दुर्बल मन होने से डरपोक प्रकृति वालों को

परिश्रान्त—परिश्रम करके थके हुए

मद्य-अध्व-स्त्री कर्षित—शराब, पैदल यात्रा या स्त्री संभोग के कारण कृशता को प्राप्त

वमित विरिक्तास्थापितानुवासित—वमन विरेचन आस्थापन अनुवासन कर्म जिसका हुआ हो

जागरित—रातभर के जगे हुए को

क्लीब—नपुंसक या जिसे मेल पुरुष में या फीमेल (स्त्री में) हार्मोनों की अधिक कमी हो

कृश—जिनके शरीर पर मांस कम हो

गर्भिणीनां—सगर्भा स्त्रियां को

कास श्वास शोष—फेंफड़ों के रोगों, श्वास, कास, राजयक्ष्मा से पीड़ित

प्रवृद्धज्वर—अत्यधिक ज्वरग्रस्त

आक्षेपक पक्षाघात—ऐसे वातरोगी जिसे कन्वल्जन्स आते हों दौरे पड़ते हों या पैरेलाइसिस हो गई हो

उपवास-पिपासा—जिसने भोजन न किया हो या प्यासा हो

मूर्च्छा पीडितानां—जिसे मूर्च्छा आई हुई हो

च—तथा और भी जटिल रोगों से ग्रसित रोगियों की

सिरां न विध्येत—सिरा का वेध कर रक्तमोक्षण नहीं करना चाहिए।

जो लोग रक्ताधान या ब्लडट्रान्सफ्यूजन के लिए डोनर या दाता के रक्त का मोक्षण करते हैं उनके लिए भी यह सूची बहुत काम आ सकती है। सुश्रुत संहिता के सुप्रसिद्ध टीकाकार डल्हण ने इस पर भी महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया है—

१. बालस्थविरेयोः असंपूर्णधातुक्षीणत्वात् सिरां न विध्येत्—बालकों और वृद्धजनों की धातुएं क्रमशः अपूर्ण और क्षीण होती हैं इसलिये सिरा न वेधे

२. (क) रूक्षक्षतक्षीणानां वातप्रकोपभयात् सिरां न विध्येत्—रूक्ष और क्षतक्षीण में सिरावेधने से वायु के प्रकोप का डर रहता है। इस दृष्टि से वात प्रकृति के व्यक्ति भी डोनर बनने से बच जाते हैं।

(ख) क्षत इति उरःक्षतयुक्तः खङ्गादि अभिहतो वा—क्षत का अर्थ जहां उरःक्षत होता है वहीं तलवार या शस्त्र या चोट के द्वारा घाव का होना भी लिया जा सकता है जिसके कारण रक्तस्राव हो चुका हो उसकी सिरा के वेध का भी निषेध लिया जा सकता है।

(ग) क्षीणः क्षीणधातुः—क्षीण से जिसकी धातुएं क्षीण हो गई हों लिया जा सकता है।

(घ) गयी तु क्षतेन क्षीणस्तस्यानिलव्याधिभयात् न विध्येदिति व्याख्यायति—गयदास का यह कहना है कि क्षत (ट्रौमा) होने से क्षीण व्यक्ति के शरीर में वातव्याधि होने का भय हो जाता है इसलिए सिरावेध नहीं करना चाहिए।

कितना स्पष्ट संकेत है कि वातवृद्ध जैसे न हो वह उपाय किये रहना रक्तमोक्षण में परम उपयोगी एवं माननीय निदेश है।

३. भीरोश्च तमो बहुलत्वात् लोहितदर्शनेन मूर्च्छाभयात् न विध्येत्—भीर या डरपोक अपना निकलता हुआ रक्त देखकर मूर्च्छित हो सकता है इसलिए उसका रक्त न निकाले।

४. परिश्रान्तस्य श्रमकुपितो वायुः शोणितावसेचनेन अतिप्राबल्यं प्राप्य शरीरव्यापादकः स्यात्—थके हुए व्यक्ति के शरीर में परिश्रम करने के कारण कुपित हुए वायु रक्तमोक्षण द्वारा अति प्रबल होकर उसके शरीर का विनाश कर सकती है। इस तथ्य की ओर ध्यान देकर उस मजदूर का जिसकी धातुएं क्षीण हैं तथा जो थकावट से चूर है रक्त कभी भी नहीं निकालना चाहिए।

५. मद्यपस्य मदविक्षिप्तचित्तस्य अतिमूर्च्छाकरत्वात्—शराबी नशे में धुत होने से उसका मन डांवाडोल रहता है रक्तमोक्षण उसे भारी मूर्च्छा ला सकता है।

६. अध्वस्त्रीकर्षितस्य वातप्रकोप भयात् न विध्येत्—स्पष्ट है।

७. अनुवासितस्य मन्देऽग्नौ भूयोऽग्निमान्द्यभयात्—अनुवासन में स्नेह बस्ति के द्वारा अग्निमन्द हो सकती है रक्तमोक्षण द्वारा यह मन्दाग्नि और भी प्रबल हो सकती है।

८. क्लीबस्य प्रधानधातुक्षयेण अल्पसत्वेन च निश्चितविनाशत्वात्—क्लीब की प्रधानधातु (शुक्र) क्षीण होती है जिससे वह अल्पसत्व रहता है जिससे रक्तमोक्षण इसके विनाश का कारण बन सकता है। रक्त में हार्मोनों की कमी होने से रक्त द्वारा उनके और अधिक निकल जाने के कारण भी विनाश संभव है। इस तथ्य को सामने रखकर हिजड़ों को डोनर बनाना कहां तक उचित होगा इस पर भी विचार कर लेना चाहिए।

९. कृशस्य गर्भिणीनां च उपक्षीणधातुत्वाद् देहसंदेहभयात्—स्पष्ट है।

१०. कासश्वासशोषिणामपि अपचीयमान धातुत्वेन देहसंदेहभयान्न विध्येत्—खांसी श्वास और शोष में रक्त के लाल कणों की औक्सीजन प्राप्ति शक्ति बहुत घटी होती है जिससे धातुएं अपचित रहती हैं यदि इन रोगियों का रक्त निकाला गया तो उनकी मृत्यु तक संभव है।

११. प्रवृद्धज्वरस्य असृक्स्रावेण प्रलापादिभयात् सिरां न विध्येत्—जिसे हाइपर पाइरैक्सिया हुआ है उसका रक्त निकालने से वात प्रकोप भयंकर रूप धारण कर सकता है और रोगी को डिलीरियम होकर मृत्यु हो सकती है इसलिए सिरावेध का निषेध है।

उपर्युक्त निषेध का अपवाद अष्टांग संग्रहकार ने 'न त्वेष निषेधो विषसंसृष्टोपसर्गात्ययिकव्याधिषु' के द्वारा कर दिया है। उसका कहना है कि जब विषमयता व्याप्त हो औपसर्गिक रोगाक्रान्त शरीर हो तथा आत्ययिक या अतिपाती व्याधि उत्पन्न हो गई हो और यदि तब रक्तमोक्षण द्वारा ही जीवन रक्षा संभव है, तो उसे कर देना

चाहिए। सुश्रुत संहिता के आधुनिक श्रेष्ठतम टीकाकार गुरुवर्य डा० घाणेकर ने ऐसी कई अवस्थाओं का उल्लेख अपनी आयुर्वेद रहस्यदीपिका टीका में किया है इनमें कुछ है—

१. सगर्भा स्त्री को गर्भापतानक (एक्लैम्पशिया) होने पर शरीरगत विष के निर्हरण के लिए सिरोवेध करके रक्त निकाल दिया जाता है—

रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्।
तस्माद् विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया॥
—सुश्रुत

२. ऐसे पक्षाघात में जिसमें हाईब्लडप्रेशर उसको उत्पन्न करने वाला हो तो भी सिरावेध लाभकर होता है।

कौन-कौन सिराओं को रक्तमोक्षण के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता इसे भी सुश्रुत शारीर स्थान के आठवें अध्याय में यों बतलाया है—

१. याश्चाव्यध्या—वे सिराएं जिन्हें अवेध्य कहा जा चुका है। यह विवरण आगे इसी अध्याय में दिया गया है।

२. व्यध्याश्चादृष्टा—वेध योग्य सिरा कही जाने पर भी जो दिखाई न दे।

३. दृष्टाश्चायन्त्रिता—वेध योग्य सिरा दिखाई तो दे पर जिसका यन्त्रण या नियन्त्रण न किया जा सकता हो।

४. यन्त्रिताश्चानुत्थिता—वेध योग्य दिखाई देने वाली यन्त्रित ऐसी सिरा जो उठे नहीं।

ये सभी स्थितियां सिरावेध के लिए निषिद्ध है।

सिरावेधन विधि

तत्र स्निग्धास्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणान् अबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कलतानाम् अन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रं आदाय सिरां विध्येत्।
सु० शा० स्था० अ० ८

सिरावेध एक प्रकार का शस्त्रकर्म होने से इसमें पूर्वकर्म, और पश्चात्कर्म इन सभी की आवश्यकता होती है। उसका अधिकांश—उक्त उद्धरण में सुस्पष्ट रूप से लिख दिया गया है।

इसके अनुसार जिस रोगी* का रक्त सिरावेध करके निकालना हो उसका पहले (१) स्नेहन करे फिर (२) स्वेदन करे इन दो पूर्वकर्मों को ठीक विधि से पूरा करने के पश्चात् कुछ समय पश्चात् सिरावेध का दिन निश्चित कर दें। उस दिन रोगी को उसके रोगकारक दोषों के विरुद्ध लाभकारी (३) तरल अन्न थोड़ा सा खिला दें या स्वल्प मात्रा में यवागू पिला दें—लिखा भी है, यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद् भिषक्—

यवागू पिलाने पर डल्हण की टीका भी बेजोड़ है—सा हि प्रायशः प्रक्लेदनात्मिका स्वेदलत्वाद् द्रवोष्णत्वाच्च शोणितं विलाययति प्रतिशब्दोऽत्र मात्रार्थः, तेन यवागूं मात्रया पीतवत् इत्यर्थः अर्थात् यवागू प्रक्लेदी, स्वेदल, द्रव और उष्ण होने के कारण रक्त को पतला कर देती है जिससे सिरावेध काल में वह आसानी से निकल आता है। इस यवागू को उचित मात्रा में ही देना चाहिए।

यवागू पिलाकर उसे (४) ठीक समय पर देव पूजन कराके (५) आपरेशन टेबिल पर आसीन कर (लिटा या बिठा) ले या खड़ा रखे। फिर जिस शरीर प्रदेश की सिरा का वेधन करना हो उस (६) शरीर प्रदेश या अङ्ग को ठीक करले वहां (७) कपड़े की पट्टी, चमड़े की पट्टी या वृक्ष की अन्तर्छाल या किसी लता (बेल) द्वारा उस अङ्ग का यन्त्रण करे अर्थात् टूर्निके की तरह बांधे। यह टूर्निके न तो बहुत कड़ा बांधे और न बहुत ढीला ही बांधे। फिर (८) प्राणों को बिना बांधा पहुँचाते हुए सिरा का शस्त्र द्वारा वेध करे। डल्हण ने नातिगाढमुत्तमाङ्गे तथा नातिशिथिलं शाखासु यह अर्थ देकर यह स्पष्ट किया है कि सिर में बहुत कड़ा तथा शाखाओं (हाथ-पैरों) में बहुत ढीला बन्ध न बांधे। शरीर प्रदेश मासाद्य का अर्थ मर्म-

* डल्हण का कथन है कि आतुर के ही सिरावेध का उल्लेख है स्वस्थ का नहीं—आतुरं इति आतुरग्रहणं स्वस्थस्य रक्तं न स्रावयेदिति बोधनार्थम्। उसे क्या पता था कि आगे चलकर चिकित्सा विज्ञान स्वस्थ के रक्त को निकाल कर रक्तं जीव इति स्थिति को पुष्टकर जीवनदान हेतु इसका उपयोग रक्ताधान के रूप में करेगा।

रहितं शरीरप्रदेशं गृहीत्वा किया है। सिरावेध इन परिस्थितियों में न करने का भगवान् धन्वन्तरि का आग्रह है—नैवातिशीते नात्युष्णो न प्रवाते न चाभ्रिते।

शिराणां व्यधनं कार्यं अरोगे वा कदाचन ॥

अर्थात् शिरावेधविचक्षण वैद्य यह भी देख ले कि जिस समय सिरावेध किया जा रहा है तब बहुत अधिक ठण्डक या गर्मी न पड़ रही हो, न आंधी ही चल रही हो, न बादल हो रहे हों। ऊपर जो यथाकाल शब्द का प्रयोग किया गया है उसकी यह धन्वन्तरीय व्याख्या है। यही नहीं, इन ऋतुओं में भी उचितकाल का इन शब्दों में उल्लेख किया है—

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत्तु ग्रीष्मकाले तु शीतले।

हेमन्तकाले माध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः ॥

कि वर्षा ऋतु में जब बादल न हों, ग्रीष्मकाल में ठण्डक के समय सवेरे तथा हेमन्त ऋतु में मध्याह्न में शिरावेध या शस्त्रकर्म चाहिए। ये ३ काल शस्त्रकाल या शस्त्रकर्म काल कहलाते हैं। आज तो एयरकण्डीशनिंग का जमाना है। वातानुकूलित करने बिजली के प्रकाश में सदा एकसी शस्त्रकर्म योग्या ऋतु ही कृत्रिम रूप से तैयार की जा सकती है।

विविध अङ्गों में सिरावेध

आयुर्वेद शरीर के विभिन्न अङ्गों का सिरावेध का निदेश करता है। जिस प्रदेश में रोग हो वहीं की सिरा का वेध कर रक्तमोक्षण करना चाहिए। ये अङ्ग निम्नांकित हैं:—

१—मुख के अन्दर के भाग को छोड़कर सम्पूर्ण उत्तमांग (सिर), २—पैर (अधोशाखा), ३—हाथ (ऊर्ध्व शाखा) ४—पृष्ठ, ५—उदर, ६—पार्श्व, ७—शिश्न, ८—जिह्वा, ९—तालु १०—दन्तमूल।

इन अङ्गों में पहले किस प्रकार यन्त्रण करना चाहिए इसे बताया गया है। यन्त्रण करने से सिरा फूल जाती है। फिर फूली हुई सिरा को कुठारिका या व्रीहिमुख या अन्य धारदार शस्त्र से वेधन किया जाता है। आजकल सिरा फुलाकर पोली सुई को शुद्ध कर शुद्ध सिरिंज में लगा सुई को सिरा में चुभाकर जितना आवश्यक हो रक्त निकाला जा सकता है।

उत्तमांग सिरावेध—रोगी को एक हाथ ऊंची चौकी या कुर्सी पर बिठाते हैं। हाराणचन्द्र चक्रवर्ती भूमि पर बिठाना ही पर्याप्त मानते हैं। रोगी को आदित्यमुख बिठाते हैं यानी सूर्य के सामने ताकि नेचुरल लाइट पूरी-पूरी मिल सके। रोगी का आसन—सवध्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तौ अन्तर्गूढांगुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा—दोनों टांगें सिकुड़वा दें, दोनों हाथों की कुहनियां घुटनों पर टिका दें, मुट्ठियां बंधी रहें, अंगूठे मुट्ठियों के अन्दर रहें और मुट्ठियां मन्याओं पर दोनों तरफ सधी रहें।

अब नियन्त्रण पट्ट को ग्रीवा तथा मुट्ठियों के ऊपर फेंककर उसके दोनों सिरे रोगी के पीछे खड़े दूसरे व्यक्ति को बांये हाथ से पकड़ने को वैद्य को कहना चाहिए। फिर वैद्य उस व्यक्ति को इस प्रकार निदेश दे कि दाहिने हाथ से न बहुत कसकर न बहुत ढीले उस यन्त्र पट्ट को उमेठे तथा उसे पीठ पर निष्पीडित करे ताकि रक्तस्राव में आसानी हो जाय। कर्मपुरुष या रोगी इस अवसर पर गालों को हवा भरकर फुलावे। इससे उत्तमांग (सिर) की सिराओं का—मुख के भीतरी भाग को छोड़कर यन्त्रण हो जाता है। हाथ की मुट्ठी में कपड़ा रखकर जोर लगाने से, दांतों को दबाने, खांसने आदि से भी चेहरे और ग्रीवा तथा सिर की सिराएं फुलाई जा सकती हैं। वाग्भट गर्दन के पीछे अंगोछा डाल सामने को उसके दोनों छोरों को ला दोनों बगलों से निकाल पीछे सिरों को ले जाकर बांये हाथ से उमेठ कर यन्त्रण करना बतलाता है।

पादसिरावेधन एवं यन्त्रण—इसके २ प्रकार हैं। एक प्रकार है पैर को जमाकर समस्थान पर रखना, दूसरे पैर को घुटने पर थोड़ा सिकोड़ना और थोड़ा ऊंचा करके जानुसन्धि के नीचे यन्त्रण शाटक (टूर्निके) बांध देना और गुल्फ या टखने तक हाथों से दबा-दबाकर सिरा को उछालना और वेध करना। दूसरा प्रकार है वेध स्थान से ४ अंगुल ऊपर कपड़ा लपेटकर पैर की सिरा फुलाकर उसका वेधन करना।

हस्तसिरावेधन एवं यन्त्रण—यह पैर की तरह हाथ को उचित आसन पर स्थापित करके अंगूठा अन्दर कर हाथ की मुट्ठी बंधवाकर पैर की तरह हाथ में टूर्निके लगाकर

सिरा उभार कर उसका वेध करना। अथवा वेध स्थान के ४ अंगुल ऊपर बांध सिरा फुलाकर उसका वेध करना।
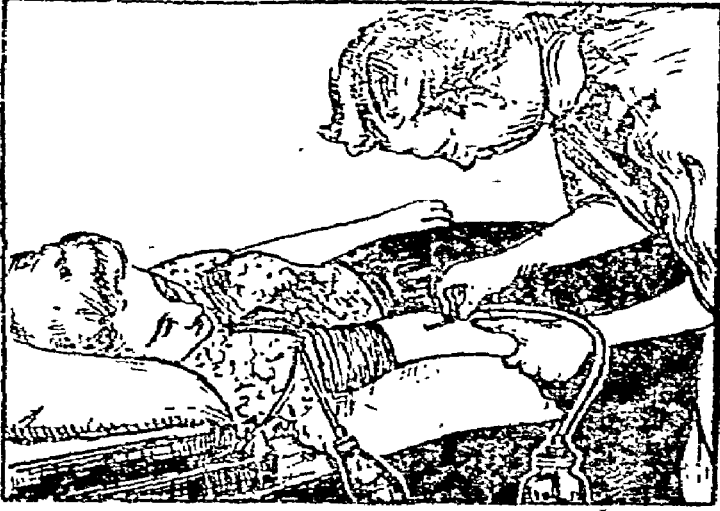
गृध्रसी और विश्वाची नामक वातरोगों में क्रमशः जानु को मोड़कर तथा बाहु को कुहनी पर मोड़कर सिरा-वेध करते हैं।

पृष्ठ सिरावेध—इसमें सिर को नीचे को झुका लेते हैं, पीठ को ऊपर की ओर तानकर सिराओं के फूल जाने पर सिरावेध किया जाता है।

वक्ष-उदर सिरावेध—इसमें छाती या पेट को फुलाते हैं, सिर ऊंचा रखते हैं तथा शरीर को विस्फूर्जित (फैला कर फूली हुई सिरा का वेध किया जाता है।

पार्श्व सिरावेधन—दोनों हाथों को लटकाए हुए रखकर पार्श्व की फूली सिरा वेधी जाती हैं।

शिश्न सिरावेधन—शिश्न या मेढ़्र को पहले स्तब्ध या अवनामित करते हैं। इसी को प्रहृष्टमेहन या मेह-नोत्थान कहा जाता है। उत्थित शिश्न की सिरा स्वतः फूली होने से वेध करना आसान हो जाता है।

जंघा सिरावेधन—घुटनों को बिना सिकोड़े जंघा या जांघ की सिरा का वेधन किया जाता है।

जिह्वा सिरावेधन—जीभ के अग्रभाग को ऊपर उठा लेने से उसके नीचे की सिरा दिखलाई दे जाती है, जिसका वेधन किया जा सकता है।

वाग्भट लिखता है—इत्थं अनुक्तेषु अपि कल्पयेत् इसी प्रकार अन्य उन स्थानों की सिराओं का भी वेध तेषु-तेषु प्रदेशेषु तत्तद्यन्त्रमुपायवित् उपायज्ञ वैद्य विविध यन्त्रणों के द्वारा करे। यन्त्रण के उपाय कपड़े का टूर्निके लगाना ही नहीं है अन्य भी हो सकते हैं—एवं यन्त्रोपायान् अन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्धयावेक्ष्य शरीर-वशेन व्याधिवशेन च विदध्यात्—उनको सिरा के फुलाने के लिए अपनी बुद्धि से सोचकर शरीर तथा व्याधि के अनुसार सिरावेध के लिए प्रयोग में लावे यह सुश्रुत का मत है।

कैसे और कितना वेधें

इसके लिए मांसल अवकाशों में यवमात्र (जौ बराबर) शस्त्र का प्रवेश करना चाहिए अन्य क्षेत्रों की सिराओं में आधे जौ के बराबर या व्रीहिधान्य के बराबर वेध करे अस्थि के ऊपर कुठारिका से आधे जौ बराबर वेध करने का निदेश है। वाग्भट इसे और स्पष्ट करता है—

ततो मध्यमया ऽङ्गुल्या वैद्योऽङ्गुष्ठविमुक्तया।
ताडयेत् उत्थितां ज्ञात्वा स्पर्शाद्वा ऽङ्गुष्ठपीडनैः॥
कुठार्या लक्षयेन्मध्ये वामहस्तगृहीतया।
फलोद्देशे सुनिष्कम्पं सिरां तद्वत् च मोक्षयेत्॥
ताडयन् पीडयंश्चैनां विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।

फिर मध्यमा अंगुली से वैद्य अंगूठे से छू या दबाकर उठी या फूली हुई सिरा का ज्ञान कर बांये हाथ में ली हुई कुठारिका के फलक भाग से बिना कांपे सिरा का तब तक वेध करे जब तक कि रक्त न निकलने लगे। सिरा का ताडन और पीडन करते रहना चाहिए ताकि रक्त बराबर निकलता रहे उसे व्रीहिमुख यन्त्र से भी वेध कर सकता है।

अच्छे प्रकार सिरावेध हुआ है इसका ज्ञान धारा रूप में रक्त का बहना और दबाकर थोड़ी देर रखने पर उसका बन्द हो जाना यह सुविद्ध का शास्त्रीय लक्षण है—

सम्यकशस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत्॥

यह ध्यान रखें कि मूर्च्छा आ जाने से, डर जाने से, थका हुआ होने से, जिसे प्यास लगी हो तथा टूर्निके जहां वरावर दवाव डाल रहा हो वहां वेध करने पर भी सिरा से रक्तमोक्षण नहीं हो पाता है इसलिए कर्मपुरुष (रोगी) तथा यन्त्रण दोनों की परीक्षा करे जव रक्त का ठीक-ठीक स्राव न हो तो।

जो व्यक्ति क्षीण हो, या जिसमें दोषों का इतना वाहुल्य हो कि एक वार का सिरावेध काफी न हो उसे एक वार सवेरे तथा दूसरी वार अपराह्न में रक्तमोक्षणार्थ सिरा का वेध करना चाहिए। क्षीण से हर वार थोड़ा-थोड़ा ही रक्त निकालना चाहिए। वाद में आवश्यकतानुसार दूसरे या तीसरे दिन पुनः रक्तमोक्षण करना चाहिए।

कितनी मात्रा में रक्त निकाला जाय इस पर चरक और सुश्रुत के अलग-अलग मत हैं। चरक का कथन है कि—

वलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तोः आशयं प्रसमीक्ष्य वा॥

रोगी के वल और दोषों के प्रकोप को देखकर तथा जिस स्थान या आशय से रक्त निकालना है उसे समझ कर तथा रुधिर की शुद्धि अशुद्धि का विचार कर वैद्य को स्वयं मात्रा निश्चित करनी चाहिए।

सुश्रुत ने अधिकतम प्रमाण एक प्रस्थ तक रक्त निर्हरण करने का निदेश दिया है यदि रोगी वलवान् हो, दोष वाहुल्य हो, आयु में तरुण हो तो—

वलिनो वहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे॥

यह एक प्रस्थ का परम प्रमाण है। प्रस्थ कितना वड़ा लें इस पर आयुर्वेद रहस्यदीपिका १३॥ पल या ५४ तोले प्रमाण का प्रस्थ मानती है तथा आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक चिरकालीन हृद्रोग में २०—३० औंस तक रक्त निकालदेने तक कोई हानि नही मानती।

परिभाषा प्रदीपकार केवल वयःस्थ (वयःस्थमित्युक्त्वा शोभनं तरुणं वय इति शस्यते-अरुणदत्त) या तरुण को ही रक्तमोक्षण का अधिकारी न मानकर—न्यूनषोडशातीतं-सप्तत्यर्वाक् स्रुतासृजम्—से १६ वर्ष से कम आयु के तथा ७० वर्ष से अधिक आयु वालों को छोड़ शेष सभी आयु को रक्तमोक्षण योग्य मानते हैं। साथ ही—

नायन्त्रितां सिरां विध्द्येत् न तिर्य्यङ्नाप्यनुत्थिताम्।
नातिशीतोष्णवाताभ्रेष्वन्यत्रात्ययिकाद्गदात्॥

विना टूर्निके लगाई, विना उठी या तिरछी करके सिरा के वेध का निषेध करते हैं अतिशीत, अतिउष्ण, अतिवात, अतिअभ्र काल में भी रक्त मोक्षण अनावश्यक मानते हैं पर ऐमर्जेंसी में इन ऋतुओं या मौसमी परिस्थितियों में भी सिरावेध का समर्थन करते हैं।

२० प्रकार के दुष्टसिरावेध

सुश्रुत ने वीस दुष्ट सिरा वेध इस प्रकार गिनाए हैं—

१. दुर्विद्धा—पीड़ा, सूजन युक्त थोड़ी विद्ध अत्यल्प रक्तस्राव वाली

२. अतिविद्धा—जव आर पार सिरा में छेद हो जाय तो वहुत रक्त निकले तथा भीतरी छेद से अन्दर की ओर रक्त जाय

३. कुञ्चिता—यह अधिक कुच जाने से एक प्रकार से अतिविद्धा ही है कुटलीभूता' वैरीकोजवेन

४. पिच्चिता—मोथरे शस्त्र से वेध करने से सिरा पिचक जाती है-चिप्पटतया फैली हुई

५. कुट्टिता—कई जगह शस्त्र से घुटैल हो जाती है-कुचली हुई

६. अप्रस्रुता—शीत, भय, मूर्च्छा इन तीनों में से किसी के कारण वेध होने पर भी रक्त नहीं स्रवता

७. अत्युदीर्ण—तीक्ष्ण बड़े शस्त्र से विद्ध

८. अन्तेऽभिहता—एक किनारे पर विद्ध थोड़ा रक्त-स्रवने वाली

९. परिशुष्का—क्षीण शोणित रोगी की वायुपूर्ण खुश्क सिरा–अनीमिया पीड़ित रोगी की सिरा

१०. कूणिता—चौथाई भाग में कटी थोड़ा रक्त-स्रवने वाली

११. वेपिता—अनुचित स्थान में बंधी होने से कांपती सी सिरा थोड़ा-थोड़ा रक्त स्रवती है।

१२. अनुत्थितविद्धा—बिना फूली हुई विद्ध सिरा।

१३. शस्त्रहता—छिन्नातिप्रवृत्तशोणिता क्रियासंग-करी शस्त्रहता—जब तलवार फरसा मालादि बड़े हथियार से सिरा कट जाती है तो वह अत्यधिक रक्तस्राव उत्पन्न करती है थोड़ी देर बाद 'क्रियासंग' (शॉक) उत्पन्न हो जाता है। क्रियासंग को पीछे क्रियातिपात लिखा गया है।

१४. तिर्यग्विद्धा—तिरछा कट जाने से जिसका अधिकांश कट गया हो और थोड़ा जुड़ा रह गया हो।

१५. अपविद्धा—हीन शस्त्र द्वारा कई स्थानों पर कटी फटी।

१६. अव्यध्या—जिस पर शस्त्र प्रयोग या वेध निषिद्ध हो।

१७. विद्रुता—अनवस्थित विद्धा—कांपते हाथ से विद्ध।

१८. धेनुका—कई स्थानों पर एक के ऊपर एक वेध होने से वार-वार रक्तस्रवित करने वाली।

१९. पुनः पुनर्विद्धा—सूक्ष्मशस्त्र से कई स्थानों पर कई जगह वेधित जैसा कि ढूंढ न पाने पर आजकल नर्सें वार-वार वेध देती हैं वैसी।

२०. मांससिरास्नायुअस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा—मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि-सन्धि और मर्मों में विद्ध हुई सिरा जो रुजा, शोफ, वैकल्प और मृत्यु तक कर देती है।

आज भी ये त्रुटियां अस्पतालों में प्रायशः होती हैं। इसलिए बहुत सावधानी से सिरावेध करना सीखना चाहिए। डा० घाणेकर ने इन सभी दोषों को १. शस्त्र-दोष, २. रोगी दोष, ३. यन्त्रण दोष ४. सिरादोष तथा ५. प्रयोक्ता दोष (वैद्य दोष) माना है। सुश्रुत की यह चेतावनी कि सिरावेध में कोई अपने को शिक्षित न मानले किसी को भी सिरावेध करने में कठिनाई हो सकती है ये स्वाभाविक रूप से अपने स्थान से हटती रहती हैं मछली की तरह चंचल होती हैं इसलिए इन्हें यत्नपूर्वक सावधानी के साथ वेधना चाहिए—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येता स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद् यत्नेन ताडयेत्॥

सिरावेध में नैपुण्य प्राप्त करने पर खूब जोर देना चाहिए। अज्ञानी या अनिपुण व्यक्ति द्वारा शस्त्र निपात से अनेक व्यापत्तियां और उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

सुश्रुत स्पष्ट रूप से सिरावेध के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसे स्नेहन स्वेदनादि कर्मों लेपों से अधिक उपयोगी मानता है—

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि।
यान्त्याशुव्याधयः शान्ति यथा सम्यक् सिराव्यधात्॥

इस रक्तमोक्षणकर्म द्वारा या प्रत्यक्ष सिरावेध से जितनी जल्दी रोग शान्त होते हैं उतनी जल्दी अन्य उपायों से नहीं होते। उसने इससे भी आगे बढ़कर कहा है कि जैसे वस्ति को काय चिकित्सा में आधी चिकित्सा ही स्वीकार किया है वैसे ही शल्यतन्त्र में सिरावेध भी आधी चिकित्सा माना जाता है—

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहितः सम्यग्वस्तिः कायचिकित्सिते॥

आज चीनी चिकित्सा पद्धति के एक्यूपंक्चर का बड़ा मान होता जा रहा है। सिरा पंक्चर जो भारतीयों ने ईजाद किया वही कालान्तर में फाह्यान ह्वेनसांगादि यात्रियों के द्वारा वार-वार देखा जाने पर ऐक्यूपंक्चर में ही सीमित हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सिरावेध द्वारा रोगों की चिकित्सा का प्रत्यक्ष अभ्यास

क्रम	सिरावेध स्थान	वेधशस्त्र	किन रोगों में उपयोगी है	विशिष्ट शास्त्रप्रमाण
१	क्षिप्र मर्म से दो अंगुल ऊपर (डार्सल वेनसआर्च में)	व्रीहिमुख	पाददाह, पादहर्ष, अववाहुक, चिप्प (नखरोग), विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी (विवाई) आदि	प्रभृति गृहणाद् अन्येऽपि पादरोगाः रक्तानुवन्धिदोषजाताः गृह्यन्ते —डल्हणः
२	गुल्फ के ऊपर चार अंगुल जंघा में (स्मालसैफेनस वेन में)	व्रीहिमुख	क्रोष्टुशीर्ष (जानुसन्धि का पाक), खञ्जता, पंगुता, वातवेदनाएं (न्यूरैल्जिक पेन्स)	क्रोष्टुशीर्षादिषु वातवेदनासु जंघायां सिरां विध्येत्—डल्हणः
३	इन्द्रवस्ति मर्म के २ अंगुल नीचे		अपची रोग (क्रॉनिक ट्यूबर्क्युलस लिम्फेडिनाइटिस)	अपच्यामिति उत्पन्नमात्रायाम् न तु रूढायाम्—डल्हणः
४	जानुसन्धि के ४ अंगुल ऊपर या नीचे	यथोचित	गृध्रसी (शियाटिका) में तथा विश्वाची (मोनोप्लीजिया ब्रैकियालिस)	
५	ऊरुमूल में संश्रित सिरा (फेमोरल वेन)	"	गलगण्ड (ग्वायटर) में	एतेनेतर सक्थिबाहू च व्याख्यातौ —सुश्रुत
६	वाम बाहु के मध्य कूर्पर सन्धि के अभ्यन्तर (मीडियन क्युबिटल वेन में) या कनिष्ठिका और अनामिका के बीच के भाग में (फर्स्ट मेटाकार्पल वेन में)	"	प्लीहावृद्धि (एनलार्जमेण्ट ऑफ स्प्लीन) में यकृद्वृद्धि में यह सिरावेध दक्षिण बाहु की मीडियन क्युबिटल वेन में या दक्षिण हाथ की फर्स्ट मेटाकार्पल वेन में करें	सन्धिशब्देन सन्धिसमीप उच्यते —डल्हण कास, श्वास, ज्वर, विषमज्वर, कफोदर में भी इन्हीं सिराओं का वेध किया जाता है। अन्तर्विद्रधि, गृध्रसी, विश्वाची में भी कूर्परमध्य सिरा का वेध किया जाता है—सौ०
७	श्रोणि के पास २ अंगुल पर	"	सशूल प्रवाहिका डिसैंटरी विद पेन	
८	मेढ़्र के मध्य भाग की सिरा में (सुपरफिशियल डॉर्सल वेन आफ दि पैनिस)	"	परिवर्तिका (पैराफाइमोसिस), उपदंश, शूकदोष	

९	कक्षा और स्तन के बीच में		अन्तर्विद्रधि तथा पार्श्वशूल में (प्लुरिसी)	ये तीनों वेध सिरावेध नहीं हैं। कक्षा और स्तन के बीच में दो पसलियों के बीच के स्थान में पूय भर जाने (अन्तर्विद्रधि) तथा प्लुरिसी में जल-भर जाने पर वेध और आहरण करते हैं वैसे ही मूत्रवृद्धि से वृषण पार्श्व में वेध और जलोदर में नाभि के नीचे वेध किया जाता है यहां सिरावेध का कोई मतलब नहीं है।
१०	वृषणपार्श्व में	,,	मूत्रवृद्धि (हाइड्रोसील) में	
११	नाभि के ४ अंगुल नीचे बांई ओर सेवनी में		जलोदर (ऐसाइटिस) में	
१२	अंसों के मध्य	,,	बाहुशोष और अवबाहुक में	
१३	त्रिक सन्धि के मध्य की सिरा में	,,	तृतीयक विषमज्वर में	
१४	स्कन्धसन्धि के नीचे किसी भी पार्श्ववर्ती सिरा में	,,	चातुर्थक विषमज्वर में	
१५	हनुसंधिमध्यगता सिरा	यथोचित	अपस्मार (ऐपिलैप्सी) में	
१६	शंख और केशान्त सन्धिगता (सुपरफिशियल टैम्पोरल वेन) तथा उरःस्थ, अपांगस्थ, ललाटस्थ सिरावेध	,,	उन्माद, अपस्मार, तृतीयक, चातुर्थक	
१७	जिह्वा के नीचे की सिरा	,,	जिह्वा और दांतों के रोगों में	
१८	तालु की सिरा	,,	तालु के रोग	
१९	कान के ऊपर की सिरा	,,	कर्णशूल तथा कान के अन्य रोगों में	
२०	नासाग्र सिरा	,,	नासारोगों में जब गन्ध का ग्रहण न कर सके—गन्ध न आने पर	
२१	उपनासिका, लालाट्या या अपांग की सिरा	,,	तिमिर रोग, अक्षिपाक (कंजंक्टीवाइटिस या पेन आफ्थैलमाइटिस) शिरोरोग, अधिमन्थ (ग्लौकोमा) आदि नेत्ररोगों में	

अवेध्य सिराएं

जिन सिराओं को शास्त्रकार अवेध्य मानते हैं उनकी सूची सौश्रुती (चौखम्बा प्रकाशन) जो लेखक द्वारा लिखी गई बहुत अधिक प्रशस्त पुस्तक है। उसमें देखी जा सकती है। यहां कुछ अवेध्य सिराएं दी जा रही हैं :—

ऊर्ध्वशाखा में—जालधरा सिरा—सिफैलिक वेन।
उर्वी सिरा—ब्रैकियल वाहिनियां।
लोहिताक्ष सिरा—ऐक्सजीलरी वेन्स।
अधःशाखा में—जालधरा—ग्रेट सैफेनस वेन।
उर्वी—फेमोरल वाहिनियां।
लोहिताक्ष—इन्ग्वीनल भाग की वाहिनियां
श्रोणि—विटप—स्पर्मैटिक वाहिनियां
कटीकतरुण—ग्लूटियल वाहिनियां।
पृष्ठ—बृहती—सब्स्कैप्युलर वाहिनियां।
वक्ष—स्तनमूलादि—इण्टर्नल मैमरी तथा लैटरल थोरैसिक वाहिनियां।
ललाट—केशान्तानुगा—सुप्राआर्बीटल तथा टैम्पोरल वाहिनियां।
आवर्त—सुपर्फिशियल टेम्पोरल की फ्रण्टल शाखा।
स्थपनी—फ्रण्टल वेन की नेजल शाखा।
शंख सन्धिगत—सुपर्फिशियल टैम्पोरल वाहिनियां
उत्क्षेप—सुपर्फिशियल टैम्पोरल की पैराइटल शाखा।
नेत्र—सीमन्त-अधिपति—ऑक्सीपिटल वाहिनियों की शाखाएं।
अपांग—जाइगोमेटिक टैम्पोरल वाहिनियां।
नासा—औपनासिकी—ऐंग्युलर वाहिनियां।
जिह्वा—रसवहे, वाग्वहे—डीप लिंगुअल वाहिनियां
हनु—हनु सन्धिगत—इंटर्नल मैग्जीलरी वाहिनियां।
ग्रीवा—मातृका—कैरोटिड आर्टरी तथा जुगुलर वेन्स।
कृकाटिका—ऑक्सीपिटल वेन्स।
विधुर—पोस्ट ऑरिक्युलर वाहिनियां।
कर्ण—शब्दवाहिनी—एण्टीरियर टिम्पैनिक वाहिनियां।

अपने भारत में ही सिरावेध और रक्तमोक्षण प्रचारित और प्रसिद्ध नहीं रहा यूरोप में भी अनेक देशों में फ्लैबोटोमी के नाम से इसका उपयोग किया जाता रहा है। आजकल भी डाक्टर लोग हाई-ब्लडप्रैशर, रक्तगत विषमयता, फुप्फुसगत रक्ताधिक्य, हृदय के दक्षिण कपाटों के रोग, फुप्फुस शोथादि, मस्तिष्कावरण शोथ में इसका व्यवहार करते हैं।

पश्चात्कर्म

सुश्रुतसंहिता में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और सिरावेध किए गये व्यक्ति को जब तक वह पूर्ण बल प्राप्त न करले तब तक निम्नांकित कार्यों का परिहरण या निषेध बतलाया गया है :—

१. क्रोध करना, २. परिश्रम करना, ३. मैथुन कर्म ४. दिन में सोना, ५. अधिक बोलना (वाग्व्यायाम), ६. सवारी का अधिक प्रयोग (घोड़ा, गधा, ऊंटट्रैक्टर), ७. अध्ययन, ८. अधिक देर तक खड़ा रहना, ९. अधिक देर तक बैठना, १०. बहुत टहलना, ११. शीत का अधिक सेवन, १२. वायु का अधिक सेवन, १३. धूप का अति सेवन, १४. विरुद्धासन, १५. असात्म्य (अलर्जी जिन के प्रति हो ऐसा) भोजन, १६. अजीर्ण करने वाला गरिष्ठ भोजन।

कुछ लोग एक माह तक ही इनका निषेध बतलाते हैं। हमारे मत से जो लोग रक्ताधान के लिए रक्त देते हैं उनको भी इन सबका परिहरण करना चाहिए।

एक वाक्य और लिखकर इस लम्बे लेख को पूर्ण करते हैं :—

> अवगाढे जलौका स्यात् प्रच्छानं पिण्डिते हितम्।
> सिराङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालबू त्वचि स्थिते॥

जब किसी रोगी के शरीर में रक्त गाढ़ा हो जाय तो जलौका लगानी चाहिए। जलौका के मुख का रस हिपैरिन के समान कार्य कर घनास्र या थ्रौम्बोसिस को दूर करता है। कहीं किसी स्थान विशेष में रक्तपिण्ड बन जाय तो प्रच्छान करें। सारे शरीर में रक्त की दुष्टि सिरावेध से निकालें, त्वचा के रक्तदोष को सींगी लगाकर या तुम्बी चढ़ाकर या घटी द्वारा ठीक करें। ★★

अप्रवर्तमानरक्त-चिकित्सा

श्री राजेशकुमार त्रिवेदी, ललितहरि आयुर्वेद कालेज, पीलीभीत

अथ खलु अप्रवर्तमानेरक्ते एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडङ्गचित्रकत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काकुरनक्तमालफलैर्यथालामं त्रिभिश्चतुर्भिः समस्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैलप्रगाढैर्व्रणमुखमवघर्षयेद् एवं सम्यक् प्रवर्तते ॥

—सु० सं० सूत्रस्थान अ० १४

पीछे रक्तमोक्षण कर्म पर विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। रक्तमोक्षण आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक अद्भुत अङ्ग ही नहीं शल्यचिकित्सा का अर्धभाग ही स्वीकार कर लिया गया है। रक्तनिकालना प्राचीनकाल में बहुत उपयोगी माना जाता था। यह कार्य सींगी लगाकर, प्रच्छान करके तुम्बी या ग्लास तोड़कर किया जाता था। इसी के लिए जलौकाओं का भी प्रयोग किया जाता था। सिरा में वेधकर रक्त निकालने के लिए सर्वांगीण शारीरिक दूषण और विषरक्तता में आवश्यक कर्म माना जाता था। यदि सिरा से रक्त अच्छी तरह न निकले या रक्त के अत्यधिक गाढ़ा होने के कारण मुंह जल्दी बन्द हो जाय तो उसे निकालने के लिए व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसी व्यवस्था में भगवान् धन्वन्तरि ने सिरामुख या व्रणमुख पर लगाने के लिए कुछ द्रव्यों की सूची ऊपर के गद्य खण्ड में प्रस्तुत की है। ये द्रव्य निम्नलिखित हैः—

एला—इलायची
शीतशिव—सेंधानमक (हाराणचन्द्र) कर्पूर (डल्हण)
कुष्ठ—सौसूरिया लघा—कूठ कडुआ
तगर—वैलेरियन
पाठा—पाढल
भद्रदारु—देवदारु
विडङ्ग—वायविडङ्ग
चित्रक—चीते की छाल
त्रिकटु—सोंठ, मिर्च, पीपल
आगारधूम—घर का धुंआ
हरिद्रा—हल्दी
अर्कांकुर—आक या मदार की कोपलें
नक्तमालफल—कंजे के बीज

वे सभी द्रव्य कटुरस प्रधान है। इनमें कम से कम ३ या ४ या सभी को लेकर चूर्ण करके इस चूर्ण का स्थानीय उपयोग व्रणमुख या सिरामुख पर मलकर किया जा सकता है। इससे व्रण या सिरा का मुख खुल जाता है और अच्छे प्रमाण में रक्त का स्राव होने लगता है।

अपने इस द्रव्यगुण के अध्ययनकाल में मैं देख रहा हूं कि कहां कश्मीर के ५ हजार फीट ऊंचे घाटी के भाग में कूठ उगता है और कहाँ रेगिस्तान में आक पैदा होता है। हमारे पुराने गवेषक आचार्यों ने द्रव्य के गुणों के ज्ञान हेतु कितना परिश्रम किया होगा, जब किसी भी विषय या रोग पर कार्यकारी उन द्रव्यों की वे खोज कर पाये होंगे, जो ऊंचे पहाड़ की वर्फीली चोटी से लेकर सागर की अगम गहराइयों तक पाये जाते है। मोती, शंख, सीपी, शम्बूक और प्रवाल जहां सागर के तल में मिलते और गोता मार कर खोजे जाते है। कुटकी, कूठ और अतीस के लिये ऊंचे पहाड़ों की शरण जाना पड़ता है वही तगर और जटामांसी, देवदारु और चीड़, तालीसपत्र और हृत्पत्री जीवक और ऋषभक मिलते हैं। समुद्र के तट पर उगे तुवरक से लेकर रेगिस्तान के गूगुल और आक के पेड़ों तक के चिकित्सात्मक उपयोग कर गहन अध्ययन, उसका रस, वीर्य, विपाक, गुण, कर्म, प्रभाव पर विपुल साहित्य हमें उपलब्ध हो जाता है। रक्त को तरल रखने के उपर्युक्त सूची में दिये गये द्रव्य भी उनकी अध्यवसायिता और

गवेषण योजना के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। रक्तमोक्षण कर्म की महत्ता बतलाते हुए भैषज्यरत्नावलीकार लिखते हैं:—

यो न याति शमं लेपस्वेदसेकापतर्पणैः ।
सोऽपि नाशं व्रजत्याशु शोथः शोणितमोक्षणम् ॥

अर्थात् जो कार्य शोथ को दूर करने हेतु लेपन, स्वेदन, सेकादिकर्मों से सम्भव नहीं है वह रक्तमोक्षण से तत्काल सम्भव हो जाता है। और भी आगे लिखा है—

एकतश्च क्रियाः सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः ।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चाति रुक् ॥

एक ओर सारी क्रियाएं या चिकित्साएं हैं और दूसरी ओर रक्तमोक्षण कर्म है क्योंकि रक्त के ही दूषित होने से शोथ और दर्द होता है उसी दुष्ट रक्त को निकाल देने से न शोथ रहता है और न दर्द। इसलिए इससे उत्तम और क्या उपचार हो सकता है।

रक्तज वृद्धि में या रक्त की गांठ पड़ जाने पर उसे मिटाने के लिए जलौका के बार-बार उपयोग का विधान है—

मुहुर्मुहुः जलौकाभिः शोणितं रक्तजे हरेत् ।

कहां-कहां सामान्यतया रक्तमोक्षण किया जा सकता है तथा कितना रक्तमोक्षण करना चाहिए। इन सभी विषयों पर नीचे की पंक्तियां अच्छा प्रकाश डालती हैं—

वातरक्तेऽस्ररोगेषु तथा कुष्ठेऽल्पके भिषक् ।
रक्ते प्रवृद्धे वै कुर्याद् यत्नतो रक्तमोक्षणम् ॥
अशुद्धां बलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत् परम् ।
अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद् दारुणा वातजामयाः ॥

अर्थात् वातरक्त, रक्त के रोगों, क्षुद्रकुष्ठों और रक्त की मात्रा से अधिक बढ़ जाने पर यत्नपूर्वक रक्तमोक्षण करना चाहिए। अशुद्ध रक्त को १ प्रस्थ या ६४ तोले तक निकालने की बृहत्तम या अन्तिम मर्यादा दी गई है। अगर इससे अधिक रक्त निकाल दिया जायगा तो तत्काल मृत्यु हो सकती है या दारुण वातरोग पैदा सकते हैं। आजकल जो ट्रान्सफ्यूजन के लिए रक्त निकाला जाता है वह कम से कम ३०० मिलीलिटर अन्तिम मर्यादा है। यदि २५ मिलीलिटर को १ औंस और १ औंस को २॥ तोला मान लिया जाय तो अन्तिम मर्यादा १००० मिलीलिटर = ४० औंस = १०० तोला होता है। ५०० मि० लि० ५० तोले के बराबर होगा। अतः प्रस्थ में ६२५ मि० लि० तक रक्त खींचने की सामान्य अत्यधिक आयुर्वेदीय मर्यादा बनती है। आज जो फौजियों के लिए या सर्जीकल ऑपरेशनों के लिए रक्त संचित किया जाता है उसके लिए व्यापक पैमाने पर देश में आह्वान किए जाते हैं वे सभी आयुर्वेद सम्मत हैं। हमारी प्रधानमन्त्री इन्दिरा जी के जन्म दिन १९ नवम्बर पर अनेक लोगों ने रक्तदान किया वह सब उनके स्वास्थ्य की वृद्धि में सहायक तो होगा ही आयुर्वेद सम्मत भी है। रक्तदान से कोई खास नुकसान नहीं होता पर किसका और कितना रक्त लेना चाहिए। जो आयुर्वेदीय व्याख्या और निदेशादि दिये हैं उनका भी पालन आधुनिक निदेशों के साथ करना चाहिए।

वातरक्त में रक्तमोक्षण का आदेश है। वातरक्त एक विशेष रोग होता है जिसे गाउट या गठिया की भी संज्ञा दी जाती है। उसमें रक्तमोक्षण से यूरिकाम्ल की अधिकता कम करके लाभ मिलता है। मैं अपनी छात्र सुलभ बुद्धि से वातरक्त का एक अर्थ और भी कर रहा हूं जिसके लिए मुझे मेरे गुरुजन धृष्टता समझ क्षमा करेंगे। हम यह पढ़ चुके हैं कि कोई भी रुजा या वेदना बिना वातः के नहीं होती—वाताद्दते नास्तिरुजा (सु० सू० अ० १७) यदि यह वेदना रक्तवाहिनी नालियों या वाहिनियों में ही हो तो उससे बढ़कर वातरक्त और क्या हो सकता है? इसकी उत्पत्ति भी सुकुमारों में बताई गई है—प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्या हार-विहारणाम्। अव्यवाये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥ इन तथ्यों को देखते हुए। यही नहीं रोग को जो चित्र दिया गया है—

क्षिप्रं रक्तं दुष्टि मायाति तच्च
वायोर्मार्गं संरुणद्ध्याशु यातः ।
क्रुद्धोत्यर्थं मार्गरोधात् स वायुः
अत्युद्रिक्तं दूषयेद् रक्तमाशु ॥
तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन
तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥

उसमें रक्त की दुष्टि के कारण मार्ग का अवरोध हो जाना तथा वायु के अतिकोप से रक्त का दूषित हो जाना और उससे प्रबल वातरक्त का होना एक चलचित्र की तरह वर्णित है। यह वर्णन मेरी क्षुद्र दृष्टि में कौरोनरी थ्रोम्बोसिस तथा अन्य सिराओं या रक्त वाहिनियों की थ्रोम्बोसिस के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

क्योंकि धनास्र के कारण मार्गरोध होता ही है और इनमें इतना भयंकर शूल होता है कि रोगी को छठी का दूध ही याद नहीं होता, मृत्यु भी संमुख खड़ी हो जाती है। इसका विवरण सुश्रुत ने निदान स्थान के प्रथम अध्याय में किया है जो शुद्ध वात के वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। चरक ने ८० वात-विकारों में इसका वर्णन नहीं किया, पर सुश्रुत ने इसे वात के प्रकरण में ही दिया है। उसका असृग्गत वायु का विवरण आधुनिक सैप्टीसीमिया से अधिक मिलता है। सिरागत वायु के लक्षण भी सुश्रुतीय वातरक्त के साथ मेल नहीं खाते। दो प्रकार के वातरक्त उत्तान और गम्भीर होते हैं, इतना अष्टौदरीय में लिखा मिलता है तथा वात व्याधि के बाद चिकित्सा स्थान का पूरा २६ वां अध्याय इसी के लिए चरक ने समर्पित किया है इसमें उसने थ्रौम्बोसिस और गाउट दोनों को मिला दिया है। थ्रौम्बोसिस प्राणनाशक भी हो सकती है—

रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः।
निविश्यान्योन्यमावाध्य वेदनाभिर्हरेद् असून्॥

तथा उस समय रक्त को पतला करने की क्रिया का वह ज्ञान नहीं था जो तब था। इस कारण रक्तमोक्षण पर जोर दिया जाता था—तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्गजलौकः सूच्यलाबुभिः। प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम्। रक्तमोक्षण सटीक नहीं पड़ता था—कुर्यात्तस्मात्प्रमाणेन। क्योंकि रक्त का पतला करना अभिप्रेत था और फिजियोलौजी का वह ज्ञान तब शायद अज्ञात या अल्पज्ञात था। रक्त गाढ़ा हो गया, सिराओं में अवरोध हो गया, मार्ग रुक गया, उस रक्तवाहिनी द्वारा पूर्त अङ्ग में यदि कोलैटरल रक्तपूर्ति की व्यवस्था नहीं हो तो इन्फार्क्शन बन गया, यह कल्पना तब इस शृङ्खला में नहीं थी। मस्तिष्क का धनास्र पैरालाइसिस कर देता है, इसका ज्ञान था कि नहीं पर अवसेचन से रक्त के निकल जाने या न पहुँचने से खञ्जता और अन्य वातरोग हो जाते हैं, इसे वे जानते थे—

खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युं वात्यवसेचनात्।

वे रक्तमोक्षण के कारण इस रोग में वातरोगों की उत्पत्ति मानते थे। रोगी स्वयं भी इसे कर सकता था। इसकी ओर ध्यान नहीं था क्योंकि इस पैथालोजीकल विकार के बारे में सटीक ज्ञान का अभाव था।

हम यहां इस लिंक को जोड़ देना चाहते हैं जो प्राचीनों और नवीनों के बीच अधूरी पड़ी है और वह है रक्त को तरल रखने की प्रक्रिया ताकि रक्तवाहिनी में धनास्र या थ्रौम्बस न बन जाय जो रक्तप्रवाह के मार्ग को रोककर अप्रवर्तमान् रक्तप्रवाह नामक भयंकर स्थिति को पैदा करदे।

इस कारण अप्रवर्तमान रक्त के इस प्रकरण में हम उन सभी द्रव्यों को भी ले लेंगे जिनका उपयोग रक्त के जमने या गाढ़ा होने से रोकना है। आयुर्वेद में जो द्रव्यों के स्थानीय प्रयोग दिये है उनसे कार्य नहीं चलेगा। हां उन द्रव्यों को क्वाथ, चूर्ण, वटिका के रूप में देने से रक्त की वहलता या श्यानता (विस्कोसिटी) कुछ कम की जा सकती है ऐसा विश्वास है, पर इसकी रिसर्च बड़े पैमाने पर की जानी आवश्यक होगी। आज जो द्रव्य रक्त की बहुलता को कम कर उसे तरल रखने के लिए प्रयुक्त होते हैं, वे एण्टीकोएग्यूलेंट कहलाते है। नई वैज्ञानिक हिन्दी में इन्हें प्रतिस्कन्दी या स्कन्दनरोधी द्रव्य कहते हैं। इनके ज्ञान का इतिहास बिलकुल नया है। सन् १६२२ में कनाडा में शोफील्ड ने तथा यूनाइटेड स्टेट्स में १६२६ में रौडरिक ने दूषित स्वीट क्लोवरहे के प्रयोग से रक्तस्रावी प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया था। इस पर रौडरिक, क्विक, कैम्पवैल तथा लिंग ने आगे अलग-अलग अनुसन्धान किया। कैम्पबैल-लिंक ने इस दूषित मधुर क्लोवर या तिनपतिया घास में जो पदार्थ रक्तस्राव का कारण बनता है वह एक कुमेरिन डैरीवेटिव या कुमेरिनव्युत्पन्न होता है। इसे बाद में जब कृत्रिम रूप से प्रयोगशाला में तैयार किया गया तो इसका वैज्ञानिक नाम बिसहाइड्रोक्सी कुमेरिन पड़ा जिसका रचना सूत्र निम्नांकित है:—

CH_2 OH OH
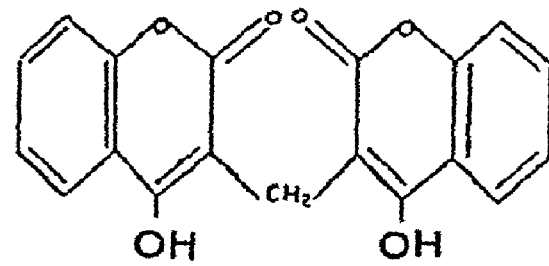
(बिस हाइड्रोक्सीकुमेरिन या डाई कुमरोल)

यह कैसे काम करता है इस तथ्य का पूर्ण ज्ञान तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि रक्तस्कन्दन के

समस्त कारकों का ज्ञान न हो। कुमेरिन देने से रक्तस्कंदी फैक्टर vii घट जाता है। यह स्वतन्त्र प्रोथ्रोम्बीन को कम करता है। प्रोथ्रोम्बीन ही रक्त के जमाने की क्रिया में थ्रोम्बीन वन फिब्रिनोजन को फिब्रिन में वदलती है, जिसे हम रक्तस्कन्दन कहते हैं। प्रोथ्रोम्बीन के घट जाने से प्रोथ्रोम्बीन टाइम जो २०-२५ सेकिण्ड रहता है। यह २० सेकिण्ड या उससे भी कम हो जाता है जिसका अर्थ है सक्रिय प्रोथ्रोम्बीन का पचास प्रतिशत तक घट जाना। कुमेरिन द्रव्य तथा इण्डैण्डियोन द्रव्य फैक्टर ix और x को भी घटा देते हैं जिससे फैक्टर vii और घट जाता है। इन सवका वही प्रभाव पड़ता है जो विटामिन—के का कमी का होता है। यदि विटामिन—के शरीर में पहले से संचित हो या भोजन के विटामिन—के युक्त द्रव्यों को पर्याप्त मात्रा में लेते रहा जाय तो कुमेरिन आदि प्रतिस्कन्दी द्रव्यों का प्रभाव घटाया जा सकता है। इस वैज्ञानिक तथ्य का उपयोग वैद्य भी रक्तमोक्षण कर्म करते समय कर सकते हैं। जिन आहार द्रव्यों में विटामिन—के होता है उनका उपयोग रक्तमोक्षण काल में न कराया जाय। विटामिन—के हरी पत्तियों वाले शाकों में खूब होता है। पालक, अल्फाफा और पत्रगोभी या फूलगोभी के पत्तों में पाया जाता है। आयुर्वेद में जो निघण्टु भाग में रक्तपित्तनाशक द्रव्य वतलाये गये हैं उनमें अनेक विटामिन—के से भी युक्त होते हैं। विटामिन—के स्नेह में घुलनशील द्रव्य होने से यदि उसकाल में घी तैल वसा की मात्रा न ली जाय तो रक्तमोक्षण कर्म सरल रहता है। अगर किसी व्यक्ति को प्रतिस्कन्दी द्रव्यों का मुख द्वारा सेवन कराया जा रहा हो, यदि उसे तभी एस्पिरिन खिला दी जाय तो उसे रक्तस्राव शुरू हो सकता है। क्विक ने १९६६ में यह हिदायत दी है कि प्रतिस्कन्दी द्रव्यों के प्रयोग से पूर्व व्यक्ति का एस्पिरिन टौलरेंस टैस्ट कर लेना चाहिए।

कुमेरिन के द्वारा रक्तस्राव तभी होता है जब प्रोथ्रोम्बीनकाल अपने स्वाभाविक समय से ढाई गुना अधिक वढ़ जाय। पर देखा यह जाता है कि जैसे ही प्रोथ्रोम्बीन टाइम २० सेकिण्ड से ऊपर वढ़ा कि रक्तस्राव चालू हो सकता है। कभी-कभी देखा यह जाता है कि प्रतिरक्तस्कन्दी (एण्टीकोएग्यूलैन्ट) द्रव्यों के सेवन काल में जरासी चोट लगने से ही रक्तस्राव हो जाता है। यही नहीं, अगर कहीं सुप्त पड़ा हुआ आमाशय व्रण हो तो वह फूट निकलता है और उससे रक्तस्राव चालू हो जाता है। किसी-किसी को यदि कहीं दुर्दम अर्वुद या कैंसर वन रहा हो उससे रक्तस्राव होने लगता है। रक्तमेह या हीमेच्यूरिया तक शुरू हो जाता है। पर यह होता तभी है जब थोड़ा भी आघात वृक्कों में हो। एक दिलचस्प तथ्य यह भी देखा गया है कि इन द्रव्यों से प्रायः नाक से या जोड़ों में या गहराई की पेशियों में रक्तस्राव नहीं होता। कोई भी कुमेरिन द्रव्य रक्तस्राव उत्पन्न करने में २४ घण्टे ले लेता है। पर यदि उसे विटामिन—के दे दिया तो वह उसे ४ घण्टों में सुधार सकता है।

जिन व्यक्तियों को शस्त्रकर्म के वाद थ्रोम्वो फ्लेवाइटिस (सिराघनास्र शोथ) हो गया हो या फेफड़ों में इन्फार्क्शन हो उनमें कुमेरिनों को हिपैरिन के साथ देते हैं, पर जिन लोगों को रक्तपित्त नामक रोग हो अर्थात् वे किसी भी कारण से किसी भी स्थान से रक्तस्रवित होने के रोगी हों उन्हें कुमेरिन द्रव्य कदापि किसी भी हालत में नहीं देना चाहिए।

कुमेरिन द्रव्य देने के पूर्व प्रथम-स्टेज प्रोथ्रोम्बीन अवधि का ज्ञान लैवोरेटरी द्वारा लेना चाहिए। अगर यह अवधि स्वाभाविक (नौर्मल) हो तो पहले दिन मिग्रा प्रति किलो के हिसाव से २०० से ३०० मिग्रा तक विसहाइड्रोक्सी कुमेरिन) मुख द्वारा दे सकते हैं। दूसरे दिन अगर यह अवधि ५० प्रतिशत वढ़ गई हो तो कुल १०० से २०० मिग्रा तक ही इसका सेवन कराया जाय। तीसरे दिन तथा और आगे भी यदि यह अवधि स्वाभाविक से दूने से भी अधिक समय की हो गई हो तो दवा वन्द भी की जा सकती है या ५०—७५ मिग्रा से अधिक प्रतिदिन इसे नहीं देना चाहिए। इस दवा के सेवन काल से पेशाव का रंग वरावर देखा जाना चाहिए। यदि वह लाल हो जाय या मूत्र परीक्षा पर रक्तमेह मिले तो औषध प्रयोग तुरत रोक देना चाहिए। सन् १९४७ में २३०७ सर्जीकल और मेडिकल रोगियों को जव कुमेरिन दी गई तो कुल २ प्रतिशत को ही उनके घावों से रक्तस्राव हुआ। सिराघनास्र के ३५२ रोगियों में इसके प्रयोग से आगे

सिराघनास्र का रोग ८८ में ९ के अनुपात में रह गया। अतिशीत के कारण जहां फ्रोस्ट वाइट होकर रक्त जमने लगता है और गेंग्रीन हो जाती है वहां भी कुमेरिन से पर्याप्त लाभ होता है ऐसा अनुभवी डाक्टरों का अभिमत है। बिसहाइड्रोक्सी कुमेरिन घनास्र प्रतिषेध में बड़ी कामयाव सिद्ध होती है। वाइज ने १२००० रोगियों का डेटा दिया है जिन्हें शस्त्रकर्मोपरान्त यह दवा दी गई थी और उसके कारण शस्त्रकर्मोत्तर काल में सिराघनास्रोत्कर्ष बहुत कम होते हुए देखे गये।

विद्वानों ने हृदय के रोग कोरोनरी थ्रोम्बोसिस तथा मायोकार्डियल इन्फार्क्शन में प्रतिस्कन्दी द्रव्यों का व्यापक रूप से प्रयोग किया और पाया कि इनके कारण यह बहुत घट गया है मृत्युदर भी अपेक्षाकृत काफी कम पाई गई है। यही नहीं और्वी सिरा के घनास्रोत्कर्ष में जिन कुत्तों को कुमेरिन दी गई उनके घनास्रों का गलन होकर रक्तप्रवाह का मार्ग बनता चला गया जिसे रिकैनेलाइजेशन कहते हैं। ऐसा ही मार्ग शशकों के कान की सिराओं में जिनमें प्रयोगात्मक विधि से घनास्र पैदा किया गया था बनता चला गया। इन सब प्रयोगों के द्वारा प्राप्त अनुभव के आधार पर कौरोनरी वाहिनियों में या अन्यत्र कहीं भी रक्त वाहिनियों में रक्त जमने की या घनास्र बनने की प्रवृत्ति पाई जाने लगी हो उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अक्सर हमें यह सुनने को मिला है कि रोगी घनास्र से या कौरोनरी थ्राम्बोसिस से पीडित है और उसे पालक दिया जा रहा है इससे तो घनास्र और शीघ्र बनेगा इसलिए कुपथ्य क्या है? इसका भी ध्यान रखकर चिकित्सा की जानी चाहिए। खासकर शस्त्रकर्म जिन पर किया जा चुका हो उन रुग्णों में रक्त जमने वाली दवाएं नहीं दी जानी चाहिए।

कुमेरिन द्रव्यों से जो चिकित्सात्मक औषधियां बाजार में मिलती हैं उनमें कुछ ये हैं:—

१. ट्रोमेक्सन या इथाइल विस्कूमेसीटेट—यह कृत्रिम रूप से तैयार किया गया द्रव्य है। इसका प्रभाव विस हाइड्रोक्सीकुमेरिन जैसा ही है।

२. वार्फरिन सोडियम—यह भी एक कृत्रिम निर्मित दवा है। यह बहुत जल्दी प्रोथ्रोम्बीन लैविल कम कर देती है।

३. फैनप्रोकाऊमोन—इसे मर्कुमार या लीकुआमार भी कहते हैं। इसके प्रयोग से प्रोथ्रोम्बीन की मात्रा रक्त में काफी समय तक कम रखी जा सकती है।

४. सिन्ट्रोम—या ऐसिनोकुमारोल बहुत प्रसिद्ध दवा है। इस दवा के सूत्र में क्लोरेम्फेनिकोल की तरह एक नाइट्रो ग्रुप भी होता है—

इसका पूरा वैज्ञानिक नाम है [३—(एल्फा—ऐसिटोनिल—नाइट्रो बेंजाइल)—४—हाइड्रोक्सीकुमेरिन]

यह एक श्वेत क्रिस्टलीय चूर्ण है जो जल में थोड़ा ही घुलता है। यह संयुक्तराज्य अमेरिका में तैयार किया गया था। यह शीघ्र ही फैक्टर vii को घटाता और प्रोथ्रोम्बीन लैविल कम करता है। पर ट्रोमेक्सन की तरह इसका विघटन न होकर यह ज्यों का त्यों वृक्कों से मूत्र में निकल जाता है। यह ट्रोमेक्सन तथा विसहाइड्रोक्सी-कुमेरिन इन दोनों से उत्तम द्रव्य है। इसकी मात्रा यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग निर्धारित करनी पड़ती है। पर जो मात्रा स्थिर कर दी जाती है उसे उसी अनुपात में बार-बार देते रहना शक्य है। यह बड़ी जल्दी उत्सर्गित हो जाता है। रूलो द्वारा १०० रोगियों को सिनट्रोम देने पर केवल ५ में रक्तस्राव हुआ था।

ये ऊपर सब कुमेरिन द्रव्य दिये गये हैं। नीचे रक्त-स्कन्दनरोधी इण्डैनियोडोन्स का नामोल्लेख किया जा रहा है। ये द्रव्य कुमेरिनों से जल्द रक्त का जमना रोकते हैं और उन पर जल्दी ही नियन्त्रण किया जा सकता है। ये हैं—

५. हैड्यूलिन या फेनिण्डियोन—बंगाल इम्यूनिटी की विन्दन भी यही दवा है। विन्दन की प्रति गोली में ५० मिग्रा फेनिण्डियोन मिलता है। वायोलोजिकल इवान्स की डिंडेवन में भी इतनी ही मात्रा में फेनिण्डियोन है। इस दवा के द्वारा उत्पन्न रक्तस्राव विटामिन—के से आसानी से ठीक किया जा सकता है। विन्दन के प्रयोग से २८ घण्टे के अन्दर अधिकतम हाइपोप्रोथ्रोम्बीनीमिया (अल्प प्रोथ्रोम्बिन रक्तता) पैदा की जा सकती है। इसे आरम्भ में २००-३०० मिग्रा देकर बाद में इसकी धारण मात्रा ५०-१०० मिग्रा की है। यद्यपि इस दवा से यकृत् या वृक्क में कोई हानि अभी तक ऐसी हुई नहीं बताई गई पर अग्रैन्युलोसाइटोसिस (कणीश्वेतकोशिकाहीनता)

होने की खबर कुछ गवेषक दे रहे हैं। उनका कहना है कि इसके कारण मृत्यु भी संभव है। इस कारण अब कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि इस दवा का कुमेरिनों से बढ़कर महत्त्व आंकना एक प्रश्न बन रहा है। तथा उनका कहना है कि जिनको कुमेरिन-द्रव्य असात्म्य हों केवल उन्हें ही हैड्यूलिन देना उचित होगा।

इसी वर्ग के दो द्रव्य डाईफेनेडियोन (डाईपैक्सीन) तथा अनीसीडियोन (मिराडों) हैं।

इन सभी प्रतिस्कन्दी दवाइयों के २ वर्ग बनते हैं। एक वे जो देर तक अपना प्रभाव रखते हैं जिनमें सिंट्रोम आता है। दूसरे वे द्रव्य हैं जो शीघ्र कार्य करते हैं इनमें ट्रोमैक्सन तथा फेनिण्डियोन आते हैं। विसहाइड्रोक्सी कुमेरिन का स्थान बीच में है। इन सभी दवाओं में प्रोथ्रोम्बीन टाइम प्रतिदिन दिखलाना पड़ता है जो बहुत कष्टसाध्य लैबोरेटरी प्रविधि है। यह अवधि २॥ गुने से अधिक न बढ़े इसके लिए चिकित्सक को बराबर तैयार रहना पड़ता है।

हिपारिन

हिपारिन मास्ट कोशिकाओं से उत्पन्न होती है। उन्हीं से हिस्टेमिन भी निकलती है। यह न तो एक प्रतिस्कन्दी है न एण्टीथ्रोम्बेन ही है और न यह शुद्ध फाइब्रिनोजन के जमने को ही रोक पाती है इसी प्रकार इसे एण्टीप्रोथ्रोम्बीन भी नहीं कह सकते क्योंकि इसकी उपस्थिति में प्रोथ्रोम्बीन थ्रोम्बीन में बदल जाता है। फिर यह कैसे रक्तस्कन्दन रोकती है यह एक प्रश्न है जिसे गवेषकों ने हल किया है। उनका कहना है कि यह रक्तरस या प्लाज्मा की प्रोटीन अल्ब्युमिन के आल्फा अल्ब्युमिन के साथ मिलकर एक कम्प्लैक्स तैयार करती है जिसके कारण यह थ्रोम्बीन विरोधी एक सशक्त क्रिया करती है जिससे उसकी स्कन्दनरोधी क्रिया उत्पन्न होती है जिससे आतंचनकाल (क्लॉटिंग टाइम) बढ़ जाता है। रक्त में साधारणतया हिपैरिन स्वतन्त्ररूप में नहीं पाई जाती तथा जब प्रयोगात्मक जीव के रक्त में थ्रोम्बीन की बड़ी मात्रा प्रविष्ट कर दी जाती है तब भी हिपैरिन उसका प्रतीकार करने की दृष्टि से रक्तधारा में नहीं पाई जाती। रक्तवाहिनियों के रक्त के जमने को (इण्ट्रावैस्क्युलर क्लॉटिंग) भी यह रोक सकती होगी इसमें भी सन्देह विद्वानों को है। इतना सब ज्ञान होने पर भी इसका चिकित्सात्मक उपयोग निम्नांकित परिस्थितियों में किया जाता है:—

१. उन शस्त्रकर्मों के करते समय जब रक्त की द्रवावस्था यथावत् रखना आवश्यक होता है।

२. रक्ताधानकाल में आतंचन (क्लॉटिंग) रोकने के लिए।

३. शस्त्रकर्मोत्तर (पोस्ट ऑपरेटिव) घनास्र का बनना रोकने के लिए।

४. सिराशोथ, सिराघनास्र, फुफ्फुसीय ऋणास्रण (इन्फार्क्शन) रोकने के लिए या जब गर्भ में ही बच्चे की मृत्यु हो जाय तब माता के रक्त में फाइब्रिनोजिन की कमी दूर करने के लिए, उन सभी अवस्थाओं में जहां वाहिनी के अन्दर गुप्त आतंचन रोकने के लिए।

५. पर्प्यूरा फल्मीनेंस (घातक रक्तचित्तिता)।

६. औटोइम्प्यून हीमोलाइटिक अनीमिया।

हिपैरिन एक प्रकार का सल्फेटेड म्यूकोपौली सैकराइड है। यह रक्त की उपस्थिति में थ्रोम्बीन के निर्माण को रोकती है। इसके कारण रक्त का आतंचनकाल बढ़ जाता है। रक्तवाही संस्थान, मस्तिष्क और दृष्टिपटल की केन्द्रिय सिरा की सर्जरी या शल्यक्रिया में हिपैरिन की उपयोगिता अब बढ़ रही है। हिपैरिन का रक्त में इञ्जैक्शन लगाते ही रक्त की बहलता घट जाती है यही नहीं आतंचनकाल जब अपने स्वाभाविक रूप को प्राप्त हो जाता है फिर भी यह बहलता (विस्कोसिटी) घटी हुई ही रहती है। हिपारिन रक्तबिम्बाणुओं (प्लेटलैट्स) के चिपकने को भी कम कर देती है। इन सब कारणों से तथा इसके एक प्रतिस्कन्दी द्रव्य होने के फलस्वरूप इसका उपयोग घनास्र-अन्तःशल्यजन्य रोग तथा घनास्र सिराशोथजन्य रोग में खूब होता है। हिपैरिन का प्रतिस्कन्दी कार्य इसके अत्युच्च नास्त्यात्मक चार्ज के कारण होता है। इसके लिए कई अन्तःक्रियाएं भी जिम्मेदार होती हैं खासकर थ्रोम्बोप्लास्टीन के निर्माण, थ्रोम्बीन के निर्माण तथा थ्रोम्बीनस्ववृत्ति सम्बन्धी अन्तःक्रियाओं के संदमन में हिपारिन बहुत बड़ा भाग अदा करती है।

हिपारिन के कारण बिम्बाणुओं के आपस में न चिपकने के कारण यह फाइब्रिनसंलापी क्रिया को प्रवल वनाती है।

हिपारिन का एक कार्य-रक्त से स्नेहांश को साफ करना भी है। यदि कोई व्यक्ति अधिक स्निग्ध भोजन ले ले तो उसे अति स्निग्ध रक्तता या हाइपरलाइपीमिया हो जाता है। हिपारिन का सिरा में प्रवेश करने के वाद और रक्त का परीक्षण करते रहने पर, यह देखा जाता है कि रक्तरस से वसा या लाइपिडों की काफी मात्रा में कमी हो जाती है।

जिन लोगों को वहुत सर्द जलवायु में काम करना पड़ता है उन्हें हिमदंश से बचाने के लिए हिपारिन लाभ-प्रद मानी जाती है। ऐसे रोगियों को शोथ होने से भी बचाया जा सकता है। रूस में इतनी सर्दी पड़ती है कि सारा शरीर ढका होने पर भी यदि नाक खुली रह गई तो उसका रक्त जम जाता और वह गैंग्रीन (कोथ) युक्त होकर गल जाती है। ऊंचे पहाड़ों पर हाथ पैर की अंगुलियां गल जाती हैं जिसे हिमदंश कहते हैं या वहां कोथ हो जाता है। ऐसे रोगियों में रक्त के सदा प्रवर्तमान रहने की आवश्यकता है १६५१ में थीस ने आतंचनकाल (को एग्यूलेशन टाइम) दुना करने के लिए पर्याप्त मात्रा में हिपारिन देने और साथ में विसहाइड्रोक्सीकुमेरिन भी देने का सुझाव दिया था।

हिपारिन तथा अन्य प्रतिस्कन्दी द्रव्यों का साथ-साथ प्रयोग दाहिनी ओर के हृद्भेद (कंजैस्टिव हार्ट फेल्योर) में विद्वानों ने किया है इससे सिराघनास्रता नहीं होती। हिपारिन के अन्तःसिरा में प्रवेश होते ही लाइपेज की क्रिया बढ़ जाती है और रक्त से स्नेहांश साफ होने लगता है जैसा पहले इङ्गित किया जा चुका है जो यह प्रकट करता है कि हिपारिन का लाइपो-प्रोटीन मेटावोलिज्म पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है।

यदि आयुर्वेदिक दृष्टि से इन गुणों का विचार किया जाय तो यह रूक्ष, क्यों कि स्नेहांश को हटाती है उष्ण-वीर्य क्योंकि यह रक्त को तरल करती है और उसका स्कन्दन रोकती है कफघ्न मानी जायगी।

आजकल औषध रूप में हिपारिन सोडियम का घोल मिलता है जिसके प्रति मिलिलिटर में १० मिलिग्राम यह पदार्थ होता है। केवल १ मिलि. के प्रयोग से ५ लिटर रक्त का ३७° सेण्टीग्रेड ताप पर ४ घण्टे के लिए रुक जायगा यह विद्वानों का मत है। इसे सैलाइन में मिला ड्रिप विधि से सिरा में चढ़ाते हैं। १० मिग्रा हिपारिन १०० मिलि. सैलाइन के हिसाब से दी जाती है। मात्रा ५० मिग्रा की है। प्रति मिलीग्राम हिपारिन में १०० यूनिट दवा मानी जाती है। इस प्रकार ५० मिग्रा धीरे-धीरे रक्त में पहुँचा देने से रक्त का आतंचन काल जो प्राकृत रूप में ४-५ मिनट का होता है १५ से ३० मिनट का हो जाता है यह स्थिति २ घण्टे तक वनी रहती है। वाद में हिपारिन निष्क्रिय होकर मूत्रमार्ग से निकल जाती है। यकृत् में एक ऐंज़ाइम हिपारीनेज इसे निष्क्रिय करता है वाद में यह उत्सर्जित होती है। यह निष्क्रियन ३ घण्टे में ५० प्रतिशत तक होता है। आरम्भ के २ दिन तक रोगी को १० से १५ मिग्रा हिपारिन प्रति घण्टे के हिसाब से आवश्यकता पड़ सकती है वाद में ५ से १० मिग्रा की मात्रा प्रति घण्टा काफी रहती है। इसकी कितनी आवश्यकता होती है इसका ज्ञान प्रत्येक रोगी के आतं-चन काल को देखकर किया जाता है। आतंचनकाल दिन में २-३ बार चैक किया जाना चाहिए।

हिपारिन मुख द्वारा लेने पर कोई कार्य नहीं करती। इसकी एक रिपोजीटरी फॉर्म भी उपलब्ध है जिसे सव-क्युटेनियस मार्ग (त्वचा के नीचे) देते हैं इसमें जिलैटिन मिली होने से इसका धीरे-धीरे शोषण होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुसन्धान और विद्या के क्षेत्र में जो चिकित्सा विद्या केन्द्र भगवान् धन्वन्तरि ने काशी में खोला था जिसमें सुश्रुत ने विद्याध्ययन किया था वह अव कितने विद्या केन्द्रों में विश्वभर में फैल चुका है जहां मोंकहाउस, डीटकैट्स, जोर्प्स, जैक्स, डोलोविट, डफेर्टी, लेक्वाइर, व्लॉक, ग्रैग्स्तैत, ऐंजिलवर्ग, वैस्ट, मैकलीन, विवक समय-समय पर अपने अनुसन्धानों से विद्या प्रकाश फैलाते रहे हैं।

प्रकृति में हिपारिन मनुष्य के फेंफड़ों में ११०००० यूनिट प्रति किलोग्राम वैलों के फेंफड़ों में २ लाख यूनिट, श्वानयकृत् में २ लाख ७० हजार यूनिट, श्वान के मास्टो-सायटोम में ६ लाख ५० हजार यूनिट तथा समुद्री स्नेलों में जब कि उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं मालूम होती ५ लाख ३० हजार यूनिट तक मिलती है। ★★

अतिप्रवृत्त रक्त-चिकित्सा

डा० जगदीशकुमार त्रिवेदी, बी० ए० एम० एस०, प्रभारी चिकित्सा अधिकारी
राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय, महावन, मथुरा

सुश्रुत शल्य चिकित्सांक के विषय निर्धारण में हमें अति प्रवृत्तरक्त चिकित्सा का विषय दिया गया है उसी पर हम विचार करेंगे। इससे पूर्व यह बतलाया गया है कि रक्त को जमने से कैसे रोका जा सकता है। रक्त के जमने से क्या हानियां होती हैं। अब इस प्रकरण में हम यह बताने का यत्न करेंगे कि पहिले रक्त को कैसे गाढ़ा किया जाय तथा रक्तस्राव को कैसे रोका जाय। शस्त्रकर्म करते समय अधिक रक्त का निकलना भी उतना ही खतरनाक है जितना कि शस्त्र कर्म के बाद खून की नालियों में रक्त का जम जाना। स्वास्थ्य इन दोनों के बीच में स्थित रहता है। जब आवश्यकता हो रक्त जम जाय, जब या जहां न आवश्यकता हो वहां न जमे। सामान्यतया सिराकट जाने पर रक्त को तुरत जम जाना चाहिए पर सिरा के अन्दर कदापि नहीं जमना चाहिए। हम इस प्रकरण में रक्त के जमने या आतंचित होने की पूरी प्रवधि यहां प्रकट करेंगे। यह प्रविधि सरल न होकर बड़ी जटिल है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने रक्त आतंचन के लिए १३ फैक्टरों को जिम्मेदार ठरहाया है :—

i. (प्रथम फैक्टर) यह फाइब्रिनोजन कहलाता है।

ii. (द्वितीय फैक्टर) यह प्रोथॉम्बीन कहलाता है।

iii. (तृतीय फैक्टर) यह थ्रॉम्बोप्लास्टीन कहलाता है

iv. (चतुर्थ फैक्टर) कैल्शियम है।

v. (पंचम फैक्टर) इसे एसी ग्लोब्यूलिन कहते हैं

vi. (षष्ठ फैक्टर) इसे ऐक्सीलरीन कहते हैं।

vii. (सप्तम फैक्टर) इसे सीरम प्रोथ्रॉम्बीन कन्वर्शन ऐक्सीलरेटर या S P C A कहते हैं।

viii. (अष्टम फैक्टर) इसे एण्टी हीमोफिलिक ग्लोब्यूलिन A H G या एण्टी हीमोफिलिक फैक्टर A कहा जाता है।

ix. (नवम फैक्टर) यह प्लाज्मा थ्रॉम्बोप्लास्टीन कम्पोनेंट P T C या एण्टी हीमोफिलिक फैक्टर B है इसे क्रिसमस फैक्टर भी कहते हैं।

x. (दशम फैक्टर) स्टुअर्ट-प्रोवर फैक्टर है।

xi. (ग्यारहवां फैक्टर) यह एण्टीहीमोफिलिक फैक्टर C या प्लाज्मा थ्रॉम्बोप्लास्टीन एण्टिसिडेंट P T A कहलाता है।

xii. (बारहवां फैक्टर) यह हैजिमेन फैक्टर है।

xiii. (तेरहवां फैक्टर) इसे फाइब्रिन स्टैबिलाइजिंग फैक्टर कहते हैं ।

इन फैक्टरों को नई हिन्दी में कारक नाम दिया गया। रक्त जमाने में फिजियोलोजी के विद्वानों ने छठे फैक्टर को छोड़ शेष सभी को आवश्यक माना है ।

जब किसी सिरा से रक्त निकाला जाय और उसे एक परख नली में डाल दिया जाय तो वह कमरे के सामान्य तापमान पर ५ मिनट के अन्दर जम जाता है। इसका प्रमाण यह होता है कि अगर परख नली को अब उलट दिया जाय तो रक्त की एक बूंद भी नीचे नहीं गिर पाती । रक्त जमने मे लगे समय को आतंचन काल या कोएग्यूलेशन टाइम कहा जाता है। यह काल सामान्यतया ३ से ५ मिनट का होता है। इस काल पर गर्मी सर्दी का भी बहुत प्रभाव पड़ता है।

अगर किसी आतंच या क्लॉट को माइक्रोस्कोप के नीचे रखकर देखें तो उसमें विषमतया फैले हुए फाइब्रिन के डोरे या सूत्र मिलते हैं जिनका एक जाल सा बन जाता है इस जाल के छेदों में निर्मित पदार्थ (कोशिकाएं) भर जाती है। लालकण उस आतंच को लालरंग दे देते है। ये कोशिकाएं आतंचन (कोऐग्युलेशन) के लिए आवश्यक नहीं मानी जातीं । क्यों कि लालकणों श्वेतकणों और बिम्बाणुओं से रहित शुद्ध रसधातु (प्लाज्मा) को ३ से ५ मिनट में पूर्णतः जमाया जा सकता है। यह फाइब्रिन जिसके डोरों का जाल आतंचन का अधिष्ठाता है रक्त में अपने रूप में कभी भी नहीं पाई जाती । इसे उसका पूर्ववर्ती घुलनशील पदार्थ फाइब्रीनोजन जो प्राकृत रक्त में उपस्थित रहता है उत्पन्न करता है। यह पदार्थ यकृत् द्वारा तैयार किया जाता है। इसी को ऊपर प्रथम फैक्टर (i)-बतलाया गया है ।

जो पदार्थ या फैक्टर फाइब्रिनोज को जमाता है वह थ्रॉम्बीन कहलाता है। थ्रांम्बीन एक ऐंझाइम होता है जो अपने से सैकड़ों गुना भारी फाइब्रिनोजन को जमाने (आतंचित करने) की सामर्थ्य रखता है। यह थ्रॉम्बीन भी भ्रमण करते हुए रक्त में नहीं पाई जाती । इसके स्थान पर इसका एक पूर्वगामी रक्त में पाया जाता है जिसे प्रोथ्रॉम्बीन कहते है। जिसे ऊपर द्वितीय फैक्टर (ii) कहा जा चुका है। प्रोथ्रॉम्बीन को थ्रॉम्बीन में बदलने के लिए थ्रॉम्बोप्लास्टीन या तृतीय फैक्टर (iii) तथा कैल्शियम या चतुर्थ फैक्टर (iv) के आयनों की आवश्यकता पड़ती है । थ्रॉम्बोप्लास्टीन की उपलब्धि शरीर में बाहर (ऊतको) से अथवा अन्दर (प्लाज्मा) से हो सकती है। बाहरी और भीतरी थ्रॉम्बोप्लास्टीनें एक दूसरे से कुछ भिन्न होती है तथा दोनों का प्रोथ्रॉम्बीन पर प्रभाव अप्रत्यक्ष या इन्डाइरैक्ट होता है अर्थात् वह पदार्थ जो प्रोथ्रॉम्बीन को थ्रॉम्बीन मे बदलता है उसका निर्माण विविधि ऐंझाइमों की प्रतिक्रियाओं द्वारा रक्त के अन्दर ही हो जाता है तथा इन्ही प्रतिक्रियाओं मे ऊतको की थ्रोम्बोप्लास्टीनें भी एक इण्टरमीडिएट स्टेज पैदा करती है ।

प्रोथ्रॉम्बीन को थ्रॉम्बीन मे बदलने के लिए बाहरी थ्रॉम्बोप्लास्टीनों को कैल्शियम के आयनों के अलावा प्लाज्मा के अन्दर उपस्थित ग्लोब्यूलिन के तीन फैक्टरों की आवश्यकता पड़ती है। ये फैक्टर v, vii और x कहलाते है। फैक्टर v ताजे प्लाज्मा में तो मिलता है, पर सीरम के अन्दर नहीं होता। फैक्टर vii और x दोनों ही सीरम के अन्दर काफी मात्रा में पाये जाते है। ये तीनों फैक्टर अगर न रहे तो भी रक्त के जमने बहुत देर लगती है, इसलिए इन तीनों को प्रोथ्रॉम्बीन-उत्तेजक या प्रोथ्रॉम्बीन के ऐक्सीलरेटर कहा जाता है। बाहरी थ्रॉम्बोप्लास्टीनें या ऊतक थ्रॉम्बोप्लास्टीनें मस्तिष्क, फुफ्फुस, अपरा और वृषणों के नमकीन सत्वों (सैलाइन ऐक्स्ट्रैक्ट्स) में खूब पाई जाती हैं। अगर इन नमकीन सत्वों में से किसी को प्राकृत प्लाज्मा के अन्दर डाल दिया जाय तो कुछ सैकिण्डों में ही वह जम जाता है। अगर किसी कारण से चाहे वह कारण सहज हो या बाद में अर्जित किया हो, फैक्टर v, vii और x में से किसी एक,

दो या सबकी कमी हो जाय तो रक्त का आतञ्चन बहुत देर में हो पाता है। इस सबके लिए प्रोथ्रॉम्बीन टैस्ट लैबोरेटरियों में किया जाता है।

अन्दरूनी थ्रॉम्बोप्लास्टीनों के द्वारा रक्त जमाया जा सकता है पर उनके उत्पन्न करने के लिए फैक्टर ix, कैल्शियम के अयनों, फैक्टर viii, बिम्बाणुओं के एक फैक्टर, फैक्टर v तथा फैक्टर x की आवश्यकता पड़ती है। फैक्टर ix को उत्तेजित करने के लिए भी फैक्टर xii तथा फैक्टर xi की जब से भिगोये जा सकने वाले धरातल पर आवश्यकता पड़ती है। अगर यह संपर्क स्थापित न किया जा सका तो ऐसे व्यक्तियों का रक्त कांच की पट्टी पर रखने पर जमता ही नहीं, वैसे इन व्यक्तियों के रक्त में आतञ्चन के सभी गुण होते हैं। इसके कारण विद्वानों को थ्रॉम्बोप्लास्टीन जैनरेशन टैस्ट को लैबोरेटरी में करने का उपाय ढूंढना पड़ा।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण अनुसन्धानों द्वारा और भी बहुत ज्ञान इस विषय में किया जा चुका है जिसके द्वारा भोगि-सर्पविष (वाइपर वेनम) फैक्टर x का विशिष्ट उत्तेजक है, यह पता लगा है जो उसे प्रोऐंज़ाइम से ऐंज़ाइम में बदलता है। शरीरस्थ फैक्टर ix, फैक्टर xi को उत्तेजित कर ऐंज़ाइम का काम करता है जो फैक्टर viii के साथ मिलकर फैक्टर x को उत्तेजित करता है। आतञ्चन की इन सभी प्रतिक्रियाओं को आतञ्चनधारा (कोऐग्यूलेशन कैस्केड) नाम दिया जा रहा है। इस धारा के द्वारा अनेक ऐंज़ाइमैटिक प्रतिक्रियाएं होती हुई थ्रॉम्बीन का निर्माण करती है जो फाइब्रीनोजन को फाइब्रिन में बदल देती अर्थात् रक्त को आतञ्चन कर देती है। इस धारा के बिम्बाणु फैक्टर जो एक फॉस्फोलिपिड है, की क्या स्थिति है तथा फैक्टर v ही अन्तिम ऐंज़ाइमाधार (फाइनल सब्स्ट्रेट) है यह केवल अनुमानगम्य ही इस समय तक है। इसी प्रकार बाहरी थ्रॉम्बोप्लास्टीनों के लिए इतना महत्वपूर्ण माना जाने वाला फैक्टर vii का अन्दरूनी थ्रॉम्बोप्लास्टीनों से सीधा कोई सम्बन्ध है, यह भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि इस फैक्टर की कमी होने से थ्रॉम्बोप्लास्टीन जेनरेशन टैस्ट ठीक होने पर भी प्रोथ्रॉम्बीन टाइम बढ़ जाता है।

फैक्टर x तथा v दोनों का सम्बन्ध बाहरी और अन्दरूनी थ्रॉम्बोप्लास्टीनों के साथ होता है। यह भी ध्यान रहे कि बाहरी थ्रॉम्बोप्लास्टीनों की बैल डैविडसन स्कारबरो के ग्रन्थ के मत से वही क्रियाएं होती हैं जिन्हें सम्मिलित रूप से बिम्बाणु फैक्टर, फैक्टर viii और फै० x मिलकर करते हैं। हीमोफिलिया तथा क्रिसमस रोग ये २ ऐसे भयानक रक्तपित्त हैं जिनके अन्दरूनी थ्रॉम्बोप्लास्टीनों का निर्माण बहुत घट जाता है। जबकि वन-स्टेज प्रोथ्रॉम्बीन टाइम प्राकृत रहता है। फै० viii या ix या xi की कमी होने पर भी अन्दरूनी थ्रॉम्बोप्लास्टीन बहुत कम हो जाती है। अन्त में फै० viii की कमी होने से सारी परीक्षाएं प्राकृत (नॉर्मल) होने पर भी फाइब्रिन का आतञ्च ३० प्रतिशत यूरिया के घोल में घुल जाता है जब कि सामान्य आतञ्च नहीं घुलता। बिम्बाणुओं की कमी हो या फै० ix या फै० x कम हो तो प्रोथ्रॉम्बीन का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाता। इसके लिए एक प्रोथ्रॉम्बीन उपयोग परीक्षा की जाती है। जब रक्त प्राकृत अवस्था में हो तो वह जब जमता है तो उसकी समस्त प्रोथ्रॉम्बीन सीरम से १ घण्टे के अन्दर लुप्त हो जाती है, पर यदि अन्दरूनी थ्रॉम्बोप्लास्टीन में कोई कमी हो तो प्रोथ्रॉम्बीन का पूरा-पूरा उपयोग १ घंटे के अन्दर नहीं होपाता। १ घण्टे के बाद कितनी प्रोथ्रॉम्बीन बच गई, यह इस प्रोथ्रॉम्बीन उपयोग परीक्षा के द्वारा ज्ञात होता है।

यह सारी आतञ्चन प्रविधि जो हमारे शरीर में सम्पन्न होती है उसे उपर्युक्त विद्वानों ने अपने ग्रन्थ में निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित की है:—

फैक्टर XII (सम्पर्क फैक्टर)
फैक्टर XI (PTA)
फैक्टर IX (क्रिसमस फैक्टर)
फैक्टर VIII एण्टीहीमोफिलिक ग्लोब्यूलिन)
विम्वाणु फैक्टर (फॉस्फोलिपिड)
कैल्शियम
फैक्टर X
फैक्टर V

शरीर में अभिघात तथा
ऊतकों का टूटना
कैल्शियम
फैक्टर VII
फैक्टर X
फैक्टर V

प्रोथ्रॉम्बीन
Ca++

अन्दरूनी (रक्तस्थ) थ्रॉम्वोप्लास्टीन — — — — — — — — — बाहरी थ्रॉम्बोप्लास्टीन

थ्रॉम्बीन+फाइब्रीनोजन

फाइब्रिन ← फैक्टर XIII (फाइब्रिन स्थायी कारक)
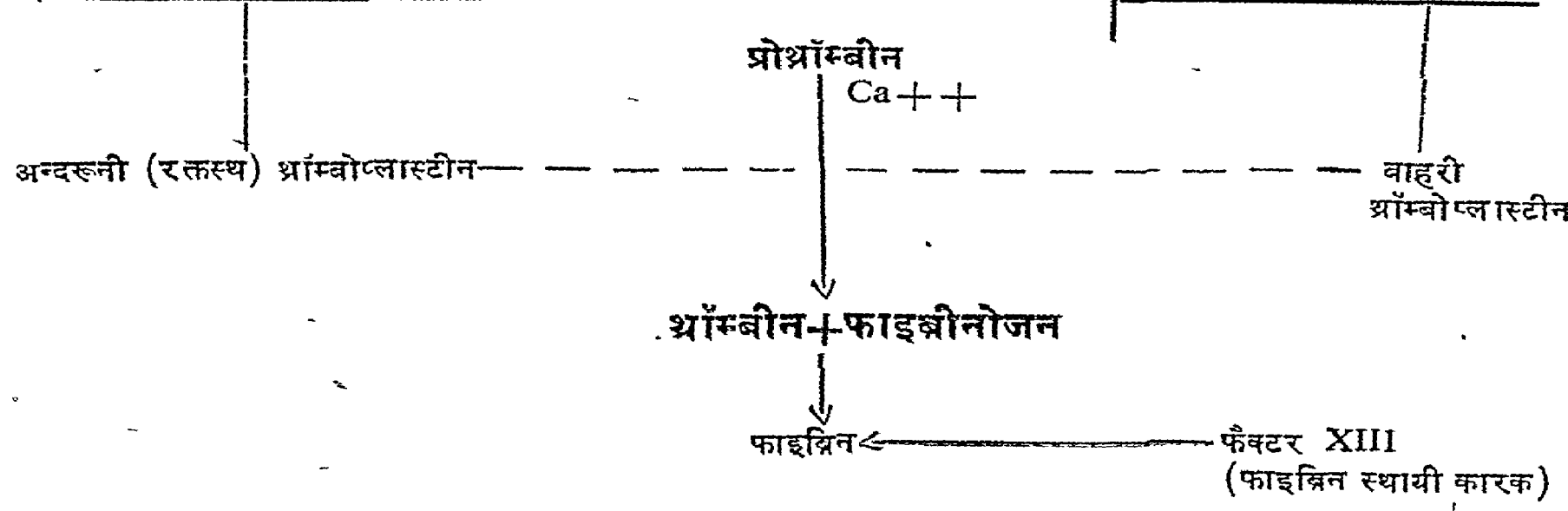
मैकफार्लेन ने जिस आतंचधारा का उल्लेख किया है उसमें विविध फैक्टर कैसे कार्य करते है वह इस प्रकार है :—

(१) XII——XIIa
(२) XI——XIa
(३) IX——IXa
(४) VIII——VIIIa
(५) X——Xa
(६) V——Va (?)
(७) II——IIa
(प्रोथ्रॉम्वीन) (थ्रॉम्बीन)
(८) I——Ia
(फाइब्रिनोजन) (फाइब्रिन)
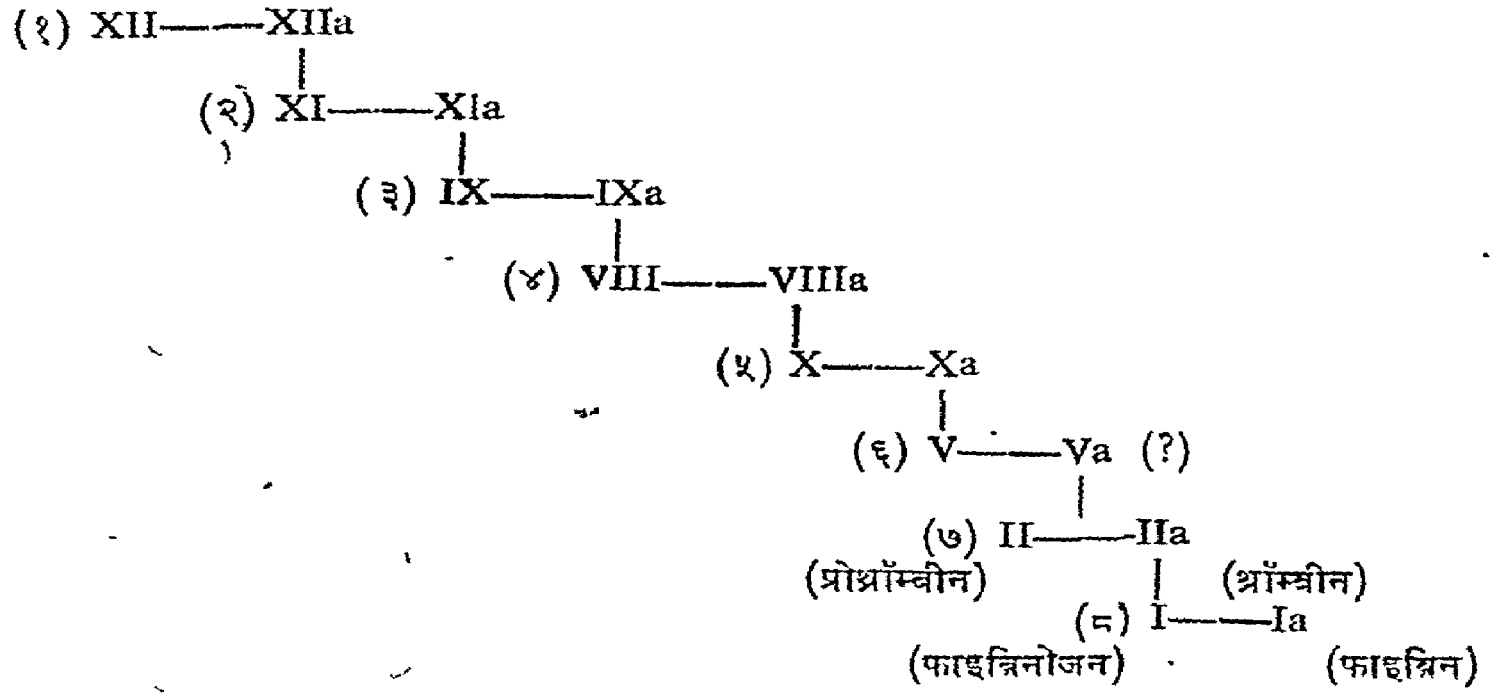
रक्तवाहिनियों में रक्त का प्रवाह बराबर चालू रहना तथा उनमें से किसी के कट जाने से उसके जम जाने की जो प्रक्रिया चलती है उसमें कौन-कौन फैक्टर क्या-क्या भाग लेता है उसका एक सरल रेखाङ्कन नीचे दिया जाता है—

कुमेरिन प्रकार के प्रतिस्कन्दी द्रव्य
ये प्रोथ्रॉम्बीन की उत्पत्ति घटाते, अन्दरुनी (रक्तस्थ) थ्रॉम्बोप्लास्टीन का निर्माण रोककर प्रोथ्रॉम्बीन को थ्रॉम्बीन में बदलने की क्रिया को कम करते हैं।

बिना भीगने वाले धरातल
(मोम, सिलीकोन पोलीस्टरिन)
तीव्र शीतन
थ्रॉम्बोप्लास्टीन के निर्माण को कम करते हैं

ऑक्जेलेट साइट्रेट
EDTA
कैल्शियम के कार्य को रोकते हैं

प्रोथ्रॉम्बीन **थ्रॉम्बोप्लास्टीन** **कैल्शियम**
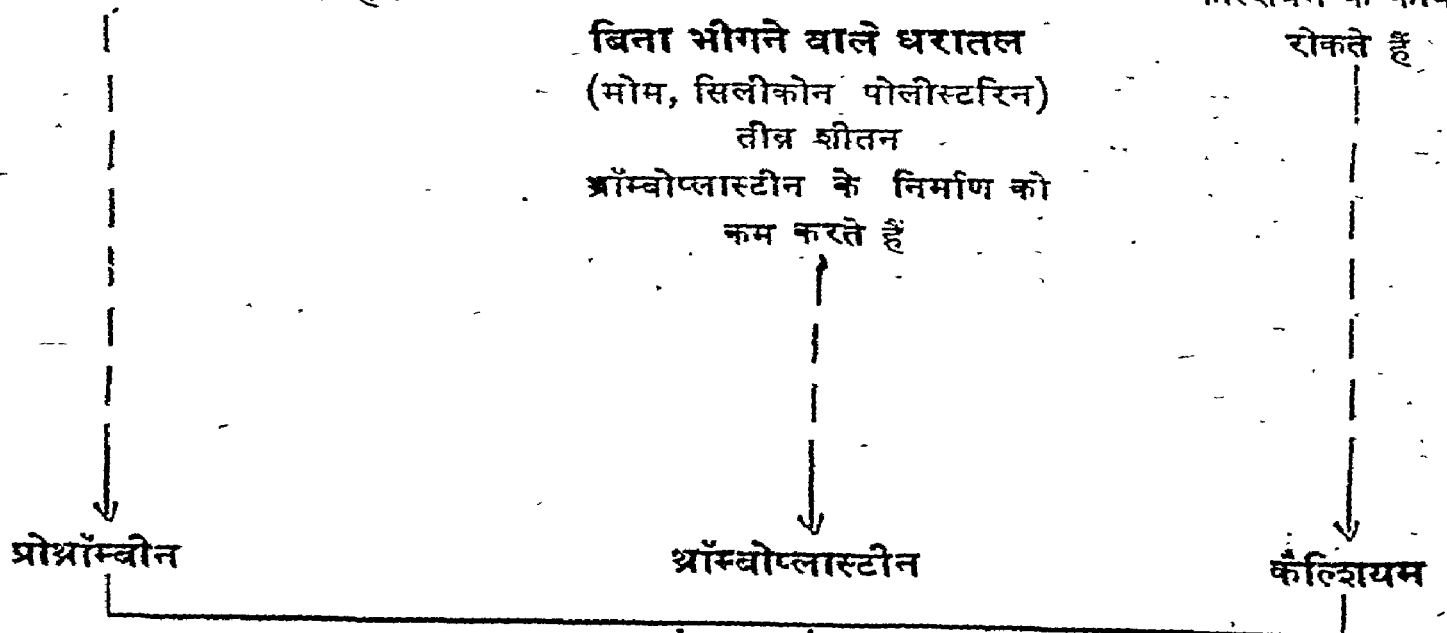
हिपेरिन — उत्पत्ति में बाधा

हिपेरिनाइड्स — प्रतिक्रिया में रुकावट

हिरुडिन निष्क्रियता कारक **थ्रॉम्बीन + फाइब्रिनोजन**

कोड़े मथाना —— दूर करने वाला ——→ फाइब्रिन (आतंच या क्लॉट)

इसी विषय को ४ सोपानों में क्वान्ज ने प्रदर्शित किया है :—
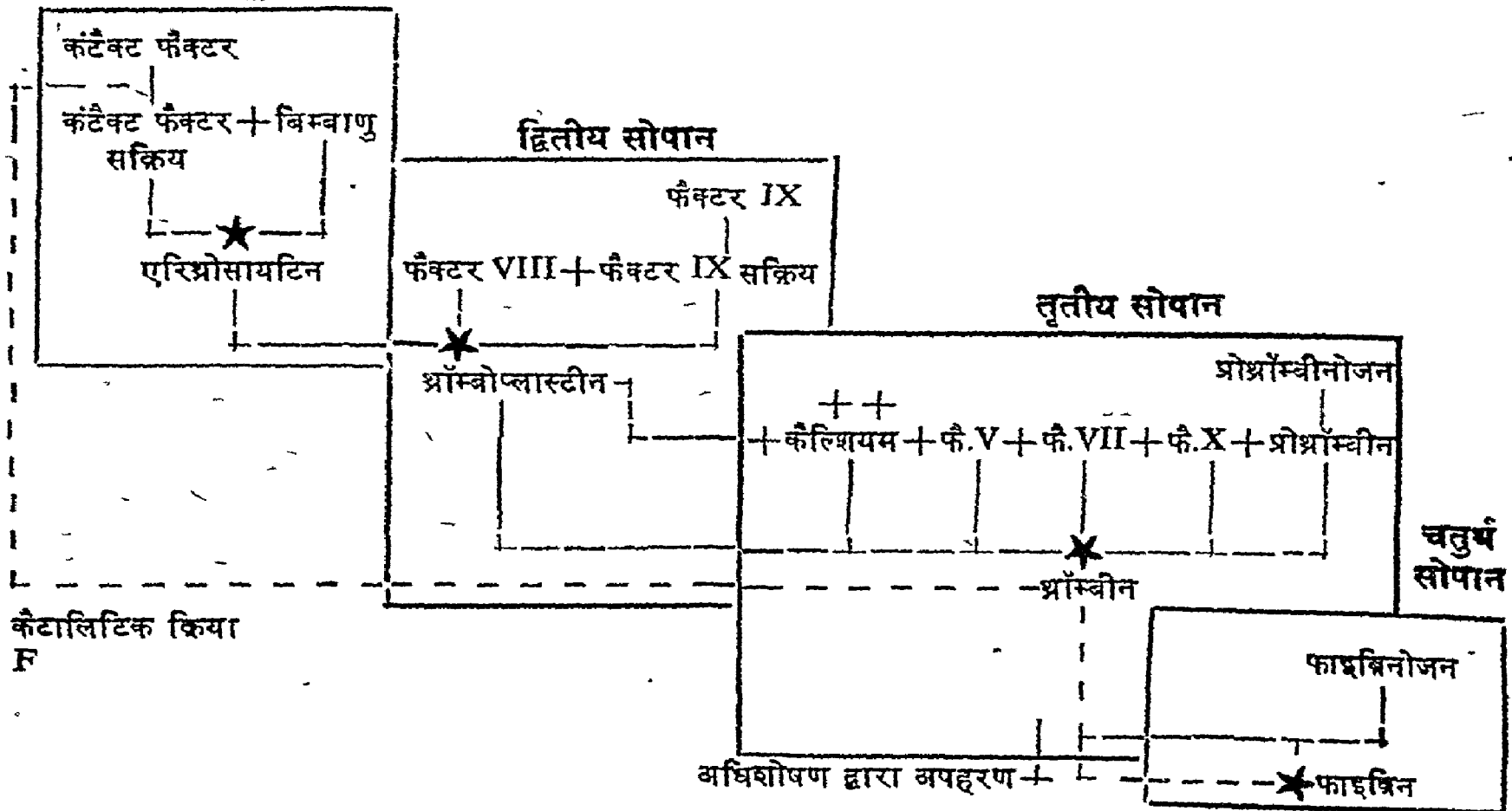
प्रथम सोपान रक्तस्कन्दन आरम्भ कराता है। दूसरा सोपान अन्दरूनी थ्रॉम्बोप्लास्टीन उत्पन्न करता है, तृतीय सोपान प्रोथ्रॉम्बीन को थ्रॉम्बीन में बदलता है। चतुर्थ सोपान फाइब्रीनोजन का स्कन्दन कर देता है। थ्रॉम्बीन एक प्रोटीनद्रावी ऐंझाइम है जो फाइब्रीनोजन से २ फाइब्रीनोपॅण्टाइडों को तोड़कर उसे फाइब्रीन में बदल देता है। फाइब्रिन स्वयं एक बड़े अणुभार की प्रोटीन है।

थ्रॉम्बीन का एक दूसरा काम भी है। यह प्लाज्मा के एक घटक जिसको कंटैक्ट फैक्टर कहा जाता है उसे सक्रिय करती है। इस सक्रियता के कारण ही बिम्बाणुओं (प्लेटलैट्स) को रक्तस्कन्दन के लिए लाया जाता है। इससे एक ऐसा पदार्थ बनता है जो रक्त के लालकणों में पाये जाने वाले स्कन्दी पदार्थ से मिलता-जुलता होता है। इसी से इसका नाम ऐरिथ्रोसायटिन रखा गया है। इस कंटैक्ट फैक्टर को सक्रिय बनाकर यह और अधिक थ्रॉम्बीन का निर्माण करती है। इस प्रकार थ्रॉम्बीन अपना ही प्रवर्तक द्रव्य बन जाता है। थ्रॉम्बीन स्वयं एक ऐंझाइम होने से इसकी बहुत थोड़ी मात्रा ही पूरे रक्त को स्कन्दित करने की सामर्थ्य रखती है इसलिए इसके कारण बहुत भारी घनास्रता पैदा हो सकती है। इसलिए थ्रॉम्बीन बनते ही उसका शीघ्रातिशीघ्र अपहरण बहुत महत्त्व रखता है। यह अपहरण इसके फाइब्रिन के धरातल पर चिपक जाने से या एक सीरम एण्टीथ्रॉम्बीन के बन जाने से होता है। हिपैरिन भी एक शक्तिशाली एण्टीथ्रॉम्बीन द्रव्य है पर रक्तधारा में यह इतना कम होता है कि इसका कोई प्रभाव थ्रॉम्बीन पर हो भी सकता है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्राचीनकाल में रक्तस्राव रोकने के तो उपाय किए जाते थे, पर रक्त कैसे जमता है तथा उसके लिए कौन-कौन फैक्टर जिम्मेदार होता है इसकी इतनी बड़ी खोज जो अब हुई है, नहीं हो सकती थी। रक्तगिरा तो उसे

बन्द करना चाहिए इस ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सुश्रुत लिखता है:—

अथातिप्रवृत्ते रक्ते रोध्रमधुकप्रियंगुपत्तङ्गगैरिकसर्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशंखशुक्तिमाषयव गोधूम चूर्णैः शनैः-शनैः व्रणमुखमवचूर्ण्य अंगुल्यग्रेण अवपीडयेत्, सालसर्जार्जुनारिमेदमेषशृङ्गधवधन्वनत्वग्भिर्वा चूर्णिताभिः क्षौमेण वा ध्मापितेन समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैर्व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात्, शीताच्छादनभोजनागारैः शीतैः परिषेकप्रदेहैश्चोपाचरेत्, क्षारेण अग्निना वा दहेद् यथोक्तं व्यधनादनन्तरं वा तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्यते ।।

—सू० स्था० अ० १४

इसके अनुसार अवचूर्णन अवपीडन, बन्धन, शीतोपचार, क्षारकर्म, अग्निकर्म, पुनर्वेधन क्रियाओं द्वारा येनकेन प्रकारेण रक्त बन्द किया जाता था। ये प्रकार थे—

१—पठानीलोध, मुलहठी, पुष्पप्रियंगु, पतंगकाष्ठ, गेरू, राल, रसौत, सेमर के फूल, शङ्ख, सीप, उड़द, जौ, गेहूं इन सबके चूर्ण को धीरे-धीरे व्रणमुख पर जहां से खून निकल रहा हो वहां बुरक दे। इसे आजकल की भाषा में डस्टिंग कहा जाता है।

२—धीरे-धीरे चूर्ण को व्रणमुख पर डस्ट करने के बाद अंगुली से दवा दे। आजकल यह काम आर्टरी फॉरसैप्स के द्वारा किया जाता है।

३—साल, राल, अर्जुन, इरिमेद, मेंढासिंगी, धव, धामन इन वृक्षों की छालों के चूर्ण से या रेशमीवस्त्र की राख के चूर्ण से, समुद्रफेन या लाख के चूर्ण से अवचूर्णन करके कसकर पट्टी बांध दे।

४—रक्तस्राव जहाँ से हो रहा हो वहां ठण्डी वस्तु बांधे, शीतवीर्य पदार्थ सेवन करना, शीतल स्थान में निवास, शीतल द्रव्यों से परिषेक या शीतल लेप लगावे।

५—यदि किसी प्रकार भी रक्त का बहना न रुके तो क्षार द्वारा या अग्नि द्वारा व्रणमुख का दाह करे।

६—यदि फिर भी रक्त का बहना नहीं रुकता हो जहां सिरावेध किया है उससे हटकर अन्यत्र सिरावेध और करे।

इसीको सुश्रुत ने इन श्लोकों में भी दिया है—

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम् ।
सन्धानं स्कन्दनं चैवं पाचनं दहनं तथा ।।
व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम् ।
तथा संपाचयेद्भस्म दाहः संकोचयेत् सिराः ।।

सन्धान (छेद को सीकर, दबाकर या आर्टरी फोर्सेप्स का प्रयोग करके कान को बन्द करना), स्कन्दन (रक्त को जमाना), पाचन (सुखाना) तथा दहन (जलाना) ये ४ ही विधियां रक्तस्राव रोकने की कही गई हैं। सन्धानकर्म केवल कषाय रस के प्रयोग से भी संभव है। थोड़े रक्तस्राव को फिटकरी मलने से भी लाभ हो जाता है क्योंकि फिटकरी कषाय रस प्रधान होती है। हिम या बर्फ रक्त का स्कन्दन (कोएगुलेशन कर देता हैं। भस्म या राख या चूर्ण उसका पाचन या शोषण कर देते हैं तथा दाह या कॉटरी सिरा को संकुचित करके रक्तस्राव बन्द कर देती है।

किस क्रम में इन चारों क्रियाओं को करें, इस पर भी निदेश दिया गया है—पहले रक्त का शीतोपचार द्वारा स्कन्दन करना चाहिए। रक्तस्कन्दन न हो सकने पर सन्धान करना चाहिए—अस्कन्दमाने रुधिरे सन्धानानि प्रयोजयेत्। जब सन्धान व्यर्थ हो जाय तो पाचन करे। स्कन्दन, सन्धान और पाचन इन ३ विधियों द्वारा रक्तस्राव रोकने का भरसक यत्न करना चाहिए, पर तो भी लाभ न हो तो दाह कर्म करे।

रक्तस्राव (हैमरेज या ब्लीडिंग) की रोकथाम करने के लिए यह जानना जरूरी होता है कि रक्तस्राव बाह्य है या अन्दरूनी प्राथमिक है या प्रतिक्रियात्मक या द्वितीयक। बाह्य आसानी से देखा जा सकता है। अन्दरूनी या आभ्यन्तर रक्तस्राव देखना सम्भव नहीं होता पर उसे नीचे लिखी घटनाओं से जाना जा सकता है।

१—चोट या अभिघात का इतिहास होना
२—शरीर का पीला या सफेद पड़ते जाना;
३—बेचैनी बहुत होती है;
४—तृषा या प्यास बहुत लगती है;
५—त्वचा ठण्डी और चिपचिपी हो जाती है;
६—जीभ सूख जाती है;
७—आंखें धंस जाती हैं;
८—नाड़ी तेज और क्षीण हो जाती है;
९—श्वास गहरी हो जाती है;

१०—रक्तदाव घट जाता है;

११—खास स्थान पर सूजन और दवाने से दर्द मिलता है;

१२—यदि अन्दरूनी कोई कोष्ठांग फट गया हो तो स्थान-परिवर्ती मन्दस्वर पाया जा सकता है।

प्राथमिक रक्तस्राव—अभिघात के वाद सिरा या धमनी या कोशिका के कट जाने से उत्पन्न होता है।

प्रतिक्रियात्मक रक्तस्राव—अभिघात के २४ से ४८ घण्टे वाद उत्पन्न होता है। इसका कारण होता है, रक्तदाव की वृद्धि होना। कभी-कभी टांका ढीला हो जाने पर भी बंधी हुई रक्तवाहिनी खुल जाती और रक्तस्राव होने लगता है।

द्वितीयक रक्तस्राव—जव चोट या अभिघात का स्थान पूययुक्त हो जाता है, तब चोट लगने के कई दिन वाद जो रक्तस्राव व्रण से होता है उसे द्वितीयक रक्तस्राव कहा जाता है। इसके कारणों में धमनीदार्ढ्य, विटामिन सी की कमी होना या धमनी की दीवाल का गल जाना या रक्तस्रावी प्रकृति का होना माना जाता है। उपसर्ग इसका उत्तेजक कारण होता है।

इन सभी प्रकार के रक्तस्रावों में प्रतिषेधात्मक तथा रोगहर दोनों प्रकार की चिकित्सा करनी पड़ता है। प्रतिषेध के लिए शस्त्रकर्म करते समय अपूति (असैप्सिस) की पूरी सावधानी लेनी चाहिए। वहां कभी ऑपरेशन न करें, जहां की त्वचा मे कोई रोग हो। ऑपरेशन के वाद एण्टीवायोटिक द्रव्य दिये जावें ताकि कोई उपसर्ग न होने पावे। आवश्यकता हो तो दूर्निके की भी व्यवस्था रखनी चाहिए। रक्तस्रावनाशक चिकित्सा में रोगी को अस्पताल पहुँचाकर—

१—मार्फिया ¼ ग्रेन का पेशी में सूचीवेध लगादें;

२—पेनिसिलीन या ब्रॉड स्पैक्ट्रम एण्टीवायोटिक द्रव्य दें;

३—अच्छी मात्रा में विटामिन सी, अन्य विटामिनों ए तथा वी कम्प्लैक्स आदि के साथ दें।

यदि अतिरक्तस्राव के कारण क्रियासंग (शॉक) हो गया हो तो तरल पदार्थ या रक्त का आधान कराया जाना परमावश्यक हो जाता है।

अस्थायी रूप से रक्तस्राव का रोध करने के लिए निम्नांकित उपाय काम में लाये जाते हैं, जैसे—अङ्ग को ऊंचा उठाना, यदि बड़ी धमनी कट गयी हो तो दूर्निके भी लगा सकते हैं, अन्यथा इसे बहुत अच्छा नहीं माना जा रहा, स्थानिक रक्तस्राव में गॉज लगा पट्टी कसकर बांधने से भी काम चल जाता है, स्थानिक रक्तस्रावहर द्रव्यों का अवचूर्णन या लेप भी किया जाता है।

स्थायीरूप से रक्तस्राव को रोकने के लिए यह देखना पड़ता है कि रक्तस्राव की प्रकृति क्या है? यदि रक्तस्राव सामान्य हो तो—

व्रण को खोल उसके अन्दर से निर्मोक या मृतऊतक (स्लफ) निकाल यह देखना चाहिए कि रक्त कहां से आरहा है। जिस विन्दु से रक्त आरहा हो उसे ढूंढकर आर्टरी फोर्सेप्स से दवा देना चाहिए। पर यह सदैव संभव नहीं होता। व्रण को गॉज आदि में अच्छी तरह भरकर दवा-दवाकर वन्द किया जाने से भी रक्तस्राव रोका जा सकता है।

यदि रक्तस्राव मध्यम दर्जे का हो तो—

कहां से रक्त आरहा है इसे ढूंढकर वहां लिगेचर (वन्ध) लगा देना चाहिए, इससे पैर या हाथ का रक्तस्राव रोका जा सकता है। इसे ढूंढने के लिए कभी-कभी स्फिग्मोमेनोमीटर (रक्तदाव यन्त्र) का उपयोग कर पहले अंग को इतना दवा देते हैं कि रक्तस्राव वन्द हो जाय, फिर साफ कर रक्तस्रावी विन्दु को देखकर उसे वन्ध बांधते हैं। यह वन्ध रक्तस्रावी विन्दु के ऊपर और नीचे दोनों ओर वांधते हैं। यदि फिर भी वन्द न हो तो अंगोच्छेदन तक करने की शल्यशास्त्री सलाह देते हैं।

रक्तस्राव के ४ प्रसिद्ध कारण दिये जाते है—

१—अभिघात २—वाहिनियों की विकृति ३—वाहिनियों पर अर्वुदीय आक्रमण ४—सहज दौर्वल्य रक्तस्राव का प्रभाव रक्त की मात्रा तथा स्राव की गति पर निर्भर करता है। यदि १०% रक्त छीजा है जो ५०० मि०लि० के वरावर होता है तो प्रभाव सामान्य रहता है पर यदि तेजी से एक तिहाई शरीरस्थ निकल जाय तो व्यक्ति मर सकता है। मानव शरीर की तीव्ररक्तस्राव के प्रति ३ प्रकार की अनुक्रिया देखी जाती है—

प्रथम अवस्था—तत्काल मूर्छित होना। पर शीघ्र ही रक्त प्राणधारक अंगों—मस्तिष्कादि को पहुंचने लगता है जिससे परिसरीय वाहिनियां संकुचित हो जाती है।

द्वितीय-अवस्था—ऊतकों से २-३ दिन में जितना रक्त गया है, उतने आयतन का द्रव वाहिनियों में आ जाता है। इससे रक्त में हीमोग्लोबिन घट जाती है उसका ज्ञान लैबोरेटरी से किया जा सकता है।

तृतीय अवस्था—३-४ दिन के अन्दर रक्त के श्वेत कणों की पूर्ति हो जाती है पर लालकणों की पूर्ति जल्दी नहीं होती। उनकी पूर्ति में ४ से ६ सप्ताह तक लग जाते हैं। इसके लिए रक्ताधान सबसे अच्छी विधि है।

योगरत्नाकर में एक प्रियंग्वादि चूर्ण दिया है जो शस्त्र द्वारा क्षत रक्तस्राव में लाभदायक बतलाया गया है:—

> वासायाः स्वरसं कृत्वा द्रव्यैरेभिः प्रयोजयेत्।
> प्रियंगुर्मृत्तिकालोध्रसञ्जनं चेति चूर्णयेत्॥
> तच्चूर्णं योजयेत्तत्र नस्ये क्षौद्रसमन्वितम्।
> नासिकामुखपायुभ्यो योनिमेढ्राच्च वेगितम्॥
> रक्तपित्तं स्रवद्धन्ति सिद्ध एव प्रयोगराट्।
> यच्च शस्त्रक्षते नैव रक्तं तिष्ठति वेगितम्॥
> तदप्यनेन चूर्णेन तिष्ठत्येवावचूर्णितम्॥

अर्थात् अडूसे के स्वरस में पुष्पप्रियंगु, फिटकिरी, लोध, रसांजन का चूर्ण और शहद मिला घाव पर लगा देने तथा नस्य देने से नासा, मुख, गुद, योनि, मेढ़ से आने वाला रक्त बन्द हो जाता है। यदि शस्त्र से कट जाने के कारण रक्त बहता हो तो वह भी इस चूर्ण के छिड़कने से तुरंत ठीक हो जाता है। इसे छिड़कने, लगाने, खाने और नस्य द्वारा सभी प्रकार से प्रयोग करते है।

वासास्वरस मधु, शर्करा मिलाकर पिलाने से भी रक्तस्राव शीघ्र बन्द हो जाता है, चाहे वह कितना ही दारुण क्यों न हो।

भैषज्य रत्नावली का दूर्वाद्यघृत भी रक्तस्राव की बाह्य आभ्यन्तर प्रयोगार्थ औषधि मानी गई है:—

> दूर्वा सोत्पलकिञ्जल्का मञ्जिष्ठा सैलवालुका।
> सिता शीतमुशीरञ्च मुस्तं चन्दनपद्मके॥
> विपचेत् कार्षिकैरेतैः सर्पिराजं सुखाग्निना।
> तण्डुलाम्बु त्वजक्षीरं दत्त्वा चैव चतुर्गुणम्॥
> तत्पानं वमतो रक्तं नावनं नासिकागते।
> कर्णाभ्यां यस्य गच्छेत्तु तस्य कर्णौ प्रपूरयेत्॥
> चक्षुः स्राविणि रक्ते च पूरयेत्तेन चक्षुषी।
> मेढ्रायुप्रवृत्ते तु वस्तिकर्मसु तद्धितम्॥
> रोमकूपप्रवृत्ते तु तदभ्यङ्गः प्रशस्यते॥

दूब, कमल केसर, गजीठ, एलवालुक (Prunus cerasus Linn.), मिश्री, श्वेत चन्दन, खस, मोथा, लालचन्दन, पद्माख प्रत्येक १-१ तोले लें और जल में पीस कल्क बना घी ४० तोला, तण्डुलोदक, बकरी का दूध प्रत्येक १६०-१६० तोला ले घृतपाक करलें। इस घी के पीने से रक्तवमन, सूंघने से नासा का रक्तस्राव, कान में डालने से कानों से होने वाला रक्तस्राव, नेत्र में डालने से नेत्र का रक्तस्राव, वस्ति प्रयोग से मेढ़ और गुद का रक्तस्राव तथा मालिश करने से रोमकूपों से होने वाले रक्तस्राव को दूर करता है। यह शस्त्रक्षतजन्य रक्तस्राव की औषधि तो है ही, रक्तस्रावी रोगों में भी विशेष लाभ करता है।

☆★
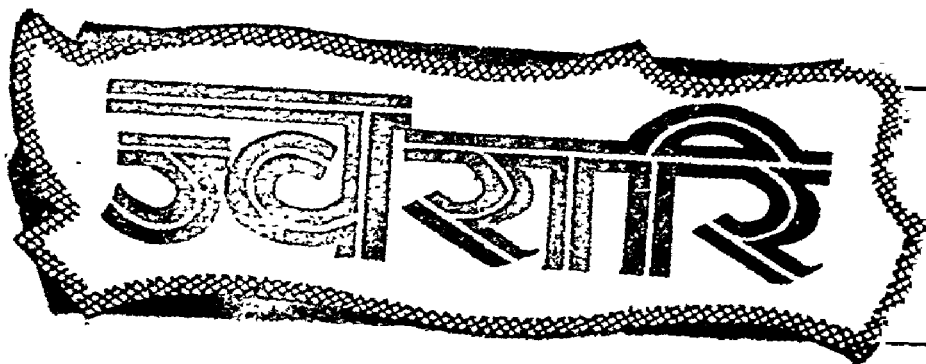
रक्तस्रावोत्तर उत्पन्न मन्दाग्नि तथा तज्जन्य वातप्रकोप एवं उपचार

आचार्य शिवसागर मिश्र, प्रिन्सिपल शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, रायपुर

★

आयुर्वेद में कुछ फलश्रुतियां स्वयं उपलब्ध होती हैं। इनका ज्ञान प्रत्येक वैद्य को कर लेना चाहिए क्योंकि उनके जाने विना उसकी आयुर्वेद पद्धति से चिकित्सा कर्म करने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। आयुर्वेदीय चिकित्सा का आधार दोषों की स्थिति की पूरी-पूरी जानकारी रखना होता है। क्या होने से क्या हो जाता है यह महत्त्वपूर्ण न होकर क्या होने से किस दोष का प्रकोप या क्षय होता है यह जानना आयुर्वेदीय चिकित्सा का मूलमन्त्र है। जो प्रसंग चल रहा है उसमें पीछे रक्तस्राव का विचार किया गया है। किन कारणों से रक्त नहीं जमता और रक्तस्राव होने लगता है यह वतलाया गया है। यदि किसी कारण से रक्तस्राव हो चुका तो रक्तस्रावोत्तरकाल में रोगी की क्या दशा है उसका आकलन करना पड़ता है और फिर उस दशा का सम्बन्ध दोषों से जोड़ना पड़ता है। उन दोषों की चिकित्सा करनी पडती है।

भगवान् धन्वन्तरि अपने प्रिय शिष्य सुश्रुत को रक्तस्राव के वाद के रोगी के दोषों का आकलन इन शब्दों में, करते है :—

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते—रक्तस्राव होने पर उसके परिणामस्वरूप धातुक्षय हो जाने के कारण या रक्तधातु के क्षीण हो जाने के फलस्वरूप।

मन्दः संजायतेऽनलः—रोगी की अग्नि मन्द हो जाती है।

पवनश्च परं कोपं याति—और वात का प्रकोप हो जाता है।

यह एक शृंखलावद्ध-फलश्रुति हैं—

(१) पहले रक्तश्राव।

(२) उसके वाद धातुक्षय।

(३) तदनन्तर अग्नि की मन्दता।

(४) और तत्पश्चात् वात प्रकोप।

धातुपोषणक्रम के अनुसार रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र तथा सभी धातुओं से ओज की उत्पत्ति मानी गई है। यह धातुपोषणक्रम अरुणदत्त के एक काल परिणामवाद से लेकर चक्रपाणिदत्त के केदारीकुल्यान्याय, खले कपोतन्याय तथा क्षीरदधिन्याय का अनुसरण या अ,गमन करता है। रस जहां आयुर्वेद में सौम्य माना गया है वहीं रक्त आग्नेय माना जाता है। शरीर से रक्त कम हो जाने के फलस्वरूप शारीरिक ऊष्मा भी घट जाती है अर्थात् अग्नि मन्द हो जाती है। रक्तराशि के घट जाने से आधुनिक दृष्टि से भी ऑक्सीजन की कमी हो जाती है। अन्न और ऑक्सीजन तथा इन्सुलीन की क्रिया से वल अग्नि तथा कार्बनडाइऑक्साइड की प्राप्ति होती है। जव रक्त कम हो गया तो ऑक्सीजन की कमी से शरीरस्थ सव अग्नियां ही घट जाती हैं। आमाशय सहित अम्लपाचन संस्थान से गैस्ट्रिक, पेंक्रियाटिकजूसों और आन्त्र रस का स्राव पूरा-पूरा न होने से पाचकाग्नि या जाठराग्नि मन्द हो जाती है। रक्तस्राव का प्रभाव सभी धातुओं या ऊतकों पर पड़ता है इस कारण से रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, सहित सातों धात्वग्नियां भी मन्द हो जाती है। इनकी मन्दता के कारण जो पांचभौतिक भोजन किया जाता है उसमें स्थित पंचभूताग्नियां आकाशाग्नि, वायवाग्नि, तैजसाग्नि, आप्याग्नि और पार्थिवाग्नि भी पूरी तरह संधुक्षित नहीं हो पातीं जिससे अग्नि की मन्दता का सार्वदैहिक प्रभाव पड़ता है। अर्थात् शरीर में मेटावोलिक ऐक्टिविटी घट जाती है और शरीर ठण्डा-

निष्क्रिय सा, प्रमाद, आलस्य और अरुचि मय हो जाता है।

अग्नि के मन्द होने से वायु प्रकुपित हो जाती है। अग्नि के कम हो जाने से धातु पोषण में कम होने कारण धातुओं का क्षय होने लगता है। धातुक्षय की फलश्रुति ही वात का प्रकोप है। रक्तस्राव के कारण खाली हुई वाहिनियों में वायु का संचार हो जाता है और वह वायु अपने प्राकृत रूप में नहीं रह पाती। वह हृदय में जाकर अनेक उपद्रव कर देती है—

वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम्।
वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता श्रमः॥

रक्तस्राव के कारण पित्त क्षीण हो जाने से भी बढ़ी वायु कई रोग लक्षण पैदा कर देती है—

साम्ये स्थितं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा वली।
कर्षेत्कुर्यात् तदा शूलं सशैत्यस्तम्भ गौरवम्॥

रक्त के क्षय के लक्षण भी सब वात प्रकोप के लक्षण ही हैं:—

परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये।

रक्त का अधिक स्राव अर्थात् अग्नि की मन्दता बराबर वायु का प्रकोप बराबर ओजक्षय। ओज हमारी प्रत्येक धातु में स्थिति है प्रत्येक धातु के द्वारा वह उत्पन्न होता है। यह परम तेज और बल माना गया है। रक्तस्राव इस शरीर बल को भी क्षीण कर देता है और वह व्यक्ति—विभेति—डरता है।

दुर्बलो—दुबला हो जाता है।

अभीक्ष्णं ध्यायति—लगातार चिन्ता करने लगता है।

व्यथितेन्द्रियः—उसकी सभी इन्द्रियां व्यथित हो जाती हैं—सुनना, देखना, सूंघना, कम हो जाता है। हाथ पैर चलते नहीं, पायूपस्थ निष्क्रिय हो जाते हैं।

दुश्छायः—उसकी कान्ति मारी जाती है। अधिक रक्तस्राव के बाद स्त्रियों के गालों पर आंखों के नीचे लाल भद्दे निशान पड़ जाते हैं।

दुर्मना—इसका मनोबल गिर जाता है।

क्षामः—वह पतला पड़ जाता है।

अग्निमान्द्य—वात प्रकोप—ओजसक्षय ये ३ प्रकार के रोग समूह रक्तस्रावोत्तर काल में उत्पन्न हो जाते हैं। इन तीनों की ही चिकित्सा का विधान आचार्यों ने लिखा है—

अग्नि की रक्षा—

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृग् अग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः॥
—वाग्भट

अर्थात् रक्तस्राव के बाद अग्नि मन्द हो जाती है रक्त आदि धातुएं अनवस्थित या चल होती हैं इसलिए न बहुत गरम और न बहुत ठण्डे हलके तथा अग्निदीपन अन्नपान का सेवन रोगी को कराना चाहिए क्योंकि इस काल में अग्नि की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए। इसे सुश्रुत संहिता में और भी स्पष्ट किया गया है:—

तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणित वर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्॥

अर्थात् उस व्यक्ति को जिसका अति मात्रा में रक्तस्रवित हो गया है ऐसे आहारों से उपचार करना चाहिए जो न अतिशीतल न अति उष्ण हों, स्निग्ध हों जो वायु का प्रकोप शान्त कर सकें, हलके हों, जो जल्दी पच जायं, न बहुत खट्टे हों या थोड़े खट्टे हों तथा जो रक्तवर्द्धक भी हों।

रक्तवर्धक पदार्थ जो रक्तधातु को शीघ्र वृद्धिगत कर सकें देने चाहिए। रक्तवृद्धि के लिए चिकित्सा ग्रन्थों में कई उपयोगी योग दिये गये हैं:—

समशर्कर लौह—लोहभस्म ४ तोला, गरम दूध १६ तोला, गाय का घी ८ तोला, विडंग २ तोला, शहद ४ तोला और खांड ४ तोला। पहले गाय का घी और दूध कड़ाही में डालें, उबालते रहें। गाढ़ा होने पर शेष दवाएं डाल अच्छी तरह चलावें और उतार कर रखलें। इसे कलईदार तांबे के पात्र में बनाने को लिखा है। मात्रा ६ रत्ती नारियल के पानी के साथ दें। यह रक्तवर्धक, पोषक, कान्तिजनन और रक्तपित्त, क्षतक्षय, अम्लपित्त नाशक योग है।

शतमूल्यादि लौह—शतावरी, मिश्री, धनियां, नागकेसर, चन्दन, त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद (मोथा, विडंग, चित्रकमूल), तिल बराबर-बराबर डालें। कूटपीसकर सबके बराबर लोहे की भस्म डाल रखलें। इसे रक्तस्रावोत्तर-

कालीन सभी उपद्रवों की शान्ति हेतु और रक्त की वृद्धि करने और ओजोवृद्धि के लिए दे सकते है। मात्रा १ मात्रा २-४ बार दूध से।
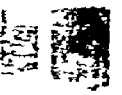
रक्तपित्तान्तक लौह—आमला, पिप्पली १-१ भाग, मिश्री या चीनी २ भाग मिलाकर रखलें। इसके सम्बन्ध में लिखा है:—

रक्तपित्तहरं लौहं योगराजमिदं स्मृतम्।
वृष्याग्निदीपनं बल्यं अम्लपित्तविनाशनम्॥
पित्तोत्थानपि वातोत्थाग्निहन्ति विविधान् गदान्॥

खण्डकाद्य लौह—शतावरी, गुडूची, अडूसा, मुण्डी, बला, मूसली, खदिर की छाल, त्रिफला, भारंगी, पुष्कर-मूल प्रत्येक ५-५ पल, जल १ द्रोण में पकाकर आठवां भाग शेष रख छान लें, लोहभस्म १२ पल, मिश्री १६ पल, गाय का घी-१६ पल, ताम्रपात्र में गुड़पाक विधि से पकावें फिर उतार ½ प्रस्थ शहद डालें फिर उसमें वंश-लोचन, शिलाजतु, दालचीनी, काकड़ासिंगी, वायविडंग, पीपल, सोंठ, जायफल १-१ पल, त्रिफला, धनियां, तेज-पत्र २-२ तोला का कपड़छन किये चूर्ण का प्रक्षेप डालें और चिकने पात्र में रख दें।

इसे १ तोले की मात्रा में गोदुग्ध से दें। रोगी को पथ्य में मांसरस, दूध तथा बृंहण पदार्थ अग्निबल के अनु-सार दें। यह शोथ, पांडुरोग, कुष्ठ, प्लीहोदर, वातरक्त, प्रमेह, शीतपित्त, वमन, रक्तपित्त, क्षय, कास, उदरशूल को दूर करता है। यह बृंहण, वृष्य, चक्षुष्य, मंगलकारी, आरोग्यदाता, कामाग्निबलवर्धक योग है।

कूष्माण्ड खण्ड—१०० पल सफेद पेठे को छीलकर और बीज निकालकर टुकड़े कर उबालकर कपड़े की पोटली में उसका पानी निचोड़ १ प्रस्थ (६४ तोले) घी में भूनलें। जब यह शहद जैसा लाल हो जाय तो इसमें १०० पल खांड डाल दें, फिर पीपल, अदरक २-२ पल, जीरा सफेद, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, काली-मिर्च, धनियां ½-½ पल चूर्ण बना उसमें डाल कलछी से चलाता रहे, फिर इसे पका जान उतार ले और ½ प्रस्थ (३२ तोले) घी मिला चिकने पात्र में भरकर रखदें। इसे अग्निबल के अनुसार रक्तस्रावोत्तरकाल में या जिसने ब्लडट्रान्स्फ्यूजन कराया हो सेवन करावें। यह क्षतक्षय, कास, श्वास, वमन, तृष्णा, ज्वर नाशक है। वृष्य तो है ही पुनर्नवकर (फिर से नया बनाने वाला) है। बलवर्ण प्रसादन न होने से रक्त की कमी के साथ ओज क्षय को भी दूर करता है, यह बृंहण, स्वरशोधक और उरः सन्धान-कर होने से फुफ्फुसों की कैविटी को भी भर देता है। कूष्माण्डखन्ड में २५६ तोला अडूसे का पुटपाक के द्वारा निकाला हुआ रस भी पेठे के भुनजाने पर डालने से यह और भी उत्तम एवं रक्तपित्तनाशक बन जाता है।

रक्तपित्त के प्रकरण में अनेक घृतयोग दिये गये है। घृत अग्नि को प्रदीप्त करता है जिसकी रक्तस्राव के बाद विशेष आवश्यकता होती है। दूसरे घृत स्निग्ध होने से वायु के प्रकोप को रोकता है। तीसरे घृत ओजवृद्धि करने में साक्षात् भाग लेता है। इस प्रकार अग्निमांद्य, वात-प्रकोप, ओजक्षय की पूरी श्रृङ्खला को ही आयुर्वेदीय घृत योग समाप्त कर देते है। चक्रदत्त का कामदेव घृत तो श्रेष्ठं बलकरं हृद्यं वृष्यं पेयं रसायनम्। ओजस्तेजस्करं चैव आयुः प्राणविवर्द्धनम्॥ लिखा गया है।

रक्तस्राव के बाद व्यायाम, पैदल चलना, धूप या अग्नि के सामने बैठना या भट्टी या भाड़ झोंकना या स्टील या सीमेंट की फैक्टरी में काम करना, क्षोभ, वेगधारण, ट्रैक्टर, हाथी, घोड़ा, ऊंट, साइकिल की सवारी करना, स्वेदनकर्म, धूम्रपान करना, मैथुन करना, क्रोध करना, गुड़, बैंगन, उड़द की दाल, सरसों का साग, दही, पान, तम्बाकू, मद्य, लहसुन, नमक का अतिशय प्रयोग, खटाई वर्जित बतलाई गई है, इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए।

शल्यचिकित्सा में जलक्षय, प्रोटीनक्षय, तथा विटामिनक्षय तथा उनका उपचार

प्रो० डा० त्रिलोकचन्द्र जैन, डा० हर्षद जे० मनकोड़ी, असि० प्रोफेसर
शल्य-शालाक्य विभाग, गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर

आयुर्वेद में रसधातु की प्रतिष्ठा रक्त से कहीं अधिक है। ब्लडसर्क्युलेशन को आयुर्वेद रससंवहन ही मानता है। अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः यह इसका प्रमाण है। रसाद् रक्तं ततोमांसं भी धातुपोषणकर्म में रस की प्रधानता व्यक्त करता है। तस्मिन् सर्वशरीराशयाव दोषधातु मलाशयानुसारी रस के विषय में सुश्रुत की जिज्ञासा को सभी विद्वान् जानते हैं मुझे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। तस्य चरस्य हृदयं स्थानम् भी किसी से छिपा नहीं है तथा यह कृत्स्नं शरीरं अहरस्तर्पयति, वर्धयति, धारयति, यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा से मुख्य गुण के कारण ही हमारे लिए शल्यशास्त्र में बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। और चूंकि इस विषय में इस विशेषांक में रक्ताधान या ब्लडट्रान्सफ्यूजन तथा प्लाज्मा ट्रान्सफ्यूजन पर अन्यत्र चर्चा की जा चुकी होगी यह अनुमान करके मैं अपनी सीमा रक्त या रस के अन्दर पाये जाने वाले जल या द्रव भाग पर ही केन्द्रित करता हूँ। और अपने वैद्यमित्रों को आधुनिक विज्ञान में अत्यन्त उपादेय इलैक्ट्रोलायटिक वैलेंस पर कुछ शब्द पढ़ने के लिए इस महत्त्वपूर्ण विशेषांक में जो शायद पहली बार इतने उच्च स्तर से आयुर्वेदीय पत्रकारिता के क्षेत्र में अवतीर्ण हो रहा है बाध्य करूंगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विषय का संकलन उन आर्ष आधुनिक शल्य चिकित्सा ग्रन्थों से किया जा रहा है जिन्होंने इस क्षेत्र में क्रान्ति कर मानव के प्राणों की रक्षा में यह महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उनके लेखकों का आभार मैं शुरू में ही मान लेता हूँ।

इलैक्ट्रोलाइट बैलेन्स जितना अधिक प्रयुक्त शब्द है उसका हिन्दी पर्याय 'विद्युत् अपघट्य संतुलन' उतना ही भयावह प्रतीत होता है। सम्भव है कालान्तर में यह पर्याय अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगे पर हम जो स्वतन्त्रता के पूर्ववर्ती काल के हैं इलैक्ट्रोलाइट बैलेन्स के प्रति कुछ मोहाभिभूत हैं जिससे नई पीढ़ी मुक्त सी प्रतीत होती है।

किसी भी घोल या सौल्यूशन में इलैक्ट्रोन से हजारों गुणे बड़े आयन होते हैं जो समूहों में रहते हैं वे ही विद्युत् के धनात्मक या ऋणात्मक प्रभार को ग्रहण किए रहते हैं तथा उन्हीं के द्वारा विद्युत् का प्रवाह घोल के अन्दर चला करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे धातुओं में इलैक्ट्रोनों द्वारा विद्युत्प्रवाह का संचालन होता है।

जब हम किसी घोल के इलैक्ट्रोलाइट संतुलन का अध्ययन करते हैं तो हमें यह ज्ञान कर लेना पड़ता है कि उस घोल के निश्चित किए हुए आयतन में प्रत्येक इलैक्ट्रोलाइट आयनों की कितनी संख्या है, इसके लिए मिलीग्राम प्रतिशत द्वारा उनका संकेन्द्रण या कंसेंट्रेशन बतलाया जाता है। पर यह आज की परिभाषा में उचित नहीं है। आजकल उसे मिली ईक्वी/लिटर में आंका जाता है इसका अर्थ है ईक्वीवेलेंट भार का १/०००० भाग कहा जाता है, और

$$\text{मिली ईक्वी/लिटर} = \frac{\text{मिग्रा/१०० मिलि} \times \text{१०} \times \text{वेलेन्स}}{\text{एटोमिकभार}}$$

द्वारा निकाला जाता है।

मनुष्य के रक्तरस या प्लाज्मा में धातुओं का संकेन्द्रण किस प्रकार है, उसे नीचे मिली ईक्वी/लिटर में दिखाया जा रहा है :—

सोडियम (Na)—१३५ से १४५ मिली ईक्वी/लिटर
पोटाशियम (K)—३·६ से ५·२ लिली ईक्वी/लिटर
कैल्शियम (Ca)—४·५ से ५·५ मिली ईक्वी/लिटर
क्लोरीन (Cl)—९७ से १०७ मिली ईक्वी/लिटर
कार्बोनेट आयन —२५ से ३० मिली ईक्वी/लिटर

कुष्ठ के ७ द्रव्यों में अम्बु शब्द का नाम आया है—

वसादयस्त्रयोदोषास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ।
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ॥

अम्बु अर्थात् जल । विसर्पों की उत्पत्ति में रक्तं लसीका त्वङ् मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्तधातवः ॥ यहां लसीका को सप्तधातुओं में लिया गया है। श्रीकण्ठदत्त ने इति लसीकया च तत्र उदकं उच्यते कहकर उदक या जल भाग को भी धातु माना है। जो शरीर का धारण करे वह धातु माना गया है जिसके विना शरीर-व्यापार चलाया ही नहीं जा सकता। इस तथ्य पर पाश्चात्यों ने आगे चलकर बहुत कार्य किया उसी के कारण हम इस शरीर जल की धातुपरकता का सही-सही आकलन करने में समर्थ हो सके हैं । हमारे आयुर्वेद शास्त्र में अनेक तथ्य भरे पड़े हैं प्रत्येक पर आज रिसर्च दृष्टि से विचार करने की महती आवश्यकता है। सुश्रुत ने अतीसार की सम्प्राप्ति में—संशम्यापां धातुरग्नि प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः । लिखकर भी अप् धातु की सत्ता स्वीकार की है। विजयरक्षित ने अपां धातुरित्यसमासकरणेन रसजलमूत्रस्वेदमेदः कफपित्तरक्तादयो ग्राह्याः यही आतंकदर्पणकार ने—अपां धातुः कफरसमूत्रस्वेदमेदः पित्तरक्तदिकः अर्थ किया है। उन दोनों गुरुओं से इनका शिष्य वर्गीय श्रीकण्ठ कुछ अधिक सत्य के निकट प्रतीत होता है। उसने अप् धातु को शरीरस्थ उदक या जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जब कि ये लोग झाड़ी के चारों ओर ही डोलते रहे। 'उदकवाही स्रोतों का वर्णन सुश्रुत करता है ताकि तु प्राणान्नोदक रस रक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहाग्नि । और चरक तो आधुनिक दृष्टिकोण को दिनमणि के समान प्रखर रूप में उद्घोषित करता है इन अम्बुवाही स्रोतों की दुष्टि को—

औष्ण्ययादामाद् भयात् पानात् अतिशुष्कान्न सेवनात् ।
अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात् ॥

यह श्लोक इलैक्ट्रोलाइट बैलेंस के गड़बड़ाने का सूचक है। यह ध्यान देने योग्य है कि चरक ने सर्वाग्रणी प्राण व स्रोतों को देकर फिर उदकवह स्रोतों का उल्लेख कर उनको अन्नवह, रसवह, रक्तवह स्रोतों से कहीं अधिक महत्त्व दे दिया है तथा उनकी पृथक् सत्ता सुश्रुत, चरक सभी ने स्वीकार की है चरक ने उदकवाही स्रोतसों की दुष्टि को ठीक करने के लिए "कार्या तृष्णोपशमनी क्रिया" लिखकर अपने को मोस्ट मॉडर्न सिद्ध कर दिया है। और जलोदर की सम्प्राप्ति में तो आधुनिक विज्ञान को भी उसने इन शब्दों का ज्ञान पट का उद्घाटन कर दिया है—

स्रोतः सु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः ।
वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदरायतौ ॥

अब हम अधिक पहेली न बुझाकर इस अम्बु धातु का यथातथ्य विवरण देते हैं। शरीर की अम्बु धातु १–कोशिका बाह्य तरल तथा १–अन्तः कोशिका तरल इन दो से मिलकर बनती है। कोशिका बाह्य तरल में प्लाज्मा तथा अन्तरालित तरल ये दो आते हैं। कोशिकाओं के अन्दर जिनमें लालकण भी आते हैं के अन्दर का तरल अन्तः कोशिकीय तरल है।

कोशिका बाह्य तरल में मुख्य धनायन सोडियम होता है तथा पोटाशियम, कैल्शियम और मैग्नेशियम सूक्ष्ममात्रा में उपस्थित रहते हैं। इस तरल का मुख्य ऋणायन क्लोराइड है वैसे बाईकार्बोनेट भी उससे कम तथा फॉस्फेट्स बाईकार्बोनेट से भी कम मात्रा में उपस्थित रहते हैं कुछ सल्फेट्स तथा आर्गेनिक अम्ल भी पाये जाते हैं। प्लाज्मा या रसधातु में प्रोटीनें ऋणायन के रूप में रहती हैं। ये प्रोटीनें अन्तरालित तरल में बहुत कम होती हैं। कोशिका बाह्य तरल में धनायन और ऋणायन वाले ये द्रव्य इलैक्ट्रोलाइट कहलाते हैं। इस तरल में कुछ नॉन इलैक्ट्रोलाइट्स (अनैक्ट्रोलाइट्स भी होते हैं। पर इनकी मात्रा बहुत थोड़ी होती है किन्तु इनका महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। इनके द्वारा कोशिकाओं की चयापचयिक क्रियाएं निष्पन्न होती हैं। कोशिका बाह्य तरल इनको एक कोशिका से दूसरी कोशिका को

लाने ले जाने का कार्य करते रहते हैं। इन अनैक्ट्रोलाइटों में निम्नांकित आते हैं इनके सामने किस मात्रा में पाये जाते हैं, दे रहे हैं :—

फॉस्फोलाइपिड २८० मि. ग्रा. %
कोलैस्टरौल १५० मि. ग्रा. %
न्यूट्रल फैट १२५ मि. ग्रा. %
ग्लूकोज १०० मि. ग्रा. %
यूरिया १५ मि. ग्रा. %
लैक्टिक एसिड १० मि. ग्रा. %
यूरिक एसिड ३ मि. ग्रा. %
क्रियेटिनीन १·५ मि. ग्रा. %
बिलीरुबीन ०·५ मि. ग्रा. %
बाइलसाल्ट्स-ट्रेस (आमास)

इसी सूची को देखने से ज्ञात होगा कि इसमें स्निग्ध पदार्थ बहुतायत से होते हैं। आचार्यों ने इसे श्लेष्मा माना है और श्लेष्मा को स्निग्ध बतलाया है। दूसरा नम्बर ग्लूकोज का है वह मधुर है अतः श्लेष्मा का एक गुण मधुर भी है। इसके बाद जो द्रव हैं वे शरीर से बाहर जाने वाले मलांश जिन्हें शरीर के बाहर किया जाता है। रक्तरस और अन्तरालित तरल का संगठन करीब-करीब एक सा ही है पर रक्तरस में प्रोटीनें बहुत अधिक परिमाण में होती हैं। इन दोनों मे इलैक्ट्रोलाइट लगभग एक से ही होते हैं फिर भी कुछ अन्तर होता है। यह अन्तर हैं १६७ मिली-ईक्वीवेलेंट धनायन और ऋणायन प्लाज्मा में तथा १५८ मिलीईक्वी कोशिका बाह्य तरल में होते हैं। यह अन्तर प्रोटीनों की प्लाज्मा में बहुत अधिक मात्रा में उपस्थिति है जो इसे बहुत बड़ी संख्या में एनायन (ऋणायन) प्रदान करती है। यह प्रोटीन अविसरणशील (नॉन डिफ्फ्यूजीबल) होती है।

अन्तः कोशिकीय तरल में धनायन मुख्य रूप से पोटाशियम और मैग्नेशियम होता है। इनकी मात्रा समस्त धनायनों का पांचवां भाग होता है। इस तरल में सोडियम और कैल्शियम की मात्रा इतनी कम होती है कि उसे जितना सम्भव नहीं है। ऋणायनों में फॉस्फेट्स की बहुलता पाई जाती है प्रोटीनें भी काफी होती हैं पर सल्फेट और बाईकार्बोनेटों की मात्रा बहुत कम होती है। इस तरल में ऋणायनों में क्लारोइड अनुपस्थित पाई जाती है।

अन्तरालीय तरल से अन्तःकोशीय तरल बिल्कुल भिन्न होता है पहले में सोडियम मुख्य धनायन होता है जबकि दूसरे में वह पूर्णतः अनुपस्थित पाया जाता है। अन्तःकोशीय तरल के धनायन पोटाशियम और मैग्नेशियम होते हैं जिनकी अति सूक्ष्म मात्रा ही कोशाबाह्य तरल में पाई जाती है। ऋणायनों में कोशाबाह्य तरल में क्लोराइड की बहुलता होती है पर वह अन्तःकोशीय तरल में अक्सर अनुपस्थित रहती है। यहां फॉस्फेट्स और सल्फेट्स की बहुतायत होती है जो अन्तरालित तरल में अनुपस्थित होती है।

अन्तःकोशीय और कोशाबाह्य तरलों के आयनों का यह संकेन्द्रण कोशिकाओं की चयापचय क्रियाओं को प्रदर्शित करता है। जब किसी कारण से प्राणवायु की कमी होने या अन्य विषाक्त कारणों से चयापचय क्रियाओं में बिगाड़ हो जाता है तो कोशाओं के अन्दर का पोटाशियम और मैग्नेशियम बाहर के तरल में और बाह्य तरल का सोडियम कोशिकाओं के अन्दर जाने लगता है। इस का कारण यह है कि जो सक्रिय प्रतिक्रियाएं विविध आयनों के प्रचूषण और उत्सर्जन के लिए उत्तरदायी होती हैं वे कोशीय चयापचय के रुक जाने से बिल्कुल बन्द हो जाती है।

कुछ हार्मोनों के द्वारा भी कोशा की कला से आयनों के आवागमन का नियन्त्रण किया जाता है। अन्तःकोशीय तरलों में पोटाशियम का संकेन्द्रण ऐड्रिनो कॉर्टिकल हार्मोन अधिकतर करते हैं, लैंगिक हार्मोन भी इसमें मदद करते हैं। सोडियम आयन को कोशाओं से ये हार्मोन कम भी करते हैं। सम्भव है कोशाओं की कलाओं पर ये अपना प्रभाव डालकर यह सब करते हों। इन्सूलिन के प्रभाव से कोशाओं में ग्लूकोज का परिवहन किया जाता है। ग्लूकोज अपने प्रवेश काल में अपने साथ थोड़ी मात्रा में पोटाशियम तथा फॉस्फेट्स को भी ले जाता जिसके कारण कोशाओं में इन दोनों का संकेन्द्रण बढ़ जाता है। अन्य प्राणियों में यह देखा गया है कि कोशाबाह्य तरल में कैल्शियम की कमी होने से कोशाओं

के अन्दर अनेक पदार्थ प्रवेश करने में समर्थ नहीं होते, संभव है कि मानवीय कोशा वाह्य तरल में कैल्शियम की कमी वेशी भी विविध पदार्थों के कोशाओं में प्रवेश पर प्रभाव डालती होगी।

अन्तःकोशीय तरल में धनायनों और ऋणायनों में से प्रत्येक की संख्या प्रति लिटर १९६ मिली इक्वीवेलेंट होती है जबकि अन्तरालित तरल में इनकी प्रतिलिटर संख्या १५८ मिली इक्वीवेलेंट मिलती है। यह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

ऋणायनों का बहुत बड़ा भाग प्रोटीनें बनाती हैं जो कोशाकला के बाहर वितरित नहीं हो पातीं, जब कि कोशिकाओं के अन्य इलैक्ट्रोलाइट इस कला से आंशिक रूप में विसरित हो सकते है। डोनन इक्वीलीब्रियम* के अनुसार कला के एक ओर के विषरणशील धनायनों और ऋणायणों का गुणनफल कला के दूसरी ओर के धन ऋण आयनों के गुणा के बराबर होना चाहिए। अविसरणशील प्रोटीनें अन्तःकोशीय आयनों के संकेन्द्रण के टोटल को अन्तरालित तरल के आयनों के संकेन्द्रण के टोटल की अपेक्षा बहुत बढ़ा देती हैं। अन्तःकोशीय तरल में आंशिक रूप से विसरित होने वाले ऋणायनों की संख्या करीब १२९ मिली इक्वीलेंट प्रति लिटर और धनायनों की करीव १८९ मि.लि. इक्वीलेंट होती है। लगभग ७ मिली इक्वीलेंट धनायन प्रोटीनों से बंधे होते है। १८९ को १२९ से गुणा करने पर गुणनफल २४३६१ आया जो अन्तरालित तरल के विसरणशील धनायनों और ऋणायनों के गुणनफल १५८ × १५७ = २४८०६ के काफी पास है। यह डोनन इक्वीलीब्रियम इस बात को स्पष्ट कर देती है कि कोशिकाओं के अन्दर क्यों अधिक मात्रा में इलैक्ट्रोलाइट्स पाये जाते हैं। रक्तरस में भी धनायन १६१ मिली इक्वीलेंट के लगभग होते हैं तथा ऋणायन १५१ मिली इक्वीलेंट के लगभग होते है। दोनों का गुणनफल १६१ × १५१ = २४३११ होता है, जो अन्तरालित तरल के २४८०६ करीव-करीब सन्तुलित हैं। अन्तरालित तरल के धनायनों का टोटल संकेन्द्रण प्लाज्मा के धनायनों के टोटल संकेन्द्रण का ५ प्रतिशत कम होता है। प्लाज्मा प्रोटीनों के साथ कुछ पोटाशियम, मैग्नेशियम और विशेषकर कैल्शियम के आयन प्लाज्मा की प्रोटीनों से बंधे रहते हैं, इसलिए अन्तरालित तरलों में इन धातुओं की मात्रा २० से ५० प्रतिशत तक कम होती है।

इस प्रकार डोनन ईक्वीलीब्रियम यह स्पष्ट करती है कि कोशिकाओं के अन्दर अन्तरालित तरलों की अपेक्षा क्यों अधिक इलेक्ट्रोलाइट पाये जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि कोशिकाओं (सैलों) के अन्दर विसरणशील ऋणायनों (एनायनों) का टोटल अन्तरालित ऊतकों के ऋणायनों की अपेक्षा कम पाया जाता है। यद्यपि उसी समय कोशिकाओं के विसरणशील धनायनों (कैटायनों) की टोटल संख्या अन्तरालित तरल के धनायनों की अपेक्षा काफी अधिक होती है।

एक ७० किलोग्राम भार के व्यक्ति में औसतन ४७.७५ लिटर जल होता है। इस टोटल जल में से ३० लिटर के लगभग जल या तरल अन्तः कोशिकीय (इण्ट्रा-सैल्युलर) होता है और १७.७५ लिटर कोशिकाओं के बाहर (ऐक्स्ट्रासैल्युलर) होता है।

जब किसी कला के एक ओर बहुत सारे अविसरण-शील अणु एकत्र हो जाते हैं तथा दूसरी ओर उतने नहीं रहते तो कला के मध्य परासरण (औस्मोसिस) चालू हो जाता है। अन्तरालित तरल के ऋण और धन आयनों की टोटल संख्या १५८ + १५७ = ३१५ होती है। इस संख्या में से कुछ बाईवेलेंट होने से परासरणसक्रियता उनमें आधी ही रह जाती है। यह सब देखकर परासरण-सक्रियता के आधार पर अन्तरालित तरल में केवल ३०५ मिली औस्मोल प्रतिलिटर माने गये हैं और चूंकि तरलों

---

* डोनन इक्वीलीब्रियम—जब विसरणशील और अविसरणशील (नॉन डिफ्यूजीवल) आयन दोनों ही किसी एक कोशिकाकला (सैलमेम्ब्रेन) के एक ओर पाये जाते हैं तो एक ओर के टोटल विसरणशील ऋणा-यणों और टोटल विसरणशील धनायनों का गुणनफल दूसरी ओर के टोटल विशरणशील ऋणायणों और टोटल विसरणशील धनायनों के गुणनफल के बराबर होता है।

में परासरणी सन्तुलन रहता है, इस कारण इण्ट्रासौल्युलर तरल की भी परासरणी सक्रियता ३०५ औस्मौल प्रति लिटर ही रहता है। अन्तरालित तरल तथा अन्तः कोशिकीय तरल, इन दोनों में ५ मिली मौल प्रति लिटर नॉनइलैक्ट्रोलाइट भी होते हैं। इसलिए विद्वानों ने उनकी परासरणी सक्रियता (ऑस्मोटिक ऐक्टिविटी) ५ मिली औस्मोल प्रति लिटर मानी है। इस प्रकार ३०५+५ =३१० मिली औस्मोल प्रति लिटर शरीर के समस्त तरलों की परासरणी सक्रियता होती है। ऐसा अनुमान है कि यह संख्या वास्तविक से १०-१५ प्रतिशत ऊपर है।

अगर किसी कारण से अन्तरालित तरल का परासरणी दाव अन्तःकोशीय तरल के परासरणी दाव से अधिक हो जाता है तो जल कोशिकाओं के अन्दर से निकल कर बाहर आ जाता है। इससे कोशिकाओं के अन्दर सान्द्रता बढ़ जाती है जिससे अन्तःकोशी परासरणीदाव ऊंचा हो जाता है। जबकि कोशिकाबाह्य परासरणीदाव घट जाता है, क्योंकि यहां परासरणदृष्टि से सक्रिय द्रव्यों का डाइल्यूशन हो जाता है। जब दो भागों के परासरणी सक्रिय पदार्थों का सन्तुलन बिगड़ जाता है, तब कुछ ही मिनटों में जल एक ओर से दूसरी ओर जाने लगता है ताकि सन्तुलन फिर उत्पन्न हो जाय। इसका उदाहरण है शुद्ध जल में रक्त के लालकण डालना। लालकणों का परासरणीदाव शुद्ध जल की अपेक्षा बहुत अधिक होने से जल इन कणों में प्रवेश करने लगता है। वह यहां तक प्रवेश करता है कि ये कण थोड़ी ही देर में फट जाते हैं।

तरलों के सम्बन्ध में ३ शब्द प्रायः चिकित्सा क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं:—आइसोटॉनिक या समपरासरी या समतानी जिसे कुछ लोग समबल भी कहते हैं। इसमें क्रिस्टलाम परासरण क्रिया नॉर्मल शरीर तरलों जैसी होती है अर्थात् ३१० मिली औस्मोल प्रतिलिटर। हाइपरटॉनिक या अतिपरासरी या अतितानी या अतिबल, हाइपोटोनिक या न्यूनपरासरी या न्यूनतानी या अल्पबल।

हमारे इस मानव शरीर में ७०% जल रहता है। जिसमें से ५०% अन्तःकोशीय और २०% कोशिकाबाह्य होता है। कोशिकाबाह्य जलमें से ५%रक्तरस में रहता है तथा १५% अन्तरालित होता है। अन्तरालित में सोडियम रहती है, इसके बाद की कला सोडियम को या पोटाशियम को इधर-उधर नहीं होने देती। इस कला से होकर पानी तो इधर-उधर जा सकता है पर सोडियम या पोटाशियम नहीं। जल का आवागमन भी कला के दोनों ओर के इलैक्ट्रोलाइटों के परासरणीदाब पर निर्भर रहता है। प्लाज्मा तथा अन्तरालित तरल इन दो भागों में सोडियम प्रभावी रूप में काम करता है किन्तु प्लाज्मा में प्रोटीन रहती है। दोनों के बीच की कला जल और सोडियम के लिए तो प्रवेश्य है पर प्रोटीन के लिए नहीं। इन तरलों के आयतन के अलावा इनकी टॉनिसिटी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अगर तरल आइसोटॉनिक है तो जीवन चलता है, हाइपर या हाइपोटॉनिक है तो जीवन के लिए बाधा उत्पन्न हो जाती है। इसलिए तरलों के आयतन और संगठन में सन्तुलन रहना परमावश्यक होता है। जितने तरल लिए जायं उतने ही निकल जायं तब न सन्तुलन रहेगा। जल के शरीर से निकलने के ४ साधन हैं:—१. मूत्र द्वारा, २. श्वास द्वारा, ३. त्वचा द्वारा तथा ४. पुरीष द्वारा। मूत्र में ३५ ग्राम घन पदार्थ १५०० मिलीलिटर जल द्वारा बहाये जाते हैं। श्वास ४०० मि० लि० जल भाप द्वारा बाहर फेंक देती है। त्वचा से प्रतिदिन ६०० मि० लि० जल उड़ जाता है। अगर गरमी बढ़ जाय या शरीर किसी कारण गरम हो जाय तो पसीने से अलग जल निकलता है। पुरीष के साथ भी १००-२०० मि० लि० जल प्रतिदिन निकल जाता है। जल का अन्तर्ग्रहण दो प्रकार से निष्पन्न होता है। एक बाह्यमार्ग जल पीकर तथा आहार में जलीयांश के द्वारा यह २ से ३ लिटर होता है, जिसमें आधा भाग आहार से मिलता है। अन्तःमार्ग वे चयापचयिक क्रियाएं हैं जो शरीर के अन्दर होती रहकर लगभग ५०० मि० लि० जल शरीर के अन्दर ही तैयार कर देती हैं।

यद्यपि ऊपर जल के अन्तर्ग्रहण (इनटेक) और बहिर्निकास (आउटपुट का यह ब्योरा दिया गया है पर इसके अलावा शरीर में जलीय पदार्थों का निर्माण होता रहता है और वह जल शरीर के अन्दर ही प्रचूषित भी होता रहता है। उदाहरण के लिए वृक्कों में १७० लिटर निष्यन्द तैयार होता है पर १ से २ लिटर मूत्र राशि को

छोड़ शेष सब नलिकाओं द्वारा शरीर के अन्दर प्रचूषित हो जाता है। इसी प्रकार पाचक रसों के रूप में ८२०० मिलीलिटर जल तैयार होता है—लालास्राव में १५०० मि० लि०, आमाशयिक रस में २५०० मि० लि०, मल-पित्त में ५०० मि०लि०, अन्याशय रस मे ७०० मि०लि० तथा आँतों की श्लेष्मलकला से ३००० मि० लि०। इसमे से १००-२०० मि० लि० पुरीष के साथ निकलता है, शेष सभी महास्रोत द्वारा पुनः प्रचूषित हो जाता है।

इन तरलों और इलैक्ट्रोलाइटों का सन्तुलन शरीर में किस प्रकार होता है, यह विषय अभी भी अज्ञान के गर्त में पतित है।। ऐसा पता चला है कि जल या तरलों का सन्तुलन पोस्टीरियर पिच्यूटरी और उसके एण्टीडायूरेटिक हार्मोन द्वारा सम्पादित होता है।

शल्यक्रिया—शस्त्रकर्म का तरलों और इलैक्ट्रोलाइटों पर प्रभाव

रोगी को रोग के कारण कुछ भी प्रभाव पड़ता हो उसके अतिरिक्त जनरल अनीस्थीसिया के साथ किये गये सर्जीकल आपरेशन का उसके तरल सन्तुलन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है, इसे प्रत्येक सर्जन भली प्रकार जानता है। शस्त्रकर्म के दौरान या बाद में शरीर का तापमान बढ़ने से या वातावरण या शल्यगृह में गर्मी होने तथा रोगी को चादर से ढंक कर शस्त्रक्रिया की जाने से उसे पसीना आ सकता है और बिना पसीने के भी शरीर से तरलों की कमी होती रहती है। इसलिए मुख द्वारा या सिरा द्वारा रोगी को तरलों का सेवन कराना आज के प्रत्येक सर्जन के लिए अनिवार्य आवश्यकता होगई है।

प्रत्येक शल्यकर्म के साथ सोडियम-निष्क्रमण मे भी कुछ न कुछ बाधा पाई जाती है। यह बाधा इतने स्वरूपों में मिलती है:—

(क) किसी छोटे शल्यकर्म के बाद २४ से ४८ घंटे तक तथा बड़े शल्यकर्म के बाद १ दिन से ८ दिन तक सोडियम निष्क्रमण करने की प्राकृतिक शारीरिक शक्ति का ह्रास हो जाना;

(ख) शल्यकर्म के बाद ४८ घंटे तक मूत्र में पोटाशियम का अधिक मात्रा में निष्क्रमण होना। यह पोटाशियम प्रोटीनों के टूट-फूट के कारण न होकर कोशिकाओं के अन्दर से आया हुआ होता है।

(ग) मूत्र मे नाइट्रोजन की मात्रा बहुत अधिक निष्क्रमित होने लगती है जिससे नास्त्यात्मक नाइट्रोजन सन्तुलन हो जाता है। इसकी पूर्ति मुख द्वारा प्रोटीनें सेवन कराने से नहीं की जा सकती। जल जाने के बाद या अस्थिभग्न या बड़े आपरेशनों के बाद यह नास्यात्मक नाइट्रोजन बैलेंस अधिक पाया जाता है।

साधारण शल्यकर्मो के बाद कितना जल दिया गया और कितना निष्क्रमित हुआ। इसे देखकर जल के असन्तुलन का ज्ञान किया जा सकता है। इस स्थिति मे मुख द्वारा तरल मिला कर पूर्ति की जा सकती है। पर्याप्त मात्रा में जल पिलाना चाहिए ताकि चुपचाप होने वाली तरल हानि की भी पूर्ति की जा सके।

मुख के अतिरिक्त तरलों के शरीर मे प्रवेश की निम्नांकित विधियां प्रचलित है :—

(१) सतत् अन्तःसिरा सूचीवेध (कण्टीनुअस इण्ट्रावीनस ट्रान्सफ्यूजन) यह बन्द विधि से सुई प्रविष्ट करके या खुली विधि से किया जाता है।

इस विधि को हृदय की गति फेल होने पर या फुफ्फुसों में रक्ताधिक्य होने या वृक्कों की क्रिया फेल होने पर प्रयुक्त नहीं करना चाहिए।

(२) प्रतिलिटर तरल में १००० यूनिट हायलेज डालकर त्वचा के नीचे (सबक्युटेनियस) विधि से।

(३) टिबिया के त्वचा के नीचे के धरातल के अन्दर मज्जा में।

(४) गुदमार्ग में एनिमा देकर।

(५) नासामार्ग द्वारा आमाशय में प्रविष्ट रायल्स ट्यूब द्वारा; तथा

(६) अधिक देर प्रयोगार्थ इन्फीरियर वेना कावा मे एक पोलिथिन ट्यूब प्रविष्ट करके उसके द्वारा तरलों को प्रविष्ट किया जाता है।

यह विधि देर तक तरलों को रक्त में पहुंचाने के लिए काम में लाई जाती है।

इलैक्ट्रोलाइट पूरक विलयन

अनेक प्रकार के सौल्यूशन या घोल आजकल इलैक्ट्रोलाइटों की पूर्ति हेतु सर्जनों द्वारा प्रयुक्त किए जाते हैं इनमें से किस में कितने मिलीईक्वी कौन इलैक्ट्रोलाइट होता है वह नीचे की तालिका द्वारा स्पष्ट हो जाता है। जिसमें इन घोलों का संगठन दिया जा रहा है। साथ ही संख्या मिलीईक्वीवेलेंट/लिटर दी गई है—

क्रम संख्या	नाम विलयन	सोडियम Na^+	पोटाशियम K^+	कैल्शियम Ca^{++}	क्लोराइड Cl	बाईकार्बोनेट* HCO_3^-	अन्य
१	नॉर्मल सैलाइन समबल लवणोदक ०.८५% NaCl	१४५	—	—	१४५	—	—
२	सन्तुलित इलैक्ट्रोलाइट सौल्यूशन	१४०	१०	५	१०३	५५	इसमें ३ मिलीईक्वी/लिटर मैग्नेशियम (Mg^{++}) भी रहता है।
३	कैल्शियम ग्लूकोनेट १०%	—	—	४४६	—	—	—
४	डैरो का सैल्यूशन KNL	१२२	३५	—	१०४	५३	—
५	रिंगर्स इंजैक्शन	१४७	४	४	१५५	—	—
६	लैक्टेटेड रिंगर्स इंजैक्शन	१३०	४	३	१०९	२८	—
७	हाफ नॉर्मल सैलाइन ०·४५% NaCl	७७	—	—	७७	—	—
८	हाइपर टोनिक सैलाइन अतिबल लवणोदक ३% NaCl	५१६	—	—	५१३	—	—
९	१/६ मोलर (M/6) सोडियम लैक्टेट	१६७			१६७		
१०	अमोनियम क्लोराइड ०·९%				१७०		

* या तो बाईकार्बोनेट के रूप में या उसके पूर्ववर्ती (लैक्टेट, सायट्रेट या ऐसीटेट) के रूप में।

इन विलयनों के बारे में कुछ और जानकारी नीचे दी जाती है :—

सोडियम क्लोराइड सौल्यूशन—यह सर्वाधिक प्रचलित विलयन है। अभी तक समबल (आइसोटोनिक) विलयन का बहुत प्रचार था पर अब हाफ नॉर्मल सैलाइन विलयन का प्रचार बढ़ रहा है। इसमें लाभ यह है कि देर तक बोतल चढ़ाई जा सकती है ताकि उसका और अच्छी तरह उपयोग हो सके। किसी भी प्रकार का लवणोदक विलयन दिया जावे नमक की मात्रा जितनी आवश्यक हो अवश्य पहुंचा दी जानी चाहिए। जहां सोडियम की भारी कमी हो गई हो या जहां जलमद (वाटर इंटौग्जीकेशन) हो वहां हाइपरटॉनिक सैलानइन का प्रयोग किया जाता है।

मानव शरीर में तरलों का प्रसार तथा उनके आयतन का एकसा रखनें का दायित्व इनऑर्गनिक इलैक्ट्रोलाइटों का होता है। इसमें सोडियम और पोटाशियम के लवण मुख्य भूमिका अदा करते हैं। इस कारण सोडियम और पोटाशियम के संकेन्द्रणों का जोड़ कितना है, उससे शरीरस्थ जल कितना है इसका बोध होता है। खासकर कोशिका बाह्य जल के आयतन को नियमित रखने में सोडियम का विशेष महत्त्व होता है। जिसके शरीर में सोडियम घट जाती है, वह निश्चित रूप से निर्जलीभूत (डिहाइड्रेटेड) मिलता है। जब तक उसके सोडियम के अभाव की पूर्ति नहीं कर दी जाती तब तक वह पुनर्जलीभूत (रिहाइड्रेटेड) नहीं किया जा सकता है। इसके ठीक विपरीत यदि सोडियम का संचय शरीर में हो जाय या सिरा द्वारा सोडियम की अधिक मात्रा रक्त में पहुँचा दी जाय तो शरीर में अतिजल संचय (ओवर हाइड्रेशन) हो जाता है तथा उसका पता शरीर पर अधिक शोथ आने से होता है। प्रसंगवश लवणरस के सम्बन्ध में सुश्रुत का जो आब्जर्वेशन है वह कम महत्त्व का न होने से नीचे की पंक्तियों में दिया जा रहा है:—

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः शैथिल्यकृद्, उष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति। स एवं गुणोऽप्येक एव अत्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डू, कोठ, शोफ (इडीमा) वैवर्ण्य, पुंस्त्वोपघात, इन्द्रियोपताप, मुखाक्षिपाक, रक्तपित्त, वातशोणित, अम्लिकाप्रभृतीन् आपादयदि। —सु० सू० अ० ४२

सुश्रुत ने लवणरस के जो गुण लिखे हैं तथा अतिलवण सेवन की जो हानियां लिखी हैं वे सभी प्रायः मिल जाती है। अधिक सोडियम लेने से शोफ हो जाता है। खासकर रक्त में प्लाज्मा प्रोटीनों की कमी के कारण यह शोथ अधिक वढ़ जाता है। यकृत् की सिरोसिस में प्रोटीनों की यह कमी अक्सर मिल जाती है। कुपोषण से प्रभावित व्यक्ति जो शल्यकर्म हेतु सर्जन के पास आते हैं, वे भी इस प्रोटीन की कमी के शिकार पाये जाते हैं। प्लाज्माप्रोटीनों की यह कमी शल्यकर्म के वाद भी उन रुग्णों में पाई जा सकती है, जिनका पोषण शस्त्रकर्मोत्तरकाल में अच्छी तरह नहीं किया गया हो। अधिक मात्रा में संचित सोडियम का निष्कासन तथा सोडियम का न लेना या नमक का भोजन में वन्द रखना भी शोफ के रुग्णों को स्वस्थ करता है। इसके लिए मूत्रल द्रव्यों का उपयोग भी करना पड़ता है। भोजन में नमक रहित अल्व्युमिनवर्द्धक आहार भी दिया जा सकता है।

यदि चिकित्सक पहले से ही रक्तरस की सोडियम (सीरम सोडियम) की मात्रा का ज्ञान करले तो उसे फिर यह निश्चय करने में देर न लगेगी कि रोगी को नमक वन्द करना है या समवल, प्राकृत या अर्द्धवल सैलाइन चढ़ाना है अथवा अतिवल सैलाइन की उसको आवश्यकता है। शल्यकर्मोत्तर काल में यदि किसी को वहुत अधिक मात्रा में इलैक्ट्रोलाइटयुक्त तरल पिलाये जायं तो उसे जल-मद हो जावेगा, जिसे दूर करने के लिए अतिवल सैलाइन (३ से ६%) देना होगा। शरीर में जव अल्प सोडियम की स्थिति आती है और डिहाइड्रेशन हो जाता है तव समवल सैलाइन देने होते हैं। जव सीरम सोडियम की मात्रा ऊंची हो तव मुख द्वारा जल देकर या ग्लूकोज वाटर सिरा द्वारा चढ़ाना आवश्यक होता है।

१/६ मोलर या सोडियम लैक्टेट सौल्यूशन—१/६ मोलर संकेन्द्रण में लगभग समवल होता है। इसका उपयोग शरीर के अम्लोत्कर्ष को घटाने हेतु किया जाता है। यकृत् की खरावी में या अत्यधिक अम्लोत्कर्ष (ऐसीडोसिस) होने पर लैक्टेट न देकर सीधे वाईकार्वोनेट देना

चाहिए। इसके लिए वाईकार्वोनेट ४५ मिली ईक्वी ५० मिली के ऐम्प्यूल में आता है, उसे डैक्सट्रोज और जल में मिलाकर प्रयोग करते हैं।

लैक्टेटेट रिंगर इञ्जेक्शन का स्वरूप प्लाज्मा जैसा ही होता है। यह भी अम्लोत्कर्ष को रोकता है। इसके लिए वैलेंस्ड इलैक्ट्रोलायट विलयन भी बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। पर इन दोनों का क्षारोत्कर्ष रोगी को न देना चाहिए।

जिन रुग्णों में अम्लोत्कर्ष तथा पोटाशियम की कमी हो वहां डैरोविलयन बहुत लाभ करता है। यह बच्चों के अतीसार में दिया जाता है।

नौसादर विलयन या अमोनियम सौल्यूशन तीव्र या गम्भीर क्षारोत्कर्ष में दिया जाता है। पर अमोनिया का यह प्रयोग खतरे से खाली नहीं होता। अमोनियायुक्त विलयन यकृत् की खरावी होने पर विषाक्त भी हो सकते हैं इस कारण उन्हें सावधानी से देना चाहिए और यह देखते रहना चाहिए कि कहीं अमोनियम विषाक्तता के लक्षण स्वरूप वातिक (न्यूरोलोजिक) लक्षण न उत्पन्न हो जायं।

कैल्शियम ग्लूकोनेट विलयन का प्रयोग कैल्शियम की कमी होने या टिटैनी रोग में देते हैं। १०% का विलयन १० मि० लि० प्रति घंटे तक सिरा द्वारा दे सकते हैं।

पोटाशियम अन्तः कोशिकीय तरल का प्रमुख धनायन है। इसका प्रभाव भी अम्लक्षार सन्तुलन तथा जल-संचय पर पड़ता है। यदि रक्तरस में अधिक पोटाशियम मिलने लगे तो समझना चाहिए कि कोशिकाओं की टूट-फूट अधिक बढ़ गई है। इसका यह भी अर्थ है कि वृक्कों से पोटाशियम का निष्क्रमण ठीक ढंग से नहीं हो पारहा। वृक्कों की क्रिया का फेल होना, क्रियासंग (शॉक) होना, या निर्जलीभवन होना सीरम पोटाशियम के ३ कारण हैं। अधिक मात्रा में पोटाशियम के सिरा द्वारा सेवन से भी हाइपरकैलीमिया (अति पोटाशियम रक्तता) हो सकती है। अति पोटाशियम रक्तता के निम्नांकित लक्षण पाये जाते हैं:—

हृदय का अवसाद—नाड़ी का अतिमन्द होना, हृच्छब्दों का न सुन पाना, परिसरीय वाहिनियों का अवपात और हृद्गति का वन्द होना।

सेण्ट्रल नर्वस सिस्टम का अवसाद—इसमें मस्तिष्क में भ्रम का होना, दौर्वल्य, सुन्नता, तोद, शाखाओं में पक्षाघात (शिथिल स्वरूप का) तथा श्वसन पेशियों की दुर्वलता आदि।

शल्यकर्मोत्तर काल में जव पोटाशियम रहित विलयनों का प्रयोग कुछ अधिक दिन किया जावे तो पोटाशियम की कमी उत्पन्न हो जाती है। यह इसलिये होता है क्योंकि ये रुग्ण वहुधा नास्यात्मक नाइट्रोजन सन्तुलन और कम क्लोरिक सन्तुलन वाले होते हैं। इससे पोटाशियम की अधिकांश मात्रा कोशिकाओं से निकलकर मूत्र द्वारा निष्क्रमित की जाती है। अतीसार, भगन्दर और रायल्स ट्यूव डालकर पाचक रसों का आचूषण इन तीन कारणों से भी पोटाशियम की कमी हो जाती है। क्षारीयता भी पोटाशियम को मूत्रमार्ग से निष्क्रमित करती है। ऐड्रिनोकार्टिकल हार्मोन भी इसकी कमी करते हैं। चिन्ता, अवसाद, शोक, अभिघात, दग्ध तथा शस्त्रकर्म इन सभी के कारण भी पोटाशियम की मात्रा घटती है। डायामौक्स या डायरिल टाइप की मूत्रल दवाएं भी अधिक पोटाशियम को शरीर से निष्क्रमित करती हैं। काफी मात्रा में सैलाइन चढ़ाने पर भी क्षारीयता का निरन्तर वने रहना इस वात का द्योतक है कि रोगी के शरीर में पोटाशियम की कमी विद्यमान है। पेशीदौर्वल्य, प्रक्षोभ और अङ्गघात ये तीनों भी पोटाशियम की कमी की ओर ही इङ्गित करते हैं। हृदय का विस्फारण तथा नाड़ी का तीव्र होना तथा ई० के० जी० में परिवर्तन भी मिल सकते हैं।

पोषण हीनता और उनका दुष्प्रभाव

काफी समय तक सर्जन नाम से प्रसिद्ध चिकित्सकवर्ग शीघ्रातिशीघ्र आपरेशन करने और एण्टीवायोटिकों की भरमार में विश्वास करता आ रहा है। अव उसके इस दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन देखने में आ रहा है। वहुत दिन तक कफ में पूय थूकने वाले रुग्णों में पोषण

की कमी देखी जाती है। धातुक्षय का पूरा प्रकरण ही किसी न किसी शल्य सम्बन्धी रोग का समावेश करता ही है। भगन्दर के व्रण से होने वाला पूयस्राव, अस्थिमज्जा-शोथ या औस्टियोमाइलाइटिस अथवा ऐम्पायमा के रुग्णों में प्रोटीनों की कमी बहुत अधिक देखी जाती है। इस कमी के दो परिणाम निकलते हैं। एक तो मांसक्षय होकर शरीर दुर्बल या क्षीण या पतला होने लगता है तथा शरीर का भार कम होता चला जाता है, दूसरे प्रोटीनों के कारण जिन अनेक ऊतकों का निर्माण और पोषण होता है वे भी क्षीण हो जाते हैं। सुश्रुत का यह वाक्य तब याद आता है—

यस्य धातुक्षयाद् वायुः संज्ञा कर्म च नाशयेत्।
बलहीनं च भवेत्तस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम्॥

अर्थात् धातुओं के क्षीण होने से प्रबल हुआ वातदोष उस रोगी की संज्ञा (सेंसरी ऐक्टिविटीज) तथा कर्म (मोटर ऐक्टिविटीज) को नष्ट कर देता है तथा वह रोगी निर्बल हो जाता है—इतना निर्बल कि उसकी चिकित्सा करना संभव नहीं होता। यदि ऐसे रोगी को आपरेशन टेबिल पर ले जाया जाय तो उसकी वहीं मृत्यु हो सकती है। एक वैद्य की पत्नी देखने में काफी मोटी ताजी थी, किन्तु उसके गर्भाशय में कई रसौलियां होने से गत लगभग एक वर्ष से उसे रक्तस्राव गर्भाशय से होता रहता था। उसकी पोषण की कमी को डाक्टर लोग इसकी स्थूलतावश और पुष्ट होने के भ्रम में न जांच पाये। उसे आपरेशन टेबिल पर लिटा दिया गया। आपरेशन चालू कर दिया गया। पर वह बलशून्य महिला उसी टेबिल पर अपने दो पुत्रों और एक पुत्री को सदा-सदा के लिए मातृ-सुख से वञ्चित करती हुई और अपने प्रियतम को वैधुर्य का दारुण दुःख देती हुई इस असार संसार से विदा हो गई। सुश्रुत के उपर्युक्त वाक्य में दी गई चेतावनी का सर्जन ने कोई ध्यान नहीं दिया। सर्जन अपने क्षेत्र का सुप्रसिद्ध चिकित्सक था। दुख की बात यह और भी है कि उसकी एक कन्या ४-५ वर्ष की और एक पुत्र १२-१३ वर्ष का ही है।

शस्त्रकर्म के बाद जब क्षत का रोपण होने लगता है तो, हिन्दू विश्व-विद्यालय के सुप्रसिद्ध सर्जन डा० उडूप तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य डा० के० पी० शुक्ल द्वारा लिखित आधुनिक शल्यचिकित्सा के सिद्धान्त नामक उत्तर प्रदेशीय आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी लखनऊ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मुख्यरूप से इपीथिलियम, योजी ऊतकों तथा रुधिरवाहिकाओं इन तीनों का पुनर्जनन हुआ करता है। इसके लिए अन्य पदार्थों के अतिरिक्त प्रोटीनों और विटामिन सी की महती आवश्यकता पड़ती है। यदि इन दोनों में एक भी कम हुआ तो क्षत का विदरण हो सकता है। अगर रोगी पहले से स्वस्थ है तो क्षत जल्दी भर जाता है पर यदि वह लम्बे समय से बीमार है तो आपरेशन की सोचने के पूर्व उसकी पोषणहीनता दूर करने का भरसक यत्न करना चाहिए।

प्रोटीनें मुख द्वारा सेवन की जाती हैं। पचनसंस्थानों में ये विविध प्रक्रियाओं से गुजरती हुई एमाइनो अम्लों के रूप में प्रचूषित की जाकर पोर्टल वेन द्वारा यकृत् तक जाती हैं। जहां से वे सामान्य रससंवहन के साथ समस्त शरीर में पहुंचती हैं, वहां से केदारीकुल्यान्याय-क्षीरदधिन्याय-खलेकपोतन्याय-एक काल पोषणक्रम में से जो विधि सुखसुविधाजनक हो ऊतकों द्वारा अपनी टूट-फूट दूर करने और पुष्टि के लिए ग्रहण करली जाती हैं। इन प्रोटीनों से एंज़ाइम बनते हैं, हार्मोन तैयार होते हैं, प्लाज्मा प्रोटीनें निर्मित होती हैं तथा स्रावी घटक तैयार होते हैं। अविशिष्ट प्रोटीनें यकृत् द्वारा डीऐमीनेट करदी जाती हैं जिनसे यूरिका बनता है, जो मूत्र द्वारा निष्क्रमित होता है। प्रोटीन का शेष भाग ग्लाइकोजन बनाता और शरीर को ऊर्जा और ऊष्मा देता है। इस प्रकार प्रोटीनें ऊर्जा, ऊष्मा और ऐमाइनो एसिड देता है, जबकि फैट और शूकधान्य (कार्बोहाइड्रेट) केवल ऊर्जा, ऊष्मा (कैलोरीज) ही देते हैं।

यह प्रोटीन जब ऊतकों को बराबर मिलता रहता है, तब यह माना जाता है कि नाइट्रोजन अवधारण ठीक-ठीक हो रहा है और नाइट्रोजन का धनात्मक सन्तुलन चल रहा है और कोशिकाओं में प्रोटीनें भी बनती जारही हैं। यह शरीर वृद्धि या शरीर क्षीण की इतिश्री को प्रकट करती हैं। जब आहार में प्रोटीन की मात्रा आवश्य-

कता के अनुरूप नहीं होती वा संक्रामक रोगों या पूयात्मक-स्थितियों का निर्माण शरीर में होता जा रहा है तो नाइट्रोजन का ऋणात्मक या नास्त्यात्मक संतुलन बनता है।

प्रोटीनों का उपयोग शरीर में प्रोटीन बढ़ाने हेतु ही करना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब प्रोटीनों के साथ-साथ हम अपने रुग्णों को फैट और कार्वोहाइड्रेट्स भी दें। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस तथ्य को हृदयंगम कर लिया था। गुजरात का अड़दिया और गणेश जी का प्रिय मोदक तथा मथुरा और थान का पेड़ा इसका उदाहरण है। अड़दिया में उड़द प्रोटीन हैं, घी फैट है और खांड या चीनी कार्वोहाइड्रेट है। मोदक में चना प्रोटीन है। पेड़े में दूध का ही प्रोटीन और फैट तथा चीनी (बूरे के रूप में) मिली रहती है। यदि हिन्दुस्तान के शल्य अस्पतालों में शस्त्रकर्म के पूर्व और पश्चात् नास्ते में अड़दिया, मोदक और पेड़ों का प्रचलन दूध के अनुपान के साथ नित्य कराया जाय और १-१ गोली विटामिन सी की दी जावे तो अनेक पोषण बाधाएं दूर की जा सकती हैं। बंगाल का रसगुल्ला प्रोटीन और कार्वोहाइड्रेटों का श्रेष्ठतम आहार है। इसे विश्व के विविध अस्पतालों के शल्यरोगियों को दिया जाय तो करोड़ों रुपये का निर्यात व्यापार बढ़ाया जा सकता है। विटामिन बी कम्प्लैक्स भोजन के सात्म्यीकरण के लिए तथा विटामिन के रक्तस्तम्भन के लिए परम आवश्यक होने से इनका भी उपयोग समय-समय पर किया ही जाना चाहिए।

शरीर में प्रोटीन की कमी कई कारणों से देखी जाती है:—

१—पूयात्मक अवस्थाएं;

२—कम मात्रा में भोजन में प्रोटीन का सेवन;

३—जल जाना;

४—औपसर्गिक तीव्र ज्वरों, भस्मक रोग, उदरकला शोथ;

५—वृक्क के विकार तथा प्रमेह (विशेषकर अल्ब्यूमीन्यूरिया) तथा ओजक्षय;

प्रोटीनें कभी-कभी शरीर में ठीक-ठीक उपयोग में नहीं आपातीं यदि यकृत् में रोग हो तो।

वृद्धिशील बालकों, सगर्भा स्त्रियों, दुग्धप्रदात्री माताओं और धात्रियों में भी प्रोटीन की कमी मिल सकती है, यदि उन्हें आहार में प्रचुर मात्रा में प्रोटीनें न दी जावें तो।

डा० उडुप और डा० शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में प्रोटीनों की कमी के कारण पाये जाने वाले निम्नलिखित लक्षण दिये हैं जिन्हें हम अपने शब्दों में दे रहे हैं:—

१. क्रियासंग* (शॉक) की प्रवृत्ति—प्रोटीनों की कमी हो जाने के कारण सम्पूर्ण रक्त का आयतन कम हो जाता है तथा अन्तरालित तरल की मात्रा बढ़ जाती है। इनमें यदि रक्तक्षय होने लगे तो उनकी जीवनीशक्ति घटी होने से क्रियासंग होकर मृत्यु तक हो सकती है।

२. रोगापहारीसामर्थ्य (क्षमता) का अभाव—प्रचुर मात्रा में प्रोटीन सेवन करने पर जब चूहों में रोगापहारी क्षमताशक्तिदायक ऐण्टीबौडीज का निर्माण खूब होता है तथा कम प्रोटीन देने पर कम होता है तो मनुष्य के शरीर में भी ये प्रभाव न होते होंगे, नहीं कहा जा सकता।

३. क्षतविरोहण में बाधा—प्रोटीनों की कमी होने पर घाव भरने के लिए आवश्यक फाइब्रोब्लास्टों और रक्त की केशिकाओं का निर्माण ये दो कार्य अपूर्ण और मन्दगति से होने से घाव जल्दी नहीं भरता। यही नहीं प्रोटीन की कमी के परिणामस्वरूप क्षत विदीर्ण भी होते हुए पाये जाते हैं। सुश्रुत ने आमपक्वैषणीय में शोणितातिप्रवृत्ति, वेदनाप्रादुर्भाव और अवदरणमनेकोपद्रवदर्शनं क्षतविद्रविर्वा से इसी घटनाक्रम को बतलाया है।

---

* क्रियासंग शब्द शॉक के लिए आचार्य त्रिवेदी ने दिया है। उनका कहना है कि सुश्रुतशारीर अध्याय ८ में शस्त्रहता सिरा के द्वारा अत्यधिक रक्तस्राव होने पर उसे क्रियासंगकरी लिखा है। क्रियासंग ही शॉक है क्योंकि शॉक को आधुनिक चिकित्सा के कोषों में सिजेशन आफ नर्वस ऐक्टिविटीज, सर्क्युलेशन एण्ड रैस्पिरेशन बतलाया गया है।

४. हीमोग्लोबिन के निर्माण में रुकावट—हीमोग्लोबिन का निर्माण लोहे और प्रोटीन के द्वारा होता है। प्रोटीन की कमी से ग्लोबिन के निर्माण में कमी आ जाती है जिससे हीमोग्लोबिन का बनना कम हो जाता है। हीमोग्लोबिन की कमी का अर्थ है अनीमिया-अरक्तता या पाण्डुरोग।

५. रसधातु का सर्वतोभावेन ह्रास—रसधातु या प्लाज्मा में मुख्य घटक के रूप में प्रोटीनें और जल आते हैं। प्रोटीन की कमी से प्लाज्मा प्रोटीनों का निर्माण घट जाता है जिसके कारण वाहिनियों में उचित मात्रा में जलीयांश को रखपाना भी कठिन हो जाता है। क्योंकि प्लाज्मा का संगठन ठीक रखने के लिए जल को प्लाज्मा प्रोटीनों के अभाव में घटना पड़ता है। इससे रसधातु का आयतन कम हो जाता है। जब भोजन में प्रोटीनें बढ़ती हैं तो पहले प्लाज्मा या रसधातु का जलीयांश बढ़ता है, फिर शनैः-शनैः प्लाज्मा प्रोटीनों की कमी दूर होती है।

६. अन्तरालित तरलों की वृद्धि तथा शोफ की उत्पत्ति—प्लाज्मा के परासरणी दाब (ऑस्मोटिक प्रैशर) को बनाये रखने में प्लाज्मा प्रोटीनों की भूमिका ही महत्त्वपूर्ण होती है। स्वस्थावस्था में क्या सदा ही केशिकाओं और ऊतक-अन्तराल (टिश्यू स्पेस) के बीच तरल (फ्लुइड) या अम्बु का आदान-प्रदान चलता रहता है। प्लाज्मा प्रोटीनों के कारण रक्त में जलीयांश प्रायः स्थिर रहता है। जब अल्प प्रोटीनता आती है तो प्लाज्मा प्रोटीनें घट जाने के फलस्वरूप ऊतक-अन्तरालों में तरल या अम्बु अधिक मात्रा में चला जाता है तथा रक्त में यह तरल कम मात्रा में लौटता है, क्योंकि प्लाज्मा प्रोटीनें जो कम हैं तथा तरल का आचूषण उनके बिना कैसे हो सकता है। परिणाम स्वरूप समस्त शरीर में शोफ उत्पन्न हो जाता है। यह शोफ या इडीमा शस्त्रकर्मकृत भागों पर भी छा जाता है। गैस्ट्रो-एण्टरोस्टोमी के आपरेशन में कम प्रोटीन वाले रुग्णों मे यह शोफ विशेष हानि का कारण भी बनता है।

भगवान् धन्वन्तरि ने इस शोफ का यथार्थ और सुविस्तृत वर्णन सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान के आमपक्वैषणीय नामक १७वें अध्याय में दिया है। उस शोफ की अनेक आकृतियां होती हैं—

अनेकाकृतयः तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते।

यही शोफ आमावस्था, पच्यमानावस्था और पूयावस्था को प्राप्त होता है। इसका ज्ञान जिस सर्जन को नहीं होता उसे उन्होंने तस्कर माना है:—

आमं विपच्यमानं च सम्यक्पक्वञ्च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद् वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥

७. अन्य सामान्य लक्षण—प्रोटीनों की कमी के कारण उत्पन्न उपर्युक्त ६ परिस्थितियों के अलावा अन्य सामान्य लक्षण भी देखे जा सकते हैं। ये हैं:—

i. शरीर के भार का ह्रास;
ii. मानसिक अवसाद;
iii. दौर्बल्य एवं थकावट;
iv. नाड़ी का मन्दगति से चलना;
v. रक्तदाब का कम हो जाना;
vi. शरीर की चयापचय (मैटाबोलिक) क्रियाओं का घट जाना;
vii. वर्णहीनता या पाण्डुता (पेलोर) की उत्पत्ति।

ये सारे के सारे लक्षण चरक के इन श्लोकों के अनुवाद मात्र प्रतीत होते हैं, यद्यपि इनके ज्ञान में पाश्चात्य विद्वच्छिरोमणि गवेषकों का कितना समय और साधन लगे हैं:—

शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते।
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येप्योजसो गुणाः॥
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात्।
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः॥
वैवर्ण्यं भजते .... ॥

यहां एक बात और स्पष्ट हो जाती है और वह है ओजक्षय का ज्ञान। क्या ओज का क्षय प्रोटीनों की कमी का परिणाम है। क्या ओज प्लाज्माप्रोटीनों को भी शामिल करता है, इस पर एक अच्छी शास्त्रचर्चा की आवश्यकता है क्योंकि भावमिश्र का यह कथन:—

यस्माद्प्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्थानगतत्वात् तत्तद्धातुवन्मन्यत इति सर्वधातूनां स्नेह ओजः। क्षीरे घृतमिव तदेव बलमिति तत्कार्यकारणयोरभेदोपचारात् अभेदकथनं चिकित्सैकार्थम्।

ओजों व्यापद के तीनों दोष भी प्लाज्माप्रोटीनों का सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं—

त्रयोदोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः ।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः ।
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम् ।।
गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम् ।
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम् ।।
मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च ।
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये ।।

गात्रसदन, दोषच्यवन, क्रियासन्निरोध, शोफ, ग्लानि, मांसक्षय, प्लाज्मा प्रोटीनों की कमी के स्पष्ट द्योतक लक्षण हैं।

ओजक्षय के कारण इस विषय को और भी प्रकाशित कर देते हैं—

अभिघातात् क्षयात् कोपात् शोकात् ध्यानात् श्रमात् क्षुधः ।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम् ।।
तेजः समीरितं तस्माद् विस्रंसयति देहिनः ।।

इस आम और पक्व शोफ के ज्ञान को, जो वैद्य या सर्जन नहीं समझता उसे 'श्वपच' जैसे नीच के साथ धन्वन्तरि ने तुलना करदी है जो इस विषय के महत्त्व के प्रति प्राचीन शल्याचार्यों की भूमिका को सुस्पष्ट कर देता है:—

यश्छिनत्ति आममज्ञानाद् यश्च पक्वमुपेक्षते ।
श्वपचाविव मन्तव्यो तौ अनिश्चित कारिणौ ।।

अन्न (प्रोटीनों) का प्रयोग शस्त्रकर्म के पूर्व तथा बाद में भी भले प्रकार करने के लिए भी सुश्रुत का स्पष्ट निदेश है:—

प्राक्शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक् ।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनासहः ।।
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगात् मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ।
तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि ।।
प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः ।
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम् ।।

यहां जो भोजन और भोक्तव्यम् और अन्न का प्रयोग हुआ है वह बलसंरक्षण के लिए है तथा वह शस्त्रकर्म के ठीक पहले न करके काफी दिन पहले से करने के लिए है। शस्त्रकर्म के समय तो अनेक स्थलों पर भोजन न करना या केवल तरल लेना ही बतलाया जाता है।

मानव रक्तरस में कितनी प्रोटीनें हैं इसका ज्ञान तूतिया के विभिन्न घोलों में रोगी के सीरम की एक बूंद डालकर की जाती है। यदि बूंद निलम्बित हो जाय तो उस घोल को जानकर तालिका से ग्राम प्रतिशत मि. लि. निकाला जाता है। नीचे उक्त ग्रन्थ के आधार पर कुछ अंश दिये जा रहे हैं:—

तूतिया के घोल का आपेक्षिक घनत्व		सीरम या प्लाज्मा की प्रोटीनें ग्राम/१०० मिलिलिटर में	
१·०३५	—	१०·५	
१·०३१	—	९·०	
१·०२८	—	८·०	पुरुष तथा स्त्री के नॉर्मल मान
१·०२५	—	७·०	
१·०२४	—	६·५	
१·०२०	—	५·०	
१·०१५	—	३·०	

इस जांच से अल्पप्रोटीनरक्तता (हाइपोप्रोटीनीमिया) का ज्ञान हो जाता है।

एक स्वस्थ व्यक्ति को उसके शरीरभार के प्रतिकिलो पर १ ग्राम प्रोटीन आवश्यक होती है। किसी बीमार व्यक्ति के लिये यह मात्रा ४ ग्राम प्रति किलो के अनुसार तक जाननी चाहिए। यह प्रोटीन सदैव मुख द्वारा ही सेवन की जानी चाहिए। पर जिनमें महास्रोत का मार्ग अवरुद्ध हो तो सिरा द्वारा भी दे सकते हैं। मुख द्वारा दी जाने वाली प्रोटीनों में प्राणिज है—मांस, अण्डा, मछली और दूध तथा वानस्पतिजों में सोयाबीन, चना, मटर तथा अन्य दालें आती हैं।

जब मुख द्वारा भोजन देना सम्भव न हो तो राइल्स ट्यूब को नासा द्वारा अन्न प्रणाली में होकर आमाशय में पहुँचा देते हैं और उसमें तरल रूप में आहार डालकर अन्दर लगातार पहुँचाया जाता है। नली द्वारा पोषण में संक्रमण की सम्भावना अधिक होती है इससे रोगी को अतीसार का उपद्रव हो जाता है।

आजकल सिरा द्वारा प्रोटीनों के हाइड्रोलाइसेट ५ प्रतिशत लेकर १००० मि. लि. ५% के ग्लूकोज में

डाल सिरा द्वारा ड्रिप विधि से चढ़ाते हैं। ग्लूकोज सैला. इन में भी मिलाकर प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट दिया जा सकता है।

प्रोटीन की कमी को दूर करने के लिए प्लाज्मा का भी प्रयोग किया जाता है। इसके विषय में अलग से एक लेख लिखा जा सकता है। प्लाज्मा एक महंगी वस्तु है दूसरे इसके प्रयोग से समधर्मी सीरम कामला होने का डर रहता है। शोफ के रोगियों में प्लाज्मा का प्रयोग लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक करता है क्योंकि उसमें सोडियम क्लोराइड की मात्रा जरूरत से ज्यादा होती है फिर भी क्रियासंग और दग्ध के रुग्णों में इसका उपयोग लाभदायक देखा जाता है।

विटामिनों की पूर्ति

जिस पर अल्पपोषण होने पर शस्त्रकर्म के पूर्व रोगी को सन्तर्पण करना आवश्यक होता है उसी प्रकार अतिपोषण के कारण स्थूल बने रोगी का अपतर्पण क्रियाओं द्वारा पहले शरीर भार घटा लेना चाहिए फिर उसे आपरेशन टेबिल पर ले जाना चाहिए।

शल्य चिकित्सा में जो रोगी रखे जाते हैं उनके पोषण के ध्यान के साथ उनकी विटामिन पूर्ति की ओर भी ध्यान देना चाहिए नीचे थोड़ा विटामिनों का विचार किया जा रहा है:—

विटामिन 'ए'—यह पालक, दूध, गोभी, मछली, शलगम में पाई जाती है। यह वसा में घुलनशील है। इसकी वयस्क मात्रा ५००० यूनिट प्रतिदिन है। शरीर के विकासकाल और सगर्भता में इसकी अधिक आवश्यकता पड़ती है। ग्रहणी, कामला और अग्न्याशय के फाइब्रोसिस्टिक रोग में इस विटामिन 'ए' की कमी हो जाती है। महास्रोत, श्वसनप्रणाली और मूत्रवहमार्ग के इपीथीलियम को ठीक रखने में यह विटामिन 'ए' प्रयुक्त होती है। जिन बच्चों को विटामिन 'ए' कम मिलती है उनके मूत्राशय में अश्मरी बन जाती हैं। व्रणरोपण के लिए प्रयुक्त मलहरों में यदि विटामिन 'ए' भी मिला दी जाय तो बहुत लाभ होता है।

विटामिन 'बी कम्प्लैक्स—यह जल में घुलनशील विटामिन है। इसके कई फैक्टर आजकल ज्ञात हो चुके हैं इनमें कुछ इस प्रकार हैं:—

थियामिन हाइड्रोक्लोराइड या 'विटामिन बी$_1$'—यह दालों के छिलकों, मीट, अण्डे की जर्दी और यकृत् में मिलती है यह कार्बोहाइड्रेट मैटाबोलिज्म के लिए आवश्यक एंझाइम शृंखला का एक अविभाज्य अंग है। प्रतिदिन इसकी २ मिग्रा पर्याप्त मानी जाती है। इसके अभाव से वातनाड़ी कोशिकाएं डिजनरेट हो जाती हैं दिल धड़कने लगता है नाड़ी की गति बहुत बढ़ जाती है। परिसरीय भागों में न्यूराइटिस हो जाती है। आयास या परिश्रम थोड़ा सा. करने पर भी श्वास वृद्धि हो जाती है। रिस्टड्राप या फुटड्राप भी इसकी कमी से हो जाते हैं। दांतों में दर्द उनमें गर्मी सर्दी और खटाई का लगना पाया जाता है। बी$_1$ आहार में पूरा लिया जावे फिर भी इसकी कमी हो सकती है उसका कारण इस विटामिन का शोषण ठीक-ठीक न होना ही हो सकता है जो ग्रहणी रोग में प्रायः मिलता है। आजकल जो टैट्रासाइक्लीन वर्ग के कैपसूलों के सेवन की भरमार भारत में हो रही है वह भी इस विटामिन बी$_1$ की हीनता पैदा कर देती है।

विटामिन बी$_2$ या रीबोफ्लैविन—यह पीतवर्ण का विटामिन है जो यीस्ट या किण्व, दूध, यकृत् अण्डे की जर्दी तथा हरी पत्तियों में मिलता है। इसकी वयस्क मात्रा १५ मिग्रा प्रतिदिन है। इसका भी कार्बोहाइड्रेट मैटाबोलिज्म की ऐंझाइम शृंखला से सम्बन्ध है। इसके अभाव से होठ फटते और मुख के किनारे भी फटने लगते हैं। वृषणों की त्वचा पर शोथ (डर्मेटाइटिस) और जिह्वा शोथ (ग्लौटाइटिस) हो जाता है।

निकोटिनिक एसिड—यह भी विटामिन बी कम्प्लैक्स का ही एक फैक्टर है। इसकी वयस्क मात्रा १० मिग्रा प्रतिदिन है। इस विटामिन की कमी से पेलाग्रा नामक लक्षण समूह उत्पन्न होता है जिसमें मनोभ्रंश (डेमेंशिया), प्रवाहिका और त्वचा की डर्मेटाइटिस ये ३ लक्षण आते हैं।

पेंटोथीनिक एसिड—यह विटामिन ऊतकों में एसिटिलकोलिन के निर्माण से सम्बद्ध होता है तथा आंत की प्राचीरों की टोन बनाए रखता है। यह आंतों में आध्मान को दूर करती है इस कारण इसे इण्टेस्टीनल ऑब्स्ट्रक्शन में प्रयुक्त करते हैं। प्रतिदिन १० मिग्रा की वयस्क मात्रा है

फौलिक एसिड तथा सायनोकोवेलेमीन—इनकी आवश्यकता मैटावोलिक क्रियाओं के निष्पादन में पड़ती है। मैगालोब्लास्टिक अनीमिया के उपचार में इनका विशेष उपयोग है। पोषण की कमी से होने वाले पाण्डुरोग में फौलिकाम्ल और विटामिन वी$_{१२}$ की वहुत आवश्यकता होती है। चिकित्सात्मक उपयोग में सायनों कोवेलेमिन १०० से ५०० माइक्रोग्राम की मात्रा में दी जाती है।

विटामिन 'सी'—यह विटामिन जल में घुलता है। ताजे फलों और हरे शाक सब्जियों में यह काफी मात्रा में पाई जाती है। विटामिन 'सी' औक्सीडेशन-रिडक्शन क्रियाओं के परिवर्तनों में हाइड्रोजन वाहक का काम करती है यह म्यूकोपोलिसैकराइड तथा कोलैजन ऊतक का निर्माण करती है। कुछ हार्मोनों के निर्माण में भी यह उपयोगी है। रोगापहरण सामर्थ्यदाता एण्टीबौडियों के निर्माण में भी विटामिन 'सी' का वड़ा योगदान होता है। इसलिए संक्रामक रोगों में इसका उपयोग किया जाता है। विटामिन 'सी' के कारण व्रणों का रोहण शीघ्रता से होता है। अगर विटामिन 'सी' कम दी जाय तो व्रण के रोहण में वाधा पड़ जाती है।

सर्जीकल ऑपरेशन के वाद घाव का भरना इस वात पर निर्भर करता है कि कोलैजन ऊतक कितने शीघ्र तैयार हो जाता है। विटामिन सी की अनुपस्थिति में वह तैयार नहीं होता। ऑपरेशन के पूर्व विटामिन सी की शरीर में कमी हो तो वाद में यह कमी ५०% से ३०% और घटकर विरोहण प्रक्रिया को लटका देता है। प्रतिदिन शल्यकर्म के पूर्व और पश्चात् ५०० मि० ग्रा० इस विटामिन के प्रयोग करने से घाव जल्दी भर जाता है और व्रण का विदारण नहीं हो पाता। दग्ध, अस्थिभंग या फ्रैक्चरों में तथा अकस्मात् या ऐक्सीडेंटों के विरोहण में भी यह विटामिन वहुत महत्व का भाग अदा करती है। डा० उडुप एवं डा० शुक्ला विटामिन सी के काफी मात्रा में प्रयोग को वृहत् शस्त्रकर्मों में रोगियों को देने के अधिक पक्ष में हैं। सामान्यतः इसकी वयस्क मात्रा ७५ मि०ग्रा० प्रतिदिन है। चिकित्सा में ५०० मि० ग्रा० प्रति दिन दे सकते हैं।

विटामिन डी—यह फैट में घुलने वाली विटामिन है। मछली के तेल, दूध और अल्ट्रावायोलेट रश्मियों के सम्पर्क में आने वाले पदार्थों में पाया जाता है। किसी भी प्रौढ़ व्यक्ति को विटामिन डी की ४०० से ८०० अन्तर्राष्ट्रिय यूनिट दी जानी चाहिए। यह विटामिन कैल्सियम-फास्फोरस के रक्त में अवधारण को अस्थियों से उन्हें गतिशील करने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है। हाइपोपैराथायरायडिज्म होने पर सीरम कैल्शियम वढ़ाने के लिए इसका उपयोग होता है। अस्थिमार्दव रोकने में विटामिन डी और कैल्शियम दोनों की आवश्यकता होती है।

इसे वहुत अधिक मात्रा में देने से वृक्कों तथा वातनाड़ियों पर विषैला प्रभाव पड़ जाता है। वृक्कों में अश्मरी तथा धमनीकाठिन्य भी हो जाते हैं।

विटामिन ई—यह विटामिन अंकुरित वीजों, मटर दूध में पाई जाती हैं। इसे सन्तानोत्पत्ति हेतु उपयोगी माना जाता है। यह वृष्य और गर्भपातहर मानी जाती है। मात्रा २५ मि० ग्रा० प्रतिदिन तक।

विटामिन के—यह अल्फाफा तथा अन्य हरी वनस्पतियों में पाई जाती है। यह के १ तथा के २ के रूप में पाई जाती है। इसे ५ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन दिया जाना चाहिए। यह विटामिन महास्रोत में जीवाणुज संश्लेषण से भी प्राप्त होता है। इसके आन्त्र द्वारा प्रचूषण के लिए वाइल साल्टों की आवश्यकता होती है, अगर वह किसी कारण न रहा या कम रहा तो विटामिन के का प्रचूषण कम होता है और हाइपोप्रोथ्रोम्वीनीमिया होकर रक्तस्राव की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जीर्ण अतीसार, जीर्ण प्रवाहिका और अल्सरेटिव कोलाइटिस के कारण भी विटमिन के का प्रचूषण नहीं हो पाता। विटामिन के यकृत् में इससे प्रोथ्राम्वीन तैयार होती है जो फाइव्रीनोज को फाइव्रिन में वदलने वाली थ्राम्वीन का निर्माण कर रक्तस्कन्दन कराती है। पर यदि यकृत् ही क्षतिग्रस्त हो तो भी प्रोथ्राम्वीन का निर्माण न होकर रक्तस्राव प्रवृत्ति कम नहीं होती। रक्तस्कन्दनरोधी द्रव्यों के द्वारा होने वाली हानि को रोकने के लिए भी इस विटामिन की आवश्यकता पड़ती है। सामान्यतः इसकी २ मि० ग्रा० की वयस्क मात्रा है, पर रक्तस्राव में चिकित्सा के लिए मात्रा २० मि० ग्रा० तक की वतलाई गई है।

कर्णवेध एक प्राचीन भारतीय परम्परा

डा० गजेन्द्रसिंह छोंकर, प्रवक्ता—श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय, हाथरस

रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते

प्राचीनकाल में किन परिस्थितियों में बालकों का कर्णवेध किया जाता था इसका आकलन आज के युग में करना संभव नहीं है। लगता है उस समय बालमरक संख्या बढ़ रही थी। रक्षा का उपाय उस समय के दिग्गज चिकित्सक विद्वान् सोचते थे। उन्हीं में से एक विधि कर्णवेध की सामने आई और उस समय के तत्कालीन श्रेष्ठतम शल्यविद् भगवान् धन्वन्तरि ने उसे अपना लिया और घोषित किया कि बालकों की अकालमृत्यु से रक्षा हेतु तथा उनकी सौन्दर्यवृद्धि के या अलंकरण के लिए उसके दोनों कानों का वेध किया जाना चाहिए।

इस विषय में सहज शंका उठ सकती है कि जिन ग्रहों से रक्षा के लिए कर्णवेध किया जाना है वे ग्रह तो रक्तमांसप्रिय होते हैं वे तो और अधिक बालक पर आक्रमण कर सकते हैं उनसे रक्षा कैसे होगी ? इस प्रश्न को उठाते हुए डल्हण ने स्वयं ही एक समाधान प्रस्तुत किया है:—यद्यपि विद्धकर्णत्वात् व्रणिनि बाले रक्तमांसप्रियत्वात् रक्षोभयमस्ति एव, तथापि व्रणस्याल्पकालत्वाद् दैवकृतच्छिद्रत्वाद् वा रक्षणार्थं भवति। अर्थात् यद्यपि कर्ण के छेद देने से व्रण जिस बालक में उत्पन्न हुआ है वहां रक्तमांस के प्रति प्रेम होने से राक्षसों का भय हो जाता है तो भी क्योंकि व्रण थोड़े ही समय रहता है तथा वहां जहां छेद करना है प्राकृतिक छिद्र (दैवकृत छिद्र) रहता भी है तथा यहां रक्षार्थ ही किया जाता है इसलिए कोई हानि नहीं होती। इसी विषय को आयुर्वेद के अखण्ड विद्वान् आचार्य त्रिवेदी जी के सामने हमने रखा। उन्होंने जो सटीक उत्तर दिया वह सभी के लिये दिग्दर्शक होने से यहां लिखा जा रहा है। उन्होंने कहा, "डाक्टर छोंकर आप क्या यह कल्पना कर सकते हैं कि जिस समय बालमृत्यु की दर घटाने की समस्या प्राचीन भारतीय चिकित्सकों के सामने आई उस युग में न तो कृत्रिम इम्यूनिटी पैदा करने के साधन थे और न तब तक एण्टीबायोटिकों का युग ही पैदा हुआ था। उन विद्वानों ने एक चमत्कारी नई विधि का सृजन किया जो आज भी विश्व के प्रमुख चिकित्सकों को ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा सोचने को बाध्य करती है। चेचक दूर करने का जो मार्ग आज प्रशस्त किया गया है वह प्राचीनों के इस प्रयोग के ही सर्वथा अनुकूल है। चेचक का रस चेचकयुक्त गात्र से लेकर उसे मानव शरीर में या बाल शरीर में प्रविष्ट करना और चेचक विरोधी क्षमता शक्ति उस बालक में पैदा करना आज भी यथावत् है जैसा प्राचीनकाल में था। ठीक इसी लाइन में प्राचीन भारतीय विद्वानों ने सैप्सिस से जूझने का मार्ग निकाला था। कान की लौर में जरा सा छेद कर देना। उस पर सैप्सिस उत्पन्न करने वाले ग्रहों का आक्रमण होने देना। उस आक्रमण से शरीर के रक्षकतन्त्र को परिचित कराना और एक सक्रिय क्षमताशक्ति या रोगापहरण सामर्थ्य का उस बालक में संधान करना जिसके बल पर वह जीवन भर सैप्सिस पैदा करने वाले राक्षसों (घातक जर्मों) से लड़ सके। आगे चलकर इसी पद्धति का विस्तार महिलाओं में और

अधिक करना पड़ा उनकी नासिका का छेदन कान में पाली के अतिरिक्त भी छिद्र करना क्योंकि उन्हें मासिक-धर्म के समय प्रतिमाह ही तथा प्रसव के समय कई बार इन राक्षसों के सम्पर्क में आना पड़ता था। आज भी जो रोग नाशक सीरम और वैक्सीन तैयार किये जा रहे हैं वह प्राचीनों की उसी खोज के सिद्धान्त के आधार पर है जो हजारों वर्ष पहले इसके महान् चिकित्सा—अनुसन्धानकर्त्ताओं ने विश्व को प्रदान किया था। चीनी एक्यूपंक्चर के पीछे भी यही भारतीय सिद्धान्त काम करता है।

आचार्य के इस तर्कसम्मत विचार ने मुझे पूरी तरह मन्त्रमुग्ध कर लिया। हम कभी-कभी अपने अज्ञानवश किसी प्राचीन भारतीय परम्परा को मूर्खतापूर्ण मान बैठते हैं उसके पीछे कितना व्यापक वैज्ञानिक आधार पाया जा सकता है उसकी ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती। हम विदेशी कांच का अपने भारतीय हीरे से अधिक मूल्य दे जाते हैं और जगत् में उपहास के भाजन बनते हैं। आज भी किसी न किसी रूप में वे भारतीय चिकित्सा सिद्धान्त विश्व चिकित्सा पद्धति पर छाये हुए हैं। उनके वक्तव्य से मुझे एक बात और सुस्पष्ट हो गई कि भूत, पिशाच, राक्षस वही बैक्टीरिया और वाइरस हैं जिनमें अधिकांश का निर्माण हम कल्चर द्वारा अपनी लैबोरेटरियों में करते हैं तथा उनके लिए कहीं अण्डा कहीं मांसरस और कहीं रक्त का उपयोग करते हैं। वे कोई रावण कुम्भकरण सरीखे राक्षस नहीं हैं क्योंकि वे तो समूचा ही बालक को निगलने की सामर्थ्य रखते हैं वे कान की लोर के एक दो बूंद रक्त तथा १-२ मिलीग्राम मांस से क्या लेंगे देंगे।

कर्णछेदन का आपरेशन कितनी सतर्कता से प्राचीन काल में किया जाता था उसका कुछ वर्णन नीचे की पंक्तियों में करना मैं अपने अग्रज आचार्य प्रवर की आज्ञा का पालन रूप में कर रहा हूं:—

भगवान् धन्वन्तरि ने एक ही वाक्य में पूरे आपरेशन का इस प्रकार वर्णन किया है—

तौ—उन दोनों कानों को

षष्ठे मासि सप्तमे वा—छठे अथवा सातवें महीने में यहां बाल शब्द का प्रयोग ६-७ माह के शिशु के लिए किया गया है। डल्हण भाद्रपद से छठे मास अर्थात् माघ तथा सप्तम मास फाल्गुन में इस शस्त्रकर्म को करने का ज्ञान देता है।

शुक्लपक्षे—यह आपरेशन शुक्ल पक्ष में किया जाना चाहिए क्योंकि भारतीय चिकित्सक विद्वान् ऐसा मानते हैं कि चन्द्रमा सुधाकर है और उसकी किरणों से अमृत झरता रहता है जो शल्य रोगियों के लिए विशेष लाभ करता है। अगर आधुनिक शल्य-शालाक्य विभागीय विद्वान् शुक्ल कृष्णपक्ष के सर्जीकल आपरेशनों का लेखा रखें तो क्या लाभ किस पक्ष में होता है इसका पूरा विवरण तैयार किया जा सकता है।

प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्त नक्षत्रेषु—ज्योतिष शास्त्र के अनुसार प्रशस्त तिथि शुभ करण, शुभ मुहूर्त और उत्तम नक्षत्र का ज्ञान करके समय निर्धारित करा कर उसी समय इसे कर्णवेध शस्त्रकर्म को पूरा करना चाहिए। आज ऐस्ट्रोलोजी का व्यक्ति के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है विज्ञान नहीं जान पाया फिर भी वह अपने को प्राचीन से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानता है।

कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनम्—यह मंगलकर्म और स्वस्तिवाचन वातावरण को पवित्र करने के लिए तथा परिवारीजनों को मनोवैज्ञानिक सान्त्वना प्रदान करने हेतु किया जाता था।

धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के वा—बालक को धाय (धात्री स्त्री) की गोद में बैठाकर अथवा कुमारधर (बालक को खिलाने वाले पुरुष की) गोद में बैठाकर यह शल्यकर्म किया जाता था क्योंकि बालमनोविज्ञान की दृष्टि से बच्चे अपनी मां, धाय या कुमारधर की गोद में ही निश्चिन्त होकर बैठे रह सकते हैं। अन्य अजनबी के सामने या उसकी गोद में रोते चीखते ही रहते हैं।

कुमारं उपवेश्य—यह कर्णच्छेदनकर्म कुमार या बालक को बैठी हुई स्थिति में ही कराया जाता है।

बालक्रीडनकैः प्रलोभ्य अभिसान्त्वयन्—बच्चे को खिलौनों का प्रलोभन देकर अर्थात् उसके हाथ में वैद्य स्वयं रबर, प्लास्टिक, धातु या लकड़ी के हाथी, घोड़ा, बैल, गाय, तोता, मछली आदि के बने हुए खिलौने रूप प्रलोभन देकर उसे सान्त्वना देते हुए आगे का शस्त्रकर्म करे। जो चिकित्सक किसी बालक के साथ बिना मैत्रीभाव

स्थापित किए उसे देखना या चिकित्सा आरम्भ कर देता है, वह वैद्य बाल चिकित्सक नहीं बन सकता। बच्चे उसे देखते ही डर जाते हैं।

भिषक् वामहस्तेन आकर्ष्य कर्णं—(पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य वामं कन्यायाः)

दैवकृतेच्छिद्रे—

आदित्यकरावभासिते—

शनैः शनैः दक्षिणहस्तेन—(प्रतनुकं सूच्या बहलमारया)

ऋजु विध्येत्—भिषक् अर्थात् सर्जन अपने बांये हाथ से कुमार (बालक) का पहले दाहिना कर्ण तथा कन्या का पहले बांया कान अपनी ओर खींचकर सूर्य की किरणों से कान के पारभासक भाग को देखते हुए दैवनिर्मित छिद्र पर, धीरे-धीरे दाहिने हाथ से यथावश्यक पतली सुई या बहलआरा शस्त्र (मोटे नुकीले सूजे) से सीधा वेध करे।

ततः पिचुवर्तिं प्रवेशयेत्—फिर पिचुवर्ति या डोरा उस छिद्र में होकर जो कर्णवेध शस्त्रकर्म से बना है, प्रविष्ट कर दे।

उसने इसकी कि ठीक से विद्ध हुआ है, एक परीक्षा यह दी है:—शोणितबहुत्वेन वेदनया च अन्य देशविद्धम् इति जानीयात्, निरुपद्रवतया तद् देशविद्ध इति—अगर कान छेदने पर शस्त्रकर्मस्थान से बहुत खून निकले या बहुत दर्द हो तो समझना चाहिए कि दैवकृतछिद्र नामक स्थान पर कर्णवेध नहीं किया गया, किसी दूसरे स्थान पर किया गया है तथा अगर वहां न तो दर्द हो और न खून ही अधिक निकले और कोई अन्य उपद्रव न हो तो समझना चाहिए कि ठीक स्थान पर वेध किया गया है।

मनमाने तौर पर मूर्ख के द्वारा अन्य स्थान पर वेध कर देने से कान की कालिका, मर्मरिका तथा लोहितिका नामक तीनों शिराओं में से कोई एक विद्ध हो जाती है, इनके लक्षण या उपद्रव निम्नलिखित होते हैं:—

i. कालिका कर्ण सिरावेध के उपद्रव—ज्वर, दाह, शोथ, वेदना;

ii. मर्मरिका कर्ण सिरावेध के उपद्रव—वेदना, ज्वर, ग्रन्थि;

iii. लोहितिका कर्ण सिरावेध के उपद्रव—मन्यास्तम्भ, अपतानक, शिरोग्रह तथा कर्णशूल।

इन उपद्रवों को देखकर सुप्रसिद्ध सुश्रुत टीकाकार डा० घाणेकर महोदय ने कालिकावेध को सिरावेध या वेन का पंक्चर माना है। लोहितिकावेध को धमनी माना है तथा मर्मरिकावेध को नर्ववेध माना है। मन्यास्तम्भ, अपतानक और शिरोग्रह ये लक्षण धमनी वेध के न होकर टिटैनस की उत्पत्ति के माने हैं जिसकी सम्भावना प्रत्येक क्षत में होना आज भी शक्य है। अगर भिषक् शुद्ध वस्त्र पहन, अपने शरीर और हाथों को पूर्ण शुद्ध कर पूर्ण शुद्ध शस्त्र से पहले से खौले हुए ठण्डे जल से धोकर या निर्जीवाणुक द्रव से धोकर वेध करे तो टिटैनस की संभावना नहीं रहती।

तेषु यथास्वं प्रतिकुर्वीत—उक्त कालिका, मर्मरिका और लोहितिका के गलत वेध के कारण उत्पन्न लक्षणों की लक्षणानुसार चिकित्सा करे।

क्लिष्ट, जिह्म (टेढ़ी), अप्रशस्त (अशुद्ध) सुई के द्वारा वेध करने से या मोटा डोरा पिरोने से उत्पन्न कष्ट के कारण या दोषों के प्रकोप से या गलत वेध कर देने से जो संरम्भ (इन्फ्लेमेशन) तथा वेदना (दर्द) उत्पन्न हो जाय तो—

वर्तिमुपहृत्य—डोरे या वत्ती को निकाल कर

मधुकैरण्डमूलमञ्जिष्ठायवतिलकल्कैः—

मधुघृतप्रगाढैःआलेपयेत् तावद् यावद् सुरूढ इति—मुलहठी, अण्डी की जड़, मजीठ, जौ और तिल को शहद और घी के साथ पीसकर उसका गाढ़ा-गाढ़ा लेप उस घाव पर तब तक किये रहे जब तक कि वह छेद पूरा का पूरा अच्छी तरह भर न जाय।

सुरूढं च एनं पुनः विध्येत्—उसके भर जाने के बाद कान को फिर दैवकृतछिद्र स्थान पर फिर कर्णवेध करे। उस कर्णवेध का विधान फिर भी वही रहेगा जो पहले बतलाया जा चुका है।

सम्यक् कर्णवेध का पश्चात् कर्म

तत्र सम्यग्विद्धं आमतैलेन परिषेचयेत् त्र्यहात् त्र्यहात् च वर्तिं स्थूलतरां दद्यात् परिषेकं च तमेव—ठीक से कर्णवेध हो जाने पर बिना पकाये घानी से निकाले हुए तिल

तेल से वहां परिषेक करे अर्थात् तेल वहां टपकावे और उस तेल से कान के छेद को भिगोये रखे। ३-३ दिन पर पिचुवर्ति (डोरा) बदल-बदल कर पहले पतला फिर उससे मोटा फिर और मोटा डालता रहे। जब दोष शान्त हो जायं कोई उपद्रव न रहे तब इस छिद्र को और बढ़ाने के लिए सोना, चांदी, अपामार्ग, नीम, कपास, काठ में से जिसकी सुलभता हो, धतूरे के फूल के आकार की शलाका (वर्धनक) डाल दे।

कान के छेद का फट जाना

कभी-कभी इस प्रयास में बालक के कान का छेद बड़ा होकर फट जाता है उसके २ भाग अलग-अलग हो जाते हैं। यह फटना दोषों के उपद्रव स्वरूप या चोट से या बालक द्वारा वर्धनक को जोर से खींच लेने से भी हो जाता है। इसे फटे कान को जोड़ने के लिए कर्णबन्ध बताये जाते हैं। इन बन्धों की १५ संख्या का उल्लेख ही यह बतलाता है कि प्राचीन भारत में कर्णवेध कितनी व्यापक प्रथा थी।

१५ कर्णबन्ध

ये १५ कर्णबन्ध भगवान् धन्वन्तरि ने अपने प्रधान शिष्य सुश्रुत को नीचे लिखे प्रकार गिनाये हैं। इन बन्धों का प्रयोग तब होता जब बन्ध के सामने दी गई स्थिति उपस्थित हो:—

१. **नेमिसन्धानक**—जब कर्णपालि के दोनों भाग पृथुल, आयत और समान हों;

२. **उत्पलभेधक**—जब कर्णपालि के दोनों भाग वृत्त, आयत और सम हों;

३. **वल्लूरक**—जब कर्णपालि के दोनों भाग ह्रस्व-वृत्त और सम हों;

४. **आसंगिम**—जब भीतर की ओर का कर्णपाली का भाग दीर्घ हो;

५. **गण्डकर्ण**—जब बाहर की कर्णपाली का भाग दीर्घ हो;

६. **आहार्य**—जब कर्णपालि के दोनों ही भाग न हों;

७. **निर्वेधिम**—जिसकी कर्णपाली के दोनों भाग मूल से ही छिन्न हों तो पुत्रिका के शेष भाग का आश्रय करके निर्वेधिम बन्ध का उपयोग किया जाता है;

८. **व्यायोजिम**—जब पाली का एक भाग स्थूल, अणु और सम हो तथा दूसरा भाग स्थूल, अणु और विषम हो;

९. **कपाटसन्धिक**—जब आभ्यन्तर पालि भाग दीर्घ और बाह्य पालि भाग अल्प हो;

१०. **अर्धकपाटसन्धिक**—जब बाह्य कर्णपालि भाग दीर्घ और अल्प हो;

यहां तक १० कर्णबन्ध विकल्प साध्य होते हैं, इनकी आकृतियां नाम से ही स्पष्ट हैं। नीचे के पांच कर्णबन्ध असाध्य हैं।

११. **संक्षिप्त**—जब कर्ण शष्कुलि शुष्क हो, कर्ण-पालि का एक भाग उत्सन्न (नष्ट) हो, दूसरा अल्प हो;

१२. **हीनकर्ण**—जिसकी पालि का अधिष्ठान ही न हो यानी दोनों भाग नष्ट हो गये हों तथा पास गालों पर भी मांस न हो;

१३. **वल्लीकर्ण**—जब कर्णपालि के दोनों भाग तनु, विषम और अल्प हों;

१४. **यष्टिकर्ण**—जब कर्णपालि का मांस गांठ-गठीला हो, सिरा स्तब्ध हो, सिराएं बहुत हों और पालि सूक्ष्म हों;

१५. **काकौष्ठक**—जब कर्णपालि मांसरहित हो, अग्र तंग और संक्षिप्त हों तथा रक्त की मात्रा कम हो।

ये निचले पांच बन्ध या तो बांधे नहीं जा सकते, अगर बंध भी गये तो उनमें शोफ, दाह, राग, पाक, पिडका और स्राव बहते रहने से उनमें सन्धान ठीक-ठीक नहीं हो पाता।

इस विषय में कुछ नियम भी दिये गये हैं जिन्हें भिषक् को जाने रहना चाहिए, वे हैं:—

१—यदि दोनों कर्णपालियां न हों तो कर्णपीठ में वेध (निर्वेधिम बन्ध) करे।

२—अगर बाह्य कर्णपालि दीर्घ हो तो भीतर की ओर और भीतर की बड़ी हो तो बाहर की ओर सन्धान करना चाहिए।

३—यदि एक ओर की कर्णपालि स्थूला, चौड़ी और स्थिर हो तो उसे बीच से चीर ऊपर दूसरी ओर जोड़ देना चाहिए।

४—अगर पाली न हो तो अहार्यवन्ध का सन्धान सूत्र इस प्रकार काम में लावे—

गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुवन्धेन जीवता ।
कर्णपालीमपालेस्तु कुर्यान्निर्लिख्य शास्त्रवित् ।।

गण्डभाग से मांस को थोड़ा जुड़ा रखकर काटे और जहां पाली वनानी है वहां थोड़ा लेखन करके प्लास्टिक-सर्जरी के शास्त्र ज्ञाता भिषक् पाली वना दे ।

कर्णपालिसन्धान का शस्त्रकर्म

ऊपर वतलाये हुए वन्ध वांधने की इच्छा हो तो अग्रोपहरणीय अध्याय में दिग्दर्शित संभार को एकत्र करे। विशेषकर सुरामण्ड, दूध, जल, धान्याम्ल (कांजी) तथा कपालचूर्ण (मिट्टी के घड़े के टुकड़े का चूर्ण) रखे । फिर रोगी पुरुष हो या स्त्री उसके वालों का गुच्छा वांध ले, उसे हलका भोजन करादे, आप्तजनों से (हितैषियों से) उसे पकड़वाकर रखे और यह निश्चय करले कि उस रोगी की कर्णपालि को सीने के लिए कौनसा वन्ध वांधना है तथा वहां छेदन, भेदन, लेखन में जो शस्त्रक्रिया उचित जान पड़े उसे स्वीकार कर सर्वप्रथम रोगी के कान के रक्त की जांच करे कि वह दुष्ट है या शुद्ध है, अगर परीक्षा से वह वातदुष्ट हो तो कांजी तथा गरम पानी से उसे धोवे, पित्त दुष्ट हो तो शीतल जल तथा दूध से धोवे तथा श्लेष्म दुष्ट हो तो सुरामण्ड और गरमजल से उन्हें धोकर दोनों भागों का अवलेखन करे और कर्णसन्धि को इस प्रकार स्थिर करे कि दोनों भागों की सन्धिस्थली न तो अधिक उठी हो न हीन हो और न टेढ़ी हो, फिर वहां का रक्तस्राव वन्द करके सूची-सूत्रादि से सन्धान करे। फिर उस स्थान पर मधुघृत का लेप करे फिर पिचुप्लोत (रुई या कपड़ा) से ढंक न वहुत कड़ा और न वहुत ढीला वांध दे उसके ऊपर कपाल का चूरा वुरक दे फिर उचित आहार-विहार का निदेश देकर वाद में द्विव्रणीय अध्यायोक्त विधि से उसका व्रणोपचार करे ।

इस अवसर पर कान का विघट्टन (रगड़ना), दिन में सोना, व्यायाम, अधिक भोजन, मैथुन, आग तापना या धूप सेवन तथा वाक्श्रम (भाषण देना) वन्द रखे ।

यह ध्यान रहे कि अगर वन्ध के समय पालि से अशुद्ध रक्त निकलता हो, वहुत अधिक रक्त निकलता हो या विल्कुल ही रक्त न आता हो तो सन्धान न करे। अशुद्ध रक्त में वातदोष के कारण परिपोटन, पित्तदोष से दाह, पाक, राग, वेदना का उत्पन्न होना, श्लेष्म दुष्टि से स्तव्धता तथा खुजली उत्पन्न हो जाती है । अगर रक्त अधिक निकलता है तो सन्धानस्थल पर श्यावता तथा शोफ हो जाता है। क्षीणरक्तता (अनीमिया) होने से अल्पमांसता होकर उसकी ठीक से वृद्धि नहीं हो पाती हैं ।

सन्धानस्थल पर ३ दिन तक वरावर तिल की घानी से प्राप्त विना पके तैल से परिषेक करता रहे। तीसरे दिन ही रुई के पिचु को वदल दे, जव सन्धानस्थल सुरूढ हो (अच्छी तरह जुड़) जाय, निरूपद्रव, सवर्ण हो (त्वचा के रंग से मिल) जाय तव उसे धीरे-धीरे वढ़ावे अन्यथा तो वहां संरम्भ, दाह, पाक, रागवेदना होकर वह फिर कट सकता है ।

आयुर्वेदीय सर्जनों के द्वारा शस्त्रकर्म (सर्जीकल ऑपरेशन) किस प्रकार सम्पन्न हुआ करते थे उसकी एक झलक ऊपर दी गई है ।

मानव सौन्दर्यवृद्धिहेतु कर्णपालियों का वर्द्धन

डा० रामनिवास शर्मा, प्रवक्ता—श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय, हाथरस

कर्णपालियों के शस्त्रकर्म पर इस विशेषांक में हमारे सहयोगी डा० गजेन्द्रसिंह छोंकर द्वारा एक लेख लिखा जाने और कर्णवेध विषयक शस्त्रकर्म का पूरा-पूरा उल्लेख कर दिया जाने पर मेरे लिये इस विषय का एक छोटा सा भाग ही शेष रह जाता है और वह यह कि कर्णपालियों को वढ़ाने के लिये प्राचीन भारतीय समाज में चिकित्सकगण किन-किन उपायों का अवलम्बन करते थे उस पर प्रकाश डालूं। हाथरस के समीप ब्रजप्रदेश की राजधानी मथुरा नगरी में जो विशाल संग्रहालय है उस में भगवान् बुद्ध की एक वैठी हुई प्रस्तर मूर्ति है जिसमें उनके वड़े कान और लम्वी कर्णपालिद्वय देखकर बोध होता है कि जिस प्रकार आज का युवक अपने हिप्पीकट वालों की वृद्धि में लगा हुआ है वैसे ही उस काल में कर्णपालि वढ़ाने की होड़ लगी रहती थी। तीर्थंकर महावीर की कर्णपालियां देखते ही वनती हैं।

अथ अस्याप्रदुष्टस्याभिवर्द्धनार्थं अभ्यङ्गः

सवसे पहले सुश्रुत ने अपनी संहिता में शुद्ध कर्णपालि वढ़ाने के उद्देश्य से एक अभ्यंग या मालिश का नुस्खा लिखा है—

गोधा, प्रतुद (कपोत, पारावत, चटक आदि), विष्किर (मुर्गी, मुर्गा), आनूप, औदकवर्ग के पशु-पक्षियों की वसा तथा मज्जा, दूध, घी, तैल तथा पीली सरसों का तैल जो भी मिल सकें एक करलें फिर अर्क, अलर्क, वला, अतिवला, अनन्तमूल, अपामार्ग असगन्ध, शालपर्णी, क्षीर विदारी, जन्तुक, मधुरवर्ग के द्रव्य, क्षीरकाकोली या अर्कपुष्पी डालकर तिल तैल को सिद्ध करें और वोतल में भर सम्हाल कर रख छोड़े। इस तैल की मालिश स्वेदन किये हुए कानों पर करे। इस प्रयोग से कान विना किसी उपद्रव के वलवान् होकर वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।

एक उद्वर्तन—जौ का आटा, अश्वगन्धा, मुलहठी का चूर्ण और तिल इनको सिल पर वारीक पीस कल्क वना उवटन करने से भी कर्णपालियां वढ़ाई जा सकती हैं।

अपर अभ्यंग—शतावरी, असगन्ध नागौरी, क्षीरकाकोली, एरण्डमूल तथा जीवनीयगण के द्रव्यों के कल्क के साथ तिल का चारगुना तैल १६ गुने दूध के साथ सिद्ध करने के वाद इस तैल की मालिश से कर्णपालियों की वृद्धि होती है।

प्रच्छान का उपयोग—लिखा है,

ये तु कर्णा न वर्धन्ते स्वेदस्नेहोपपादिताः ॥
तेषामपाङ्गदेशे तु कुर्यात् प्रच्छानमेव तु ।
वाह्यच्छेदं न कुर्वीतव्यापदः स्युस्ततो ध्रुवाः ॥

जिसके कान स्वेदन और स्नेहन के वाद भी न वढ़ें उनके अपांगदेश में स्थित कर्णपुत्रिका के नीचे प्रच्छान द्वारा रक्तनिर्हरण करे। यह कर्म कर्णकुहर के वाहर पाली में न करे क्योंकि उससे अनेक व्यापत्तियां (विकार) उत्पन्न हो जाती हैं।

कर्णपाली का सन्धान करते ही उसे वढ़ाने का यत्न करने से कच्ची जुड़ी हुई कर्णपाली अपक्व होने से शीघ्र कट जाती है इसलिये जब वहां छिद्र ठीक जुड़ जाय रोम उग आवें सन्धि सम, स्थिर और ठीक से चुपक जावे वह स्थान सुदृढ़ और वेदनारहित हो तब शनैः-शनैः कर्णपालि को वढ़ाने का शास्त्रीय निदेश है।

कर्णपालि के रोग और उनका उपचार

ऊपर आचार्य प्रवर ने शुद्ध या अदुष्ट कर्णपालि की वृद्धि हेतु अभ्यंग के उपयोग की चर्चा की है। अब प्रश्न उठता है कि फिर दुष्ट पाली क्या है? जिसका सन्धान या वर्धन निषिद्ध कहा गया है। कर्णपालियों में अनेक प्रकार के रोग हुआ करते हैं उनमें वात, पित्त, कफ इन तीनों के अलग-अलग, दो-दो मिलाकर या सभी को मिलाकर कई रोग मिल जाते हैं। वातिक कर्णपालि दोषों में विस्फोट, स्तब्धता तथा शोफ आते हैं पैत्तिक में दाह, विस्फोट, शोथ और पाक उत्पन्न होते हैं। श्लैष्मिक में कण्डू, शोथ, स्तम्भ और गुरुता उत्पन्न होती है।

जिस दोष का प्रकोप कर्णपाली में हो उसी के अनुसार रोगी का संशोधन करावे। अर्थात् वातिक में बस्तियां दे, पैत्तिक में विरेचन करावे और श्लैष्मिक में वमन करावे। स्वेदन, अभ्यंग, परिषेक, प्रलेप, रक्तमोक्षण करके, बृंहण पदार्थों का सेवन कराकर संशमन चिकित्सा द्वारा यथादोष उपचार करे।

कर्णपालि के निम्नांकित उपद्रव मिलते हैं :—

१. उत्पाटक—भीतर पाक होकर फूटने की पीड़ा होती है इस उपद्रव की शान्ति के लिए ओंगा, राल, पाढ़ल और बड़हल के वृक्ष की छाल का प्रलेप या इन द्रव्यों से सिद्ध तैल की मालिश करावे।

२. उत्पुटक—इसमें मांसवृद्धि के साथ ऊपर पपड़ी जमती है। इसके लिए अमलतास सहंजन, करंज, गोधा का मेद और वसा, वराह–गाय–हरिण के पित्त पीसकर लेप करें या इनसे सिद्ध तैल की मालिश करावें।

३. श्याव—इसमें घाव या त्वचा बैंगनी रंग की हो जाती है। इसके शमन हेतु हल्दी, नाकुली, कृष्णसारिवा, सारिवा, चौलाई का प्रलेप लगावे या इनसे सिद्ध द्रव्यों का तैल चुपड़वावे।

४. पाठा, रसौत, शहद और गरम कांजी का लेप लगावे या इनसे सिद्ध तैल की मालिश करावे।

५. व्रणीभूत—मुलहठी, क्षीरकाकोली, जीवकादि से सिद्ध तैल की मालिश करावे।

६. अवमन्थक—में पहले प्रक्षालन करके प्रपौण्डरीक (गुलबकावली), मुलहठी, मजीठ और धव सिद्ध तैल की मालिश करावे।

७. सकण्डूक—सहदेवा (अतिबला), विश्वदेवा (नागबला) बकरी का दूध, सेंधानमक इनका लेप या इनसे सिद्ध तैल की मालिश करावे।

८. ग्रन्थिक—इसमें जो गांठ या गुटिका बन गई है उसे चीर कर बहादे फिर सेंधानमक मले और उसी का लेप करे।

९. जम्बुल—में पहले लेखन कर्म करे फिर लोध्र का चूर्ण मले फिर दूध का प्रतिसारण करके व्रण का रोपण करे।

१०. स्रावी—में गिलोय, महुआ, मुलहठी और शहद का लेप करे या इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करे।

११. दह्यमान्—गूलर, वरगद, पीपल, पाकर-वेतस की छालें ले मुलहठी और घी के साथ पीस लेप करे या जीवनीय द्रव्यों को घी में मिलाकर लेप करें।

जब ये दोष निकल जावें तब अदुष्ट कर्णपाली को बढ़ाने के लिए पूर्वोक्त विधियों मे जो उचित समझें उसका व्यवहार करें।

शोफ और उसके त्रिविधरूप

कविराज दीनदयाल शर्मा सौभारि, एच० पी० ए० (जाम०), भिषगाचार्य धन्वन्तरि (सस्वर्णपदक) प्रभाकर, हिन्दूभूषण वैद्य सुपरिंटेंडेंट कोयलाखान, कल्याण संगठन, भारत सरकार।

सुश्रुत संहिता में विद्रधि, व्रणशोथ, शरीरव्रण, सद्योव्रण, नाड़ीव्रण व भगन्दर का वर्णन विभिन्न अध्यायों में किया है। उनका क्रम भी एक के बाद दूसरा नहीं है। विद्रधि का वर्णन निदान स्थान ९, व्रण शब्द की निरुक्ति सूत्रस्थान २१, शोफ का सूत्र स्थान १७ आदि। वास्तव में ये वर्णन शिष्य के प्रश्नों के अनुसार हैं। अष्टाङ्ग हृदय में भी विद्रधि का वर्णन निदान स्थान अध्याय २१ में करके चिकित्सा स्थान के अध्याय १७ में केवल क्षतोत्थशोथ का कुछ वर्णन कर विषय उत्तरतन्त्र के अध्याय २६,२७, २८ में वर्णन किये हैं। माधवनिदान में सर्वप्रथम इनका क्रमशः वर्णन मिलता है। विषय इतना विस्तृत है कि इन पर एक पुस्तिका या सुधानिधि का एक विशेषांक ही निकल सकता है। अतः इस लेख में व्रण शोथ से सम्बन्धित अंश ही दे पा रहे हैं।

व्रणशोथ, शोथ का ही एक प्रकार है, अतः पहले शोथ का संक्षिप्त में वर्णन करने से इसे समझने में सुगमता रहती है। शोथ, श्वयथु और शोफ; ये तीन शब्द कहीं पर्याय रूप में और कहीं पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते समय हम शोफ को आधुनिक (Oedema) की परिभाषा में बांध सकते हैं। शोथ शब्द उभार की सामान्यता के कारण शोफ के लिए भी प्रयुक्त होता है और व्रणशोथ के लिए भी। इसकी सीमा (Inflamation) तक बांधना कठिन है,[1] अतः शोथ के दो भेद कारणों के आधार पर करने से समस्या कुछ सुलझती है। निज कारणजन्य—इसमें दोषों के आधार पर भेद, और दूसरा आगन्तुज—इसमें आघात, अग्नि आदि व तेजाब (अम्लों) से जलना, विद्युत एवं जीवाणुओं के कारण आदि से उत्पन्न शोथ का गणन कर लेना पड़ेगा[2]। इस आगन्तुज शोथ में भी पाक की क्रिया प्रारम्भ करने के लिए अष्ट व्रणवस्तुओं की आवश्यकता महर्षि सुश्रुत ने वर्णित की है। ये हैं त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म[3]। वास्तव में इन्हें हम व्रणशोथ उत्पन्न होने के स्थान विशेष कह सकते हैं। दो कारणों के लिए व्रणशोथ की दो परिभाषायें करनी पड़ती हैं। "व्रणस्य पूर्वरूपत्वेनोत्पन्न, शोथः व्रणशोथः" व्रण (Ulcer) बनने से पूर्व में जो अवश्य हो, उसे व्रणशोथ (Inflamation) कहेंगे। दूसरा "व्रणस्यशोथः", व्रण (Wound) के होने से जो शोथ उत्पन्न हुआ हो। यह व्रण शब्द क्रमशः शरीरव्रण और सद्योव्रण दोनों का द्योतक है। अतः "शारीर व्रणस्य पूर्वरूपत्वेनोत्पन्नः" और "सद्योव्रणस्य शोथः" कहना उपयुक्त है। आधुनिक मतानुसार शरीर के किसी स्थान में पूयोत्पादक जीवाणुओं के प्रवेश से अथवा आघातादि से जीवित धातुओं में जो परिवर्तन होते हैं, उसे शोथ (Inflamation) कहते हैं। इन परिवर्तनों में जब धातुओं की रचना और उनकी शक्ति का नाश होने लगता है, तब उसकी विद्रधि (Abscess) संज्ञा हो जाती है। वास्तव में जीवाणुओं अथवा आघातादि द्वारा वात पित्त कफ और रक्त दूषित होकर विभिन्न धातुओं में परि-

---

१—सर्वमुत्सेधं शोथमाहुरित्यर्थं (इन्दु) एकदेशोत्थितः शोथोव्रणानां पूर्वलक्षणम्।

२—सर्व हेतु विशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम्। दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि॥ (वा० नि० १३)

३—त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवास्तूनिभवन्ति (सु० सू० २२)

वर्तन होते हैं। यदि दोष प्रकुपित न हों तो जीवाणुओं और आघातादि के उपस्थित रहने पर भी शोथ उत्पन्न नहीं होता है[1]। व्रणशोथ के सामान्य लक्षण इतने स्पष्ट हैं, कि इनके समझने में थोड़े से अनुभव के पश्चात् शंका नहीं रहती। नवीन प्रणाली के वर्णन में भी सामञ्जस्य है देखिये—आमावस्था में सभी लक्षण प्रत्यक्ष रहते हैं।[2]

१. ताप—व्रणशोथ वाले स्थान का ताप देखने के लिए स्वस्थ व्यक्ति अपना हाथ व्रणशोथ के ऊपर रखे फिर रोगी के दूसरे स्वस्थ अंग पर रखकर देखे तो पता चलेगा कि व्रणशोथ के स्थान का ताप अपेक्षाकृत अधिक है।

२. सूजन—व्रणशोथ वाले स्थान को अधिक पोषण पहुँचाने, श्वेतरक्तकणों को अधिक मात्रा में लाने के लिए रक्त अधिक आता है तथा आघात से या सामान्यतः रक्त से लसीका निकलकर वहाँ की धातुओं में एकत्रित हो जाती है; इससे स्थान पर उभार उत्पन्न हो जाता है। पोले स्थानों पर सूजन अधिक और पीड़ा कम होती है। ठोस अंगों में उलटा; सूजन कम पीड़ा अधिक होती है। जिन अंगों पर प्रावरणी चढ़ी होती है, वहां उभार अत्यल्प होता है और पीड़ा अत्यधिक।

३. काठिन्य—स्थान, जहां व्रणशोथ हुआ है, ऐसे ही दूसरे स्थानों की अपेक्षा कठिन हो जाता है।

४. त्वचा के वर्ण में अन्तर—व्रणशोथ वाले स्थान में लाली अधिक हो जाती है, यह रक्तप्रवाह के बढ़ जाने से होता है। रक्तप्रवाह के मन्द या बन्द हो जाने से लाली कुछ काले रंग में परिवर्तित हो जाती है। व्रणशोथ की प्रारम्भिक अवस्था में स्थान को अंगुली से दवाने से रक्त के हट जाने से स्थान पीला पड़ जाता है, और अंगुली हटाते ही फिर रक्त लौट आने से लाल हो जाता है। रक्तप्रवाह के मन्द हो जाने पर दूसरी अवस्था में रंग वैसा ही कालिमायुक्त वना रहता है।

५. वेदना—जैसा ऊपर बताया है, पोले और ठोस स्थान भेद से इसमें अन्तर हो जाता है। वास्तव में वातनाड़ियों पर दवाव के कारण विभिन्न प्रकार की वेदनाएं होती हैं। रक्तभर जाने से वातनाड़ियों पर दवाव पड़ता है। कभी-कभी स्थान विशेष को तो केवल दवाने से ही वेदना होती है। इसे स्पर्शासह्यता समझकर कभी-कभी निदान में त्रुटि हो सकती है। अतः अन्य लक्षणों में भी काम लेना चाहिये।

जब व्रणशोथ पाक में परिवर्तित होने जा रही होती है, उस समय विभिन्न प्रकार की वेदनाएं; यथा आग से जलने के समान, क्षार से पकता हुआ सा, चींटियों द्वारा काटा जाना, शस्त्र से छेदन, दण्डे से मारने, हाथ से दवाने, सूई से बींधने, जलन, चीष, अंगुलियों से दवाने, आदि के समान विभिन्न वेदनाएं होती हैं। रोगी को बैठते, सोते किसी प्रकार शान्ति नहीं मिलती है। जिस प्रकार बिच्छू के काटने पर रोगी बेचैन हो जाता है, वैसे ही बेचैन रहता है।[3]

६. शारीरिक लक्षण—शोथ चारों ओर फैलती जाती है। यदि स्थान पोला हुआ तो वस्ति के समान फूला हुआ होजाता है। जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्नविषों के कारण ज्वर उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी शीतपूर्वक ज्वर चढ़ता है ऐसी अवस्था में विषमज्वर (Malaria) आदि से भेदक निदानकर लेना चाहिए। प्यास अधिक लगती है। भूख मारी जाती है।[4] श्वास व नाड़ी की गति बढ़ जाती है। कभी-कभी वमन भी होने लगती है। प्रायः विवन्ध रहता है। जीभ सूखी व मैली रहती है।

१—शोफ समुत्थानां ग्रन्थिविद्रध्यलजी प्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोष संघातः शरीरैक देशोत्थितः शोफ इत्युच्यते ॥ सु० सू० १७ ॥

२—मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता । मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥ मा० नि० व्रणशोथ ४

३—दह्यतेदहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते । पिपिलिका गणेनेवदश्यतेच्छिद्यते तथा ॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते । पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥
सोषाचोषो विवर्णः स्यादंगुल्येवावघट्यते । आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ॥
न गच्छेद्‌……………………

४ ………आततः शोथो भवेदाध्मातवस्तिवत् । ज्वरस्तृष्णा ऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ मा० नि० व्रण शोथ

मूत्र गहरे पीले या लाल रंग का, थोड़ा तथा गाढ़ा होता है। यदि जीवाणु संक्रमण नहीं होता, तो ज्वर नहीं भी आता है।

चिरकारी व्रण शोथ—इस अवस्था में फुलाव तो अधिक नही होता, किन्तु शोथ के चारों ओर की धातुओं में वृद्धि भी बहुत धीमी पड़ जाती है। शोथ से पक्वावस्था एवं व्रणावस्था में परिवर्तन की क्रिया भी बहुत धीरे-धीरे होती है और फिर रोहण भी देर लगाता है। ऐसे व्रणशोथ फिरङ्ग, आमवात, सन्धिवात, क्षय और मधुमेह के रोगों में हो जाते हैं।[1]

व्रणशोथ के कारण—वास्तव में शोथ के कारण ही व्रणशोथ के कारण बन जाते हैं। जैसा पहले कह चुके हैं। निज और आगन्तुक दो प्रकार के कारण हैं क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण एवं गुरु पदार्थों का अति सेवन, दही, अपक्व भोजन, मिट्टी, शाक, विरुद्ध भोजन, दुष्ट भोजन, संयोजक विष, बैठे रहना, अर्श, संशोधन के समय उनका न करना, दोषों द्वारा मर्मों का आक्रान्त हो जाना, गर्भस्राव, गर्भपात, आदि इनके कारण हो जाते हैं।[2]

इनके अतिरिक्त यूनानी के हकीम निर्बलता, रक्तविकार, स्थानीय रक्त में विकार, वृक्कविकार या अत्यधिक मद्य सेवन आदि से रक्त का दुष्ट हो जाना मानते हैं।

आगन्तुक कारणों में—पामा, कण्डु के कारण त्वचा को खुजलाने से खरोंच बन जाना और उसमें जीवाणुओं का प्रवेश, अधिक उष्णता या शीत से त्वचा का विकृत हो जाना, किसी विषैले पदार्थ द्वारा त्वचा पर प्रभाव पड़ना, किसी पशु-पक्षी द्वारा काटना, किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा अस्त्र से आघात पहुँचना या स्वयं गिरकर एवं अन्य प्रकार से स्थान विशेष पर आघात पहुंचना।

सम्प्राप्ति—जैसा पहले कह चुके हैं, व्रणशोथ बाह्य कारणों द्वारा आक्रान्त शरीर के स्थान विशेष की धातुओं की रक्षा करने के लिए शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति के प्रयत्न का परिणाम है। शरीर के जिन परिवर्तनों द्वारा शरीर बाह्य आक्रान्ताओं को रोकता है और आक्रान्त भाग का पुनर्निर्माण करता है, उसे ही व्रणशोथ कहते हैं। यदि शोथ में जीवाणु प्रवृष्ट हो गये हैं, तो अन्य प्रकार के शोथ से इसमें कुछ भिन्नता होती है। जीवाणुओं की वृद्धि के साथ-साथ शोथ भी बढ़ती जाती है। जीवाणुओं की प्रबलता के अनुसार भी शोथ अधिक होता जाता है। इसके विरुद्ध रासायनिक पदार्थों द्वारा उत्पन्न व्रणशोथ में शोथ की मात्रा अत्यल्प होती है, क्योंकि उनके कारण धातुएं पूर्णतया नष्ट होजाती हैं।

व्रणशोथ के होने पर जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए रक्त के श्वेतकणों का उस स्थान पर लाया जाना आवश्यक है तथा रक्तकण भी आक्सीजन की अधिक आपूर्ति के लिए अधिक आने चाहिए। नष्ट हुई धातु को पुनर्जीवित करने के लिए उस स्थान पर शोषकतत्वों की भी अधिक मात्रा आना आवश्यक है। इन सब की पूर्ति करने के लिए रुधिर नलिकाओं का विस्तार हो जाता है और रक्त-प्रवाह अपेक्षाकृत बढ़ जाता है। फिर प्रवाह धीमा पड़कर अन्त में रुक जाता है। श्वेत व रक्तकण नलिकाओं की दीवारों पर जमा हो जाते हैं। श्वेतकण रुधिर नलिकाओं की भित्तिओं को पार करने के लिए उनकी कोषाओं में होकर जीवाणुओं तक पहुँच जाते हैं और उन्हें नष्ट करने का यत्न करते हैं। वे जीवाणुओं को खाते हैं उनसे युद्ध करते हैं। रक्त के श्वेतकणों में जीवाणु-भक्षण की अद्भुत शक्ति होती है। पूय की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर जीवाणु श्वेतकणों के भीतर पाये जाते हैं। इस युद्ध का निर्णय जीवाणु और श्वेताणुओं की संख्या व शक्ति पर निर्भर करता है। यदि श्वेताणु प्रबल हुए तो जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और व्रणशोथ कम होने लगता है। यदि जीवाणु प्रबल रहे तो शोथ आमावस्था से पक्वावस्था में परिवर्तित हो जाता है। श्वेताणुओं के नष्ट हो

---

१ शुद्धयामयाभुक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्ण गुरूपसेवा, दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिशेवणं च ॥ अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोप घातोविषमाप्रसूतिः। मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुःश्वयथोः प्रदिष्टः ॥ (च० चि० १२)

२ विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्यश्चाचिराच्चिरम्। कफजः……………………॥ (मा० नि० व्रणशोथ ३)

जाने पर भी उनके शरीर से एक ऐसा पदार्थ निकलता है, जो जीवाणुओं को गलाता है। इस प्रकार श्वेताणु शरीर के लिए पक्के वफादार चौकीदार का पार्ट अदा करते हैं जो मरने के बाद भी मालिक के शत्रुओं को पकड़वाने का चिन्ह छोड़ जाता है।

व्रणशोथ की अवस्थाएं

१—शोफ की आमावस्था
२—शोफ की पच्यमानावस्था
३—शोफ की पक्वावस्था

इन तीनों का स्पष्ट वर्णन इन शब्दों में भगवान् धन्वन्तरि ने किया है :—

शोफ की आमावस्था—मन्दोष्मता, त्वक्सवर्णता, शीतशोफता, स्थैर्य, मन्दवेदनता तथा अल्पशोफता।[1]

शोफ में दर्द कम होना सूजन कम होना, गर्मी कम होना या शोफ का शीतल होना तथा त्वचा के वर्ण का होना यह इसकी आमावस्था है। यह अविक स्थिति है। ऊतकों में जीवाणुओं के साथ रक्तस्थ रक्षक कोशिका लड़ने के लिए जिस युद्धस्थली का निर्माण करते हैं वही शोफ कहलाती है। इसमें कैलोर रूवोर ट्यूमोर और पैलोर ये चारों इन्फ्लेमेटरी रिऐक्शन के लक्षण प्रगट नहीं हो पाते।

शोफ की पच्यमानावस्था—यह अवस्था शरीर के रक्षकों और जीवाणुओं के युद्ध का प्रत्यक्ष दृश्य इन शब्दों में प्रस्तुत करती है:—

सूचीभिरिव निस्तुद्यते दश्यत इव पिपीलिकाभिस्ताभिश्च संसर्प्यत इव छिद्यत इव शस्त्रेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताड्यत इव दण्डेन पीड्यत इव पाणिना घट्यत इव चांगुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्यां ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातबस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्–वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गम्.॥

इन लक्षणों को यदि ऊपर के विविध शोफों से मिलाव तो वातज, पित्तज और रक्तज तथा आगन्तुज शोफ के अनेक लक्षण मिल जाते हैं। सुई मानो चुभती हो, चींटी मानो काट रही हों या चलरही हों। कोई काटता सा शस्त्र चुभोता सा शक्तियों से ताडना किया जाता हो, डण्डे से मानो पीटा जाता हो, हाथ से मानो दबाया जा रहा हो, अंगुली से मला जाता हो, जलाने जैसे अग्नि या क्षार से पकाने जैसा ओष-चोष और परिदाह (जलन विशेष) पैदा हो जाती है। मानो बिच्छू ने डंक मारा हो, जो खड़े बैठे लेटे चैन न पड़ने देता हो, मानो हवा भरी मशक जैसा तना हुआ शोथ होता है त्वचा का रंग बदल जाता है, सूजन बढ़ती जाती है तथा रोगी को ज्वर हो जाता है प्यास लगती है है, जलन पड़ती है तथा भोजन के प्रति अरुचि हो जाती है, यह पच्यमानावस्था का शब्द चित्र है।

शोफ की पक्वावस्था

अब पक्वशोथ के लक्षणों का वर्णन करते है। इस समय जीवाणुओं के साथ युद्ध में श्वेताणु हार चुकते हैं। पूय उत्पन्न हो जाता है, जिससे त्वचा के तनाव में कमी आ जाती है। श्वेतकण मरकर भी जीवाणुओं को गलाते हैं, अत; जीवाणुओं को नष्ट करने की क्रिया एक सीमा में बंध जाती है। सीधर नलिकाओं के गल जाने से व्रणशोथ के स्थान का सम्बन्ध दूसरे आस-पास के स्थान से अलग हो जाता है और उस स्थान पर अधिक रक्त आना भी बन्द हो जाता है। अत: विभिन्न प्रकार की वेदनाओं की शान्ति, फुलाव में कमी, व्रणशोथ के ऊपर के स्थान की लालिमा का कम होना, उठाव कम होकर झुर्रियां पड़ जाना, बारम्बार सूई चुभोने के समान दर्द, खुजलाहट, ज्वरादि शारीरिक लक्षणों का विनाश, व्रणशोथ में गड्ढा पड़ जाना, उसके ऊपर की त्वचा का फटना, व्रणशोथ के ऊपर एक हाथ रखकर दूसरे हाथ की अंगुली से टकोर देने पर पानी से भरी मशक के सदृश्य आवाज होना, एक ओर दबाने पर पूय का दूसरी ओर चला जाना, रोगी को भूख फिर लगना प्रारम्भ हो जाना। जब व्रणशोथ पक जाता है, तब उपर्युक्त लक्षण होते हैं।

---

[1] मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता। मन्दवेदनता चैतच्छोथानामाम लक्षणम्॥ (मा० नि० व्रणशोथ)

व्रणशोथ परिपाक-काल में तीनों दोष ही प्रकुपित रहते हैं जैसा कहा है कि कोई भी पीड़ा वायु के बिना नहीं होती, पित्त के बिना पाक और कफ के बिना पूय नहीं बन सकता।[1] यदि इसमें वात अधिक प्रकुपित होता है तो व्रणशोथ का कुछ भाग पक जाता है, कुछ अधपका रह जाता है। पित्त के प्रावल्य में पाक शीघ्र हो जाता है और कफ प्रावल्य में बहुत देर से पाक होता है। रक्त के प्रावल्य और आगन्तुज व्रणशोथ में पित्तज के समान शीघ्र पाक होता है।[2]

पूय—पाक होने पर एक विशिष्ट पदार्थ बन जाता है, जो रक्त का जीवाणुओं द्वारा विकृत रूप है। इसमें पित्त प्रवृद्ध होकर वायु और कफ को दबाकर रक्त को पका देता है। उदाहरण स्वरूप चन्दन के जल जाने पर उसकी राख श्वेतवर्ण की ही बनती है यद्यपि उसका रंग रक्त ही क्यों न हो उसी प्रकार रक्त के लाल रंग होने पर भी पकने पर पूय का वर्ण श्वेताभ ही होता है[3] पूय गाढ़ा हलके पीले रंग का तरल पदार्थ होता है। उत्पादक जीवाणु और रक्त की मात्रा के अनुसार इसके रंग में कुछ भिन्नता हो जाती है। यदि रक्त अधिक हुआ तो रंग अधिक लाल होता है। पूय का विशिष्ट गुरुत्व १०३० और प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमें विशेष प्रकार की गंध होती है। इसमें मृत जीवाणु, धातुओं के कोषाणु, बहुकेन्द्रीश्वेताणु और पूय कण रहते हैं। कुछ रक्तकण भी रहते हैं। पूयकण गोल होते हैं। उनके भीतर दानेदार द्रव्य रहता है। इनके बीच में एक केन्द्र रहता है, जो कई भागों में विभक्त होता है। तरल भाग रक्तरस से बनता है।

पूय अधिकतर 'स्टिफलोकोकस' जीवाणुओं से बनता है कभी-कभी अन्य जीवाणु भी इसमें होते हैं। यथा—बैसीलस कोलाई से मल के समान दुर्गन्धित और पीले रंग का पूय होता है। बैसीलस पायोसीजिनस से रंग नीला होता है। यकृद्विद्रधि में, स्त्रियों की डिम्बप्रणाली (Pyosalpix) और रासायनिक द्रव्यों से उत्पन्न शोथ में बिना जीवाणु संक्रमण के भी पूय उत्पन्न हो जाता है। ऐसे पूय को जीवाणु रहित पूय (Sterile pus) कहते हैं।

व्रणशोथ के दोषानुसार लक्षण—यह ६ प्रकार का है। द्वन्द्वज नहीं होता।

वातज—वर्ण-अरुण या कृष्ण; स्पर्श-परुष या मृदु; एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटने वाला और कभी कम कभी अधिक उभार वाला; तोद आदि अनेक प्रकार की वातज वेदनाएं।

पित्तज—वर्ण-पीत, सरक्त; स्पर्श-मृदु; शीघ्र बढ़ने वाला; जलन की सी वेदना अधिक होना।

कफज—वर्ण-पाण्डु या शुक्ल; स्पर्श-कठिन, शीत और स्निग्ध; देर से बढ़ने वाला; कण्डु आदि कफ की वेदनाएं।

सन्निपातज—सभी प्रकार के वर्ण और वेदनाएं।

रक्तज—पित्तज के समान लक्षणों वाला किन्तु वर्ण-अधिक कृष्ण।

आगन्तुज—पित्तज और रक्तज के मिश्रित लक्षणों वाला, विशेषकर लाल चमकदार वर्ण होता है।

सामान्यतः—सभी व्रणशोथ उत्पन्न होने वाले अंग अपने कार्य को सुचारू रूप से नहीं कर पाते हैं।

आम व पाच्यमान और पक्वशोथ के भेद को समझकर चिकित्सा करने के महत्व पर सुश्रुताचार्य ने बहुत बल दिया है। वे कहते हैं कि कफज शोथ यदि गहराई में स्थित हो अथवा अभिघात से व्रणशोथ उत्पन्न हुआ हो तो पक्वावस्था हो जाने पर भी वैद्य उसे अपक्व समझकर चीरना नहीं। अतः वर्ण की समता, शोथ के शीत स्पर्श, मोटापन, वेदनाओं की कमी और कठोरता ये आम व्रण-शोथ के लक्षण हैं। पक्व के लक्षण पहले कह चुके है।[4] वैद्य होने का अधिकार केवल आमपक्व के भेद का अनुभव रखने वाले वैद्य को ही देना चाहिए, शेष तो तस्कर हैं।[5] क्योंकि आम व्रणशोथ के छेदन से मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि आदि आवश्यकता से अधिक कट सकते हैं। रक्तस्राव भी अधिक होता है। अनेक प्रकार की वेदनाएं प्रारम्भ हो जाती हैं। स्थान विदीर्ण हो सकता है। क्षत विद्रधि आदि अनेक उपद्रव हो सकते हैं।[6] आम को चीरने व पक्व को छोड़ने वाले को चाण्डाल की संज्ञा दी है। पक्वावस्था आने पर भय या अज्ञान से

१—सु० सू० १७ (११)। २—माधवनिदान-व्रणशोथ ३। ३—सु० सू० १७ प्रक्षिप्त। ४—सु० सू० १७ (८)। ५—सु० सू० १७ (१०) ६—सु० सू० १७ (१४)।

छेदन न करे तो गहराई में स्थित पूय बाहर द्वार न मिलने से अपने स्थान को विदीर्ण कर अपने चारों ओर गहरा और बड़ा अवकाश बना लेता है तथा नाड़ीव्रण उत्पन्न हो जाता है इस प्रकार व्रणशोथ कष्टसाध्य और असाध्यावस्था को भी प्राप्त हो सकता है।[1]

व्रणशोथ की चिकित्सा—व्रणशोथ की चिकित्सा की ग्यारह सीढ़ी है। इनको संक्षिप्त में सूत्र स्थान १७—छैः में वर्गीकृत किया गया है। विम्लापन, अवसेचन, उपनाह, पाटन, शोधन, रोपण। सातवीं विधि है त्वचा के रंग में रंग मिलाना या गड्ढे आदि को भरकर व्रण के स्थान पर चिह्न को मिटाना।[2] उनको विस्तार से कहते हैं—पूयोत्पादन पूर्व चिकित्सा—

१. अपतर्पण—यह सबसे पहला उपक्रम है। यह शोथ को दबाने के लिए करना चाहिए। यह वातज सहित सभी शोथों में लाभदायक होता है। वातज में रोग के विरुद्ध होने से (विकार प्रत्यनीकत्वात् —डल्हण) और आमता के कारण लाभप्रद रहता है। सामवात में लंघन वर्जित नहीं है। अपतर्पण से आशुकारी दोष प्रकोप शान्त हो जाता है। यहां भोजन न करना ही अपतर्पण है। वमनादि का वर्णन पृथक् से किया गया है। सभी शोथों में लाभदायक होते हुए भी ऊर्ध्ववात प्यास, भूख, मुखशोष, श्रम से पीड़ित, गर्भवती, बालक, वृद्ध, डरपोक और दुर्बल को उपवास रूपी लंघन नहीं कराना चाहिए। सर्वदा दोष, रोगी, काल का ध्यान रखे।[3] सामान्यतया लंघन से रक्त में उत्पन्न विष कम हो जाते है इस समय पानी खूब पिलाना चाहिए, जिससे मूत्र द्वारा विष निष्कासित होते रहें।

२. लेप—दोषानुसार विभिन्न लेपों द्वारा व्रणशोथ के स्थान की जलन और अन्य वेदनाएं शान्त हो जाती हैं। जिस प्रकार जलता घर पानी डालने से शान्त हो जाता है।[4] इसके लिए आधुनिक टिंचर आयोडीन और पारद मलहम (स्कोट ड्रैसिंग) का लेप करते हैं। अलसी और मैदा बराबर-बराबर ले थोड़ा घी मिला गर्म करके लेप लगाने से व्रण शीघ्र पक जाता है दशांग लेप को जल में पीसकर थोड़ी मैदा व घी मिलाकर गर्म कर लेप लगाने से व्रण शीघ्र पक जाता है। दशांग लेप को जल में पीसकर थोड़ी मैदा व घी मिलाकर गर्म कर लेप लगाने से यदि व्रणशोथ प्रारम्भ ही हुई हो तो बैठ जाती है अन्यथा शीघ्र ही पाक प्रारम्भ हो जाता है। वातादि भेद से सुश्रुत मिश्रक अध्याय में अनेक लेप वर्णित हैं।

३. परिषेक—विभिन्न प्रकार की वेदनाओं की शान्ति के लिए, वातज में घी, तैल, कांजी, मासरस तथा भद्रदारु आदि द्रव्यों के क्वाथ से परिसेचन करे। पित्त रक्त तथा आघातज में दूध, घी, मधु, शर्करा, इक्षुरस, काकोल्यादि मधुरवर्ग की औषधियों तथा बरगद आदि क्षीरीवृक्षों के शीतल क्वाथों द्वारा कफज में तैल, मूत्र, क्षारोदक, सुरा, शुक्त और कफघ्न औषधियों के उष्ण क्वाथों द्वारा परिषेक करना चाहिए।[5]

४. अभ्यङ्ग—दोषानुसार प्रयोग से अभ्यंग द्वारा दोष की शान्ति व मृदुता उत्पन्न होती है। स्वेदन और विम्लापन क्रियाओं से पहले अभ्यङ्ग अवश्य करना चाहिए। इसके लिए घी, तैल, वसादि स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। वात कफ में तैल; पित्त, रक्त विषादि में शतधौत घृत का प्रयोग करे।[6]

५. स्वेदन—इसका प्रयोग विम्लापनादि क्रियाओं से पहले तथा विस्रावणादि क्रियाओं के बाद करना चाहिए। जिस व्रणशोथ में अधिक पीड़ा हो, विशेषतः वात कफ दोषज शोथ में, वायु के द्वारा जो व्रणशोथ अति दारुण अर्थात् रूक्ष और जठर हो गये हों, कठिन हों उनमें स्वेदन करना चाहिये। इसके लिए किसी तवे आदि को गर्म करके किसी कपड़े आदि के उस पर रखकर गर्म करके व्रणशोथ पर रखें। ठण्डा होने पर फिर तवे पर गर्म कर लें। इसके लिए गर्म पानी की बोतल भी प्रयोग में लाई जा सकती है।[7]

६. विम्लापन—व्रणशोथ के स्थिर (कठिन), थोड़ी पीड़ायुक्त (यह कफाधिक्य से होती है। कुछ लोगों के मत

१—सु०सू० १७(१३)। २—सु०सू० १७(२१-२२)। ३—सु०चि० १(११-१३)। ४—सु०चि० १(१४-१५)। ५—सु० चि० १ (१७-१८)। ६—सु० चि० १ (१९)। ७—सु० चि० अ० १ (३५)

में वात कफाधिक्य से मन्द पीड़ा होती है।) इस के लिए विद्वान् वैद्य व्रणशोथ के स्थान का अभ्यंग व स्वेदन करके वेणु के द्वारा अथवा हाथ या पैर के तल से या अंगूठे से धीरे-धीरे मले। इससे प्रारम्भावस्था का शोथ विलय हो जाता है, ऐसा करने से किसी स्थान पर जमा हुआ रक्त वहां से हट जाता है, जिससे शोथ नष्ट हो जाती है।[1]

७. उपनाह—कच्ची तथा अविदग्ध व्रणशोथ पर पुल्टिस वांधने से वह बैठ जाती है और यदि विदग्ध हो चुकी है तो शीघ्र पक जाती है। यह वात कफोल्वण में लाभप्रद रहती है।[2]

८. पाचन—अपतर्पण से लेकर उपनाह तक तथा विस्रावण, स्नेहन, वमन और विरेचन से भी यदि व्रणशोथ का शमन न हो तो शण (सनबीज) मूलीबीज बराबर बराबर ले, उनसे चौगुना दधि आदि द्रवपदार्थ एकत्रित कर उसमें थोड़ा नमक मिलाकर, न अधिक सूखी न बहुत लपसी जैसी बना लें, या उसकी पूड़ी जैसी बनाकर व्रण-शोथ के ऊपर बांधना चाहिए। कफ को अधिक न बढ़ाने वाले हितकारी भोजन करावे। स्निग्ध भोजन लाभदायक रहते हैं। यथा—हलुआ। गयदास जी उपनाह और पाचन को एक ही मानकर पाचन को पृथक् नहीं मानते हैं।[3]

९. विस्रावण—वेदनाओं की शान्ति पाक शमन करने के लिये रक्तमोक्षण करना चाहिए, ऐसा तत्काल उत्पन्न शोथ में ही करना चाहिए। इसके लिए जलौका या पछने लगा कर रक्तस्राव करना चाहिए। व्रणशोथ के अतिरिक्त व्रण भी यदि शोथयुक्त, कठिन, श्यामवर्ण या रक्तयुक्त, अत्यन्त वेदनाओं वाला, विशालमूल वाला, नीचे-ऊंचे उठावयुक्त और बहुत बड़ा हो तो विस्रावण कार्य कराना उचित रहता है। यदि व्रणशोथ विषमय हो गया है तब जलौका द्वारा रक्तमोक्षण करा दे। यदि व्रणशोथ की वेदनाओं को शान्ति आवश्यक हो और वैद्य को इसका पकना अभीष्ट न हो तो भी रक्तमोक्षण करा देना चाहिये।[4]

१०. स्नेहपान—यदि व्रणरोगी में क्षय, वेपथु, पक्ष-वध आदि अनेक उपद्रव उठ खड़े हुए हों रोगी रूक्ष, कृश या क्षयजन्य व्रण वाला हो तो जो औषधि हितकारी हों उनसे सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए। अच्छ घृतपान नहीं कराना चाहिए।[5]

११. वमन—उठे हुए मांस की शोथ, कफज, दुष्ट, श्याम या रक्तवर्ण के व्रणशोथ में रोगी को वमन करानी चाहिए।[6]

१२. विरेचन—वात सहित पित्तज व्रणशोथ, बहुत समय से चले आने वाले (चिरकारी) व्रणशोथ को व्रण-कोविद (व्रण विशेषज्ञ) विरेचन द्वारा शान्त कर देते हैं।[7]

१३. छेदन—जिनमें पाक नहीं हुआ हो, जैसे—मेद कफज ग्रन्थि मांस, आदि अथवा थोड़ी सी पाक की क्रिया प्रारम्भ हो गई हो, जैसे—वल्मीक आदि, दृढ़ (कठिन) और अचल अथवा स्नायु, शिरा, धमनी आदि में शोथ उत्पन्न करने वाले व्रण का छेदन (incision) करके भीतर से मेद या कफ की ग्रन्थि, मांसक आदि को निकाल देना चाहिए।

छेदन कर्म का विस्तृत वर्णन तो यहां नहीं कर सकते, किन्तु साधारण नियमों का निर्देश कर देते हैं। मनुष्य की त्वचा सम्पूर्ण शरीर को ढंके हुए है। इसमें भीतर के मांस आदि द्वारा सर्वदा खिचाव रहता है। जो त्वचा में किसी प्रकार की दरार पड़ते ही उसके किनारों को एक-दूसरे से दूर कर देता है। इसका विस्तृत ज्ञान आधुनिक समय में लेंगर ने किया। अतः जिन दिशाओं में फटने से त्वचा के किनारे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं उन्हें 'लेंगर रेखा' या 'दरी रेखा' (cleavage line) कहते हैं। छेदन के लिए इन्हीं दरी रेखाओं के समानान्तर काटना चाहिए, यह एक सामान्य नियम है। इससे भीतर के अंग आसानी से निकल आते हैं। और रुधिर वाहि-नियां भी प्रायः इन्हीं के समानान्तर चलती हैं अतः उनके कम फटने से रक्तस्राव भी बहुत कम होता है। मुख, ग्रीवा, हाथ आदि खुले अंगों पर स्पष्ट छेदन करना आव-श्यक है। इसके लिए दरी रेखाओं के समान्तर, या फिर दूर-दूर छेदन करके छेद्य व्रणवस्तु को छुपाने का प्रयत्न अत्यावश्यक रहता है। चिबुक पर की छोटी सी ग्रन्थि

सुश्रुत चिकित्सा स्थान १ में संख्या—१. ३६। २. ३७। ३. ३८। ४. ४०, ४१। ५. ४२। ६. ४३। ७. ४४।

को निकालने के लिए अधोहनु क्षेत्र में चीरा लगाना चाहिए। हाथ-पैर और सन्धिस्थलों पर छेदन ऐसी दिशा में करें कि इनकी गतियों में बाधा न पड़े। अंगुली के दोनों ओर चीरा लगावें उसके सिर पर नहीं। क्योंकि सिरे पर व्रणवस्तु बनने से वस्तुओं के सम्पर्क में आने वाला स्थान दूषित हो जाता है। यदि व्रणशोथ गहरा है तो मांसपेशी और प्रावरणी को भी 'दरी रेखा' के समानान्तर ही चीरे, किन्तु घुटने आदि स्थानों में 'दरी रेखा' के समानान्तर छेदन नहीं करना चाहिए।

पूयोत्पादनोत्तर चिकित्सा—

१४. भेदन—जब व्रणशोथ में पूय पड़ जाय किन्तु वह बाहर की ओर मुख न मिल पाने के कारण न निकल पा रहा हो, बहुत दिन तक रहने के कारण पूय भरा प्रदेश ऊपर उठा हुआ हो, उसमें भीतर की गली धातुएं भरी हों, व्रणशोथ गतिमान् हो तो जिस स्थान पर त्वचा सबसे निर्बल हो गई हो वहां से इसका भेदन कर देना चाहिए।[1] इसके लिए वेधसपत्र का प्रयोग करे। इस शस्त्र की आगे की नोक बहुत पैनी होती है तथा मुड़ी हुई रहती है। इससे पिछले भाग हैण्डिल को दायें हाथ के अंगूठे व अंगुली से पकड़ कर मुड़ी हुई धार को अपनी ओर रखते हुये नोंक को इच्छित स्थान पर रख के दबावें। नोंक के भीतर घुस जाने पर थोड़ा ऊपर को दबाव डालकर त्वचा को चीर दें। अब वेधस पत्र को आगे वहां तक घुसावें जहां जाकर वह व्रणशोध की पूय में होकर दूसरी ओर की त्वचादि अर्धगलित शरीर रचनाओं से टकरा जावें। अब नोंक को जोर से फल (धार) को आगे-पीछे करके पहले प्रवेश स्थान व अन्तिम नोंक निकले स्थान के बीच के त्वचादि को काटते हुए खोल दे। ध्यान रहे कि पेशीसूत्रों के समानान्तर काटें अन्यथा अंगाचलन आदि में बाधा उत्पन्न हो सकती है। पूय यदि गहराई में हो तो धमनी नाड़ी आदि के कट जाने के दोष से बचने के लिए वेधसपत्र को अधिक गहराई तक प्रवेश नहीं करना चाहिए। इसके लिए नाड़ीव्रण संदंश (Sinus forceps) को प्रवेश कर उसे खोल देने से नीचे की धातुएं फट जाती हैं और पूय बाहर निकल आता है।

१५. दारण—बालक, वृद्ध, असहनशील, क्षीणकाय, डरपोक और स्त्रियों को एवं मर्मों के ऊपर उत्पन्न व्रणशोथ में दारण कर्म करके अच्छी प्रकार पक्व व्रणशोथ के पूयादि का निर्हरण करदे। इस समय व्रणशोथ एक स्थान पर पिण्डित हो चुकी हो वह देख लेना चाहिये। दारण द्रव्यों के लेप रखने से पूर्व पीडन (मर्दन) करके अथवा पीडन द्रव्यों के लेप द्वारा अवपीड़ित करके जब दोष बिलकुल पककर वृत्ताकार हो गए हों तब समझें कि अब यह व्रणशोथ दारण करने योग्य हो गया है। इसके लिए निम्नांकित दारण द्रव्यों को पीसकर उनका लेप करे। क्षारों द्वारा भी यह दारण-कर्म किया जा सकता है।[1]

पीड़न द्रव्य—पिच्छ (सिम्बल, वट आदि) की त्वचा, मूल प्रपीड़न करते हैं। जौ, गेहूं, उड़द भी पीड़न द्रव्य हैं। इनको पीस व्रणशोथ मुख के स्थान पर लेप करके सुखा देने से पीड़न होता है।

दारण द्रव्य—चिरबिल्व (नाटा करञ्ज), अग्निका (कलिकारिका या भल्लातक), दन्ती (जमालगोटा), चित्रक, हयमारक (कन्नेर), कबूतर गीध एवं कङ्क पक्षियों के मल; कुटज, पलाश, अश्वकर्ण पारिभद्र आदि द्रव्यों के क्षार दारण द्रव्य हैं। कपोत मलादि सुकुमार दारण तथा क्षार कृच्छ्र दारण द्रव्य है।

क्षार द्रव्य—प्रतिसारणीय क्षार यथा यवक्षारादि।

१६. लेखन—इसके लिये अतसीवस्त्र (क्षौमम्) प्लोत (कर्पट नामक वस्त्र आधुनिक गॉज), पिचु (धुन हुई रुई के टुकड़े आधुनिक एब्जर्वेंट काटन पीस), समुद्रफेन, यवक्षार में सेंधानमक मिलाकर अथवा खुरदरे पत्तों का प्रयोग करना चाहिए। शस्त्र जो धातु से इस कार्य के लिए बनाये गये हों, यथा क्यूरेटर का प्रयोग स्वच्छ एवं शास्त्र सम्मत है। इसकी कई विधि हैं। सुश्रुतोक्त विधियों के भी कई अर्थ लगाये जाते हैं किन्तु सबका मूल अर्थ है कि दारण करने पर जब व्रणशोथ फट जाय तब यदि उसके किनारे कठिन, मोटे या गोल हों, बार-बार फट जाते हों, उनके भीतर कठिन उठा हुआ मांस हो तो लेखन क्रिया द्वारा उन्हें बराबर कर दे। यदि खुरच कर पूरा ही निकाल देने की आवश्यकता हो तो वैसा भी कर

१. सुश्रुत चि० १ (४६)।

सकते हैं। यदि पिचु, प्लीहादि के द्वारा खुरचने से काम न चले तो शस्त्र द्वारा (Curater) से खुरच कर किनारों के अन्त के बरावर कर देनी चाहिए। कठिन, मांसहीन, असम रूप से फटी व्रणशोथ को अधिक खुरचें। स्थूल, गोल किनारों वाली, पहले से अच्छी प्रकार लेखन की जा चुकी या अधिक खुरच गई है पहले ऐसी फटी व्रणशोथ को फिर से लेखन करे। जो बार-बार फट जाती हो उसे पूरा खुरच डालें। कठिन उठे हुए मांसयुक्त किनारों वाली को उतने ही प्रमाण में खुरच दें। कुछ वैद्य सम लेख से गहरा, सुलेखन से तिरछा, निरवशेषत: से निःशेष लेखन अर्थ करते हैं। श्रीसुवीर, जेज्जट और ब्रह्मदेव सम्पूर्ण को चार भागों में बांटते हैं :—१. कठिन, २. स्थूलवृत ओष्ट वाले, ३. बार-बार फट जाने वाले, ४. कठिन और उठे हुए मांसयुक्त। अनेक विद्वान् कठिन, स्थूल और गोल किनारे वालों को जिस प्रकार अच्छी प्रकार खुरच सकें उस प्रकार लेखन करें। अच्छी प्रकार लेखन की तीन विधियां हैं—१. सम, २. निरवशेष, ३. किनारों के अन्त के बराबर। अच्छी प्रकार लेखित (खुरचे गये) का लक्षण है कि व्रणशोथ के चारों फटे किनारे एक बराबर आ जावें, निर्लिखेत् से बारबार लेखन कर्म में शस्त्र (Curater) का प्रयोग करना चाहिए। यदि कहीं शस्त्र न मिले तभी गोजी शेफालिका आदि काम में लानी चाहिए।

१७, १८, १९—एषण, व्यधन, विस्रावण—क्रमश: नाड़ीव्रणादि, कभी फूटकर फिर भर जाने वाले (भरिया फूटा) और बहुत अधिक पकाव वाले व्रणशोथों में बताये गये हैं। विस्तार भय से इनका वर्णन नहीं कर रहे हैं।

२०—सीवन—शुद्ध पाकजन्य उपद्रवों से रहित खुले मुख वाले, मांस में स्थित व्रणों को सीं देना चाहिये।

२१. शोणितास्थापन—अधिक रक्त निकलने पर रक्त को रोकना और रक्त का पहुँचाना (blood treansfusion) इसके अन्तर्गत है।

२२. शारीरिक लक्षणों की शान्ति के लिए—गुग्गुल के योग दें, ज्वरादि के लिए लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

कुछ व्रणों के लक्षणानुसार चिकित्सा—

यदि व्रणशोथ के फटने पर व्रण से सड़ा-गला मांस निकल गया हो, मांस में स्थित होने पर भी व्रणभरता न हो, तो तिल पीसकर मधु मिलाकर उसमें भरने से व्रणपूरित होने लगता है।

पित्तरक्त विष और अभिघातज व्रणों में यदि पट्टी न बांधी जा सकती हो, शरीर के गतिशील अंग पर यह स्थित हो, पीप आदि न होने पर भी भरता न हो तो दारुहल्दी, हल्दी सहित उदुम्बर रस क्रिया द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

२३. कृष्णकर्म—व्रण भर जाने पर व्रणवस्तु (गूथ) को मिटाने के लिये भिलावों में गोमूत्र की भावना देकर सात दिन गाय के दूध में भिगो कर रखें, फिर पाताल-यन्त्र की विधि से तैल निकाल लें। इसमें गाय-भैंस आदि पशुओं के खूरों की राख मिलाकर लेप करने से व्रण वस्तु का रंग त्वचा में मिल जाता है।

२४. रोमोत्पादन—हाथीदांत की राख को रसौत और बकरी के दूध में मिलाकर लगाने से अवश्य ही बाल उग आते हैं।

२५. बन्धन—यथादोष औषधि लगाकर पट्टी बांधनी चाहिये केवल कुछ स्थानों व पित्त विषादि में यह वर्जित है।

★★

आलेप: आद्य उपक्रम

आयुर्वेदतत्वमर्मज्ञ श्री पं० बंशीधर त्रिवेदी, त्रिवेदी चिकित्सालय, पुरदिलनगर, अलीगढ़

कहीं भी सूजन हो जाने पर उस पर कोई न कोई लेप किया जाता है। इसे आद्य (सबसे पहला) उपक्रम (चिकित्सा का प्रकार) माना जाता है। एष सर्वशोफानां सामान्य: प्रधानतमश्च यही नहीं यह सभी प्रकार के शोफों का सामान्य (जनरल) और प्रधानतम (मुख्य) उपक्रम भी कहा जाता है। इसका वर्णन सुश्रुत संहिता में जहां-जहां जिस रोग में आवश्यक हुआ है, दिया गया है। इसके सम्बन्ध में सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान के १८वें अध्याय में कुछ नियम दिये गये है, वे नीचे दिये जा रहे हैः—

१. तत्र प्रतिलोमं आलिपेत न अनुलोमम्—रोमों की विरुद्ध दिशा में लेप करना चाहिए। शरीर में सर्वत्र जहां-जहां रोम है उनकी एक दिशा होती है। जैसे किसी स्थान पर ब्लेड से रोमकूपों को साफ कर देने पर कुछ दिन बाद उन पर हाथ फिराने पर एक ओर तो कुछ अनुभव नहीं होता जो अनुलोम दिशा है पर उसका उलटा हाथ फिराने पर रोम की नोंक हाथ से चुभती है। यह उसकी प्रतिलोम दिशा होती है। तो जब भी लेप लगाया जावे उसे प्रतिलोम दिशा में रगड़ कर लगाना चाहिए क्योंकि प्रतिलोम लगाने पर लेप ठीक से ठहरता है। रोमकूपों के अन्दर प्रवेश करता है वहां स्थित स्वेदवाहिनियों और सिराओं के मुख में आलेप का वीर्य (कार्यकारी द्रव्य या शक्ति) प्राप्त हो जाता है।

२. न च शुष्यमाणं आलेपं उपेक्षेत—लेप जहां शोथ स्थान पर लगा हुआ हो तो उसकी उपेक्षा न करे, क्योंकि सूखा हुआ बेकार होता है तथा पीडा भी करता है। इसका अपवाद एक जगह पर माना जाता है और वह है जब लेप के सूखने के कारण उसके द्वारा दबाव शोथ पर इतना पड जाय कि उससे पूय का निर्हरण होने लगे। कभी-कभी इसके लिए भी शोथ पर आलेप लगाया जाता है तथा ऐसा लेप मुख भाग पर नहीं लगाते ताकि दोष वहां से निकल सकें:—

पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि।
यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत्॥
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति।
न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते॥
शुष्क आलेप अष्टांग संग्रहकार के मत से—
शुष्कं हि दाहोषारागश्यावत्वशूलानि वर्धयति।
—अ० सं० उ० तं० अ० ३०

३. स आलेपः त्रिविधः प्रलेप: प्रदेहः आलेपश्च—वह लेप ३ प्रकार का होता है—i. प्रलेप, ii. प्रदेह और iii. आलेप। इनका वर्णन इस प्रकार है:—

प्रलेप—यह शीतल, पतला, क्लेद को न सुखाने वाला या सुखाने वाला होता है।

प्रदेह—यह उष्ण या शीतल, बहल (मोटा), अबहु (थोड़ा) या बहु (अधिक) और अविशोषी (क्लेद को न सुखाने वाला) होता है।

आलेप—यह मध्यम प्रकार का (प्रलेप, प्रदेह के बीच का) होता है।

अष्टांगसंग्रह उत्तर तन्त्र में उपर्युक्त सुश्रुतोक्त परिभाषाओं से भिन्न प्रलेप और प्रदेह की निम्न परिभाषाएं दी गई हैं—

स तु शीतस्तनुर्मुहुर्मुहुश्च प्रयुज्यते ।
स प्रदेहो रक्तपित्तत्वचां चैव प्रसादकृत् ॥

प्रलेपस्तूष्णः शीतो वा बहलश्च तथा वातश्लेष्मशमनः तस्योपयोगः क्षताक्षतेषु ।

कल्क—एक चौथे प्रकार का आलेप कल्क कहलाता है—यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः कल्क इति संज्ञां लभते । निरुद्धालेपनसंज्ञः तेनास्रावसन्निरोधो मृदुता पूतिमांसापकर्षणमनन्तर्दोषता व्रणशुद्धिश्च भवति—अर्थात् जिसका क्षत या घाव पर उपयोग किया जाय वह कल्क कहलाता है उसकी एक संज्ञा निरुद्धालेपन भी है जो घाव से बहने वाले रक्त या क्लेद के स्राव को रोकता है, मृदुता लाता है । सड़े गले मांस को निकालकर घाव को निर्दोष और शुद्ध करता है ।

४. आलेपनों का उपयोग—इन विविध प्रकार के आलेपनों का कहां-कहां उपयोग किया जाता है । इस पर भी साहित्य उपलब्ध होता है जिसके अनुसार जो शोथ पाकाभिमुख नहीं होते उनमें आलेपन प्रायः किये जाते हैं । ये आलेप दोषों का शमन करते हैं, शोफ के अन्दर की जलन, खुजली और पीडा को नष्ट करते हैं, त्वचा का प्रसादन करते हैं, मांस और रक्त की गर्मी को दूर करते हैं, दाह प्रशमन दाहककण्डु विनाश इनका लक्ष्य है । यही नहीं, मर्मदेशीय या गुह्यांगों के रोगों में संशोधन हेतु भी इनका उपयोग किया जाता है ।

५. आलेपन में स्नेह प्रमाण—कोई भी आलेपन हो उसमें चिकनाई कुछ न कुछ अवश्य रहती है । सुश्रुत के मत से पैत्तिक शोफों में छठा भाग, वातिक में चौथाई भाग तथा कफजों में आठवां भाग स्नेह डालना चाहिए । आजकल ओइण्टमेंट या मलहम नाम से जो ऐलोपैथी या यूनानी के योग मिलते हैं, उनमें वैसलीन या मोम या अन्य स्निग्ध पदार्थ रहता ही है । आयुर्वेदीय औषधिनिर्माता भी अपने मलहम ट्यूबों में वेचने लगे हैं पर उनमें स्नेह की मात्रा का स्पष्ट उल्लेख न रहने से यह ज्ञात करना कठिन होता है कि उन्हें वातिक, पैत्तिक या श्लैष्मिक किस शोफ पर प्रयुक्त करना है । इस कमी को आशा है, बड़े औषधिनिर्माता नातिदूर भविष्य में अवश्य निकाल देंगे ।

६. आलेप प्रमाण—यद्यपि आलेप वहल, वहु और तनु मात्रा में लगाने का निदेश ऊपर किया गया है, फिर सर्वसामान्यतया—तस्य प्रमाणम् आर्द्रमाहिषचर्मोत्सेधम् उपदिशन्ति—उसका प्रमाण गीले किये हुए भैंसे के चमड़े की बराबर मोटाई में विद्वान् बतलाये हैं । यह पाठ सुश्रुत की प्राचीन पुस्तकों में नहीं है ऐसा डल्हणाचार्य लिखते हैं ।

७. न च आलेपनं रात्रौ प्रयुञ्जीत—आलेपन रात में लगाना उचित नहीं है, क्योंकि शैत्य द्वारा रोकी गई ऊष्मा न निकल सकने से शोफ की वृद्धि कर सकती है—मा भूत् शैत्यपिहितोष्मणस्तद् अनिर्गमाद् विकारप्रवृद्धिः इति ।

८. प्रदेहसाध्य रोगों में आलेपन का कार्य दिन में ही करना चाहिए, ये व्याधियां रक्तपित्त (हेमोरेजिक), अभिघातज (ट्रौमैटिक) और विषजन्य हो सकती हैं । यहां सुश्रुतोक्त प्रदेह शब्द प्रदेहस्तूष्णः होने से उचित नहीं है, उसे प्रदेहसाध्ये व्याधौ तु के स्थान पर प्रलेपसाध्ये व्याधौ तु होना चाहिए क्योंकि प्रलेपः शीतः ऐसा ऊपर बतलाया गया है । अष्टांगसंग्रह का सप्रदेहो रक्तपित्त त्वचां चैव प्रसादकृत् ठीक मालूम पड़ता है ।

अष्टांगसंग्रहकार वृद्ध वाग्भट ने रात्रि में आलेप का निषेध करते हुए पुष्कलावर्त्त का मत इस प्रकार दिया है—

तमसा च हतो ह्यूष्मा रोमकूपैरनावृतैः ।
लेपाद् विनैव निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः ॥

रात्रि के अन्धकार में नंगे रोमकूपों से शोफगत ऊष्मा विना लेप के निकल जाती है इसलिए रात्रि में आलेपन उचित नहीं है ।

९. न च पर्युषितं लेपं कदाचिद् अवचारयेत्—बासा या एक दिन का रखा हुआ लेप कभी प्रयोग में न लावे । अर्थात् प्रतिदिन जितना आवश्यक हो उतना ही लेप तैयार करके शोफ पर लगा देना चाहिए । इसका व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो अस्पतालों में बनाकर रखे हुए सब मलहम और आइण्टमेंट तथा ट्यूबों में भरे सब मलहम बासे होने से त्याज्य हो जाते हैं । लेप

का शीघ्र गुणकारी होने के लिये वह जितना ताजा होगा उतना ही अधिक लाभदायक होता है। इस तथ्य पर हिन्दू विश्व-विद्यालय के चिकित्सा-विज्ञानसंस्थान के शल्य-शालाक्य विभाग में रिसर्च करके सही तथ्य सामने रखे जाने चाहिए, यह निवेदन है ताकि इस उपर्युक्त सुश्रुतोक्त कथन की सत्यता सिद्ध की जा सके।

१०. उपर्युपरि लेपं तु न कदाचित् प्रदापयेत्—लेप के ऊपर लेप लगाना भी आर्ष नहीं है। एक लेप को साफ कर दूसरा लेप नंगी की हुई शोफभूमि पर लगाया जाने का शास्त्रनिदेश है। क्योंकि डबल लेप के कारण ऊष्मा, वेदना और दाह वहां शोफ में पैदा हो जाते हैं।

११. न च तेनैव लेपेव प्रदेहं दापयेत्पुनः—उसी लेप को शोफ से छुड़ा पुनः गीला कर न लगा देना चाहिए क्योंकि एकबार सूखा हुआ लेप निर्वीर्य होकर व्यर्थ हो जाता है।

दशविधश्च समासाद् आलेप—
१० प्रकार के आलेप

आलेप १० प्रकार के वृद्ध वाग्भट ने गिनाए हैं:—

१. स्नैहिक आलेप—यह वातव्याधियों, वातिक-शोफों में लगाया जाता है। इसमें स्नेह भाग अधिक होता है या केवल स्नेह ही लगाया जाता है।

२. निर्वापण आलेप—यह पैत्तिक व्याधियों, विषैले शोफों, अग्निदग्ध या क्षारदग्ध स्थानों पर लगाया जाता है। यह शीतल एवं शीतवीर्य द्रव्यों से तैयार किया जाता है।

३. प्रसादन आलेप—वातदुष्ट रक्त में इसका उपयोग किया जाता है।

४. स्तम्भन आलेप—रक्तस्राव अधिक होने पर इसे लगाते हैं। यह स्थानीय रक्तस्तम्भन द्रव्यों फिटकरी, गेरू आदि से बनाया जाता है।

५. विलयन आलेप—यह रूक्ष द्रव्यों से तैयार किया जाता है। यह कफमेदमूयिष्ठ रोगों में शीतलद्रव्यों के द्वारा अपक्व विष्टब्ध ग्रथित (गांठ-गठीले) शोफों पर उन्हे गलाने के लिए लगाते हैं। आजकल चमड़ी के नीचे मोटी-मोटी, बड़ी-बड़ी या छोटी गुठली या गोली सी बन जाती हैं। उनमें विलयन आलेप लाभप्रद सिद्ध होता है।

६. पाचन आलेप—जब शोथ पकाना हो, बैठाना न हो तब इसे प्रयुक्त करते हैं।

७. पीडन आलेप—यह पके शोथ को दबा-दबाकर पूय निकालने हेतु लगाया जाता है। यह उस व्रण पर जिसका मुख बहुत बारीक हो लगाते हैं। इसमें रूक्ष तथा पिच्छिल पदार्थ लगाते हैं।

८. शोधन आलेप—अशुद्ध व्रण की सफाई करने के लिए इसे लगाते हैं।

९. रोपण आलेप—जब व्रण शुद्ध हो चुके तो फिर उसे भरने के लिए रोपण आलेप लगाया जाता है।

१०. सवर्णीकरण आलेप—जब व्रण भर जाय और उसके स्कार का रंग सफेद हो तो वह भद्दा लगता है। इसलिए उसे त्वचा के रंग जैसा रंगने के लिए इस आलेप का उपयोग किया जाता है।

केवल नामों से ही इन १० आलेपों का स्वरूप और कार्य सुस्पष्ट हो जाता है। कितना वैज्ञानिक विवरण हमारे आर्षग्रन्थों में उपलब्ध है। ऐण्टीसैप्टिक, एण्टीबायोटिक द्रव्यों के आगमन के पूर्व के काल में हमारे सर्जनों द्वारा जो अनुसन्धान किए गये थे, उनका कितना सजीव और युक्तियुक्त यह वर्गीकरण है। आज भी एक के बाद एक ये प्रक्रियाएं करने पर ही आम, पच्यमान और परिपक्व शोफ का उपचार किया जाकर पुनः प्रकृतावस्था लाई जा सकती है। नीचे कुछ प्रमुख लेपों का वर्णन किया जा रहा है:—

व्रणशोथ नाशक कुछ लेप

लेप	ग्रन्थ	घटक	विशेष
१. व्रणशोथहर लेप	भै० र०	धतूरे की जड़ तथा सैन्धव लवण मिलाकर लेप	सभी प्रकार के दुष्ट व्रण शोथ में लाभकारी है।

लेप	ग्रन्थ	घटक	विशेष
२. मातुलुंगादि लेप	भै० र०	मातुलुंग की जड़, अग्निमन्थ, देवदारु सोंठ, अहिंस्रा, रास्ना इन्हें एकत्र पीसकर लेप	वालिक व्रण शोथ में अत्यन्त लाभकारी है।
३. पंच वल्कल लेप	भै० र०	वट, गूलर, पीपल, पिलखन तथा वेतस इन पांचों की छाल को पीस घृत में मिला कर वना हुआ लेप	दाहयुक्त पैत्तिक शोथ, आगन्तुक एवं रक्तज व्रण शोथ में लाभकारी है।
४. अजगन्धादि लेप	भै० र०	अजवायन, असगन्ध, हिंस्रा, चीड़ की लकड़ी, त्रिवृत्त, काकड़ासिंगी सभी को पीसकर वना लेप	श्लैष्मिक शोथ में लाभकारी है।
५. पुनर्नवादि लेप	शा० सं०	पुनर्नवा, देवदारु, संहिजन, दशमूल, सोंठ इन सबको पीसकर वना लेप	कफवातज शोफ में लाभकारी है।
६. दशांग लेप	भै० र०	सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लालचन्दन, इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ और खस सभी दस वस्तुओं का पिसा लेप	यह लेप पैत्तिक शोथ और रक्तज शोथ पर सत्वर लाभ पहुँचाता है। यह लेप उग्र विस्फोटक, विसर्प, दाह, शोथ, सर्वांग शोथ आदि सभी प्रकार के व्रण शोथों पर लाभकारी वहुप्रचलित योग है।
७. दोषघ्न लेप	शा० सं०	संहिजने की छाल, सोंठ, सरसों, पुनर्नवा की जड़, देवदारु, सवको मिलाकर चूर्णकर काँजी या खट्टी छाछ मिलाकर वनाया लेप	वातज और श्लेष्मज शोथ के लिये उत्तम लेप है।
८. पटोल्यादि लेप	च० द०	परवल के पत्र, तिल, मुलहठी, निशोथ, दन्तीमूल, हल्दी, दारुहल्दी, नीम के पत्र तथा सैन्धव लवण का लेप	यह व्रणशोधन के लिये उत्तम लेप है।
९. तिलाष्टकम्	भै० र०	तिल, सैन्धव लवण, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिवृत्, घी, मुलहठी, निम्बपत्र इन्हें एकत्र कर वना लेप	यह व्रणशोधन करने में अत्युत्तम लेप है।
१०. शोधनकेशरी लेप	भै० र०	निम्बपत्र, तिल, दन्ती, निशोथ, सैन्धव, शहद इन्हें मिलाकर वनाया हुआ लेप	यह लेप भी व्रणशोधन के लिये प्रयुक्त होता है।

व्रण-बन्धन-विमर्श

वैद्य श्री छगनलाल समदर्शी, आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदभूषण, आयुर्वेद फिजिशियन एण्ड सर्जन
प्रधान चिकित्सक-समदर्शी मल्टीपर्पज हास्पीटल, रायपुर (झालावाड़) राज०

व्रण बन्धन का महत्व—शल्य चिकित्सा में पट्टी बांधने (Bandaging) का बहुत काम पड़ता है। प्रत्येक व्रण (Ulcer) का उपचार पट्टी बांधकर समाप्त किया जाता है। आघात से शरीर का कोई भाग छिन्न (Incised) हो जाय या भिन्न (Lacerated) हो जाय या विद्ध (Punctured) हो जाय अथवा शरीर में कहीं क्षत हो जाय या पिच्छिलव्रण (Contused wound) बन जाय और रगड़ अथवा अन्य प्रकार से इष्टव्रण (Abrasion) हो जाय तो वे बन्धन बांधने से ठीक हो जाते हैं। बन्धन से व्रणी पुरुष ठीक तरह से सोता है। सुख से चलता है। सुखपूर्वक खड़ा रह सकता है, बैठ सकता है तथा उसका व्रण भी शीघ्र ही भर जाता है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत ने लिखा है:—

सुखमेव व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति ।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ।।
—सु० सू० अ० १८

इसी को पाश्चात्य शल्य चिकित्सकों ने निम्न तरह से व्यक्त किया है:—

Bandage Perform the Following Functions–1. They hold-dressing in place. 2. Apply constant pressure on certain area. 3. Immabilize a part. 4. Provide traction. 5. Correct position of the part. A veli horestshy (Text Book of Surgery.)

पट्टी बांधने से मक्षिका, मच्छर, घास, लकड़ी, पत्थर के कण, धूली, शीत, वायु, धूप, जीवाणु आदि से व्रण दूषित नहीं होने पाता है। वेदनाओं का शमन होता है तथा व्रण पर लगाये गये (Ointment etc.) न तो जल्दी शुष्क हो पाते, न दूषित ही हो पाते हैं। इसके अलावा आलेपादि यथास्थान व्रण पर लगे रहते हैं। इतना ही नहीं बन्धन के कारण रक्त की शुद्धि तो होती है साथ ही व्रण स्थान में मृदुता बनी रहती है। बन्धन के कारण वर्ण की विकृति नहीं होने पाती। यदि बन्धन न बांधा जाय तो वर्ण की विकृति सदा के लिए रह जाती है। बन्धन का महत्व बताते हुए आचार्य वाग्भट लिखते हैं कि जिस व्रण के ओष्ठ (प्रान्त किनारे) अश्व के गुद (लीद करते समय) के समान उद्वृत (उलटे) हों, जिनमें मांस वृद्धि हो गई हो, जिसका आकार विषम हो, वह बन्ध बांधने (के प्रभाव) से सम हो जाता है। कठिन व्रण मृदु (Soft) हो जाता है और अत्यन्त वेदना वाला व्रण वेदना रहित हो जाता है और उसका शोधन एवं रोपण भी शीघ्र हो जाता है—

उद्वृत्तौष्ठः समुत्सन्नो विषमः कठिनोऽतिरुक् ।
समो मृदुररुक् शीघ्रं व्रणः शुद्ध्यति रोहति ।।६६।।
—अ० हृ० सू० अ० २६

व्रण बन्धन द्रव्य—शण, रुई, भेड़ की ऊन आदि से बनाई पट्टी, कोषाकार कृमि से बनाया रेशम और पत्रोर्ण (टसर) से बना वस्त्र, हरिणादि का चर्म, भूर्जपत्र, गूलर आदि वृक्षों की अन्तर्छाल, तुम्बी का टुकड़ा, लता (वेलड़ी), वांस की खमची, रस्सी, स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह आदि व्रण बन्धन द्रव्य हैं। इनका व्याधि और काल के अनुसार उपयोग किया जाता है। आजकल शल्य चिकित्सा में मुख्यतया निम्न तीन प्रकार के बन्धन द्रव्यों का विशेष उपयोग किया जाता है—

१. चिकना, दृढ़, स्वच्छ साधारण वस्त्र, गाढ़ा, गजी, मलमल, लट्ठा, गॉज, फलालेन, रबड़ इत्यादि वस्तुओं की पट्टियां।

२. चिपकने वाला प्लास्टर (Adhesive Plaster) और

३. पैरिस प्लास्टर (Plaster of Paris)

उपरोक्त बन्धन द्रव्यों में से पैरिस प्लास्टर की प्रयोग-विधि पृथक् से इसी अङ्क में दी गई है। इसलिए इसे छोड़कर शेष २ बन्धन द्रव्यों की उपयोग विधि का ही हम यहां वर्णन करेंगे।

बन्धन के भेद—आचार्य सुश्रुत ने सूत्र स्थान अध्याय १८ में चौदह बन्धनों का वर्णन किया है तथा आचार्य वाग्भट ने अ० हृ० सू० अ० २९ में १५ बन्धनों का वर्णन किया है। नीचे बन्धनों का नामतः निर्देश तालिका द्वारा किया जा रहा है—

उपरोक्त बन्ध पहले किस प्रकार शरीरांग पर बांधे जाते थे उनका कोई स्पष्ट उल्लेख किसी भी आयुर्वेद के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। मात्र इनके नाम से ही इनके स्वरूप का ज्ञान कर उसी आकार से ये बन्ध बांधे जाते रहे होंगे। इन बन्धनों में कई बन्ध ऐसे हैं जिनके अंग्रेजी नामकरण में विद्वान् वैद्य एक मत नहीं हैं। स्थानों और आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के बन्धन लगाये जाते हैं। चिकित्सा के समय चिकित्सक को स्वयं इस बात का निर्णय करना चाहिए कि किस स्थान पर कौनसा बन्धन लगाना उचित है। अतः यहां शरीर के अङ्गों के अनुसार बन्धन बांधने का निर्देश करना ही अधिक उपयुक्त मानकर मैं बन्धनों का वर्णन कर रहा हूं:—

बन्धन भेद निदर्शक सारिणी

क्रम संख्या	बन्ध नाम	आधुनिक नाम	बन्धन स्थान
१	कोश बन्ध	Sheath Bandage.	अंगुष्ठ, अंगुली पर्व
२	दाम बन्ध	Four tailed Bandage.	तंग या ऐंठन युक्त स्थान
३	स्वस्तिक बन्ध	Cross or Spica Bandage.	सन्धि, कूर्चक, भ्रू, स्तन, कर्ण
४	अनुवेल्लित बन्ध	Spiral Bandage.	हस्त, पाद, शाखा
५	तोली या प्रतोली बन्ध	Recurrent Bandage.	ग्रीवा, लिंग
६	मण्डल बन्ध	Circular Bandage.	उदर, ऊरु, बाहु
७	स्थगिका बन्ध	Stump Bandage.	अंगुष्ठ, अंगुली, शिश्नाग्र
८	यमक बन्ध	Figure of Eight.	संयुक्त व्रण
९	खट्वा बन्ध	Many tailed Bandage Barrel Bandage.	हनु, शंख, गण्ड
१०	चीन बन्ध	Eye Bandage.	नेत्र, उपांग
११	विबन्ध बन्ध	Spiral & Spica Badage.	पीठ, उदर, छाती
१२	वितान बन्ध	Capheline Bandage.	शिर
१३	गोफणा बन्ध	Sling Bandage.	ठोड़ी, नासा, ओष्ठ, अंस
१४	पञ्चांगी बन्ध	Briddle Bandage.	जनु के ऊपर
१५	उत्संग बन्ध (वाग्भट)	Arm Sling Bandage.	बाहु

१. अनुवेल्लित बन्ध—इसे स्पाइरल बैंडेज कह सकते हैं। यह बन्ध अङ्ग पर कुण्डलों के आकार में लगाया जाता है। अन्य बन्धों की भांति इसको अङ्ग के नीचे की ओर से बांधना आरम्भ करते हैं। प्रथम लपेट पट्टी को स्थिर करने के लिए लगावें। पट्टी को अङ्ग के चारों ओर दो बार घुमाकर उसको स्थिर कर दें। यह याद रखें कि दोनों घुमाव एक ही स्थान पर होने चाहिए। अर्थात् दूसरा लपेट प्रथम लपेट के ऊपर ही रखें। इस प्रकार पट्टी के आदि भाग को दृढ़ करके पट्टी के दूसरे घुमावों को ऊपर की ओर ले जाना आरम्भ करें। प्रत्येक लपेट इस प्रकार लगावें कि वह पूर्व लपेट के ½ ऊपरी

अनुवेल्लित बन्ध

हिस्से को ढंककर रखे। ज्यों-ज्यों नीचे से ऊपर की ओर बन्ध बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अंग भी मोटा होता जाता है। इस कारण से कुछ ऊपर चलकर पट्टी का लपेट अंग पर ठीक नहीं बैठ पाता। अतः लपेट को ठीक करने के लिए लपेटों को मोड़ दीजिए जिससे पट्टी देखने में सुन्दर तो लगेगी ही साथ ही ढीली भी न होने पावेगी। मोड़ सदा अंग के बाहर की ओर ही दिया जाना चाहिये। ऐसे स्थान पर, जहां अस्थि या उभार हों मोड़ नहीं देना चाहिये। मोड़ देते समय उस स्थान पर, जहां मोड़ देना है, पट्टी को ढीली करने के बाद, जिस हाथ से पट्टी पकड़ी हुई है, उसे इस प्रकार घुमाना चाहिए कि यदि पूर्व में हथेली अंग की ओर थी तो अब वह बाहर की ओर और हथेली का पृष्ठ अंग की ओर आ जाय। ऐसा करने से पट्टी स्वयं अपने ही ऊपर मुड़ जायगी। उसका ऊपर की ओर का किनारा नीचे आ जायगा और नीचे का किनारा ऊपर की ओर चला जायगा। इस प्रकार मोड़ देने से बन्धन ठीक तरह से लग जाता है और वह ढीला भी नहीं रहने पाता। यदि आपको मोड़ देने में कुछ कठिनता अनुभव हो तो आप जिस स्थान पर मोड़ देना चाहें, वहां दूसरे हाथ की एक अंगुली रख लें और इसके सहारे पट्टी को मोड़ दें। यदि आप पट्टी को काफी ढीली रखें तो अंगुली के रखने की भी आवश्यकता नहीं रहती है। मोड़ देकर बाद में भी पट्टी को खींचा जा सकता है। इस प्रकार अंग के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पट्टी को लपेटों में मोड़ देकर पट्टी बांध दें।

२. स्वस्तिक पट्टी—इसको क्रॉस या स्पाइका बैंडेज कह सकते हैं। इसका स्वरूप हिन्दी के चार या अंग्रेजी के आठ अंक के समान होता है। सन्धि स्थानों में अनुवेल्लित पट्टी लगाने में कठिनाई होती है, अतः वहां स्वस्तिक पट्टी बहुत उपयुक्त होती है। जिस सन्धि पर पट्टी लगाना हो उसके नीचे से पट्टी बांधना आरम्भ करें। प्रथम एक या

स्वस्तिक बन्ध

दो लपेट लगाकर पट्टी को स्थिर करलें। पश्चात् पट्टी के दूसरे सिरे को सन्धि के पीछे से निकाल दूसरी ओर सन्धि के ऊपर पट्टी लावें और वहां से सन्धि के सामने से होकर दूसरी ओर नीचे पट्टी ले आवें। इस प्रकार सन्धि पर

एक 8 के आकार का लपेट लग जायगा। इस तरह अधिक लपेट लगाकर सन्धि को ढक दें और पट्टी की पुच्छ को ऊपर या नीचे स्थिर कर दें।

यह ध्यान रखें कि यदि सन्धि के ऊपर अंग पर भी पट्टी लगाना आवश्यक हो तो अनुवेल्लित पट्टी बांधना चाहिए।

अनुवेल्लित और स्वस्तिक पट्टियों के प्रकार

पांव के अंगूठे की पट्टी—बांये हाथ से पट्टी के एक सिरे को चित्र में बनाये अनुसार अन्तर्गुल्फ के पास रखकर उसको पकड़े रहें और दूसरे हाथ से पट्टी के वेलन को टांग के नीचे के भाग के पहले सामने की ओर तत्पश्चात् पीछे से निकालकर सामने पांव के ऊपर होकर उसके बाहरी किनारे से पांव तले पर होते हुए अंगूठे के नीचे
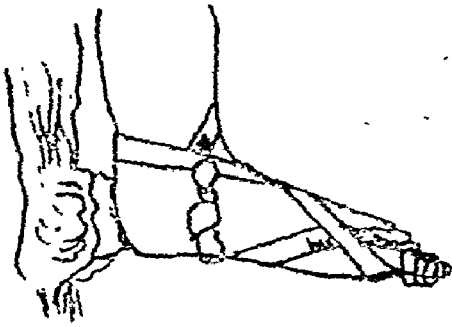
पांव के अंगूठे की पट्टी

के उभार पर ले जावें। फिर वहां से पट्टी को पांव के अन्तर्पार्श्व तथा ऊपर होते हुए अंगूठे और अंगुली के बीच की घाई में से अंगूठे के सिरे पर पहुँचकर वहां पर अनुवेल्लित पट्टी लगादें। वहां से पट्टी को ऊपर की तरफ बढ़ाकर पुनः अंगूठे के मूल तक ले आवें। यहां से पट्टी को फिर पांव के ऊपर होते हुए बाहर की ओर ले आवें और पांव के तले पर लाते हुए पुनः अन्तर्गुल्फ के पास पहुँच जाय। यहां पर उसके पट्टी के पहले सिरे के साथ बांध दें।

अंगूठे की पट्टी

यदि केवल अंगूठे पर ही पट्टी बांधना हो तो वहां चित्र में बताये अनुसार अनुवेल्लित पट्टी बांध देने से ही आपका काम हो जायगा।

जंघा की पट्टी—यहां विलोम अनुवेल्लन (रिवर्स स्पाइरल) का प्रयोग किया जाता है। सर्वप्रथम पट्टी को स्थिर करने हेतु प्रथम गुल्फ के चारों तरफ कुछ स्वस्तिक लपेट दीजिये। इसके बाद पट्टी को जंघा के निचले भाग पर लाइये। यहां प्रथम दो-चार लपेट साधारण अनुवेल्लित लगाइये परन्तु शेष लपेटों में मोड़ देना नहीं भूलिए। यह याद रखिये कि मोड़ जंघा के बाहर ही लगें। साथ ही समस्त मोड़ एक ही रेखा में लगाइये जिससे पट्टी सुन्दर भी दिखाई दे। इस प्रकार जितने ऊपर तक आप पट्टी
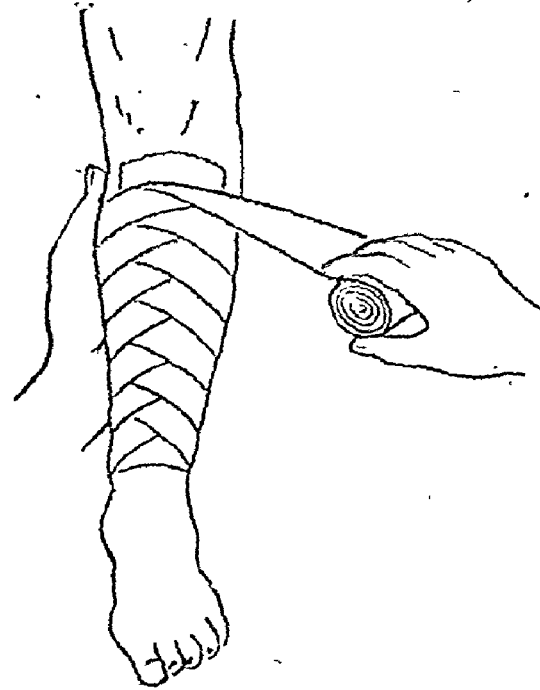
बांधना चाहें, पट्टी लगा सकते हैं। यदि जंघा के साथ ही पांव की पट्टी भी लगाना आवश्यक हो तो पट्टी को प्रथम अंगुलियों के मूल से आरम्भ करके पांव पर कुछ अनुवेल्लित लपेट लगाइये। बाद में वहां से गुल्फ पर पहुँचकर स्वस्तिक लपेट लगाकर जैसा ऊपर कहा है, जंघा पर पट्टी बांध दीजिये।

गुल्फ की पट्टी—१. यह एक स्वस्तिक बन्ध है। यह पट्टी इस प्रकार बांधी जाती है कि यदि आवश्यकता हो

तो एड़ी और पांव पर भी बन्ध लगाया जा सकता है। इसके लिए प्रथम एड़ी के नीचे की ओर से पट्टी बांधना चाहिए। बांये हाथ से एक सिरे को वहां थामकर दूसरे हाथ से पट्टी के बेलन को गुल्फ के आगे की ओर लेजाकर वहां चारों तरफ एक लपेट लगा दें। इसी के ऊपर दूसरा
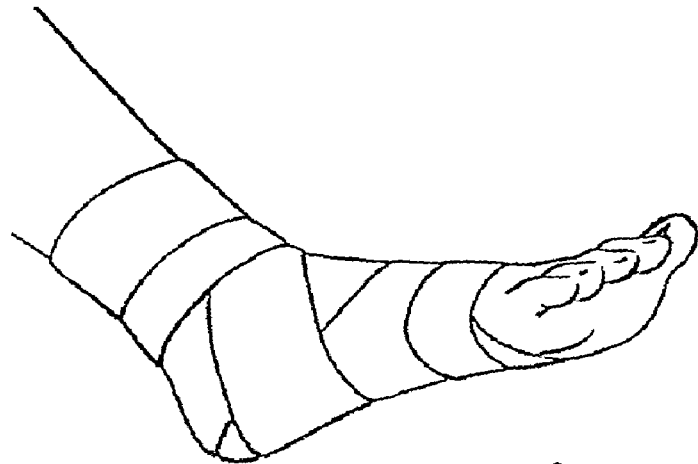
लपेट इस प्रकार लगावें कि वह पहले लपेट के नीचे के आधे भाग को ढंक ले। इसके बाद तीसरा लपेट इस प्रकार लगावे कि वह पहले लपेट के ऊपरी आधे भाग को जो दूसरे लपेट में खुला रह गया था, ढंक ले। इस प्रकार लपेट को समाप्त करके पट्टी के बेलन को एड़ी से पांव के भीतर की तरफ होते हुए उसके ऊपर से निकालकर अंगुलियों के मूल तक ले आओ। अब यहां से अनुवेल्लित पट्टी लगाइये। पहले अंगुलियों के मूल पर लपेट दीजिए और तब ऊपर की तरफ बढ़िये। जहां आवश्यक लगे पट्टी में मोड़ भी देते जाइये। इसके बाद एड़ी पर पहुँचकर गुल्फ के चारों ओर स्वस्तिक लपेट देकर गुल्फ के ऊपर जंघा के नीचे के सिरे पर पट्टी को बांध दें।

२. यदि गुल्फ की पट्टी एड़ी को छोड़कर लगानी हो तो एड़ी को छोड़ते हुए गुल्फ पर ही स्वस्तिक पट्टी लगावें। एक ओर का लपेट पांव पर और दूसरी तरफ का लपेट जंघा के निम्न भाग पर रखें। इस पर एड़ी को बिल्कुल छोड़ा जा सकता है।

गुल्फ और एड़ी की पट्टी—यह भी स्वस्तिक बन्ध तथा विलोम अनुवेल्लन का रूप है। इसका वर्णन ऊपर गुल्फ की पट्टी में हो चुका है। इसमें भीतर से बाहर की ओर को लपेट लगाते हुए प्रथम लपेट गुल्फ
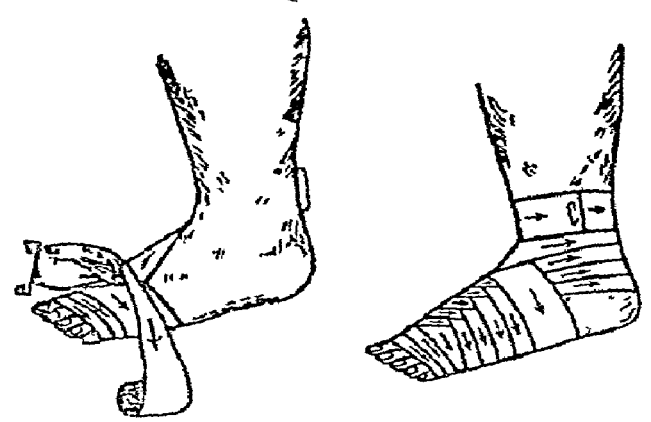
और एड़ी पर लगाइये। दूसरा लपेट इससे इस प्रकार ऊपर रखें कि वह लपेट के ऊपरी भाग को ढंक ले। तीसरा लपेट दूसरे लपेट के नीचे रखें जो पहले लपेट के नीचे के कुछ भाग को ढंक सके। चौथा लपेट तीसरे लपेट के ऊपर रहने और पांचवा लपेट तीसरे के नीचे। इस पांचवें लपेट को पांव के तले पर निकालते हुए एड़ी के पास से भीतर की ओर ले आवें। यहां से चित्रानुसार पट्टी को गुल्फ के ऊपर न ले जाकर एड़ी के पार्श्व भाग पर निकालकर पार्ष्णिकण्डरा की ओर ले आवें। यहां से अब छठा लपेट आरम्भ करें, जिसे गुल्फ के सामने की ओर पादपृष्ठ पर लेजाकर पांव के तल पर होकर एड़ी के बाहर की ओर पहुंचा दें। यहां से लपेट गुल्फ के सामने न लेजाकर एड़ी के बाहरी पार्श्वभाग पर लाते हुए जंघा के पीछे की तरफ ले आवें। अब यहां से सातवां लपेट पुनः गुल्फ के सामने की ओर लाकर आवश्यकतानुसार एक या दो लपेट देकर पट्टी बांध दें।

जानु-सन्धि की पट्टी—यह स्वस्तिक बन्ध है। पट्टी के एक सिरे को जान्वस्थि के नीचे रखकर पट्टी को जंघा के ऊपरी भाग पर स्थिर करिए। वहाँ से बेलन को सन्धि के पीछे की ओर ले जाकर उसको जान्वस्थि के ऊपरी किनारे के पास निकालें। इस तरह यह तीसरा
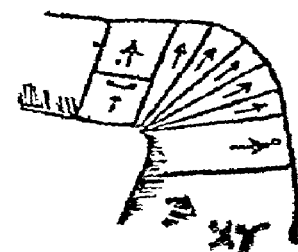
लपेट ऊरु के निचले भाग पर लगेगा। अब इस लपेट को पुनः पीछे की ओर ले जायें। इसी भांति चौथे लपेट को तीसरे लपेट से थोड़ा ऊपर लगाइये। पांचवां लपेट इस तरह लगावें कि वह चौथे लपेट को ढंकता हुआ नीचे को उतरे और सन्धि के ऊपर होता हुआ जान्वस्थि के नीचे आ जाय और सन्धि के पीछे जाकर दूसरी ओर को निकलकर फिर ऊपर चढ़ना आरम्भ करें। परन्तु वह प्रथम नीचे उतरने वाले लपेट को थोड़ा ढंक ले इस बात का ध्यान रखें। इस प्रकार लपेट को सन्धि के ऊपर पहुंचाकर फिर उसे उसके पीछे की ओर आने दें और फिर दूसरी तरफ से नीचे को ले आवें। जब लपेट को नीचे लावें तो इस तरह नीचे लावें कि वह पूर्व चढ़ने वाले लपेट को ढंक दे। इस प्रकार प्रत्येक लपेट एक दूसरे लपेट को ढकता जायगा। इसी भांति आप उस समय तक लपेट लगाते जाइये, जब तक सन्धि पूर्णतया ढक न जाये।

नितम्ब सन्धि की पट्टी—१. यह स्वस्तिक और विबन्ध (Spica) बन्ध का मिलित रूप है। यह पट्टी ऊरु सन्धि के पास के क्षतों को ढंकने के लिए उपयोगी है। इससे व्रणोपचार वस्त्र अपने स्थान से हटने नहीं पाते। पट्टी को ऊरु-सन्धि के नीचे और ऊरु तथा अण्डकोष के के बीच की घाई से लगाना आरम्भ करें। प्रथम पट्टी के एक सिरे को वहां पर रखकर दूसरे सिरे को सामने से ऊपर और बाहर की ओर ले आवें ताकि वह

नितम्बास्थि के ऊपरी किनारे पर पहुंच सके। वहां से पट्टी के बेलन को नितम्बों पर से कटि प्रान्त पर निकाल कर दूसरी ओर की नितम्बास्थि के ऊपरी किनारे पर से होते हुए फिर बाहर सामने की ओर ले आवें। अब यहां से पट्टी को पेडू के स्थान पर से निकालकर जहां से लपेट आरम्भ किया था वहां तक ले जावें। अब यहां से पट्टी का दूसरा लपेट आरम्भ करें। यह लपेट पहले लपेट के ऊपर होता हुआ उसके पीछे चला जायगा और फिर भीतर की ओर से निकालकर पहले लपेट के ऊपरी आये भाग को ढकता हुआ नितम्बास्थि की ओर चला जायगा। अब यहां से पूर्व की भांति ही लपेट को कटि प्रान्त में से निकालते हुए दूसरी ओर से सामने लाकर फिर क्षत ऊरु पर ले जावें। शेष लपेट भी इसी प्रकार लगाइये। पट्टी बांधते समय रोगी के नितम्बों को ऊंचा करदें और रोगी को खड़ाकर पट्टी बांधे तो पट्टी मजबूत तथा आसानी से बंध जावेगी।

२. यदि नितम्ब के दोनों ओर पट्टी बांधनी हो तो ऊपर कही हुई विधि की ही भांति दाहिनी ओर की ऊरु की घाई से आरम्भ करके पट्टी दाहिनी नितम्बास्थि पर लेते हुये कटि प्रान्त पर से निकालकर बाईं नितम्बास्थि पर ले आवें। यहां से पट्टी के बेलन को दाहिनी तरफ न ले जाकर बाईं ऊरु की घाई की ओर ले जावें। वहां से
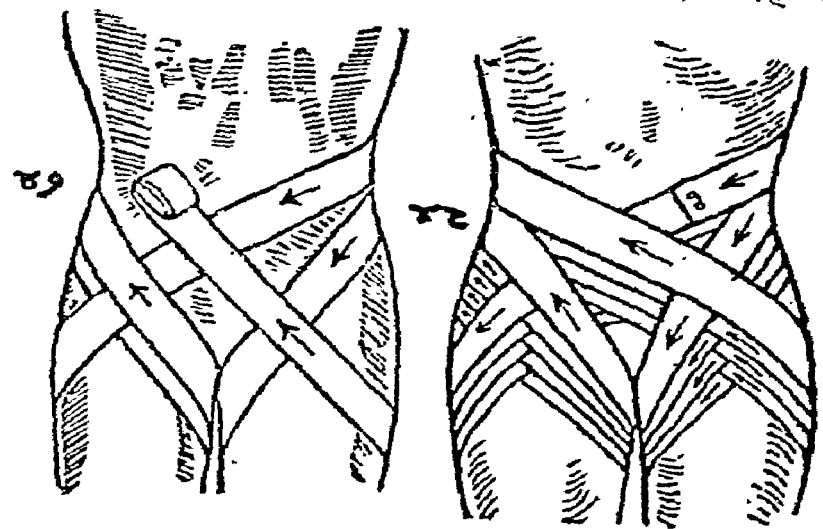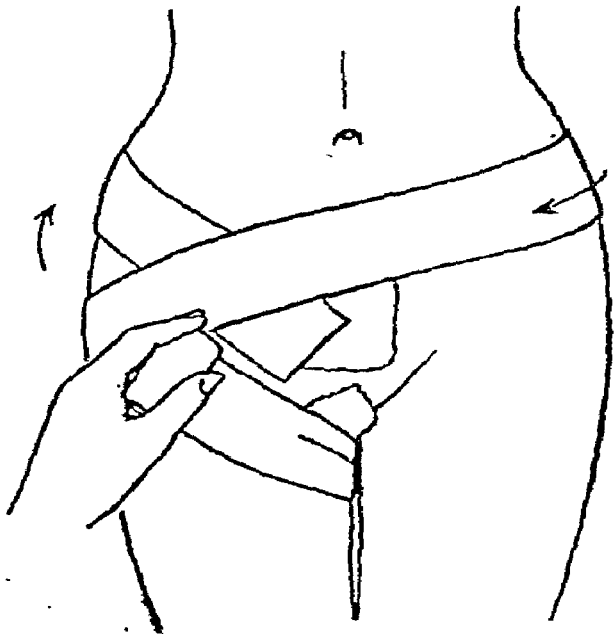
पीछे की ओर पट्टी ले जाकर ऊरु के बाहर फिर सामने की तरफ आ जावें। यहां से पट्टी उदर के ऊपर निकाल-कर दाहिनी नितम्बास्थि के ऊपर ले जावें, जहां से पट्टी कटि के पीछे को होती हुई और वहां से बाईं ओर की

नितम्बस्थि के ऊपर होती हुई दाहिनी ऊरु के ऊपर आ जावेगी । इस प्रकार पट्टी का प्रथम सिरा जो वहां रखा हुआ था, ढंक जावेगा यहां से पट्टी को पुनः ऊरु के पीछे लेजाकर घाई में से निकालकर और वाईं ओर की नितम्वास्थि पर से होते हुऐ फिर वाईं ओर के ऊरु के ऊपर एक स्वस्तिक पट्टी लगादें। वहां से पट्टी को पुनः पहले की ही भांति कटि के चारों ओर होकर दाहिनी ओर पहुंचावें। वहां दाहिने ऊरु पर स्वस्तिक पट्टी लगावें। इस प्रकार दोनों ओर के ऊरु पर एक साथ स्वस्तिक पट्टी बांध सकते हैं।

विशेष—ऊरु या पेड़ू पर पट्टी लगाते समय रोगी को यदि खड़ा करने में कठिनाई हो तो लकड़ी से बने
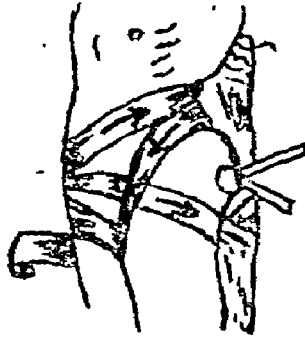
नितम्बाश्रय

नितम्बाश्रय का उपयोग करना चाहिए। इसका ऊपरी भाग वस्त्र की छोटी गद्दी से ढंका रहता है। इसको कटि के नीचे रख दिया जाता है जिससे पट्टी लगाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

कोश बन्ध (Sheath Bandage)—१. हाथ की अंगुली की पट्टी—हाथ की अंगुली की पट्टी के लिए ¾ इंच चौड़ी पट्टी पर्याप्त होती है। उसके एक सिरे को कलाई के ऊपर एक या दो बार लपेट कर स्थिर कर दें। इस सिरे को इस प्रकार लपेटें कि उसका दो या तीन इंच का भाग लपेट से बाहर निकाला रहे और पट्टी के समाप्त होने पर दूसरे सिरे के साथ बांधा जा सके। इस सिरे को लपेटने के पश्चात् पट्टी हाथ के ऊपर लेजाकर अंगुली के सिरे तक लावें और ऊपर की तरफ को अंगुली के मूल तक अनुवेल्लित पट्टी बांधी जाती है (जिसका स्वरूप आयुर्वेद मत से कोश
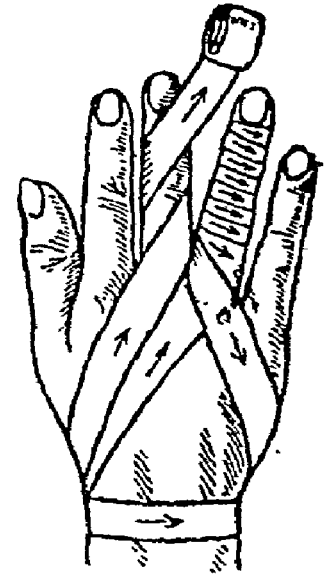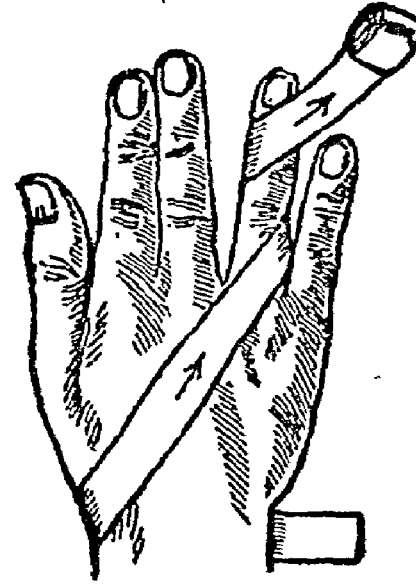
बन्ध के समान होता है) वहां से पट्टी के दूसरे सिरे को हाथ के ऊपर से कलाई तक ले जावें और उसका एक या दो लपेट लगाकर पट्टी के पहले सिरे के साथ बांध दें।

२. हाथ के अंगूठे की पट्टी—हाथ के अंगूठे की पट्टी भी अंगुली की पट्टी के समान ही ¾ इंच चौड़ी पट्टी पर्याप्त होती है। सर्व प्रथम कलई पर एक या दो लपेट लगाकर
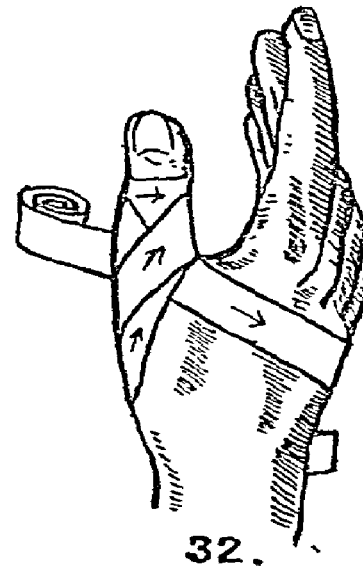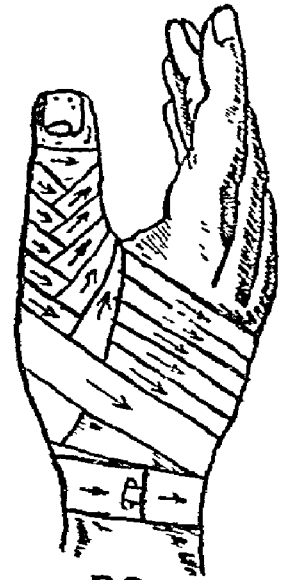
32. 33.

पट्टी को हाथ के ऊपर से अंगूठे की प्रथम-करमास्थि तक ले जाइये। वहां अंगूठे के मूल पर एक लपेट लगाइये। इसके पश्चात् पट्टी को अंगूठे और तर्जनी अंगुली के बीच से निकालकर कलाई के भीतर की तरफ (बाह्य प्रकोष्ठास्थि से अन्तः प्रकोष्ठास्थि की ओर) ले जाइये। वहां

से पट्टी को पुनः वाहर के ओर लेजाकर हाथ के ऊपर निकालते हुए, अंगूठे के नीचे से, पहले लपेट की भांति तर्जनी अंगुली और अंगूठे के नीचे से निकाल लें। याद रखिये कि यह दूसरा लपेट पहले लपेट के लगभग ⅔ भाग को ढकता हुआ नीचे की ओर उतरे। इस प्रकार अंगूठा ढंक जाता है। अन्त में कलाई पर एक या दो लपेट देकर पट्टी को वांध दीजिये।

वितान वन्ध या सिर की पट्टी—१. यह कैंफेलिन वैंडेज है। वितान वन्ध सिर को एक टोपी की भांति ढंक लेता है। इसको ठीक प्रकार से लगाने से सिर के उपचार वस्त्र अपने स्थान से हटने नहीं पाते हैं। वितान वन्ध के लिए दो पट्टियों की आवश्यका होती है। एक पट्टी दो इंच वाली और दूसरी तीन इंच चौड़ी होनी चाहिए। इन दोनों पट्टियों के सिरों को पहले आपस में सी लें। और दोनों के दो अलग-अलग वेलन वना लें। इनमें से छोटा वेलन दाहिने हाथ में तथा वड़ा वेलन वायें हाथ में लेकर रोगी के पीछे खड़े हो जावें। सुविधा के लिए रोगी को कुर्सी, तिपाई या चारपाई पर विठा दें ताकि पट्टी वांधने में कठिनाई न हो। अव दोनों वेलनों के वीच भाग को शिर पर रखें। शिर (माथा) को आप जितना हो सके नीचा रख वाइये और भले प्रकार से स्थित करके दोनों वेलनों को कानों की ओर ले जाइये। यह ध्यान रखना चाहिए कि पीछे की ओर पट्टी ले जाते समय पट्टी को नीची करते जाना चाहिए ताकि दोनों ओर की पट्टी पीछे गुदी पर जाकर मिलें।

गुदी पर दोनों ओर की पट्टियों के मिलने के वाद दोनों का भावी मार्ग वदल जाता है। वड़ी पट्टी शिर के चारों ओर पहले की ही भांति घूमती जाती है। परन्तु छोटी पट्टी आगे से पीछे और पीछे से आगे की ओर चलती रहती है। यह क्रिया इस प्रकार करें। प्रथम वार पीछे गुदी पर छोटी पट्टी को पहुंचा कर वड़ी पट्टी के नीचे कर दें जिससे वड़ी पट्टी छोटी पट्टी को ढंकते हुए वाईं ओर से दाहिनी ओर को जा सके। और छोटी पट्टी को पीछे की ओर से मोड़कर पट्टी के ऊपर होते हुए माथे की ओर ला सकें। यह प्रथम लपेट हुआ जा शिर के विल्कुल वीच रहता है। माथे पर पहुँचकर इस छोटी पट्टी को पुनः वड़ी पट्टी
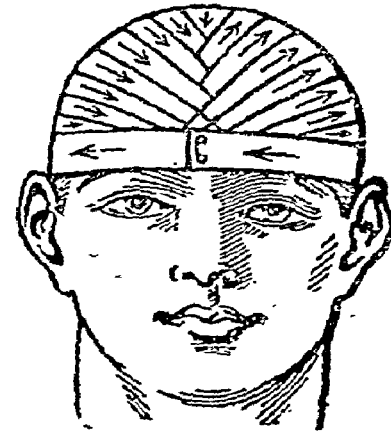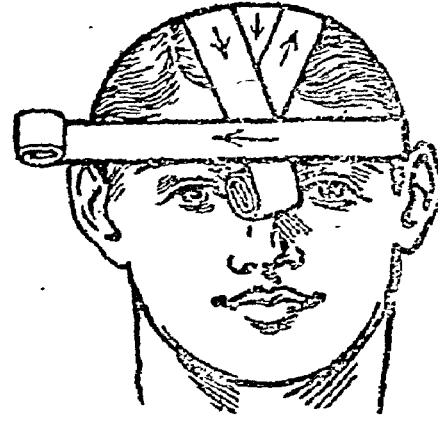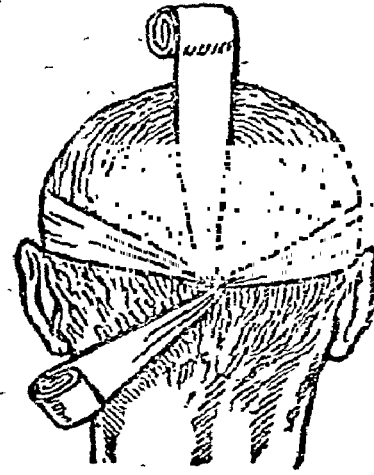
के नीचे से गुजारें। अर्थात् पीछे की ओर से आने वाली छोटी पट्टी को माथे पर पहले लावें और दाहिनी ओर से आने वाली वड़ी पट्टी को इसके ऊपर से निकालें जिसे सीधी वाईं ओर ले आवें। अव छोटी पट्टी को आगे से पुनः पीछे की ओर लौटा दीजिये। यहां पुनः माथे की

भांति छोटी पट्टी को बड़ी पट्टी से ढंककर उसमें अटका देवे ताकि छोटी पट्टी को फिर आगे की ओर ले जाया जा सके। याद रखें कि छोटी पट्टी के लपेट या प्रथम शिर के बीच वाले लपेट के दोनों ओर लगाये जाते है और उसको ढंके भी रहते है। इस प्रकार बारी-बारी से दाहिनी ओर बाईं ओर अधिक लपेट लगाकर सारे शिर को ढंक दें।

२. शिर का साधारण वितान बन्ध—केवल शिर के चारों तरफ पट्टी को कुछ लपेट लगाकर बाध दें। यह लपेट प्रायः ऊपर की ओर को खिसकते हैं। अतः इन्हें स्थिर करने के लिए पट्टी को कर्ण के आगे से नीचे की ओर को मोड़ देवे, जिससे चिबुक पर एक लपेट लग जायगा। यह लपेट दूसरी ओर से शिर के ऊपर ले जावें फिर कान के पास लाकर, जहां से पट्टी को मोड़ा था, पहले लपेटों के साथ सी देवें।

यदि उपचार वस्त्रों को शिर के ऊपर रखना हो तो चिबुक के नीचे होकर तीन या चार लपेट लगाकर उसके ऊपर माथे पर होते हुए कुछ गोल लपेट लगाकर पिन के द्वारा स्थिर कर देने चाहिये। यदि क्षत शिर के एक ओर स्थित हो और इस पर भार देना आवश्यक हो तो चित्र की भांति पट्टी बांध दीजिये। इसमें एक लपेट ऊपर चढ़ता है और दूसरा नीचे को उतरता है। इस प्रकार यह लपेट आपस मे एक दूसरे को उस स्थान पर काटते है, जहा भार डालना आवश्यक होता है।

चीन बन्ध—यह नेत्र पट्टी है। नेत्र तथा अपाग प्रदेश पर बांधा जाता है। नेत्र पर पट्टी बाधने के लिए पट्टी के एक सिरे को रोगग्रस्त नेत्र से ऊपर माथे पर रखिये और वहां से पट्टी के बेलन को शिर के चारों तरफ घुमाकर दो लपेट लगाकर स्थिर कर दीजिये और वहा से पट्टी को गुदी पर लेजाकर दूसरी ओर के कान के नीचे से निकालकर रोगग्रस्त नेत्र की ओर ले आइये। इस प्रकार यह पट्टी नेत्र पर रखे हुए उपचार वस्त्रो को ढक लेगी जब यह पट्टी माथे पर के लपेट पर पहुँच जाय तो लपेट में मोड़ देकर शिर के चारों ओर लगे हुए लपेट के ऊपर एक बार पुनः लपेट देकर और पहले की भांति पुनः कान के नीचे से निकालकर नेत्र पर लाते हुए माथे के पहले के लपेटों तक जाइये। इस प्रकार व्रणोपचार वस्त्रों को स्थिर करने के लिए पट्टी को दृढ़ करने हेतु
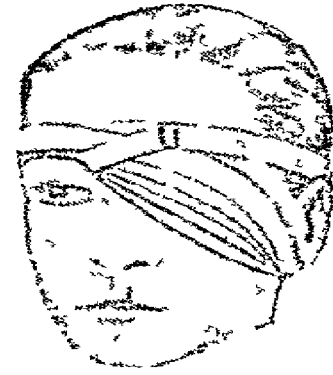
जितनी बार लपेट लगाना आवश्यक हो लपेट लगाकर पट्टी को बांध देवें।

पञ्चांगी बन्ध—इसे मैस्टॉइड बैंडेज भी कहते है यह जत्रु के ऊपर बांधा जाता है। कर्ण और शङ्खास्थि की विद्रधि पर पट्टी बाधने के लिए पट्टी के एक सिरे से व्रणोपचार को ढंककर उसको पीछे की ओर से शिर के चारों ओर एक लपेट लगा देवें। इस लपेट से वस्त्र स्थिर हो जावेगे। लपेट को कान के पीछे से कान के आगे होते हुये माथे की ओर ले जावे। वहां से दूसरे कान पर होते हुए रोगग्रस्त कान के पीछे पट्टी को ले आव। यह दूसरा लपेट कान के नीचे से लेते हुये और उपचार वस्त्रों को

निचले भाग को ढंकते हुए आगे की ओर माथे पर ले जाइये। इसके बाद तीसरा लपेट पुन. शिर के चारों ओर घुमाइये, चौथा लपेट पुनः दूसरे की ही भांति लगा-

इये। परन्तु उससे कुछ ऊंचा रखिए जिससे उपचार वस्त्रों का अधिक भाग ढंक सके। इस प्रकार एक लपेट माथे के चारों ओर लगाइये और दूसरे लपेट को टेढ़ा चलाइये जो व्रण और उस पर के वस्त्रों को दवा सके। इसके वाद पट्टी को यथाविधि वांध दीजिये।

गोफणा वन्ध—यह गोफण (पक्षियों को उड़ाने हेतु छोटे-छोटे पत्थर फेंके जाने वाला कंकड़ों का रस्सी से वना यन्त्र) के आकार का होता है तथा सारी अग्रवाहु को सहारा देने के लिए गर्दन से वांधा जाता है। कितनी ही दशाओं में हाथ या अग्रवाहु को गरदन से लटकाना पड़ता है ताकि इन अंगों को आश्रय मिल सके। यह लटकन किसी चौकोर वस्त्र या वड़े रूमाल की वनाई जा सकती

गोफणा वन्ध

है। गोफणा वन्ध प्रायः सारी अग्रवाहु के लिए लगाया जाता है। इसके लिए वस्त्र का त्रिकोण वना लेवें। और उसके दोनों सिरों को गर्दन के पीछे वांध कर तीसरा सिरा या त्रिकोण का शिखर वाहु की कोहनी के ऊपर होता हुआ सामने लाकर लटकन के सामने के स्तर में सेफ्टीपिन से अटका देवें। इस प्रकार यह लटकन सारी अग्रवाहु और वाहु को भली भांति सुरक्षित रखती है। यह याद रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यदि अग्रवाहु को काफी समय के लिए लटकन में रखा जाना है तो गरदन पर जो भार पड़ता है वह कभी-कभी असह्य हो जाता है और उससे कष्ट तो सदा ही मालूम होता रहता है। अतः इससे वचने के लिए यदि लटकन को पिनों के साथ रोगी के कोट में अटका दिया जाय तो गरदन पर भार नहीं पड़ने पावेगा।

उत्सङ्ग वन्ध—यह आचार्य वाग्भट ने माना है जिसे हम आर्म स्लिंग वैण्डेज कह सकते हैं। यह आचार्य सुश्रुत के गोफणा वन्ध से किंचित् परिवर्तित है। गोफणा वन्ध मध्य में अधिक चौड़ा होता है। जवकि उत्सङ्ग वन्ध मध्य में कम चौड़ा होता है तथा हाथ या वाहु को लटकन में रखने में सुविधा प्रदान करता है, गोफणा वन्ध की ही भांति रूमाल या दूसरे वस्त्र को वीच से मोड़कर त्रिकोणाकार वना लें। इस त्रिकोण को कई वार लपेटें ताकि एक लम्बी पट्टी वन जाय। इस पट्टी के दोनों

उत्संग वन्ध

ओर के सिरों को गर्दन के पीछे डालकर उसमें एक गांठ लगा दें। इससे जो लटकन वनेगी वह हाथ को आश्रय देने के लिए पर्याप्त है। यदि हाथ को अधिक ऊंचा उठाना चाहें तो गर्दन पर की गांठ को तनिक आगे लगाया जाना चाहिये। इसको लगाते समय इतना ध्यान रखिये कि पट्टी का वह सिरा जो हाथ के ऊपर रहे, दूसरे कन्धे पर होकर ग्रीवा के पीछे जाना चाहिए। ताकि हाथ को उत्तम आश्रय मिल सके।

विवन्ध वन्ध—इसे वहुपुच्छ पट्टी (Manytailed Bondage) कहा जा सकता है। यह वन्ध उदर और वक्ष के वृणों में वहुत उपयोगी है। विशेषकर जव उपचार वस्त्रों को वार-वार वदलना होता है तव यह वन्ध वड़े काम का है। यह वन्ध नरम फलालैन या लिण्ट का वनाया जाता है। फलालैन की इतनी लम्वी और लगभग दो इञ्च चौड़ी पट्टियां काटिये कि वे उदर या वक्ष के चारों ओर डेढ़ वार लपेटी जा सकें, जिससे वे दूसरी ओर
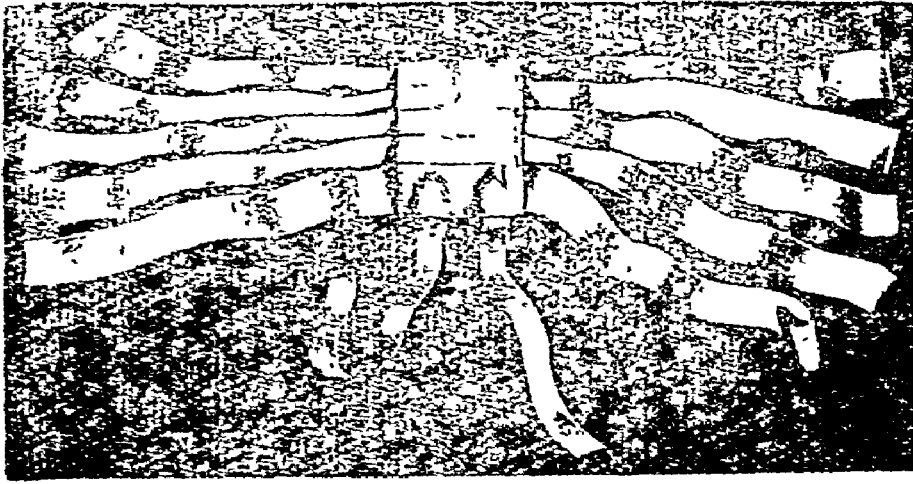
की पट्टियों को ढक लें। ये पट्टियां एक दूसरी के ऊपर इस प्रकार रखें कि ऊपर वाली पट्टी नीचे के ऊपरी दो भाग को ढक सकें। इसके पश्चात् इन पट्टियों के बीच का भाग एक फलालैन या लिण्ट के चौकोर टुकड़े के साथ सी देवें। यदि इस पट्टी का उदर के ऊपर प्रयोग किया जाय तो सबसे नीचे की पट्टी दूसरी पट्टियों से लगभग ६ इञ्च या इससे अधिक लम्बी रखें ताकि उसको ऊरु के चारों ओर लपेटा जा सके। वक्ष पर लगाने के लिए पट्टी के बीच में फलालैन के टुकड़े के ऊपर की ओर दो इञ्च की दूरी पर दो लम्बी पट्टियां सी देवें, जो कन्धे पर होकर सामने की ओर जाकर पट्टी के साथ पिन द्वारा स्थिर की जा सकें।

खट्वा बन्ध—यह भी वितान बन्ध का ही एक रूप है। यदि किसी कारण बहुपुच्छ पट्टी पहले से ही तैयार नहीं हो सकी हो तो फलालैन के एक बड़े टुकड़े को लेकर उसके बीच के भाग को छोड़कर दोनों ओर के भागों को दो इञ्च चौड़ी पट्टियों में विभाजित कर देना चाहिये। बीच का भाग नहीं काटें। उसके द्वारा पट्टियां यथा स्थान रहेंगी। इस बन्ध में केवल इतना अन्तर पड़ता है कि पट्टियां एक दूसरी को ढक नहीं पाती है। यह बन्ध हनु, शंख, गण्ड इत्यादि अंगों पर भी बड़े काम का है।

अधोहन्वस्थि भग्न के लिए यदि इसका उपयोग करना हो तो एक गज लम्बा और तीन इञ्च चौड़े कपड़े की पट्टी लेनी चाहिये। इसके मध्य किनारे से एक इञ्च छोड़कर चार इञ्च तक चीर लें तथा दोनों सिरों को भी मध्य छेद के दोनों ओर दो-दो इञ्च स्थान छोड़कर चीर लें। इस मध्याच्छेद में ठोड़ी की नोंक इस प्रकार रखें कि पट्टी का तंग भाग नीचे के होठ और चौड़ा भाग हनु के नीचे आ जाए। तदनन्तर तंग भाग के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाले दो सिरे माथे पर बांध देना चाहिये। अन्त में माथे का सम्बन्ध पिछली गांठ के साथ कर दें ताकि वे अपने स्थान से सरक नहीं सकें।

अन्य विविध बन्ध

(क) **कौपीन बन्ध**—इसका आकार कौपीन सदृश या अंग्रेजी के 'T' अक्षर जैसा होता है। अतः इसका नाम टी पट्टी (टी बेन्डेज) रख दिया गया है। अण्डकोश के नीचे स्थित व्रण आदि के लिए यह बन्ध बहुत उपयुक्त है। यह दो पट्टियों को जोड़कर बनाया जाता है। इसके लिए प्रायः चार इञ्च चौड़ी २ पट्टियां लेकर एक पट्टी को दूसरी पट्टी के बीच में लम्बाई की ओर समकोण पर सी दीजिये, जिससे यह लंगोट का आकार ले लेता है। बांधते समय लम्बी पट्टी रोगी की कमर के चारों ओर लपेटिये और दूसरी आड़ी पट्टी पीठ की ओर से दोनों नितम्बों के

चिपकता जाता है। यह याद रखें कि लगाते समय इसमें सिकुड़न न पड़नी चाहिये क्योंकि सिकुड़नें आपस में चिपक कर पुनः खुलने में बाधा उत्पन्न करती है।

२. जब इसकी पट्टी में मोड़ देना हो तो उस स्थान पर पट्टी को काटकर फिर से मुड़ी हुई दिशा में पट्टी प्रारम्भ करें। इस प्लास्टर के सदा छोटे-छोटे टुकड़े ही लगाने चाहिये। प्रत्येक टुकड़े की लम्बाई चौड़ाई स्थान की आवश्यकता के अनुसार काट लें।

३. इन टुकड़ों को पहले से न काटना चाहिये। चर्म पर पट्टी के एक सिरे को चिपकाकर सहायक घिर्री घुमाता रहे और चिकित्सक पट्टी को चिपकाता जाये। जब अन्तिम स्थान पर पट्टी पहुँच जाय तो वहां पट्टी को चिपकाकर कैंची से काट दिया जाय। दूसरी पट्टी को फिर से प्रारम्भ करके पहले की ही भांति लगावें।

इस प्लास्टर का उपयोग शरीर के किसी भी स्थान पर सुविधापूर्वक किया जा सकता है। शरीर का ऐसा कोई स्थान नहीं है जो यह पट्टी न लगाई जा सके। जिन स्थानों पर साधारण वस्त्र की पट्टी लगाने में असुविधा हो या पट्टी ढीली होकर सरक जाती हो वहां इस प्लास्टर का उपयोग अवश्य करना चाहिये। कुछ विशेष स्थानों में प्लास्टर की पट्टी लगाने की विधि यहां दी जा रही है—

१. शिर की पट्टी—चित्र देखने से यह पट्टी आसानी से समझी जा सकती है। एक चार इञ्च चौड़ी पट्टी इतनी लम्बी लें जो एक ओर के कान के नीचे से दूसरी ओर के कान के नीचे तक शिर पर होती हुई पहुँच पीछे चिपका दें। बीच का भाग जो शिर के बालों पर रहता है, उसके नीचे गौज के दो परत लगा दें ताकि प्लास्टर बालों में न चिपक सके।

२. गले की पट्टी—यदि ग्रीवा में छोटा व्रण है तो प्लास्टर का दाहिने से बायें को एक ही लपेट पर्याप्त है। लपेट को केवल सामने व्रण पर तथा उसके दो-दो इञ्च बाहर तक लगा दिया जाय। जब व्रण विस्तृत हो

या बड़े शस्त्रकर्मों में जैसे थायराइड के छेदन के पश्चात् जब व्रणोपचार वस्त्र अधिक मात्रा में उपयुक्त होते हैं तब इसी प्रकार दो या तीन पट्टियां ऊपर नीचे लगा दें जो एक ओर के कंधे के सामने से प्रारम्भ होकर ग्रीवा को घेरती हुई सामने आकर दूसरी ओर के स्कन्ध के पास स्थिर हो जाती है।

३. स्तन की पट्टी—चित्र में दिखाये अनुसार ल्युकोप्लास्ट की पट्टियों को लगाने से स्तन को स्थिर

२६

बाहु पर ऊपर को बढ़ाते जाइये। जब तक कि सारा स्कन्ध तथा गर्दन न ढक जाय। यदि आवश्यकता हो तो पट्टी लगाने के बाद हाथ को गोफणा बन्ध में रख दें।

कक्ष बन्ध—यह अनुवेल्लित बन्ध की भांति ही बांधा जाता है। पट्टी को पीछे की ओर से कक्ष में होकर आगे निकालें जहां से पट्टी उरश्छद पेशी पर होती हुई कन्धे पर ले आवें और वहां से गर्दन के पीछे से निकालकर आगे को लाकर कन्धे पर ले जावें जिससे गर्दन के चारों तरफ पट्टी का एक लपेट लग जायगा। पट्टी को कन्धे पर से पुनः कक्ष में पीछे की तरफ प्रवेश करके आगे पहुँचकर वक्ष पर होकर पुनः गर्दन में ले जाकर पहले की भांति ही फिर कक्ष के पीछे ले जावें। इसी प्रकार इच्छानुसार कक्ष को ढककर बन्ध बांध दें।

ग्रीवा बन्ध—इस पट्टी को स्कन्ध से आरम्भ करें। पट्टी का एक सिरा कन्धे पर रखकर दूसरा सिरा उसी ओर के कक्ष में से निकालकर प्रथम सिरे के ऊपर निकालते हुए ग्रीवा के आगे की ओर से निकालें ताकि पट्टी ग्रीवा के चारों ओर घूमकर पुनः कक्ष में पहुँच सके। इस

प्रकार ग्रीवा और कक्ष में एक या दो अनुवेल्लित लपेट लगावें। इसके बाद पट्टी चिवुक के नीचे निकालकर क्षत की दूसरी ओर के कर्ण के पीछे से शिर के ऊपर लावें और वहां से क्षत की तरफ के कर्ण के सामने आवें। फिर ग्रीवा में उसका एक लपेट दें। और उसको पुनः चिवुक के नीचे से निकालकर शिर पर ले आवें। यह याद रखें कि इस बार पट्टी क्षत ओर के कर्ण के सामने रहती है। तीसरी बार पुनः पट्टी को शिर पर लाइये परन्तु शिर पर पहुँचाकर उसको पीछे की ओर लाया जा सके और वहां पगड़ी के समान दो या तीन लपेट दूसरे लपेटों को यथास्थान रखने हेतु लगा दें।

स्तन बन्ध—सर्व प्रथम स्तन के नीचे कमर के चारों ओर दो या तीन लपेट लगायें। इसके बाद रोगग्रस्त स्तन के नीचे से पट्टी दूसरी ओर के कन्धे पर लावें। वहां

से पट्टी को पीठ पर निकालकर पुनः स्तन के नीचे ले आवें, जहां से वह फिर कमर के चारों ओर घूमकर स्तन के नीचे से निकालकर पुनः स्कन्ध की ओर ले आवें। इस प्रकार एक लपेट कमर के चारों ओर घूमता है और दूसरा स्तन के नीचे तथा उसके ऊपर होता हुआ स्कन्ध के ऊपर चला जाता है। इसके बाद सेफ्टीपिन से बन्धन को स्थिर कर दें।

अनुवेल्लित बन्ध या रौलर बन्ध के प्रयोग—निम्नांकित नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए :—

१. रौलर बन्ध पट्टी हलकी और इकसार लपेटी हुई हो।

वीच से निकालकर मूलाधार, अण्डकोष, शिश्न आदि को ढंकते हुए सामने पेढू के ऊपर ले आइये और पहली कमर की पट्टी में सेफ्टीपिन द्वारा स्थिर कर दीजिये ।

आवश्यकता होने पर इसमें कुछ परिवर्तन करके (T-वैंडेज) नीचे को लटकने वाले भाग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । इन दोनों भागों को अण्ड-कोष और शिश्न के दोनों ओर से निकालकर पेढू की पट्टी के ऊपर से निकाल पीछे लपेटा जा सकता है ।

यदि दो पट्टियों का बनाया हुआ वन्ध न मिले तो एक लम्बी पट्टी से भी काम चलाया जा सकता है । पहले कमर में पट्टी बांधकर उसकी गांठ सामने पेढू के समीप लगावें । वहां से नितम्बों के वीच से होती हुई पीछे कमर की पट्टी में अटकाकर फिर नितम्बों के वीच में से आगे पेढू पर लेकर दूसरी तरफ बांध दीजिये ।

अण्डकोष का गोफणा वन्ध—इसके लिए एक साधारण रूमाल की उत्तम लटकन वनाई जा सकती है । रूमाल को वीच से मोड़कर त्रिकोणकार कर दें । अब इसकी लम्बी भुजा अण्डकोष के पीछे रखें और उसके दोनों सिरे कमर पर लपेटी हुई पट्टी से बांध दें तथा त्रिकोण का शिखर सामने लाकर इस पट्टी में बांध दें । इससे रूमाल का एक थैला बन जायगा जिसमें अण्डकोष रखे जा सकते हैं । इस थैले को आवश्यकतानुसार छोटा बड़ा किया जा सकता है ।

स्कन्ध वन्ध—जिस वाहु में चोट लगी हो उसके लगभग वीच से एक लपेट लगाकर पट्टी को स्थिर कर दें । उसके बाद पट्टी को वाहु के पीछे से कमर पर लेकर दूसरी ओर के कक्ष से निकाल कर, सामने वक्ष पर होते हुए उसी स्थान पर आ जावें जहां से आपने पट्टी बांधना आरम्भ किया था । इस समय पट्टी के इस भाग को
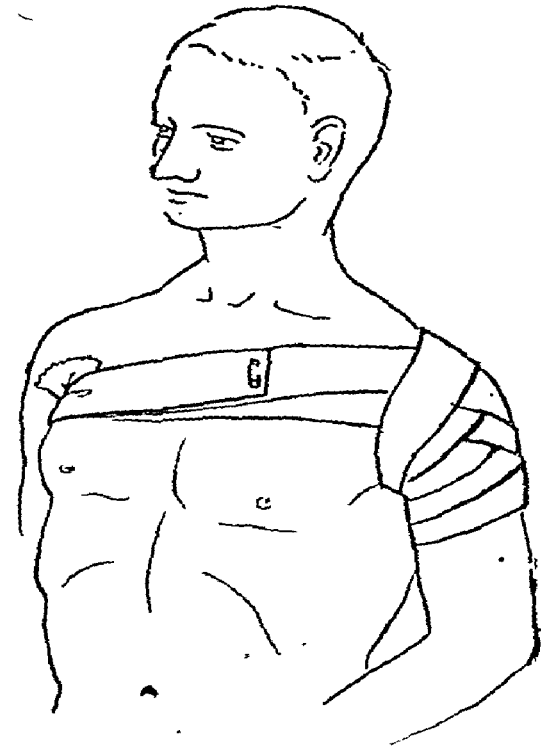
वाहु के लपेट के समानान्तर, परन्तु कुछ ऊंचा रखिये । अब पट्टी को वाहु के ऊपर होकर, पीछे की ओर ले जाइये और दूसरी वाहु तथा वक्ष के वीच निकालकर सामने की ओर ले जाइये । इसी प्रकार पट्टी के लपेट

बाहु पर ऊपर को बढ़ाते जाइये। जब तक कि सारा स्कन्ध तथा गर्दन न ढक जाय। यदि आवश्यकता हो तो पट्टी लगाने के बाद हाथ को गोफणा बन्ध में रख दें।

कक्ष बन्ध—यह अनुवेल्लित बन्ध की भांति ही बांधा जाता है। पट्टी को पीछे की ओर से कक्ष में होकर आगे निकालें जहां से पट्टी उरश्छद पेशी पर होती हुई कन्धे पर ले आवें और वहां से गर्दन के पीछे से निकालकर आगे को लाकर कन्धे पर ले जावें जिससे गर्दन के चारों तरफ पट्टी का एक लपेट लग जायगा। पट्टी को कन्धे पर से पुनः कक्ष में पीछे की तरफ प्रवेश करके आगे पहुँचकर वक्ष पर होकर पुनः गर्दन में ले जाकर पहले की भांति ही फिर कक्ष के पीछे ले जावें। इसी प्रकार इच्छानुसार कक्ष को ढककर बन्ध बांध दें।

ग्रीवा बन्ध—इस पट्टी को स्कन्ध से आरम्भ करें। पट्टी का एक सिरा कन्धे पर रखकर दूसरा सिरा उसी ओर के कक्ष में से निकालकर प्रथम सिरे के ऊपर निकालते हुए ग्रीवा के आगे की ओर से निकालें ताकि पट्टी ग्रीवा के चारों ओर घूमकर पुनः कक्ष में पहुँच सके। इस

प्रकार ग्रीवा और कक्ष में एक या दो अनुवेल्लित लपेट लगावें। इसके बाद पट्टी चिबुक के नीचे निकालकर क्षत की दूसरी ओर के कर्ण के पीछे से शिर के ऊपर लावें और वहां से क्षत की तरफ के कर्ण के सामने आवें। फिर ग्रीवा में उसका एक लपेट दें। और उसको पुनः चिबुक के नीचे से निकालकर शिर पर ले आवें। यह याद रखें कि इस बार पट्टी क्षत ओर के कर्ण के सामने रहती है। तीसरी बार पुनः पट्टी को शिर पर लाइये परन्तु शिर पर पहुँचाकर उसको पीछे की ओर लाया जा सके और वहां पगड़ी के समान दो या तीन लपेट दूसरे लपेटों को यथास्थान रखने हेतु लगा दें।

स्तन बन्ध—सर्व प्रथम स्तन के नीचे कमर के चारों ओर दो या तीन लपेट लगायें। इसके बाद रोगग्रस्त स्तन के नीचे से पट्टी दूसरी ओर के कन्धे पर लावें। वहां

से पट्टी को पीठ पर निकालकर पुनः स्तन के नीचे ले आवें, जहां से वह फिर कमर के चारों ओर घूमकर स्तन के नीचे से निकालकर पुनः स्कन्ध की ओर ले आवें। इस प्रकार एक लपेट कमर के चारों ओर घूमता है और दूसरा स्तन के नीचे तथा उसके ऊपर होता हुआ स्कन्ध के ऊपर चला जाता है। इसके बाद सेफ्टीपिन से बन्धन को स्थिर कर दें।

अनुवेल्लित बन्ध या रौलर बन्ध के प्रयोग—निम्नांकित नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए :—

१. रौलर बन्ध पट्टी हलकी और इकसार लपेटी हुई हो।

२.रौलर वन्ध पट्टी के स्वतन्त्र सिरे के वाहर की ओर वाले भाग को पहले त्वचा पर लगाकर थोड़ी-थोड़ी पट्टी खोलकर लपेटते जाना चाहिए।

३. पट्टी को नीचे से ऊपर की ओर ले जाना चाहिए न कि ऊपर से नीचे की ओर।

४. स्वस्तिक वन्ध (फिगर ऑफ एट या देवनागरी लिपि के अंक ४ जैसे वन्ध) को छोड़कर शेष अनुवेल्लन का प्रत्येक पर्त पिछले पर्त के दो तिहाई भाग को ढकते हुए लपेटा जाना चाहिए।

५. बन्धन न वहुत ढीला हो न इतना कड़ा कि रक्त-परिभ्रमण को रोक दे।

६. जहां वन्ध पट्टी खतम हो उस सिरे को सेफटी-पिन से या सुई से सीं देना चाहिए।

अनुवेल्लित वन्ध का उपयोग आधुनिक दृष्टि से नीचे लिखे ४ कार्यों के लिए किया जाता है:—

१. कुशाओं (स्प्लिन्ट्स) या व्रणोपचार (ड्रैसिंग) को अपने स्थान पर साधे रखने के लिए;

२. शरीर के अंग को जहां चोट लग गई हो या मोच आ गई हो उसे साधने के लिए;

३. किसी अंग की सूजन को कम करने या रोकने के लिए वहां दवाव डालने के लिए; तथा

४. शरीर के किसी अंग से रक्त का निकलना रोकने के लिए।

अनुवेल्लित वन्ध प्रयोग की ३ विधियां प्रचलित हैं—

१. सामान्य अनुवेल्लन—इसे सिम्पिल स्पाइरल कहते हैं। इसमें रौलर वन्ध पट्टी को कई वार अंग पर घुमा-घुमा कर लपेटते हैं। इसका उपयोग उन अंगों पर ही किया जाता है जिनकी मोटाई एकसी हो जैसे पुरुष का वक्षस्थल, अंगुली, कलाई (मणिवन्ध) तथा अग्रवाहु का ऊपर वाला थोड़ा भाग। सुश्रुत ने अनुवेल्लितं तु शाखासु ही लिखकर छोड़ दिया है।

२. विलोम अनुवेल्लन—इसे रिवर्स स्पाइरल कहते हैं। यह सुश्रुत के अनुवेल्लितं तु शाखासु को सिद्ध करता है। शाखाओं में जहां अंग क्रमशः पतले से मोटा हो जाता है विलोम अनुवेल्लन का प्रयोग किया जाता है। नीचे का चित्र इसे प्रदर्शित करता है।
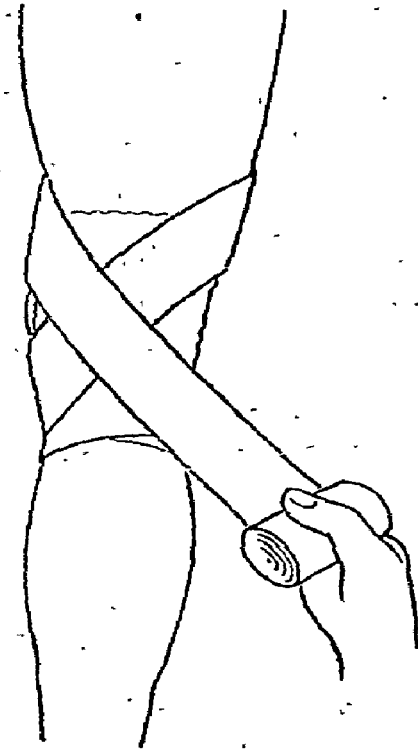
३. चार का अंक अनुवेल्लन—इसे फिगर आफ एट स्पाइरल कहा जाता है। इसीको क्रॉस्ड या स्पाइका वैंडेज भी कहा है। इसे स्वस्तिकवन्ध की संज्ञा दी जाती है। इन्दु ने इसे समझते हुए लिखा है:—

स्वस्तिकाकृति स्वस्तिकं यदूर्ध्वं दक्षिणादेत्याधो वामं याति पुनः परिवृत्याधो दक्षिणादूर्ध्वं वामम्।

ऊपर के दाहिने भाग से नीचे वांई ओर आकर फिर ४ के या अंगरेजी के ८ के अंक के समान घूमकर नीचे वांई ओर से ऊपर दाहिनी ओर जाती है वह स्वस्तिका-वन्ध वनाती है। इसके स्थान—सन्धिकूर्चकभ्रूस्तनान्तर-तलकर्णेषु स्वस्तिकम् सुश्रुत ने वतलाये हैं। इसे किसी भी सन्धि के आस-पास लगाते हैं। अंगूठा, छाती, कटि आदि।

चिपकने वाले प्लास्टर का वन्धन में उपयोग

सुविधा की दृष्टि से आजकल इस प्लास्टर (अधी-झिव प्लास्टर) का वहुत प्रयोग होने लगा है। यह विभिन्न कम्पनियों द्वारा विभिन्न नामों से वनाकर वाजार में

मिलता है। ईलास्टोप्लाग्ट, फ्लैक्सोप्लास्ट, ल्युकोप्लास्ट, प्रैसोप्लास्ट इत्यादि इस प्लास्टर के नाम है। यह प्लास्टर दो प्रकार का होता है—

१. एक प्लास्टर सादा होता है जो सदा एक ही समान रहता है। उसका वस्त्र खिचने से खिचता नहीं है और यथा स्थान चिपका रहता है। जैसे ल्यूकोप्लास्ट।

२. दूसरा प्लास्टर विशेष प्रकार से बनाया जाता है, जिसे खींचने से वह खिचता है और छोड़ने पर सिकुड़ जाता है। जैसे ईलास्टोप्लास्ट, फ्लैक्सोप्लास्ट,।

इनमें से प्रथम प्लास्टर का उपयोग अस्थिभंग (Fracture) आदि के पश्चात् अंगों को स्थिर करने के लिए और दूसरे प्लास्टर का उपयोग अंग पर दवाब बनाये रखने के लिए किया जाता है। इन प्लास्टरों की एक इन्च से चार इन्च तक चौड़ी और ६ से १० फुट लम्बी पट्टिया टीन या प्लास्टिक की गरारी पर लगी हुई गोल डिब्बियों में बन्द आती हैं। प्रयोग के समय डिब्बी में से गिर्री को निकालकर पट्टी के एक सिरे को पकड़कर खींचने से पट्टी खुलती जाती है। इस पट्टी पर केवल एक ही ओर प्लास्टर लगा रहता है, जिसे चर्म पर लगाया जाता है।

प्लास्टर के गुणावगुण—*साधारण वस्त्रों की* अपेक्षा इन प्लास्टर की पट्टियों में कई लाभ है। व्रणोपचार वस्त्रों को यथास्थान रखने के लिए पट्टी के थोड़े से टुकड़े से काम चल जाता है। इस कारण वह हल्का रहता है। व्रणोपचार अपने स्थान से हटने नहीं पाता जब तक की स्वयं चिकित्सक ही उसको न हटावें। अंग को आश्रय देने अर्थात् ऊपर को उठाये रखने के लिये यह अत्यन्त उपयुक्त विधि है। साधारण वस्त्र की पट्टियों को बांधने में जितना झंझट है उतनी परेशानी भी इस विधि में नहीं है। तथा जितना स्थान साधारण वस्त्र की पट्टियां लेती हैं उतने स्थान के बजाय इसमें केवल व्रणोपचार का स्थान ही घेरे में आता है। इसके अलावा यह पट्टी अतिशीघ्र ही यथास्थान लगायी जा सकती है। यदि पट्टी अच्छी तरह चिपका दी जाय तो व्रण स्थान पानी से भी सुरक्षित रह सकता है।

इस प्लास्टर में उपरोक्त गुण होते हुए भी कुछ दोष भी हैं। जैसे कुछ व्यक्तियों की त्वचा इस प्लास्टर को सहन नहीं कर पाती है। इनमें क्षोभ हो जाता है। छोटी-छोटी फुसियां निकल आती है। इसके अतिरिक्त प्लास्टर को हटाते समय पीड़ा भी होती है। इसके लिए यदि निम्न बातों पर ध्यान दिया जाय तो ये दोष बहुत कम हो सकते हैं—

१. प्लास्टर की पट्टी लगाने से पूर्व यदि उस स्थान पर बाल हों तो उन्हें बिल्कुल साफ कर दें। वहां बाल तनिक भी नहीं रहने चाहिये। तत्पश्चात् चर्म को रेक्टीफाइड या मिथिलेटेड स्पिरिट से भली-भांति स्वच्छ कर देना चाहिये।

२. प्लास्टर को हटाने के लिए पेट्रोल अत्युत्तम वस्तु है। प्लास्टर की पट्टी का बाहर का किनारा थोड़े पेट्रोल से भिगो दें। उससे प्लास्टर गल जायगा। किनारे को तनिक उचकाकर दूसरे हाथ में रुई के एक प्लोत को पेट्रोल में भिगोकर उसको चर्म पर लगे हुए प्लास्टर के पृष्ठ पर लगाते जावें। इससे प्लास्टर सहज में त्वचा से पृथक् हो जायगा तथा पीड़ा भी नहीं होगी।

पैट्रोल के अलावा निम्न योग भी प्लास्टर को हटाने के लिये काम में आते हैं—

- (क) तारपीन का तेल (यह प्लास्टर को छुड़ा तो देता है परन्तु क्षोभक होने से चर्म को लाल कर देता है।
- (ख) ईथर यह भी उत्तम द्रव्य है। तथा इसमें पैट्रोल की सी दुर्गन्ध भी नहीं है।
- (ग) Antihaesin (ऐलन ऐंड,हैमलरी कम्पनी)।
- (घ) Zott (टी. टी. स्मीथ एण्ड नेफ्यू कम्पनी)।

३. टिंचर आयोडीन के प्रयोग करने के पश्चात् इस प्लास्टर को न लगाना चाहिये। क्योंकि प्रथम तो प्लास्टर अच्छी तरह चिपक न सकेगा और दूसरे वह क्षोभक लक्षण पैदा करेगा।

प्लास्टर को कैसे लगायें—१. गिरारी से प्लास्टर को थोड़ा सा (आधा इन्च के लगभग) ढीलाकर इसके चिपकने वाले पृष्ठ भाग को अंग पर चिपका दें। तत्पश्चात् एक सहायक घिर्री के दोनों ओर के छेदों में दोनों हाथ की तर्जनी अंगुली डालकर खींचे जिससे पट्टी खुलती जाती है और उसको चिकित्सक अपने हाथ से अंग पर

चिपकता जाता है। यह याद रखें कि लगाते समय इसमें सिकुड़न न पड़नी चाहिये क्योंकि सिकुड़नें आपस में चिपक कर पुनः खुलने में बाधा उत्पन्न करती है।

२. जब इसकी पट्टी में मोड़ देना हो तो उस स्थान पर पट्टी को काटकर फिर से मुड़ी हुई दिशा में पट्टी प्रारम्भ करें। इस प्लास्टर के सदा छोटे-छोटे टुकड़े ही लगाने चाहिये। प्रत्येक टुकड़े की लम्बाई चौड़ाई स्थान की आवश्यकता के अनुसार काट लें।

३. इन टुकड़ों को पहले से न काटना चाहिये। चर्म पर पट्टी के एक सिरे को चिपकाकर सहायक घिर्री घुमाता रहे और चिकित्सक पट्टी को चिपकाता जाये। अब अन्तिम स्थान पर पट्टी पहुँच जाय तो वहां पट्टी को चिपकाकर कैंची से काट दिया जाय। दूसरी पट्टी को फिर से प्रारम्भ करके पहले की ही भांति लगावें।

इस प्लास्टर का उपयोग शरीर के किसी भी स्थान पर सुविधापूर्वक किया जा सकता है। शरीर का ऐसा कोई स्थान नहीं है जो यह पट्टी न लगाई जा सके। जिन स्थानों पर साधारण वस्त्र की पट्टी लगाने में असुविधा हो या पट्टी ढीली होकर सरक जाती हो वहां इस प्लास्टर का उपयोग अवश्य करना चाहिये। कुछ विशेष स्थानों में प्लास्टर की पट्टी लगाने की विधि यहां दी जा रही है—

१. शिर की पट्टी—चित्र देखने से यह पट्टी आसानी से समझी जा सकती है। एक चार इञ्च चौड़ी पट्टी इतनी लम्बी लें जो एक ओर के कान के नीचे से दूसरी ओर के कान के नीचे तक शिर पर होती हुई पहुँच
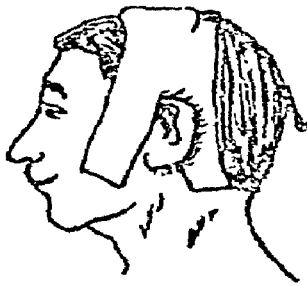
शिर पर प्लास्टर की पट्टी

सके। इन दोनों सिरों को दो या ढाई इञ्च तक पट्टी की चौड़ाई की ओर से काट दें। ये सिरे कान के आगे पीछे चिपका दें। बीच का भाग जो शिर के बालों पर रहता है, उसके नीचे गौज के दो परत लगा दें ताकि प्लास्टर बालों में न चिपक सके।

२. गले की पट्टी—यदि ग्रीवा में छोटा व्रण है तो प्लास्टर का दाहिने से बायें को एक ही लपेट पर्याप्त है। लपेट को केवल सामने व्रण पर तथा उसके दो-दो इञ्च बाहर तक लगा दिया जाय। जब व्रण विस्तृत हो

या बड़े शस्त्रकर्मों में जैसे थायराइड के छेदन के पश्चात् जब व्रणोपचार वस्त्र अधिक मात्रा में उपयुक्त होते हैं तब इसी प्रकार दो या तीन पट्टियां ऊपर नीचे लगा दें जो एक ओर के कंधे के सामने से प्रारम्भ होकर ग्रीवा को घेरती हुई सामने आकर दूसरी ओर के स्कन्ध के पास स्थिर हो जाती है।

३. स्तन की पट्टी—चित्र में दिखाये अनुसार ल्युकोप्लास्ट की पट्टियों को लगाने से स्तन को स्थिर

२१

स्तन की पट्टी

अथवा उसका व्रणोपचार किया जा सकता है। शोथ की दशा में स्तन को लटकाना आवश्यक होता है। केवल दो पट्टियों को स्तन के नीचे से लगाकर ऊपर की ओर ले जाकर स्कन्ध के तनिक पीछे चिपका देने से स्तन आश्रित हो जाता है।

४. **वक्ष की पट्टी**—टूटी हुई पार्शुका को स्थिर करने के लिए ल्युकोप्लास्ट की पट्टी उत्तम होती है। इसके लिए रोगी को स्टूल पर बिठा दें और जिधर की पार्शुका टूटी है उधर की बाहु को ऊपर उठाकर रोगी से हाथ को अपने
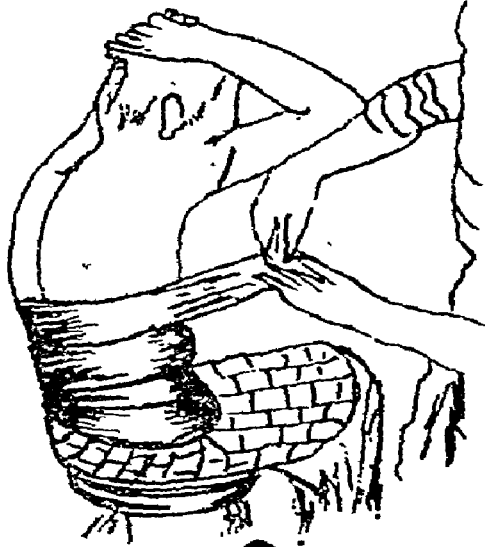
वक्ष की पट्टी

शिर पर रखालें। चिकित्सक तथा सहायक टूटी पार्शुका की ओर इस प्रकार खड़े हों कि चिकित्सक पीछे की ओर और सहायक बाहर की ओर रहे। अब चार इञ्च पट्टी लें जिसकी गरारी सहायक के हाथ में रहे। पट्टी के सिरे को चिकित्सक अपने हाथों में लेकर और पीठ पर पृष्ठदंश अथवा मध्यरेखा के तनिक बाहर उसको तनिक स्थिर करदें। वहां से सहायक गरारी को अपनी ओर खींचकर खोलता जाये। उस समय रोगी श्वास को जितना बाहर निकाल सके, निकाले और श्वास को अन्दर आने से रोक कर रखे। उसी समय चिकित्सक को तुरन्त पट्टी को १२वीं पर्शुका के ऊपर चिपकाते हुए उसके पार्श्व पर होते हुए सामने की ओर चला आना चाहिए और पट्टी को उरोस्थि (Sternum) के सबसे निचले भाग अग्रपत्रक के तनिक दूसरी ओर चिपका देना चाहिए। इस प्रकार इस पट्टी के ऊपर दूसरी पट्टी और दूसरी पर तीसरी पट्टी जब तक लगावें कि वह टूटे हुए स्थान को ढंक कर कक्ष तक नहीं पहुंच जाती। प्रत्येक पट्टी अपने से नीचे की पट्टी के भाग को ढंके रखनी चाहिए।

इसी प्रकार उदर, जानु, गुल्फ, अण्डकोष आदि का व्रणोपचार ल्युकोप्लास्ट से चिकित्सक को करना चाहिए। लेख के विस्तार भय से सभी बन्धनों का वर्णन करना शक्य नहीं है।

व्रणोपचार एवं बन्धन के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य आवश्यक बातें

१. व्रणोपचार में प्रथम व्रणस्थान पर मोटी कवलिका (Gauze) रखकर वामहस्त में लिए हुए पट्टी को दक्षिण हस्त से सीधा, मोड़ के बिना एवं ठीक तरह से फैलाकर पट्टी बांधनी चाहिए। पट्टी की गांठ ऊपर, नीचे या तिरछी लगानी चाहिए। व्रण के ऊपर पीड़ा या बाधा पहुँचाने वाली गांठ नहीं देनी चाहिए।

२. नितम्ब, कुक्षि, कक्षा (बाहुमूल), वंक्षणसन्धि, ऊरु और शिर स्थानों में जो बन्ध दबाने से पीड़ा नहीं करे ऐसा गाढ़ बन्ध लगाना चाहिए।

३. हाथ, पैर, मुख, कान, कण्ठ, लिङ्ग, वृषण, पीठ, पार्श्व, उदर छाती इन स्थानों में इस तरह का समबन्ध बांधें कि वह न अधिक गाढ़ा (कसा हुआ हो) और न अधिक शिथिल (ढीला) हो।

४. नेत्र और सन्धि स्थानों में शिथिल बन्ध बांधे। ताकि इन स्थानों को अपने कर्म में कोई बाधा न हो सके।

५. कुष्ठियों के व्रण, अग्निदग्ध व्रण, मधुमेही मनुष्यों की पिडिकाओं के व्रण, चूहे के काटने से फैले हुए विष के कारण उत्पन्न कर्णिकायुक्त व्रण, विषयुक्त व्रण, मांसपाकजन्य व्रण और गुदपाकजन्य व्रणों में बन्धन नहीं बांधना चाहिए। (सु० सं०) इसी प्रकार क्षार जनित व्रण, फटते हुए व्रण, वेदना एवं दाह से युक्त व्रण, शोथयुक्त व्रण और विसर्पयुक्त व्रण पर भी बन्ध न बांधे। (अ० हृ०) परन्तु मक्षिका आदि से रक्षा के लिए सूक्ष्म वस्त्र से व्रण को अवश्य ढके रखना चाहिए। (सु० सं०)

व्रणितोपासनीयम्

श्री राधावल्लभ वैद्यशास्त्री, दीनोपकारक औषधालय
अध्यक्ष—तदर्थ समिति, तहसील आयुर्वेद सम्मेलन, हाथरस

सुश्रुत संहिता के उन्नीसवां अध्याय व्रणितोपासनीयम् नाम से प्रसिद्ध है। इसका अर्थ डल्हणाचार्य ने, व्रणितस्य सञ्जातव्रणस्य उपासनं सेवनं तच्च गृहशय्यासनादिकं, तद्विवर्ते यस्मिन् स तथा। अर्थात् जिस व्यक्ति को व्रण हो जाय तब उसे व्रणित कहा जायगा। उस व्रणित का उपासन या सेवन अर्थात् उसे कैसे घर में रखा जावे, कैसी शैया दी जावे, उसका आसन कैसा हो, इसका जो विचार किया जाता है वह सब व्रणितोपासनीय के अन्दर आता है। यह सारा प्रकरण आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी हमारे विद्वान् गवेषकों की सूझ की ओर इङ्गित करता है। आज की भाषा में सर्जीकल वार्ड का क्या स्वरूप हो उसे सुश्रुत ने उस युग में लिखा था जब सारा यूरोप नाइयों के युग में रह रहा था तथा अमेरिका आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों में लोग भूनकर मांस खाने की कला तक से परिचित थे, इसमें भी सन्देह है।

सर्जीकल वार्ड या व्रणित का आगार

प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातापवर्जिते।
निवाते न च रोगाः स्युः शरीरागन्तुमानसाः॥

सर्वप्रथम एक उपयुक्त आगार की व्रणित रोगी को आवश्यकता होती है। यह आगार इंजीनियरिंग तकनीक द्वारा काफी विशाल और उचित स्थान पर बनाया जाना चाहिए। इस आगार या अस्पताल की विशेषताएं निम्नांकित होनी चाहिए—

वह प्रशस्त वास्तु में बनाया जावे। वास्तु कहते हैं वह स्थान या भूमि जहां मकान बनाया जाता है। यह स्थान श्रेष्ठतम होना चाहिए। आज भी मकान की साइट का सिविल इंजीनियरिंग में बहुत महत्त्व है। चरक संहिता में प्रशस्त वास्तु का विचार करते हुए लिखा है:—अपहृतास्थिशर्कराकपालदेशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके स्वर्णमृत्तिके वा। कि जिस भूमि में हड्डियां, बालू, कंकड़, पत्थर या नगरपालिका का कचरा न पड़ा हो, भूमि सुन्दर हो, वहां नीचे जल मधुर निकले, गन्ध सुख देने वाली हो, भूभाग गुणवाला श्रेष्ठ काली या पीली मिट्टी वाला हो वही श्रेष्ठ है। गर्गादि ने वास्तुशास्त्र में प्रशस्त भूमि का कितना सुन्दर वर्णन किया है उसे डा० घाणेकर ने अपनी आयुर्वेदरहस्य दीपिका टीका में इस प्रकार लिखा है:—

बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः।
सहकारश्च षड्वृक्षैः आरूढा या समस्थला॥
निष्कपाला निरुपला कृमिवल्मीक वर्जिता।
अस्थिवर्ज्या न सुषिरा तनुवालुक संयुता॥
अंगारैर्वृक्षमूलैश्च शूलैश्चापि पृथग्विधैः।
पङ्कसङ्करकूपैश्च दारुभिर्लोष्टकैरपि॥
शर्कराभिरयुक्ता वा भस्माद्यैस्तु तुषैरपि।
सा शुभा सर्ववर्णानां सर्वसंपत्करी धरा॥
मनसश्चक्षुषो यत्र सन्तोषो जायते भुवि।
तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्॥

यह आगार इस प्रकार की भूमि में निर्मित हो शुचिताकारक अर्थात् स्वच्छ हो, आतपवर्जित हो, धूप और गर्मी जहां कष्ट न पहुँचा सके अर्थात् पेड़, पौधों, हरियाली

से घिरा नदी, सरोवर या समुद्र के तट पर हो तथा जो निवात हो अर्थात् हवा (गर्म या सर्द) जहां सता न पावे, आजकल की भाषा में जो एयरकण्डीशण्ड हो और इन सबसे भी बढ़कर वह इतना पवित्र रम्य और शुद्ध हो कि वहां रोगी को न तो कोई दूसरा शारीर रोग, औपसर्गिक रोग तथा मानसिक रोग सता सके। क्या इतना स्टैण्डर्ड हास्पीटल आज भी बनवाया जा सकता है? क्या भगवान् धन्वन्तरि की सर्जीकल वार्ड या सर्जीकल अस्पताल की जो कल्पना थी उसे आज कोई अस्पताल पूरा कर पाता है? यह उन लोगों से पूछना है जो हमें अवैज्ञानिक और कुहुक (क्वैक) कहते फिरते हैं। है कोई ऐसा अस्पताल जहां रोगी को शारीर आगन्तु और मानस में से कोई रोग न सतावे। उन्होंने यह उस युग में उपलब्ध कर लिया था, जब कोई तथाकथित एण्टीबायोटिक, एण्टीसैप्टिक द्रव्य बने तक नहीं थे। प्रोंटोसील का युग भी जब लगभग १॥ हजार वर्ष बाद में आया।

रोगी की शैया—पेशेंट की बैड

तस्मिन् शयनमसम्बाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक्शिरस्कं सशस्त्रं कुर्वीत्।।—

सुखचेष्टाप्रचारः स्यात् स्वास्तीर्णे शयने व्रणी ।
प्राच्यां दिशिस्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः ।।

शैया या बैड असंबाध (बिना पीड़ा देने वाली) इकसार मुलायम गद्दे वाली निवाड़ की या स्प्रिंगदार अथवा रबड़ या फोम की होनी चाहिए। जो काफी लम्बी चौड़ी हो। देखने में सुन्दर तथा उसका सिरहाना पूर्व दिशा की ओर रखना चाहिए। पूर्व दिशा में देवताओं का निवास होने से उसी ओर सिरहाना ठीक माना गया है। ऐसे पर्यंक या पलंग पर रोगी को लिटाना चाहिए ताकि वह सुखपूर्वक हाथ पैर हिला सके।

चरक संहिता में तो यहां तक लिखा है कि सोने के लिए जो आस्तरण (बिछौना) तथा प्रावरण (ओढ़ना) बिछाया जावे वह मृदु, लघु, शुचि और सुगन्धित होना चाहिए। स्वेद, मल, जन्तु, मूत्र पुरीष से रहित होना चाहिए। उपधान (तकिये) और बिस्तर को सुप्रक्षालित ही नहीं सुधूपित करके रखना चाहिए तथा सूख जाने पर ही उपयोग में लाना चाहिए। धूपन के लिए जौ, सरसों, अलसी, हींग, गुग्गुल, वचा, चोरक, गुडूची, दूर्वा, जटामांसी, गोक्षुर, अशोकरोहिणी, सांप की केंचुली घी के साथ प्रयोग करते थे।

वार्ड में सत्संग

ऐसे आगार और ऐसी शैया पर प्रियवचन बोलने वाले मित्र व्यक्तियों का साथ भी होना चाहिए। वे व्रण की वेदना से पीड़ित रोगी का मन बहलाने के लिए कथा वार्ता कहते हुए आश्वासन देते रहें।

व्रणित का पालन करने योग्य नियम

आजकल वार्डों में किस समय क्या दवा देनी चाहिए इसकी तो व्यवस्था है पर रोगी को अपने रोग के परिहरणार्थ क्या विशेष नियम पालन करने चाहिए, इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। सुश्रुत ने व्रणित के लिए निम्नांकित नियमों का पालन अनिवार्य कर दिया है:—

१. न च दिवा निद्रावशगः स्यात्—व्रणी को दिन के अन्दर नहीं सोना चाहिए क्योंकि दिन में सोने से व्रण में खुजली उत्पन्न हो जाती है, शरीर भारी हो जाता है। व्रण स्थान में शोथ, वेदना, राग, स्राव बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।

२. उत्थानसंवेशनपरिवर्तनचङ्क्रमणोच्चैर्भाषणादिषु च आत्मचेष्टासु अप्रमत्तो व्रणं संरक्षेत् ।।—उठने, बैठने, करवट बदलने, टहलने, ऊंचे स्वर से बोलने आदि विविध क्रियाओं में असावधानी छोड़कर व्रण की रक्षा करे।

स्थानासन, चंक्रमण, यानयान (सवारी, रथ, ट्रैक्टर) आदि पर चढ़ना इन्हें तो शक्तिमान् व्रणी भी न सेवन करे क्योंकि:—

उत्थानाद्यासने स्थानं शय्या चातिनिषेविता ।
प्राप्नुयान्मारुदादङ्गे रुजस्तस्माद् विवर्ज्जयेत् ।।

इन सबसे व्रणयुक्त शरीरांग में वायु प्राप्त होकर वहां अत्यधिक वेदना उत्पन्न कर देती है, अतः इन्हें त्याग दे।

३. गम्यानाञ्च स्त्रीणां दूरतः परिहरेत्—ग्राम्यधर्म योग्य स्त्रियों के साथ बातें करना, उनका दर्शन करना उनसे मिलना तो दूर से त्याग दे। चाहे उनके साथ संसर्ग न भी हो तो भी मैथुन से होने वाली हानियां उसे प्राप्त

हो जाती हैं :—ग्राम्यधर्मकृतान् दोषान् सोऽसंसर्गेऽपि अवाप्नुयात्।

४. व्रणी को निम्नलिखित आहार द्रव्यों का परित्याग कर देना चाहिए:—

१—नवधान्य (नया अनाज) इसका अर्थ हुआ कि सर्जीकल वार्ड में रखे जाने वाले रुग्णों की रोटियां बनाने या भात आदि के लिए पुराना अन्न ही प्रयोग में लाना चाहिए।

२—उड़द, तिल, मटर, सेम, कुलत्थ—केवल मूंग, मसूर, अरहर की दाल दी जा सकती है।

३—हरितक वर्ग का शाक—बर्बरी, सहेंजन, तुलसी, वनबर्बरी, राई, रोहिष, मूली, चुक्रिका (चांगेरी) इन्हें हरितक वर्ग कहा जाता है, ये व्रणी के लिए निषिद्ध हैं।

४—अम्ललवण कटु वर्ग के द्रव्य और मधुर द्रव्य गुड़ मिठाइयां आदि।

५—पिष्ट विकृति—पीठी के बने पदार्थ कचौड़ी, बड़े, टिकिया आदि।

६—वल्लूर (सूखा मांस)

७—शुष्क शाक

८—भेड़, बकरी, आनूप (हाथी भैंसा) औदक (कछवा शंख) मांस।

९—वसा—फैट्स

१०—शीतोदक—ठण्डा पानी, इसका तात्पर्य यह कि सर्जीकल वार्ड में रोगी को पीने के लिए सदा गरम पानी ही देना चाहिए।

११—कृशरा (खिचड़ी)

१२—पायस (खीर), दही, दूध और तक्र (मट्ठा) आदि क्योंकि ये सभी पदार्थ दोषोत्पादक तथा पूयवर्द्धक (पस फौमिंग) माने जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय यह सावधानी बरती जाती थी कि कोई पीव (पस या पूय) पैदा करने वाली स्थिति न बनने पावे। जिसे आज कहते हैं कि सैप्टिक हो गया उसे रोकने के लिए कौन पदार्थ वर्ज्य हैं, इस पर प्राचीन भारतीय शल्य-वेत्ताओं ने अच्छी रिसर्च करली थी। वे हर संभव उपाय से व्रण को और अधिक प्रसार में सहायक किसी भी कारण को न बढ़ने देना चाहते थे। इसी के लिए आगे और भी विस्तृत विचार किया गया है—

५. (i) वातातपरजोधूमावश्याय —हवा, धूप, धूल, ओस से बचावें।

(ii) अतिभोजन, अनिष्टभोजन, विषमभोजन, उपवास, विरुद्धाशन, अध्यशन, अजीर्ण।

(iii) अनिष्ट पदार्थों का दर्शन और अनिष्ट वस्तुओं का दर्शन।

(iv) ईर्ष्या, अमर्ष, भय, क्रोध, शोक, ध्यान।

(v) रात्रिजागरण, दिवाशयन।

(vi) वाग्व्यायाम अधिक भाषण।

(vii) स्थानचंक्रमण—एक स्थान पर ही बैठे रहना या टहलना।

(viii) शीतवात (ठण्डी हवा) का सेवन।

(ix) मक्षिकादि बाधा (घाव पर मक्खी मच्छरों का बैठना।

इन विविध कारणों से क्षीणमांस, क्षीणरक्त व्रणी का भोजन ठीक से नहीं पचता। भोजन के न पचने से वातादि दोषों का विभ्रम (व्यापद् विशेष) बलवान् हो जाता है, जिससे व्रण में शोफ (इडीमा) रुजा (पेन) स्राव (डिस्चार्ज) दाह (जलन) और पाक (सप्पूरेशन) उत्पन्न हो जाता है। मक्खियां व्रण में कितनी बाधा करती हैं उसे बतलाते हुए घाणेकरीय टीका में लिखा है—

मक्षिका व्रणमागत्य निक्षिपन्ति यदा क्रिमीन्।
श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः॥
तीव्रा रुजा विचित्राश्च रक्तास्रावश्च जायते।

कि मक्खियां व्रणों पर बैठकर अनेक प्रकार के क्रमियों (जर्म्स और वर्म्स) को उसमें छोड़ देती हैं, वे उसका भक्षण कर बहुत भारी शोथ पैदा कर देती हैं। वहां तीव्र विचित्र वेदना पैदा होती हैं तथा रक्तस्राव (ब्लीडिंग) भी उत्पन्न हो सकता है। अस्तु मक्खियों तथा उसी प्रकार के अन्य कीटों या कीटाणुओं से रक्षा के पीछे उपसर्ग की उत्पत्ति को हमारे सुयोग्य विद्वान् पाश्चर और लिस्टर से बहुत पहले जानते थे। इसे आगे की पंक्तियां और स्पष्ट कर देती हैं।

६. सदा नीचनखरोम्ना शुचिना शुक्लवाससा शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मण गुरुपरेण भवितव्यम्—व्रणी के नाखून

कटवाकर बाल और रोमों को साफ करवाकर, पवित्र (साफ किये हुये) सफेद कपड़े पहनाकर रखे। यह सर्जीकल वार्ड की रोगी की पोशाक है। यही पोशाक वार्ड के कर्मचारियों के लिए है। रोगी कैसे रहे इसे भी यहां बतलाया गया है—वह शान्तिपाठ करे, शास्त्रविहित मंगलकर्म करे। देवताओं का पूजन और स्मरण करे, ब्राह्मणों (विद्वानों) और गुरुजनों के प्रति वफादार रहे।

मंगलकर्म का महत्त्व

तत् कस्य हेतोः ? ऐसा करने का क्या कारण है ? यह जिज्ञासावृत्ति भारतीय समाज में, गवेषकों आचार्यों में सदा ही उपस्थित रही है। हम क्यों नख, रोम व्रणी के कटवावें। क्यों उसे सफेद कपड़ा पहनावें, क्यों शान्तिपाठ मंगलकर्म देव ब्राह्मण गुरु परायण उसे बनावें ? उत्तर वही है जिसे "लुई पाश्चर" ने रेशम के कीड़ों के अण्डों पर बहुत बाद में खोजा—

हिंसाविहाराणि हि महावीर्याणि रक्षांसि पशुपति कुबेरकुमारानुचराणि मासशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति सत्कारार्थं जिघांसूनि वा कदाचित्। हिंसा और विहार करने वाले रुद्र, कुबेर, सुब्रह्मण्यम् के अनुचर (ये वैज्ञानिक इन्हें अपनी प्रयोगशालाओं में कल्चर करके पालते थे) महाशक्तिशाली रक्षोगण (जीवाणु) रक्तमांस प्रिय होने से रक्तसेवन के लिए व्रणी के पास पहुँचते हैं उनका उद्देश्य अपना सत्कार कराना या कदाचित् रोगी का प्राणनाश होता है। उन सत्कार के इच्छुक जीवाणुओं को धूप, बलि, उपहारों और भक्ष्य द्रव्यों द्वारा सन्तुष्ट कर देना चाहिए क्योंकि उनके सन्तर्पित हो जाने पर वे फिर रोगी की हिंसा नहीं करते। इसलिये नित्य दीप, उदक, शस्त्र, माला, पुष्प, लाजा आदि से युक्त वेश्म (रुग्णागार) किये रह कर अतन्द्रित होकर उचित कर्मकाण्डियों (जीवाणुओं पर विजय प्राप्त करने वाले जनों) के सम्पर्क में रहकर मंगल कर्म करते रहना चाहिए तथा मनोनुकूल कथा वार्ता सुनते हुए जीवनयापन करना चाहिए।

प्राचीन काल में जीवाणुओं के उपसर्ग से निवटने के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, वस्त्र लाजादि के साथ मंगलकर्म का ही विधान किया जाता था। यह विधान प्रत्येक भारतीय के घर में एक वैद्यकीय आवश्यकता समझ कर ही किया जाता था ताकि औपसर्गिक रोगों का आक्रमण उस समय न हो जब विवाह, पुत्रजन्म या अन्य कोई संस्कार किया जा रहा हो। बाद में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने घर-घर दैनिक यज्ञ और त्रिकालनसन्ध्यादि कर्मों का व्यापक प्रचार कर इन कर्मों के प्रति अनास्था उत्पन्न कर दी। यज्ञकर्म भी इसी मंगलविधाद का विकल्प है। आज के सर्जरी के गवेषकों को मंगलकर्म की व्यवस्था सुश्रुतोक्त निदेशानुसार करके इस प्रतिषेधात्मक व्यवस्था की सीमा निर्धारित करनी चाहिए तथा इसे पाखण्ड या पोंगापंथी मान कर न छोड़ देना चाहिए। क्योंकि इसकी पुष्टि में आगे भी लिखा है :—

> सम्पदाद्यनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः।
> आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाप्नुयात् ॥२५॥
> —सु० सू० अ० १९

मनोऽनुकूल मंगलकर्म और रक्षाव्यवस्था कथावार्तादि से प्रसन्न हुआ रोगी का मानस व्याधिमुक्ति के प्रति अत्यधिक आशावान् हो जाने से तत्काल सुख प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ये सारे कर्म उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ाते हैं और उसके शरीर का वातावरण ऐसा कर देते हैं कि वह इन जीवाणुओं के चंगुल से छूट जाता है।

वैदिक रक्षाविधि जिसे स्वामी दयानन्द सरस्वती सहित प्राचीन वैदिक विद्वानों ने स्वीकार किया वह भी सुश्रुतोक्त है—ऋग्यजुःसामार्थवेदाभिहितैः अपरैश्च आशीर्विधानैः उपाध्याया भिषजश्च सन्ध्ययोः रक्षां कुर्युः। इसे करने के लिए वैदिक कर्मकाण्डी उपाध्याय और भिषक् दोनों को मिलकर रक्षाकर्म करना पड़ता है।

७. धूपन—एक हवनकुण्ड में जो सर्जीकल वार्ड में एक ओर बना हो वहां सरसों, नीम के पत्ते, घी और नमक के साथ आग में जलाकर धूपन करना चाहिए। यह धूपन दो बार दस दिन तक अतन्द्रित (बिना आलस्य किये) होकर अधिकारियों को कराना चाहिए—द्विरह्नः कारयेद् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः।

८. औषधियों का शिर पर धारण करना—उस काल में जीवाणुओं (राक्षसों, पिशाचों, गन्धर्वों, यक्षों,

पितरों, भुजंगों, शत्रुओं, देवों) का आक्रमण रोकने के लिए औषधियों को शरीर या सिर पर धारण करना आवश्यक समझा जाता था। बाद में रत्न–उपरत्नों, धातु–उपधातुओं के धारण का युग इसी दृष्टि से आया। सुश्रुत ने इस दृष्टि से धारणीय रक्षोघ्न (एण्टीसैप्टिक) औषधियों में इनको स्वीकार किया है—छत्रा (कामराज), अतिछत्रा (तेजराज), लाङ्गली (कलिहारी), जटिला (जटामांसी), ब्रह्मचारिणी (मुण्डी या पतंगकाष्ठ), लक्ष्मी (शमी या विष्णुक्रान्ता), गुहा (शालपर्णी), अतिगुहा (पृश्निपर्णी ?), वचा, अतिविषा (अतीस), शतवीर्या (दूर्वा), सहस्रवीर्या (शतावरी) तथा सिद्धार्थक (सरसों—पीली, लाल तथा काली)।

९—**दयज्येत बालव्यजनैः**—बालों के पंखे अर्थात् चौरी द्वारा व्रण की हवा करे उसे—

व्रणं न च विघट्टयेत् (दबावे नहीं)।
न तुदेत् (दुखावे नहीं)।
नच कण्डूयेत (न खुजावे)।

१०. **शयानः परिपालयेत्**—सोते-सोते ही व्रणी की रक्षा करे।

११. **शल्यरोगी का पथ्य**—सर्जीकल वार्ड में व्रणी या शल्य से पीड़ित रोगी को क्या पिलाया जावे इस पर भगवान् धन्वन्तरि ने निम्नलिखित सूची दी है:—

i. जीर्णशाल्योदन (पुराने शालि चावलों का भात) इसे घी डालकर गरम-गरम और पतला-पतला दें।

ii. जाङ्गल मांस—जांगल जीवों (हरिण, एण, चटक, लावा) का मांस।

iii. चौलाई, जीवन्ती, चौपतिया, बथुआ, पतली कच्ची मूली, बैंगन, पटोलपत्र, करेला इन के शाक घी में छौंक कर अनार या आमले के स्वरस से खट्टा करके सेंधानमक मिलाकर दें।

iv. उपर्युक्त विधि से मूंग मसूर अरहर की दाल भी बनाकर दे सकते हैं।

v. सत्तू, विलेपी और कुल्माष (जौ का दलिया) भी दिया जा सकता है।

कुल्माष को व्रणों में नित्य पथ्यकर माना गया है—व्रणेषु पथ्यः नित्यम्। यव (जौ) वैसे भी एण्टीडायबिटिक आहार है। इसकी धूनी (रक्षोघ्न) है इसका सेवन भी रक्षोघ्न है इस पर आहार शास्त्रियों को इस युग में और अनुसन्धान करना चाहिए।

भगवान् धन्वन्तरि का उपदेश

दिवा न निद्रावशगो निवातगृहगोचरः।
व्रणो वैद्य वशे तिष्ठन् शीघ्रं व्रणमपोहति॥
व्रणे श्वयथुः आयासात् स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वापाताश्च मृत्युश्च मैथुनात्॥
एवं वृत्तसमाचारो व्रणी सम्पद्यते सुखी।
आयुश्च दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिवचो यथा॥

भगवान् धन्वन्तरि के अनुसार जो व्यक्ति दिन में निद्रा के वश में नहीं होता, निवात स्थान में रहता है और वैद्य (सर्जन) के पूर्ण अनुशासन में रहता है उसका व्रण शीघ्र भर जाता है। यदि व्रणी परिश्रम करे तो शोथ उत्पन्न हो जाता है, रात्रि में जागता रहे तो व्रण में राग लालिमा बढ़ जाती है। इन दोनों कारणों से (परिश्रम तथा जागरण से तथा दिवास्वप्न से व्रण में दर्द (रुज) बढ़ जाता है एवं मैथुन कर्म के बाद शॉक (क्रियासंग) होने से मृत्यु हो जाती है। इसलिए इनसे बचता हुआ जो व्रणी सर्जीकल वार्ड में अपना जीवन यापन करता है वह शीघ्र सुखी हो जाता है तथा उसे अल्पायु का खतरा भी नहीं रह जाता अर्थात् वह दीर्घायुष्य को प्राप्त हो जाता है।

प्राचीनकाल में इन साधारण कही जाने वाली विधियों को अपना कर सिविल और मिलिटरी दोनों प्रकार के व्रणी रोगियों को इस देश में जितनी जल्दी बिना किसी उपद्रव के ठीक किया जाता था उसका अन्यत्र उदाहरण नहीं मिलता।

★★

संचयं च प्रकोपं च

श्री डा० पी० सी० जैन, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष—शारीर विभाग
श्री डा० यज्ञदत्त शुक्ल, रीडर, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ

आयुर्वेद शास्त्र पुरुषों में धातु साम्यता बनाये रखने एवं धातुओं में हुई विषमता को पुनः साम्यावस्था में लाने वाला विज्ञान है। धातु वैषम्य अथवा दोष वैषम्य को रोग कहते हैं क्योंकि सम्पूर्ण रोगों का प्रारम्भ धातु वैषम्य से ही होता है। इस विज्ञान के अनुसार शरीर की स्वस्थावस्था दोषों, अग्नियों, धातुओं और मलों की मात्रा एवं कार्यों का शरीर में सम्यक् रूप से सम्पादन तथा आत्मा, इन्द्रिय एवं मन की प्रसन्नता होती है। इसी से क्रिया की दृष्टि से शरीर को दोषधातुमलमूलक कहा जाता है। दोषों के रूप में इस विज्ञान ने शरीर के समस्त क्रियात्मक द्रव्यों को वात, पित्त एवं श्लेष्मा तीन वर्गों में विभाजित किया है। वात शरीर के गत्यात्मक एवं प्रेरक तत्वों के रूप में पित्त-अग्निकर्म को सम्पन्न करने वाले शरीर के समस्त जीव रासायनिक अभिकर्मकों (Biochemical Agents) तथा श्लेष्मा-शरीर को गुरुता प्रदान करने वाले, शरीर की विभिन्न रचनाओं को परस्पर संश्लिष्ट किये रहने वाले द्रव्य के रूप में किया गया है। शरीरस्थ इन विभिन्न वर्गों के द्रव्यों के साम्यावस्था में रहने पर ही शरीर की स्थिति होती है, इनकी विषमता शरीर में रोगों का कारण होती है अर्थात् शरीर में विकार या रोग इन्हीं द्रव्यों के विषम होने से होता है। प्रथम ये स्वयं दूषित होकर रोगोत्पत्ति के कारण बनते हैं। इसी कारण इन्हें दोष एवं अन्य को दूषित संज्ञायें प्रदान की गई हैं। इन दोषों द्वारा विभिन्न दूष्यों को दूषित कर रोगोत्पत्ति विभिन्न अवस्थाओं में होती है। आयुर्वेदीय वैज्ञानिकों ने चिकित्सकों को रोगोत्पत्ति की इन अवस्थाओं को ध्यान में रखकर ही चिकित्सा व्यवस्था निश्चित करने का स्पष्ट निर्देश किया है। दोष वैषम्य असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं कालपरिणाम के कारण उत्पन्न होकर क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता है और पूर्णतया वृद्धि को प्राप्त होकर रोगोत्पादक होता है अतः दोषवैषम्य की इन अवस्थाओं का सम्यक् परिज्ञान हुए बिना चिकित्सा में प्रवृति ही नहीं हो सकती है। काय एवं शल्य चिकित्सा दोनों ही विधियों में इनका सम महत्व होता है। दोष वैषम्य की अवस्थाओं को क्रियाकाल की संज्ञा दी गई है। दोष धातुमलों के वैषम्य को विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा साम्यावस्था में लाया जाता है इसी कारण महर्षि चरक ने जिन क्रियाओं से शरीरस्थ विषम धातु साम्यावस्था में लायी जाती हैं उसे चिकित्सा कहा है। दोष वैषम्य की महर्षि सुश्रुत ने विभिन्न अवस्थाओं को गिनाया है और कहा कि उन अवस्थाओं में विभिन्न उपक्रमों द्वारा विषम दोषों को साम्यावस्था में लाने के कारण वे अवस्थाएं विषम दोषों को साम्यावस्था में लाने की क्रियाओं के निर्धारित काल हैं इसी कारण इन्हें क्रियाकाल कहा जाता है। दोष शरीर में अपनी समावस्था को त्यागकर क्षीण या वृद्धि की अवस्था को प्राप्त करते हैं। शल्य चिकित्सा

के प्रणेता महर्षि सुश्रुत ने दोषों के वृद्धि के परिणामस्वरूप इस अवस्था के प्रारम्भ से लेकर रोगोत्पत्ति तक के काल को विभाजित किया है जिनसे दोषों की वृद्धि के प्रमाण के अनुसार ही उनकी व्यवस्था करके उन विषम दोषों को साम्यावस्था में लाया जा सकता है। रोगोत्पत्ति की इन अवस्थाओं को चिकित्सा की दृष्टि से ध्यान में रखने का अर्थ महर्षि सुश्रुत के अनुसार यह है कि यदि दोष अल्पवृद्ध हैं तो उन्हें लघु उपायों द्वारा पुनः साम्यावस्था में लाया जा सकता है और यदि दोषों के अत्यधिक वृद्धि रोगोत्पादन का कारण है तो तदनुसार आहार-विहार एवं औषधि का प्रयोग रोगी को कराकर रोग निवृत्ति की जानी चाहिए अतः दोषों की इन अवस्थाओं में जितना शीघ्र उन्हें सम अवस्थाओं में लाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया जाय चिकित्सा उतनी ही सुगम होती है। क्रियाकाल दो शब्दों से मिलकर बना है क्रिया शब्द से चिकित्सा हेतु की जाने वाली आहार-विहार एवं औषधि के प्रयोग रूप क्रिया का ज्ञान होता है क्योंकि चिकित्सा शब्द की परिभाषा से ही स्पस्ट है कि शरीरस्थ विषम धातुओं को पुनः साम्यावस्था में लाने की प्रक्रिया ही चिकित्सा है। काल शब्द से साधारणतः आयुर्वेदीय विचारक दो प्रकार के काल या समय का बोध करते हैं। इनमें से प्रथम आवस्यिक तथा द्वितीय नित्यग् काल होता है अतः क्रियाकाल के अन्तर्गत इन दोनों कालों को दृष्टि में रखते हुए दोषों के वृद्धि को षड्कालों—अवस्थाओं में विभक्त किया गया है जिन्हें महर्षि सुश्रुत ने ही षड् क्रियाकाल संज्ञा प्रदान की है (सु० सू० २१) क्रियाकाल की इन अवस्थाओं में वृद्ध दोष उत्तरोत्तर बलवान होते जाते हैं। सुश्रुत के अनुसार प्रवृद्ध दोषों को चिकित्सा द्वारा पुनः साम्यावस्था में लाने के लिए जिन षड्क्रियाकालों का उल्लेख किया गया है वे निम्न हैं। (१) संचय (२) प्रकोप (३) प्रसर (४) स्थान संश्रय (५) व्यक्ति (६) भेद। शल्य शास्त्र के प्रणेता की दृष्टि में दोषों की वृद्धि की अवस्थाओं का विचार कर जो चिकित्सक पुनः दोष साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है वही उत्कृष्ट चिकित्सक होता है। इसीलिए दोषों का निर्हरण संचय अवस्था में ही करने का निर्देश किया गया गया है क्योंकि दोष उत्तरोत्तर वृद्धि की अवस्था में बलवान होते जाते हैं।

दोषों की वृद्धि की उपर्युक्त षड् अवस्थाओं का विवेचन आचार्य सुश्रुत ने किया है किन्तु महर्षि चरक एवं वाग्भट ने चय, प्रकोप एवं प्रशमन तीन ही अवस्थाओं का उल्लेख किया है। दोषों की वृद्धि अवस्थाओं की संख्या के सम्बन्ध में यह मतान्तर वास्तविक न होकर केवल दृष्टिकोण सम्बन्धित ही है। महर्षि सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा की दृष्टि से व्रणप्रश्न नामक अध्याय में बाह्य आघात के परिणामस्वरूप दोष वृद्ध होकर पूयोत्पत्ति एवं उसके भेद अवस्था तक प्राप्त होते हैं। इन अवस्थाओं को उपर्युक्त षड्क्रियाकालों में विभाजन किया है। उपर्युक्त सन्दर्भ में यद्यपि आगन्तुज व्याधियों के विकास के लिए कहा गया है तथापि निज रोगों के सन्दर्भ में भी पूर्णरूपेण लागू होता है। इस सिद्धान्त के द्वारा दोषों के क्रमशः प्रवृद्ध होकर किसी विशिष्ट स्थान पर स्थित हो रोग उत्पन्न करने की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। महर्षि चरक एवं वाग्भट ने आयुर्वेद के उद्देश्यों में प्रथम स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का संरक्षण बताया है। दोषों की संचय प्रकोप एवं प्रशम अवस्थाओं के ज्ञान द्वारा दोषों की वृद्धि पर होने वाले ऋतुओं के प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति आसानी से की जा सकती है। इसी कारण वाग्भट एवं चरक दोनों ही महर्षियों ने संशोधन चिकित्सा के सन्दर्भ में षड्ऋतुओं का उल्लेख किया है जो शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त नामों से जानी जाती हैं। इनमें से माघ एवं फाल्गुन मास में शिशिर ऋतु, चैत्र एवं वैशाख में वसन्त, ज्येष्ठ एवं आषाढ़ में ग्रीष्म, श्रावण एवं भाद्रपद में वर्षा तथा आश्विन एवं कार्तिक मास में शरद तथा हेमन्त ऋतु मार्गशीर्ष तथा पौष मास में होती है। दोष उपर्युक्त विभिन्न ऋतुओं में काल के परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से संचय एवं प्रकोप की अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। दोषों पर ऋतुओं के इस प्रभाव का ज्ञान चिकित्सक को होना आवश्यक है क्योंकि तभी वह तदनुसार आहार-विहार एवं औषधियों द्वारा विभिन्न ऋतुओं में होने वाले दोषों के संचय व प्रकोप को सीमित कर सकता है और दोषों को प्रकोपावस्था की सीमा का अतिक्रमण कर व्याधियों की उत्पादकता से रोका जा सकता है। इस व्यवस्था के कारण दोष स्वतः पुनः अपनी साम्यावस्था में वापस आ

जाते हैं और मनुष्य का स्वास्थ्य स्थित रहता है। महर्षि सुश्रुत के समान ही चरक एवं वाग्भट ने भी मनुष्य के स्वास्थ्य को इन्ही सिद्धान्तों के आधार पर बनाये रखने का उल्लेख किया है। विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न दोषों के संचय प्रकोप व शमन का क्रम निम्न है—

दोष	संचयकाल	प्रकोपकाल	शमनकाल
वात	ग्रीष्म	वर्षा	शरद
पित्त	वर्षा	शरद	हेमन्त
कफ	शिशिर	बसन्त	ग्रीष्म

उपर्युक्त तालिका को देखने से निम्न तथ्यों का प्रकाशन होता है—

(१) वर्षाऋतु में पित्त का संचय एवं वात प्रकोप रहने पर तथा कफ के समावस्था में होने पर भी यह ऋतु सभी ऋतुओं में सबसे अधिक अस्वास्थ्यकर मानी जाती है।

(२) हेमन्त ऋतु में सभी दोष अपनी साम्यावस्था में होते और किसी भी दोष का संचय या प्रकोप नहीं होता इसलिए इसे सर्वऋतुओं में सबसे अधिक स्वास्थ्य हितकारी ऋतु मानी जाती है।

(३) यद्यपि शिशिर एवं ग्रीष्मऋतु में पित्त दोष साम्यावस्था में रहता है तथा पित्त इस काल में कफ का संचय होने के कारण यह ऋतु मध्यम मानी जाती है।

(४) बसन्त एवं शरदऋतु में वात के साम्यावस्था में रहने पर भी इस काल में कफ एवं पित्त का प्रकोप होने के कारण यह ऋतु स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं मानी जाती है।

महर्षि सुश्रुत ने अपनी संहिता में यद्यपि स्वास्थ्य संरक्षणार्थ दोषों की संचयादिक अवस्थओं का वर्णन किया है किन्तु दोषों के चय प्रकोप की दृष्टि से ऋतुओं का वर्गीकरण सर्वथा भिन्न रूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में बसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, वर्षा, शरद, हेमन्त यह छः ऋतुएं बतायी हैं। इनमें से बसन्त फाल्गुन एवं चैत्र माह में तथा हेमन्त पोष एवं माघ माह में बतायी है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओं के माह भी इसी क्रम में बताये गये हैं। सुश्रुत के अनुसार विभिन्न ऋतुओं में दोषों के चय, प्रकोप और प्रशम का क्रम निम्न प्रकार है—

दोष	चय	प्रकोप	प्रशम
वात	प्रावृट्	वर्षा	शरद
पित्त	वर्षा	शरद	हेमन्त
कफ	हेमन्त	बसन्त	ग्रीष्म

इस दृष्टि से प्रत्येक ऋतु में किसी दोष का संचय प्रकोप एवं प्रशम होता है किन्तु संचय ऋतु की अपेक्षा प्रकोप ऋतु को सभी आचार्यो ने स्वास्थ्य के लिए अधिक हानिकर माना है। चरक एवं सुश्रुत के इस मत वैभिन्य को कुछ आचार्यो ने देश भेद के कारण माना है। उनके अनुसार वर्षा प्रधान देशों में प्रावृट्, वर्षा, शरद, हेमन्त, एवं बसन्त एवं ग्रीष्म तथा शीत प्रधान देश में शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद एवं हेमन्त ऋतुएं होती हैं। इसमें शिशिर एवं हेमन्त शीत प्रधान ऋतुएं हैं।

प्रथम क्रियाकाल (चय या संचयावस्था)

दोष साम्यावस्था में रहकर सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमित होते हुए शरीर की क्रियाओं का सम्यग् संचालन करते हैं। दोषों की विषमावस्था उनकी वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। इस अवस्था के कारण दोष अपने स्थान पर ही अपनी साम्यावस्था से अधिक बढ़ जाते हैं इस अवस्था को संचयावस्था कहा जाता है। अन्य शब्दों में इस स्थिति को यह भी कहा जा सकता है कि जब अपने पक्वाशयिक स्वाभाविक स्थान पर ही वातादि दोष अपने सामान्य प्रमाण से अधिक वृद्ध हो जाते हैं तब उसे वातादि दोषों की संचयावस्था कहा जाता है। इसी प्रकार संचयावस्था में दोष अपने स्थान पर ही वृद्ध होकर कतिपय लक्षण उत्पन्न करते हैं जिन लक्षणों के द्वारा दोषों की संचयावस्था का ज्ञान होता है।

दोषों के संचयावस्था के प्राप्त होने की स्थिति में मनुष्य को दोषों के विभिन्न वृद्धिकारक तत्वों के प्रति विद्वेष और दोषों के विपरीत गुण धर्म वाले द्रव्यों के

सेवन की अभिलाषा जाग्रत होती है। उदाहरण के लिए शरीर में वात के संचित होने पर वात के रूक्षादिक सामान्य गुणों से युक्त द्रव्यों के प्रति विद्वेष और स्निग्धादिक गुणों से युक्त द्रव्यों के सेवन की अभिलाषा होती है। अरुणदत्त के अनुसार संचयावस्था के ज्ञान के लिए उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। यदि किसी मनुष्य में वातवर्धक द्रव्यों के प्रति द्वेष और वातशामक द्रव्यों के प्रति अभिलाषा दोनों ही उपस्थित हों उसी स्थिति में उसके शरीर में वात का संचय हो रहा है ऐसा समझना चाहिए। महर्षि सुश्रुत ने उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त वात के संचय होने पर कोष्ठ में स्तब्धता एवं गुरुता, पित्त की संचयावस्था में अंगों का पीलापन एवं शरीर में मन्द ऊष्मा की प्रतीति एवं श्लेष्मा के संचय होने पर अंगों में गुरुता एवं आलस्य की प्रतीति आदि लक्षण भी बताये हैं।

महर्षि वागभट ने दोषों के संचय के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि उष्ण गुण के साथ जब शरीर में रूक्ष, लघु, चल, विषद खर आदि गुण सम्प्रक्त होते हैं तब वात का संचय, शीत गुण से जब उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, सर, कटु आदि गुण सम्प्रक्त होते हैं तो पित्त का संचय और शीत गुण के साथ ही जब गुरु, मृदु, स्निग्ध, पिच्छिल, स्थिर आदि सम्प्रक्त होते हैं तो श्लेष्मा का संचय होता है। काल प्रभाववश स्वामाविक रूप से ग्रीष्म में वात का वर्षा में पित्त का शिशर में कफ का संचय होता है।

संचयावस्था में वृद्ध दोषों की चिकित्सा करना अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक सरल होता है और यह चिकित्सा का प्रथम अवसर होता है इसलिए संचयावस्था को प्रथम क्रियाकाल भी कहा जाता है।

द्वितीय प्रक्रिया काल (प्रकोपावस्था)

वृद्ध दोषों की चिकित्सा न होने से जब दोष अपने स्वामाविक स्थान पर स्थित रहते हुए भी विलयित होकर एक स्थान से दुसरे स्थान को स्थानान्तरित होने के योग्य हो जाते हैं तब उसे दोषों की प्रकोपावस्था कहा जाता है। इस अवस्था में दोष स्वामाविक रूप से वृद्ध होकर उन्मार्गगामी होने को उद्यत होते हैं। आचर्यो ने प्रकोप दो प्रकार का बताया है; प्रथम के अनुसार जब दोष संचयावस्था के उपरान्त प्रकोपावस्था को प्राप्त करते हैं तब उसे चय प्रकोप कहा जाता है। दूसरी अवस्था में दोष वृद्ध होकर बिना संचायवस्था को प्राप्त किये ही सीधे प्रकोपावस्था को प्राप्त होते हैं इसी को अचय प्रकोप की संज्ञा प्रदान की है। अचय प्रकोप में दोषों के वृद्धि की मात्रा अधिक होती है इसी कारण दोष संचित हुए बिना ही प्रकुपित हो जाते हैं अथवा दोष अपने स्थान में वृद्धि को न प्राप्त कर अन्य दोष स्थान में वृद्धि करते है।

शीतकाल मे, वर्षा ऋतु में, बादलों के समय, प्रभात एवं अपराह्न काल में, तथा अन्न का पाचन पूर्ण होने पर और वृद्धावस्था में वातदोष प्रकोपावस्था को प्राप्त होता है। वात के प्रकुपित होने पर उदर में तोद एवं वायु का संचार बढ़ जाना ये लक्षण होते हैं। पित्त का प्रकोप उष्णकाल में उष्ण पदार्थों के सेवन से, शरद ऋतु में मध्यान्ह एवं अर्धरात्रि के समय, भोजन के पाक के काल में तथा युवावस्था में होता है। इस अवस्था में खट्टी डकार आना, तृष्णा की वृद्धि एवं शरीर में दाह आदि लक्षण पाये जाते हैं। इसी प्रकार श्लेष्मा या कफ शीतकाल में, शीतल पदार्थों के सेवन से वसन्त ऋतु, पूर्वान्ह, प्रदोष के समय, भोजन के तुरन्त पश्चात् एवं बाल्यावस्था में प्रकुपित होता है। इसके कारण अन्न द्वेष एवं हृल्लास आदि लक्षण पाये जाते हैं। इन लक्षणों के द्वारा प्रकुपित दोषों का ज्ञान किया जाता है। इस अवस्था में भी उचित चिकित्सा व्यवस्था न होने पर दोष और अधिक वृद्ध हो कर दुश्चिकित्स्य हो जाता है।

आचार्यो ने दोषों के सामान्य प्रकोपक कारणों के रूप में असात्मेन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं काल परिणाम का उल्लेख किया है ये तीनों ही कारण अयोग्य, अतियोग एवं मिथ्यायोग की दृष्टि से पुनः तीन-तीन वर्गों में विभक्त है। वात के विशिष्ट प्रकोपक कारणों में अतिव्यायाम, अपतर्पण, चिकित्सा, ऊपर से गिरना, धातुक्षय, रात्रि जागरण, अधारणीय वेगावरोध,अपने से अधिक शक्तिवान पुरुष से मल्लयुद्ध अतिमय धावन, मर्दन, अभिघात, लंघन, कूदना, तैरना अधिक भार उठाना, हाथी घोड़े आदि पर अधिक यात्रा करना, अत्यधिक पैदल चलना, अत्यधिक शोक करना, अति मैथुन, कटु तिक्त कषाय रसयुक्त द्रव्यों

का सेवन, सूखा शाक सूखा मांस, वरक धान्य आदि का प्रयोग, जंगली कोदौं, संवा, निवार, मुद्ग, मसूर, अरहर, चना, मटर, सेम के बीज आदि के सेवन, विषमासन, बादलों के आने पर, भोजन के परिपाक होने पर, अपरान्ह काल आने, प्रवृट् एवं वर्षा ऋतु के कारण होता है। पित्त प्रकोप के कारण-कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, लघु, तीक्ष्ण एवं विदाही अन्नपान का सेवन, तिल, अलसी, कुलथी, सरसों, दही, तक्र, मंथ, सिरका, कांजी खट्टे फल, गोवा मत्स्य, बकरी एवं भेड़े का मांस का सेवन, क्रोध, शोक, उपवास तथा आतप का सेवन, जला हुआ अन्न लेने से, मैथुन से, भोजन की परिपाकावस्था में, शरद्, ग्रीष्म, मध्यान्ह, अर्धरात्रि आदि काल प्रमुख प्रकोपक कारण हैं। श्लेष्म प्रकोपक कारणों में मधुर, अम्ल, लवण रस का सेवन, गुरु, शीत, स्निग्ध, पिच्छिल द्रव एवं अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन, हायनक, यवक, नैषध, व्रीहि जाति के धान्यों का सेवन, माष, महामाष, राजमाष गोधूम, तिलपिष्ट, विकृत, दही, दुग्ध, खिचड़ी, खीर, गुड़, खाण्ड आदि गन्ने के रस से बने पदार्थों का सेवन, आनूप व ओदक प्राणियों के मांस, वसा या चर्वी, कमलनाल, कशेरु, सिघाड़ा, मीठे फल, वल्ली फल, पथ्य व अपथ्य का एक साथ सेवन, अध्यशन, दिवास्वप्न, घृत एवं घृत से बने पदार्थों का सेवन वर्फ गिरने के समय, दिन का प्रारम्भिक समय, भोजन के तुरन्त पश्चात्, शीतकाल, वसन्त ऋतु एवं पूर्वान्ह आदि बताये हैं।

तृतीय क्रियाकाल (प्रसरावस्था)

उपर्युक्त दोनों ही अवस्थाओं में उचित चिकित्सा व्यवस्था के अभाव मे दोष और अधिक प्रकुपित हो अपने अपने स्थानों का परित्याग कर सम्पूर्ण शरीर में फैलने लगते हैं तब उसे प्रसरावस्था कहा जाता है। यह दोषों का प्रसर है। एक प्याले में किण्व, जल और चावल कल्क मिश्रण को रखने से जैसे उसमें रखा पदार्थ उत्सेचन की क्रिया से प्याले के बाहर आ जाता है और जैसे तालाब में एकत्रित जल मात्रा से अधिक वृद्धि होने पर अपने बंध को तोड़कर अन्य जल से मिलकर यत्र-तत्र फैलने लगता है, वैसे दोषों के प्रसर की उपमा दी जा सकती है। उपर्युक्त घटनाओं के समान ही दोष शरीर में वृद्ध होते हुए स्वतन्त्र अथवा रक्त के साथ प्रकुपित होकर संचय एवं प्रकोप की अवस्थाओं को पार कर रक्त के माध्यम से ऊर्ध्व अधः एवं तिर्यक् दिशाओं में शाखा, मर्म, अस्थि एवं सन्धि की ओर फैलने लगते है। दोष जिस प्रकार आकाश में बादल इधर-उधर घूमते हुए जिस स्थान पर एकत्रित होते हैं उसी स्थान पर वर्षा होती है उसी प्रकार शरीर में प्रसर करते हुए सम्पूर्ण शरीर ऊर्धांग या अवयव विशेष में दोष स्थित हो उसमें विकारोत्पत्ति करते हैं। कभी-कभी दोष अत्यधिक प्रकुपित हुए बिना भी प्रसर करते हैं और शरीरस्थ स्रोतों में तो सुषुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। कालान्तर में वही दोष प्रकोपक कारणों की उपस्थिति के कारण रोगोत्पत्ति का कारण होता है। दोष शरीर में पन्द्रह प्रकार से प्रसर करते हैं। स्वतन्त्र रूप से अथवा अन्य से संयुक्त होकर यथा स्वतन्त्र रूप से वातपित्त, कफ रक्त तथा मिश्रित रूप से वातपित्त, वातकफ, वातरक्त, पित्तकफ, पित्तरक्त, कफरक्त, वातपित्तकफ, वातपित्तरक्त, पित्तकफरक्त, वातकफरक्त एवं वातपित्तकफरक्त।

महर्षि चरक के मतानुसार प्रसर हेतु तीन रोग मार्ग होते है (१) बाह्य रोग मार्ग (२) मध्यम रोग मार्ग (३) आभ्यन्तर रोग मार्ग।

आभ्यन्तर रोग मार्ग—कोष्ठ रूप में मध्य शरीर का जो सुश्रुतानुसार आम, अग्नि पक्व, मूत्र एवं रुधिर *के स्थान तथा हृदय, उण्डुक एवं फुफ्फुस का स्थान होता* है, प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रकुपित दोष शाखा, मर्मस्थ, सन्धि एवं कोष्ठ में परिभ्रमित होते हुए विकारोत्पत्ति करते हैं। प्रकुपित दोष कोष्ठ से शाखाओं में व्यायाम, ऊष्मा, तीक्ष्ण आहार, ओषधि, अहित आहार विहार के सेवन तथा वायु के शीघ्र गमन के कारण प्रसरित होते हैं इसी प्रकार दोष शाखाओं से कोष्ठ में वातादि दोषों की वृद्धि के कारण, विष्यन्दता (बहने) के कारण, द्रव होने के कारण, चू जाने के कारण, पक जाने के कारण, स्रोतों के मुख के शोधन हो जाने के कारण अर्थात् अवरोधन रहने से एवं वायु के निग्रह अर्थात् वायु के प्रतीकार होने पर शाखाओं को छोड़कर कोष्ठ में आते है। दूसरे शब्दों में इसे ही कहा जा सकता है कि दोष यदि अत्यन्त वृद्ध हो जांय तो रक्त आदि धातुओं से वह कोष्ठ में आते है या धातु के साथ बहते हुए दीवार में से हट कर कोष्ठ में आ जाते है दोष पककर भी बहिर्गमन हेतु कोष्ठ में

आ जाते हैं। यदि कोष्ठ स्थित स्रोतों का मुख खुल जाय तो भी वे दोष वहकर बाहर आ जाते हैं। मल का निष्क्रमण करने वाला वायु प्रतिलोम हुआ तो मल बाहर निकलने हेतु कोष्ठ में न आवेंजे किन्तु यदि प्रतीकार द्वारा अनुलोम हो जाय तो कोष्ठ में आ जायेंगे।

दोषों के प्रसर के कारण कुछ लक्षण उत्पन्न होते हैं जो उस अवस्था के द्योतक हैं। वात की प्रसरावस्था के कारण वायु का विमार्गगामी होना अर्थात् ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक गति करना, व पेट में अफरा एवं गुड़गुड़ाहट आदि, पित्त की प्रसरावस्था के कारण शरीर में उष्णता की प्रतीति, चूषणवत वेदना, सर्वांग दाह, धूमोद्गार आदि तथा श्लेष्मा की प्रसरावस्था के कारण अरुचि अजीर्ण, भोजन का सम्यग् पाक न होना, अंगों का थकना तथा वमन आदि लक्षण उत्पन्न होना चिकित्सकों का तृतीय अवसर होता है तथा दोष प्रसरित होते हैं इसलिए इस अवस्था को तृतीय या प्रसर क्रियाकाल कहते हैं।

चतुर्थ क्रियाकाल (स्थान संश्रयावस्था)

दोषों के वृद्धि के शमनार्थ यदि तृतीय काल के अन्त तक कोई सम्यग् आहार-विहार एवं औषधि व्यवस्था प्राप्त न हो सके तो शरीरस्थ दोष सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमित होते हुए अवस्थान विशिष्ट पर स्रोतो वैगुण्य के कारण स्थित हो वहां के दूष्यों को दूषित कर उनमें सम्प्रवर्त हो व्याधि उत्पन्न करते हैं—इसे दोषों की स्थान संश्रयावस्था कहते हैं। संहिताकारों के उपर्युक्त मत पर टीका करते हुए डल्हण का कथन है कि दोष स्थान संश्रयावस्था में प्रसरित होते हुए स्रोतगत विकृति के कारण जिस स्थान पर अवरुद्ध हो जाते हैं यही स्थान संश्रय कहा जाता है। इस घटना की तुलना आकाश में घूमते हुए बादलों के एक स्थान को प्राप्त कर उस स्थान पर ही वृष्टि से की जा सकती हैं। इस प्रकार स्रोतोवैगुण्य से प्रकुपित दोष अब उदर में अवरुद्ध होने पर गुल्म, विद्रधि, उदररोग, मंदाग्नि, आध्मान, विसूचिका, प्रवाहिका, अतीसार आदि रोगों को वस्ति तथा मूत्रमार्ग में अवरुद्ध होने पर प्रमेह अश्मरी मूत्राघात, मूत्रदोष, आदि व्याधियों को, शिश्न में अवरुद्ध होने पर निरुद्ध प्रकर्श, उपदंश, शूक आदि, गुद में अवरुद्ध होने पर भगन्दर अर्शादिक विकारों को, वृषण में अवरुद्ध होने पर वृद्धि रोगों को, उर्ध्वांग में अवरुद्ध के कारण उर्ध्व जत्रुग रोगों को, त्वचा, मांस एवं शोणित में अवरुद्ध होने पर कुष्ठ विसर्प तथा क्षुद्र रोगों को, मेद में अवरोध होने पर ग्रन्थि, अपची, गलगंड, अलजी आदि रोगों को, अस्थि के अवरोध होने पर विद्रधि, अनुशयी आदि रोगों को, पैर में अवरोध होने पर श्लीपद, वातरक्त, वातकटंक आदि रोगों को और सर्वांग में स्रोतोवरोध के कारण सर्वांगीण वात व्याधि, प्रमेह, पाण्डु रोग, शोथ आदि सर्वांगगत रोगों को उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था में भविष्य में उत्पन्न होने वाले रोगों के अव्यक्त लक्षण उत्पन्न होने के कारण इसे रोगों की पूर्वावस्था तथा इसी अवस्था में प्रकुपित दोषों के दूष्यों से सम्पर्क स्थापित होने के कारण इसे दोष दूष्य सम्मूर्च्छनावस्था भी कहते है।

पंचम क्रियाकाल (व्यक्तावस्था)

उपर्युक्त अवस्था तक यदि प्रकुपित दोषों की चिकित्सा न हो तो दोषों द्वारा ज्वर अतीसार, शोथ, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि एवं विसर्पादिक रोगों के लक्षण व्यक्त हो जाते हैं अतः इसे व्यक्त अवस्था कहते हैं। माधवकार ने इसे व्यक्त, सम,संस्थान,व्यंजन, लिंग, चिन्ह, आकृति संज्ञायें भी प्रदान की हैं। इसे व्याधिदर्शन की अवस्था भी कहा जाता है। चिकित्सा का यह पंचम अवसर होने के कारण इसे पंचम क्रियाकाल कहते हैं। दोष वैषम्य की यह प्रकर्षावस्था है इसी अवस्था को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने कहा है कि दोषों के वैषम्य का उत्तरकालीन परिणाम है यद्यपि रोग सूक्ष्मरूप में पहले से शरीर में स्थित कायम होकर शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होता है तथापि इस अवस्था में वह विकसित होकर विभिन्न रोगों के नाम से कहा जाता है।

षष्ठ क्रियाकाल (भेदावस्था)

व्याधि के लक्षण व्यक्त होने पर भी यदि प्रकुपित दोषों की चिकित्सा की उचित व्यवस्था न की जाय तो भेद अवस्था उत्पन्न होती है। इस अवस्था में शोथादि विदीर्ण होकर व्रण रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और व्याधियां दीर्घकालानुवन्धिनि अथवा जीर्ण हो जाती हैं। इस अवसर पर की जाने वाली चिकित्सा की व्यवस्था को षष्ठ क्रियाकाल कहते हैं। इस समय भी उचित व्यवस्था न होने पर रोग जीर्णावस्था को प्राप्त होते हैं।

व्रण-विज्ञान

स्नातक सुरेशचन्द्र वैद्य आयुर्वेद शिरोमणि (वृन्दावन)
वैद्य विष्णुनारायण शर्मा वैद्य विशारद (विद्यापीठ), भूषण प्रयोगशाला, हाथरस

*

व्रण शब्द की निरुक्ति—सुश्रुत संहिता के २१ वें अध्याय में लिखा है:—

वृणोति यस्माद् रूढोऽपि व्रणवस्तु न नश्यति ।
आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥

रूढ हो जाने (भर जाने) पर भी जो अपने स्थान को आच्छादित किये रहता है तथा जहां बनी हुई व्रणवस्तु जीवनभर नष्ट नहीं होती उस स्थान को विद्वानों द्वारा व्रण कहा जाता है। अर्थात् वह घेरा जहां बाद में व्रण-वस्तु (स्कार टिश्यू) बनती है, व्रण कहलाता है। व्याकरण में व्रण शब्द गात्रविचूर्णन अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी को अंगरेजी में डिस्सौल्यूशन आफ दि स्किन या म्यूकस मेम्ब्रेन कहते हैं। व्रणायतीति व्रण: गात्रविचूर्णन में जो भाग लेता है वह व्रण है। व्रण को अंगरेजी में अल्सर कहते हैं। इसकी परिभाषा यह दी है:—

Ulcer—An upen lesion upon the skin or mucous membrane of the body, with loss of substance, accompanied by formation of pus. एक खुला हुआ क्षत जो शरीर की त्वचा या श्लेष्मलकला पर बनता है, जहां से शरीर का कुछ पदार्थ नष्ट हो जाता है तथा जिसके साथ पूय की उत्पत्ति होती है। वाग्भट ने व्रण की उत्पत्ति में शोथ (सूजन) और पाक पूयोत्पत्ति दोनों को स्वीकार किया है—व्रण: संजायते प्रायः पाकात् श्वयथुपूर्वकात् ।

व्रणवस्तु—इसका एक अर्थ तो स्कार टिश्यू ऊपर दिया है जिसे सिकैट्रिक्स भी कहते हैं किन्तु इसको डल्हण ने सुश्रुत का तात्पर्य समझकर व्रणवस्तूनि व्रणधिष्ठानानि माना है। व्रणवस्तु वह स्थल जहां व्रण का अधिष्ठान हो व्रण रहे। व्रण का क्षेत्र जहां पूयन होता है और ऊतकों की टूट-फूट होती है, व्रणवस्तु कहलाता है। यही जब क्षेत्र भर जाता है तब उस पर फाइब्रसटिश्यू (तान्तव ऊतक) का आवरण चढ़ जाता है। उस आवरण या स्कार को भी व्रणवस्तु कहते हैं। व्रण के अधिष्ठान के रूप में व्रणवस्तु का विवरण सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान के २२वें अध्याय में आरम्भ में ही दिया है और उसमें सर्वव्रण-सन्निवेश स्वीकार किया है।

त्वङ्मांस सिरा स्नायु अस्थि सन्धि कोष्ठ मर्माणि इति अष्टौ व्रणवस्तूनि, अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः ॥

८ व्रणस्थान व्रणाश्रय या व्रणाधिष्ठान—चरक संहिता चिकित्सास्थान अध्याय २५ में उपर्युक्त सुश्रुतोक्त ८ व्रणवस्तुओं को सन्धि के स्थान पर भेद देते हुए उन्हें व्रणस्थान या व्रणाश्रय स्वीकार किया गया है:—

त्वक् सिरामांस मेदोऽस्थि स्नायुमर्मान्तिराश्रयाः ।
व्रणस्थानानि निर्दिष्टानि अष्टौ एतानि संग्रहे ॥

इस प्रकार—

१. त्वचा
२. सिरा अर्थात् रक्तवाहिकाएं
३. मांस
४. मेदोधातु (सुपरफीशियल या डीप फेशिया जहां मेद रहता है)

५. अस्थि (हड्डी) के अन्दर मज्जा में या ऊपर पेरीऑस्टियम या अस्थि के अपने भाग में । अस्थि के साथ ही सन्धि भी आ जाती है । दो अस्थियों के सिरे जहां जुड़ते हैं वहां की कोमल उतकों और कला तथा वन्धक लिगामेंट्स में भी व्रण का स्थान हो जाता है ।

६. स्नायु—इसमें नर्वों, टेंडनों, लिगामेंटों सभी का सन्निवेश माना जा सकता है ।

७. मर्म या वाइटल पार्ट सिर, हृदय और वस्ति

८. कोष्ठ या अन्तराश्रय—शरीर के भीतरी भाग कोष्ठांग आदि यकृत्, प्लीहा, अग्न्याशय, आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय आदि ।

इन व्रणाधिष्ठानों में बनने वाले व्रणों में—तत्राद्यैकवास्तुसन्निवेशी त्वग्भेदी व्रणः सूपचरः—आदि की एक वस्तु में स्थित त्वचा का भेदन करने वाले व्रण का आसानी से उपचार हो जाता है इसीलिए उसे सूपचर (सु=अच्छी तरह, उपचरः=उपचार जिसका हो सके) कहा जाता है शेष दुरुपचार कहे जाते हैं जो त्वचा के अतिरिक्त अन्यत्र बनते हैं तथा जो स्वयमेव विनाशस्त्र वा औषध प्रयोग के अवदीर्ण हो (फट) जाते हैं ।

व्रणों के विविध प्रकार

व्रणों के २ प्रकार

(१) निजव्रण अर्थात् शरीर दोषोत्थ व्रण

(२) आगन्तुव्रण अर्थात् बाह्यहेतुज व्रण

इस प्रकार निज और आगन्तु करके व्रणों के दो प्राथमिक भेद चरक सुश्रुत वाग्भटादि ने स्वीकार किये हैं।

निज व्रण—अपने-अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुए वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष अलग-अलग या मिलमिलकर शरीर के अन्दर से बाहर की ओर जब अपना मार्ग बनाते हैं तब निजव्रण उत्पन्न होते हैं । इन निज व्रणों में एक-एक दोष से ३ प्रकार के जो व्रण बनते हैं, उनके लक्षण शास्त्रकारों ने इन शब्दों में दिये हैं:—

१. वातज व्रण—इस व्रण में स्तब्धता, कठिन संस्पर्श, मन्द-मन्द स्राव होना, बहुत अधिक पीड़ा का होना, तोद, स्फुरण का जाना तथा वर्ण का श्याव होना मिलता है ।

२. पित्तज व्रण—इसमें तृष्णा, मोह, ज्वर, स्वेद, दुष्टावदारण, गन्ध का पाया जाना तथा पूतियुक्त स्राव का होना मिलता है ।

३. कफज व्रण—इस व्रण में पिच्छा बहुत होता है, व्रण भारी, स्निग्ध, भीगा-भीगा, मन्दवेदना वाला, अल्पक्लेदयुक्त, देर तक रहने वाला और पाण्डुवर्ण का होता है।

वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने इन निजव्रणों के १५ भेद गिनाए हैं तथा दोषज व्रणों के जो उसने लक्षण लिखे हैं वे काफी व्यापक और पूर्ण हैं:—

१. वातज व्रण का वर्ण—(i) श्याव (ii) कृष्ण (iii) अरुण (iv) भस्मकपोतास्थि के सदृश (v) दधिमस्तु [दही के पानी] (vi) मांसोदक (vii) चावल का मण्ड [पुलाक] (viii) गुड़ (ix) क्षारोदक इनमें से किसी भी प्रकार का हो सकता है । व्रण देखने में रूक्ष होता है; इसमें चटचट शब्द भी हो सकता है । वातज व्रण निर्मांस या मांस रहित व्रण है । इससे तनु (पतला) और अल्प (थोड़ा) स्राव (डिस्चार्ज) होता है । चरक ने जिसे स्तब्ध लिखा है उसे वृद्धवाग्भट ने स्वापबहुल (अत्यधिक सुन्न या संज्ञाहीन) बतलाया है । वाग्भट ने इस लक्षण को गोल कर दिया है क्योंकि उसके मत में वातव्रण में पीड़ा का प्रमुख स्थान होता है । चरक और वृद्ध वाग्भट दोनों ही पीड़ा और स्वाप दोनों की उपस्थित इस व्रण में मानते हैं । पीड़ा या वेदना के विविध रूप तीनों ने स्वीकार किये हैं—तोदभेदाढ्य (वाग्भट) अकस्माद् विविधशूलस्फुरणायामतोदभेदबहुता (वृद्धवाग्भट) अतितीव्ररुक्—तुद्यते स्फुरति (चरक)

२. पित्तजव्रण का वर्ण—(i) पीत (ii) नील (iii) कपिल (iv) पिङ्गल (v) गोमूत्राभ (vi) किंशुक [ढाक के फूल] के पानी जैसा (vii) मास्मोदक (viii) तैल (ix) हरित (x) कृष्ण (xi) शंखोदक (xii) मृद्वीका [मुनक्का] जैसा होता है । यह शीघ्र उत्पन्न होने वाला [क्षिप्रज] व्रण है इससे गरम-गरम और बहुत सा स्राव होता है इसमें वेदनाएं इतनी तीक्ष्ण होती हैं जैसी कि घाव में क्षार लगाने से मिलती हैं—क्षारोक्षितक्षतसमव्यथो रागोष्मपाकवान् । लाली ऊष्मा और पाक के लक्षण इन्फ्लेमेशन के ही चिन्ह हैं । वृद्धवाग्भट इसे पिडिकाजुष्ट फुंसियों या रैश (Rash) से व्याप्त मानता है । वहीं चरक

की हां में हां मिलाता हुआ दाहोषाज्वररागपाकावदरण और धूमायनान्वित भी मानता है।

३. कफजव्रण का वर्ण—पाण्डु (पीलाई लिए सफेद) तथा बहुश्वेत (दूधिया) माना गया है। वृद्धवाग्भट ने इस व्रण को (i) नवनीत (ii) वसा (iii) मज्जा (iv) पिसे हुए तिल (v) नारियल के पानी जैसा माना है इसे शीतल बहल (गाढ़ा) और पिच्छिल (चिपचिपा) क्लेद या स्राव बतलाया है। इसी को वाग्भट ने बहुश्वेत घनस्रुति कहा है। व्रण के ओष्ठों को मोटा (स्थूलौष्ठ) कहा है। इसमें वेदना मन्द (अल्परुक्) होती है तथा दबाने से यह कठिन होता है। यह स्वाप (सुन्नता) युक्त, स्तम्भयुक्त, भीगा-भीगा भारी होता है। यह व्रण सिरा और स्नायुओं के जालों में भरा रहता है।

४. रक्तजव्रण—का वर्ण मूंगा की शाखाओं के रंग जैसा होता है। काले फोड़े और फुंसियों से भरा हुआ, घुड़साल में जैसी गन्ध आती है उससे युक्त तथा जिसमें पित्तज व्रण के भी सभी लक्षण मिलते है और इससे रक्त और पूय दोनों का एक साथ स्राव होता है।

५. वातपित्तज व्रण—पीतारुणाभ तथा इन्हीं वर्णों के स्राव से युक्त, तोद-दाह तथा धूमायन से युक्त होता है।

६. वातकफज व्रण—इसमें तोद बहुत होता है। खुजली खूब आती है, स्राव शीतल और पिच्छिल होता है।

७. पित्तकफज व्रण—यह पीले रंग का तथा पांडु-वर्ण के स्राव वाला गुरु, उष्ण तथा दाह वाला होता है।

८. वातरक्तज व्रण—लाल और अरुण वर्ण का तथा लालअरुणवर्ण के स्राव से युक्त, रूक्ष-तनु-तोदबहुल और सुप्त जैसा होता है।

९. पित्तरक्तज व्रण—का वर्ण घृत के मण्डजैसा, मछली धोने के पानी जैसी गन्धवाला, काले रंग का गरम स्राव इससे निकलता रहता है और यह फैलने वाला होता है।

१०. कफरक्तज व्रण—लाल रंग का, गुरु, पिच्छिल, कण्डूयुक्त, स्थिर तथा सरक्तपाण्डुवर्ण का स्राव इससे निकलता है।

११. वातपित्तरक्तज व्रण—पीततनुरक्त का स्राव इससे होता रहता है तथा स्फुरण तोद दाह तथा धूमायन से युक्त होता है।

१२. वातकफरक्तज व्रण—इससे पाण्डु घन रक्त का स्राव होता है तथा कण्डु, स्फुरण और चुमचुमायन अधिक होते है।

१३. कफपित्तरक्तज व्रण—पाण्डुघनरक्तास्रावी यह भी होता है तथा इसमें दाह, पाक, राग और कण्डूयुक्त होता है।

१४. वातपित्तकफज व्रण—तीनों प्रकार के वर्ण वाला, तीनों प्रकार के वर्ण के स्राव वाला तथा विविध प्रकार की वेदना वाला होता है।

१५. वातपित्तकफरक्तज व्रण—यह भी नानावर्ण वेदना और स्राव वाला होता है इसमें निर्दहन, निर्मथन, स्फुरण, तोद, दाह, पाक, राग, कण्डु और स्वापबाहुल्य होता है।

विविध आशयों से सन्बन्धित व्रण

१. त्वगाश्रित व्रण—घिसी फटी त्वचा से पानी जैसा स्राव निकलता है जिसमें विस्र (आम) की गन्ध आती है तथा रंग पीलाई लिए होता है।

२. मांसाश्रित व्रण—घी जैसा स्राव होता है जो गाढा तथा पिच्छिल होता है।

३. सिरागत व्रण—तत्काल कटी सिरा से अत्यधिक रक्त की प्रवृत्ति होती है। पक जाने पर जल वाहिनी नाड़ी जैसा जल और पूय निकलता है वह स्राव तनु, पिच्छिल, अवलम्बी और श्याव होता है।

४. स्नायुगत व्रण—से स्राव स्निग्ध, सघन, नासा-स्राव (सिंघाणक) जैसा और रक्तयुक्त होता है।

५. सन्धिगतव्रण—पास में दबाने पर कुछ नहीं निकलता। आकुंचन, प्रसरण, उन्नमन, विनमन, प्रवाहणादि कार्यों के करते समय पिच्छिल, अवलम्बी और रुधिर मिश्रित स्राव निकलता है।

६. अस्थिगत व्रण—चोट लगने पर हड्डी के टूट जाने पर या दोषों के कोप से अस्थि के फट जाने पर निस्सार स्निग्ध स्राव निकलता है उसमें मज्जा और रक्त मिला हुआ होता है।

५. अस्थि (हड्डी) के अन्दर मज्जा में या ऊपर पेरीऑस्टियम या अस्थि के अपने भाग में। अस्थि के साथ ही सन्धि भी आ जाती है। दो अस्थियों के सिरे जहां जुड़ते हैं वहां की कोमल उतकों और कला तथा बन्धक लिगामेंट्स में भी व्रण का स्थान हो जाता है।

६. स्नायु—इसमें नर्वों, टेंडनों, लिगामेंटों सभी का सन्निवेश माना जा सकता है।

७. मर्म या वाइटल पार्ट सिर, हृदय और वस्ति

८. कोष्ठ या अन्तराश्रय—शरीर के भीतरी भाग कोष्ठांग आदि यकृत्, प्लीहा, अग्नाशय, आमाशय, पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय आदि।

इन व्रणाधिष्ठानों में वनने वाले व्रणों में—तत्राधैकवास्तुसन्निवेशी त्वग्भेदी व्रणः सूपचरः—आदि की एक वस्तु में स्थित त्वचा का भेदन करने वाले व्रण का आसानी से उपचार हो जाता है इसीलिए उसे सूपचर (सु=अच्छी तरह, उपचरः=उपचार जिसका हो सके) कहा जाता है शेप दुरुपचार कहे जाते हैं जो त्वचा के अतिरिक्त अन्यत्र वनते हैं तथा जो स्वयमेव विनाशस्त्र वा औषध प्रयोग के अवदीर्ण हो (फट) जाते हैं।

व्रणों के विविध प्रकार

व्रणों के २ प्रकार

(१) निजव्रण अर्थात् शरीर दोषोत्थ व्रण

(२) आगन्तुव्रण अर्थात् वाह्यहेतुज व्रण

इस प्रकार निज और आगन्तु करके व्रणों के दो प्रायमिक भेद चरक सुश्रुत वाग्भटादि ने स्वीकार किये हैं।

निज व्रण—अपने-अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुए वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष अलग-अलग या मिलमिलकर शरीर के अन्दर से वाहर की ओर जव अपना मार्ग वनाते हैं तव निजव्रण उत्पन्न होते हैं। इन निज व्रणों में एक-एक दोष से ३ प्रकार के जो व्रण वनते हैं, उनके लक्षण शास्त्रकारों ने इन शब्दों में दिये हैं:—

१. वातज व्रण—इस व्रण में स्तब्धता, कठिन संस्पर्श, मन्द-मन्द स्राव होना, वहुत अधिक पीड़ा का होना, तोद, स्फुरण का जाना तथा वर्ण का श्याव होना मिलता है।

२. पित्तज व्रण—इसमें तृष्णा, मोह, ज्वर, स्वेद, दुष्टावदारण, गन्ध का पाया जाना तथा पूतियुक्त स्राव का होना मिलता है।

३. कफज व्रण—इस व्रण में पिच्छा वहुत होता है, व्रण भारी, स्निग्ध, भीगा-भीगा, मन्दवेदना वाला, अल्पक्लेदयुक्त, देर तक रहने वाला और पाण्डुवर्ण का होता है।

वृद्धवाग्भट तथा वाग्भट ने इन निजव्रणों के १५ भेद गिनाए हैं तथा दोषज व्रणों के जो उसने लक्षण लिखे हैं वे काफी व्यापक और पूर्ण हैं:—

१. वातज व्रण का वर्ण—(i) श्याव (ii) कृष्ण (iii) अरुण (iv) भस्मकपोतास्थि के सदृश (v) दधिमस्तु [दही के पानी] (vi) मांसोदक (vii) चावल का मण्ड [पुलाक] (viii) गुड़ (ix) क्षारोदक इनमें से किसी भी प्रकार का हो सकता है। व्रण देखने में रूक्ष होता है; इसमें चट्चट शब्द भी हो सकता है। वातज व्रण निर्मांस या मांस रहित व्रण है। इससे तनु (पतला) और अल्प (थोड़ा) स्राव (डिस्चार्ज) होता है। चरक ने जिसे स्तब्ध लिखा है उसे वृद्धवाग्भट ने स्वापवहुल (अत्यधिक सुन्न या संज्ञाहीन) वतलाया है। वाग्भट ने इस लक्षण को गोल कर दिया है क्योंकि उसके मत में वातव्रण में पीड़ा का प्रमुख स्थान होता है। चरक और वृद्ध वाग्भट दोनों ही पीड़ा और स्वाप दोनों की उपस्थित इस व्रण में मानते हैं। पीड़ा या वेदना के विविध रूप तीनों ने स्वीकार किये हैं—तोदभेदाढ्य (वाग्भट) अकस्माद् विविधशूलस्फुरणायामतोदभेदवहुता (वृद्धवाग्भट) अतितीव्ररुक्—तुद्यते स्फुरति (चरक)

२. पित्तजव्रण का वर्ण—(i) पीत (ii) नील (iii) कपिल (iv) पिङ्गल (v) गोमूत्राभ (vi) किंशुक [ढाक के फूल] के पानी जैसा (vii) भास्मोदक (viii) तैल (ix) हरित (x) कृष्ण (xi) शंखोदक (xii) मृद्वीका [मुनक्का] जैसा होता है। यह शीघ्र उत्पन्न होने वाला [क्षिप्रज] व्रण है इससे गरम-गरम और वहुत सा स्राव होता है इसमें वेदनाएं इतनी तीक्ष्ण होती हैं जैसी कि घाव में क्षार लगाने से मिलती हैं—क्षारोक्षितक्षतसमव्यथो रागोष्मपाकवान्। लाली ऊष्मा और पाक के लक्षण इन्फ्लेमेशन के ही चिन्ह हैं। वृद्धवाग्भट इसे पिडिकाजुष्ट फुंसियों या रैश (Rash) से व्याप्त मानता है। वही चरक

की हां में हां मिलाता हुआ दाहोषाज्वररागपाकावदरण और धूमायनान्वित भी मानता है।

३. **कफजव्रण का वर्ण**—पाण्डु (पीलाई लिए सफेद) तथा बहुश्वेत (दूधिया) माना गया है। वृद्धवाग्भट ने इस व्रण को (i) नवनीत (ii) वसा (iii) मज्जा (iv) पिसे हुए तिल (v) नारियल के पानी जैसा माना है इसे शीतल बहल (गाढ़ा) और पिच्छिल (चिपचिपा) क्लेद या स्राव बतलाया है। इसी को वाग्भट ने बहुश्वेत घनस्रुति कहा है। व्रण के ओष्ठों को मोटा (स्थूलौष्ठ) कहा है। इसमें वेदना मन्द (अल्परुक्) होती है तथा दबाने से यह कठिन होता है। यह स्वाप (सुन्नता) युक्त, स्तम्भयुक्त, भीगा-भीगा भारी होता है। यह व्रण सिरा और स्नायुओं के जालों में भरा रहता है।

४. **रक्तजव्रण**—का वर्ण मूंगा की शाखाओं के रंग जैसा होता है। काले फोड़े और फुंसियों से भरा हुआ, घुड़साल में जैसी गन्ध आती है उससे युक्त तथा जिसमें पित्तज व्रण के भी सभी लक्षण मिलते हैं और इससे रक्त और पूय दोनों का एक साथ स्राव होता है।

५. **वातपित्तज व्रण**—पीतारुणाभ तथा इन्हीं वर्णों के स्राव से युक्त, तोद-दाह तथा धूमायन से युक्त होता है।

६. **वातकफज व्रण**—इसमें तोद बहुत होता है। खुजली खूब आती है, स्राव शीतल और पिच्छिल होता है।

७. **पित्तकफज व्रण**—यह पीले-रंग का तथा पांडु-वर्ण के स्राव वाला गुरु, उष्ण तथा दाह वाला होता है।

८. **वातरक्तज व्रण**—लाल और अरुण वर्ण का तथा लालअरुणवर्ण के स्राव से युक्त, रूक्ष-तनु-तोदबहुल और सुप्त जैसा होता है।

९. **पित्तरक्तज व्रण**—का वर्ण घृत के मण्डजैसा, मछली धोने के पानी जैसी गन्धवाला, काले रंग का गरम स्राव इससे निकलता रहता है और यह फैलने वाला होता है।

१०. **कफरक्तज व्रण**—लाल रंग का, गुरु, पिच्छिल, कण्डूयुक्त, स्थिर तथा सरक्तपाण्डुवर्ण का स्राव इससे निकलता है।

११. **वातपित्तरक्तज व्रण**—पीततनुरक्त का स्राव इससे होता रहता है तथा स्फुरण तोद दाह तथा धूमायन से युक्त होता है।

१२. **वातकफरक्तज व्रण**—इससे पाण्डु घन रक्त का स्राव होता है तथा कण्डु, स्फुरण और चुमचुमायन अधिक होते हैं।

१३. **कफपित्तरक्तज व्रण**—पाण्डुघनरक्तास्रावी यह भी होता है तथा इसमें दाह, पाक, राग और कण्डूयुक्त होता है।

१४. **वातपित्तकफज व्रण**—तीनों प्रकार के वर्ण वाला, तीनों प्रकार के वर्ण के स्राव वाला तथा विविध प्रकार की वेदना वाला होता है।

१५. **वातपित्तकफरक्तज व्रण**—यह भी नानावर्ण वेदना और स्राव वाला होता है इसमें निर्दहन, निर्मथन, स्फुरण, तोद, दाह, पाक, राग, कण्डू और स्वापबाहुल्य होता है।

विविध आशयों से सम्बन्धित व्रण

१. **त्वगाश्रित व्रण**—घिसी फटी त्वचा से पानी जैसा स्राव निकलता है जिसमें विस्र (आम) की गन्ध आती है तथा रंग पीलाई लिए होता है।

२. **मांसाश्रित व्रण**—घी जैसा स्राव होता है जो गाढा तथा पिच्छिल होता है।

३. **सिरागत व्रण**—तत्काल कटी सिरा से अत्यधिक रक्त की प्रवृत्ति होती है। पक जाने पर जल वाहिनी नाड़ी जैसा जल और पूय निकलता है वह स्राव तनु, पिच्छिल, अवलम्बी और श्याव होता है।

४. **स्नायुगत व्रण**—से स्राव स्निग्ध, सघन, नासा-स्राव (सिंघाणक) जैसा और रक्तयुक्त होता है।

५. **सन्धिगतव्रण**—पास में दबाने पर कुछ नहीं निकलता। आकुंचन, प्रसरण, उन्नमन, विनमन, प्रवाहणादि कार्यों के करते समय पिच्छिल, अवलम्बी और रुधिर मिश्रित स्राव निकलता है।

६. **अस्थिगत व्रण**—चोट लगने पर हड्डी के टूट जाने पर या दोषों के कोप से अस्थि के फट जाने पर निस्सार स्निग्ध स्राव निकलता है उसमें मज्जा और रक्त मिला हुआ होता है।

७. कोष्ठाश्रित व्रण—कोष्ठ से सम्बन्धित जो भी व्रण होता है उसमें मूत्राशय के पास रहने से मूत्र और मलाशय के पास रहने से पुरीष तो निकलते ही हैं स्राव में रुधिर और पूय भी रहता है।

८. मर्मगत व्रण—इसका अन्तर्भाव त्वचा, मांस, स्नायु आदि में जिस ऊनक या धातु से सम्बद्ध व्रण होता है उसके अनुसार लक्षण जो ऊपर कहे गये हैं तत्तत् मर्म सम्बन्धी व्रण में वे लक्षण पाये जाते हैं।

इनकी साध्या-साध्यता यथा पूर्व होती है अर्थात् त्वग्गत और मांसगत जितने साध्य हैं इतने उतने उनके आगे वाले व्रण नहीं, कोष्ठगत और मर्मगत तो सर्वाधिक कष्टसाध्य माने जाते हैं।

ये व्रण स्वरूप में i. आयताकार ii. चौकोण वर्गाकार iii. वृत्त या गोल iv. तथा त्रिपुटक तिकोने या तीन पुटी युक्त होते हैं। दोषज व्रण स्वयं फटते हैं वैद्यकृत शस्त्र द्वारा फाड़कर बनाये जाते हैं।

सुचिकित्स्य और दुश्चिकित्स्य व्रण

वृद्धवाग्भट ने वयस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्यवतां दीप्ताग्नीनां च व्रणाः सुचिकित्स्याः लिखा है। अर्थात् वयस्थ (नौजवान), दृढ, प्राणवान्, मनोबल अधिक होना दीप्त है अग्नि जिनकी उनके व्रण सुचिकित्स्य अर्थात् साध्य होते हैं। वयस्थों में धातुओं की शुद्धता या प्रौढ़ता के कारण व्रण शीघ्र भरता है। दृढों में मांस की उपचितता के कारण व्रण केवल मांस तक ही रहता है सिरा स्नायु आदि नहीं कटते। प्राणवान् को व्रण होने पर उसकी वेदना आहार का नियन्त्रण तथा विहार का नियन्त्रण कष्ट नहीं देता और रोगी को कोई ग्लानि या कष्ट अधिक अनुभव नहीं होता। मनोबल जिसका प्रवर है कितनी ही कष्टदायक शस्त्र चिकित्सा की जावे उसे विशेष व्यथा नहीं व्यापती, तथा जिसकी अग्नि दीप्त हो उसकी देह में क्लिन्नता नहीं होती तथा प्राकृतिक रूप से भी क्लेद का शरीर में बाहुल्य न होने से क्लेदजन्य व्रण के स्राव में दुर्गन्धि आदि अशुद्धि अधिक न पनपने से मांस में उपद्रव नहीं होते और व्रण जल्दी भर जाता है। ये सभी गुण वृद्ध, कृश, अल्पप्राण, भीरु, मन्दाग्नि, प्रक्लेद देश काल वालों में विपरीत होने से उनके व्रण दुश्चितिस्य होते हैं।

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्।
व्रण-कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां च स्युः व्रणे व्रणाः॥

कुष्ठियों, विष से पीड़ितों के शोष या ट्यूबर्क्युलोसिस से पीड़ितों के मधुमेहियों, डाबिटीज मेलाइटिज से आक्रान्त रोगियों के तथा जिनके व्रणों में व्रण उत्पन्न हो गये हैं उनकी सिद्धि बहुत कष्ट से होती है। अंगों के अनुसार भी व्रणों की सुखसाध्यता तथा कष्टसाध्यता का वर्गीकरण किया जाता है।

याप्य व्रण—वे होते हैं जो जब तक उपचार किया किया जावे तब तक तो शान्त रहते हैं, किन्तु बाद उपचार बन्द होने पर पुनः कष्ट देने लगते हैं। ये निम्नांकित रोगों या स्थानों में होते हैं:—

अंग नाम	सुचिकित्स्य व्रण	अंग नाम	दुश्चिकित्स्य व्रण
ललाट	,,	आंख	,,
गण्ड	,,	दांत	,,
ओष्ट	,,	नासा	,,
पृष्ठ	,,	अपांग	,,
कर्ण	,,	कर्ण	,,
फलकोश	,,	नाभि	,,
स्फिक्	,,	उदर	,,

पायु	,,	सेवनी	,,
प्रजननांग	,,	नितम्ब	,,
उदर	,,	पार्श्व	,,
जत्रु	,,	कुक्षि	,,
मुखाभ्यन्तर	,,	वक्ष	,,
		कक्षा	,,
		स्तन	,,
		सन्धि	,,
		रोमान्त	,,
		उपनख	,,
		मर्म	,,
		जंघास्थि	,,

(i) अवपाटिका
(ii) निरुद्ध मणि
(iii) रुद्धगुद
(iv) व्रण ग्रन्थि इत्यादि

असाध्य व्रण—व्रणों की अनेक ऐसी परिस्थितियां अष्टांगसंग्रह में वतलाई हैं जो असाध्यता की ओर ले जाती हैं। ये हैं :—

१. जब, मांसपिण्ड के समान व्रण ऊपर को उठा हो;

२. जिससे स्राव लगातार होता चला जाता हो;

३. अन्दर जिनके पूय भरा हो और जिनमें वेदना बहुत हो;

४. अपान या गुद के समान पाठ अश्वापान होने पर घोडी की योनि के समान जिसके ओष्ठ ऊपर को उठे हों;

५. ऐसे व्रण जो कठिन हों गाय के सींग के समान उठे हुए हों और जिनसे मृदुमांस प्ररोह निकल रहे हों;

६. दुष्ट (पूतियुक्त) रुधिर जिनसे निकल रहा हो;

७. पतला शीतल पिच्छिल स्राव जिनसे लगातार वहता हो;

८. या जो आजू-बाजू, नीचे और वीच में उठे हुए हों;

९. जिसका बाह्य किनारों वाला भाग दवा हुआ और सुषिर हो;

१०. जिसमें सन के सूत्र जैसा स्नायु जाल बिछा हो;

११. जो देखने में भयानक हो;

१२. ऐसे दोषोत्थित व्रण जिनसे वसा, मेदा, मज्जा, या मस्तुलुंग का स्राव होता हो;

१३. ऐसे कोष्ठस्थ व्रण जिनसे पीला, काला स्राव मूत्र, पुरीष तथा वात का वहन होता हो;

१४. रक्ताशय में उत्पन्न ऐसे व्रण जिनसे क्षारोदक जैसा स्राव बहता हो;

१५. आमाशय में उत्पन्न ऐसे व्रण जिनसे मटर के पानी जैसा स्राव बहता हो;

१६. पक्वाशय में उत्पन्त चावल के मण्ड (पुलाकाम्बु) सदृश जिनसे स्राव बहता हो;

१७. जिनका मांसक्षीण हो गया है ऐसे रोगियों के चारों ओर फैलने वाले छोटे मुख वाले मांस के प्ररोह बुलबुलों से युक्त;

१८. सिर तथा कण्ठ के ऐसे व्रण जिनसे आवाज आती हो और हवा निकलती हो;

१९. ऐसे व्रण जिनसे पूय और रक्त निकलता हो अरुचि कास श्वास के उपद्रव साथ में हों;

२०. ऐसे व्रण जिनके साथ विसर्प, ज्वर, पिपासा, अरोचक, अविपाक, कास, श्वास, अतीसार, छर्दि से जो युक्त हों;

२१. खोपड़ी के विदीर्ण या भिन्न हो जाने पर जहां मस्तुलुंग का दर्शन होता हो;

२२. ऐसे व्रण जिनके साथ त्रिदोष या सान्निपातिक अवस्था उत्पन्न हो गई हो;

इनके अतिरिक्त वृद्ध वाग्भट ने कुछ कारण और गिनाए हैं जिनको व्रण का रोहण या रोपण आसानी से नहीं होता। ये नीचे लिखे जाते हैं :—

१. स्नायुछेद (किसी नर्व या लिगामेंट का कट जाना);

२. सिराछेद (किसी रक्तवाहिका का कट जाना);

३. अधिक गम्भीर स्थान में होना;

४. कृमियों से आक्रान्त या भक्षित होना;

५. हड्डी का टूटना (फ्रैक्चर);

६. शल्य का संलग्न होना;

७. विषाक्त होना;

८. व्रण क्यों हुआ इसका कारण मालूम न हो सकना;

९. मिथ्या बन्धन होना;

१०. अति स्नेहन;

११. रूक्षता का होना;

१२. रोमों का अवघट्टन करना;

१३. क्षोभ होना;

१४. अशुद्ध कोष्ठता;

१५. अधिक भोजन;

१६. अति कार्श्य;

१७. मद्यपान;

१८. दिवास्वप्न;

१९. व्यवाय या मैथुन;

२०. अति जागरण;

२१. मिथ्योपचार;

सुश्रुत संहिता में असाध्य व्रण के सम्बन्ध में २ श्लोक इस प्रकार दिये हैं :—

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गञ्च यः स्रवेत् ।
आगन्तुस्तु व्रणः सिध्येन्न सिध्येद्दोषसंभवः ॥
अमर्मोपहिते देशे सिरास्न्वस्थि वर्जिते ।
विकारो योऽनुपर्येति तदसाध्यस्य लक्षणम् ॥

वसा, मेद, मज्जा, मस्तुलुंग जिस आगन्तु व्रण से निकलते हों वह तो साध्य हो सकता है पर जिस में ये दोषों के प्रकोप से निकल रहे हों वह निज व्रण सिद्ध नहीं हो सकता। यदि व्रण मर्मस्थान से दूर बना हो सिरा, सन्धि और अस्थि से भी दूर हो फिर भी चिकित्सा करने पर भी वह बढ़ता चला जा रहा हो तो उसे असाध्य समझना चाहिए।

धीरे-धीरे अपनी जड़ों को फैलाता हुआ जैसे किसी बड़े वृक्ष को उखाड़ना सम्भव नहीं होता वैसे ही क्रमानुक्रम से धातुओं में बढ़ता हुआ व्रण भी शरीर में निर्मूल नहीं हो पाता।

स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च ।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा ॥

यह व्रण धातुओं में आक्रमण करता हुआ स्थिरता और बड़ा हो जाने के कारण औषधियों की कार्यकर शक्ति को उसी प्रकार विफल कर देता है। जैसे दुष्टग्रह मन्त्रों कीशक्ति को।

साध्य व्रण के ३ रूप

सुश्रुतसंहिता में सामान्य व्रण के ३ रूप किए गये हैं:—

(१) शुद्ध व्रण—जिस व्रण में तीनों में से किसी दोष का आक्रमण न हुआ हो, जिसके ओष्ठ श्याव हों, जिसके अन्दर पिडकियाँ या सूक्ष्म मांसाकुर (ग्रेन्युलेशन टिश्यू) बन निकले हों। न जिसमें वेदना हो, न स्राव निकलता हो वह शुद्ध व्रण है।

(२) रुह्यमान व्रण—जिस व्रण का रंग कपोत के समान पाण्डुधूसर हो, जिसके किनारों से क्लेद या स्राव न झरता हो जो स्थिर हो तथा जिसमें पिडिकाओं (ग्रेन्युलेशन टिश्यू) की बहुलता हो उसे रोहण को प्राप्त या रुह्यमान व्रण कह सकते हैं।

(३) सम्यग्रूढ व्रण—जिसके किनारे या वर्त्म भर गये हों, जिसमें कोई गांठ न हो, सूजन न हो, दर्द न हो, जिसका वर्ण त्वचा से मिल गया हो और जिसका तल त्वचा के धरातल के बराबर आगया हो उसे सम्यग्रूढ व्रण कहा जाता है।

कोई भी व्रण जिसे ठीक होना है वह पहले शुद्ध होगा फिर उसमें रोहण का कार्य चलेगा फिर वह भर जायगा इन्हीं तीन अवस्थाओं से प्रत्येक व्रण गुजरता है।

सर्व व्रण वेदना

आयुर्वेदज्ञों ने व्रणों में उत्पन्न होने वाली अनेक वेदनाओं का नामोल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—

I. **वातिक वेदनाएं**

१. तोदन (प्रिकिंग);
२. भेदन (पियर्सिंग);
३. ताडन (थ्रैशिंग);
४. छेदन (कटिंग);
५. आयमन (ऐक्सपेंडिंग);
६. मन्थन (चर्निंग);
७. विक्षेपण (शूटिंग);
८. चुभचुभायन (टिंग्लिंग);
९. निर्दहन (बर्निंग);
१०. अवभञ्जन (ब्रेकिंग);
११. स्फोटन (बस्टिंग);
१२. विदारण (क्रैकिंग);
१३. उत्पाटन (अपरूटिंग);
१४. कम्पन (क्विवरिंग);
१५. विविध प्रकार की वेदनाएं;
१६. विश्लेषण;
१७. विकिरण (शिफ्टिंग);
१८. पूरण (स्टफिंग);
१९. स्तम्भन (इण्ड्यूरेटिंग);
२०. स्वप्न (बिनमिंग);
२१. आकुंचन (कण्ट्रैक्टिंग);
२२. आकुंशिका (स्पाज्मोडिक पेन);
२३. विना कारण भांति-भांति की पीड़ाओं का उत्पन्न होना;
२४. बार-बार विशेष वेदनाओं का उत्पन्न होना;

ये सभी वातिक वेदनाएं हैं।

II. **पैत्तिक वेदनाएं**

१. ओष (बर्निंग) एक देशीय दाह;
२. चोष (सकिंग) आचूषणवत् पीड़ा;
३. परिदाह (बर्निंग एराउण्ड) परिसमन्ततो दाह;
४. धूमायन (संजेशन आफ इन्हेलिंग हॉट विंड और स्मोक);
५. ऐसा ज्ञात होता है कि शरीर पर अंगारे बरस रहे हैं (फ्लशिंग);
६. ऊष्मा (टैम्परेचर) का बढ़ जाना;
७. क्षत में मानो क्षार डाल दिया हो ऐसी वेदना (कॉस्टिक टच)।

ये सभी वेदनाएं पैत्तिक होती हैं अर्थात् व्रण में जब पित्त का प्रकोप विशेष होता है उस समय मिलती हैं।

३. श्लैष्मिक वेदनाएं—

i. कण्डू (इचिंग)।
ii. गुरुत्व (हैवीनैस)।
iii. सुप्तत्व (नमनैस)।
iv. मानो कि कोई लेप चढ़ा दिया गया हो ऐसा आभास।
v. वेदना (पेन) का अल्प (माइल्ड) होना।
vi. स्तब्धता (स्पर्श ज्ञानाभाव)।
vii. शैत्य (कोल्डनैस)।

ये व्रणों की कफज वेदनाओं के प्रकार हैं जो कफ से कुपित व्रणों में मिलते हैं।

व्रण वेदनाओं का यह विवरण प्राचीन आचार्यों के सूक्ष्म अवलोकन तथा विस्तृत क्षेत्र में व्रण से पीड़ितों के अध्ययन की ओर संकेत करता है। रक्तज व्रणों की वेदनाएं पैत्तिकों से मिलती हैं। सान्निपातिक व्रणों की वेदनाएं वातज, पित्तज, और कफज वेदनाओं का सम्मिश्रण होता है।

व्रण-वर्ण

व्रणों में कई प्रकार के पाये जाते हैं। किसी घाव का कोई रंग होता है और किसी का कोई। वातदोष के प्रकोप के कारण, भस्म, कबूतर, अस्थि जैसा वर्ण मिलता है अरुण और कृष्ण रंग भी मिल जाता है। ये व्रण प्रायः परुष (कड़े या खुरदरे) होते हैं। नीला, पीला, हरा, श्याव, गहरा लाल कपिल और पिंगल वर्ण पैत्तिक व्रणों में मिलता है। रक्तज या रक्तपित्तज व्रणों में भी ये ही रंग मिलते हैं। कफज व्रणों के रंग सफेद या पाण्डु मिलते हैं ये व्रण प्रायः स्निग्ध या चिकनाई लिए हुए होते हैं। सन्निपातज व्रण सब प्रकार के रंगों से युक्त या मिश्रित रंग वाले हो सकते हैं।

व्रणों के १४ स्राव

चरक ने व्रणों के १४ प्रकार के स्राव इस प्रकार गिनाए हैं :—

१. लसीका २. जल ३. पूय ४. रक्त ५. हारिद्र ६. अरुण ७. पिंजर (रक्ताभपीत) ८. कषाय (ब्राउन) ९. नीला १०. हरा ११. स्निग्ध १२. रूक्ष १३. श्वेत तथा १४. कृष्ण ।

व्रणों की आठ गन्धें

सभी प्रकार के व्रणों में नीचे लिखी आठ प्रकार वस्तुओं की गन्धों में से कोई न कोई पाई जाती है :—

१. घृत २. तैल ३. वसा ४. पूय ५. रक्त ६. श्याव (आम जैसी गन्ध) ७. अम्ल (एसिड जैसी) तथा पूति (सड़ी) ।

व्रणों के १६ उपद्रव

व्रणों में चरक संहिता में निम्नांकित सोलह उपद्रव बतलाये गये हैं ।

१. विसर्प (एरिसिपैलस) ।
२. पक्षाघात (पैरैलाइसिस) ।
३. सिरास्तम्भ (थ्रॉम्बोसिस) ।
४. अपतानक (कन्वल्जन्स) ।
५. मोह (अनकॉन्शसनैस) ।
६. उन्माद (इनसैनिटी) ।
७. रुजा (व्रण में वेदना) ।
८. ज्वर (पाइरैक्सिया) ।
९. तृष्णा (थर्स्ट) ।
१०. हनुग्रह (टिटनस) ।
११. कास (कफ) ।
१२. वमन (वॉमिटिंग) ।
१३. अतीसार (ऐक्सैसिव डिस्चार्ज) ।
१४. हिक्का (हिक्कप) ।
१५. श्वास (डिसम्पिया) ।
१६. वेपथु (ट्रेमर्स) ।

षोडशोपद्रवा: प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकै: यह चरक वाक्य है । 'व्रणचिन्तक' शब्द व्रणों पर रिसर्च करने वालों के लिए चरकीय संज्ञा है ।

विविध व्रणों में चरकोक्त उपचार

यद्यपि चरक संहिता कायचिकित्सा का आर्षग्रन्थ है फिर भी उसमें जो व्रण चिकित्सा दी गई है वह अपने ढंग की निराली है तथा सिद्धिदाता होने से उसे यथावत् नीचे की पंक्तियों में दिया जा रहा है ।

व्रणों की चिकित्सा में आरम्भ से ही उसका विशोधन जैसे भी हो सके किया जाना चाहिए—

व्रणानां आदित: कार्यं यथासन्नं विशोधनम् ।

यह विशोधन ऊर्ध्वभागहर द्रव्यों द्वारा वमन कराकर अधोभाग हर द्रव्यों द्वारा विरेचन कराकर शस्त्रकर्म द्वारा पूय का निर्हरण करते हुए जहां वस्तियों (निरूहण अनुवासन या उत्तर बस्ति अथवा कैथेटराइजेशन) द्वारा संभव हो उनसे विशोधन किया जाना चाहिए क्योंकि—

सद्य: शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणा: ।

अर्थात् शुद्धि को प्राप्त शरीरों में किसी भी प्रकार के व्रण उत्पन्न हो गये हों तो वे शीघ्र शान्त हो जाते हैं ।

व्रणोपचार में प्रयुक्त ३६ चरकोक्त उपक्रम

शोफघ्नं षड्विधञ्चैव शस्त्रकर्मावपीडनम् ।
निर्वापणं ससन्धानं स्वेद: शमनमेषणम् ।।
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ ।
द्वे तैले तद्गुणे पत्रं छादने द्वे च बन्धने ।।
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविध सावसादन: ।
काठिन्यमार्दवकरे धूपनालेपने शुभे ।।
व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं रोपणं लोमरोहणम् ।
इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमा: ।।

१. शोफघ्न उपक्रम—१
२. शस्त्रकर्म—६
३. अवपीडन—१
४. निर्वापण—१
५. सन्धान कर्म—१
६. स्वेदन—१
७. शमनकर्म—१
८. एषणकर्म—१
९ शोधन रोपण कषाय—२
१०. शोधन रोपण प्रलेप—२
११. शोधन रोपण स्नेह (घृत-तैल)—२

१२. शोधन रोपण पत्राच्छादन—२
१३. बन्धन—२
१४. भोज्य—१
१५. उत्सादन—१
१६. दाह—२
१७. अवसादन कर्म—१
१८. काठिन्यकर्म मार्दवकर कर्म—२
१९. धूपन—१
२०. लेपन—१
२१. व्रणावचूर्णन—१
२२. वर्ण्यकर्म—१
२३. रोपणकर्म—१
२४. रोमलोपनकर्म—१ = ३६

ये छत्तीस प्रकार के व्रणोपक्रमों की सूची है इनका विस्तार आगे किया जा रहा है।

१. शोफघ्न उपक्रम (एण्टीइन्फ्लेमेटरी मैजर्स)—

व्रणशोथ को दूर करना पहला कार्य है। अगर यह शोथ दूर किया जा सका तो फिर व्रण बनने की नौबत ही नहीं आती है। एण्टीबायोटिक और एण्टीसैप्टिक द्रव्यों के आविष्कार के पूर्व भी आचार्यों ने अर्थात् व्रणचिन्तकों ने बहुत अधिक परिश्रमपूर्वक व्रणशोथ शमन के उपाय निकाले थे।

पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः।
रक्तावसेचनं कुर्याद् अजातव्रणशान्तये॥

अर्थात् जो व्रण अभी उत्पन्न नहीं हुआ है उसके पूर्वरूप का ज्ञान करते हुए उसे प्रतिषेधात्मक (प्रोफाइलैक्टिक) दृष्टि से शान्त करने के लिए व्रणशोथ की आरम्भ से ही चिकित्सा करने हेतु रक्तावसेचन (रक्तमोक्षण) करना चाहिए। अब यह देखना चाहिए कि व्रणशोथ में दोषों का प्रकोप घटाटोप होकर छाया हुआ है या थोड़ा सा है या वात का बाहुल्य है। इन तीनों परिस्थितियों की जांचकर दोष बाहुल्य होने पर शोधन करावे। अल्पदोष होने पर लंघन करावे और वाताधिक्य होने पर पहले कषायों का प्रयोग करके या घृत प्रयोग द्वारा उसे जीते। वरगद, गूलर, पीपल, पाकर और वेतस वृक्षों की छाल को घी के साथ पीसकर व्रणशोथ पर लेप करना श्रेष्ठ निर्वापण प्रयोग माना जाता है। विजया, मधुयष्टी, शतावरी, कमलकन्द, नीलोत्पल, नागकेसर, और चन्दन इनका लेप व्रणशोथ को बैठा देता है और उसे पकने और व्रण रूप नहीं लेने देता। मिश्री सक्तु मुलहठी, घी मिलाकर लेप करना और क्षोभ पैदा न करने वाले अविदाही पदार्थों का आहार के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार व्रणशोथ के प्रशमन का उपाय करना वैद्य का धर्म है।

जब व्रणशोफ इन प्रयोगों से शान्त न हो सके तो फिर उसे पकाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। व्रणशोथ पाचन की इस क्रिया में 'उपनाह (पुल्टिस)' का बहुत महत्त्व है।

स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत्।
तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते॥

अर्थात् जब शोफ का शमन न हो तो उसको पुल्टिस द्वारा पकावे और पक जाने पर पाटन (इन्सीजन) नामक शस्त्रकर्म ही हितकर कहा जाता है।

उपनाह प्रयोग

सत्तुओं को सान उसमें तेल या घी डालकर गरम करें और उसका सुहाता-सुहाता लेप करें यह पुल्टिस सरल और प्रशस्त मानी जाती है। इससे भी अधिक जल्दी व्रणशोफ को पकाने वाली दूसरी पुल्टिस भी है इसमें तिल, अलसी के बीज, खट्टा दही, सत्तू, किण्व (यीस्ट), कूठ कडुआ और नमक डाले जाते हैं इसका योग कितना सायण्टीफिक है यह देखते ही बनता है। इन पुल्टिसों के प्रयोग से व्रणशोथ विदग्ध (पाकोन्मुख) हो जाता है उसके ४ लक्षण दिये हैं:—

रुक् (Pain)
दाह (Heat)
राग (Redness)
तोद (Pricking)

इन लक्षणों से शोफ में पूयन (सप्पूरेशन) हो रहा है यह सिद्ध हो जाता है। जब यह पूयन पूरा हो जाता है। तो चरक रत्नाकार बतलाते हैं कि जलवस्तिसमस्पर्शं संपक्वं पिण्डितोन्नतम् वह हो जाता है अर्थात् छुने में वह जल से भरी मुशक जैसी अनुभूति देता है वह पिण्डीभूत और ऊंचा उठ जाता है। कुछ लोग इसे पीडितोन्नतम्

लिखकर पके व्रण को दबाकर छोड़ देने पर वह फिर फूल जाता है ऐसा माना है।

जब शोथ का प्रशमन नहीं हुआ तो उसे पाकोन्मुख करके और उपनाहों के प्रयोग से पकाया गया। पका हुआ शोफ भीतर पूय से भरा होता है अब इस शोथ को नष्ट करने हेतु तीसरा कार्य पक्वशोथप्रभेदन (पके शोथ को फाड़ने का या काटने का) किया जाता है। यह कार्य कोमल प्रकृति के व्यक्तियों में शस्त्र से न कराके पक्वशोथ-प्रभेदन भेषजगण द्वारा कराया जा सकता है। ये औषधियां हैं :—

१—उमा (अलसी के बीज)
२—गुग्गुल
३—सौध पय (सेहुंड का दूध)
४—दक्षकपोतयोःविट् (मुर्गा और कबूतर की बीट)
५—पलाश का क्षार
६—स्वर्णक्षीरी (काश्मीरी हिरवी-सत्यानाशी नहीं)
६—मकूलन (दन्ती)

२. षड्विध शस्त्रकर्म

—कृच्छ्रस्य शस्त्रं तु परमुच्यते।
पाटनं व्यधनञ्चैव छेदनं लेखनं तथा।
प्रच्छन्नं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्॥

इस विषय पर इस विशेषांक में विशेष लेख आजाने से इसको अधिक नहीं लिखा जायगा फिर भी चरक संहिता के अध्ययन से बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो उस काल में सुश्रुत संहिता की रचना से पूर्व ज्ञात था तथा जिसके विषय में इस विशेषांक के सम्पादकीय में चर्चा की जा चुकी है।

३. अवपीडनकर्म

शोफघ्न उपक्रम के तीनों रूप पूरे किये जाने के बाद शस्त्रकर्म के छहों प्रकारों में जो जो आवश्यक हो उसे कर लेने के उपरान्त अवपीडन कर्म या व्रण की पीडन विधि का उपयोग किया जाता है।—

सूक्ष्मानना कोपवन्तो ये व्रणाः
तान् प्रपीडयेत्।

परिपक्व व्रण पर प्रभेदन भेषजों का उपयोग कर लेने पर भी जब व्रण का मुख बहुत सूक्ष्म सा बन पाता है तथा उन व्रणों में जिनका पेट तो भारी या बड़ा होता है पर मुंह छोटा होता है उनसे पूय निकालने के लिए उसे दबाते हैं। यही दबाना अवपीडन कहलाता है। यह पीडन या अवपीडन का काम बिना चिकनाई के मटर, मसूर, गेहूं, हरेणु (काबुली चना), को जल के साथ सिल पर पीस कर पेस्ट (लेप) बनालें। इन्हें इस व्रण के मुख के चारों ओर लेप करदें। जैसे ही यह पेस्ट सूखने लगेगा चारों ओर से इस पर जोर डालेगा और पूय का निर्हरण आसानी से हो जायगा।

वृद्ध वाग्भट ने माष (उड़द) का प्रयोग भी जोड़ा है तथा—द्रव्याणां पिच्छिलानां च त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्। पिच्छिल (चिपचिपे) द्रव्यों की छाल और जड़ को पीस लेप करने से भी पीडन हो सकता है स्पष्ट लिखा है। पीडन के लिए प्रयुक्त प्रलेप अगर सूखने लगे तो उसकी उपेक्षा कर दे—शुष्यन्तं समुपेक्षेत प्रलेपं पीडनं प्रति।

४. निर्वापण

अवपीडन द्वारा अथवा शस्त्रकर्म करने से जब पूय और रक्त निकलने लगे तो फिर निर्वापण विधि से उसे शीतल करते हैं सेमर की छाल, खरैटी की जड़, बरगद के पत्ते अथवा न्यग्रोधादिगण के द्रव्य या बलादिगण के द्रव्यों को पीस घाव पर लेप करना या इनके क्वाथ से घाव को भिगोना निर्वापण कहलाता है। शतधौत घृत घाव में लगाना दूध से या शहद मिले जल से ठण्डा-ठण्डा घाव को भिगोना रक्तपित्त (ब्लीडिंग) के बाद व्रण में निर्वापण के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

वृद्ध वाग्भट ने निर्वापण को आलेप के १० प्रकार के आलेपों के अन्तर्गत रखा है—

दशविधश्च समासादालेपः—

स्नैहिको निर्वापणः प्रसादनः स्तंभनो विलयनः पाचनः पीडनः शोधनो रोपणः सवर्णीकरणञ्च। इस प्रकार जो उपक्रम आगे या पीछे बतलाये जा रहे या गये हैं वे आलेप ही हैं उनके कर्मों के नाम पर ही उनके भेद किये गये हैं। निर्वापण आलेप की आवश्यकता बतलाते हुए वह लिखता है—'पित्ते प्रायशश्च शोफे विषाग्निक्षारदग्धे च शीतैर्निर्वापणः' अर्थात् प्रायः पित्तज शोफ में तथा विष-अग्नि तथा क्षार से जले हुए व्रणों में शीतल द्रव्यों से निर्वापण आलेप लगाना चाहिए। कुछ लोगों ने निर्वापण का अंगरेजी अनुवाद ही रिफीजरेंट्स का प्रयोग लिखा है

जो शीतोपचार का सटीक नाम है। सद्यिषशोफ में जब जलौकादि द्वारा रक्तमोक्षण कर लिया जावे तब वेदना शान्ति के लिये तथा पक न जाय इसलिये भी न्यग्रोध आदि शीतल द्रव्यों द्वारा निर्वापण का निदेश दिया जाता है। स्रुतासृजां च शोफाना व्रणनामपि चेद्दशाम्—जहां से रक्त निकाला जा चुका हो ऐसे व्रणशोथों में तथा जिनसे रक्तस्राव हो चुका हो ऐसे व्रणों में ही निर्वापण का उपयोग किया जाता रहा है। इसमें घी का बहुत उपयोग किया जाता था। लेप ठण्डा-ठण्डा ही प्रयोग किया जाता है उसे गरम नही करते क्योंकि उसका उद्देश्य रक्तस्राव पर नियन्त्रण और वेदना की शान्ति करना होता है। निर्वापण इन्फ्लेमेटरी प्रतिक्रिया की प्रगति पर एक अच्छे चैक का काम करता है।

अगर व्रण के किनारों पर मांस लटक आया हो तो उसका निर्वापण केवल घी और शहद को मिलाकर लेप करने और पट्टी बांधने से हो जाता है—

लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा।
संदधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत्॥

५. सन्धान कर्म—

व्रण का अर्थ है त्वचा या श्लेष्मलकला तथा उसके नीचे ऊतकों का फटकर एक गैप बना लेना। जल शोफ का पाचन कर शस्त्रकर्मादि से पके शोफ को काटकर दोषों तथा पूय का निर्हरण करके उससे निकलने वाले रस रक्तादि को निर्वापण द्वारा बन्द कर दिया गया तो फिर उस व्रण के किनारों को पास लाकर जोडने या सन्धान-कर्म की ही आवश्यकता रह जाती है। इसके लिए बन्धन बांधना, औषधि द्रव्यो के चूर्ण का अवचूर्णन (डस्टिंग) करना रह जाता है। ऊपर व्रण के फटे टूटे लटकते किनारों पर घी और शहद चुपडकर पट्टी बांधने की ओर जो निदेश है वह सन्धान क्रिया का ही अंग है। पट्टी बांधने से व्रण के किनारे पास आकर जुड़ जाते हे। किनारों को सम और सुस्थित करके फिर प्रियंगु, लोध्र, कायफल, मजीठ, धाय के फूलों के सूखे चूर्ण का अवचूर्णन करना चाहिए। या पंचवल्कल (क्षीरीवृक्षों की छालों) चूर्ण या सीपी (शुक्ति) का चूर्ण उसमें मिलाकर बुरकना चाहिए। धाय और लोध्र का चूर्ण भी शीघ्र ही व्रणों का सन्धान या रोहण कर देता है।

सन्धानकर्म के अन्दर ही जोड दी मोच तथा अस्थि-सन्धान का कार्य भी समविष्ट किया जाता है। टूटी हड्डी को जोड़ना इसके लिए चरक ने ३ बिन्दु बतलाये हैं:—

१. हड्डी के दोनों सिरों को पास लाकर ठीक-ठीक बैठाना या दूसरे अंग जैसा करने के लिए मोच खाये स्थान को ठीक-ठीक बैठाना।

अस्थिभग्नं च्युतं सन्धि संदधीत समं पुनः।
समेन सममंगेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः॥

इसे अंगरेजी में फैक्चरित अस्थि या डिस्लोकेटित सन्धि का सैट करना भी कहते हैं।

२. कुशिकाएं (स्प्लिण्ट्स) लगा कर पट्टी (बैंडेज) बांधना।

३. और इस प्रकार उसे अचल और सुखकर बनाना। इस सारी पद्धति को इम्मोबिलाइजेशन कहा जाता है।

एक बार डाइरैक्टर डा. लाल काशीहिन्दूविश्व-विद्यालय के आयुर्वेद रिसर्च विभाग में पधारे और उन्होंने वहां होने वाले अस्थिक्षय के अनुसन्धान कार्य को देखा जिसमें डा. प्रभुजनार्दन देशपाण्डे तथा आचार्य त्रिवेदी संलग्न थे। अस्थिक्षय या स्कैलेटल ट्यु़बर्क्युलोसिस में प्लास्टर आफ पैरिस में रुग्ण अंग रखकर उसे इम्मोबाइल कर दिया जाता था तथा एक चूर्ण (बी. टी. पाउडर) खिलाया जाता था। बी. टी. पाउडर बोनट्यूबर्क्युलोसिसनाशक चूर्ण का संक्षिप्त नाम रख दिया गया था। डा.लाल ने कहा कि आपका यह आयुर्वेदिक बी. टी. पाउडर क्या काम करता होगा जो लाभ आप बता रहे हैं वह तो प्लास्टर आफ पैरिस के कारण है आपके आयुर्वेद की दवा के कारण नहीं है। डा. देशपाण्डे ने बतलाया कि ऐसा तो पाश्चात्य अथारिटिया भी स्वीकार नहीं करतीं। अकेला प्लास्टर इस व्रण को हील नहीं करता तथा हम कंट्रोल केसों में उसकी सीमित उपयोगिता का ज्ञान कर चुके हैं। तब उन्होंने कहा कि प्लास्टर का उपयोग तो ऐलोपैथिक है यह आयुर्वेदीय नहीं है। आचार्य त्रिवेदी ने भग्न या क्षत भाग को अचल सुखकरी अवस्था में रखना चाहिए इस चरकोक्त विधान के सम्बन्ध का निम्न सूत्र सुनाया—

स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम्।
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैः बध्नीयात् अचलं सुखम्॥

और कहा कि क्षत का इम्मोविलाइजेशन चरक सम्मत है। किसी भी प्रकार खपच्ची या स्प्लिट बांधकर तथा पट्टियां लपेट कर अंग को स्थिर करना लक्ष्य है यदि वही कार्य प्लास्टर आफ पैरिस से अच्छा सम्पन्न होता है तो वह प्रयोग आयुर्वेद सम्मत ही माना जाना चाहिए। डा. देशपाण्डे ने इसे और अधिक पुष्ट किया पर वे इसे समझने और मानने में असमर्थ ही दिखाई दिये। हमारा तो यहां तक मत है कि चरक की इस अचलीकरण की भावना को ही प्लास्टर के आविष्कारकों ने मूर्त्तरूप दिया है पट्टी बांधना खपच्ची लगाना और टूटे हुए सिरों को ठीक बैठाना यह आदि ज्ञान है जिसे मानव ने कॉमनसेंस से ही अर्जित कर लिया था। बांधने के कारण स्थानिक कष्ट निवृत्ति के लिए वहां खूब घी चुपड़ने का निदेश भी दिया गया है। आजकल मुलायम रुई लगाकर ही खपच्ची या प्लास्टर चढ़ाया जाता है। चरक ने इसी प्रसंग में आगे लिखा है :—

> अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत् ।
> ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका ॥

जलन न पैदा करने वाले अन्नों की पीठियों द्वारा उसका उपचार करे ताकि भग्नसन्धि को विश्लिष्ट न कर सके। अब यहां प्रश्न होता है कि क्या ये पीठियां खाई जाती थीं या लगाई जाती थीं। आज भी सिल पर पीस कर जो मूंग या उड़द की दाल की पीठी बनाई जाती है उसे सेक कर ही खाया जाता है तथा वह भारी ही नहीं विदाह (जलन) भी पैदा करती है। तथा उसके खाने से उत्पन्न जलन बंधी हुई हड्डी या सन्धि को कैसे विश्लेषित कर सकती है ? फिर यह भोजन का विधान न होकर लगाने का ही विधान मालूम पड़ता है। पहले घी चुपड़ा जाता या फिर कुशा (स्प्लिण्ट) बांधी जाती थी फिर उस पर कवलिकाएं लगाई जाती थीं फिर बड़ी पट्टियों के स्लिंग लगाकर उसे अचल किया जाता था। उसी अचलीकरण को दृढ करने हेतु पीठी का प्लास्टर ऊपर से थोपा और चिकना कर दिया जाता था। बाद में इसका स्थान प्लास्टर आफ पैरिस ने ले लिया। यह अनुवाद कुछ अधिक युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

इस प्रकार अचलीकृत अंगों में विसर्पादि उपद्रवों का सदा भय उस काल में रहता था इसलिए उचित उपद्रव शामक चिकित्सा हेतु भी चरकीय परामर्श कालज्ञ वैद्य को इन शब्दों में दिया गया है—

> विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान् ।
> उपाचरेद् यथाकालं कालज्ञः स्याच्चिकित्सितात् ॥

६. स्वेदनकर्म

लिखा है—

> शुष्का महारुजः स्तब्धा ये व्रणा मारुतोत्तरा।
> स्वेद्याः संकटकल्पेन ते स्युः कृशरपायसैः ॥
> ग्राम्यवैलाम्बुजानूपैर्वेशवारैश्च संस्कृतैः ।
> उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिः सुखी स्मादव्रणितस्तथा ॥
>
> —च० सं० चि० स्था० अ० २५ श्लो० ७२-७३

जो वात प्रधान व्रण सूखे, बहुत अधिक वेदना वाले और कड़े हों उनको संकरस्वेद (कपड़े के अन्दर गरम ईंट या मिट्टी का टुकड़ा लपेट कर उससे सेक) दे, गरम-गरम सुहाती खिचड़ी या खीर से सेके, ग्राम्य, बिलेशय, जलज, आनूपदेशज मांसों से युक्त वेशवारों (गरम पुल्टिसों) से सेके या उत्कारिका (पूडी) को बांध कर सेक करे।

कभी-कभी व्रणों में जलन पड़ती है उन्हें गरम पदार्थों से सेकने से और कष्ट होता है उनके लिए अलसी और तिल भूनले और भूनकर दूध में बुझाले फिर दूध में ही पीसकर व्रण पर लेप कर दे।

स्वेदकर्म का व्रण में २ कारणों से विधान किया जाता है। एक वेदना की शान्ति के लिए दूसरे दाह की शान्ति हेतु। वेदना अकेली हो तो गरम-गरम सेक से आराम पड़ता है। अगर दाह अकेला हो तो स्निग्ध लेप से आराम पड़ जाता है। पर कभी-कभी दाह और वेदना दोनों एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं उसके लिए भी व्यवस्था दी गई है —

१. यवचूर्णं समधुकं सतिलं सहसर्पिषा ।
   दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ॥

अर्थात् जौ का आटा, मुलहठी, तिल और घी पानी में पीस सुहाता गरम-गरम व्रण पर लेपन कर देने से व्रण का दाह और शूल दोनों की शान्ति हो जाती है।

२. उपनाहश्च कर्त्तव्यः सतिलो मुद्गपायसः ।
   रुग्दाहयोः प्रशमनो व्रणेष्वेष विधिर्हितः ॥

मूंग की दाल की खीर तिल सहित रांध कर उसकी पुल्टिस व्रण पर बांधने से दर्द और दाह दोनों का शमन हो जाता है।

७. एषण उपक्रम

अगर व्रण बड़ा हो कोषवन्त (कोष या कैपसूल में रखा) हो पर यदि वह किसी मर्मस्थल पर न हो तो एषणी (प्रोब) द्वारा उसका एषण करे। एषण कर्म मृदु या कठिन लोहे की बनी या मृदु वानस्पतिक नालों द्वारा किया जाता है जिन्हें एषणी कहते हैं। इस एषण कर्म का विचार शस्त्रकर्म के साथ देखना चाहिए।

८. शोधन उपक्रम

पूतिगन्धान् विवर्णांश्च हुस्रावान्महारुजः ।
व्रणानशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत् ॥

जिन व्रणों से सड़ी गन्ध आवे, जिनका रंग बदला हुआ विवर्ण हो, स्राव बहुत निकलता हो, दर्द बहुत होता हो उन व्रणों को अशुद्ध जानकर उनका शोधन करना चाहिए। कब कौन क्रम से कौन सा उपक्रम किया जाय इसे वैद्य को स्वयं सोचना होगा। ऊपर जो एक के बाद एक उपक्रम दिये हैं उन्हें यथावत् करना आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए अशुद्धव्रण को अगर सी दिया गया या सन्धान कर दिया गया तो अनर्थ हो सकता है। इसलिए जहां भी लगे कि व्रण में दोषों का बाहुल्य है और वह पूरी तरह शुद्ध नहीं हुआ है तो उसके शोधन की तत्काल व्यवस्था की जानी चाहिए। सुश्रुत भी लिखता है:—

दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छिलानां विशेषतः ।
कषायैः शोधनं कार्यं शोधनैः प्रागुदीरितैः ॥

दुर्गन्धित, क्लिन्न, पिच्छिल व्रणों में शोधन कषायों का प्रयोग करना चाहिए। एक शोधन कषाय चरक ने त्रिफला, कत्था, दारुहल्दी, न्यग्रोधादि गण के द्रव्य, बला, कुश, नीम के पत्ते, बेर के पत्ते इनसे बनाये क्वाथ से व्रण को शुद्ध करे।

केवल क्वाथों से ही शोधन, नहीं किया जाता। तिल को सिल पर पीस उसका कल्क बनालें उसमें सैंधानमक, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, घी, मुलहठी और नीम के पत्ते भी पीस लें। इस लुगदी को व्रण में भरदें इससे भी व्रण का शोधन हो जाता है। व्रण शुद्ध हुआ या नहीं इसकी पहचान है—

नातिरक्तो—अधिक लालिमा न रहे
नातिपाण्डुः—अधिक सफेदी या पाण्डुता न रहे
नातिश्यावः—अधिक श्यावता न रहे
न चातिरुक्—और अधिक रुजा (दर्द) भी न रहे
न चोत्सन्नः—वह बहुत उभरा हुआ भी न हो
न च उत्संगी—न मोटे उठे हुए किनारों वाला ही हो
शुद्धो रोप्यः परं व्रणः—ऐसा व्रण शुद्ध हो गया है ऐसा मानना चाहिए। शुद्ध हुआ व्रण ही व्रण के रोपण उपक्रम का अधिकारी होता है।

९. रोपण उपक्रम

व्रण रोपण कषायों का प्रयोग व्रण के भरने हेतु किया जाता है—i. बरगद, गूलर, पीपल, कदम्ब, पाकर (प्लक्ष) वेतस, कनेर, आक, कुटज की छालों का काढ़ा व्रण का रोपण करता है।

ii. चन्दन, कमल केसर, दारुहल्दी, नीलकमल, मेदा महामेदा, मूर्वा, मजीठ और मुलहठी का क्वाथ व्रण रोपक है।

व्रणरोपणार्थ घृतों और तैलों का भी प्रयोग खूब किया जाता है।

i. तिल, प्रपौण्डरीक (गुलबकावली), जीवन्ती, गोजिह्वा (गावजवां), धाय के फूल, बलामूल को घी के साथ पीस लेप करने से व्रण का रोपण हो जाता है।

ii. कबीला, वायविडंग, इन्द्र जौ, हरड़, बहेड़ा, आमला बला, पटोलपत्र, नीम के पत्ते, लोध्र, नागरमोथा, प्रियंगु, कत्था, धाय के फूल, राल, इलाइची, अगर, चन्दन इनके कल्क और क्वाथ से सिद्ध तिल का तैल परम व्रण-रोपण बतलाया गया है।

iii. प्रपौण्डरीक (गुलबकावली), मुलहठी, काकोली, क्षीरकाकोली, लालचन्दन, सफेद चन्दन इनके कल्क और क्वाथ से सिद्ध तैल भी अच्छा व्रणरोपण करता है।

iv. दूब के रस में सिद्ध तैल, कबीले से सिद्ध तैल अथवा केवल दारुहल्दी की छाल के कल्क से सिद्ध किया गया तैल प्रधान व्रणरोपण तैलों में गिने जाते हैं।

जिस प्रकार ऊपर बतलाये द्रव्यों से तैल सिद्ध किये जाते हैं, उन्हीं से घी भी सिद्ध किये जा सकते हैं। अगर व्रण में वात की प्रधानता हो तो तैल सिद्ध कर प्रयोग करे। यदि पित्त या रक्तदोष की प्रधानता हो तो घृत सिद्ध कर उनका प्रयोग वैद्य करे।

व्रणरोपणार्थ पत्रों या पट्टी का आच्छादान भी बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। प्राचीन भारतीय भिषक् ने इस विषय में कितनी-कितनी खोज की है, यह इन पत्तों के प्रयोग से ज्ञात होता है—

कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च।
व्रणप्रच्छादने विद्वान् पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ॥

कदम्ब, अर्जुन, नीम, पाढल, पीपल में से जिसका पत्ता मिल सके, लेकर व्रण को उससे ढांक दें तो वह भी व्रणरोपण कर सकता है। आक या मदार का पत्ता भी इसके लिए उत्तम माना जाता है।

१०. बन्धन उपक्रम

पट्टियों के प्रयोग—व्रण को पत्ते से ढंक कर फिर वृक्ष के वल्कल के सूत्रों से, मृगचर्म की पट्टी से, रेशमी कपड़े से या सूती पट्टी से उसे बांईं ओर से दाहिनी ओर या दाहिनी ओर से बांईं ओर लपेटता हुआ बांध दे। बन्धन या बैंडेजों के विषय में इस विशेषांक में पृष्ठ २३३ पर बहुत सटीक और सचित्र विवरण दिया गया है, उसे देखें।

११. भोज्योपक्रम

व्रण में क्या अपथ्य और क्या पथ्य है उस पर चरक में लिखा है:—

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरूणि च।
वर्जयेदन्नपानानि व्रणी मैथुनमेव च॥
नातिशीतगुरुस्निग्धमविदाहि यथाव्रणम्।
अन्नपानं व्रणहितं हितं चास्वपनं दिवा॥

नमक, खट्टे द्रव्य, चरपरे द्रव्य, विदाही और गुरु अन्नपान तथा मैथुन इन्हें व्रणी अपथ्य मानकर सेवन न करे। जो बहुत ठण्डे, भारी, चिकने न हों ऐसे अन्नपान तथा जो विदाह पैदा न करें उन्हें हितकर समझकर सेवन करावे। दिन में सोना व्रणी के लिए सर्वथा वर्जित है। दिन में न सोने देने के २ पहलू है, एक तो कफ की वृद्धि होकर व्रण में क्लेद का बाहुल्य होता है, दूसरे एक व्यावहारिक पक्ष भी है। दिन में सोने वाला व्रण पीड़ित बालक या बूढ़ा रात में बहुत चिल्लाता चीखता और घर वालों की नींद हराम कर देता है, इसलिए भी दिन में उसे न सोने देना उचित है। पर यदि अस्पताल है और नर्सिंग व्यवस्था सही है तो उसे जब भी आराम मिले, आराम करने देना चाहिए। सोना स्वयं में सबसे बड़ा आराम है ही।

१२. उत्पादन उपक्रम

अगर व्रण बैठ गया हो और त्वचा के धरातल से नीचा हो तो वह बाद में अंगसौन्दर्य में बाधक हो सकता है, इसलिए उसे उठाते हैं:—

स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानि च।
उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत् ॥

विविध प्रकार के दूध, जीवनीय पदार्थ, बृंहण पदार्थों का सेवन कराने से व्रण का धरातल उठाया जा सकता है। आजकल डायनाबोल या उसी प्रकार के द्रव्यों की गोलियों या इन्जैक्शन देकर, प्रोटीन्यूल प्रोटीनैक्स द्वारा प्रोटीन अधिक मात्रा में पहुँचाकर विटामिन ए, बी, सी, डी का अधिक उपयोग कराकर या मछली के तैल से बने स्वादिष्ट लेह जैसे शार्कोफरौल देकर भी आयुर्वेद के मन्तव्य को शुद्ध दृष्टि से पूरा किया जा सकता है—तदेव युक्तं भेषज्यं यदारोग्याय कल्पते का मुख्य लक्ष्य न भूलना होगा जो चरक संहिता के आरम्भ में ही दिया गया है।

१३. अवसादन उपक्रम

अगर व्रण जरूरत से ज्यादा त्वचा की सतह से ऊपर उठ गया हो और सतह पर आने का नाम भी न लेता हो तो उसे ठीक करने के लिए अवसादन कर्म करना चाहिए। उसके लिए भोजपत्र, कासीस, विरेचन द्रव्य, गुग्गुल के प्रयोग से व्रण का अवसादन किया जाता है। घर की चिड़िया और कबूतरों की बीट लगाने से भी अवसादन किया जा सकता है।

१४. दाहोपक्रम

कॉटरी या अग्नि से दाह के विषय में अलग से लिखा जा चुका है। चरक निम्न परिस्थितियों में अग्निकर्म स्वीकार करता है:—

i. रुधिर का अधिक मात्रा में बहना;
ii. किसी शस्त्र से अंग के कट जाने पर रक्त निकलने में;
iii. छेदनीय (काटने योग्य) स्थिति में;

iv. अधिमांस (मांस की वृद्धि गलत ढंग से) हो जाने पर;
v. कफज ग्रन्थि रोग में;
vi. गण्डों की उत्पत्ति या गिल्टियां निकलने पर;
vii. वायु के प्रकोप से उत्पन्न काठिन्य और वेदना उत्पन्न होने पर;
viii. अगर पूय या लसीका का बहुत गहराई में स्राव हो रहा हो,
xi. गम्भीर स्थिर और क्लृप्त (कटे हुए) शरीरांग में।

यह दाहकर्म सुकुमारों में विशेषकर गम्भीर वातज व्रणों में मोंम, तैल, वसा, मज्जा, घृत, मधु को तपाकर उससे किया जाता है अन्यथा लोहा गरम करके किया जाता है। आजकल बिजली के द्वारा कॉटराइजेशन किया जाता है। बालकों, वृद्धों, दुर्बलों, गर्भिणी स्त्रियों, रक्तपित्तियों, तृष्णा, ज्वर, अशक्ति से पीड़ितों, विषादयुक्तों, सविषशल्य जिन्हें लगा हो उन्हें तथा नेत्र तथा कुष्ठ इन दो में व्रण होने पर अग्निकर्म निषिद्ध कहा गया है।

जहां शस्त्रकर्म, अग्निकर्म करना संभव न हो वहां क्षारकर्म किया जा सकता है, इसे अन्यत्र देखना चाहिए।

१५. धूपन, लेपन, अवचूर्णन उपक्रम

धूपन—अगर व्रण मृदु हो तो उसे कड़ा करने के लिए गन्ध द्रव्यों तथा वृक्षों के सार भाग के बुरादे को जलाकर व्रण को धूप दिखाई जाती है। नाड़ी-स्वेदयन्त्र द्वारा भी इनका धुंआ व्रण में पहुँचाया जाता है। कभी-कभी कठिन व्रणों को मृदु बनाने के लिए घी, मज्जा या वसा को अंगारों पर डाल धुंआ उठा उससे धूपित करते हैं। धूपन को अंगरेजी में फ्यूमीगेशन कहते हैं। इनका उपयोग चरक ने इन परिस्थियों में स्वीकार किया है:—

i. व्रण में वेदना हो;
ii. व्रण से स्राव अधिक मात्रा में आ रहे हों;
iii. व्रण में बदबू हो;
iv. व्रण में कीड़े पड़ गये हों;
v. व्रण बहुत शिथिल या मृदु हो;
vi. व्रण बहुत कड़ा हो।

अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वेदना, स्रावाधिक्य, बदबू और काठिन्य कैंसर के व्रण में बहुतायत से मिलते हैं। इसलिए उसके इलाज में धूपन को प्रमुख स्थान देना चरक संमत होगा।

लेपन—विविध प्रकार के लेप लगाकर भी व्रण के काठिन्य दूर करके उसे सुकुमार या मृदु बनाया जा सकता है:—

i. लोध, बरगद के शुंग, कत्था, हरड़, बहेड़ा, आमला, घी में पीसकर लेप करें, इससे व्रण का कड़ापन घटता है।
ii. A—जो व्रण दर्द अधिक करते हों, कठिन (हार्ड) हों, स्तब्ध (इंड्यूरेटेड) हों किन्तु उनसे स्राव न निकलता हो तो उन पर घी में मिलाकर जौ के आटे का लेप लाभ करता है।
B—उपर्युक्त परिस्थितियों में ही मूंग की दाल, साठी के चावल, लाल शालि के चावलों की खीर घी तथा जीवनीय पदार्थ डालकर बनावे। इस खीर से व्रण का तर्पण करे।

अवचूर्णन—इसे अंगरेजी में डस्टिंग या इनसफ्लेशन कहते हैं। इसके लिए दवाओं का बहुत बारीक चूर्ण करना पड़ता है। अर्जुन की छाल, गूलर की छाल, पीपल की छाल, जामुन की छाल, कायफल की छाल ताजी लेकर सुखालें और इसका चूर्ण कर अवचूर्णन करें। अवचूर्णन से जिस व्रण पर पपड़ी या चमड़ी न जमती हो वह शीघ्र जम जाती है।

त्वग्विशुद्धकर लेप—इसे हम भारतीय एण्टीसैप्टिक लेप भी कह सकते हैं। इसमें पेनसिल, इलायची छोटी, मजीठ, लाख, हल्दी, दारुहल्दी का बारीक चूर्ण जो सिल पर पीसा गया हो उसमें घी और शहद मिलाकर त्वचा पर लेप करते हैं इससे आस-पास की त्वचा (व्रण के चारों ओर की चमड़ी) शुद्ध रहती है।

[१६] सवर्णीकरण

घाव भर जाने पर जो व्रण वस्तु या स्कारटिश्यू है उसका रंग सफेद होता है। वह अगर चेहरे पर या ऐसे स्थान पर हो जो खुला रहता है तो बुरा लगता है। उसे दूर करने के लिए उसे रंगना पड़ता है। इस त्वक्रंजन क्रिया को सवर्णीकरण कहते हैं। सवर्णीकरण की चरकोक्त विधियां निम्नांकित हैं :—

i. लोहे की भस्म, कासीस (फैरस सल्फेट), हरड़ के फूल, वहेड़े के फूल तथा आमलों के फूल सभी एक साथ पीस कर लेप करने से त्वचा काली पड़ जाती है—

अयोरजः सकासीसं त्रिफला कुसुमानि च ।
करोति लेपः कृष्णत्वं सद्य एव नवत्वचि ॥

ii. पीला चन्दन, तगर, आम की गुठली, नागकेशर, मजीठ, इनको गाय के गोवर के रस में पीस कर नई बनी घाव की त्वचा पर लेप करने से गोरे रंग वालों की त्वचा के साथ इस घाव की त्वचा का रंग हो जाता है।

iii. व्यामक—गन्धतृण—कत्तृण दोनों न मिलें तो खस (उशीर)—पीपल वृक्ष की छाल, जलवेतस की मूल, लाख, गेरू नागकेसर, मुरदासंग और कासीस पीस लेप करने से त्वचा लाल होकर लाल चमड़ी वालों का सवर्णीकरण हो जाता है।

[१७] लोमसंजनन

व्रणवस्तु या स्कार टिश्यू का रंग ही अलग नहीं होता उस पर रोम भी नहीं जमते। दाड़ी मूंछ पर अगर यह बन जाय तो हिप्पीकट वावुओं का स्वरूप ही बेढंग हो सकता है उसके लिए फिकर आज से हजारों वर्ष पहले के हमारे आचार्यों को हुई थी। उनकी प्लास्टिक सर्जरी जिसमें ज्यों की त्यों सरोम त्वचा एक स्थान से उठाकर दूसरी जगह रख दी जाती है। दूसरे उन्होंने कुछ नुस्खे भी इस विषय में लिखे हैं इनमें एक यह है—

चतुष्पदानां त्वग्लोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना ।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमवती पुनः ॥

पशुओं का चमड़ा, वाल, खुर, सींग और हड्डियों को जलाकर उनकी राख बनाले। इस राख को खुब वारीक पीस ले। इस चूर्ण को तेल चुपड़ी हुई व्रण के ऊपर बनी नई चमड़ी पर वुरकता रहे तो वहां रोम या वाल उग आते हैं।

सुश्रुत के ६० व्रणोपक्रम

इस प्रकार इन १७ प्रकरणों में व्रण के ३६ चरकोक्त उपक्रम दे दिये गये हैं। सुश्रुत ने इन उपक्रमों की संख्या ६० वतलाई है जो इस प्रकार हैं :—

तस्य व्रणस्य षष्टि उपक्रमा भवन्ति—तद्यथा :—

१. अपतर्पण (लघु भोजन या लंघन);
२. परिषेक (द्रवपदार्थ से सिंचन);
३. आलेप (प्लास्टर या लेप);
४. अभ्यंग (मालिश);
५. स्वेदन (फोमेंटेशन);
६. विम्लापन (मलना या रबिंग);
७. उपनाह (पुल्टिस लगाना);
८. पाचन (व्रण को पकाना);
९. विस्रावण (ड्रेनिंग—पूय निर्हरण);
१०. स्नेहन (घृत या तैल का रोगी को खिलाना);
११. वमन कर्म
१२. विरेचन कर्म
१३. छेदनकर्म
१४. भेदन कर्म
१५. दारण कर्म
१६. लेखन कर्म
१७. एषणकर्म
१८. आहरण कर्म
१९. व्यधन कर्म
२०. विद्रावण कर्म
२१. सीवन कर्म
(१३–२१) सभी शस्त्रकर्मों के भेद हैं।
२२. सन्धान कर्म—अचल बनाना और जोड़ना
२३. पीडन (निचोड़ना या दवाना);
२४. शोणितास्थापन (रक्तस्राव को रोकना);
२५. निर्वापण (शीतीकरण);
२६. उत्कारिका (पूड़ी या रोटी बांधना);
२७. कषाय प्रयोग
२८. वर्त्ति प्रयोग
२९. कल्क प्रयोग
३०. घृत प्रयोग
३१. तैल प्रयोग
३२. रसक्रिया (दवाओं के ऐक्स्ट्रैक्ट्स) का प्रयोग
(२७–३२) ये सभी व्रण के शोधन रोपण हेतु किये जाते हैं।
३३. अवचूर्णन (डस्टिंग);
३४. धूपन (फ्यूमीगेशन);
३५. उत्सादन (व्रण तल उठाना);
३६. अवसादन (व्रण तल का बैठाना);

३७. मृदुकर्म (व्रण को कोमल करना);
३८. दारुणकर्म (व्रण को कठिन करना);
३९. क्षारकर्म (कास्टिकों का प्रयोग);
४०. अग्निकर्म (कॉटरी);
४१. कृष्णकर्म (त्वचा को काला करना);
४२. पाण्डुकर्म (त्वचा को गोरा बनाना);
४३. प्रतिसारण कर्म (औषधचूर्णों का रगड़ना);
४४. रोमसंजनन (बाल या रोम उगाना);
४५. लोमापहरण (जहां रोम अनावश्यक हों वहां से उन्हें दूर करना);
४६. वस्तिकर्म (एनिमा देना);
४७. उत्तरवस्तिकर्म (कैथेटर प्रयोग);
४८. बन्ध (बैंडेज या पट्टी बांधना);
४९. पत्रादान (पत्ते लगाना);
५०. क्रिमिघ्न उपक्रम (जीवाणु या कीटाणु नाशक व्यवस्था करना);
५१. बृंहण प्रयोग (शरीर को मोटा बनाने के उपाय);
५२. विषघ्न प्रयोग (एण्टी टॉक्सिक उपाय);
५३. शिरोविरेचन कर्म;
५४. नस्य कर्म (सुंघनी);
५५. कवलधारण (मुख में औषध तरलों का धारण करना);
५६. धूम प्रयोग (फ्यूमीगेशन);
५७. मधुघृत प्रयोग;
५८. यन्त्रण (मेकेनिकल यन्त्रों का उपयोग);
५९. आहार (डायट);
६०. रक्षाविधान (भूतपिशाचादि बैक्टीरियाओं से रक्षा का उपक्रम);

इस प्रकार सुश्रुत ने एक बहुत ही एग्जास्टिव या पूर्ण सूची उन सभी उपक्रमों की दे दी है जो सुश्रुत के काल में क्या आज भी पूर्ण दिखाई देती है। चरक के काल का इसका क्या रूप था ऊपर दे दिया गया है। इस विषय में विशेषांक में और भी विस्तृत विवेचन होने से विस्तार-भय से इसे यहीं पूर्ण किया जा रहा है।

सद्योव्रण-विमर्श

वैद्य मदनमोहनलाल चरौरे, सह सम्पादक सुधानिधि, विजयगढ़

सद्योव्रणा ये सहसा सम्भवन्त्यभिघाततः।
अनन्तैरपि तैरंगमुच्यते जुष्टमष्टधा ॥
—अ० हृ० उ० स्था० अ० २६

अर्थात् जो सहसा अभिघात (ऐक्सीडेंट) के कारण उत्पन्न होते हैं वे सद्योव्रण कहलाते हैं। यद्यपि उनके प्रकार अनेक होते हैं फिर भी उन्हें निश्चित ८ प्रकारों में कहा जाता है। वे प्रकार हैं :—

१. घृष्ट व्रण—जिसे व्रजभाषा में घिस्सा लगना कहते हैं। इसमें चमड़ी रगड़ से घिस या छिल जाती है और पानी या लसीका जैसा या थोड़ा रक्त मिश्रित स्राव निकलता है।

घर्षणाद् अभिघाताद्वा यदंगं विगतत्वचम्।
उपास्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥

२. अवकृत्त व्रण—घृष्ट से गहरा कटा हुआ व्रण अवकृत्त कहलाता है।

३. विछिन्न व्रण—यह अवकृत्त से भी अधिक गहरा होता है।

४. प्रविलम्बित व्रण—ऐसा व्रण जो हड्डी तक तो हो पर अस्थि बची हुई हो।

५. पातित व्रण—पतितं यत् शरीरात् तत् पातितं स्यात्। अंग का शरीर से कटकर गिर जाना पातित व्रण कहलाता है।

६. विद्ध व्रण—कोष्ठ को छोड़कर सूक्ष्म शल्य से विद्ध व्रण विद्ध कहलाता है।

७. भिन्न व्रण—कोष्ठ में जब शल्य द्वारा विद्ध होता है तब वह भिन्न व्रण कहलाता है।

८. विदलित व्रण—वह व्रण जो प्रहार, पीड़न तथा पीसा जाने से अस्थि के साथ चौड़ जाता है तथा जिसमें मज्जा और रक्त भरा हो वह विदलित कहलाता हैं।

वाग्भट के द्वारा जो ये आठ भाग किये गये हैं वे उसके अपने हैं सुश्रुत ने सद्योव्रणों का वर्णन आगन्तुव्रण के रूप में किया है। पीछे जिन व्रणों का विचार किया जा चुका है। आगन्तुज व्रणों का विवरण इस प्रकार आरम्भ किया गया है—

नानारूप व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्।
आयताश्चतुरस्राश्च त्र्यस्रा मण्डलिनस्तथा ॥
अर्द्धचन्द्र प्रतीकाशा विशाला कुटिलास्तथा।
शरावनिम्नमध्याश्च यवमध्यास्तथाऽपरे ॥
एवम्प्रकाराकृतयो भवन्त्यागन्तवो व्रणाः।

कि आगन्तु व्रण अनेक आकृति वाले होते हैं। इनमें कुछ आयताकार, कुछ वर्गाकार, कुछ तिकोने कुछ गोल, अर्द्धचन्द्राकार, कुछ विशाल, कुछ कुटिल, कुछ बीच में गहरे कुछ बीच से उठे हुए होते हैं। ये अनेक आकृति वाले सद्योव्रण संक्षेप में ६ प्रकार के होते हैं :—

१. छिन्नं २. भिन्नं तथा ३. विद्ध ४. क्षतं ५. पिच्चितमेव च। ६. घृष्टं आहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्।

१. छिन्न व्रण—तिरछा या सीधा या आयताकार जो व्रण हो तथा जिसमें अंग कटकर अलग भी हो जाय तो ये सभी छिन्न व्रण कहलाते हैं।

इसे एक्साइज्ड वुंड कहते हैं। तलवार छुरी गंडासा फरसा आदि से काटने से छिन्न व्रण बनते हैं।

२. भिन्न व्रण—ये नोंकदार हथियार से छेदने पर बनते हैं। कुन्त, शक्ति, ऋष्टि, तलवार की नोक, सींग इनके द्वारा आहत होने से जो छेददार (पंक्चर्ड) व्रण बनता है वह भिन्न व्रण है। सुश्रुत ने विभिन्न अंगों में भेद होकर बने भिन्न सद्योव्रणों का विशेष विवरण दिया है। पहले तो उसने कोष्ठ की परिभाषा[1] दी है। जब यह कोष्ठ या उसके किसी भाग में भेदन हो जाता है तो कोष्ठरक्त से भर जाता है ज्वर और दाह होता है मूत्रमार्ग, गुद, मुख और नाक से रक्तस्राव होने लगता है, मूर्च्छा, श्वास, तृषा, आध्मान, भोजन के प्रति अनिच्छा, मलमूत्रवात की रुकावट, पसीना बहुत आना, आंखों का लाल हो जाना, मुख से लोहे की गन्ध आना, शरीर से दुर्गन्ध आना, हृदय में शूल होना, पसलियों में दर्द होना, आदि लक्षण मिलते हैं। कोष्ठ के विभिन्न भागों में वेध होने से जो-जो लक्षण मिलते हैं वे भी इस प्रकार दिये गये हैं :—

१—स्थानान्वमाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥

आमाशय—आमाशय में भेदन होने से उसमें रक्त भर जाता है और फिर व्यक्ति खून की उलटियां करता है, पेट खूब फूल जाता है तथा बहुत जोर का वहां दर्द (शूलंच भृश दारुणम्) होता है।

पक्वाशय—पक्वाशय में भेदन होने पर वहां दर्द और भारीपन हो जाता है। नाभि का निचला भाग ठण्डा पड़ जाता है। स्रोतों से रक्त बहने लगता है। यदि आशय न भी भिन्न हुआ हो तो भी छोटे-छोटे छिद्रों से रक्त बहकर आंत को भर देता है मुख बन्द छिद्रों द्वारा भरे हुए घड़े की तरह आंतें भारी हो जाती हैं।

३. विद्ध व्रण—उपर्युक्त कोष्ठ या उसके आशयों के अतिरिक्त यदि किसी तेज शस्त्र या शल्य द्वारा कोई सूक्ष्म व्रण बना दिया जाता है तथा वह शल्य उस व्रण से निकला हो या न निकला हो तो उस व्रण को विद्ध व्रण कहा जाता है। इसे पियर्स्ड, सुपरफिशियली पंक्चर्ड या गनशौट वुण्ड नाम दिया जाता है।

४. क्षत व्रण—जब कोई व्रण न तो अधिक छिन्न (कटा हुआ) हो और न अधिक भिन्न (भेदन किया हुआ) हो पर छिन्न-भिन्न दोनों ही उसमें हों तथा जो विषम (कहीं ऊंचा कहीं नीचा) हो तो वह क्षतव्रण कहलाता है। इसे इन्साइज्ड वुंड भी कहा जाता है।

५. पिच्चित व्रण—प्रहार या पीडन से जब कोई अंग अपना सामान्य रूप छोड़कर चौड़ा हो जाता है तथा हड्डी तक जिसमें मसल जाती है जिसके कारण रक्त और मज्जा निकलकर उसे भर देती हैं वह व्रण पिच्चित या कॉन्ट्यूज्ड या क्रश्ड वुंड कहलाता है।

६. घृष्ट व्रण—घर्षण से जब कोई अंग त्वचा रहित हो जाता है तथा उससे लसीका स्राव तथा जलन होती है जिसे उषास्राव की संज्ञा दी गई है (उषा=दाह विशेष स्राव=पानी सा बहना) या जलन के साथ पानी सा लसीका का निकलना इसका लक्षण है। इस व्रण का विचार ऊपर भी वाग्भटानुसार दिया जा चुका है।

सद्योव्रणों में चिकित्सा

उस काल में जब सर्जरी का आधुनिक प्रकार का विकास नहीं हुआ था आयुर्वेद के आचार्यों और व्रण-चिन्तकों द्वारा जो उपाय बतलाये गये थे वे काफी कारगर सिद्ध होते थे। आज उनमें थोड़ा परिवर्तन उस नये ज्ञान के आधार पर करना आवश्यक होता है जिसे इस युग ने बड़े परिश्रम से आविष्कृत किया है। नीचे प्राचीन शल्य चिकित्सा विधियों का वर्णन दिया जा रहा है :—

व्रणों में वेदना और उसका प्रतीकार—

जब छिन्न, भिन्न, विद्ध अथवा क्षत व्रण उत्पन्न हो जाता है और उससे रक्तस्राव अति मात्रा में होता है तब रक्तक्षय के कारण वात का अत्यधिक प्रकोप हो जाने से तरह-तरह की वेदना या रुजा उत्पन्न हो जाती है। इन वेदनाओं को दूर करने के लिये—

१. स्नेहपानं हितं तत्र—स्नेहपान करना चाहिए।

२. तत् सेको विहितस्तथा—वेशवार (अस्थि रहित मांस की पिष्ट) खिचड़ी आदि से सुहाता गरम-गरम सेकना चाहिए। इन्हें सुहाता गरम रखें।

३. सुस्निग्धश्चोपनाहनम्—चिकनाई युक्त पुल्टिस बांधनी चाहिए।

४. धान्य स्वेदांश्च कुर्वीत—उड़द आदि उबाल कर उनसे स्वेदन करें।

५. स्निग्धान्यालेपनानि च—स्निग्ध आलेप करें।

६. स्नेहवस्तिर्विधीयते—वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध तैलों से स्निग्ध वस्ति दें।

७. सद्यः सद्योव्रणं सिञ्चेदथ यष्ट्याह्वसर्पिषा ।
तीव्रव्यथं कवोष्णेन बलातैलेन वा पुनः ॥

जैसे ही किसी ऐक्सीडेंट में कोई सद्योव्रण हो जाय तो सुहाते गरम मुलहठी से सिद्ध घृत अथवा बलातैल से उस का सिंचन करके उसकी तीव्रव्यथा को कम करे।

क्षतोष्मा (घाव की जलन) नाशक उपाय

क्षतोष्मणो निग्रहार्थं तत्कालं विसृतस्य च ।
कषायशीतमधुर स्निग्धा लेपादयो हिताः ॥

क्षतोष्मा का निग्रह करने के लिए तत्काल निकाले गये शीतल मधुर और स्निग्ध स्वरसों का लेप करना हितकारी होता है।

रक्तस्राव (ब्लीडिंग) नाशक उपाय

किसी भी विधि से यदि सद्योव्रण से रक्तस्राव होने लगे तो उसे रोकने का तत्काल उपायःकरना चाहिए।

अतिनिःस्रुतरक्तस्तु भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक्

अर्थात् जब बहुत अधिक मात्रा में रक्त निकल गया हो तो रोगी को रक्त पिलावे अर्थात् उसकी सिरा द्वारा रक्त का ठीक-ठीक मैचिंग करके रक्ताधान (ब्लडट्रान्सफ्यूजन) अवश्य करे।

रक्तस्राव रोधक जो उपाय पूर्व में बतलाये हैं उनका उपयोग करे।

छिन्न सद्यो व्रणों का उपचार

कट जाने से सिर या पार्श्व के जो सद्योव्रण विवृत (चौड़े मुख वाले फटे हुए) हो गये हों—तान् सीव्येद् विधिनोक्तेन उन्हें विधि पूर्वक सी दे (टांके लगादे) 'बध्नीयाद् गाढ़मेव च' और फिर उस पर कस कर पट्टी बांध दे।

कर्णस्थानादपहृतं अगर कान कटकर अपने स्थान से अलग हट गया हो तो 'स्थापयित्वा यथास्थितम् सीव्येद्' उसे पहले ठीक स्थान पर बैठाकर टांके लगादे। तैलेन स्रोतश्च अभितर्पयेत् तथा कान के कुहर में यथोक्त (वात नाशक तैल भर दे।

कृकाटिका (सिर-ग्रीवा के सन्धिस्थल पर) कट जाने पर वायु के निकलने पर ठीक से निवेशित करके बांधे और निरंतर टांके लगादे। फिर उस पर बकरी के घी का परिषेक करे। उत्तानोऽन्नं समश्नीयात्—चित लिटाकर खाना दे। शयीत च सुयन्त्रितः—इधर-उधर बिना हिले लिटाये रखे।

शाखाएं (हाथ अथवा पैर) जब कट जायें और घाव बहुत फैल जायें तो पहले सन्धि और अस्थियों को ठीक से बैठाकर त्वचा में वेल्लितक टांके भरदे फिर तैल से परिषेक करके उसे गोफणा बन्ध चमड़े की पट्टी का लगाकर साध दे। अगर हाथ या पैर बिल्कुल कट जायें तो तैल से दग्ध कर कोशबन्ध पट्टी बांध दे। कोशबन्ध को आजकल स्टम्पबैंडेज कहते हैं।

अगर पीठ में सद्योव्रण हो जाय तो उसे उत्तान (चित) सुलावें। यदि छाती में हो तो उलटा लिटावें—

पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदुत्तानं शाययेत् तु तम्।
अतोऽन्यथा चोरसिजे शाययेत् पुरुषं व्रणे ॥

सद्योव्रण रोपणार्थ चन्दनादि तैल

(अष्टांग) चन्दन, पद्माक, लोध, नीलकमल, प्रियंगु, हल्दी, मुलहठी और आठवां दूध इनसे सिद्ध तैल सद्योव्रणों विशेष कर छिन्न व्रणों को भर देता है।

(त्रयोदशांग) चन्दन, कर्कटशृंगी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, जटामांसी, गुडूची, हरेणु (काबुली चना), कमलनाग, त्रिफला, नीलकमल, त्रिवृत्, इन १३ को और दूध के साथ सिद्ध तैल त्रयोदशांग तैल कहलाता है। ये दोनों तैल अच्छे सद्योव्रण रोपण हैं। तैल सिद्ध करने हेतु भैषज्यकल्पना के सामान्य सिद्धान्त जो स्नेहपाक में लागू होते हैं लगाने चाहिए। अर्थात् उपर्युक्त औषधियों का कल्क १ भाग तिल का तैल ४ भाग तथा दूध १६ भाग डालकर सिद्ध करें। पानी का उपयोग इन दोनों तैलों में न करें—नात्र पाको जलेन पयसैव पाकं मान्यते। त्रिवृत् से गयदास मज्जा को छोड़ शेष ३ स्नेह वसा तैल घृत इन तीन को लेने का परामर्श देते हैं जिसे सौश्रुतीकार श्री द्विवेदीजी भी स्वीकार करते हैं किन्तु मूल श्लोक—

त्रयोदशाङ्गं त्रिवृतमेतद् वा पयसान्वितम् ।
तैलं विपक्वं सेकार्थे हितन्तु व्रणरोपणे ॥

स्पष्ट बतलाता है कि तैल का पाक होना है। वा अष्टांग या त्रयोदशांग के प्रयोग की ओर विकल्प का इङ्गित करता है।

भिन्न सद्योव्रण चिकित्सा

नेत्र का भिन्न सद्योव्रण—अगर नेत्र में भेदन हुआ हो और वह कार्य सम्पादन में (देखने में) असमर्थ हो गया हो या असाध्य रूप का हो तो उसे छोड़कर किन्तु जो पूरी तरह नष्ट न हो तथा लटक आया हो—तन्निवेश्य यथास्थानम् (उस आंख को अपने गोलक में ठीक से बैठाकर) अव्यविद्ध शिरं शनैः सिराओं (नर्वों) को बिना उनके सम्बन्धों को गड़बड़ाए धीरे-धीरे कमल के पत्र द्वारा हाथ से दबाते हुए नेत्र को अपने स्थान पर बैठा दे—ततोऽस्य तर्पणं कार्यं नस्यंश्चानेन सर्पिषा—फिर उसका निम्न लिखित घृत से तर्पण करावे और घृत की ही नस्य दे—

यह घृत है —

आजं घृतं क्षीरपात्रं मधुकश्चोत्पलानि च ।
जीवकर्षभकौ चैव पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ।।
सर्व्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेतत् प्रशस्यते ।

मुलहठी, नीलकमल, जीवक, ऋषभक को पीसलें यह कल्क १ भाग लें ४ भाग बकरी के दूध से प्राप्त घी डालें १६ भाग बकरी का दूध डालें अब इसे सिद्ध करलें । यह घी सब प्रकार के नेत्राभिघात में प्रशस्त माना जाता है ।

उदर का भिन्न सद्योव्रण—किसी शस्त्र से भेदन होने से या बन्दूक की गोली लगजाने से उदर भिन्न हो जाय और उससे मेदोवर्ति निकल आवे । यह मेदोवर्ति उदर की पेरिटोनियम का कोई भाग मेजेंटरी या ओमटंम हो सकता है । या सिर्फ उदर का फैट मात्र भी हो सकता है । तो—

उदरान्मेदसोवर्त्तिर्निर्गता यस्य देहिनः ।
कषायभस्ममृत्कीर्णां बद्ध्वा सूत्रेण सूत्रवित् ।।
अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्धान्मधुसमायुतम् ।
बद्ध्वा व्रणं सुजीर्णेऽन्ने सर्पिषः पानमिष्यते ।।
स्नेहपानादृते चापि पयः पानं विधीयते ।

मेदोवर्ति (उदरस्थ वसा) के निकल आने पर उसे शास्त्र का ज्ञाता वैद्य अर्जुन और सर्ज के कषाय उन्हीं दोनों की राख और काली मिट्टी से बुरक कर सूत्र बांधे फिर सूत्र से आगे अग्नितप्त शस्त्र द्वारा काट दे उस पर मधु चुपड़ दे तथा व्रण को बांध दे । जब भोजन पच जाय तब घृत पान करावे स्नेह पान के स्थान में दुग्ध पान भी कराया जा सकता है । दूध में शक्कर, मुलहठी चूर्ण, लाख या गोखुरू और दन्ती डालकर देते हैं । इससे वेदना और दाह दोनों का शमन हो जाता है । कभी-कभी इस मेदोवर्ति के बिना कटे रह जाने पर पेट में आटोप और शूल होकर मृत्यु तक हो जाती है इसलिये उसे काट कर उस पर मेदोग्रन्थि के प्रकरण में बतलाये गये तैल का प्रयोग भी करना न भूलना चाहिए ।

अन्तर्लोहित (इंटर्नल ब्लीडिंग)

कभी-कभी पेट में शल्य घुस जाने पर वह त्वचा भेदकर शिराओं-वाहिनियों को फाड़ता हुआ ऊपर लिखे उपद्रव तो करता ही है, अन्दर ही अन्दर रक्त भी बहता रहता है—

तत्रान्तलोहितं पाण्डुं शीतपादकराननम् ।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धञ्च विवर्जयेत् ।।

उसके कारण यदि देह फक्क सफेद पड़ गई हो, हाथ पैर, चहरा ठण्डा पड़ गया हो ठण्डी श्वास और आंखें लाल हों, पेट फूल गया हो तो वैद्य उसे असाध्य समझकर छोड़ दे ।

अन्तर्लोहितता आमाशय में हो तो वमन करावे । पक्वाशय में हो तो विरेचन करावे या बिना चिकनाई की आस्थापन बस्ति दे । आस्थापन हेतु उष्ण गोमूत्रादि का प्रयोग करे । जौ, बेर, कुलथी के यूषों का उपयोग करे ।

बाद में उचित भोजन या यवागू को सेंधानमक मिलाकर पिलावे । अनिर्निःसृतरक्तो वा श्यन्नकोष्ठः पिबेदसृक्—यदि अधिक रक्त निकल जाय तो रक्तपान करावे । पर यह रक्तपान ब्लडट्रान्सफ्यूजन के अतिरिक्त अन्य संभव नहीं है ।

साध्यता का ज्ञान इस श्लोक से होता है—

स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्यविण्मूत्र मारुताः ।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः ।।

यदि मल, मूत्र और वायु कोष्ठ से अपने-अपने स्रोतों या मार्गों द्वारा निकलते रहें और कोई उपद्रव न हो तो भी भिन्न कोष्ठी मानव जीवित रह सकता है ।

अगर आंतें निकल आवें तो

अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत्—इस विषय का पूरा विवरण आगे चिकित्सा भाग में दिया जावेगा ।

इसी प्रसंग में सुश्रुत संहिता में वृषणों का अपने कोष से वाहर निकलना, खोपड़ी की हड्डी के टूट जाने पर मस्तुलुंग का वाहर आना आदि विप्र सद्योव्रणों की चिकित्सा आगे चिकित्साखण्ड में दी जायगी।

सद्यःक्षत में

१. उस क्षतव्रण को निःशोणित पहले करना चाहिए अर्थात् वहां वहते रक्त को वन्द करना चाहिए।

२—फिर उसकी शुद्धि करनी चाहिए।

३—उसके प्रक्षालन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

४—फिर चक्र तैल से उसका तर्पण किया जाना चाहिए।

तिल तैल पीडनोपकरण काष्ठेभ्यो (तेली के कोल्हू के काष्ठ से) अणुतैलन्यायेन (तैल निकालने की अणु तैलीय विधि से) गृहीतं तैलं चक्रतैलम् (निकाला हुआ तैल चक्रतैल कहलाता है)।

५. मजीठ, हल्दी, मारंगी, त्रिफला, तूतिया, वायविडंग, कुटकी, हरीतकी, गुडूची, करंज इनसे सिद्ध किया हुआ तैल इन व्रणों का रोपण करता है। इसी प्रकार तालीसपत्र, पद्माक, जटामांसी, कावुली चना, अगर, चन्दन, हल्दी, दारुहल्दी, कमलगट्टा, खस, मुलहठी इनसे स्नेह कल्पना विधि से तैल पाक करले। यह भी वहुत रोपण तैल वनता है।

अन्य सद्योव्रणों के चिकित्सा सूत्र

१. क्षते क्षतविधिः कार्यः पिच्चिते भग्नवद् विधिः।
घृष्टे रुजो निगृह्याशु चूर्णैरुपचरेद् व्रणम्॥

क्षतव्रण में क्षत विधिवत् पिच्चित में भग्नवद्, घृष्ट व्रण में वेदनाशामक चूर्णों से चिकित्सा करें।

२. यदि विश्लिष्ट, पतित, मथित, हत व्रण हों तो तैलपूर्ण द्रोणी में विठा दे तथा मांसरस पिलावे। क्षीण और मर्माहत व्यक्ति में भी यही करना चाहिए। मर्मेहत को सौश्रुतीकार ने शॉक (क्रियासंग) से पीड़ित कहा है।

३. पित्तविद्रधि की चिकित्सा में वर्णित घृतों का प्रयोग सद्योव्रणों में किया जा सकता है।

४. सद्यःक्षत व्रण में यदि दर्द वहुत हो तो उसे सुहाते गरम घी या वला तैल से सिंचित करे।

५. मंजिष्ठादि रोपण तैल तथा दुष्ट व्रण चिकित्सा—मजीठ, हल्दी, मारंगी, हरीतकी, तूतिया, सूरजमुखी, पद्माक, मुलहठी, लोध, विडंग, हरेणु (कावली चना), तालीसपत्र, जटामांसी, चन्दन, कमलकेसर, मजीठ, खस, लाख, क्षीरीवृक्ष (वरगद, गूलर, पीपल) के पत्ते, चिरौंजी, तेंदू के नये फल, जो मिल सकें लेकर तैल सिद्ध करें। यह तैल शूलशामक, जीवाणुनाशक तथा व्रणों का रोपण करने वाला है। सभी दुष्ट व्रणों का रोपण करता है। दुष्टव्रणों में वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, लंघन, उचित पथ्य का उपयोग करें। आरग्वधादिगण, सुरसादिगण के कषायों से घाव धोवें और इन्हीं से वने तैलों से शोधन करें। क्षार द्रव्यों से सिद्ध तैल भी शोधन हेतु दे सकते हैं।

द्रवन्त्यादि तैल या घृत—जमालगोटा (द्रवन्ती), पूतिकरंज, दन्ती, चित्रक, डीकामाली, नीम के पत्ते, कासीस, तूतिया, निशोथ, ज्योतिष्मती, नीलनी, हल्दी, दारुहल्दी, सेंधानमक, तिल, मुण्डी, गोवापदी, शुकनासा (कीरकन्द), लांगली, मनःशिला, कोशातकी, मेंहदी, इन्द्रवारुणी, सेहुंड, मूर्वा, आक, विडंग, हरताल, करंज जो भी मिलें लेकर उनसे तैल सिद्ध करें या घृत तैयार करें।

सेंधा नमक, त्रिवृत, एरण्ड पत्रों का कल्क वातिक दुष्टव्रण में, तिल, तेजोवती, दन्ती, स्वर्जिका, चित्रक का कल्क कफज दुष्टव्रणों में प्रयोग में लाते हैं ताकि पूतिमांस को हटाया जा सके।

इन्हीं तैलों और घृतों और कल्कों को मेह तथा कुष्ठ के व्रणों में भी प्रयोग कर सकते हैं।

इस प्रकार यह ६ प्रकार के व्रणों में प्रयुक्त उपचार विधि दे दी गई है—नातः शक्यं परं वक्तुमपि निश्चित वादिभिः। यह सुश्रुतकालीन सद्योव्रण चिकित्सा का अन्यतम इलाज था। सुश्रुत का कथन है कि ७ दिन तक तो कषाय, मधुर, शीतल, स्निग्ध सद्योव्रण की ऊपर वर्णित चिकित्सा की जाय, वाद में व्रणविज्ञान में लिखित निजव्रणीय चिकित्सा का अवलम्वन किया जावे।

कषाय मधुराः शीताः क्रियाः स्निग्धश्च योजयेत्।
सद्योव्रणानां सप्ताहं पश्चात् पूर्वोक्त माचरेत्॥
पूर्वोक्तं अर्थात् द्वि व्रणीयोक्तम् —डल्हणः।

★★

शल्य–रोगियों की साध्यासाध्यता में

आचार्यों के अनुभव

श्रीमती साधना गौड, धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय, हाथरस।

यद्यपि आधुनिक विज्ञानवादी विविध शुभा-शुभ लक्षणों और शकुनों को आज महत्व नहीं देते क्योंकि अब शल्यतन्त्र उन सीमाओं को पार कर चुका है जो कभी दुर्लंध्य या अलंध्य मानी जाती थीं। न तब एण्टीबायोटिक ड्रगों का आविष्कार हो पाया था न संज्ञाहरण का ही स्वरूप इस रूप में प्रकट हुआ था। ऑपरेशन थियेटर, ऑक्सीजन प्रयोग, सिरा द्वारा पोषणकों का प्रयोग भी तब शुरू न हो पाया था। शकुनादि के अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों ने रोगी की मनःस्थित का तब सूक्ष्मावलोकन किया था जो आज भी उतना ही साध्यासाध्यता के निर्णय के लिए उपयोगी है, जैसा कि पिछले समय में था। यही नहीं, कुछ रोगों में ऐसे लक्षण आ उपस्थित होते हैं जो प्राचीनकाल से आज तक भी मानव की रोगमुक्ति को संभव नहीं मानते। सुश्रुत सूत्र स्थान के अध्याय २८, २९, ३०, ३१, ३२ और ३३ वें अध्यायों में आचार्यों के अनुभवों का ऐसा बहुमूल्य आकलन छिपा हुआ है, जो केवल इतिहास की ही वस्तु न होकर प्रेक्टीकल धरातल पर भी आज के सर्जन को आधुनिक शल्य की चुनौतियों के प्रति जागरूक बनाता है, इसीलिए यहां इस लेख में उसका कुछ आभास कराया जा रहा है।

रिष्ट लक्षण मृत्युसूचक होते हैं !

१. फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा ।
स्यापयन्ति भविष्यत्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥

—सू० अ० २८

जैसे फूल फल के, धूंआ अग्नि के, बादल वर्षा के आगमन की सूचना देते हैं वैसे ही रिष्ट या अरिष्ट रोगी की मृत्यु की निश्चित सूचना दिया करते है।

२. तानि सौक्ष्म्याद् प्रमादाद्वा तथैवाशु व्यतिक्रमाद् ।
गृह्यन्ते नोद्गतान्यज्ञैः मुमूर्षोर्न त्वसंभवात् ॥

ये रिष्ट या अरिष्ट सूक्ष्म होने से चिकित्सक के प्रमाद से या उनके शीघ्र पलट जाने से यह सम्भव है कि उन्हें अज्ञचिकित्सक न ग्रहण कर पावें (न पहचान सकें) परन्तु ऐसा कदापि संभव नहीं कि मरने वाले (मुमूर्ष) के शरीर में उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। लिखा है—मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्ट पुरःसरम्—विना अरिष्ट लक्षण के पहले से उत्पन्न हुये किसी रोगी की मृत्यु संभव नहीं है।

३. ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः ।
रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥

जिसे रिष्ट या अरिष्ट लक्षण उत्पन्न हो गया उसकी मृत्यु निश्चित ही होती है। उसका निवारण चिकित्सक द्वारा चिकित्सा से कदापि सम्भव नहीं। परन्तु ऐसा कहा जाता है कि निष्पाप ब्राह्मणों द्वारा जो रसायन, जप और तप में सदा तत्पर रहते हैं, मृत्यु का निवारण हो सकता है।

४. अरिष्ट लक्षण उत्पन्न हो जाने पर बिना उसका ध्यान दिये जो भिषक्(सर्जन)चिकित्सा करता है वह रोगी को बचा नहीं पाता और रोगी की उसके इलाज में मृत्यु

हो जाने से उसे बहुत अपयश मिलता है—अतोऽरिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक्—इसलिये उसे अरिष्टों का यत्नपूर्वक निरीक्षण कर लेना चाहिए। तथा—

क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः।
वर्जयेत्तान् भिषक् प्राज्ञः संरक्षन्नात्मनो यशः॥

अगर चिकित्सा ठीक-ठीक आरम्भ करने पर भी जिनके व्रण सिद्ध न हों उन रोगियों को समझदार भिषक् अपनी कीर्ति की रक्षा के लिए त्याग दे।

भिषक् प्रकृति और विकृति को समझे

१. गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां स्वभावतः।
वैकृतं यत् तदाचष्टे व्रणिनः पक्वलक्षणम्॥

जब शल्य रोगी के स्वाभाविक गन्ध, वर्ण और रस आदि भावों में विकृति उत्पन्न हो जाय तो रोगी की विनाशोन्मुखता समझनी चाहिए।

प्राकृतिक गन्धें—सुश्रुत ने निम्नांकित प्राकृतिक गन्धें गिनाई हैं:—

i. वात से—कटु गन्ध
ii. पित्त से—तीक्ष्ण गन्ध
iii. कफ से—विस्र गन्ध
iv. वातपित्त से—लाजा गन्ध
v. वातकफ से—अलसी के तैल जैसी गन्ध
vi. पित्तकफ से—तिल तैल जैसी गन्ध
vii. रक्त से—लोह गन्ध, तथा
viii. सन्निपात में—यही गन्धें मिश्रित रूप में मिलती हैं।

वैकृत गन्धें—मरणोन्मुख शल्य रोगियों के घावों में निम्नलिखित विकृत गन्धें मिलती हैं:—मद्य, अगुरु काष्ठ, घृत, चमेली का फूल, कमल पुष्प, चन्दन, चम्पा पुष्प के समान गन्ध का आना या दिव्य गन्ध का आना या कुत्ता, घोड़ा, चूहा, कौआ, सड़ा सूखामांस या खटमल की जिसमें गन्ध आवे, सड़ी कीचड़ या धरती पर पानी डालने से उठने वाली गन्ध सभी गर्हित या अनिष्टकारी मानी जाती हैं। अगर इन गन्धों पर हमारे सर्जन ध्यान दें तो यूरीमिया, अम्लोत्कर्ष, ऐसिटोन की उपस्थिति या कैंसर प्रभृति मारक रोगों में इनकी उपस्थिति आज भी सर्जन को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देता है।

विकृत वर्ण—अनेक प्रकार के रंगों का परिवर्तन भी शल्यरोगी मृत्यु की सूचना देता है—

i. पित्तज व्रण श्याम (ईषत् श्याम) केशर और ककुष्ठ वर्ण के हों पर उनमें दाह और चोष न हो तो उन्हें त्याग दें क्योंकि वे असाध्य होते हैं;

ii. श्वेत, स्निग्ध, खुजली वाले कफज ऐसे व्रण जिनमें दूयन (पीड़ा) तथा दाह दोनों हों वे भी असाध्य हैं;

iii. जिन वातज व्रणों का रंग काला हो, स्राव पतला निकले, मर्मस्थ होने पर भी जिनमें तनिक भी पीड़ा न हो उनको भी त्याग देना चाहिए।

विकृत शब्द—क्ष्वेड और घुर्घुर शब्द युक्त जलते हुए से सशब्द वायु को फेंकते हुए त्वचा और मांस में स्थित शब्द असाध्य व्रण में पाये जाते हैं।

विकृत स्पर्श—मर्मस्थान न होने पर भी जिन व्रणों में अत्यन्त वेदना हो या जो बाहर से ठण्डे होने पर भी अन्दर से आग उगलते से व्रण या बाहर से गरम और अन्दर से ठण्डे व्रण भी असाध्य होते हैं।

विकृत रूप—शक्ति, ध्वज, कुन्त, घोड़ा, हाथी, गो, वृष, राजमहल जैसे आकार के व्रण तथा जिन पर चूर्ण न छिड़का हो पर जो चूर्ण छिड़कने जैसे दिखलाई देते हैं, ऐसे व्रण असाध्य कोटि में आते हैं।

असाध्य व्रण

प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रण येषां च मर्मसु॥

प्राणक्षय, मांसक्षय, श्वास, कास, अरोचक के उपद्रवों से युक्त ऐसे व्रण जिनसे बहुत अधिक पूय और रुधिर बहता है तथा जो मर्मस्थल पर बन गये हैं, वे असाध्य होते हैं।

दूतादि द्वारा शुभाशुभ परिज्ञान

सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान का उन्नीसवां अध्याय दूत-दर्शन संभाषा, वेष, चेष्टा, नक्षत्र, वेला, तिथि, निमित्त, शकुन, वायु, वैद्य का स्थान, वाक्-देह-मन की विचेष्टाओं द्वारा शल्य रोगी के शुभा-शुभ का परिज्ञान किया जाता है।

दूत—कर्म सिद्धि हेतु उसी मत, आश्रम और वर्ण के अनुसार दूत भेजे जाते हैं। कर्म की असिद्धि के लिए

उलटे मत, भिन्न आश्रम और भिन्न वर्ण के दूत पहुँचते हैं। नपुंसक, स्त्री, अनेक या अनेक कार्यों के लिए आये हुए, निन्दक, गधे या ऊंट पर चढ़कर आये हुए, एक के बाद एक करके आते चले जाने वाले दूत गर्हित माने जाते हैं। हथियार बन्द, सफेद छोड़ अन्य रंग के कपड़े पहने हुए, गीले पुराने फटे मैले वस्त्र पहने, अंग-भंग या अधिकांग, बेचैन, विकृत, रौद्ररूप (कुवेश वाले) दूत भी गर्हित हैं।

सम्भाषा—रूक्ष, निष्ठुर और अमांगलिक शब्द बोलने वाले लोग भी गर्हित होते हैं।

चेष्टा—इनमें हाथ में जूता लिए, विकृत करने वाले रोग से पीड़ित, अधम आचरण वाले, रोते हुए, श्वास जिनकी फूल गई हो, विकृत दृष्टि वाले, तैल चुपड़े या कीच लपेटे, हाथ में कपाल, डेला, अस्थि, राख आदि लिए हुए दूत भी विकृत चेष्टा वाले माने जाते हैं। इनसे भी रोग की गहन स्थिति का आभास होता है। नंगा भूमि पर लेटा हुआ, केश बखेरे, पसीने से तर बतर, विह्वल दूत भी गर्हित माना जाता है।

समय—वैद्य जब श्राद्ध कर्म करता हो, हवन कर रहा हो, या कोई भूमिकम्प आदि उत्पात हो रहा हो, मध्याह्न, अर्धरात्रि, प्रभाव, सन्ध्या, कृत्तिका, आर्द्रा, अश्लेषा, मघा, मूल, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा, भरणी आदि नक्षत्रों में, चतुर्थी, नवमी, षष्ठी, सन्धि दिवस (पूर्णिमा, अमावस्या, प्रतिपदा इत्यादि)। तिथियों में जो दूत पहुँचता है वह भी सुश्रुत के मत में असाध्यता का ही द्योतक है।

शुभदूत लक्षण

शुक्लवासा: शुचिर्गौर: श्यामो वा प्रियदर्शन:।
स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूत: कार्यकर: स्मृत:॥
स्वयनिनागतस्तुष्ट: पादाभ्यां शुभचेष्टित:।
स्मृतिमान् विधिकालज्ञ: स्वतन्त्र: प्रतिपत्तिमान्॥
अलंकृतो मङ्गलवान् दूत: कार्यकर: स्मृत:।
स्वस्थं प्राङ्मुखमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम्॥
उपसर्पति यो वैद्यं स च कार्यकर: स्मृत:।

सफेदवस्त्र पहने, पवित्र, गौरवर्ण या श्यामवर्ण, देखने में सुन्दर रोगी की ही जाति का, उसीके गोत्र का, अपनी सवारी से आया हुआ, संतुष्ट या पैदल चलकर आया हो, शुभचेष्टाएं करता हो। अलंकृत हो, स्मृतिमन्त, विधानज्ञ, कालज्ञ हो, स्वतन्त्र, ज्ञानवान्, मंगलवान् पूत सफल माना जाता है। जो दूत वैद्य के पास तब जाता है जब वह स्वस्थ, पूर्व की ओर मुख किये हुए, सम और शुद्ध स्थान पर शुद्ध होकर बैठा हुआ हो तब भी कार्य की सिद्धि होती है।

प्रस्थानकालीन शुभ लक्षण

चिकित्सा के लिये जब वैद्य चले तब मांस, पानी भरा घड़ा, ब्राह्मण, हाथी, गौ, श्वेतवस्तु, पुत्रयुक्त माता। बछड़े के साथ गौ, अलंकृता कन्या, मछली, कच्चाफल, स्वस्तिक का चिन्ह, लड्डू, दही, स्वर्ण, अक्षतपात्र, रत्न, पुष्प, राजा, जलती हुई अग्नि, घोड़ा, हंस, चाष, मोर, हिनहिनाता घोड़ा, वांई ओर उल्लू का स्वर, पत्र पुष्प फल युक्त वृक्ष, पुल्लिंगी पक्षी वांये, स्त्रीलिंगी पक्षी दाहिने, कुत्ते और शृगाल का दाहिने से वांये जाना, नकुल तथा चाष का वांये से दाहिने जाना आदि प्रस्थानकालीन शुभ लक्षण माने जाते हैं।

भवने पूज्यते वाऽपि यस्य वैद्य: स सिध्यति

जब वैद्य रोगी के घर में पहुँच जाता है तब यदि उस वैद्य की पूजा की जाती है तो वह रोगी अवश्य रोग-मुक्त हो जाता है यह मान्यता आज भी यथावत् मानी जाती है।

शुभाशुभ स्वप्न विचार

स्वप्न में जो रोगी, देवताओं, द्विजों, गौ, बैल, यज्ञ-कर्म, साधु, निर्मल जल, मांस, मत्स्य, माला, श्वेतवस्त्र, फल देखता है या महल या पर्वत या वृक्ष पर चढ़ता है या नदी या समुद्र को तैरकर पार करता है, अजगर, जलौका, भ्रमर को देखता है वह शीघ्र स्वस्थ हो जाता है।

अशुभ स्वप्नों की एक बड़ी सूची दी गई है। इनमें कुछ इस प्रकार हैं—

ज्वर से पीड़ितों की कुत्ते से मैत्री।
शोषियों की वन्दर से मैत्री।
उन्मादियों की राक्षसों से मैत्री।
अपस्मारियों की प्रेतों से मैत्री।

प्रमेह या अतीसार से पीड़ितों का स्वप्न में जलपान करना, कुष्ठियों का स्नेहपान करना, गुल्मियों में कोष्ठ में

तथा शिरःशूलियों में सिर पर वृक्ष की उत्पत्ति, छर्दि में शष्कुली सेवन, श्वास तथा तृषा रोग में घूमना, पाण्डु-रोगी का हल्दिया रंग का भोजन करना, रक्तपित्ती का स्वप्न में रक्तपान करना ये सभी विनाश कारक माने जाते हैं।

अशुम स्वप्न जो भी व्यक्ति देखे उसे उसके परिहार हेतु भी यत्न करना चाहिए—

स्वप्नान् एवं विधान् दृष्ट्वा प्रातः उत्थाय यत्नवान्।
जपेच्चापि शुभान् मन्यान् गायत्रीं त्रिपदां तथा॥
देवतायतने चैव वसेद्रात्रित्रयं तथा।
विप्रांश्च पूजयेन्नित्यं दुःस्वप्नात् प्रमुच्यते॥

जिस रात्रि में अशुम स्वप्न देखे सवेरे उठकर विद्वान् ब्राह्मणों को उड़द, तिल, लोह, स्वर्ण आदि का दान, मन्त्रों का जप, गायत्री का त्रिपाद जप, किसी इष्टदेव का स्मरण बाद में ३ रात्रि किसी देवालय में शयन, विप्रपूजनादि से अशुम स्वप्न के प्रभाव से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। अगर रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वप्न देखे तो देवतादि का स्मरण और गायत्री जपता हुआ, फिर सो जाय।

यह याद रखें कि नीचे लिखे स्वप्नों का कोई फल नहीं होता—

i. अपनी प्रकृति के अनुरूप देखा हुआ स्वप्न;

ii. ऐसा स्वप्न जिसका जागने पर स्मरण ही न रहे;

iii. अशुम स्वप्न देखने के बाद शुम स्वप्न देखा गया हो;

iv. चिन्ताकृत (दृष्ट-श्रुत-अनुभूत-प्रार्थित-कल्पित) स्वप्न;

v. दिन में देखा गया स्वप्न;

पञ्चेन्द्रियार्थों की विप्रतिपत्ति

शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध ये ५ इन्द्रियार्थ कहलाते हैं इन इन्द्रियार्थों में यदि कोई विप्रतिपत्ति या गड़बड़ी हो जाय तो वह भी अरिष्ट लक्षण माना जाता है। भगवान् धन्वन्तरि ने इस पर भी अपने विचार सूत्र स्थान के ३० वें अध्याय में इस प्रकार दिये हैं :—

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्।
तत्वरिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे॥

जिस मनुष्य के शरीर और शील की प्रकृति विकृति में बदल जाय उसे संक्षेप में अरिष्ट कहा जाता है। इसकी विस्तृत व्याख्या हे सुश्रुत ! तू मुझ (धन्वन्तरि) से सुन।

शब्द विप्रतिपत्ति—जब कहीं कोई शब्द न हो रहा हो तब भी वह दिव्य, समुद्र, नगर का कोलाहल, मेघों की गर्जन के रूप में सुने, या जिसे कुछ भी सुनाई न दे या जो कुछ का कुछ सुने, सामान्य शब्दों को उलटा सुनता है, शत्रुओं के शब्दों में प्रसन्न तथा मित्रों के शब्दों से कुपित होता है या जो अकस्मात् सुनना बन्द कर देता है उसे गतायु समझना चाहिए।

स्पर्श विप्रतिपत्ति—जो शीतल को उष्ण और उष्ण को शीतल समझे शीतपिडका जिसके शरीर में दाह पैदा करें या जिसका सारा शरीर बहुत तप रहा हो फिर भी वह ठण्डक से कांपता हो, प्रहार या अंगच्छेद का जिसे बोध न रहे उसे गतायु जाने।

रस विप्रतिपत्ति—जो खट्टे को कड़ुआ और कड़ुए को मीठा समझे, सेवन किये रस जिसके शरीर में अपने गुणों के विपरीत काम करें मिथ्या उपयोग भी जहां दोष व अग्नि को सम रखे वह भी गतप्राण मानना चाहिए।

गन्ध विप्रतिपत्ति—सुगन्ध को दुर्गन्ध और दुर्गन्ध को सुगन्ध मानता हो, या अन्यथा गन्ध का ज्ञान करे, स्वस्थ होने पर बुझते हुए दीपक की गन्ध को नहीं जानता वह भी गतप्राण जानना चाहिए।

रूप विप्रतिपत्ति—जो दिन में तारे और चन्द्रमा देखे तथा रात्रि में सूर्य, जो निरभ्र आकाश में मेघ और बिजली देखे या वहां विमान, यान या प्रासाद देखता है, जिसे वायु और आकाश जिनका कोई रूप नहीं उन्हें भी साकार देखने का दावा करता है। धरती को धुंआ कुहरा या कपड़ों से ढंकी देखता है या लोक को जलता हुआ या जलमय या आठ खानों जैसी रेखाओं में विभक्त देखता है या जो नक्षत्रों सहित अरुन्धती, ध्रुवतारा या आकाश-गंगा को नहीं देखता है उसे लोग गतायु कहा करते हैं अर्थात् उसका जीवित रहना कठिन कहा जाता है। जिसे चांदनी, दर्पण, धूप या पानी में अपनी छाया नहीं दीखती या हीनांग दीखती है या जो अंगारों में भी नीलीज्वाला देखता है वह रोगी मर जाता है तथा स्वस्थ रोगी हो जाता है।

छाया विप्रतिपत्ति—शास्त्रकारों ने छाया, वर्ण, प्रतिच्छाया, और प्रभा इन ४ शब्दों का प्रयोग अरिष्ट लक्षणों का विवेचन करते हुए किया है। इनमें प्रतिच्छाया को हिन्दी में परछाईं कहते हैं इसकी गड़बड़ी ऊपर दी जा चुकी है। वर्ण रंग के लिए तथा प्रभा तेज के लिए प्रयुक्त शब्द है। छाया शरीर की कान्ति या कम्प्लैक्शन कहलाती है—छाया वर्ण प्रभाश्रया के अनुसार इसका निर्माण वर्ण और प्रभा इन दोनों से होता है। जब यह छाया श्याव, लोहितवर्ण की, नीली या पीली पड़जाती है तो भी प्राण का नाश निश्चित हो जाता है। कार्बनडाई ऑक्साइड की अति वृद्धि से शरीर श्याव तथा कार्बन मोनो ऑक्साइड विषता में लोहितक या लाल पड़ जाता है ऐसे प्राणी कहां बच पाते हैं। रंग के साथ चमक भी उनकी मिट जाती है यह छाया की विप्रतिपत्ति है। लिखा है—

> ह्रीरपक्रमते यस्य प्रभाधृतिस्मृतिश्रियः ।
> अकस्माद् यं भजन्ते वा स परासुरसंशयम् ॥

जिस व्यक्ति की लज्जा या प्रभा, धृति, स्मृति और श्री अकस्मात् उसे छोड़ देती हैं वह निश्चित ही गतायु हो जाता है।

अंगोपांग विप्रतिपत्ति—कभी-कभी शरीरांग या शरीरावयवों में ऐसी विकृति या गड़बड़ी देखी जाती है कि वह भी गतप्राणता या असाध्यता की ही सूचना देती है।

i. किसी के निचले होठ का गिरजाना और ऊपर के होठ का चढ़जाना;

ii. दोनों होठों का जामुन जैसा नील रक्त (परपिल) हो जाना;

iii. दांतों का लाल, काला या नीला पड़जाना या उखड़ कर गिर जाना;

iv. जीभ का काला, स्तब्ध, अवलिप्त कर्कश या सुन्न हो जाना;

v. कुटिल, शुष्क, स्फुटित शब्दायमान या निम्न नासिका का हो जाना;

vi. जिसके दोनों नेत्र संकुचित, विषम, स्तब्ध, लाल नीचे को लटके हुए या अविरल, अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए हो जाना;

vii. जिसके बाल सीमन्त युक्त हों, भौं लटकी हुई हों, पलकों के बाल टूटे हुए हों;

viii. जो मुख में रखे आहार को अन्दर न ले सके, सिर जिसका एक ओर लुढ़क जाय;

ix. एकाग्र दृष्टि का हो जाना तथा मूढता की उत्पत्ति;

x. दुर्बल या बलवान् हो पर बार-बार मूर्च्छा और मोह को प्राप्त हो- जिसकी नींद न टूटे या जो सदा जागता रहे या जो बोलते-बोलते मूर्च्छित हो जाय;

xi. जिसके रोम कूपों से रक्तस्राव हो रहा हो;

असाध्य के कई एक चित्र इन शब्दों में दिये गये हैं—

१. शीतपादकरोच्छ्वासश्छिन्नोच्छ्वासश्च यो भवेत् ।
   काकोछ्वासश्च यो मर्त्यस्तं धीरः परिवर्जयेत् ॥

जिसके हाथ-पैर ठण्डे पड़ गये हों, ठण्डी श्वास हो, जिसकी श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया बीच-बीच में छिन्न हो जाती है या जो काकवत् उच्छ्वास लेता है, ऐसे मनुष्य को वैद्य छोड़ दे।

२. स्वेदो दाहश्च बलवान् हिक्का स्वासश्च मानवम् ।
   बलवन्तमपि प्राणैर्वियुञ्जन्ति न संशयः ॥

जिस मनुष्य को स्वेद, दाह और अतिशय हिक्का रोग तथा श्वास रोग व्याप्त हो वह बलवान् भी प्राणों को अवश्य ही त्याग देता है।

३. वाताष्ठीला तु हृदये यस्योर्ध्वमनुयामिनी ।
   रुजाऽन्नविद्वेषकरी स परासुरसंशयम् ॥

जिसके हृदय में वायु की गांठ ऊपर की ओर बढ़ती हो दर्द और अन्नद्वेषकर रही हो (एञ्जाइना पैंक्टोरिस) वह निश्चय ही गतप्राण हो जाता है।

४. अनन्योपद्रवकृतः शोफः पादसमुत्थितः ।
   पुरुषं हन्ति नारीं तु मुखजो गुह्यजो द्वयम् ॥

बिना किसी उपद्रव के पुरुष में शोफ पैरों से उत्पन्न होकर ऊपर को जाता है या नारी के मुख या गुह्यांगों में उत्पन्न हो जाता है तो वे दोनों ही प्राणों को छोड़ देते हैं।

५. श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सव्यं चाक्षिनिमज्जति ।
   मुखं च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥

जीभ श्याव (सायनोज्ड), बाईं आंख बैठी हुई मुख से दुर्गन्ध ऐसे रोगी को वैद्य छोड़ दे।

६. ज्वर, अतीसार, शोफ ये तीनों जिस दुर्बल व्यक्ति को उपद्रव स्वरूप एक के बाद एक कष्ट दे वह नहीं बचता।

७. जिसे प्रवाहिका, शिरःशूल, दारुण कोष्ठशूल और प्यास तथा दौर्बल्य एक साथ आवें उसके सामने मृत्यु उपस्थित माननी चाहिए।

८. चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारोयोऽभिवर्धते।
प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद्गतायुषः॥

जिस बल मांस से क्षीण रोगी का विकार लगातार इलाज करने से भी बढ़ता जाता है तो उसका यह लक्षण आयु के गत होने का ही मानना चाहिए।

स्वभावविप्रतिपत्ति

जब किसी का स्वभाव (प्राकृतिक स्वरूप) ही गड़बड़ाने लगे तो समझना चाहिए कि वह मृत्यु को प्राप्त हो जायगा। स्वभाव विप्रतिपत्ति के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं:—

i. शुक्ल पदार्थ (दांत, नेत्र का शुक्ल भाग) काले पड़ जायं काले श्वेत हो जायं;

ii. स्थिर अंगों (अस्थियों) का मृदु होना, मृदुओं (जीभ) का कठिन होना;

iii. अचलों का चल होना, चलों (जोड़ों) का अचल होना;

iv. चौड़ों का संकोच, संकोचित का चौड़ना;

v. दीर्घों का ह्रस्व और ह्रस्वों का दीर्घ हो जाना;

vi. जिन्हें शरीर के बाहर जाना चाहिये (मलमूत्रादिक) उनका रुक जाना;

vii. शरीरांगों में अकस्मात् शैत्य, औष्ण्य, स्निग्धता, रूक्षता, जकड़न, विवर्णता और अवसाद का उत्पन्न हो जाना;

viii. शरीरांगों का अपने स्थान से च्युत, चंचल या वक्र होना;

ix. ललाट पर सिराओं की, शरीर में लाल व्यंग की, नासिका पर पिडकाओं की, माथे पर प्रभात में स्वेद की, बिना नेत्र-रोग के अश्रुपात की उत्पत्ति होना, बिना भोजन किए मूत्र पुरीष की वृद्धि, भोजन करने पर मूत्र पुरीष की कमी होना;

x. स्तनमूल, हृदय और छाती में शूलोत्पत्ति;

xi. शरीर के मध्य भाग का सूजना शेष भाग का पतला होना, शरीर के आधे अंग में शोथ होना, एक अंग या पक्ष का सूख जाना;

xii. स्वर का नष्ट, विकृत हीन या विकल होना;

xiii. दन्त, मुख, नख, शरीर में कहीं भी फूल जैसी आकृति का बन जाना;

xiv. जल में कफ, पुरीष तथा रेतस् (वीर्य) का डूबना;

xv. खांसी के साथ, तृष्णा; क्षीण होने पर भी वमन और अन्नद्वेष से युक्त; सफेन पूय रक्त का वमन करना; ज्वर कास से पीड़ित को श्वास का दौरा पड़ जाना।

अवारणीय परिस्थितियां

कुछ परिस्थितियां ऐसी भी उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें चिकित्साकर्म निष्फल हो जाता है। इसलिए उन्हें अवारणीय बनने से रोकना चाहिए। इस विषय में कुछ ज्ञान नीचे दिया जारहा है:—

१. वातव्याधि, प्रमेह, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ और उदररोग, ये ८ व्याधियां प्रकृति से ही दुश्चिकित्स्य होती हैं। इसलिए इनकी चिकित्सा में शुरू से ही सावधानी बरती जानी चाहिए।

२. यदि उपर्युक्त ८ महारोगों में प्राणक्षय, मांसक्षय, श्वास, तृष्णा, शोष और वमन के उपद्रव उत्पन्न हो जायं तो उन्हें असाध्य मानना चाहिए।

३. वातव्याधि में शोथ, सुप्तत्वक्, भग्न, कम्प और आध्मान तथा वेदना की उत्पत्ति विनाशक होती है।

४. प्रमेह (डायबिटीज) में पिडका (कारबंकल) की उत्पत्ति मारक होती है।

५. जिस कुष्ठ में शरीर फटे, अंग गले, नेत्र से खून टपके, स्वर नष्ट हो जाय वह भी मृत्युकारक होता है।

६. अर्श जिसमें तृष्णा, अरोचक, अतिरक्तस्राव, शोफ, अतीसार साथ में हो वह असाध्य होता है।

७. जिस भगन्दर से वात, मूत्र, पुरीष, कृमि और शुक्र का स्राव हो उसे त्याग दे।

—शेषांश पृष्ठ २९१ पर

राजा और वैद्य

व्याख्यानवाचस्पति डा० सुरेशचन्द्र शास्त्री रीडर, राजकीय बुंदेलखण्ड आयुर्वेद कालेज, झांसी
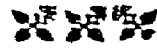
इसे युद्ध और वैद्य नाम भी दिया जा सकता है। सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान के ३४ वें अध्याय में थोड़े ही शब्दों में इसका विचार किया गया है।

१. राजपुरुष की महत्ता—

संकरः सर्ववर्णानां प्रणाशो धर्मकर्मणाम्।
प्रजानामपि चोच्छित्तिर्नृपव्यसनहेतुतः॥

अगर राजा का लोकतन्त्र में सत्ताधीश का नाश हो गया और विदेशियों का शासन हो गया तो सब वर्णों में संकरता या मिश्रण, धर्म का नाश, कर्म (व्यापार, व्यवसाय की हानि) तथा प्रजाजनों का अपने-अपने स्थान से उखड़ जाना रूप महान अनर्थ हो सकता है इसलिए जो राज्यतन्त्र चल रहा हो उसके चलाने वालों का समुचित संरक्षण करना आवश्यक है। इसलिए—

२. राजपुरुष की रक्षा—

दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्नाद् वैद्यपुरोहितौ॥

दोषजन्य तथा आगन्तुज इन दोनों प्रकार की मृत्युओं से नृपति की रक्षा वैद्य को अपनी रस चिकित्सा द्वारा तथा पुरोहित को मन्त्र प्रयोगों द्वारा करनी चाहिए। इनमें एक (वैद्य) युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का तथा दूसरा (पुरोहित) दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का अधिकारी है।

३. वैद्य का स्थान—

स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
भवेत्सन्निहितो नित्यं सर्वोपकरणान्वितः॥
वैद्योध्वज इवाम्भाति नृपतद्विद्यपूजितः॥

लश्कर की बड़ी छावनी में राजभवन या राष्ट्रपति-भवन के ही प्रांगण में सब प्रकार के उपकरणों से सुसज्जित वैद्य को रखना चाहिए। तथा जैसे ध्वज को श्रेष्ठ और उच्च स्थान प्राप्त रहता है वैसे ही विद्वान् वैद्य को भी सभी अधिकारीवर्ग में राजा के द्वारा पूज्य स्थान देना चाहिए।

वैद्यस्तु गुणवान् एकः तारयेदातुरान् सदा।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि॥

गुणवान् वैद्य अकेला ही सभी आतुरों को उसी प्रकार तार देता है जैसे अकेला कर्णधार नौका को गहन जल से तारता है।

ऊपर जो गुणवान् वैद्य को कहा गया है वे गुण राजकारण में प्रतिष्ठा हेतु वैद्य के पास होने ही चाहिए। ये गुण हैं—

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती।
लघुहस्त शुचिः शूरः सज्जोपस्कर भेषजः॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः।
सत्यधर्मचरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते॥

जो शास्त्रार्थ के तत्व को जानता हो, जिसने विधिवत् पाठ्यक्रम पूरा करते हुए चिकित्सा कर्म का साक्षात्कार किया हो, अपने आप भी जो सर्जीकल आपरेशन किये हुए हो, जिसका हाथ हलका हो, जो सदा पवित्रता से रहता हो, जो शूरवीर हो (कायर न हो) जिसके पास सब प्रकार का सामान तथा औषधियां हों, जिसकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि हो अर्थात् किस परिस्थिति में क्या करना चाहिए इसे जो शीघ्र सोच सके, बुद्धिमान, परिश्रमी, विशारद, सत्यवादी, तथा जो धर्मात्मा हो वही श्रेष्ठ भिषक् या भिषक्पाद कहा जाता है।

राजा की रक्षा का दायित्व वैद्य का

युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीषितः ।
भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥
विजिगीषुः सहामात्यैः यात्रायुक्तः प्रयत्नतः ।
रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः ॥

जब राजा अपनी सेना के साथ दूसरों को जीतने के लिए या अपने देश पर आक्रमण करने वाले शत्रु से राज्य की रक्षा करने के लिए चले तब उसकी रक्षा का तथा उसके अमात्यों (मन्त्रियों) की भी रक्षा का विशेष दायित्व भिषक् या वैद्य का होता है । वह देखे कि कोई इन्हें विष न दे दे ।

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम् ।
दूषयन्त्यरयः तच्च जानीयात् शोधयेत् तथा ॥

शत्रुगण, रास्ते को, जल को, पेड़ों की छाया को, खाद्य पदार्थों को, चारे को और ईंधन को विषयुक्त कर देते हैं ताकि इनका सेवन करते ही राजा और उसकी सेना मृत्यु को प्राप्त हो जाय । इसलिए वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह इन मार्गों, जलाशयों, कूपों, वृक्षों, चारे, आहार, इंधन आदि में विष का शोधन कर उन्हें निर्विष करे । क्योंकि १०१ तरह की मौतों में काल से होने वाली मौत केवल एक प्रकार की ही है शेष तो आगन्तु या अकाल मृत्युयें ही हैं । और भी लिखा है—

रिपवो विक्रमाकान्ता ये च स्वे कृत्यतां गताः ।
सिसृक्षवः क्रोधविषं विवरं प्राप्य तादृशम् ॥
विषैर्निहन्युर्निपुणं नृपतिं दुष्टचेतसः ।
स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित् सुभगेच्छया ॥
विषकन्योपयोगाद् वा क्षणाज्जह्यादसून् नरः ।
तस्मात् वैद्येन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः ॥

पराक्रमी शत्रु और उनके नौकर अपनी दुष्ट इच्छा-पूर्ति हेतु क्रोध में आकर बदला लेने के उद्देश्य से तरह-तरह के विषैले पदार्थ तैयार करके राजा के पास पहुँचाते हैं उसे पहुँचाने के लिए उसके दोष या दुर्बलता को ढूंढ लेते हैं । कभी-कभी राजा की प्रिय बनने के लिए राजमहल की स्त्रियां राजा को विषयुक्त योग खिला देती हैं या कभी कोई शत्रु राजा के पास विषकन्या भेज देता है जिसके संभोग से राजा तत्काल मर जाता है । इसलिए इन सब परिस्थितियों का ज्ञान करते हुए सतर्कतापूर्वक वैद्य को विष से लोकनायक या राष्ट्रनायक की रक्षा करने में तत्पर हो जाना चाहिए ।

आहार में विष से रक्षा

पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहितागदम् ।
महानसे प्रयुञ्जीत वैद्यं तद्विद्यपूजितम् ॥

पहले बतलाये गुणों से युक्त तद्विद्य और पूज्य ऐसे वैद्य को जिसके पास हर समय विषनाशक अगद (एण्टीटॉक्जिक द्रव्य) तैयार रहते हों राजा महानस या भोजन पाकशाला में नियुक्त करे । इसमें ये गुण और हों—कुलीन धार्मिक, स्निग्ध (मित्र भाव वाले), सुभृत (जिसे अच्छा वेतन दिया जाता हो), सततोत्थित (अहोरात्रं अध्ययन अध्यापन तदर्थं चिन्ता नृपशरीरस्वास्थ्यापादानेषुतत्पर), अलोभी, अशठ, भक्त (लौयल), कृतज्ञ, प्रियदर्शन (देखने में सुन्दर), क्रोधमत्सरपरुषता से रहित, नशा न करता हो, आलसी न हो, जितेन्द्रिय हो, क्षमावन्त हो, शुचिशील-दया युक्त, मेधावी, थकावट जिसे न व्यापे, अनुरक्त, हितैषी, पटु, प्रगल्भ, निपुण, दक्ष और माया (परवन्चन-बुद्धि) से रहित हो ।

उसे मुख की विकृति वाक् में अन्तर आदि जानकर विष देने वाले को पहचानने की शक्ति होनी चाहिए । उसे भृत्यों की बराबर परीक्षा करते रहना चाहिए ।

अन्न, पान, दतौन, अभ्यंग, अवलेखन, उत्सादन, कषाय, परिषेक, अनुलेप, वस्त्र, शैया, कवच, आभूषण, पादुका, पादपीठ (जिस चौकी पर पैर राजा रखे), घोड़े, हाथी की पीठ, कार की सीट, नस्य, धूम (सिगार या सिगरेट), अंजन आदि में विष कहां है इसका ज्ञान करना चाहिए ।

यदि कहीं अन्नपान में विष हो तो उसे आग पर डाल कर उसका शब्द, धूम, लौ देख परीक्षा करनी चाहिए । उस काल में मक्खी, कौआ, चकोर, कोकिल, क्रौंच, मोर, तोता, मेना, हंस, मृगराज, धब्बेदार हिरन, बन्दर आदि रखे जाते थे और उन पर विष का क्या प्रभाव पड़ता था उसे वैद्य तत्काल देखता था—सुश्रुत के ये वाक्य लैबोरेटरी ऐनीमलों (प्रयोग शाला के जीवजन्तुओं) की आज की कहानी का पुराना इतिहास स्मृतिपटल पर उभार देते हैं—

नृपभक्ताद् बलिन्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः ॥

अग्नि परीक्षा

हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चट चटायते।
मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च न चिराच्चोपशाम्यति।
चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायये क्षिप्रमेव तु।
दृष्ट्वाऽन्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः ॥
कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति।
हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकसारिके ॥
हंसक्ष्वेडति चात्यर्थं भृंगराजस्तु कूजति।
पृषतो विसृजत्यश्रुं विष्ठां मुञ्चति मर्कटः ॥

प्राणिगृह (ऐनीमल हाउस) की योजना

सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राज्ञस्तान् मृगपक्षिणः।
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा ॥
—सु० क० स्था० अ० १

इसलिए भोजन में विष की तत्काल उपस्थिति का ज्ञान करने के लिए (तथा शरीर में रोगाणुओं का प्रभाव जानने के लिए भी) इन पशु और पक्षियों को राजभवन की वैद्यकीय प्रयोगशाला में रखकर उनका पालन पोषण सदा करना चाहिए। ये विभूषा (शो) तथा रक्षा दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं।

प्राचीन काल में आचार्यों ने कितने व्यापक प्रयोग किये थे उनकी कल्पना हमारे इस देश के उन वैद्यों को करना कठिन ही है जिनकी पीढ़ियों के ७०० वर्ष गुलामी में ही बीते हैं। यूरोप अमेरिका आदि के स्वतन्त्र देशों में जो स्वरूप आज चिकित्सक ज्ञान का है वह हजारों वर्ष पूर्व हमने प्राप्त कर लिया था। हमारे राजा चक्रवर्ती बनने के लिए युद्ध सर्जरी के ज्ञाता भिषगाचार्यों को ले जाते और अपने सैनिकों की हर बीमारी से रक्षा करा लेते थे।

(●●)

पृष्ठ २८८ का शेषांश

८. जिस अश्मरी में नाभि और वृषण सूज गये हों, पेशाब रुक गया हो, दर्द तेज हो, सिकता-शर्करा जा रही हो वह असाध्य है।

९. ऐसा मूढगर्भ जिसमें गर्भकोष का परासंग (इनर्शिया) हो मक्कल और योनिसंकोच अत्यधिक हो वह स्त्री को मार डालता है।

१०. ऐसा उदररोग जिसमें पार्श्वभंग, अन्नद्वेष, शोफ, अतीसार, में जल निकाल देने पर भी जल पुनः-पुनः भर जाय वह वर्जनीय है।

११. ऐसा ज्वरी जो हिक्का, श्वास, पिपासा से आक्रान्त हो तथा जिसके नेत्र विभ्रान्त हों, क्षीण हो वह मर जाता है। उसमें यदि अतीसार और पैदा हो जाय तो शीघ्र मर जाता है।

१२. श्वास, शूल, तृष्णा, अन्नद्वेष, ग्रन्थि मूढता युक्त गुल्मी नष्ट हो जाता है।

१३. ऐसी विद्रधि या अन्तर्विद्रधि से पीड़ित रोगी असाध्य होता है जिसे आध्मान, मूत्राघात, वमन, हिक्का, तृषा, रुजा और श्वास इन उपद्रवों का समावेश हो।

१४. जिसके दांत, नाखून, नेत्र पाण्डु हों और जो सब कुछ पाण्डुवर्ण का ही देखे वह भी नष्ट हो जाता है।

१५. जो रक्त की बार-बार वमन करता है, नेत्र लाल हों तथा जिसे सब दिशाएं लाल दीखें वह भी मर जाता है।

अन्त में यह भी लिखा है कि राजसम्मत (रजिस्टर्ड) भिषक् (मेडिकल प्रैक्टीशनर) बनने के लिए वही योग्य माना जाता है जो इन अरिष्ट रूपों और साध्यासाध्यताओं की परीक्षा में उत्तीर्ण हो—

एतानि अरिष्टरूपाणि सम्यग् बुध्येत यो भिषक्।
साध्यासाध्यपरीक्षायां स राज्ञः संमतो भवेत् ॥

आचार्य सुश्रुत: व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्राणाचार्य डा० महेश्वर प्रसाद उमाशंकर; चीफ सर्जन एम० हास्पिटल, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

★

गुरु-शिष्य परम्परा

सुश्रुत संहिता में आये हुए श्लोक से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शल्य प्रधान तन्त्र को काशिराज भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुतादि शिष्यों को उपदेश दिया था।[1] अतः सिद्ध है कि आचार्य सुश्रुत काशिराज भगवान् धन्वन्तरि के शिष्य थे। भगवान् धन्वन्तरि के पास अध्ययनार्थ औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, सुश्रुत आदि शिष्य जाया करते थे। उन शिष्यों में प्रमुख सुश्रुत ने भगवान् धन्वन्तरि से आयुर्वेद का श्रवणकर उस ज्ञान को सुश्रुत संहिता के रूप में सङ्कलित किया था।

श्री पंडित जयदेव शर्मा ने अपने अनुवाद से ऐसा उल्लेख किया है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय के निकटवर्ती गान्धार जो सम्भवतः अफगानिस्तान का वर्तमान कान्धार है, में सुश्रुत मुनि शल्य चिकित्सा सिखाते थे। शल्य-चिकित्सा का उनका ज्ञान इतनी उच्चकोटि का था कि जिसमें 'पुनर्नासाङ्ग निर्माण[2] अङ्गास्थिविच्छेद,[3] गुल्मोन्मूलन[4] आदि क्रियाएं तब सम्मिलित थीं। तक्षशिला के तत्कालीन एक स्नातक यजादुम्य ने शल्य-चिकित्सा ज्ञान के लिए गुरुद्वारा ली जाने वाली प्रवेश-परीक्षा का वर्णन अपने एक अभिलेख में इस प्रकार किया है—

समस्त आयुर्वेद को कण्ठस्थ कर लेने के बाद गुरु के संरक्षण में स्नातक जब अपने हाथ से एक सहस्र रोगियों का उपचार कर लेता था तब कहीं उसे अपने जन्म-स्थान जा कर जनसेवा करने की अनुमति प्राप्त होती थी। चिकित्सक के लिए नियमित रूप से[5] दिन में दो बार पूजन पाठ करना अनिवार्य होता था। सभी छात्रों को शल्य चिकित्सा के लिए योग्य नहीं समझा जाता था। उनका चयन केवल गुरु करते थे और योग्यतम छात्र ही लिए जाते थे। अभ्यर्थी का उच्चकुलीन, लम्बा तगड़ा तथा सुन्दर होना अनिवार्य था उसके नेत्र नीरोग तथा हाथ सुडौल हों जिसकी न तो कोई अंगुली-भङ्ग हो और न छङ्गा हो। दन्त-पंक्ति धवल, सुजड़ित और सुमार्जित हों; श्वास-वायु निर्गन्ध हो; वस्त्र दाग रहित और अल्प हों; केश पीछे की ओर ग्रीवा तक कढ़े हुए सुप्रसाधित हों; नाखून अत्यन्त छोटे हों; कोई चर्म रोग न हो; नित्य स्नान और दैनिक व्यायाम[6] करने वाला हो; पुरुषों के समस्त क्रीड़ा-कौतुकों में तेज हो; पुस्तकों का कीड़ा न हो किन्तु ज्ञानार्जन में रुचि रखने वाला हो; मादक-द्रव्यों का सेवन न करता हो; राजा अथवा न्यायाधिकरण की कृपा का भिखारी न हो; शूद्रों, विदेशियों और यहां तक कि राक्षसों तक को जिसकी

---

१. सुश्रुत संहिता सू० अ० १ प्रारम्भ पृष्ठ पर।
२. Plastic reconstrustion of nose
३. Amputations of bones and limbs,
४. Excision of tumours.
५. Regularly
६. Daily Exercise.

सेवायें सहज सुलभ हों; पत्नी, सन्तान, गोधन और कृषि से पराङ्मुख होकर रोगी की परिचर्या में तब तक रह सके जब तक कि उसके घाव भर न जायं; जीवन और मृत्यु की ओर से उदासीन हो; जो छात्र ऐसे हों, वही शल्य-कर्म के लिए गुरु से निवेदन करें। प्रवेश का आशीर्वाद प्राप्त करके वह अपने घर जाय तथा एक पत्नी एवं परिवार सहित एक ऐसे अश्व पर सवार होकर वापस लौटे, जो पर्वतों पर चढ़ सके उच्चस्थ ग्राम तक अथवा युद्ध-भूमि में दौड़ सके तथा गुरु के आश्रम में उस समय तक निवास करे जब तक कि उसके तीन बच्चे न हो जायें। इस अवधि में उसका सारा ध्यान गुरु के प्रत्येक कार्य-कलाप पर केन्द्रित रहे और उसके द्वारा किये गये हर उपचार को गुरु की स्वीकृति प्राप्त होती रहे। जब उसके तीसरी संतान हो जाय, तो गुरु के शल्यास्त्रों[७] की अनुकृति निर्माण करे। तत्पश्चात् गुरु के चरणों में साष्टांग प्रणाम कर सभी वर्णों की सेवा का व्रत लेकर जन्म-स्थान को लौटे। अपने श्रम के मूल्य की मांग न करे केवल उतना ही स्वीकार करे जो उसे आराम के साथ जीवन यापन के लिए पर्याप्त हो। इस प्रकार केवल वह व्यक्ति जो इस तपस्या में अपने जीवन का तृतीयांश खपाने के लिए उद्यत हो वही आगे आये। यदि इस तपस्या की अवधि में अपने पूर्वजन्म के पापों के कारण उसका हाथ अथवा दाहिने हाथ की अंगुलियां कट जांय, उसके चर्म रोग हो जाय अथवा श्वास-वायु दुर्गन्ध पूर्ण हो जाय, नासिका अथवा कानों में पीव (पूय) पड़ जाय, तो उसे चाहिए कि वह अपने गुरु से विदा लेले तथा कभी शल्य-कर्म न करे और अपने पूर्वजन्म के पापों के परिहार तथा अगले जन्म में शल्यक बनने की आकांक्षा पूर्ण करने के निमित्त रोगियों को केवल औषधि वांटना अपना कर्त्तव्य माने।"

उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि आचार्य सुश्रुत के समय शल्य-चिकित्सा का अध्यवसाय आज की अपेक्षा कितना अधिक कष्टसाध्य एवं दुरुह था।

वंश-परिचय—महाभारत के आनुशासनिक पर्व के चतुर्थ अध्याय में विश्वामित्र के पुत्रों मे सुश्रुत का नामोल्लेख है। भावप्रकाश में ऐसी चर्चा है कि विश्वामित्र आदि महर्षियों ने दिव्य दृष्टि से यह ज्ञान कर लिया कि कविराज के रूप में यह साक्षात् भगवान् धन्वन्तरि हैं इसी हेतु उनमें से विस्वामित्र जी ने अपने पुत्र-सुश्रुत्र को कहा कि हे वत्स! तुम काशी में जाकर भगवान् धन्वन्तरि के पास आयुर्वेद विद्या का अध्ययन करो।[९] चक्रदत्त की टीका में भी उल्लेख है कि विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत ने शल्य प्रधान आयुर्वेद तन्त्र का निर्माण किया।[१०] सुश्रुत संहिता के भिन्न-भिन्न स्थानों में आये हुये प्रमाणों से विदित होता है कि सुश्रुत संहिता का निर्माणकर्त्ता विश्वामित्र का पुत्र सुश्रुत हैं।[११] ये बड़े तेजस्वी, मेधावी, सद्गुण सम्पन्न एवं कर्मठ थे।

लगभग दो सहस्र वर्ष प्राचीन दार्शनिक आर्य नागार्जुन का 'उपायहृदय' नामक ग्रन्थ के लेखों पर विचार करने से भी पता चलता है कि सुश्रुत ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व के हैं। भैषज्य विद्या के प्रधान विषयों का वर्णन कर बाद में शास्त्र का वर्णन करते हुए भैषज्य विद्या के आचार्य रूप में सम्मान एवं गौरव के साथ सुश्रुत का नाम दिया है। इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्ववर्ती आर्य नागार्जुन द्वारा भी आचार्य के रूप में सुश्रुत का नाम दिया जाना भी इसकी अर्वाचीनता के प्रतिवाद के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

महायान-प्रतिष्ठापक बौद्ध नागर्जुन ने सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्करण किया, ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है। यह नागार्जुन दो सहस्त्र वर्ष के पहले था, इससे भी यह सिद्ध है कि आज की उपलब्ध सुश्रुत संहिता न्यूनतम दो हजार वर्ष की पुरानी है। खोटांग प्रदेश से प्राप्त भोजपत्र पर लिखे हुए "नावनीतक" नामक ग्रन्थ की लिपि को देखकर इसे तृतीय या चतुर्थ शताब्दी का निश्चित किया है। इस ग्रन्थ में आत्रेय पुनर्वसु तथा अनेक अनुयायी क्षारपाणि, जतुकर्ण, पाराशर तथा भेल आदि एवं काश्यप,

---

७. Surgical instruments

८. Intensive training

९. अथज्ञानहृथा······················वल्लमाम्। (भा० प्र०)

१०. अथ परमकारुणिको··············मारभ्यवान्। (चक्रदत्त)

जीवक और सुश्रुत के नाम तथा उनके नाम से औषधियों का उल्लेख मिलता है। चरक तथा नागार्जुन का उसमें उल्लेख नहीं है, अतः यह चरक एवं नागार्जुन से प्राचीन है तथा नागार्जुन के समय से पूर्व का होने से इसमें आया हुआ सुश्रुत भी नागार्जुन के पहले का सिद्ध होता है।

सुश्रुत संहिता का लैटिन भाषा में अनुवाद करने वाले "ह्यासलर" नामक पाश्चात्य विद्वान् तथा श्रीयुत गिरीन्द्र नाथ मुखोपाध्याय आदि ने भी ईसवी सन् से एक सहस्त्र वर्ष पूर्व सुश्रुत का समय निश्चित किया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण से विचार करने पर सुश्रुत संहिता के पूर्व भाग (सूत्र, निदान, शारीर, चिकित्सा, कल्प) का समय कम से कम भी आज से २८०० वर्ष पूर्व प्रतीत होता है।

जन्म—आज से २८०० वर्ष पहले महर्षि विश्वामित्र के गृह में सुश्रुत का जन्म हुआ। ये बचपन से ही बड़े दिव्य, तेजस्वी, सौम्य, कान्तिवान एवं मेधावी थे। प्रारम्भ से ही ये सन्त स्वभाव के, विनम्र, धैर्यवान् और दयालु प्रकृति के थे। गुरुकुल जैसी प्रारम्भिक पाठशाला में शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद पिता की आज्ञा से ये काशिराज भगवान् धन्वन्तरि के समीप आयुर्वेद एवं विशेष करके शल्य चिकित्सा का अध्ययन करने गये और वहीं अष्टांग आयुर्वेद की पूर्ण शिक्षा प्राप्त करके शल्य-चिकित्सा में विशिष्ट अध्ययन किया। पूर्णज्ञाता बनने के बाद उन्होंने "सुश्रुत संहिता" नामक ग्रन्थ का निर्माण किया।

व्यक्तित्व—सुश्रुत स्वयं जैसे थे वैसे ही अपना शिष्य भी जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, चुनते थे। सुश्रुत का शरीर दिव्य और नीरोग था। उनके नेत्र स्वस्थ और सूक्ष्मग्राही थे। दोनों हाथ सुडौल, दृढ़, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा कठोर से कठोरतम कार्य करने में भी सक्षम, अंगुलियां कहीं से भी कटी, फटी, भंग या सड़ी-गली अथवा छङ्गा नहीं थीं, कोई भी अंग-भंग नहीं था; दांत मोतियों जैसे शुभ्र और चमकदार थे, दंतपंक्ति सुजड़ित और सुव्यवस्थित थी, मुख स्वच्छ और श्वासवायु निर्गन्ध थी; मूंछें और दाढ़ी बढ़ी हुई तथा केश पीछे की ओर ग्रीवा तक कढ़े हुए सुप्रसाधित थे। मुखाकृति तेजोमय, सौम्य और मधुर मुस्कान युक्त थी। आंखों से सदा प्रेम और करुणा की वर्षा होती रहती थी। स्वभाव "वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि" अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर वज्र से भी कठोर, नहीं तो साधारणतः फूल से भी कोमल रहता था।

शल्य-कर्म करते समय आंखें गिद्ध के समान, हृदय सिंह के सदृश साहसी एवं धैर्यवान और मां के हृदय के समान दयालु और स्नेहपूर्ण तथा हाथ शल्य की प्रत्यक्ष क्रिया में पूर्ण पटु, दीर्घकालीन अभ्यास प्राप्त, गम्भीर अध्ययन और मनन वाले निरन्तर अनुसन्धान रत, हर रोगी में नवीन बातें ढूंढ निकालने की कला में पूर्ण दक्ष, शल्य-कर्म में विशिष्टता प्राप्त, शरीर के हर शिरा, धमनी, लसिका ग्रन्थि आदि में नई-नई चीजें एवं विकार ढूंढ निकालने में अतिप्रवीण तथा शिष्यों के परम प्रिय आदर्श गुरु थे।

सुश्रुत की कृति—आचार्य सुश्रुत ने दीर्घ अनुभव एवं अहर्निश शोध के बाद प्रत्यक्ष क्रिया में सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाली सुप्रसिद्ध सुश्रुत संहिता की रचना की थी जो शल्य-चिकित्सा में सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ के रूप में समादृत हुई। इस ग्रन्थ के सूत्र स्थान में यन्त्र विधि २२ अध्यायों में, शस्त्रावचरणीय २० अध्यायों में, योग्यासूत्रीय ६, विशिखानुप्रवेशीय ६, अग्निकर्म विधि ३६, जलौकावचरणीय २४, शोणितवर्णनीय ४५, कर्णव्यधबन्धविधि ३२, आमपक्वैषणीय १८, व्रणलेपन बन्ध-विधि ४५, व्रणितोपासनीय ३७, व्रणप्रश्न ४०, व्रणस्रावविज्ञानीय १३, कृत्याकृत्यविधि, २१, अष्टविधशस्त्रकर्मीय ४६, प्रनष्टशल्यविज्ञानीय २३, शल्यापनयनीय २६, विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीय २१ अध्यायों में; निदान स्थान में अर्श, अश्मरी, भगन्दर, मूढ़गर्भ, विद्रधि, विसर्प-नाड़ी-स्तनरोग, ग्रन्थि-अपचि-अर्बुद-गलगण्ड, वृद्धि-उपदंश-श्लीपद, शूकदोष, भग्न, मुखरोग आदि शल्य-कर्म करणीय व्याधियों का सम्यक् निदान अनेक अध्यायों में; शारीर स्थान में शुक्रशोणित शुद्धि, गर्भावक्रान्ति, गर्भव्याकरण, मर्मनिर्देश, सिरावर्णविभक्ति, सिराव्यधविधि, धमनी व्याकरण, गर्भिणी व्याकरण आदि कई अध्यायों में, चिकित्सा स्थान में द्विव्रणीय १४०, सद्योव्रणीय ६७, भग्न ७०, अश्मरी ३८, भगन्दर ५४, मूढ़गर्भ ४७, विद्रधि ४३, विसर्पनाड़ी-स्तन ४७, ग्रन्थि-अपची-अर्बुद-गलगण्ड ५५, वृद्धि-उपदंश-श्लीपद ६६, क्षुद्र रोग ६३, मुखरोग ८१ अध्यायों में; कल्प स्थान

—शेषांश पृष्ठ २६७ पर

सुश्रुत संहिता एक अध्ययन

आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेदशास्त्राचार्य, बी० ए०, कुसुमभवन, शिवपुरी कालौनी, वाराणसी

सुश्रुत संहिता आयुर्वेद साहित्य–गगन का एक जाज्वल्यमान नक्षत्र है। और शल्य शालाक्य तंत्र का सर्वाधिक लभ्यमान शास्त्र माना जाता है। शल्य का परम दुर्लभ यह तंत्र एक विचित्र साहित्य समाम्नाय है। इसमें भगवान् धन्वन्तरि के उपदेश के रूप मे शिक्षा साहित्य प्राप्त है। आयुर्वेद के विशाल साहित्य में बृहत्त्रयी के श्लाघनीय संहिता त्रयी के रूप में सुश्रुत प्रमुख ग्रन्थ है।

इसमें धन्वन्तरि सुश्रुत व नागार्जुन के उपदेशों का प्रतिविम्ब सर्वत्र मिलता है। संहिता एक विचार की तो है किन्तु भाषा इसकी कई प्रकार की है और धन्वन्तरि का भी आदि देव धन्वन्तरि, दिवोदास-धन्वन्तरि, राजर्षि धन्वन्तरि, धन्वन्तरि, सामान्य का विवरण मिलता है।

भाषा मे वैदिक भाषा, उपनिषद् की भाषा, पाणिनि की भाषा, सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। उसके टीकाकारों में चक्रपाणि डल्हण जेज्जट चन्द्रटभोज विदेह निमि के साथ सुश्रुत के सहपाठियों की नामावली मिलती है। इसे संहिता का स्वरूप देने में वर्तमान सुश्रुत का स्वरूप एक सा नहीं ज्ञात होता। सुश्रुत में भी वृद्ध सुश्रुत, सुश्रुत के दो नाम के आचार्य पाये गये है। अतः यह प्रश्न स्वयं उठता है कि क्या वर्तमान सुश्रुत एक मात्र धन्वन्तरि संहिता का अंश है या कई संस्करणों का योग है। सुश्रुत के आठ स्थानों की उपदेश की भाषा व उत्तर तंत्र की भाषा समान नहीं है ऐसा लगता है कि संग्रह कर जोड़ा गया है।

आयुर्वेद वेदों का उपांग कहा जाता है। ऋषि वेद, अथर्व-वेद, यजुर्वेद का अंश कहीं-कहीं पर सार रूप में मिलता है यह आयुर्वेद का वेद कहलाता है। क्योंकि अध्ययनाध्यापन व प्रायोगिक, क्रम वेदों का अपनाता है। जिस प्रकार वैदिक साहित्य अध्ययन से पूर्व ब्रह्मचारी चयन होता है इसमें विद्यार्थी चयन का ग्रंथारम्भ का जैसा विधान है आयुर्वेद में प्राप्त है। वैदिक साहित्य में विशेषता यह है कि इसमें आचार्य चयन व शास्त्र चयन का भी विधान है जैसा अन्य किसी शास्त्र में नहीं है। अतः यह वेद है। भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के प्रारम्भ को "अथात वेदोत्पत्ति मध्यायम् व्याख्यास्यामः" ऐसा ही कहकर प्रारम्भ किया है। अन्य शास्त्रों की तरह शास्त्र न कहकर उपवेद कहा गया है और आयुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है। वेदों में आयुर्वेद शब्द कहीं-कहीं मिलता है। 'विद्यो' व "आयुर्विद्यानाम" से वेद, आयुर्वेद के विषय का ज्ञान देते है। अतः यह एक महान् शास्त्र है। और आयुषोवेद आयुर्वेद होने से आयुर्वेद नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

इसकी उत्पत्ति अनादि काल से है। संभवतः सृष्टि में मानव आने की स्थिति से पूर्व का है। अतः संहिताओं में शाश्वत कहा गया है। ऐसे शाश्वत वेद की चिकित्सा के अष्टांग में से शल्य शास्त्र के उपदेश को देने वाला सुश्रुत संहिता का साहित्य है। आज उसमें क्या विशेषता है ? क्या साहित्य है ? क्यों आज भी पठनीय है ? मानव के प्रति इसकी क्या उपादेयता है। विज्ञान के इतने

बढ़ने पर भी वर्तमानकाल में इसका साहित्य जगत् को उपदेश देता है और आज भी पठनीय है। इन सारे विषयों पर तथा सुश्रुत के काल का समाज, अध्ययन, व अध्यापन-विधि, व्यवहार और समाज उपकारक साहित्य सुश्रुत में है यही प्रतिपादन करने का अभिप्राय: इस अध्ययन में किया गया है।

सुश्रुत का साहित्य ज्ञान का विश्वकोष या "इनसाइक्लोपीडिया इंडिका" है। जहां से प्रत्येक दिशा में ज्ञान की प्रभा मिलती है। समान रूप से बिना जाति-पांति के विचार के यह सारे संसार के लिये उपादेय है। प्रत्येक काल के अध्ययन योग्य है। यही इस अध्ययन का सारांश है।

कतिपय मूल प्रश्न

प्रश्न इसमें सहस्रों हैं। किन्तु ज्ञातव्य प्रधानवस्तु कुछ निम्न हैं।

१. जब धन्वन्तरि ने इसका उपदेश सुश्रुत को दिया है तो इसका नाम धन्वन्तरि संहिता न होकर सुश्रुत संहिता क्यों है ?

२. यह ईसवीय सन् से कई सहस्र वर्ष पूर्व लिखा गया तो मूल संहिता किस नाम से थी ?

३. यदि प्रति संस्कर्ता नागार्जुन माने जांय तो इसे नागार्जुन संहिता क्यों नहीं कहा गया। जैसे अग्निवेश संहिता का नाम चरक प्रति संस्कार के बाद चरक संहिता हो गया ?

४. यदि संस्कर्ता नागार्जुन थे तो नागार्जुन का नाम कहीं भी क्यों नहीं है।

५. यदि आदि धन्वन्तरि ने इसका उपदेश दिया तो यथा "यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः" प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा है आद्यंत इनका ही नाम क्यों नहीं आता।

६. दिवोदास धन्वन्तरिः, काशिराज धन्वन्तरिः, राजर्षि धन्वन्तरिः, व धन्वन्तरि नाम का प्रयोग क्या शिक्षा देता है ?

७. क्या उत्तर तंत्र पृथक् से लिखा गया है और बाद में जोड़ा गया है। सुश्रुत संहिता के १२० अध्यायों में ५ स्थानों के उल्लेख में यह क्यों नहीं है। १२० अध्यायों व पांच स्थानों का संग्रह मूल रूप में है अथवा सब मूल साहित्य है। विचारार्थ—

१—बीजं चिकित्सितस्येतद् समासेन प्रकीर्तितः।
सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति॥

पुनश्च—तच्च सविंशमध्यायशतं पंचसु स्थानेषु सूत्र-निदान शारीर चिकित्सित कल्पेष्वर्थवशात्संविभज्योत्तर तंत्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः।

२—तंत्र युक्ति मध्यायं व्याख्यास्यामः।
(६५ उत्तर तंत्र १)

८. चरक संहिता की छाप सुश्रुत पर है अथवा सुश्रुत की छाप चरक पर है ?

इनका उत्तर इस विशेषांक में मिलेगा।

सुश्रुत सूत्रस्थान का अध्ययन

सुश्रुत शल्यतन्त्र का प्रधान ग्रन्थ है इसमें आठ स्थान हैं जिनमें सूत्रस्थान प्रथम व सर्वोत्कृष्ट स्थान है सूत्रस्थान में कुल ४६ अध्याय हैं और इनका संग्रह इस रूप में किया गया है कि शल्यतंत्र के ऐतिहासिक विवरण से लेकर शल्यशास्त्र में क्या-क्या प्रधान कर्तव्य हैं उन सबका उल्लेख किया गया है। सूत्र का अर्थ ही यह होता है कि संक्षिप्त रूप में विषय का विवरण दे दिया जाय सुश्रुत का यह स्थान इस अर्थ में विशेष महत्वपूर्ण है। इनमें अध्यायों का संग्रह इस प्रकार से किया गया है कि शल्यतंत्र के अन्तर्गत समागत विषयों का अध्ययन पूर्णरूप से हो सके।

यदि हम सूत्रस्थान के विषयों का वर्गीकरण करें तो निम्नवर्ग प्रधानरूप से इसमें दृष्टिगोचर होते हैं।

१. प्रागैतिहासिक व सांस्कृतिक विवरण।

२. आयुर्वेदीय चिकित्सा के सैद्धान्तिक विवरण।

३. शल्यतंत्र विज्ञानीय विवरण।

४. शल्यतंत्र में उपयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का विवरण।

५. चिकित्सा में विशेषकर शल्य चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले हित व अहित आहार व विहार का ज्ञान।

६. शालाक्य तन्त्र, काय चिकित्सा व अन्य चिकित्सा विषयीय विवरण।

१. प्रागैतिहासिक व सांस्कृतिक विवरण—

इस विषय पर भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को उपदेश करते हुए विभिन्न प्रकार के उद्धरणों का व्याख्यान किया है। जिनमें विशेषकर १. वेदोत्पत्ति अध्याय

२. शिष्योपनयनीय अध्याय ३. अध्ययनसंप्रदानीय अध्याय ४. प्रभाषणीय अध्याय ५. अग्रोपहरणीय अध्याय ६. योग्याकरणीय अध्याय और विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय प्रमुख हैं और इनमें दिये गये विषयों में आयुर्वेद की उत्पत्ति, आयुर्वेद के अंग, अष्टविधतंत्र, शल्यतंत्र, शालाक्यतंत्र, काय चिकित्सातंत्र, भूतविद्यातंत्र कौमारभृत्यतंत्र, अगदतंत्र, रसायनतंत्र, वाजीकरणतंत्र, इनका परिचय परिभाषण और विशेषता का वर्णन किया गया है।

इस विद्या को प्रारम्भ करते हुए महर्षि धन्वन्तरि ने आयुर्वेद की व्युत्पत्ति, आयुर्वेद का प्रयोजन तथा आयुर्वेद का अनादित्व का उपदेश दिया है। आयुर्वेद को महर्षि धन्वन्तरि वेद मानते हैं वेद से किसी भी दशा में इसकी उपादेयता कम नहीं मानते अतः आयुर्वेद की शिक्षा पद्धति में आयुर्वेदाध्ययनपद्धति तत्कालीन सम्प्रदाय व संस्कृति का वर्णन किया है। जिस प्रकार वेद के अध्ययन अध्यापन के लिए विधि होती है वही विधि आयुर्वेद के अध्ययन में भी उसकाल में किस प्रकार की जाती थी इसका वर्णन दिया है। यही नहीं वेदाध्ययन से पूर्व शिष्य का किस प्रकार चयन करना चाहिए इसका वर्णन किया है। समुचित शिक्षक गुरू का चयन शास्त्र का चयन तथा अध्ययन से पूर्व विद्यार्थी से की जाने वाली प्रतिज्ञा का वर्णन महत्वपूर्ण है।

संस्कृति—उस काल में शिष्य को गुरु के पास रहकर किस प्रकार शास्त्र का अध्ययन करना अध्यापन विधि का व्रत निभाना अध्ययन से पूर्व शिष्य को बहुविधिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके तब आयुर्वेदाध्ययन में प्रवृत्त होना, अध्ययनकाल में किस प्रकार के वस्त्र का प्रयोग अग्नि उपासना, गुरु सेवा व अध्ययन विधि का प्रयोग करना इनका उपदेश दिया है।

शल्यकर्म के अभ्यास के लिए किन सम्भारों को एकत्र करना तथा उनका प्रयोग किस प्रकार करना इत्यादि विधियों का बड़ा ही सुन्दर रोचक व सांस्कृतिक विवरण दिया गया है। योग्याकरणीय विधि में संक्षेप में बहुत ही सुन्दर विवरण विद्यार्थी को योग्य बनाने के लिए दिया गया है।

उस समय के चिकित्सक वर्ग की क्या स्थिति थी कितने प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध थे। राजार्ह चिकित्सक, जनचिकित्सक तथा अन्य प्रकार के चिकित्सकों का वर्णन भी दिया गया है। इन विवरणों से यह पता चलता है कि किस प्रकार चिकित्सा जगत् में अध्ययन अध्यापन की विधि का उपक्रम उपस्थित था और कितने प्रकार के विशेषज्ञ चिकित्सकों में उपलब्ध थे।

२. प्रागैतिहासिक विवरण—

यह ठीक है कि पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति के बाद ही औषधियों के गुणधर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ और उनका विशेष अध्ययन किया गया किन्तु इससे बहुत ही पूर्व सहस्रों वर्षों तक प्रजागण के उत्पत्ति के पूर्व एक बहु काल था जब पेड़ पौधों व प्राणियों का क्रमिक विकास हुआ और चौरासी लाख योनियों में परिवर्तन के बाद मानव शरीर साकार हुआ इससे पूर्व भी सृष्टि रचना के उपक्रम में इनके अध्ययन करने वाले कुछ चिकित्सक थे जिनका विवरण महर्षि धन्वन्तरि ने स्वयं किया है। भगवान् धन्वन्तरि ने स्वयं लिखा है ("इह खलु आयुर्वेद अष्टाङ्गमथर्व वेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशत सहस्रमध्याय सहस्र च कृतवान स्वयंभूः") इसमें अनुत्पाद्यैव प्रजा की उत्पत्ति से पूर्व ही एक लाख श्लोकों की एक हजार अध्याय में विभक्त करके स्वयम्भू ने एक ग्रन्थ बनाया था। यह ग्रन्थ यद्यपि आजकल नहीं मिलता किन्तु इसका संक्षिप्त विवरण अष्टाङ्ग आयुर्वेद करके पुनः स्वयम्भू ने एक छोटा संस्करण बनाया। और अल्प आयु वालों के लिए इसका उपदेश दिया। यही आज का शल्यतंत्र है।

पृष्ठ २६४ का शेषांश

में सर्पदंष्ट विष चिकित्सा ८६, दुन्दुभिस्वनीय ३२, मूषक कल्प ६५ तथा कीटकल्प १४३ अध्यायों में और उत्तर तन्त्र में लेख्य रोग १८, भेद्य रोग ११, छेद्य रोग ३३, क्रियाकल्प १०६, कर्णरोग विज्ञानीय १६, नासारोग विज्ञान २१, शिरोरोग विज्ञान १८, मूत्राघात ७२, मूत्रकृच्छ्र २७, अमानुपोपसर्ग ५६ अध्यायों में शल्य-चिकित्सा विषयों का सम्यक् विवरण दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः आचार्य सुश्रुत प्राचीन भारत के गौरवशाली शल्य-चिकित्सक के रूप में एवं एक आदर्श ग्रन्थ लेखक के रूप में भी महान् विभूति थे। उनके जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व से हमें प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। ✱

प्राणाचार्य पं० हर्षुलमिश्र प्रवीण, पेंशनवाड़ा, रायपुर (मध्यप्रदेश)

आयुर्वेदीय शल्यतंत्र

जिस प्रकार हिन्दी को भारत की राजभाषा अथवा राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के लिये, भारत सरकार को बाध्य होना पड़ा है, उसी प्रकार एक दिन ऐसा आवेगा, कि हमारे नेताओं को, सत्य के सामने आयुर्वेद को भारत की राजकीय चिकित्सा पद्धति स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा, यदि आयुर्वेदज्ञ भारतीय आयुर्वेद के सम्पूर्ण अंगों को क्रियाशील बनाये रखने के प्रयत्न को सफलता की ओर, अग्रसर करते रहें। आज भारत में भारतीय सरकार होने पर भी, विदेशी चिकित्सा के मुकावले भारतीय आयुर्वेद की अवहेलना हो रही है। राज्य की ओर से, आयुर्वेद को वह पद प्राप्त नहीं हो रहा है, जो विदेशी चिकित्सा पद्धति एलोपैथी को प्राप्त है। इसका कारण केवल यही है, कि एलोपैथी में वर्णित सर्जरी (शल्यहरण क्रिया) अथवा शल्यतंत्र उत्तरोत्तर प्रगतिशील है, और आयुर्वेद का शल्यतंत्र लगभग दो शताब्दियों से आयुर्वेद के महान् ग्रन्थों में बन्द पड़ा हुआ है। आयुर्वेदिक कालेजों में भी आयुर्वेद के विद्यार्थी, आयुर्वेदीय शल्यतंत्र के प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से वंचित रखे जाते हैं। इन दो शताब्दियों में, एलोपैथी के शल्यतंत्र (सर्जरी) को जितना प्रोत्साहन संसार की विभिन्न सरकारों से मिला है, उसका शतांश भी, आयुर्वेद को भारत की विदेशी सरकार से मिला होता, तो आयुर्वेद का शल्यतंत्र, आधुनिकतम शल्यतंत्र (सर्जरी) से कहीं अधिक उन्नत और प्रगतिशाल होता, क्यों कि गत दो सौ वर्षों से संसार की समस्त सरकारों का आश्रय प्राप्त होने पर भी और अरबों खरवों रुपये प्रति वर्ष उसकी प्रगति में, खर्च किये जाने पर भी, वह (एलोपैथी की सर्जरी) शल्यक्रिया (सर्जरी) के मौलिक तत्त्वों में उतनी ही प्रगति कर पायी है, जितनी आयुर्वेद के शल्य-तंत्र में २०० वर्ष पूर्व, विद्यमान थी, और आज भी पुस्तकों में बन्द होने पर प्रतीक स्वरूप मौजूद है।

कमी कहां है ?

स्वतन्त्र भारत में भी भारतीय आयुर्वेद की अव-हेलना का कारण आयुर्वेदीय शल्यतंत्र की हीनता नहीं है, प्रत्युत भारतीय वैद्यों में आयुर्वेदीय शल्यतंत्र को क्रिया-रूप में परिणत करने की क्षमता की कमी है।

हम सब वैद्यों की अक्रियाशीलता ने सुश्रुत और वाग्भट के प्रयासों को शल्यतंत्र की दिशा में, निष्फल बना रखा है। एलोपैथी चिकित्सा और उसके शल्यतंत्र (सर्जरी) की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति, केवल राज्या-श्रय के ही कारण हुई है, ऐसी बात नहीं है। उसकी ख्याति के मूल में एलोपैथिक चिकित्सकों की सफल शल्य-क्रिया भी निहित है। "अपूर्वकोऽपि कोषोऽयं विद्यते नव भारती। व्ययायाच्च वृद्धिमायाति, क्षयमायाति संचयात्" इस युक्ति के अनुसार कोई भी विद्या निरन्तर उपयोग में लाने से बढ़ती रहती है। और उसका उपयोग बन्द होते ही दिन प्रति दिन घटती जाती है। यही हालत भारतीय शल्यतंत्र की भी हुई और हो रही है। भारतीय बौद्धधर्म के समान, भारतीय शल्यतंत्र ने भी, सदियों राज्याश्रय रहित होने के कारण भारतमें प्रगति नहीं होपायी। यद्यपि

विदेशों में उसीके मौलिक तत्वों पर, उत्तरोत्तर उन्नति होती रही, और आज भी हो रही है। कहने का तात्पर्य यह कि हम भारतीय आयुर्वेदज्ञ अपना ही शल्यतंत्र सुन्दर रूप में, कर्माभ्यासी एलोपैथिक चिकित्सकों के हाथ में देखकर चकित हो रहे हैं। जिस प्रकार हम अब ब्रह्मा, लंका, चीन, जापान, इन्डोनेशिया, कोरिया आदि देशों में करोड़ों की संख्या में, भारतीय बौद्धधर्म के मानने वाले मानवों की ओर देखते हैं अथवा उनका बौद्धधर्मावलम्बी होना सुनते हैं, तब हम बौद्धधर्म का आदर करते हैं और गौरवान्वित होते हैं, कि इन देशों पर हमारी महान् सांस्कृतिक एवं धार्मिक विजय है, उसी प्रकार जब हम सब भारतीय आयुर्वेद के शल्यतंत्र को, विदेशियों के हाथों में, अथवा विदेशी चिकित्सा प्रणाली के भारतीय चिकित्सकों के व्यवहार में आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के साथ देखते हैं, तब स्वाभिमान के साथ कहने लगते हैं, 'कि यह सब शल्यतंत्र सुश्रुत वाग्भट में सूत्र रूप में विद्यमान है। विदेशी चिकित्सकों ने सर्वप्रथम इसे हमसे पाया है। हमारे पूर्वज आयुर्वेदज्ञ शल्यतंत्र में पारंगत थे, हम पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति और शल्यतंत्र के गुरु हैं।' ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी हम आयुर्वेदीय शल्यतंत्र को आधुनिक शल्यतंत्र (सर्जरी) की, पुरानी पोथी तभी कह सकते हैं जब आज का भारतीय वैद्य समाज, अपने पूर्वजों की संचित ज्ञाननिधि को क्रियारूप में दुगुनी-तिगुनी करके, संसार के सभ्य मानव समाज के सामने बखेर दें। अभी तो हम उन भारतियों की, जो संसार के शल्यतंत्र के गुरु थे, ऐसी अयोग्य संतान बने हुए हैं जो अपनी पूर्वजों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं; और अपनी कमाई की एक पाई भी पूर्वजों की ज्ञाननिधि में लगाने के लिए तैयार नहीं हैं।

भारतीय वैद्यों में, जो उच्चकोटि के चिकित्सक हैं, तथा बड़ी-बड़ी रसायन शालाओं अथवा फार्मेसियों के संचालक हैं, वे भी शल्यक्रिया, चिकित्सा और औषधि निर्माण में सुश्रुत, चरक वाग्भट और भावमिश्र से एक कदम भी आगे नहीं बढ़े हैं। आधुनिक आयुर्वेदज्ञों का ज्ञान आज भी च्यवनप्राश, द्राक्षासव और मकरध्वज तक ही सीमित है। चिकित्सा औषधि के क्षेत्र में, वैद्य समाज ने विशेष प्रगति तो नहीं की; परन्तु अपने पूर्वज आयुर्वेदाचार्यों के प्रयास को क्रियाशील बनाये रखकर भारतीय जनता को उनके ज्ञानधन का लाभ मिलने दिया। परिणामतः भारत में अनेक विदेशी चिकित्सा पद्धतियों के होते हुए भी, भारत की अस्सी प्रतिशत भारतीय जनता की एकमात्र चिकित्सा पद्धति भारतीय आयुर्वेद ही है। परन्तु शल्यतंत्र अथवा शस्त्र चिकित्सा के क्षेत्र में, मूलधन (मौलिक तत्वों) की भी रक्षा नहीं हो पा रही है।

शल्य चिकित्सा की दिशा में वैद्य समाज चरक सुश्रुत और वाग्भट से इतना पीछे हट गया है कि इन ग्रन्थों में वर्णित प्रयासों को समझने और समझाने की शक्ति भी उसमें नहीं रही। इसका प्रधान कारण विदेशी चिकित्सा के मुकाबले पर अपनी स्वदेशी भारतीय आयुर्वेदीय चिकित्सा को महत्व कम देना है। आयुर्वेदीय महाविद्यालयों में आयुर्वेदीय शल्यक्रिया का प्रत्यक्ष कर्माभ्यास न होना है। शल्यक्रिया के कर्माभ्यास की सर्वाङ्गपूर्ण व्यवस्था, साधन सामग्रियों के अभाव में न रहना है। उपर्युक्त त्रुटियां, प्रतिभा सम्पन्न आयुर्वेदज्ञों तथा शासन में स्थित आयुर्वेद-प्रेमी भारतीय नेताओं के सम्मिलित प्रयास से दूर हो सकती है, जिससे ग्रन्थों में वर्णित शल्यतंत्र प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से जनता की निगाहों में उपयोगी जंचने लगेगी।

विदेशी चिकित्सा के मेडिकल कालेज, प्रत्यक्ष कर्माभ्यास की दृष्टि से, सर्वाङ्गपूर्ण और साधन सम्पन्न होते हैं। एलोपैथी के शल्यतंत्र (सर्जरी) और चिकित्सा को भारतीय जनता की निगाहों में उपयोगी बनाये रखने के लिये करोड़ों रुपयों की राशि, प्रतिवर्ष खर्च की जा रही है, भले ही भारतीय जनता को उससे उतना लाभ हो या न हो। एलोपैथी के शल्यतंत्र और चिकित्सा की प्रगति के लिये "कटे सीस काहूका बेटा सीखे नाऊका" वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। परिणामतः स्वतंत्र भारत में भारतीय आयुर्वेद को ६०० वर्ष के बाद जो राज्याश्रय मिला है, वह विदेशी चिकित्सा के मुकाबले पर हीन कोटिका है। बिना राज्याश्रय के अंग्रेजी शासनकाल में आयुर्वेद की जो प्रतिष्ठा और लोकप्रियता जनता की निगाहों में थी वह आज नहीं है, क्योंकि हमारे देश का शासन ही हमारे देश के आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान क

विदेशी चिकित्सा विज्ञान से निम्नस्तर का मानता है। वैद्यों के पद डाक्टरों के पद से नीचे दर्जे के रखे गये हैं। वैद्यों का वेतन मान डाक्टरों के वेतनमान से कम निर्धारित किया गया है। खैर शासन आयुर्वेद के प्रति विशेष दिलचस्पी नहीं लेता, क्यों कि वह एलोपैथी की सर्जरी से प्रभावित है। सर्जरी के क्षेत्र में आयुर्वेद के चिकित्सकों की प्रगति नहीं के बराबर है इसके लिये वैद्य समाज क्या कर रहा है ?

यदि भारतीय शल्यतंत्र को प्रत्यक्ष कर्माभ्यास द्वारा आयुर्वेदीय चिकित्सक शासन और जनता के सामने क्रिया रूप में प्रस्तुत करते हुए चले आते; और उसकी उपयोगिता जनहित में बनाये रखते तो आयुर्वेद की स्वराज्य मिलने के बाद अपने ही देश में इतनी अवहेलना नहीं होती, प्रस्तुत एलोपैथी का शल्यतंत्र और आयुर्वेदीय शल्यतंत्र तात्त्विक दृष्टि से लगभग एक ही समझे जाने लगते। आयुर्वेदीय शल्यतंत्र और एलोपैथी की सर्जरी को विवेचनात्मक बुद्धि से यदि कोई विद्वान् पढ़े तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुचेगा कि तात्विक दृष्टि से दोनों एक ही हैं। आयुर्वेदिक शल्यतंत्र का अनुवाद यदि एलोपैथिक ढंग से किया जाय तो आयुर्वेदिक शल्यतंत्र, एलोपैथिक शल्यतंत्र की पुरानी पोथी (Oldtestament) जंचने लगेगा। यदि एलोपैथी के आधुनिक शल्यतंत्र (सर्जरी) का अनुवाद आयुर्वेदीय ढंग से किया जाय तो वह आयुर्वेदिक शल्यतंत्र की नवीनतम पोथी (New testament) प्रतीत होने लगेगा। एतिहासिक दृष्टि कोण से अयुर्वेदीय शल्यतंत्र हजारों वर्ष का पुराना है, और आधुनिक शल्यतंत्र (सर्जरी) को कुल २५० वर्ष हुए हैं। उसकी आधुनिककम प्रगति को कुल ३० वर्ष ही हुए हैं। उसके चमत्कार तो अभी-अभी सुनाई देने लगे हैं, यद्यपि चमत्कारों में स्थायित्व का नितान्त अभाव है। एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति का हृदय लगाया गया; परन्तु वह व्यक्ति चन्द दिन ही जीवित रखा जा सका।

यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि विदेशी चिकित्सकों ने आधुनिक शल्यतंत्र (सर्जरी) को आयुर्वेदीय शल्यतंत्र के अधिष्ठान पर ही विकसित किया है। भाषा-भेद से शल्य-शालाक्य कर्म में प्रयुक्त होने वाले शस्त्रों के नामों में अन्तर है। परन्तु उनके उपयोग और आकार-प्रकार में साम्यता आज भी बनी हुई हैं। हम विद्वान् पाठकों के लिए आयुर्वेदीय शल्यतंत्र और आधुनिक शल्यतंत्र (सर्जरी) के शस्त्रों यंत्रों की तात्विक साम्यता दर्शाते हुए वर्णन करते हैं, जिससे यह गलत धारणा दूर हो जायगी, कि एलोपैथी की सर्जरी के समकक्ष आयुर्वेद में शल्यहरण क्रिया सर्जरी है ही नहीं। आयुर्वेद में सर्जरी इतनी उन्नत थी, कि उस तक पहुँचने में आधुनिक सर्जरी को अभी एक शताब्दि और लगेगा। भैरव द्वारा काटे गये ब्रह्मदेव के सिर को अश्वनी कुमारों द्वारा जोड़ देना। महाभारत के युद्ध में योद्धाओं के शरीर में धसे शल्यों को निकालकर क्षतों को कुछ घण्टों में रोपन कर पीड़ा रहित कर दूसरे दिन उन्हें पुनः ताजगी के साथ लड़ने योग्य बना देना, आयुर्वेदीय शल्यतंत्र के समुन्नत होने के ऐसे प्रमाण हैं, जिन्हें इन्कार नहीं किया जा सकता। आज तो सैनिक घायल होने पर महीनों सर्जनों की चिकित्सा में रहकर भी पुनः युद्ध के काबिल नहीं समझा जाता।

दुःख है कि कुछ विदेशी बर्बर आक्रमणकारियों ने आयुर्वेदीय शल्यतंत्र के प्रगतिशील ग्रथों को भी, साम्प्रदायिक द्वेष के कारण, हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों के साथ जलाकर नष्ट कर दिये। शल्यतंत्र का बचाकुचा ज्ञान, जो आयुर्वेदीय ग्रन्थों में है, वह भी आज आधुनिक सर्जरी से कम नहीं है। एलोपैथी की सर्जरी से आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों को अलग करने के बाद जो कुछ बचता है, उससे आयुर्वेद के शल्यतंत्र में अधिक है। यदि आयुर्वेद के शल्यतंत्र के साथ आधुनिक विज्ञान के यन्त्र-शस्त्र जोड़ दिये जांय तो निसंदेह आयुर्वेद का शल्यतंत्र आधुनिक सर्जरी से सर्वोपरि दिखाई देगा।

दुःख तो इस बात का है, आयुर्वेदीय शल्य शस्त्रों की प्रतिष्ठा और उपयोगिता केवल आयुर्वेदीय ग्रन्थों तक ही सीमित है। वे सब कालीदास, भवभूति, बाण के काव्य की तरह परीक्षा पास करके हेतु पढ़े जाते हैं। उनका उपयोग न आयुर्वेद के शिक्षकों को मालूम रहता और न विद्यार्थियों को उनकी उपयोगिता, प्रत्यक्ष कर्माभ्यास द्वारा आयुर्वेदीय ढंग से समझायी जाती है। परिणामतः आयुर्वेद का शल्यतंत्र इस विशेषांक द्वारा एक बार पुनः इस शल्य तन्त्र का अवतरण इस धरा पर होगा ऐसा हमारा विश्वास है।
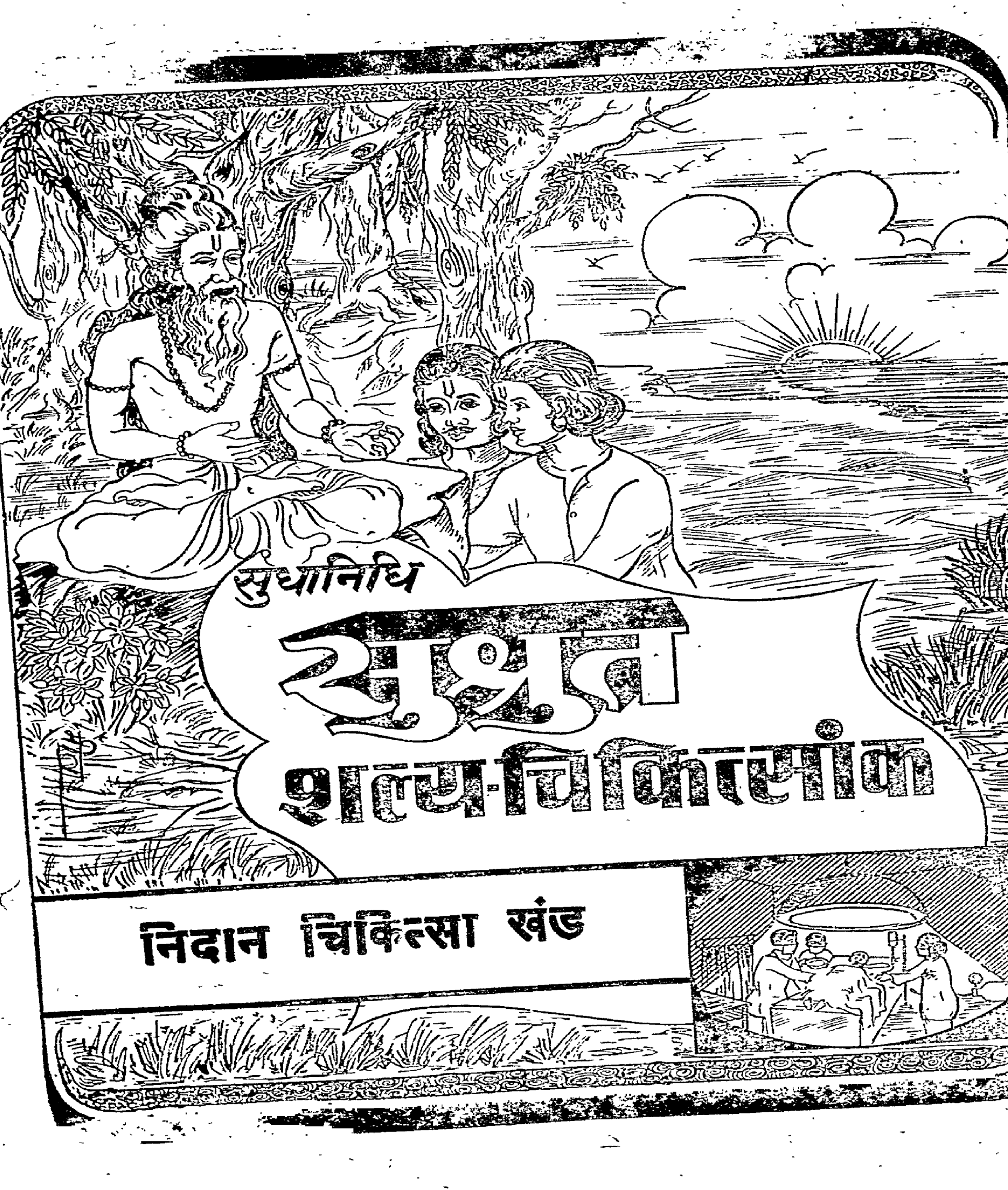
सुधानिधि
सुश्रुत
शल्य-चिकित्सांक
निदान चिकित्सा खंड
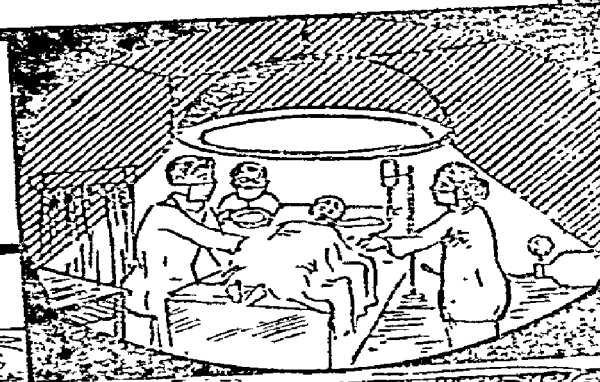
"सुश्रुत शल्य चिकित्सांक" की प्रस्तावित विषय सूची में निदान तथा चिकित्सा-खण्ड पृथक्-पृथक् देने की घोषणा की गयी थी, परन्तु केवल निदान को पृथक् से न देकर यहां प्रत्येक रोग का निदान तथा उसकी शल्य-चिकित्सा आयुर्वेदिक तथा आधुनिक दृष्टिकोण से एक साथ दी जा रही है।

—सम्पादक।

डा० लालबहादुरसिंह बी.ए.एम.एम.एस., स्टेट आयुर्वेदिक कालेज लखनऊ

ऐतिहासिकता—

भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही संज्ञाहरण द्रव्यों का प्रयोग होता रहा है। आयुर्वेदिक चिकित्सा के शल्य प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में यह उल्लिखित है कि आपरेशन के पहले शराब (Wine) या भारतीय हैम्प की बनी हुई सम्मोहिनी नाम की वस्तु पिलाने का विधान बतलाया गया है। इन द्रव्यों के प्रयोग से वेदना का बहुत ही अल्प ज्ञान रोगी को होता था और शल्यचिकित्सक विना किसी कठिनाई के विभिन्न आपरेशनों को कर लेता था। उपर्युक्त पदार्थ के प्रयोग करने से रोगी पूर्णतः संज्ञाशून्य नहीं होता था। अतः रोगी को मजबूती के साथ पकड़ने के लिए बहुत से बलवान व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती थी।

प्राचीनकाल से ही उपर्युक्त विधि से अन्य देश ग्रीक, अरब जैसे चीन देश की चिकित्सा पद्धतियों में भी कोई उन्नति न हो सकी। इन देशों में शामक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अफीम के योगों का अधिक प्रयोग किया जाता था। सन् १७७२ में जोसेफ प्रिस्टले द्वारा नाइट्रस आक्साइड की खोज होने से एक नये युग का प्रारम्भ हुआ लेकिन बीच में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सन् १७७९ ई० में महान् रसायन वेत्ता हम्फ्रेडवे को दांत के दर्द में इस गैस को सूँघने से बहुत आराम मिला, इसके बाद उसने इसका प्रयोग कई रोगियों पर किया और वह बहुत प्रभावित हुआ कि इस औषधि के कारण रोगी वेदना का अनुभव नहीं करता। सन् १८१८ में मारकेल फैराडे ने यह प्रदर्शित किया कि नाइट्रस आक्साइड के समान ईथर भी काफी मात्रा में वही प्रभाव तुरन्त उत्पन्न कर सकता है।

सन् १८४० और १८५० के बीच इन चारों औषधियों की खोज हुई, जो निम्न है—

नाइट्रस आक्साइड।

इथिल क्लोराइड, क्लोरोफार्म, ईथर।

यद्यपि नाइट्रस आक्साइड की खोज डवे द्वारा कुछ वर्ष पहले हो चुकी थी लेकिन कनैक्टीक्ट (यू० एस० ए०) के होरेस वेल्स नाम के दांत चिकित्सक ने शल्यक्रिया में इसका प्रयोग इसी अवधि में प्रारम्भ किया।

एक संज्ञाहर द्रव्य के रूप में ईथर की खोज का श्रेय जार्जिया के सार्वदैहिक चिकित्सक (General Practicener) श्री क्रावफोर्ड लांग की है। क्रावफोर्ड लांग ने ३० मार्च सन् १८४२ ई० को ईथर द्वारा संज्ञाहरण करके पहला आपरेशन किया। इसके बाद ईथर द्वारा संज्ञाहरण के अन्तर्गत उन्होंने आपरेशन जारी रक्खा किन्तु इसका ज्ञापन चिकित्सा साहित्य में नहीं किया।

इसी बीच विलियम मारटन नामक चिकित्सक विज्ञान का एक विद्यार्थी जो वेल्स का भूतपूर्व साथी था, मेसेच्युसेट्स जनरल हास्पिटल के एक सीनियर सर्जन डा०

जानकालिन्स वारेन से मिला। विलियम मारटन ने सर्जिकल रोगियों के आपरेशन में संज्ञाहरण के लिए ईथर के प्रयोग की आज्ञा मांगी। इसी तरह से अक्टूबर सन् १८४६ ई० में उन्होंने एक बड़ी भीड़ की उपस्थिति में रोगी के नाक और मुख पर ईथर सूंघने के लिए रक्खा। उस रोगी के गले के बगल में एक वैसुकुलर ट्यूमर था। तीन मिनट के अन्दर क्रमशः रोगी बेहोश हो गया। सर्जन की ओर मुड़कर संज्ञाहरक मार्टन ने एक ऐतिहासिक घोषणा की "डाक्टर वारेन" आपका रोगी तैयार है "भीड़ में उपस्थित उत्तेजना के वातावरण में डाक्टर वारेन ने चाकू लगाया और आपरेशन बिना किसी बाधा के पूरा किया। इस सफल प्रदर्शन के बाद सर्जरी के कार्यों में संज्ञाहरण के लिए ईथर की प्रसिद्धि तेजी के साथ फैलने लगी। कुछ वर्षों के बाद सारी दुनियां में इसका प्रयोग तेजी के साथ होने लगा। दुर्भाग्यवश इसकी खोज करने वाले मार्टन अनैतिक रूप से धन कमाने में लग गये। इसके परिणामस्वरूप बहुत लम्बे मुकदमे में फंस गये।

सन् १८४७ ई० में लगभग इसी समय जब कि मार्टन ने ईथर का प्रयोग किया, एडिनबर्ग में डा० जैम्स यंग सिम्पसन ने क्लोरोफार्म के प्रभाव की परीक्षा अपने और अपने मित्रों पर प्रारम्भ की। क्लोरोफार्म का प्रयोग अनेक आपरेशनों में होने लगा। सिम्पसन के क्लोरोफार्म प्रयोग से काफी लोग सन्तुष्ट थे। लेकिन धार्मिक प्रवृत्ति तथा चर्च के लोगों द्वारा उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। क्लोरोफार्म के प्रयोग के विरुद्ध इन लोगों ने आवाज उठाई और विशेषकर प्रसव के समय इनके प्रयोग को अप्राकृतिक कहा।

जब इन औषधियों का उपयोग बहुत अधिक किया जाने लगा तो इनके अनुचित प्रयोग से अनेक उपद्रव भी सामने आने लगे। इससे यह ज्ञात हुआ कि कभी-कभी क्लोरोफार्म का हृदय की पेशियों तथा लिवर के ऊपर विषाक्त प्रभाव पड़ता है। इसी तरह यह भी मालूम हुआ कि ईथर ब्रांकियल म्यूकस कला में क्षोभ पैदा करता है। इससे शस्त्रकर्म करते समय ब्रांकोन्यूमोनियां और फुफ्फुस (Lungs) के अन्दर अन्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

इन कठिनाइयों के कारण अन्य दूसरी औषधियों की खोज की जाने लगी। जिससे सार्व-दैहिक संज्ञाहरण के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी। इनमें शिथिलकर औषधियों का विशेष महत्व है, जो पेशियों में शिथिलन उत्पन्न करती हैं। सन् १९४२ ई० में मांट्रियल के एच० आर० ग्रिफिथ तथा एनिड जानसन ने रोगियों में क्युरारि का सूची वहां देकर पेशी का घात (पैरालाइसिस) उत्पन्न किया। अनेक शताब्दियों से साऊथ अमेरिका के इंडियन लोगों को यह ज्ञात था कि यदि वे अपने तीरों के नोक पर क्यूरारी औषधि का लेप करते थे, तो वह विष का कार्य करती थी और श्वसन संस्थान की पेशियों का शीघ्रतापूर्वक घातकर देती थी। क्यूरारी वस्तुतः स्ट्रिकनस टाक्सीफेरा नामक वृक्ष की छाल का सत्व है। यह वृक्ष विशेषरूप से दक्षिण अमेरिका में पैदा होता है।

इन पेशी शिथिलकर द्रव्यों की खोज ने संज्ञाहरण की प्रक्रिया में क्रांतिकारी परिवर्तन किया और अब सर्जन विभिन्न ऑपरेशन अधिक सुविधापूर्वक और सुरक्षित रूप से कर सकता है। इसके अतिरिक्त अल्पतप्तता (Hypothermia) इक्स्ट्राकारपोरल परिसंचरण कृत्रिम हाइबरनेशन और रक्तदाब (Blood pressure) कम करने वाली औषधियों के आविष्कारों ने सार्वदैहिक संज्ञाहरण के महत्व को बढ़ा दिया है किन्तु हर प्रकार के रोगियों में इन प्रयोगों का अभी तक पूर्णरूप से मानकीकरण नहीं हो सका।

सार्वदैहिक संज्ञाहरण—

सार्वदैहिक संज्ञाहरण दो प्रकार से उत्पन्न किया जा सकता है।

१. औषधि सुंघाकर
२. सिराद्वारा (सूचीवेधकर)

संज्ञाहरण की प्रावस्थाएं

(Stages of Anaesthesia)

कार्टेक्स (Cortex) के नीचे (Medulla) मेडुला की ओर केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र का (Central Nervous System) क्रमिक आवागमन जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, उसी के आधार पर संज्ञाहरण की अवस्थाएं अर्थात् क्रमिक परिवर्तन का वर्णन किया जा सकता है।

१. पहली अवस्था में चेतना बनी रहती है किन्तु वेदना का ज्ञान नहीं होता और स्मृति लोप का लक्षण उत्पन्न हो जाता है।

२. दूसरी अवस्था में प्रलाप (Delirium) और उत्तेजना की अवस्था होती है। इसके साथ चेतना हीनता, पीड़ायुक्त उद्दीपनी (Painful stimulent) के प्रतिकूल प्रतिक्रिया तथा संघर्ष की अवस्था भी वर्तमान रहती है।

३. तृतीय अवस्था को सर्जिकल संज्ञाहरण की अवस्था भी कहते हैं, इस अवस्था में भी ३ अवस्थाएं होती हैं—

(१) सर्जिकल अवस्था की हल्की अवस्था—इसमें श्वसन क्रिया रहती है किन्तु नेत्र गोलकों का चलना बन्द हो जाता है।

(२) मध्यम अवस्था—वेदना के प्रति-प्रतिक्रिया बन्द हो जाती है। श्वसन क्रिया नियमित होती है और पर्याप्त शिथिलन भी रहता है।

(३) गहरी अवस्था—वेदना के प्रति शरीरांगों (Visceral Response) की प्रतिक्रिया नष्ट हो जाती है। इण्टर कास्टल पैरालिसिस डायाफ्राम के जर्की काण्ट्रक्शन तथा पेशियों के तनाव का नष्ट होना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

(४) चौथी प्रावस्था—इसके भी दो भेद होते हैं।

१—श्वास लेने में कष्ट तथा नेत्र की पुतलियों का फैल जाना।

२—हृद्वाहिका पतन (Cardio Vascular failure) इस अवस्था में अधिकांश परिवर्तन नष्ट हो जाते हैं और शिथिलन की अच्छी मात्राएं उत्पन्न रहती हैं।

प्रयोग में लाई जाने वाली औषधियां:—

१. ईथर—यह सभी प्रकार के शस्त्रकर्मों के लिए प्रयुक्त है। यह एक ऐसी औषधि है जो सभी प्रकार के शस्त्र कर्मों के लिए प्रयुक्त है। यह पेशियों में अच्छा शिथिलन पैदा करता है, श्वसन संस्थान में व्यर्थ का अवसाद भी नहीं उत्पन्न करता है।

इसके प्रयोग में हानियां

१—अत्यधिक विस्फोटक है अर्थात् सावधानीपूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

२—यह बहुत अधिक मचली और वमन कर्म उत्पन्न करता है।

३—अधिक समय तक प्रयोग करने पर फुपफुसों में उपद्रव पैदा कर देता है।

२. क्लोरोफार्म—इसका प्रयोग संज्ञाहारक द्रव्य के रूप में कम प्रयोग होता है। यह उड़नशील नहीं है। इसका प्रयोग बिना किसी द्रव्य की सहायता के किया जा सकता है। प्रयोग ईथर सदृश ही होता है। हृदय की पेशियों पर इसका विषाक्त प्रभाव पड़ता है। इस कारण से हृदय में शीघ्र ही निलय विकल्पन (Ventricular Fibrolation) होने लगता है। उपर्युक्त उपद्रवों के फलस्वरूप इसका प्रयोग बहुत ही खतरनाक है।

(३) साइक्लो प्रोपेन—कुछ समय पहले इसका प्रयोग फैशनेबुल सार्वदैहिक संज्ञाहरण के रूप में किया जाता था किन्तु पहले की भांति इसका प्रयोग नहीं होता है। यह मंहगी और विस्फोटक प्रकृति की है। कभी-कभी हृदय में अनियमितता भी पैदा करती है।

(४) नाइट्रस आक्साइड—सुरक्षित गैसों में यह मुख्य है और यह कोई तन्त्रीय प्रभाव उत्पन्न नहीं करती है। यह पूर्ण संज्ञाहरण उत्पन्न नहीं करती है। अतः केवल छोटे आपरेशनों में चीरा लगाने, दांत उखाड़ने आदि के योग्य संज्ञाहरण उत्पन्न कर सकती है। इसके प्रयोग के लिए एक आक्सीजन गैस सिलिण्डर का होना आवश्यक है।

अन्तः शिरा संज्ञाहरण

इसके लिए प्रायः पेन्टाथाल सोडियम या इन्ट्रावाल सोडियम का प्रयोग किया जाता है। बहुत कम समय के लिए अचेतना (Unconsciousness) उत्पन्न करने के लिए ये औषधियां शिरा विधि द्वारा दी जाती हैं। इन औषधियों द्वारा संज्ञाहरण प्रेरण अबाधित रूप से होता है। इस औषधि के प्रयोग में रोगी को उत्तेजना नहीं होती है। छोटे आपरेशनों में इसी औषधि का प्रयोग होता है। इसका प्रयोग गैस और आक्सीजन संज्ञाहरण के साथ संयुक्त रूप में भी किया जाता है। आजकल बड़े आपरेशन में भी इसी के गैस और आक्सीजन के साथ समुचित पेशी शिथिलकर द्रव्यों का उपयोग करके इस विधि का प्रयोग किया जा रहा है।

तकनीक—रोगी के बलाबल के अनुसार पेन्टाथाल सोडियम १/२ ग्राम की मात्रा में १०–२० सी० सी० आश्रुत जल में घोलकर इसे शिरा में धीरे-धीरे प्रविष्ट करते हैं। लगभग २–३ सी० सी० की मात्रा में इसे मंद-

गति से प्रविष्ट करने के बाद एक मिनट तक रोककर इसका प्रभाव देखते हैं। इसी प्रकार पुनः मंदगति से इंजेक्सन देना प्रारम्भ करके लगभग २ सी० सी० प्रविष्ट करने के बाद रुककर श्वसन का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करते हैं। सम्पूर्ण औषधि इसी भांति प्रविष्ट की जाती है। यदि श्वसन अवसाद का कोई लक्षण दिखाई दे तो इंजैक्शन देना बंद कर देना चाहिए। संज्ञाहरण प्रेरण की अवधि में जिह्वा नीचे की ओर लटक कर प्रायः श्वसन मार्ग का अवरोध उत्पन्न कर देती है। नीचे जवड़े को ऊपर उठाकर आगे की ओर कर देने से इस उपद्रव से बचा जा सकता है। सोडियम पेन्टाथाल वहुत ही शक्तिशाली औषधि है। इसलिए इसका प्रयोग अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति को सावधानीपूर्वक करना चाहिए। यदि रोगी स्तब्धता (Toaxemia) द्वारा पीडित हो तो इस औषधि का प्रयोग करना उचित नहीं है। तथा यकृतविकार वाले रोगी में भी प्रयोग नही करना चाहिए।

स्थानिक संवेदना हरण

मुख्य रूप से २ प्रकार की होती है।

(१) पृष्ठीय संज्ञाहरक (Surface anaesthetic)

(२) गम्भीर संज्ञाहरक (Deeper aneasthetic)

पृष्ठीय संज्ञाहरक के लिए प्रयुक्त औषधियां

कोकेन हाइड्रोक्लोराइड	४%
एनीथल	२%
पन्टोकेन	१%

नेत्र, नाक, कान तथा गले के ऑपरेशनों में इन औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

गम्भीरतर (Deeper) में संज्ञाहरण उत्पन्न करने के लिए——

प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड या इसका कोई योग विभिन्न शक्ति में प्रयोग किया जाता है। सामान्य रूप से ०–५–२ प्रति० के घोल का प्रयोग होता है क्योंकि अधिक शक्ति वाले घोल धातु विपाक्त होता है। एड्रिनलीन हाइड्रोक्लोराइड— १: १००० का ३ बूंद एक औंस में मिलाकर वनाया गया घोल इस औषधि की कार्यशक्ति को अधिक समय तक बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त इससे रक्त स्तम्भन का कार्य भी होता है।

सौषुम्निक संज्ञाहरण——

सामान्यतः तीसरे और चौथे नेम्बर वरटिब्रा के बीच में इंजेक्शन लगाया जाता है। रोगी को बैठाकर या लिटा कर इंजेक्शन देते हैं। यदि कोई कठिनाई हो तो दूसरे और तीसरे के बीच या ४–५ के बीच भी इंजेक्शन देते हैं। प्रायः न्यूपरकेन का भारी हाइपरवैरिक साल्यूशन १–५ सी० सी० से २ सी० सी० की मात्रा में प्रयुक्त होता है।

सौषुम्निक संवेदनाहरण में निम्न उपद्रव——

(क) **शिरःशूलः चिकित्सा**—वेदना नाशक औषधियों का प्रयोग मुख द्वारा।

(ख) **मूत्र का रुक जाना**—चिकित्सा—प्रोस्टेगमीन का इंजेक्शन इसे दूर करने के लिए दिया जाता है यदि इससे लाभ न हो तो १२ घण्टे बाद केथेटर द्वारा मूत्र निकाल देना चाहिए।

(ग) **सौषुम्निक स्तब्धता**—इसमें कृत्रिम श्वसन का प्रयोग करना चाहिए तथा रक्तदाब की परीक्षा करनी चाहिए।

(घ) **मस्तिष्कावरण शोथ** (Menigitis)— इसके लिए एसैप्टिक तकनीक प्रयुक्त होती है।

संज्ञाहरण के उपद्रव——

(क) **श्वसन संस्थान के उपद्रव** (Respiratory Tract Complication)— इसमें मुख्तया ब्रान्कोन्यूमोनियां, लंग कोलोप्स।

सावधानी—ऑपरेशन के बाद रोगी को पूर्णतया वहुत कम ही समय में होश में आ जाना चाहिए। इससे रोगी खांसेगा, सांस लेगा जिससे श्वसन-मार्ग जो अवरुद्ध रहता है वह खुल जाता है।

(ख) **उदरगत उपद्रव** (Abdominal Complications)—जी मिचलाना (Nausia), वमन (Vomitting)।

निवारण—ल्यूमिनाल इन्जेक्शन १ ग्रेन या पाइरिडाक्सिन १०० मिलीग्राम इस उपद्रव को दूर करने में सहायक होता है।

—शेषांश पृष्ठ ३१३ पर

प्राणाचार्य डा० महेश्वर प्रसाद उमाशंकर; चीफ सर्जन एम० हास्पीटल, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

प्राचीन समय में सम्मोहन[1] प्रक्रिया द्वारा रोगी को बेहोश कर बड़े-बड़े शल्य-कर्म किये जाते थे। किन्तु छोटे-छोटे शल्य-कर्म (Minor surgical operation) उच्च-कोटि का सुरा, मद्य, भङ्गा (भांग), अहिफेन आदि मिश्रित मादक औषधियों में से आवश्यकतानुकूल किसी एक का विधिवत् सेवन कराकर और मादकता उत्पन्न कर किया जाता था। स्थानीय संज्ञाहरण के लिए शरफंका के घन-सत्व, पुनर्नवा मूल के सत्व आदि को त्वचा पर भली-भांति मलकर उक्त स्थान को चेतनाशून्य कर दिया जाता था।

किन्तु अब नित नवीन वैज्ञानिक अन्वेशषणों के द्वारा उन सब प्राचीन क्रिया-प्रक्रियाओं एवं मादक वस्तुओं से परे ऐसी संज्ञाहर औषधियों एवं प्रक्रियाओं का आविष्कार कर लिया गया है कि आज प्राय: समस्त प्रकार के छोटे-बड़े शल्य कर्म पूर्णरूपेण वेदनाविहीन (Totally painless) सम्पादित होते हैं।

शल्य-कर्म के समय रोगी को तीव्र वेदना और कष्ट से बचने के लिए निम्नलिखित तीन श्रेणी की संज्ञाहरण औषधियां प्रयुक्त होती हैं—

(१) सार्वदैहिक (General anesthesia),
(२) सुषुम्नान्तर्गत (Spinal „) और
(३) स्थानीय (Local „) „

सार्वदैहिक संज्ञाहरण—बड़े-बड़े शल्य-कर्मों में किए जाते हैं जहां इसका उद्देश्य अस्थायी अचेतनावस्था उत्पन्न कर शल्य-कर्म की पीड़ा से पूर्ण मुक्ति दिलाना है। यह मांसपेशियों में शिथिलता उत्पन्न करते हैं। चूंकि इस प्रकार के संज्ञाहरण खतरनाक होते है अतएव केवल थोड़े समय के लिए ही इसे सम्पादित कर इस अवधि के भीतर ही बडी स्फूर्ति से अभीष्ट समस्त शल्य-कर्म पूर्ण कर लिए जाते है; थोड़ा भी विलम्ब नहीं किया जाता। इसके प्रयोग के पूर्व और पश्चात् रोगी की थोड़ी तैयारी करनी पड़ती है।

सर्व प्रथम रोगी की परीक्षा कर यह आश्वस्त हो जाना पड़ता है कि रोगी को—

(अ) श्वास कष्ट तो नहीं है ?
(आ) पैरों में शोथ तो नही है ?
(इ) फुफ्फुसों के आधार पर आर्द्र शब्द तो नहीं मिलता है।
(ई) श्वासनलिका प्रदाह तो नहीं है ?
(उ) कृत्रिम दांत तो लगे हुए नहीं हैं ?

यदि नहीं हैं तो रोगी शल्य-कर्म के योग्य अन्यथा आयोग्य घोषित किया जाता है।

---

१. योग साधना की एक विशिष्ठ प्रक्रिया जिसमें साधक मन: शक्ति प्रबल कर रोगी के नेत्रों से नेत्र मिलाकर दिव्य आत्मा के अद्भुत प्रभाव एवं वाचा शक्ति से उसे सम्मोहित कर ऐसी गहरी नींद में ले आता है कि रोगी के शरीर को चाहे कितना भी काट-कूट करें कोई पीड़ा नही होती।

पूर्व तैयारी—

१. बिगड़े दांत या जड़ें उखाड़ कर बाहर निकालें।

२. संज्ञाहरण से ४ घण्टे पहले ठोस वस्तु न खिलावें। केवल मीठी चाय या गर्म दूध दे सकते हैं।

३. मृदु विरेचन या एनिमा द्वारा आंतों को खाली कर दें। अति आवश्यक शल्य-कर्म में स्टमक ट्यूब से आमाशय को भी खाली कर दें। मूत्र त्याग करा लें या कैथेटर से मूत्र निकाल दें।

४. शल्य-कर्म से दो दिन पूर्व छोटी मात्रा में त्वचा में स्ट्रिक्नीन लगा दें दुर्बल रोगी में विशेष करके ऐसा करें।

५. शल्य-कर्म से पूर्व संज्ञाहरण के कोर्स को सरल एवं रोगी को आराम पहुंचाने के लिए प्रौढ़ को नेम्बुटॉल अर्थात् पेण्टोबार्बिटॉल सोडियम ०·१ से ०·२ ग्राम की मात्रा में खिलायें।

६. दर्द शमनार्थ शल्य-कर्म से १ या १½ घण्टा पूर्व १ से २ प्रतिशत प्रोमेडॉल विलयन १ मि० लि० की मात्रा में त्वचा में (S. C.) सूचीवेध लगावें। साथ ही एट्रोपीन के ०·५% विलयन १ या २ मि० लि० त्वचा में सुई लगायें।

७. ईथर द्वारा संज्ञाहरण के समय एट्रोपीन ०·६५ मि० ग्रा० और मार्फीन ११ मि० ग्रा० का एक साथ त्वचा में सुई लगायें। इससे संज्ञाहरण काल में मुंह से झाग कम निकलता है और श्वासावरोध का भय नहीं रहता, ईथर कम लगता है तथा बाद के उपद्रव भी प्रायः नहीं होते।

संज्ञाहरण की अवस्थाएं—

रोगी को निम्नांकित चार अवस्थाओं में होकर गुजरना पड़ता है—

(१) प्रथम पीड़ानाश की अवस्था—आंशिक अचेतनावस्था।

(२) द्वितीय उत्तेजनावस्था—बाह्य प्रभावों को विस्मृत कर देता है।

(३) तृतीय अचेतनावस्था—शल्य-कर्म करने की अवधि।

(४) चतुर्थ भग्न संधानावस्था—पूर्ण शिथिल हो मुक्ति अवस्था।

सुंघाकर बेहोश करने वाली—

इन्हें वाष्पीय संज्ञाहर (Inhalation anaesthesia) भी कहते हैं। इनकी चार प्रमुख विधियां हैं—

(१) खुली, (२) अर्धखुली, (३) अर्धबन्द और (४) बन्द विधियां।

ईथर (Ether)—

इसको १५% के तीव्र घोल के रूप में कई औंस की मात्रा में सुंघाकर प्रयोग करने से ही पूर्ण संज्ञाहरण होता है। इसकी गन्ध अरुचिकर, फुफ्फुसों के विभिन्न अवयवों में सञ्चित हो देर तक निकलने वाली जिससे संज्ञाहरण के बाद रोगी को विलम्ब से होश आता, उत्तेजना अधिक समय तक होने से कष्ट अधिक होता, श्वासनलिका प्रदाह, फुफ्फुसप्रदाह, श्वासकष्ट, न्यूमोनिया आदि उपद्रव हो जाते, विद्युत् धारा, आग आदि से विस्फोट उत्पन्न हो जाना, इसके संज्ञाहरण में रोगी बहुत छटपटाता आदि प्रयोग काल में परिलक्षित होते हैं। छः वर्ष से नीचे तथा ६० वर्ष से ऊपर की वय वाले में इसका प्रयोग वर्जित है। इससे हृदय गति बन्द होने का कम भय रहता है अतएव आजकल इसका अधिकता से प्रयोग होता है।

प्रविधि—रोगी की मुखाकृति पर परिशुद्ध वैसलीन लगाकर रोगी की आंखों को पतले रबड़ की झिल्ली या तौलिया से ढंक दें। पश्चात् खुली संज्ञाहर विधि से बूंद-बूंद करके ईथर डाल रोगी को सुंघा बेहोश करें। विधि यह है कि मास्क टोपी एक तौलिया में सुनियोजित एवं सुजड़ित वेष्टित कर दिया जाता है और उस पर ईथर बूंद-बूंद करके डालते हुए रोगी के चेहरे से थोड़ी दूर पर प्रारम्भ में रखा जाता है फिर उसको नाक और मुंह पर रखकर ईथर बूंद-बूंद करके १५ से २० बूंद या ३० से ४० बूंद प्रति मिनट की दर से उड़ेला जाता है। प्रौढ़ में इस क्रम को बढ़ाकर १०० से १२० या आवश्यकतानुकूल १३० बूंद प्रति मिनट तक ले जाया जाता है। अधिकतम मात्रा ५० से १०० ग्राम तक ही जब पेशियां शिथिल पड़ जायं, कनीनक अल्प फैल जायं तो संज्ञाहर प्रयोग बन्द कर दें। यदि कनीनक विशेष फैल जाय, नेत्र के स्वच्छ मण्डल का परावर्तन बन्द हो जाय, श्वसन दुर्बल पड़ जाय, रक्तचाप गिर जाय, शीतल पसीना आवे, शरीर पीला पड़ जाय या कोई अन्य भयंकर उपद्रव उठ खड़े हों तो टोपी को हटाकर ऑक्सीजन सुंघावें, कृत्रिम श्वसन मुंह या यन्त्र

द्वारा दें। शल्य-कर्म की समाप्ति के १५—२० मिनट पूर्व ईथर देना बन्द कर देवें।

सावधानी—उत्तेजना और कै होने पर रोगी का सिर एक ओर करके मुंह और नासिका को तौलिया से पोंछकर खाली और स्वच्छ कर देना चाहिए। आपातकालीन (Emergency) दशा मे ऑक्सीजन सुंघायें या इसे शिरागत प्रविष्ट करें।

क्लोरोफार्म (Chloroform)

इसके वाष्प को सुंघाते ही अस्थायी अचेतनावस्था उत्पन्न हो जाती है। प्रकाश और वायु के सम्पर्क में आने पर यह प्राणघ्नी विष फॉसजीन और हाइड्रोजन क्लोराइड में विच्छेदित हो जाती है। इसी हेतु इसे सुरक्षा की दृष्टि से कांच डाटयुक्त गहरे नीले या भूरे रंग की बोतल में पूरी तरह से भरा हुआ एवं अन्धेरे में रखते हैं तथा विच्छेदित क्रिया से बचने के लिए इसमें १% अल्कोहल भी मिला देते हैं। चूंकि इसके प्रयोग से अकस्मात् हृदय गति बन्द हो जाने का भय रहता है अतएव बड़ी सावधानी से तथा विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही आजकल कभी इसका प्रयोग होता है।

प्रयोग पूर्व की सतर्कता—

१. क्लोरोफार्म प्रयोग के पूर्व एट्रोपीन की सूई आवश्यक मात्रा में लगादें।

२. स्टेथिस्कोप से हृदय गति का निरीक्षण करते रहें; यदि गति मन्द या स्पष्ट न मालूम पड़े तो 'एमाइल नाइट्रेट' सुंघायें।

३. मधुमेह, क्षयरोग, शुक्लप्रमेह (Acetoneuria), हृदय रोग आदि किसी से पीड़ित को इसे नहीं सुंघायें।

४. इसका यकृत् पर महान् हानिकर प्रभाव पड़ता है, अतः इसके प्रयोग से पूर्व कुछ दिनों तक शक्कर बड़ी मात्रा में खिलावें, यदि यकृत्वृद्धि या विकृति हो तो उसकी चिकित्सा पहले ही करलें।

५. चार घण्टा पूर्व कोई भोजन रोगी को न देवें तथा एनिमा करके आंत स्वच्छ और खाली करलें।

६. कृत्रिम दांत बाहर निकाल दें। बूढ़ों के ओठ भीतर न गिर जायं, नासापुटों (Alae Nasi) के अन्दर की ओर गिर जाने से श्वासावरोध न हो जाय, इन बातों पर ध्यान रख इनका निराकरण करें।

७. छोटे, संकीर्ण और कसे वस्त्र, बन्धन, बटन खोलकर ढीला कर दें। रोगी को सम्भालने में उसके पेट और छाती पर दबाव नहीं पड़ना चाहिये।

८. यदि वमन करे तो तत्क्षण ही सिर एक करवट में रखकर अधोहनु नीचे की ओर ताने रहें और जीभ को आगे की ओर निकाले रहे जिससे वमन का द्रव्य श्वासनलिका में न चला जाय। यदि असावधानी से चला जाय तो तुरन्त 'लेरिंगाटोमी" शल्य-कर्म करें।

९. दुर्बल रोगी को थोड़ी मात्रा में ब्राण्डी या ह्विस्की पिलायें। भयभीत रोगी का समझा-बुझाकर साहस बढ़ावें।

१०. क्लोरोफार्म नया और पूर्णतया शुद्ध हो।

११. जिस रोगी को हृदय रोग, फुफ्फुसरोग, हृदय विकार हो उसे क्लोरोफार्म न सुंघाकर ए० सी० (अल्कोहल+क्लोरोफार्म) या ए० सी० ई० (अल्कोहल, क्लोरोफार्म, ईथर) मिश्रण के साथ ऑक्सीजन सुंघाने का सुप्रबन्ध करें।

१२. पूर्ण संज्ञानाश होने पर ही शल्य-कर्म करें। रोगी के ऊपर विद्युत पंखा अन्य पंखा बराबर चलाता रहे।

१३. रोगी का चेहरा सफेद होने पर एमाइल नाइट्रेट सुंघायें, यदि श्वास बन्द होने को हो तो तत्क्षण सिलवस्टर की कृत्रिम श्वसन क्रिया करें। स्ट्रिकनीन की सुई भी लगायें, महाधमनी पर पट्टियां बांध दबाव पहुँचाकर सिर को नीचे करें।

१४. यदि रोगी की दशा अधिक सोचनीय हो तो ऑक्सीजन और कार्बनडाईआक्साइड सुंघायें, स्कन्ध को ऊंचा उठायें और मुंह को खोलकर कई घण्टों तक कृत्रिम-श्वसन क्रिया करायें।

प्रविधि—सुंघाने वाली मास्क टोपी पर क्लोरोफार्म छिड़ककर खुली विधि से रोगी को इस प्रकार पहिना दें कि यह मुंह को ठोड़ी से सिर तक अच्छी तरह ढंक ले और समूचा मुंह बन्द हो जाय। अब यन्त्र के रबड़ की धोंकनी से हवा प्रवाहित करने से औषधि की बोतल से क्लोरोफार्म के वाष्प रबड़ की नलिका द्वारा टोपी और फिर रोगी की नाक में पहुँचती रहती है। हर

तीन मिनट पर रोगी की नाड़ी देखनी चाहिए। यदि नाड़ी किसी कारणवश सम्यक् रूप से नहीं चल रही हो तो तत्क्षण क्लोरोफार्म सुंघाना स्थगित करके ऑक्सीजन सुंघाना या कृत्रिम श्वसन दिलाना चाहिए।

यदि मुख या नासिका पर शल्य-कर्म करना अभीष्ट हो तो टोपी न प्रयोग कर एक विशेष प्रकार की रवड़ नलिका जो इसी उद्देश्य के लिए आती है, को मुख या नासिका के मार्ग से स्वरयन्त्र तक पहुँचाकर धौंकनी से अन्दर क्लोरोवाष्प पहुँचाना चाहिए।

जब श्वास धीमी पड़ जाय तो कार्वनडाईऑक्साइड के प्रयोग से बहुत शीघ्र तेज की जासकती है जिससे श्वास गहरा आने लग जायगा। इसके साथ ऑक्सीजन भी मिला लेना जरूरी है।

साइक्लोप्रोपेन (Cyclopropane)—

यह ईथर और क्लोरोफार्म की तरह सुंघाकर प्रयुक्त होती है। यह ईथर की तरह फेफड़ों में श्वासनलिका तथा अन्य श्वासमार्गों में खराश नहीं उत्पन्न करती। अतः वक्ष के बड़े-बड़े शल्य-कर्मो एवं हृदय रोग में इसका व्यवहार होता है। यह अधिक मूल्यवान् होता है। इसकी गैस टंकियों में रखी जाती है जो आग पकड़ने वाली होती है। यह अतिशीघ्र आधी से तीन मिनट के अन्दर वेहोशी ला देती है। हृदय की तालवद्धता में व्यतिक्रम उत्पन्न करना इसके दोष हैं।

प्रविधि—वन्द विधि के द्वारा ऑक्सीजन के साथ-साथ प्रयुक्त होता है। यह १५ से १८ प्रतिशत की सान्द्रता में संज्ञाहरण उत्पन्न करता है। संज्ञाहरण में तीव्रता लाने के लिए पेण्टोथल की सुई शिरा मार्ग से लगा देना गुणकारी है। आनन्ददायक गन्धवाला होने तथा संज्ञाहरण के अन्त में मिचली और वमन उत्पन्न करने के कारण यह ग्राह्य है।

नाइट्रस ऑक्साइड (Nitrous Oxide)—

यह स्वाद में कुछ मीठी, हवा से भारी और हँसी उत्पन्न करने वाली (Laughing) गैस है। दांत निकालने, फोड़ा चीड़ने, विद्रधि का छेदन करने, पूययुक्त ग्रन्थि से पूय को निकालने आदि छोटे-छोटे शल्य कर्मो में हल्की वेहोशी उत्पन्न करने के लिए इसे सुंघाकर प्रयु करते हैं।

प्रविधि—इस गैस को सुंघाते ही रोगी के का वजने लगते हैं, आंखों के आगे अंधियारी छाने लगती तथा समस्त चेतना नष्ट होकर यकायक काफी हंसी आ लगती है। यदि अधिक संज्ञाहरण करना अभीष्ट हो त ८० प्रतिशत इस गैस में २० प्रतिशत ऑक्सीजन मिल कर प्रयोग करें। इससे रक्त की सफाई बराबर होते रह कर शरीर में नीलापन नहीं होने पाता है। अधिक उत्त लाभ के लिए सहयोगी के रूप में यदि शिरा में पेथिडीन हाइड्रोक्लोराइड की सुई लगा दें तो प्रभाव बहुत शक्ति शाली और तीव्र हो जाता है। इसका प्रभाव केन्द्री नाड़ी संस्थान पर पड़ने के कारण प्रथम उच्चकेन्द्र अव सादित होते हैं और सबके अन्त में सुषुम्नाशीर्ष[२] प्रभावित होते हैं; अतएव अकेली इसी गैस का प्रयोग ५ वर्ष से का वय के बच्चों में, धमनीदार्ढ्य[३], हृदयकपाट या हृदयपेशी रोग[४] से ग्रसित, चर्बी वाले, रक्ताल्पता युक्त प्रौढ़ व्यक्तियों तथा मस्तिष्क के शल्य-कर्म में कभी नहीं करना चाहिए।

फ्लूओथेन (Fluothane)—

यह प्रायः विना क्षोभ लाये शीघ्र ही संज्ञानाश कर देती है और अतिशीघ्र संज्ञानाश से मुक्ति दिला देती है। यह वर्णहीन, अप्रिय गन्धयुक्त होती है।

प्रविधि—संज्ञाहरण से २०-३० मिनट पूर्व एट्रोपीन ०.५ से १ मि० ग्रा० मात्रा मांस में सूचीवेध लगायें। दर्द शान्ति के लिए प्रोमेडॉल (Promedol) २० से ३० मि० ग्रा० प्रयुक्त करना उत्तम है। छोटे से शल्य-कर्म में खुली विधि से बूंद-बूंद करके प्रारम्भ में ३० से ४० बूंद प्रतिमिनट की दर से और जब शल्य-कर्म के लिए संज्ञानाश की अवस्था (लगभग ३ मिनट में) पहुँच जाय तो मात्रा घटाकर १०-१२ बूंद प्रतिमिनट की दर से प्रयोग करना चाहिए। हर समय नाड़ी और रक्तचाप की परीक्षा करते रहें।

यंत्र द्वारा—इस कार्य के लिए २ से ३ प्रतिशत शक्ति की सान्द्रता वाले फ्लूओथेन के मिश्रण जो विशिष्ट प्रकार के वाष्प उत्पादन यन्त्र द्वारा प्रयुक्त करते हैं।

२. Medulla. ३. Arterio-Sclerosis. ४. Valvular or Myocardial diseases.

दृष्टव्य—यह मांस पेशियों को शिथिल करता है, अतएव इसके साथ मांस पेशियों को शिथिल करने वाली औषधि कभी-कभी ही प्रयोग की जाती है। हृदय की गति रुकने, रक्त दबाव के गिरने की सम्भावना होते ही १ प्रतिशत शक्ति के 'मेस्टॉन' विलयन ०·१ से ०·३ मि. लि. शिरामार्ग से सुई लगाने से पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है।

ट्राइलीन (Trilen)—

रासायनिक नाम 'ट्राईक्लोरो एथीलीन' (Trichloro ethlene) है। यह गम्भीर रूप से बेहोश करने वाली एक नव आविष्कृत हानि रहित औषधि है।

प्रविधि—आवश्यकता के समय एम्पुलों को तोड़कर रूमाल या किसी वस्त्र के टुकड़े पर छिड़ककर रोगी को सुंघा दिया जाता है। यह भयंकर दर्दों से मुक्ति दिलाने के लिए तथा शल्यकर्म में बेहोशी उत्पन्न करने के लिए, बिना कष्ट और दर्द के बच्चा पैदा कराने के निमित्त तथा हर छोटे-बड़े शल्यकर्म को अच्छी तरह करने के लिए सफलता से प्रयुक्त होता है। यह आई० सी० आई० कम्पनी द्वारा निर्मित एक मि. लि. के ६ एम्पुलों के एक बक्स में पैक मिलती है। यह हर प्रकार के दर्द, कष्ट, व्याकुलता, छटपटाहट को तत्क्षण दूर कर देती है। इसको सुंघा पायोरिया लगे दांत को बिना किसी कष्ट के उखाड़ सकते हैं। आधे सिर के भयंकर दर्द को क्षणों में दूर कर सकते हैं।

एथीलीन (Etbylene)—

यह नाइट्रस ऑक्साईड से अधिक प्रभावशाली तथा साइक्लोप्रोपेन से दुर्बल संज्ञाहरण औषधि है। इससे मांस पेशियां पूर्णरूपेण संज्ञाशून्य और शिथिल पड़ जाती हैं।

प्रविधि—शल्यकर्म के पूर्व इसको ९० प्रतिशत तथा ऑक्सीजन को १० प्रतिशत की मात्रा में मिलाकर रोगी को सुंघाया जाता है।

बिना सुंघाये बेहोश करने वाली—

इन्हें अवाष्पीय संज्ञाहर (Non inhalation Anaesthesia) भी कहते हैं। ये दो प्रकार की होती है—

(१) शिरा मार्ग से प्रयुक्त और।

(२) गुदमार्ग से प्रयुक्त।

शिरान्तर्गत—

शिरा मार्ग से अन्तःक्षेपित संज्ञाहर औषधि एक मात्रा या आवश्यकतानुसार पुनः आंशिक मात्रा में बूंद-बूंद करके सूचीवेध लगाया जाता है।

इथाइल अल्कोहल का ५% विलयन ५% ग्लूकोज विलयन में मिलाकर कभी-कभी इसी प्रकार के संज्ञाहरण के रूप में प्रयुक्त होता है। हेक्सेनॉल या पेण्टोथाल का २ से २·५% विलयन अधिकता से प्रयुक्त होता है।

पेण्टोथाल सोडियम (Pentothal Sodium)—निर्माता अब्बोट। यह सर्वश्रेष्ठ बिना सुंघाये संज्ञाहर औषधि है। इसके प्रयोग में शिरा से सूई निकालते ही रोगी को होश आ जाता है तथा किसी प्रकार का कष्ट या उपद्रव नहीं होता। जो शल्यकर्म १० से २५ मिनट के अन्दर पूर्ण हो जाने वाला है उनमें यह बड़ा लाभप्रद है।

प्रविधि—सर्वप्रथम एनिमा या मृदु विरेचन से आमाशय एवं आन्त्र को खाली करें। संज्ञाहरण के पूर्व १ मि० लि० एट्रोपीन ०·६६ मि० ग्रा० की सूई लगायें। सिरिञ्ज में १२ नम्बर की ऐसी संयुक्त करें जो १·५ इंच लम्बी हो। आवश्यकतानुसार २·५ से ५ प्रतिशत का पेटोथाल सोडियम का विलयन ४ से ६ मि० लि० की मात्रा में हाथ के बाहरी ओर की शिरा में अन्तःक्षेपित करें। सूई बहुत धीरे-धीरे लगावें। एक सूई लगाने में कम से कम २० से २५ सेकेण्ड समय लगायें। सूई लगाते समय रोगी से गिनती गिनवायें। जब २० या २५ तक गिनती के बाद रोगी पूर्ण बेहोश हो जाय तो शल्यकर्म करना प्रारम्भ करें। यदि शल्यकर्म करते समय दर्द होने लग जाय तो तत्क्षण ही आधा से १ मि० लि० इसकी पुनः सूई लगायें। इस दवा को प्रयोग कर अपराधों का भी पता लगाया जाता है।

शिरान्तर्गत व गुदान्तर्गतः

हेक्सोबार्बिटोन सोडियम (Hexo-barbitone Sodium)—निर्माता-मे एण्ड बेकर का 'साइक्लोनॉल' नाम से बाजार में मिलता है।

प्रविधि—इसे शिरान्तर्गत बहुत धीरे-धीरे सूचीवेध ४० मि० ग्रा० प्रति किलो शरीर भार के अनुपात से

अधिकतम २ ग्राम तक का ताजा विलयन निर्माणकर लगाया जाता है। शिरा न मिलने की स्थिति में तथा विशेष करके बच्चों में इसे एक ग्राम प्रति २२·६८ किलोग्राम शारीरिक भार के अनुपात से ५० से २०० ग्राम स्वच्छ जल में घोलकर शल्यकर्म से एक घंटा पूर्व गुदामार्ग से एनिमा (हूस) लगा देते हैं। जहां क्लोरोफार्म प्रयोग से पेहले मार्फिन सूई लगाने की आवश्यकता होती है वहां इसके प्रयोग के पहले उसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि मार्फीन प्रयोग का पूर्ण निषेध हैं।

इण्ट्रावल सोडियम (Intraval Sodium)—नि० मे० एण्ड बेकर। यह गम्भीर संज्ञाहरण करने वाली श्रेष्ठ औषधि है, जो विस्फोट या आग लग जाने के भय से पूर्ण मुक्त है। इसे ५ से २० मिनट तक और अधिक समय किये जाने वाले शल्य-कर्म में अधिकतया प्रयुक्त करते हैं।

प्रविधि—रोगी की वय और शारीरिक दशा के अनुसार ०.२५ से १ ग्राम तक दवा को ५ से २·५ प्रतिशत परिस्रुत जलीय विलयन के रूप में निर्माणकर उत्तान या तललग्न शिरा में बहुत शनैः-शनैः सुई लगाते हैं। इसे गुद-मार्ग से भी प्रयुक्त करते हैं।

सुषुम्नान्तर्गत संज्ञाहर—जो गुदमार्ग, मूत्रमार्ग, दोनों पैर आदि को अथवा सम्पूर्ण शरीर के किसी भी अंग को संज्ञाशून्य करने के लिए उस अंग की नाड़ी (Nerve) के उद्‌गम स्थान पर सुषुम्ना को संज्ञाहीन करने के दृष्टिकोण से कटिवेधन (Lumber puncture) करके सुसुम्ना द्रव मे आवश्यकतानुसार ०·३ से २ मि० लि० की मात्रा में अन्त.क्षेपित किया जाता है तथा आजकल जो इस विधि से संज्ञाशून्यता सम्पूर्ण सुषुम्ना तक प्रयुक्त होता है, वह शरीर पर कहीं भी शल्य-कर्म करने में उपयोगी है। इसे जब वक्ष प्रदेश में किया जाता है तो उच्चस्तरीय संज्ञाशून्यता उत्पन्न होती है।

प्रविधि—रोगी को ऑपरेशन टेबुल पर इस प्रकार बिठावें या लिटावें कि रोगी पीठ को टेढ़ा करके अपने घुटने छाती के समक्ष करके इस प्रकार अपने धड़ का अधिकाधिक संकोच करे कि उसका मेरुदण्ड पृथ्वी तल के समानान्तर हो। अब पीठ की त्वचा को अल्कोहल से विसंक्रमित (Sterlised) करके ८ से १० से० मी० लम्बी सुई को सीधा किन्तु थोड़ा ऊपर की ओर तृतीय और चतुर्थ कटि कशेरुकाओं के मध्य में ६ से ८ से० मी० गम्भीरता तक प्रविष्ट करते हैं तो सुषुम्ना द्रव की कई एक बूंद बाहर निकलते हैं। अब सिरिञ्ज को ५ प्रतिशत नोवोकेन विलयन की २ मि० लि० या १ प्रतिशत न्यूपरकेन वि० की ०·५ मि० लि० से भरकर सुई से संयुक्त कर देते हैं। तब १ से २ मि० लि० सुषुम्ना द्रव उसी में खींच संज्ञाहर औषधि में मिल जाते ही धीरे-धीरे सुषुम्ना नलिका में अन्तःक्षेपित कर देते हैं। इस क्रिया के बाद रोगी के सिर को तत्काल ही एक तकिया पर ग्रीवा को झुकाते हुए इस प्रकार रखते हैं कि ठुड्डी (Chin), वक्ष (Chest) को स्पर्श करे जिससे औषधि का प्रभाव सुषुम्ना शीर्ष पर न होने पावे। सोवकेन (Sovcaine), सिनकोकेन
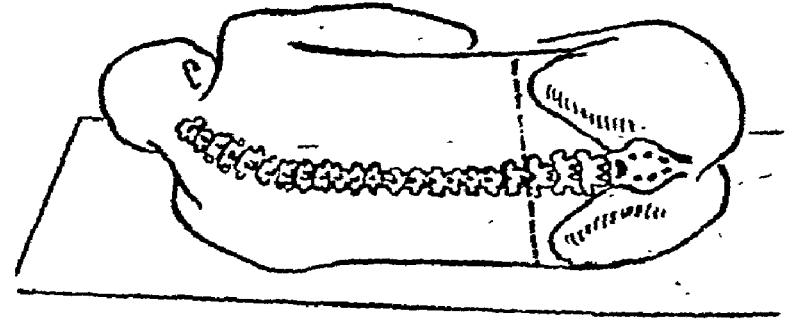
कटिवेधनः बिन्दु मय रेखा

हाइड्रोक्लोराइड (Cinchocaine Hcl) व्यापारिक नाम "न्यूपरकेन" (Nupercaine) निर्माता सिवा, ३ मि० लि० एम्पुल्स में तथा ०·५ प्रतिशत शक्ति के हैवी स्पाइनल सौल्यूशन)१:२००) के रूप में ६ प्रतिशत ग्लूकोज में मिला आता है। स्टोवेन (Stovaine) नि० मे० एण्ड बेकर का ५ प्रतिशत विलयन डेक्स्ट्रोज में मिला हुआ प्राप्त होता है। इसका वि० घ० (Sp. gr.) १·०२५ है, अतः सुषुम्नाद्रव (C. S. F.) से यह भारी है। पैरों (Legs), अण्डकोषों एवं वंक्षण प्रदेशों पर शल्य-कर्म करते समय ०·५ मि० लि०, मध्य उदर में शल्य-कर्म के लिए १ मि० लि०, ऊपरी उदर प्रदेश के शल्य-कर्म को उत्तम रीति से निर्वाह करने के लिए १·५ मि० लि० उपर्युक्त औषधि विलयन का प्रयोग करें। विलयन को सुषुम्नाद्रव में घोलकर प्रयुक्त कर सकते हैं। इस सूचीवेध के पूर्व

सभी यन्त्र-शस्त्रों को विसंक्रमित कर लें। प्राप्य ५% विलयन का २ मि० लि० एम्पुल्स। कोई क्षारीय औषधि प्रयोग न करें। यदि श्यावांगता (Cyanosis), श्वसन-क्रिया में गड़बड़ी आदि उपद्रव उठ खड़े हों तो रोगी को पूर्ण विश्राम दें तथा केफीन, इफेड्रीन या लोवेलीन की त्वचा में सुई (एक या दो) लगायें।

स्थानीय संज्ञाहर—इसके दो प्रकार की विधियां हैं—

१. अन्तराभरण (Infiltration) तथा

२. प्रान्तीय (Regional)

अन्तराभरण प्रविधि—एक कांच की सिरिञ्ज में आवश्यक मात्रा में कोकेन का १० प्रतिशत वाला विलयन या नोवोकेन (Novocaine), न्यूपरकेन (Nupercaine) नि० सिबा, प्लेनोकेन (Plainocaine) नि० एम० बी०, सेवीकेन (Sevicaine) नि० ग्लैक्सो, इम्पलीटॉल (Impletol) नि० बॉयर, एव्लोथेन (Avlothane) नि० आई० सी० आई०, पेण्टोकेन (Pentocaine) नि० होस्ट ड्यूराकेन (Duracaine) नि० मे० एण्ड बेकर, स्टोवेन (Stovaine) निर्माता एम० बी० का दो प्रतिशत विलयन में से किसी एक को लेकर भर लेते हैं। पश्चात् बहुत महीन सूचिका को सिरिंज में संयुक्त करके जिस स्थान पर शल्य-कर्म करना है उसके चारों ओर कई स्थान पर सूचिका प्रविष्ट करके औषधि अन्तःक्षेपित करें। जब यह भर जाय तो गहरे स्थानों को औषधि विलयन से भरें। सूचिका की नोंक को त्वचा के बाहर न निकालें तथा जब नोंक त्वचा के स्तर के समीप पहुँच जाय तो उसका मुंह किसी दूसरी ओर करके सुई पुनः प्रविष्ट करें। यथासम्भव सूचिका के मुंह को मोड़कर प्रत्येक स्थान में औषधि पहुँचायें। शल्य-कर्म स्थान के चारों ओर २-२ सें० मी० की दूरी से सुई चुभोयें। सावधान ! विलयन किसी रक्त वाहिनी नलिका में प्रवेश न करने पाये। कार्य समाप्ति के ३० मिनट बाद शल्य-कर्म करें।

प्रान्तीय संज्ञाहरण प्रविधि—प्रान्त की बड़ी नाड़ी प्रणाली (Nerve trunk) में या किसी नाड़ी के आस-पास या विशेषकर शरीर के कुछ भाग से आने वाली नाड़ी में ही सुई द्वारा संज्ञाहर औषधि नोवोकेन आदि अन्तःक्षेपित करके उसकी कार्य शक्ति को रोक देते हैं, जिससे जहां तक इस नाड़ी की शाखा-प्रशाखाएं फैली रहती हैं, उतने क्षेत्रों में संज्ञाहीनता उत्पन्न हो जाती है। साथ की जिस प्रान्त की संज्ञा को नष्ट करना है, उस प्रान्त के प्रधान संज्ञावाही नाड़ी में संज्ञाहर औषधि को सुई से प्रविष्ट करके उस क्षेत्र की सम्पूर्ण नाड़ी की संज्ञा को नष्ट कर दी जाती है। बड़े-बड़े शल्य-कर्म इससे सम्पादित होते हैं। इसके अतिरिक्त इस विधि से नाड़ी-चक्र (Nerve plexuses) को भी संज्ञाहीन कर शल्य-कर्म किया जाता है।

पृष्ठ ३०६ का शेषांश

(ग) नेत्र सम्बन्धी उपद्रव—फेसमास्क असावधानी पूर्वक लगाने से या नेत्रों में संज्ञाहरक द्रव्य के पड़ जाने से नेत्र श्लेष्मलकला शोथ (Conjunctivitis) अथवा स्वच्छ मण्डलीयव्रण (Corneal Ulcer) आदि तीव्र क्षतियां नेत्रों में उत्पन्न हो सकती हैं।

निवारण—उपद्रव को रोकने के लिए आंख को बन्द रखना चाहिए या ५ प्रतिशत बोरिक एसिड मलहम लगा देना उपयोगी रहता है।

(घ) प्रगण्डजालिका घात (Brachial Plexus Palsy)—असावधानी के कारण उत्पन्न होता है, संज्ञाहरण की अवधि में शोल्डर ज्वाइण्ट के ऊपर ७० डिग्री अवडक्शन से अधिक बाहों को खींचने से यह प्रायः उत्पन्न होता है, इसे रोकने के लिए बाहों और सिर को ठीक प्रकार से रखना चाहिए।

संज्ञाहारक के कर्त्तव्य—

१. संज्ञाहारक की जिम्मेदारियां केवल ऑपरेशन कक्ष में ही नहीं बल्कि ऑपरेशन के पहले मध्य और बाद भी रोगी के देख-रेख का पूर्णतया उत्तरदायित्व संज्ञाहारक पर ही है।

२. आपरेशन के पहले रोगी के प्रत्येक भाग की पूरी तरह परीक्षा की जाय।

३. परीक्षा करते समय मर्म स्थानों (Vital Organs) पर विशेष ध्यान रखा जाय।

४. रोगी का प्रयोगशालीय परीक्षणों जैसे—रक्त एवं मूत्र आदि के परीक्षा परिणाम एवं रोग-लाक्षणिक उपलब्धियां (Clinical finding) का मूल्यांकन करें।

संज्ञाहरण

श्री अरुणकुमार शर्मा, बी.एस-सी., बी.ए. एम. एस. एस., (छात्र) आयुर्वेद सकॉय, लखनऊ विश्व विद्यालय, लखनऊ

*

संज्ञाशून्यता क्या है—संज्ञाशून्यता का अर्थ जानने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि विभिन्न औषधि द्रव्यों के कारण जब किसी भी अंग या किसी प्रभाग से किसी प्रकार का संवेदन मस्तिष्क में नहीं पहुँचती है जिससे उस अङ्ग में पीड़ा आदि का कोई अनुभव मस्तिष्क को नहीं होता है, या ऐसी स्थिति जिसमें किसी अंग में होने वाली पीड़ा का ज्ञान न हो उसे संज्ञाशून्यता की संज्ञा दी जाती है।

संज्ञाहरण में प्रयुक्त होने वाली व्याधियां—मुख्यतया संज्ञाशून्य करने की आजकल तीन विधियां प्रचलित हैं, जिनका शल्यकर्म में आवश्यकतानुसार, विविध प्रकार से उपयोग किया जाता है। इनका अलग-अलग वर्णन समीचीन होगा।

१. संज्ञाशून्य औषधि का सीधे वांछित स्थल पर प्रयोग करने से उत्पन्न संज्ञाशून्यता को स्थानिक संज्ञाशून्यता की संज्ञा देते हैं।

२. संज्ञाशून्यता उत्पन्न करने हेतु मेरु नलिका (स्पाइनल कैनाल) में वांछित औषधियां प्रयुक्त करके नाड़ी केन्द्रों (नर्वसेण्टर्स) एवं नाड़ी मार्गों (नर्वरूट्स) को प्रभावित कर संज्ञाशून्यता उत्पन्न की जाती है।

३. किसी उड़नशील पदार्थ (वोलेटाइल सब्सटेन्सस) को नासामार्ग या मुखमार्ग द्वारा देने से (इनहेलेशन) द्वारा जनरल एनास्थीसिया उत्पन्न की जाती है।

स्थानिक संज्ञाशून्यता या लोकल एनस्थीसिया

इस विधि के अन्तर्गत दिये जाने वाले संज्ञाहरण का उपयोग मुख्यतया छोटे-छोटे ऑपरेशनों में किया जाता है जिसमें उसी अंग विशेष के ऊतकों को पीड़ा हेतु संज्ञाशून्य बनाया जाता है, इस प्रकार के माइनर ऑपरेशनों में समय भी कम लगता है। अतः इस प्रकार की संज्ञाशून्यता थोड़ी ही देर के लिए की जाती है।

परन्तु कभी-कभी ऐसे रोगियों में जो जनरल एनस्थीसिया बर्दाश्त नहीं कर सकते, इस प्रकार की संज्ञाशून्यता की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार की संज्ञाशून्यता उत्पन्न करने में, सहायक औषधियां निम्नवत है—

१. कोकेन (Cocaine)—यह माइनर ऑपरेशन के लिए प्रयुक्त होने वाली औषधि है। यह एक एलकेलाइड (Alkaloid) है जो Erythroxylon Coca (दक्षिणी अमेरिका) नामक पौधे से प्राप्त होता है। यह प्रायः हाइड्रोक्लोरेट के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसका रूप क्रिस्टेलाइन पाउडर के सदृश होता है जो पानी में विलेय है। इसके अन्वेषक वियना के सरकोलर नामक वैज्ञानिक हैं।

इस औषधि के ५-१०% घोल को म्यूकस मेम्बेन पर लगाने से (५ से १० मिनट में) संज्ञाशून्यता उत्पन्न हो जाती है। त्वचा तथा गहरे ऊतकों को संज्ञाशून्य करने के लिए इसके हाइपोडरमिक इन्जेक्शन दिये जाते हैं। इससे ऐसा समझा जाता है कि संज्ञावाही नाड़ियां पैरालाइज हो जाती हैं। कोकेन को प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इसका हृदय पर तीव्र डिप्रेसिंग प्रभाव होता है जिसके कारण इसे कभी भी $\frac{1}{2}$ ग्रेन से अधिक मात्रा में नहीं देना चाहिए, अन्यथा इसके घातक प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। इसके द्वारा उत्पन्न होने वाले विषाक्त लक्षणों से मुंह का पीलापन, ठण्डा स्वेद (पसीना) तथा मन्द नाड़ी आदि है।

२. यूकेन हाइड्रोक्लोराइड (Eucaine Hydrocloride)—बहुधा कोकेन के स्थान पर यूकेन हाइड्रोक्लोराइड का वर्तमान समय में प्रयोग किया जाता है। इससे उत्पन्न होने वाले विषाक्त लक्षण, कोकेन के विषाक्त लक्षणों से कम हैं। अतः इसका प्रयोग उपयोगी सिद्ध हुआ है। ५-१० ग्रेन की मात्रा में हाइपोडरमिक इंजेक्शन अथवा म्यूकस मेम्बेन पर इसको स्थानिक रूप से लगाया जाता है। परन्तु इसका असर कोकेन की अपेक्षाकृत कुछ

मन्द गति से होता है। यह नेत्र सम्बन्धी शल्य-कर्मो हेतु अधिक प्रयुक्त नहीं हैं।

३. शेल्चिस विधि (Schlech's Method)—इस विधि के अन्तर्गत निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग किया जाता है, इस विधि के अन्वेषणकर्त्ता वारकर नामक वैज्ञानिक हैं।

आस्नुत जल	१०० सी० सी०=३½ औंस
बीटा यूकेन (B-Eucane)	०.२ ग्राम= ३ ग्रेन
सोडियम क्लोराइड	०.८ ग्राम=१२ ग्रेन
ऐड्रिनलीन क्लोराइड घोल	............=१०मिनिम

इस घोल का सामान्यतया कोई विषाक्त लक्षण नहीं है, इससे ऊतकों का इनफिल्टरेशन किया जाता है। इसे लगाने के बाद ३० से ४० मिनट तक कार्यकारी समय दिया जाता है। प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के समय ऐसा देखने में आया है कि संज्ञाशून्यता के साथ-साथ रक्तहीनता भी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की संज्ञाशून्यता से अनेक शल्य-कर्मों में उत्पन्न की जाने वाली जनरल एनस्थीसिया की आवश्यकता नहीं पड़ती यथा इण्टेसिटनल आब्स-ट्रक्शन (आन्त्रावरोध), स्ट्रैंगुलेटेड हार्निया ट्रेकियोक्टोमी आदि थायरोडोक्टोमी।

४. शीत द्वारा (Freezing)—इसके अन्तर्गत संज्ञाशून्यता फ्रीजिंग (ठण्डे करने से) द्वारा उत्पन्न की जाती है। जिस भाग, प्रभाग को संज्ञाशून्य करना होता है, उस भाग पर बर्फ तथा नमक को रखने से या ईथर स्प्रे द्वारा या ईथाइल क्लोराइड द्वारा संज्ञाशून्यता उत्पन्न करते हैं।

स्पाइनल एनालजेसिया (Spinal Analgesia)

यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें किसी स्पाइनल मेम्ब्रेन में किसी औषधि द्रव्य को पहुँचाने से संज्ञाशून्यता उत्पन्न होती है। प्रायः इस विधि में नाड़ी केन्द्र (नर्व सैण्टर्स) या नाड़ी मार्ग (नर्व रूट्स) प्रभावित होते हैं, जिनके द्वारा उस अंग प्रभाग को नर्व सप्लाई होती है। पहले कोकेन इस विधि में प्रयोग में लाई जाती थी परन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण अब इसके स्थान पर स्टोवेन (Stovine) नामक औषधि द्रव्य का प्रयोग किया जाता है। इसे प्रायः सेरिब्रोस्पाइनल कैविटी में सूचीवेध किया जाता है।

स्टरलाइज्ड की गई सूची को, तीसरे नम्बर इण्टर-स्पेस अर्थात् तीसरे या चौथे नम्बर वरटिब्रा में वेधित करते हैं। पीड़ा निवारण प्रभाव प्रायः ५ से १२ मिनट में उत्पन्न हो जाता है। धीरे-धीरे अधोशाखा (Lower Extrimity) पर सम्पूर्ण प्रभाव हो जाता है। इसमें मोटर पैरालिसिस (Motor Paralysis) तथा रिफ्लेक्सस (Reflexes) की हीनता उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार प्रयुक्त की जाने वाली संज्ञा शून्यता प्रायः ऐसे रोगियों में प्रयुक्त की जाती है जब जनरल एनस्थीसिया महत्वहीन होती है, जबकि रोगी का हृदय, गुर्दे, तथा फुफ्फुस आदि इस अवस्था में नहीं होते जब उन्हें जनरल एनस्थीसिया में रखा जा सके। मधुमेह के रोगी में प्रायः इसी प्रकार की संज्ञा शून्यता की आवश्यकता पड़ती है, जब शल्यक को कम समय में ही शल्यकर्म करना पड़ता है।

जोनेस्को नामक वैज्ञानिक ने स्टोवेन के साथ स्ट्रिक्नीन देने की सिफारिश की है। प्रायः स्ट्रिक्नीन की आवश्य-कता श्वसन केन्द्र के पैरालाइज होने की सम्भावना को कम करने के लिए पड़ती है।

जनरल एनस्थीसिया

१. नाइट्रस आक्साइड (N_2O)-**(गैस)**—इसका प्रयोग प्रायः डेन्टलसर्जरी में छोटे-मोटे शल्यकर्मों के लिए किया जाता है। यह कर्माभ्यास की दृष्टि से सुरक्षित है परन्तु आजकल प्रायः बड़े आपरेशनों में इसे प्रायः ईथर के साथ प्रयोग किया जाता है। शल्यकर्म के रोगी को प्रथमतः नाइट्रस आक्साइड गैस से संज्ञाशून्य किया जाता है, उसके पश्चात उसे ईथर द्वारा बनाए (Maintain) रखा जाता है। गैस को द्रव रूप में; विशेष स्टील के बने सिलण्डरों में रखा जाता है जो एक ट्यूब के द्वारा एक बैग से होती हुई, फेस-पीस (Face Piece) द्वारा पहुँचाई जाती है। इस पूरी मेकेनिज्म को विभिन्न वाल्वस एवं स्टपकाक्स आदि लगे होते हैं जिन्हें आवश्यकतानुसार (Adjust) व्यवस्थित-किया जाता है। निःश्वसित हवा (Expired Air) के लिए भी एक वाह्य द्वार होता है।

२. क्लोरोफार्म ($CHCL_3$)—ईथर के आविष्कार से पूर्व संज्ञाहरण हेतु क्लोरोफार्म द्वारा संज्ञाहरण अधिक

प्रचलित था। चूंकि इसके द्वारा गम्भीर दुष्परिणामों की सम्भावनाएं अधिक ही बनी रहती है अतः इसे अत्यन्त सावधानी से दिए जाने की प्रक्रिया प्रयोग में लाई जाती है। कुछ शोधकर्मियों के अनुसार इसका सीधा विषाक्त प्रभाव हृदय पर पड़ता है इसके साथ-साथ श्वसन क्रिया में अवरोध होने का भय भी बना रहता है।

वैज्ञानिक सायम एवं लिस्टर के अनुसार क्लोरोफार्म द्वारा संज्ञाहरण करते समय, श्वासक्रिया की निगरानी बहुत सावधानीपूर्वक करनी पड़ती है। अनेकों प्रयोगों में देखा गया है कि क्लोरोफार्म देने से कभी-कभी तो श्वसन क्रिया ही बन्द हो जाती है। हृदय भी अपना कार्य बन्द कर सकता है अतः सतत निगरानी की आवश्यकता प्रतिक्षण बनी रहती है, संज्ञाहरण विशेषज्ञ की सूझ-बूझ से प्रायः बुरे परिणाम सामने नहीं आते।

बच्चों में क्लोरोफार्म विषाक्तता के लक्षण, क्लोरोफार्म दिए जाने के १२ घंटे पश्चात् देखने में मिलते हैं। प्रथमतः तो वमन क्रिया होती है जो उपयुक्त चिकित्सा के उपरान्त भी ठीक नहीं होती। धीरे-धीरे रोगी मूर्च्छित सा होता हुआ परिलक्षित होता है, फिर धीरे-धीरे कोमा (Coma) के कारण मृत्यु हो जाती है इसी प्रकार के लक्षण बड़ों में भी मिल सकते हैं।

क्लोरोफार्म को संज्ञाहरण हेतु देने की निम्न विधियां हैं।

(अ) ओपेन मेथड (Open Method)—लार्ड लिस्टर, के द्वारा अन्वेषित इस विधि में एक मास्क (Mask) से नाक से मुंह तक ढंक देते हैं फिर इस मास्क को क्लोरोफार्म से भिगो देते हैं, १-२ मिनट में श्वासक्रिया बढ़ जाती है, इसके दौरान रोगी चिल्ला सकता है या हाथ पैर चलाकर प्रतिरोध उत्पन्न कर सकता है। पूर्णरूप से संज्ञाहरण के चिन्हों में, मांसपेशियों की शिथिलता, तथा कारनियल रिफ्लेक्स का समाप्त हो जाना तथा प्यूपिल का आकुंचन प्रमुख है। इस स्थिति के आने में लगभग ५ मिनट लगते हैं।

(ब) फन्करस इन्हेलर (Funker's Inhaler)—इस प्रकार क्लोरोफार्म प्रायः नाक एवं मुख के शल्यकर्म हेतु दिया जाता है इस विधि में वायु को क्लोरोफार्म के एक परत (Layer) के साथ, रोगी की नासिका में पम्प किया जाता है। इस प्रकार एक निर्धारित मात्रा में क्लोरोफार्म देकर संज्ञाहरण की स्थिति को प्राप्त किया जाता है। यह विधि सन्तोषजनक है।

३. ईथर—आजकल सबसे अधिक रोगियों को संज्ञाहरण हेतु ईथर प्रयुक्त करते हैं, इसका प्रयोग क्लोरोफार्म की अपेक्षा अधिक सुरक्षित है, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि यह हृद्य उत्तेजक (Cardiac stimulant) है, इसको दो निम्न विधियों द्वारा रोगी को देने का विधान है—

(अ) क्लोवर्स एपरेटस—इस एपरेटस द्वारा ईथर के एक परत (Layer) से वायु को (Pass) पास करते हुए, श्वसनक्रिया को व्यवस्थित करते हैं। परन्तु इस विधि से प्रायः रोगी उसी वायु को बार-बार ग्रहण करता है जो वह उच्छ्वसित करता है, अतः बीच-बीच में स्वच्छ वायु को भी श्वास हेतु देना चाहिए। तथा ईथर देते समय सभी सावधानियां अपेक्षित हैं।

(ब) आर्मसबी मास्क (Ormsby Mask)—एक स्पंज के ऊपर ईथर को छिड़क देते हैं जिसे मुख पर रख देते हैं, प्रायः इस विधि का प्रयोग नाइट्रस आक्साइड द्वारा दिये गये संज्ञाहरण को बनाए रखने के लिए किया जाता है। इस विधि का मुख्य लाभ यह है कि संज्ञाशून्यता बहुत ही जल्दी होती है लगभग २ मिनट ही संज्ञाशून्य करने में लगते हैं।

४. ए० सी० ई० मिक्सचर (A.C.E. Mixure)—क्लोरोफार्म के डिप्रेसिंग प्रभाव को दूर करने के लिए सम्मिलित रूप से एक औषधि प्रयोग में लाई जाती है जिसे ए० सी० ई० मिक्सचर नाम से जाना जाता है। इसमें अल्कोहल, क्लोरोफार्म, ईथर को १-२-३ के अनुपात में मास्क द्वारा या ओपेन मेथड (Open Method) द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार की संज्ञा शून्यता उत्पन्न करने का प्राविधान प्रायः बच्चों या कमजोर व्यक्तियों के लिए है।

५. ईथाइल क्लोराइड—नवीन प्रचलित विधियों में जनरल एनस्थीसिया देने के लिए, ईथाइल क्लोराइड, का प्रयोग भी महत्वपूर्ण है। इसका महत्व निम्न स्थितियों के कारण अधिक है।

(अ) मुख एवं नासा से सम्बन्धित छोटे आपरेशन, उदाहरणार्थ, दांत निकालने के लिए इसकी एक मात्रा पर्याप्त होती है।

(ब) छोटे (माइनर) शल्यकर्मों में यथा सन्धि भंग आदि में।

(स) बड़े (मेजर) ऑपरेशनस में इस प्रकार उत्पन्न संज्ञाशून्यता को ईथर द्वारा मेन्टेंड रखा जाता है।

शल्यकर्म से पूर्व, एवं संज्ञाशून्य करने से पूर्व रोगी की तैयारी

शल्यकर्म से पूर्व, कुछ दिन तक रोगी के स्वभाव एवं आदतों के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन किया जाना आवश्यक है। ऑपरेशन की पूर्वरात्रि को हल्का रेचक ((Mild Purgative) देना चाहिए। शल्यकर्म वाले दिन प्रातः-काल हल्का सुपाच्य भोजन देना चाहिए, परन्तु तीन घंटे पूर्व कुछ भी नहीं देना चाहिए, अर्थात आमाशय का खाली होना आवश्यक है। आवश्यकता होने पर वमन आदि द्वारा आमाशय को खाली करने के लिए प्रक्रिया की जा सकती है। संज्ञाहरण विशेषज्ञ को यह देख लेना आवश्यक है कि रोगी के मुख में कोई कृत्रिम दंत तो शेष नहीं हैं।

संज्ञाशून्य करते समय अपेक्षित सावधानियां—जब रोगी को संज्ञाशून्य करने की प्रक्रिया की जाती है तब विशेषज्ञ को मुख्य रूप से तीन बातों का विशेष ख्याल रखना चाहिए।

१. नाड़ी गति २. प्यूपिल की स्थिति ३. श्वासक्रिया

इन उपरोक्त तीन बातों को हर समय नियमित ढंग से देखते रहना चाहिए, इसके साथ यदि किसी समय, (ओठों पर, नाखूनों पर, नीला पन) आदि आजाए तो इसके लिए निरोधी चिकित्सा अविलम्ब अपेक्षित है।

शल्यकर्म पश्चातवर्ती चिकित्सा एवं सावधानियां—शल्य कर्म के पश्चात रोगी के प्रति काफी सावधानियां बरतते हैं। सामान्य रूप से शल्य-कर्म के पश्चात् रोगी को पीठ के सहारे लिटादेते हैं। तथा गरम कंबल से ढंक देते हैं। रोगी के कमरे में शांति एवं नीरवता होनी चाहिए। यदि संभव हो तो रोगीकक्ष में अंधेरा होना आवश्यक है। इन सब चीजों से निद्रा आने में रोगी को वातावरण मिलता है। शल्य-कर्म के ३—४ घण्टे पश्चात् तक किसी प्रकार का भोजन नहीं देते है। धीरे-धीरे साव-धानी पूर्वक हल्की चाय, सोडावाटर आदि देते हैं यदि वमन आदि की कोई शिकायत होती है तो मार्फिया का हाइपोडरमिक सूचीवेध देते हैं।

संज्ञाहरण से उत्पन्न होने वाले संभावित दुष्परिणाम

(१) श्वसनक्रिया में गतिरोध—प्रायः देखा जाता है कि संज्ञाहरण के पश्चात्, या देते समय, श्वास क्रिया में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है जिह्वामूल के स्थान पर लैरिंक्स में वायु का जाना वन्द हो जाता है, जिसके फलस्वरूप ऐसफोक्सिया (श्वासावरोध) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार की स्थिति होने पर तुरन्त कृत्रिम श्वास की आवश्यकता होती है, तथा रोगी को लगातार कृत्रिम श्वासक्रिया द्वारा, सामान्य अवस्था में आने तक रखना चाहिए। कभी-कभी वमनीय पदार्थ यथा म्यूकस आदि के श्वास नली में आने के कारण भी श्वासा-वरोध की स्थिति आ जाती है।

(२) श्वसन केन्द्र का पैरालाइज हो जाना—प्रायः ऐसी स्थिति क्लोरोफार्म की अधिक मात्रा देने से उत्पन्न होती है परिणामतः श्वास प्रक्रिया बिल्कुल ही वन्द हो जाती है। परन्तु श्वासक्रिया बन्द हो जाने के पश्चात् भी कुछ सेकिंडों तक नाड़ी की गति मिल सकती है। इससे निपटने के लिए, सर्व प्रथम् संज्ञाहरण की सारी कियाओं को, जो चल रही होती हैं वन्द कर देना चाहिए।

(३) हृदयगति में अवरोध उत्पन्न होना—संज्ञाहरण का सबसे घातक परिणाम हृदय गति का बन्द हो जाना है जिससे प्रायः मृत्यु हो जाती है, यह निम्न स्थितियों में किसी समय बन्द हो सकती है।

१. संज्ञाहरण औषधि देते समय

२. पूर्ण संज्ञाहरण की स्थिति आने से पूर्व स्तब्धता

३. क्लोरोफार्म या ईथर की अधिक विषाक्त मात्रा।

ऐसी अवस्था आने पर चिकित्सक को उपरोक्त वर्णित विधि द्वारा ही, रोगी के जीवन को बचाने के उपाय करने चाहिए।

शल्य तन्त्रीय रोगों के ज्ञान की नवीन प्राचीन परिपाटी

संकलनकर्ता—आचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी, सम्पादक—सुधानिधि

आधुनिक युग में एक सर्जन किस प्रकार किसी शल्य या सर्जीकल रोग का निदान करता है इस पर काफी साहित्य उपलब्ध है। हम यहां संक्षेप में उसे प्रस्तुत करेंगे ताकि वैद्य समाज आधुनिकों द्वारा प्रयुक्त प्रत्यक्ष-अनुमान आप्त और युक्ति इन प्रमाण चतुष्टय के आधार पर निर्णीत ज्ञान का आभास प्राप्त कर सके।

१. शल्यरोगी की रोग-परीक्षा—

यह रोग परीक्षा i. रोगी के इतिवृत्त, ii. प्रत्यक्ष परीक्षण, iii. अनन्तिम निदान, iv. विशिष्ट अन्वेषण तथा v. निदान इन पांच शीर्षकों में की जाती है। "रोगी का इतिवृत्त"—रोगी के इतिवृत्त का अर्थ है उससे यह पूछना होता है कि उसके रोग का इतिहास क्या है। इसके लिए उसका 'नाम', 'धर्म' और 'जाति' पहले पूछी जाती है। मुसलमानों में सुन्नत कराने से मेढ्चर्म सम्बन्धी रोग नहीं मिलते। यहूदियों में मधुमेह तथा हीमोफिलिया बहुत मिलती है इस कारण धर्म और जाति दोनों का ही महत्त्व है। 'लिंग' का ज्ञान भी आवश्यक है। क्योंकि हीमोफिलिया नामक रक्तपित्त पुरुषों में उत्पन्न होता है पर यह रोग महिलाओं से ही पुरुषों में संचरित होता है। कुछ रोग पुरुषों में महिलाओं की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं जबकि कुछ रोग महिलाओं में पुरुषों की अपेक्षा अधिक देखे जाते हैं। रोगी की "आयु" का ज्ञान भी परमावश्यक है क्योंकि कई रोग केवल शिशुओं में या बालकों में ही मिलते हैं। जबकि कुछ रोग बड़ों में ही पाये जाते हैं। 'उद्यम' या 'उद्योग' भी जानना आवश्यक है। कौन आदमी क्या काम करता है इसे जानकर भी रोग का ज्ञान करना आसान हो जाता है। पैराफीन शोधक कारखानों के व्यक्तियों में कैंसर का होना, फुटबाल के खिलाड़ियों की जानुसन्धि में विकार आदि इसके उदाहरण हैं। 'निवास' का भी महत्त्व है। गोरखपुर की पडरौना तहसील में श्लीपद, छिंदवाड़ा में कुष्ठ, पंजाब में अश्मरी तथा बंगाल में पित्ताश्मरी का ज्ञान आसानी से हो जाता है।

व्याधिकाल—भी महत्त्वपूर्ण होता है। रोगी से यह पूछना कि उसे यह रोग कब से लगा रोग के निदान में बहुत आसानी पैदा कर देता है। स्वरयन्त्र में अर्बुद होने पर रोगी बतलायेगा कि १ वर्ष पूर्व उसकी ग्रीवा में एक शोथ पैदा हुआ, ६ माह पूर्व आवाज बैठ गई ३ माह पूर्व से खाना निगलने में कष्ट है आदि।

वर्तमान व्याधि का इतिहास—क्या है यह रोगी के अपने ही शब्दों में चिकित्सक को अंकित करना चाहिए उसे ऐसे प्रश्न न किये जावें जिनका उत्तर स्पष्ट हो इन्हें लीडिंग क्वेश्चन्स कहा जाता है। क्योंकि जैसे ही आपने कहा कि कमर में दर्द होता है रोगी उत्तर देगा हां होता है। वैद्य को पूछना चाहिए कि कहीं दर्द तो नहीं होता। इसका उत्तर रोगी सोच समझ कर देगा। अन्यथा तो आपके प्रश्नों पर वह हां करता जायगा।

रोगारम्भ—या रोग कैसे आरम्भ हुआ इसे भी खासतौर से वैद्य को जान लेना चाहिए। कभी-कभी रोग एकदम शुरू होता है कभी धीरे-धीरे इसके साथ ही रोग की वृद्धि कैसे-कैसे हुई यह जान लेना चाहिए।

पूर्व इतिवृत्त—का ज्ञान कि इस व्याधि से पहले उसे कब-कब क्या-क्या कष्ट हुए जान लेने से रोगी की वर्तमान व्याधि के सम्बन्ध में उसके मस्तिष्क में एक स्पष्ट चित्र उभर कर आता है। उदाहरण के लिए यदि किसी को मूत्र करते समय जलन हो या मूत्र के साथ पूय गया हो तो उसे सुजाक या गनोरिया (उष्णवात) का इतिहास माना जाकर फिर यदि उसकी कलाई के जोड़ में तेज दर्द होकर सन्धिवात उत्पन्न हुआ हो तो उसे गनोरियल आर्थ्राइटिस माना जा सकता है।

व्यक्तिगत इतिवृत्त—का भी ज्ञान किया जाना उचित है। रोगी का क्या व्यसन है धूम्रपान करता है या शराब पीता है या भोजन करने में गड़बड़ी होती है, वह विवाहित है या अकेला है। अगर वह महिला है तो उसे मासिकधर्म कब-कब कितना होता है या उसे प्रदर तो नहीं है आदि पूछना पड़ता है।

पारिवारिक इतिवृत्त—का ज्ञान भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। कुछ विकार पूरे परिवार के अधिकांश सदस्यों में पाये जाते हैं जैसे हीमोफिलिया, राजयक्ष्मा, आमाशयिक व्रण आदि।

शारीरिक परीक्षण या फिजिकल एग्जामिनेशन—इसमें रोगी के शरीर की वनावट उसका कृश या स्थूल होना, पाण्डुरोग या कामला की उपस्थिति चेहरे पर रोग की झलक या मुखाकृति देखकर भी रोग का ज्ञान किया जाता है। टिटनस में सार्डोनिकल मुखाकृति। उदरशूल तीव्र होने पर दारुण मुखाकृति (फेसीज हिप्पोक्रेटिका) मिलती है। इस परीक्षण के साथ नाड़ी की गति और श्वास की गति प्रति मिनट भी मालूम कर लेनी चाहिए। तापक्रम का ज्ञान भी थर्मामीटर द्वारा कर लेना चाहिए। शारीरिक परीक्षण में उपर्युक्त सामान्य परीक्षण करने के बाद स्थानिक परीक्षण तथा व्यापक परीक्षण करना पड़ता है।

स्थानिक परीक्षण—उस अंग या स्थान या संस्थान का किया जाता है जहां कि रोग हो। इसके लिए दर्शन, स्पर्शन, परिताड़न और श्रवण ये चार परीक्षाएं की जाती हैं। पांचवीं परीक्षा गतियों की तथा छठी नाप तोल से सम्बन्धित की जाती है। "दर्शन परीक्षा" जिसे सर्वप्रथम करना चाहिए उसे अक्सर चिकित्सक भूल जाता है। एक बड़े विद्वान् का मत है कि रोग का ज्ञान करने में आंखों का उपयोग पहले करो और खूब करो—हाथों का प्रयोग बाद में करो और थोड़ा करो जीभ का बिल्कुल मत करो। दर्शन परीक्षा भी सरल नहीं होती जिसने पहले विकृत भाव के दर्शन नहीं किये वह विकार को देख नहीं सकता। कहा जाता है कि जिसे मस्तिष्क जानता हो नहीं है उसे आंख विचारी क्या देख पायेंगी? जिस प्रकार आंखों का उपयोग रोग ज्ञान के लिए परमआवश्यक है वैसे ही अंगुलियों द्वारा स्पर्श करने की ट्रेनिङ्ग भी ठीक-ठीक ली जानी चाहिए। घ्राणेन्द्रिय द्वारा सूंघकर और कानों द्वारा सुनकर भी परीक्षा करना आवश्यक होता है। और जब ये परीक्षण चल रहे हों तभी रोगग्रस्त क्षेत्र की लसग्रन्थियों का भी ज्ञान करते रहना चाहिए क्योंकि बिना इस ज्ञान के रोग का पूरा-पूरा निदान संभव नहीं हुआ करता। एक बार स्थानिक परीक्षण कर लेने के बाद शरीर के विभिन्न अंगों और संस्थानों का "व्यापक परीक्षण" भी कर लेना चाहिए। पेट में दर्द है पर उसका कारण फेंफड़ों में प्लूरिसी भी हो सकती है। पेशाब बन्द हो गया है तो उसका कारण टेबीज डॉर्सेलिस भी संभव है जिसके लिए जानुजर्क गुल्फजर्क या आर्गाइल रौबर्टसन तारा नामक नेत्रतारा की प्रत्यावर्तन की गड़बड़ी भी हो सकती है। अगर किसी को कैंसर हो गया है तो उस कैंसर का प्रभाव अन्य अंगों में विक्षेप (मैटास्टैसिस) कहां-कहां हुआ है उसे भी जानना चाहिए। स्तन कर्कट की असाध्यता उसके विक्षेपों द्वारा ही ज्ञात होती है। इस परीक्षण की आवश्यकता संज्ञाहरण द्रव्य की छांट के लिए भी करनी पड़ती है क्योंकि फैफडों के रोगियों को ईथर द्वारा तथा हृदय के रोगियों को क्लोरोफार्म द्वारा संज्ञाहरण नहीं कराया जा सकता। निदान का अर्थ केवल किसी रोग का ही निदान करना नहीं होता। पूरे रोगी का ही ज्ञान अपेक्षित होता है।

अनन्तिम (प्राविजनल) निदान—पहले किया जाता है। इसके लिए ऐक्सरे चित्र या लैबोरेटरी टैस्ट के लिए प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। इन परीक्षणों से तो चिकित्सक द्वारा अनुमानित निदान की पुष्टि करनी

होती है। अनुमानित या अनन्तिम निदान की पुष्टि हेतु "स्पेशल इंवेस्टीगेशन" किये जाते हैं इनमें रक्त, मल, मूत्र, थूक की परीक्षाएं या सम्वर्धन आते हैं। इतना सब कर चुकने पर रोग का ठीक-ठीक "निदान" हो जाता है।

आयुर्वेद में रोग का निदान करने के लिए जितना साहित्य मिलता है वह विपुल है। उसके द्वारा भी रोग का सटीक ज्ञान किया जा सकता है। वे रोग का ज्ञान पञ्च निदानात्मक विधि से किया करते हैं। पञ्चनिदानों में—i. रोग के उत्पादक कारण (निदान) ii. पूर्वरूप iii. रूप iv. उपशय और v. सम्प्राप्ति आते हैं। सुश्रुत ने व्याधिसमुद्देशीय अध्याय में निदान की परिपाटी का आकलन एक विशेष परिवेष में किया है। उनसे पहले शस्त्रसाध्य तथा क्रियासाध्य ये २ भेद व्याधियों के दिये हैं। दुःख संयोग को व्याधि माना है। यह दुःख संयोग भी आध्यात्मिक,आधिभौतिक और आधिदैविक करके ३ प्रकार का माना है। इनसे ७ प्रकार के रोग वर्ग पैदा होते हैं। आध्यात्मिक व्याधियों के ३ रोग वर्ग हैं।

१. आदि बलप्रवृत्त रोग वर्ग—ये माता या पिता या दोनों के शुक्रशोणित के दोषों के कारण उत्पन्न व्याधियां हैं, जिनमें कुष्ठ, श्वास, अर्श आदि आते हैं। इसे जानने के लिए रोगी के माता-पिता के रोगों का भी ज्ञान वैद्य को करना पड़ेगा।

२. जन्म बलप्रवृत्त रोग वर्ग—कुछ रोग माता के अपचार से पैदा होते हैं-पंगुता, जन्मान्धता,बाधिर्य,मूकता, मिन्मिनता आदि रोग इस प्रकार पैदा होते हैं। इसलिए माता का भी विशेष अध्ययन करना होता है। माता के द्वारा पुत्र को प्राप्त होने वाले रोग इस (आहार) जन्य तथा दौहृदापचारजन्य दो प्रकार के होते हैं।

३. दोष बलप्रवृत्त रोग वर्ग—ये उपद्रवरूप या मिथ्याहारविहारजन्य होती हैं। ये दोषों के प्रकोप के कारण बनती हैं, इनमें कुछ शरीर और कुछ मानस होती है। इनके परिज्ञान के लिए दोषों के संचय प्रकोप प्रसार का पूरा ज्ञान करना पड़ता है।

आधिभौतिक व्याधियों का एक ही रोगवर्ग सुश्रुत ने स्वीकार किया है। इसे **४. संघात बलप्रवृत्त रोग वर्ग** कहा गया है। यह आगन्तुज रोगों का वर्ग है। ये भूत-विषवायु अग्निसंप्रहारादि से उत्पन्न होते हैं, उन्हें आगन्तुज रोग कहते हैं। इनके परिज्ञान के लिए रोगकारक जीवाणुओं, विष, वायु, अग्नि संप्रहार (ट्रौमा) का इतिहास जानना पड़ता है। संघातबल प्रवृत्त रोग वर्ग के २ अन्य वर्ग भी हैं। शस्त्रकृत रोग जिनमें सभी प्रकार के आघात और व्रण आते हैं तथा दूसरा कालकृत जो हिंस्र पशुओं, सर्पों आदि के काटने से बनते हैं। यह वर्ग सर्जीकल रोगों का वर्ग है। आधिभौतिक रोगों को मैकेनिकल कारणजन्य डाक्टर घाणेकर जी ने माना है। आधिदैविक व्याधियों के भी ३ रोग वर्ग हैं :

५. कालबलप्रवृत्त रोग वर्ग—ये वर्षा, शीत, उष्णताजन्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। जिनमें कुछ प्राकृतिक ऋतुओं के द्वारा और कुछ विकृत ऋतुओं के कारण बनते हैं।

६. दैवबलप्रवृत्त रोग वर्ग—देवताओं के, गुरुओं के, विप्रों के कोप के परिणाम स्वरूप अथर्वण (मारण) मन्त्रों के प्रयोग से उत्पन्न होते हैं तथा उपसर्गजन्य भी होते हैं। इनमें बिजली और वज्र कृत एक और पिशाचादिकृत दूसरा वर्ग है। दूसरे कर्म के भी संसर्गज और आकस्मिक २ वर्ग हैं।

७. स्वभावबलप्रवृत्त रोग वर्ग—में भूख, प्यास, बुढ़ापा, मृत्यु, निद्रा आदि स्वाभाविक रोगों का समावेश होता है। इनमें कुछ कालकृत और कुछ अकालकृत होते हैं।

सुश्रुत का कथन है—सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्त-श्लेष्माण एवं मूलं तल्लिंगत्वाद्दृष्टफलत्वादागमाच्च।—कि समस्त रोगों का मूल वात, पित्त, कफ ही है। क्योंकि लक्षणों से फल के प्रत्यक्ष होने से और शास्त्र में लिखा होने से यह उसका कथन सत्य है। कोई भी रोग इन तीनों दोषों में से किसी या सभी के बिना नहीं देखा जाता। दोष ही दूष्यों में पहुँचकर विविध रोग उत्पन्न करते हैं। तभी रसज, रक्तज, मांसज, मेदोज, अस्थिज, मज्जाज, शुक्रज इन नामों से रोग पुकारे जाते हैं।

आतुर परीक्षा विधान चरक ने बहुत स्पष्ट किया है—तस्माद् आतुरं परीक्षेत (इसलिए रोगी की परीक्षा करे):—

i. प्रकृतितः—रोग की प्रकृति (नेचर, टेम्परामेंट) के अनुसार;

ii. विकृतितः—रोगी की विकृति (पैथालौजी, मौर्बिडिटी) के अनुसार;
iii. सारतः—रोगी के सार (टैक्सचर, टोन) के अनुसार;
iv. संहननतः—रोगी के संहनन (कम्पैक्टनैस) के अनुसार;
v. प्रमाणतः—रोगी के प्रमाण (नौर्मल डैटाज) के अनुसार;
vi. सात्म्यतः—रोगी की सात्म्यता (सेंजिटिबिटी) के अनुसार;
vii. सत्वतः—रोगी के मनोबल (सायकोलौजीकल कण्डीशन) के अनुसार;
viii. आहारशक्तितः—रोगी की आहारशक्ति (डाइजैस्टिव पावर) के अनुसार;
ix. व्यायामशक्तितः—रोगी की व्यायामशक्ति (पावर आफ एग्जर्शन) के अनुसार;
x. वयस्तः—रोगी की आयु (एज) के अनुसार।

इन दश विध परीक्षाओं के अतिरिक्त दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न की त्रिविध परीक्षाएं तथा पंच ज्ञानेन्द्रिय परीक्षा एवं नाड़ी मल मूत्र रक्तादि परीक्षाओं का विस्तार से प्रयोग प्राचीन वैद्य करते थे। आज के डाक्टर वर्गीय चिकित्सक उन्हीं परीक्षाओं को नये परिवेशों में करते हैं। दर्शन परीक्षा में क्ष-किरण चित्रों, अण्वीक्षयन्त्रों का और श्रवण परीक्षा में स्टैथिस्कोप का उपयोग किया जाता है। जिह्वा द्वारा परीक्षा जैसे आज तैसे प्राचीनकाल में भी गर्हित मानी जाती थी। शरीर का मधुर अब चींटियों के चढ़ने से प्राचीनकाल में तथा बेनेडिक्ट द्वारा परीक्षण से आज भी जाना जाता है।

अब आगे विविध रोगों के ज्ञान पर विशेष निदान दिया जा रहा है। इस लेख की परिधि इतनी सीमित है कि इसमें केवल कुछ महत्त्वपूर्ण अंश ही दिया जा रहा है पूर्ण ज्ञान हेतु सर्जरी में क्लीनिकल विधियों के ज्ञान से सम्बद्ध पुस्तकों का अवलोकन करना चाहिए। इनमें एक "डाक्टर के० नाग" द्वारा लिखित और दि सिटी बुक कम्पनी कलकत्ता द्वारा प्रकाशित "क्लिनिकल मैथड्स इन सर्जरी" द्वारा प्रकाशित अंगरेजी का उत्कृष्ट ग्रन्थ है जिससे हमने साभार पर्याप्त मार्गदर्शन इस लेख के पूर्ण करने में प्राप्त किया है।

किसी शोथ या अर्बुद का निदान

अगर कोई रोगी किसी सूजे हुए वर्द्धमान अंग को किसी चिकित्सक को दिखाता है तो चिकित्सक का धर्म है कि वह उसके सम्बन्ध में इतिवृत्त ठीक-ठीक प्राप्त करे। वह सूजन कैसे आरम्भ हुई, वहां पहले चोट लगी थी क्या, धीरे-धीरे बढ़ रही है (सुदम) तेजी से बढ़ रही है (दुर्दम) या कोई फुंसी या तिल नोंच लिया था। कितने दिन से शोथ है? अगर थोड़े दिन से ही है और साथ में दर्द भी है तो यह व्रणशोथ (इन्फ्लेमेशन) मात्र भी हो सकता है। यह शोथ पहले पहल कहां उत्पन्न हुई? इस प्रश्न से शरीर के उस अंग या अवयव के साथ शोथ का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, जहां वह पहले पहल पैदा हुई। शोथ की वृद्धि किस प्रकार हो रही है? सुदम वृद्धि (बिनाइन ग्रोथ) धीरे तथा दुर्दम वृद्धि (मैलिग्नेण्ट ग्रोथ) तेजी से होती है। अगर सूजन बढ़कर घट जाय तो वह व्रणशोथात्मक ही प्रायः होती है। उस सूजन में वेदना कितनी है। खूब हो तो व्रण शोथ, न हो तो सुदम वृद्धि; पहले न हो पर बाद में बढ़ने लगे तो दुर्दम वृद्धि मानी जा सकती है। कैंसर में पहले दर्द नहीं होता पर जब उसमें व्रणन, गहन भरण या वातनाड़ियों का सम्बन्ध आता है तो दर्द बढ़ जाता है। शोथ में आगे चलकर क्या परिवर्तन हुए, रोगी के शरीर का भार अक्सर दुर्दम वृद्धियों में घटता चला जाता है। अगर अर्बुद ऑपरेशन के बाद हुआ हो तो वह प्रायः दुर्दम ही होता है।

शोथ वृद्धि या अर्बुद से पीड़ित रोगी के शरीर का पहले अच्छी तरह वैद्य द्वारा अवलोकन किया जाना चाहिए। फिर स्थानिक दर्शन परीक्षा की जानी चाहिए। देखें कि शोथ का स्थान कहां है। कान के पीछे का वृत्ताकार शोथ डर्मोइड सिस्ट (त्वक्स्थग्रन्थि) का होता है माथे पर जहां भ्रू का अन्त होता है वहां भी यही बनती है। फिर उसका आकार, रूप, रंग, धरातल, बहीरेखा (आउट

लाइन) और स्पन्दन (पल्सेशन) का ज्ञान किया जावे। उस शोथ या वृद्धि के ऊपर त्वचा तनी हुई है विवर्ण है या सिराजाल से युक्त है छिद्रित है या कैसी है देखे। उस वृद्धि के चारों ओर शोफ (इडीमा) है या नहीं इसे भी देखलें।

दर्शन के बाद परिस्पर्शन (पैल्पैशन) परीक्षा की जाती है। छूने से मालूम करो कि वृद्धि (ग्रोथ) गरम है या ठण्डी इसके लिए हाथ के पृष्ठ भाग से छुए न कि हथेली से। सार्कोमा में वृद्धि कुछ गरम होती है। व्रणशोथ में अधिक गरम मिलती है शेष में शरीरताप जैसी गरमी पाई जाती है। छूने से ही टेंडरनेस (दबाने से पीड़ा) का ज्ञान होता है। छूते समय रोगी के चेहरे को ध्यान से देखते रहो अगर दबाते ही दर्द हो तो वह मुंह पिचका देगा। पर यह पीड़ा व्रणशोथ (इन्फ्लेमेशन) में अधिक होती है ट्यूमर या अर्वुद में नहीं या कम। परिस्पर्शन पूरे उठे हुए भाग का करना चाहिए। उसका धरातल चिकना है गांठ-गंठीला है विषम है या खण्डोपखण्ड युक्त है इसे जानो। वृद्धि या सूजन के किनारों का ज्ञान करो। अगर वह स्पष्ट हों तो अर्वुद या ग्रन्थि (सिष्ट) अन्यथा व्रणशोथ हो सकता है। हाथ जब किनारे पर दबाकर रखा जाता है तो अर्वुद दबता नहीं ग्रन्थि दब जाती है। दबाते समय ही उस वृद्धि की प्रगाढ़ता का भी अनुभव करो। यदि यह मृदु हो तो मेदोर्वुद, ग्रन्थीय हो तो सिस्ट, सख्त हो तो तान्तवार्वुद, कठिन पर कुछ सरल हो तो उपास्थि अर्वुद, पत्थर जैसा कठिन हो तो अस्थिअर्वुद, गैस से फूला हो तो गैसगेंग्रीन। उस वृद्धि का सारा ही धरातल छू छू कर और दबा-दबाकर प्रगाढ़ता का परिचय किया जावे ताकि यह पता चले कि प्रगाढ़ता (कन्सिस्टेंसी) सब जगह एक सी है या कहीं कम या अधिक जो दुर्दम अर्वुदों में पाई जाती है। अगर दबाने से गड्ढा पड़ जाता है तो व्रणशोथात्मक तथा पूयन युक्त मानना चाहिए--प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडित, स कृच्छ्रजन्यप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्। अगर वृद्धि भाग में तरल है तो वहां स्पर्श तरंग (फ्लक्चुएशन) मिलेगा। स्पर्शतरंग का ज्ञान करने के लिए दोनों हाथों का उपयोग करे। उस शोथ पर दोनों हाथों की अंगुलियां जितनी दूर रखी जा सकती हों रखे। एक हाथ की अंगुलियों से शोथ का एक सिरा दबाकर रखा जावे अब दूसरे हाथ की अंगुलियों से दूसरे सिरे को शीघ्रता से दबाया जावे यदि अन्दर द्रव या तरल है तो पहले हाथ की अंगुलियों को तरल के दाब का बोध होगा और यह हाथ तरल के इधर आ जाने से ऊंचा हो जायगा। कभी-कभी जब अन्दर मेद या मुलायम ऊतक हो तो झूठे स्पर्श तरंग का भी आभास हो सकता है। वाग्भट ने अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ्मृदुः लिखकर भरी हुई मुशक में होने वाले क्षोभ (हलचल) का वर्णन किया है वह फ्लक्चुएशन की ओर ही इंगित है।

स्पर्शतरंग से जब वृद्धि द्रव का ज्ञान हो जाय तो अंधेरे में एक टार्च को वृद्धि के एक ओर रख दूसरी ओर से प्रकाश की पारभासकता (ट्रान्सलूसेंसी) देखते हैं। दबा कर ही वृद्धि कितनी घट सकती है ऐसे भी देखा जाता है। शोणार्वुद लसार्वुद दबाने से पूरे या कुछ दब जाते हैं जोर लगाने से हर्निया या आन्त्रवृद्धि बढ़ जाती है अन्य वृद्धियां जिनका सम्बन्ध उदर के भीतर भाग से सतत नहीं होता उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बच्चा के चीखने से पेट के दाब के कारण भी हर्निया उभर आता है। स्पन्दन या पल्सेशन का ज्ञान भी स्पर्शन से होता है। पूरे उभरे हुए भाग पर हाथ फैलाकर रख दो कुछ मिनटों में शोथ में स्पन्दन का अनुभव होने लगेगा। यह स्पन्दन सिराजग्रथि (अन्यूरिज्म) में, किसी धमनी के ऊपर अर्वुद बन जाने पर, या किसी वाहिनी में वृद्धि होने से पाया जाता है। सिराजग्रन्थि सदा बड़ी धमनी में बनती है जब कि वाहिनी वृद्धि कहीं भी हो सकती है। यह स्पन्दन विस्तार पूर्ण (ऐक्सपैंसाइल) है या संचरित (ट्रान्समिटेड) इसके ज्ञान पर वृद्धि या अर्वुद का निदान बहुत महत्त्व रखता है। विस्तार पूर्ण स्पन्दन का अर्थ सभी दिशाओं में विस्तार
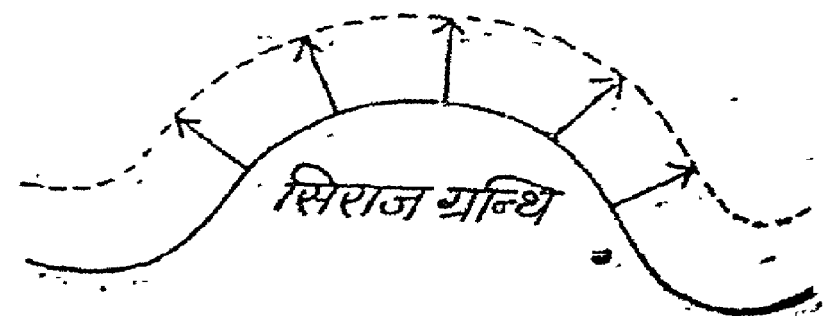
[सिराज ग्रन्थि की प्रत्येक दिशा में स्पन्दन के साथ-साथ विस्तार हो रहा है]

होता है क्यों कि इसमें सूजन या शोथ का वास्तविक फैलाव होता है। संचरित स्पन्दन में कोई फैलाव या विस्तार नहीं होता अपि तु प्रत्येक धमनी स्पन्दन पर सूजन उठती और गिरती रहती है।
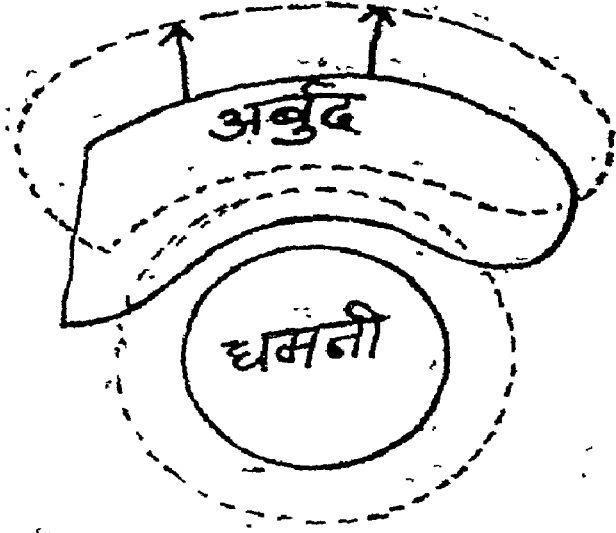
(धमनी के प्रत्येक स्पन्दन के साथ उससे संलग्न अर्बुद उठता और गिरता तो है पर उसका विस्तार नहीं होता)

अगर शोथ के ऊपरी भाग में धमनी पर दाब डाला जाय और स्पन्दन पर उसका प्रभाव देखा जाय तो पता चलेगा कि सिराज ग्रन्थि में स्पन्दन बन्द हो जाता है और उसका आकार कम हो जाता है। यदि अब दाब हटा दिया जाय तो उसका आकार फिर बढ़ जाता है और स्पन्दन चालू हो जाता है। इसी प्रकार यदि सिराज ग्रन्थि के नीचे धमनी पर दाब डाला जाय तो उसका आकार बढ़ जाता है और तनाव भी अधिक हो जाता है।

शोथ की चलिष्णुता (मोबिलिटी) का भी ध्यान रखा जाता है। यह भी देखना चाहिए कि वृद्धि या शोथ त्वचा के साथ या पेशी या वाहिनी नाड़ी या अस्थि के साथ संयुक्त तो नहीं है। जो वृद्धि त्वचा से जुड़ी होती है वह त्वचा की गतियों के साथ-साथ हिलती है। व्रणशोथ या कैंसर में त्वचा को स्थित कर देने पर शोथ को हिलाया या हटाया नहीं जा सकता। कभी-कभी सार्कोमा जब तेजी से बढ़ता है तब भी त्वचा तन जाती है और स्थिर हो जाती है।

जब शोथ या वृद्धि उपत्वक् ऊतक से संसक्त होती है तो उसके ऊपर त्वचा की गति स्वतन्त्रतया की जा सकती है।

जब वृद्धि पेशी से संसक्त होती है तब उस पेशी या पेशीसमूह का जिससे सम्बद्ध वृद्धि होती है आकुंचन कराया जाता है और देखा जाता है कि आकुंचन के साथ-साथ वृद्धि के आकार आदि में परिवर्तन आता है या नहीं। उसी समय इस वृद्धि की चलिष्णुता की भी परीक्षा की जाती है।

वाहिनियों और वातनाडियों के अर्बुदों को उनके अक्ष पर गतिमान या चलिष्णु नहीं किया जा सकता उन्हें अक्ष के इधर-उधर गतिमान किया जा सकता है। अस्थि से संसक्त अर्बुदों को अस्थि से अलग चलायमान नहीं किया जा सकता है।

परिताडन करने पर गैसयुक्त शोथों को छोड़ कर शेष सभी शोथों में मन्द ध्वनि हो जाती है।

श्रवण परीक्षा के लिए प्रत्येक वृद्धि पर स्टैथोस्कोप रख कर आवाज सुनी जाती है। 'सिराज ग्रन्थि' (Aneurysm) में एक प्रकार की मर्मर ध्वनि सुनाई पड़ती है जो प्रति हृच्छन्द पर बढ़ जाती है।

यदि शोथ किसी वातनाडी पर दाब डालता है तो उस वातनाडी से सम्बद्ध पेशी में क्षय होजाता है। फिबुला के ऊपरी भाग के अर्बुद का दाब जब बाह्य पाप्लीटियल वातनाड़ी पर पड़ता है तो पैर का पात (फुटड्रॉप) हो जाता है।

शोथ या वृद्धि होने पर रक्त का परीक्षण श्वेतकणों की वृद्धि, रक्तक्षय, ई० एस० आर०, डब्लू० आर० के लिए कराते हैं। कार्वंकल होने पर पेशाब में शकर देखते है। अस्थि से सम्बद्ध में क्ष किरण चित्रण तथा अर्बुद के सैक्शन का परीक्षण कराते हैं।

शोथ या वृद्धि का निदान करने के लिए यह ध्यान देना पड़ता है कि वह सहज है या अभिघातज, व्रणशोथात्मक या अर्बुदीय या कोई अन्य। "सहज शोथ" बच्चे के जन्म से ही पाये जाते हैं। इनमें मेनिंगोसील, डर्मोइडसिस्ट, वंक्षणीय या नाभिक आन्त्रवृद्धि शोणितवाहिन्यर्बुद, लसीका वाहिन्यर्बुद आदि आते हैं। "अभिघातज शोथ" अभिघात के तत्काल बाद मिलने लगता है। व्रणशोथात्मकशोथ तीव्र या जीर्ण दोनों प्रकार के मिलते हैं। तीव्र व्रणशोथ में वेदना, ऊष्मा, लालिमा और शोथ चार लक्षण मिलते है। अर्बुदीय शोथ सुदम (बिनाइन) तथा

दुर्दम (मैलिग्नेण्ट) दो प्रकार के पाये जाते हैं। सुदमवृद्धि एक आटोमिका के अन्दर होने से स्वतन्त्रतया चलाई जा सकती है पर दुर्दम वृद्धि आस-पास के ऊतकों में घुसपैठ किए रहती है। इसलिए इसे अपने स्थान पर हिलाया या गतिमान् नहीं किया जा सकता है। कभी-कभी सुदम अर्बुद भी दुर्दम में रूपान्तरित हो जाते हैं, उस समय उनमें वेदना का प्रादुर्भाव हो जाता है। उनके आकार में द्रुत-गति से अपरिमित वृद्धि होने लगती है। उनके आकार में बहुत परिवर्तन पाया जाता है। उनमें रक्ताविक्य होने लगता है तथा उसकी चलिष्णुता मिट जाने से वह त्वचा तथा अन्य निकटस्थ ऊतकों के साथ संसक्त हो जाता है।

विविध प्रकार के शोथों का सापेक्ष निदान नीचे दिया जाता है:—

लिंगार्श या वार्ट—ये दुष्ट मासज प्ररोह होते हैं। ये सुदम हैं, इनकी उत्पत्ति त्वचा से होने से ये त्वचा के साथ ही गतिशील होते हैं। जब इनका धरातल अधिक कठिन होता है तो ये चर्मकील कहलाते हैं। इन्हें हॉर्नी पैपिलोमा भी कहते हैं। एक प्रकार का लिंगार्श कण्डालोमा कहलाते हैं। ये फिरंगज होते हैं और श्लेष्मलकला तथा त्वचा के संगम स्थल पर बनते हैं। पैपिलोमा या अंकुरार्बुद या अर्श का वर्णन सुश्रुत इन शब्दों में देता है—नाभिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलान् गण्डूपदमुखसदृशान् करीरान् जनयन्ति, त एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेषु अर्शांसि उपनिर्वर्तयन्ति। अर्थात् नाभि में प्राप्त दोष मृदु, दुर्गन्धयुक्त, चिपचिपे, केंचुए के मुख जैसे करीरों (अंकुरों) को उत्पन्न करते हैं वे ऊर्ध्वभाग में कर्ण, नेत्र, नासा, मुख आदि स्थानों में अर्श उत्पन्न कर देते हैं।

विसर्प या एरिसपैलस—कहीं थोड़ी सी खुरसट लग जाने से एक उपत्वगीयलसीकावाहिनीशोथ उत्पन्न हो जाता है। इसका प्रभाव वृषणों और चेहरे पर विशेष होता है। शरीर में विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जगह-जगह चमड़े में दाने उठ आते हैं उन दानों में पानीदार फफोले उठ आते हैं जिनके फूटने से लस जैसा बहता है। जहां ढीली-ढाली सैल्युलरटिश्यू होती है वहां इसका शोथ अधिक होता है। सैल्युलाइटिस और ऐरिसपैलस दोनों एक दूसरे से काफी मिलते हैं फिर भी दोनों में भेदक अन्तर भी है। विसर्प रंग में लाल, पानीदार फफोलों की उपस्थिति, दाने त्वचा पर स्पष्ट या उभरे होते हैं, विसर्प कान तक प्रविष्ट कर जाता है क्योंकि यह उपत्वगीय रोग है। जबकि सैल्युलाइटिस एक प्रसरणशील व्रणशोथ है जिसमें बाद में पूयन और कोथ तक हो जाता है। प्रभावित अंग सूज जाता है उसे छूने से वेदना होती है तथा गरम मालूम पड़ता है। इसके किनारे अस्पष्ट होते हैं।

विद्रधि—जिसे एब्सैस कहते हैं वह भी कई प्रकार के होते हैं इनमें पूयजनक विद्रधियां बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सैल्युलाइटिस के बाद या लसग्रन्थियों के पाक के बाद विद्रधियां बना करती हैं। जब इनमें पूय पड़ जाता है तो प्रस्पन्दन या औविग होने लगता है जो एक प्रकार की चसक या वेदना होती है। सपूय विद्रधि वाले भाग में शोफ होता है त्वचा विवर्ण हो जाती है उसे दबाने पर गड्ढा पड़ जाता है। सपूय विद्रधि तथा शीत विद्रधि ये २ प्रकार आधुनिकों में प्रसिद्ध हैं। शीत विद्रधि राजयक्ष्माजन्य होती है और किसी अस्थि या अस्थि सन्धि या लसग्रन्थि के पास बनती है। इसमें छूने से या वैसे भी दर्द बहुत कम होता है। सपूय विद्रधि का कारण रक्तधारा द्वारा उपसृष्ट अन्तःशल्य का सतत प्रवहमान रहना है। ये अन्तःशल्य अवस्थित हो जाते हैं वहीं विद्रधि बन जाती है। ये विद्रधियां कई स्थानों पर एक साथ भी बनती हैं।

कारबंकिल या प्रमेह पिडका—फुंसी या बॉइल जैसे बनता है वैसे ही कारबंकल भी बनता है। यह एक प्रकार का औपसर्गिक कोथ होता है। इसके साथ मधुमेह का इतिहास रोगी में मिल सकता है। इसका आरम्भ एक कठिन वेदनायुक्त पुंज के रूप में होता है जो प्रायः पीठ पर होता है। बाद में यह पुंज अनेक छिद्रों द्वारा त्वचा में खुलता है तथा उस वृद्धि को एक चलनी में बदल देता है। वाग्भट ने १० पिडकाओं का वर्णन किया है—

> शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी।
> मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका॥
> विद्रधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश।
> सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु॥

फुंसी या बौइल—एक तीक्ष्ण शोथ है जो बाल या स्वेद ग्रन्थि की जड़ में स्टैफिलोकोकाय के उपसर्ग से पैदा होता है। शरीर के किसी भी भाग में इसकी उपस्थिति दारुण या दारुणक कहलाती है—

दारुणा कण्डुरारूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते।
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तत्॥

पर सिर में वही अरुंषि या अरुंषिका या फुरंकिल कही जाती है—

अरुंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु।
कफासृक्कफकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम्॥
सु० नि० स्था०

इसमें तीव्र व्रणशोथ के समस्त लक्षण मिलते हैं सूजन, लाली, दर्द, ऊष्मा दबाने से दर्द आदि। २-३ दिन बाद उस पर पूयिका (पुश्चूल) बन जाती है जो बाद में फूट जाती है और जिससे हरा पानी निकलने लगता है। यहां एक गहरी गर्त्तिका बन जाती है जो धीरे-धीरे रोपित होती है। इसे डाक्टर नाग औपसर्गिक कोथ के अन्तर्गत मानते हैं।

कृन्तकव्रण या रोडेंटअल्सर—यह एक मूलकोशीय कार्सिनोमा है यह आंख के अपांग भाग के पास चेहरे पर बनता है यह छोटे कपिशलाल रंग के पर्व के रूप में उत्पन्न होता है जिसका धरातल चमकीला होता है और उसमें कई कई केशिकाएं देखी जा सकती हैं। इन केशिकाओं के कारण तथा इसकी कठोरता एवं पाण्डुरता के कारण इसे पहचाना जा सकता है बाद में यह व्रण का रूप धारण कर लेता है जिसके किनारे कठोर उठें हुए तथा दानेदार (बीडेड) मिलते हैं। आगे चलकर यह गहराई तक ऊतकों और अस्थि तक चला जाता है। इसमें लसपर्वो पर प्रभाव नहीं पड़ता जो इपिथीलियोमा में पड़ता है।

दुर्दम मैलेनोमा—यह अति दुर्दम वृद्धि है जो मुख गुद हाथ पैर या आंख के रंजित पटल में या काले तिल को ताड़ बनाता हुआ तैयार होता है। यह काला या गहरा कपिश रंग का होता है यह बढ़ता ही चलता है उसमें व्रणन और रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है। इसके विक्षेप लस धारा या रक्तधारा द्वारा यकृत् और फुफ्फुसों तक पहुँचते हैं। इसे दुर्दम तिलकालक भी कह सकते हैं।

त्वग्वसीयपुटी या सिवेशस सिस्ट—यह यत्र संगः खवैगुण्यात् का उदाहरण है। त्वग्वसा वाहिनी नलिका का जब मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तब यह पुटी या सिस्ट उत्पन्न होती है। सिस्ट को आयुर्वेद में ग्रन्थि कहते हैं आधुनिक हिन्दी निर्माताओं ने इसे पुटी नाम दिया है। सिवेशसग्रन्थि को डा. घाणेकर तथा रामनाथ जी ने मेदोज ग्रन्थि माना है—

शरीर वृद्धिक्षय वृद्धि हानिः
स्निग्धो महान् अल्परुजोऽतिकण्डू।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने
पिण्याकसर्पिः प्रतिमं तु मेदः॥

जहां अवरोध होता है उस विन्दु को पंक्टम कहते हैं। यह एक नीला धब्बा है जो त्वचा में फिक्स रहता है। यह ग्रन्थि कहीं भी बन सकती है पर माथे पर या खोपड़ी पर चेहरे पर या वृषणों पर प्रायः पाई जाती है।

डर्माइड सिस्ट या सकेशग्रन्थि—यह उन स्थानों पर बनती है जिनका भ्रूणावस्था में सम्मिलन होता है इस कारण यह शरीर की मध्यरेखा में प्रायः पाई जाती है। नेत्र गोलक के बाहर भाग में भी मिलती है। इसका सम्बन्ध गहराई में अस्थि के साथ तक मिलता है। ग्रन्थि

को खोलने पर उसमें केश या वाल मिलने से उसे सकेश ग्रन्थि हमने नाम दिया है। उसमें त्वचा या वाल या दांत भी मिल सकते हैं। कभी कभी अंगुली में कांच घुस जाने से उसके साथ ही वाह्य स्तर (एक्टोडर्म) चला जाने और उसका वहां विकास होने से निरोपण डर्माइड भी बनता है।

कीलॉइड—एक तान्तवऊतक की वहिर्वृद्धि है जो जल जाने या घाव हो जाने या टीका लग जाने के वाद बनी व्रणवस्तु में पैदा हो जाती है। इसमें खाल उठ जाती है और पंजे या हाथ के आकार का प्रवर्धन वना देती है। इसके ऊपर केशिकाओं का गुच्छा होता है।

न्यूरोफाइब्रोमैटोसिस या तन्त्रिकातन्तु अर्बुदता—यह मटर से लेकर क्रिकिट की गेंद के वरावर आकार में अनेक पर्वों के रूप में वातनाड़ियों की तान्तव कञ्चुक से उत्पन्न होती है। इसके साथ-साथ त्वचा पर रंगीन धब्बे भी वन जाते हैं। इन पर्वों में कुछ सार्कोमा या संकटार्बुद का रूप भी ले लेते हैं।

वसार्वुद या लाइपोमा—यह उपत्वगीय ऊतक में प्रायः उत्पन्न होने वाला अर्बुद है जो पीठ, नितम्व या कन्धे पर पीछे वनता है यह धीरे-धीरे वनता है इसमें कोई वेदना भी नहीं होती। यह वहुत मृदु, अर्द्धस्पर्श तरंगी, उपखण्ड युक्त होता है जो अंगुली धरते ही सरक जाता है। इसे हिलाया डुलाया जा सकता है। यह अर्वुद है—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम्॥
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।
वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति।
॥१३॥ सु० नि० स्था० अ० ११

ग्रन्थि के समान मेदोधातु से निर्मित लाइपोमा होता है।

तान्तवार्बुद या फाइब्रोमा—यह फाइब्रस या तान्तव ऊतक से वनता है। यह मृदु या कठिन दोनों तरह का होता है।

सार्कोमा या संकटार्वुद—यह संयोजी ऊतक द्वारा उत्पन्न दुर्दम (मैलिग्नेंट) वृद्धि है। यह द्रुतगति से बढ़ता है और कुछ ही दिनों में वेडौल हो जाता है।

रक्तवाहिकार्बुद या हीमेंजियोमा—ये अर्बुद रक्तवाहिनियों से उत्पन्न होते हैं तथा वे प्रायः सहज (कंजेनिटल) होते हैं इनमें कुछ केशिकाओं (कैपिलरी हीमेंजियोमा) से वनते हैं जो लाल, वैंगनी या वायोलेट रंग के होते हैं जो त्वचा पर उठे हुए नहीं होते। अंगुली से दवाने पर उनका रंग दव जाता है। कुछ गह्वरों या कैवर्नस से वनते हैं उनमें रक्त भरा होता है तथा स्पंज जैसा पदार्थ भी होता है ये ह्वोठों, गालों, चेहरे और जीभ पर वनते हैं। यकृत, प्लीहा, वृक्क, अग्न्याशय, मस्तिष्क आदि अंगों को भी प्रभावित करते हैं (कैवर्नस हीमेंजियोमा) और वहां भी मिलते हैं। एक जगह रक्त वाहिकार्वुद वनने से अन्यत्र भी उनकी खोज करनी चाहिए। पीठ पर न्यच्छ या नीवस रूप में जव यह हीमेंजियोमा मिलता हो तो गुप्त अयुक्त मेरुदण्ड (स्पिना वाई फिडा ऑकल्टा) अवश्य मिलता है।

आयुर्वेद में न्यच्छ, चर्मकील और व्यंग का जो वर्णन आया है। डा. घाणेकर इन तीनों को एक ही विकृति के कई नाम मानते हैं और इन्हें कैपिलरी ऐंजियोमैटा या नीवी स्वीकार करते हैं। तीनों का सुश्रुतीय वर्णन इस प्रकार है—

मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वासितम्।
सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते॥
समुत्थाननिदानाभ्यां चर्मकीलं प्रकीर्तितम्।
क्रोधायास प्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः॥
सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः।
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्॥

अर्थात् गात्र (शरीर) पर छोटा या वड़ा काला या गहरे (डार्क) रंग का सहज (कंजेनिटल) नीरुज (विना दर्द का) मण्डल या घेरा न्यच्छ कहलाता है। वही विशेष निदान होने या उठा हुआ होने से चर्मकील कहलाता है। क्रोध एवं श्रम से कुपित हुई वायु पित्त के साथ मिलकर चेहरे पर जो नीरुज, तनु, श्याव झांई सी पैदा कर देती है उसे व्यंग कहते हैं।

लसीकावाहिन्यर्वुद या लिम्फेंजियोमैटा—यह रक्तवाहिकीयार्वुद के समान ही होते हैं जो होठों और जीभ पर वनते हैं।

व्रण या अल्सर का निदान

किसी व्रण का निदान करते समय व्रण कैसे उत्पन्न हुआ तथा उसमें वेदना कितनी है इन दो बातों का विशेष ध्यान देना चाहिए। देखो कि किसी अभिघात के बाद तो व्रण उत्पन्न नहीं हुआ। फिर पूछें कि कितने दिन से व्रण बना हुआ है। यदि अधिक दिन से व्रण बना हो तो रोगी के मूत्र की परीक्षा करके मधुमेह का पता लगावे। क्योंकि मधुमेह, फिरंग (सिफिलिस) वृक्क के रोग और कुपोषण के कारण घाव चिरकाल तक बने रहते हैं और उनका रोपण नहीं हो पाता। राजयक्ष्मा के व्रण यक्ष्मोपसृष्टलसपर्वों पर बनते हैं, फिरंग के फिरंगार्बुद में तैयार होते हैं तथा एक दुर्दम व्रण जले हुए व्रण के स्कार पर बनता है। कुटिल सिरा पर व्रण त्वक्शोथ के बाद तैयार होता है। इन तथ्यों को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए।

सुश्रुत ने कदर का निम्नांकित वर्णन किया है—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।
मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम् ॥
सकीलकठिनो ग्रन्थिः निम्नमध्योन्नतो ऽपि वा।
कोलमात्रः सरुक्स्रावी जायते कदरस्तु सः ॥

पैर जब कंकड़ियों या कांटों से क्षत-विक्षत हो जाता है तो दोष कुपित होकर मेदोधातु और रक्तधातु का अनुगमन करके कील के समान कठिन ग्रन्थि को पैदा कर देते है जो बीच में नीची या उठी हुई होती है जो झरबेरी के बेर बराबर आकार की होती है उससे स्राव निकलता है और दर्द होता है। उसी को कदर या कॉर्न कहते हैं। इसी कदर मे छेदक व्रण (पर्फोरेटिंग अल्सर) का निवास होता है।

व्रणों में वेदना कितनी है, कबसे है, यह भी ध्यान देना चाहिए।

व्रणों के लिए शारीरिक परीक्षा करते समय रोगी के कुपोषण (मैलन्युट्रीशन) की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। उसे कालाआजार फिरंग, राजयक्ष्मा आदि रोगों पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए।

व्रणों का स्थानिक परीक्षण करते समय उनकी संख्या, स्थान, आकार, रूप, तल, किनारे, समीपस्थ त्वचा तथा स्राव इन सबका ज्ञान करना चाहिए, सुश्रुत के व्रणस्राव विज्ञानीय अध्ययन में इन सबका उल्लेख मिलता है। **संख्या** की दृष्टि से फिरंग के व्रण, राजयक्ष्माजन्य व्रण, कुटिल सिराओं के व्रण तथा उपदंशज व्रण कई-कई होते है। आचार्य त्वङ्, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म इन आठ को व्रण का अधिष्ठान मानते हैं अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः स्वीकार करते है। कुटिल सिरा (वैरीकोज वेन्स) के व्रण टांग की अभिमुखी (मीडियल) दिशा में बनते हैं। कृन्तक व्रण नेत्र के अपांग के पास बनते हैं। यक्ष्मा के व्रण ग्रीवा पर तैयार होते हैं। त्वचायक्ष्मा के व्रण ल्यूपस वल्गैरिस का अधिष्ठान भी चेहरा ही होता है। छेदक व्रण पैरों के तलवे में बनते हैं।

आकार के सम्बन्ध में सुश्रुत लिखते हैं—तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तस्त्रिपुटक इति व्रणाकृतिसमासः, शेषास्तु विकृताकृतयो दुरुपक्रमा भवन्ति। कुछ व्रण आयताकार, कुछ चौकोर, कुछ गोल और कुछ त्रिकोण या त्रिपुटक होते हैं। अन्य विकृत आकार के व्रण असाध्य होते हैं। राजयक्ष्मा के व्रण अण्डाकार होते हैं पर कभी-कभी कई-कई व्रण मिलकर अर्द्ध चन्द्राकार रूप बना लेते हैं। इसी प्रकार फिरंगज व्रण भी वृत्ताकार होते हैं। कुटिल सिराओं या अतिस्फीत सिराओं के व्रण लम्बाई में अण्डाकार होते हैं। कैंसरी व्रण आकार और रूप में विकृताकृति (इर्रेगुलर) होते हैं। यक्ष्मा तथा कैंसर के व्रणों का प्राचीन काल में कोई विशेष उपचार न होने से उन्हें सुश्रुत ने पहले ही दुरुपक्रम लिखा है।

व्रणतल अगर लाल हो तो व्रण जल्दी भरता है पीला या पाण्डुर हो तो देर म भरता है। त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् द्वारा साध्य व्रण को सुश्रुत ने स्पष्ट किया है, दुष्टव्रण में तल का रंग—कृष्णरक्तपीतशुक्लादीना वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः ऐसा लिखा है। फंगसयुक्त या गोभी के फूल जैसे आकार का व्रण कैंसरजन्य और असाध्य कहा गया है। सुश्रुत ने वातज व्रण भस्मकपोतास्थिवर्ण परुष अरुण कृष्ण वर्ण का, पित्तज व्रण नील पीत, हरित, श्याव, कृष्ण, रक्त, कपिल, पिङ्गल वर्णका तथा श्लेष्मज व्रण श्वेत, स्निग्ध और पाण्डु-

वर्ण का बतलाया है। सान्निपातिक को सर्ववर्णोपेतः लिखा है।

व्रण के किनारे या व्रणोष्ठ किसी के सूजे हुए और जलनयुक्त होते हैं पर जो शीघ्र रोपित होने वाले व्रण होते हैं उनमें एक नीली रेखा और श्वेत तान्तव भाग मिलता है। यक्ष्मज, फिरंगज तथा कैंसरज व्रणों के ओष्ठ अभिलक्षणयुक्त होते हैं।

कृन्तक (रोडेंट) व्रण के किनारे दानेदार (बीडेड) होते हैं छेदक (पर्फोरेटेड) व्रण गहराई में होता है। सुश्रुत का अतिसंवृत, अतिविकृत, अति कठिन, अति-मृदु, उत्सन्न, अवसन्न, अतिशीत, अति उष्ण आदि लक्षणों का सम्बन्ध व्रण और व्रणोष्ठ दोनों के साथ है।

व्रण की "निकटवर्ती त्वचा" लाल, चमकीली, सूजी हुई या पामी (एग्जेमेटस) या वर्णकित (पिगमेंटेड) हो सकती है। टांग के अभिमुख भाग पर व्रण होने पर अति-स्फीत सिराओं का ज्ञान करना चाहिए।

व्रण का स्राव कैसा है उसकी मात्रा कितनी है और उसमें गन्ध कैसी आती है इन सब पर विचार करना आवश्यक होता है। फैलने वाले व्रणों में पूय खूब निक-लता है। रोहणोन्मुख व्रणों में थोड़ा और पानी जैसा स्राव होता है। वैसीलस पायोसायनियस से उपसृष्ट व्रण से हरा स्राव बहता है और उसमें एक अलग प्रकार की बदबू आती है।

सुश्रुत दोषानुसार व्रणस्रावों का विचार करते है—

वातिक व्रणस्राव— श्यावअवश्यायक्षारोदकमांस-धावनपुलाकोदकसन्निभ।

पैत्तिक व्रणस्राव— गोमेदगोमूत्रभस्मशङ्खकषायो-दकमाध्वीकतैलसन्निभ।

रक्तज व्रणस्राव—पित्तवद्रक्तादतिविस्रत्वं च।

कफज व्रणस्राव— नवनीतकासीसमज्जपिष्टतिल-नारिकेलोदकवराहवसासन्निभ।

सन्निपातज व्रणस्राव— नारिकेलोदकैर्वारुकरस-काजिकप्रसादारुकोदकप्रियंगुफलयकृत्मुद्गयूषसवर्णत्वानीति

असाध्य व्रणस्राव—पुलाकोदक सन्निभ (पक्वाशय का चावल के मांड जैसा स्राव), क्षारोदकनिभ (रक्ताशय से क्षारीयजल जैसा स्राव), कलायाम्भोनिभ (आमाशय से मटर की दाल जैसा स्राव)।

चरक ने १४ प्रकार के व्रणस्राव गिनाए हैं :—

लसीकाजलपूयासृक् हरिद्रारुणपिञ्जराः।
कषायनीलहरितास्निग्धरूक्षसितासिताः॥
इति रूपैः समुद्दिष्टैः व्रणस्रावांश्चतुर्दश॥
—च० सं० चि० स्था० अ० २५।

व्रणों की ८ गन्धों को भी चरक ने स्वीकार किया है—

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैः अष्टौ गन्धा प्रकीर्तिताः॥

ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में व्रणगन्धज्ञ(व्रण की गन्ध जानने वाले) विशेषज्ञ रहते थे उनसे मालूम करके इन गन्धों का समावेश किया गया है।

परिस्पर्शन करके भी व्रण के निदान की प्रथा है। वह कहां पर है तथा उसे छूने से दर्द होता है या नहीं देखने का आधुनिकों का आग्रह भी है। कैंसर के व्रण में परुषता या कठोरता पायी जाती है आसपास के ऊतकों को भी दबा कर देखना चाहिए कि वहां तक व्रण की सूजन स्थूलता या मुटाई तो नहीं आ गयी है। अंगूठे और तर्जनी के बीच समग्र व्रण को दबाते हुए उसके तल का ज्ञान किया जाता है। वह कठोर है या मृदु इसका आभास हो जाता है। अधिक कठोर तल इपीथी-लियोमा और उपदंशज शैंकर में मिलता है। व्रण की चलिष्णुता भी परखनी चाहिए कि वह त्वचा में है या उपत्वचा में या मांसादि ८ अधिष्ठानों में से किसी से सम्बद्ध है। परिस्पर्शन करते समय यदि उससे रक्तस्राव हो तो दुर्दम अन्यथा सुदम समझना चाहिए। वातनाडियों से व्रणों का क्या सम्बन्ध है इसकी भी पूरी खोज की जानी चाहिए। समीपस्थ लसपर्वों के साथ भी व्रणों का सम्बन्ध जानना चाहिए। इसी प्रकार फिरंग व्रण की शंका होने पर अन्य फिरंग के लक्षण देखने चाहिए। रक्तपरीक्षण द्वारा राजयक्ष्मा या फिरंग का पता लगाना चाहिए। कैंसर या अन्य अर्बुदों के लिए जीव अतिपरीक्षा (बायोप्सी) करानी चाहिए। अस्थि या अस्थिसन्धि के साथ सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए क्षकिरण चित्रण आव-श्यक होता है।

व्रणों के अनेक प्रकार शल्यतन्त्र के ग्रन्थों में दिये गये हैं। कुछ प्रसर्पी हैं, कुछ रोहिणीय हैं, कुछ स्थिर और चिरकारी होते हैं। ये कुछ अविशिष्ट, कुछ विशिष्ट और कुछ दुर्दम इन ३ श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं।

I. **अविशिष्ट व्रण**—(i) अभिघातज व्रण
(ii) सपूय व्रण
(iii) अतिस्फीत सिरा व्रण
(iv) कुपोषणज व्रण
(v) धमनी दार्ढ्य कृत व्रण

II. **विशिष्ट व्रण**—(i) राजयक्ष्माजन्य व्रण
(ii) फिरंगज व्रण
(iii) उपदंशज व्रण
(iv) कवक व्रण

III. **दुर्दम व्रण**—(i) इपीथीलियोमा
(ii) कृन्तक व्रण
(iii) दुर्दम मैलानोमा

इन व्रणों के मुख्य-मुख्य लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं—

अतिस्फीत सिराजन्य व्रण (वैरीकोज अल्सर्स)—ये व्रण स्थानीय कुपोषण के कारण बनते हैं। ये टांग के निचले आधे भाग में अभिमुख या मध्यवर्ती भाग में पाये जाते हैं। इसका आधार भाग टिबिया से संसक्त रहता है और वहां पर्यस्थ शोथ उत्पन्न करता है। इसके किनारे उठे हुए होते हैं। आस-पास की त्वचा पर व्रणशोथ और त्वक्पाक होता है वहां वर्णक (पिगमेंटेशन) भी पाया जाता है। टांग के ऊपरी भाग में तथा ऊरु में अतिस्फीत-सिराओं की उपस्थिति से निदान की पुष्टि होती है।

यक्ष्मज व्रण (ट्यूबर्क्युलस व्रण)—ये अनेक प्रकार के होते है। इनका निर्माण यक्ष्मा से उपसृष्ट लस पर्वो के फूट कर उसका स्राव त्वचा पर गिरने से होता है। यह व्रण जीभ और स्वरयन्त्र पर भी देखा जा सकता है। कभी-कभी अस्थि या सन्धिगत यक्ष्मा का विक्षत फूटकर त्वचा पर यक्ष्माज व्रण पैदा कर देता है। त्वचा के यक्ष्मज व्रणों में वेदना नहीं मिलती जबकि श्लेष्मल कला के यक्ष्मज व्रणों में वेदना होती है। यक्ष्मज व्रण की सब से महत्त्वपूर्ण पहचान है इसके व्रणोष्ठों का पतला होना, अन्दर को गिरा हुआ होना तथा नीलवर्ण का प्रायः पाया जाना। तल कड़ा नहीं होता पर पाण्डुर होता है।

इसी का एक भेद त्वग्यक्ष्मा या ल्यूपस वल्गैरिस कहलाता है। यह चेहरे पर अथवा बाहु पर बच्चों या नवयुवकों में मिलता है। यह ल्यूपस अपने मध्य भाग में ठीक होता जाता है पर किनारों पर सक्रिय रहकर फैलता जाता है।

फिरंगजव्रण—रोग के संक्रमण होने के ३ हफ्ते बाद कठोर शैंकर (सिफिलिटिक अल्सर) बनता है इसे हंटेरियन शैंकर कहते है। यह वेदनाविहीन व्रण होता है जिसका धरातल कठिन होता है दबाने से बटन जैसी अनुभूति होती है। इसमें से जो पानी जैसा स्राव निकलता है उसमें फिरंगाणु (स्पाइरोकीटा पैलिडा) की लैबोरेटरी में उपस्थिति सिद्ध की जा सकती है। आस-पास के लसपर्व अलग-अलग बड़े-बड़े फूले-फूले और कठोर स्पर्श वाले होते हैं जो कभी पूयोत्पन्न नहीं करते न मुलायम ही होते हैं। प्रजननांगों के बाहर के रिंगज व्रण या शैंकर उतने कड़े नहीं होते जब कि उनसे सम्बद्ध लसपर्व अपेक्षाकृत अधिक बड़े होते हैं। इन शैंकरों की पहचान के लिए त्वचा और श्लेष्मल कला के संगम पर मुख, गुद या भग पर लिगार्श या श्लेष्मिक पैचों को भी देखना चाहिए। फिरंग रोग की तृतीयावस्था में गम्मा या फिरंगार्बुद बन जाते हैं जो कालान्तर में गल जाते है और उनमें व्रणन हो जाता है। फिरंगज व्रण पंच की हुई जगह जैसे गहरे बन जाते है। ये कई-कई एक साथ मिलते हैं इनके आकार अण्डाकार होते हैं किनारे सीधे खड़े रहते हैं तल पर पीलासाग्रे रंग का मृतऊतक रखा रहता है। यह वाशलैदर (चमड़े का धोवन) जैसा होता है। इस मृतोतक को हटा देने के बाद चमकदार लाल कणिका ऊतक के दर्शन होते हैं। इस अवस्था के इन व्रणों में लस पर्वों पर शायद ही कोई प्रभाव पड़ता हो।

उपदंशजव्रण—यह मृदुशैंकर या मृदु सोर भी कहलाता है। यह (डुक्ने का उपसर्ग) उपसर्ग के तीसरे दिन ही प्रकट हो जाता है।

यह प्रजननांगों पर अनेक तीव्र व्रणों के रूप में बनता है इस मृदु शैंकर के किनारे फूले हुए होते हैं। व्रण में पीलासा मृतोतक या निर्मोक (स्लफ) भरा रहता है उससे बहुत मात्रा में पूययुक्त स्राव निकलता रहता है उस उप-

सर्ग से आस-पास के लसपर्व (लिफनोड) भी प्रभावित हो जाते हैं उनमें शोथ होकर पूयन होने लगता है।

अपोषणजव्रण (ट्रोफिक अल्सर)—ये व्रण उन क्षेत्रों या धरातल पर बनते हैं जहां की वातनाड़ियां अभिघात या चोट के कारण उखड़ जाती हैं या जिससे सम्बद्ध सुषुम्ना के किसी भाग में क्षतिग्रस्तता हो जाती है। ये व्रण फिरंगार्बुद व्रणों से मिलते जुलते होते हैं अर्थात् ये भी पंच किये जैसे ऊंचे किनारे वाले व्रण होते हैं जिनके तल पर मृतऊतक या निर्मोक रहता है। वृद्ध व्यक्तियों में पृष्ठवंश में भग्न हो जाने के कारण जब उन्हें काफी दिन खाट पर पड़े रहना पड़ता है तब हड्डी के नुकीले स्थानों पर जो शैया व्रण बन जाते हैं वे भी अपोषण या कुपोषणजन्यव्रण ही होते हैं। पैरों के तलवों में भी अपोषण जन्यव्रण बन जाते हैं ये प्रथम प्रपदास्थि के नीचे बनते हैं।

कवकजव्रण—(ऐक्टीनोमाइकोटिक अल्सर्स) वे व्रण हैं जो ऐक्टीनोमाइकोसिस द्वारा ग्रीवा या अधोहनु पर बनते हैं। ये अनेक होते हैं इनका आधार एक कठोर ब्रुसपैठियाटाइप का पदार्थ होता है जिसमें अनेक चिरकालीन विवर होते हैं। इसके स्राव में गन्धक के कण मिलते हैं।

शिरानाल (साइनस) या नाडीव्रण (फिश्चुला) का परीक्षण

इस विषय में सुश्रुतसंहिता के निदान के १० वें अध्याय में इस प्रकार लिखा गया है—

शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानिपूर्वविहितानि ततः सपूयः॥
तस्यातिमात्र गमनाद् गतिरित्यतश्च
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।
दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या॥

अभी शोफ पका नहीं है ऐसा मान कर जो पक्व शोफ की उपेक्षा करता है अथवा जो खूब पूय से भरे हुए व्रण को असाधु वृत्ति अपना कर उपेक्षा करता है उसका वह पूय बजाय बाहर निकलने के पूर्वोक्त स्थानों को विदीर्ण कर भीतर प्रवेश कर जाता है तथा उस पूय के बहुत मात्रा में गमन करने से एक मार्ग या नाड़ी बन जाती है जिससे वह पूय बराबर निकलता और बहता रहता है इसी को नाडी या नाड़ीव्रण कहते हैं। यह नाड़ीव्रण एक-एक दोषज, या त्रिदोषज अथवा शल्य लगने के कारण बना हुआ इस प्रकार ५ प्रकार का होता है। ये पांचों नाड़ीव्रण या सायनस आयुर्वेद में इन शब्दों में वर्णित किए गये हैं—

वातजा नाड़ी—यह नाड़ी परुष (कड़े) मुख वाली सूक्ष्म (छोटे) मुख वाली होती है इसमें दर्द होता रहता है इससे भगन्दर स्राव निकलता है तथा यह स्राव रात्रि के समय बहुत गिरता है—

तत्रानिलात्परुपसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपायाम्।

पित्तजानाड़ी—यह नाड़ी अधिक मात्रा में पीला गरम-गरम स्राव निकालती है तथा यह स्राव दिन में अधिक मात्रा में गिरता है। इसके साथ रोगी को प्यास, ताप, तोद, सदन, ज्वर और भेदनवत् पीड़ा भी होती रहती है।

तृट्तापतोदसदनज्वरभेदहेतुः पीतं
स्रवत्यधिकमुष्णमहः सुपित्तात्।

कफजानाड़ी—यह नाड़ी बहुत मात्रा में गाढ़ा-गाढ़ा सफेद रंग का चिपचिपा स्राव मन्द-मन्द गति से बहाया करती है स्राव निकलते समय कोई पीड़ा नहीं होती पर खुजली खूब आती है।

ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा।

त्रिदोषजा नाड़ी—यह नाड़ी घोर प्राणक्षय करने वाली यम की वहिन कालरात्रि के समान मानी गई है। इसमें वात, पित्त और कफ की नाड़ी के समय बतलाये गये लक्षणों में कोई भी लक्षण मिल सकते हैं। इसके साथ रोगी को ज्वर, श्वास, दाह, मूर्च्छा, मुखशोष आदि भी मिलते हैं।

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छन वक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि।
तामादिशेत्पवनपित्तकफप्रकोपाद्-
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम्॥

शल्यनिमित्ता नाड़ी—कभी-कभी कोई शल्य चुपचाप गति करके शरीर के अन्दर कहीं प्रवेश कर जाता है। उसके प्रवेश काल में ही एक मार्ग बन जाता है उससे शीघ्र ही झागदार मथा हुआ सा रक्तमिश्रित गरम-गरम स्राव सहसा निकलने लगता है तथा स्राव के साथ-साथ बराबर दर्द भी होता रहता है।

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु
स्थानेषू शल्यमचिरेण गतिं करोति।
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं
स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम्॥

द्वन्द्वजानाड़ी—ये वात पैत्तिक, वातश्लेष्मिक और पित्तश्लेष्मिक ३ प्रकार की हो सकती हैं तथा इनकी गतियां ऊपर वर्णित दोषों के मिश्रितरूप में मिलती हैं—

दोष द्वयाभिहि॰ लक्षण दर्शनेन
तिस्रो गतीर्व्यतिकर प्रभवास्तु विद्यात्।

कभी-कभी नालव्रण या शिरानाल या नाड़ीव्रण जन्म के समय से भी सहज विकृति के रूप में चले आते हैं उनका ठीक-ठीक आकलन करना भी सर्जन या भिषक् का कार्य है। यक्ष्माजन्य साइनस में लसपर्वों में यक्ष्मा के उपसर्ग का इतिहास मालूम कर लेना चाहिए। अस्थिमज्जा पाक का इतिहास तीव्र ज्वर से आरम्भ होता है। रोगी को अस्थि सन्धि के निकट किसी शाखा या अंग में सूजन या शोथ उत्पन्न हो जाता है यह शोथ बढ़ता जाकर एक दम फूटता है और उससे स्राव चालू हो जाता है। यह स्राव लगातार चालू रहने पर तथा स्राव में अस्थि चिप्स निकलने से निदान की पुष्टि हो जाती है। कभी-कभी गुद भाग के निकट के नाड़ीव्रण या भगन्दर की शिकायत लेकर भी रोगी आता है उससे इतिवृत्त मालूम करते समय यह पूछना आवश्यक होता है कि क्या उस भगन्दर के पहले उसे फोड़ा या विद्रधि उत्पन्न हुई थी? तथा क्या उसी के फूटने से यह भगन्दर बना है। लिखा है—

गुदस्य द्वयंगुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽर्तिकृत्।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः॥ गुद के २ अंगुल के क्षेत्र में गुद के पार्श्व में कोई वेदनायुक्त पिडका बन जावे और वह फिर फूट जाय तो उसे भगन्दर कहते हैं।

स च पञ्चविधो मतः—वह भगन्दर ५ प्रकार का बतलाया जाता है—

१. शतपोनक—कषाय रूक्ष पदार्थों के सेवन से कुपित हुआ वायु गुदक्षेत्र में जब पिडका उत्पन्न कर देता है यदि उसकी अपेक्षा कर दी जाय तो उसमें दारुण पाक बन जाता है और दर्द होता है। उसके फूट जाने पर अरुण और झागदार स्राव निकलता है। उसमें अनेक व्रण होते हैं तथा उसमें से मूत्र, पुरीष और रेतस् भी निकलते रहते हैं। अर्थात् शतपोनक का सम्बन्ध न केवल गुद से ही होता है अपि तु मूत्रवह संस्थान और शुक्रवह संस्थान दोनों के साथ और हो जाता है। एक फिश्चुला गुद के साथ सम्बन्धित रहने से पुरीष का निःसरण होता है। दूसरी का यूरेथ्रा या मूत्राशय से सम्बन्ध होकर मूत्र का आगमन दूसरी फिश्चुला से होता है। शुक्राशय (सेमिनल वेजाइकिल) तथा शुक्र वाहिकाओं (वासडेफ़ेंस) से सम्बन्ध होने से तीसरी फिश्चुला से शुक्र का आगमन होता है कभी एक ही संगम स्थल पर नाड़ी बन जाने से जहां शुक्राशय मूत्राशय और मलाशय एक साथ हों तीनों का एक साथ सम्बन्ध भगन्दर से आ जाता है।

२. उष्ट्रग्रीव—पित्त के प्रकोप के कारण गुदक्षेत्र में जब लाल रंग की पिडिका बन जाती है और वह जल्दी पक जाती है। पककर फूट जाती है उससे गरम-गरम पूय का स्राव होने लगता है।

३. परिस्रावी—कफ के प्रकोप से जो भगन्दर बनता है उससे गाढ़ा सफेद स्राव निकलता है। दर्द कम होता है खुजली खूब होती है तथा स्थान भी कठिन होता है।

४. शम्बूकावर्त—यह सान्निपातिक भगन्दर है। इसमें अनेक रंगों का बहुत सा स्राव होता है इसकी पिडका लम्बी गाय के स्तन जैसी बनती है। जिस तरह नदी में भंवर या शम्बूकावर्त बनते हैं वैसे इसकी नाड़ी भी चक्करदार होती है।

५. उन्मार्गि—जब गुद में किसी प्रकार का क्षत लग जाता है। और उपेक्षा के कारण उस क्षत में जीवाणु प्रवेश कर जाते हैं तो वे उसे विदीर्ण करके अनेक मार्गों वाला उन्मार्गि भगन्दर बना देते हैं। यह क्षतज भगन्दर है।

इनकी साध्यासाध्यता के बारे में लिखा है—

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः।
तेषु असाध्य स्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः॥

कि सभी भगन्दर चिकित्सा की दृष्टि से घोर दुख देने वाले होते हैं इनमें त्रिदोषज शम्बूकावर्त असाध्य है तथा क्षतज उन्मार्गि विशेष असाध्य है।

जब नाड़ीव्रण या भगन्दर का कोई रोगी आवे तो सबसे पहले उसकी स्थानिक परीक्षा की जानी चाहिए। इसमें सर्वप्रथम उसकी स्थिति का ज्ञान करे। जन्म के साथ बने सायनसों या नाड़ी व्रणों में यह स्थिति सदैव स्थिर स्वरूप की होती है। अस्थिमज्जापाक के नाड़ी व्रण लम्बी अस्थियों के सिरों पर बनते हैं। निचले जबड़े पर केवल एक नाड़ी व्रण भी अस्थिमज्जा पाकजन्य ही होता है। फिर "संख्या" की ओर ध्यान दें। भगन्दर में जैसाकि ऊपर लिखा है उसके कई-कई मुख होते हैं। मूत्र मार्गीय भगन्दर का एक ही मुख पाया जाता है कभी-कभी उसके भी कई मुख होते हैं और मूत्र ऐसे बरसता है जैसे किसी पौधे को सींचने वाले हजारदान से निकल रहा हो। फिर नाड़ी के "मुख" की ओर ध्यान देना चाहिए। फिर "स्राव" का ज्ञान करना चाहिए। यह स्राव मूत्र, मल, शुक्र, पित्त (बाइल), रक्त, पूय, गन्धक के कणों में से क्या बताता है उसके अनुसार नाड़ी के मार्ग का और अन्य कोष्ठांगों से सम्बन्ध का ज्ञान होता है। आस पास की त्वचा पर वर्ण का पाक या व्रणवस्तु का ज्ञान भी करना चाहिए फिर उसे परिस्पर्श करके देखे। दबाने से दर्द या उसके मार्ग में मोटाई (स्थूलता) दबा-दबाकर ही मालूम करे। नाड़ी की चलिष्णुता भी इधर-उधर हिलाकर ज्ञात करे ताकि यह ज्ञान हो सके कि कौन सा अंग फिक्स हो चुका है। जो नाड़ीव्रण अस्थिमज्जापाक के कारण बनता है वह हड्डी के साथ फिक्स्ड रहता है। इतना जान लेने पर एषणी (प्रोब) डालकर "एषणकर्म" करे। एषण-कर्म के समय जोर जबर्दस्ती कभी न की जाय। एषण-कर्म द्वारा यह मालूम किया जाता है कि नाड़ीव्रण की दिशा क्या है गहराई कितनी है उसमें कोई अपद्रव्य (फोरेन बौडी) या सीक्वैस्ट्रम (विविक्तांश) या शल्यांश तो नहीं रुका हुआ। ऐषणी अन्दर किसी पोले कोष्ठांग में जाती है या हड्डी के अन्दर तथा ऐषणी निकालते ही ताजा-ताजा बहुत सा स्राव तो और नहीं निकल रहा। इसके बाद उस क्षेत्र का सिंचन करने वाले लसपर्वों का परीक्षण करे।

फिर नाड़ीव्रण से पीड़ित रोगी की "सर्वांगीण परीक्षा" करे। जीर्ण अन्तःपूयता होने पर वक्ष की; कटि-क्षेत्र में नाड़ीव्रण होने पर पृष्ठवंशीय कशेरुकाओं या पर्शु-काओं या मूत्रवह संस्थान की; गुदक्षेत्र में हो तो मलाशय की तथा मुष्क या मूलाधार में होने पर निचले मूत्र-मार्ग की परीक्षा करनी होती है। सामान्य परीक्षण के बाद "विशिष्ट परीक्षा" इस प्रकार करे:—

i. स्राव को देखकर तथा प्रयोगशाला में भेजकर यूरिया की उपस्थिति होने पर मूत्र संस्थान से सम्बन्ध का पता चलता है। अण्वीक्षण करने से गन्धक के कण ऐक्टीनोमाइकोसिस (कवक) का ज्ञान देते हैं। जीवाणु विज्ञान के अनुसार जांच करने से अन्य बातों का पता चलता है।

ii. क्षकिरण चित्र सीधा-सीधा लेने से बन्दूक की गोली, या पारान्ध अपद्रव्य का ज्ञान होता है। रेडियो-ओपेक पदार्थ का प्रवेश कर चित्र लेने से नाड़ीव्रण के पूरे मार्ग का ज्ञान होता है तथा यह भी पता चलता है कि वह अन्दर किस कोष्ठांग से सम्बद्ध है।

लस-पर्वों का परीक्षण

लसपर्वों को आधुनिक चिकित्सा विज्ञानी लिम्फ-नोड्स कहते हैं। आधुनिक हिन्दी वादियों ने लिम्फ के लिए लसीका शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार लसपर्व का विस्तार लसीकापर्व में माना जाना चाहिए। लसपर्वों के परीक्षण के पूर्व रोगी का इतिवृत्त जान लेना आवश्यक होता है। लसपर्वों की वृद्धि या शोथ का विविध प्रकार के ज्वरों से भी सीधा सम्बन्ध होता है। हाजिकनव्याधि में सविराम ज्वर राजयक्ष्माजन्यलसपर्वपाक में रात्रि-कालीन ज्वर और श्लीपद में या श्लीपदिक लसपर्व शोथ में आवर्ती ज्वर मिलता है। इन ज्वरों के रूप को देखकर

लसपर्व सम्बन्धी रोगों का सहज ही ज्ञान हो सकता है। शारीरिक परीक्षण करने पर केवल हाजकिन व्याधि में दाब का प्रभाव मुख सिर और ग्रीवा पर श्यावता (सायनोसिस) या श्वासकृच्छ्रता के रूप में पड़ता है। स्थानिक परीक्षण लसपर्व व्याधियों में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सबसे पहले सूजे हुए लसीकापर्वों का अवलोकन करना चाहिए। इन लसपर्वों की स्थिति, आकार रूप, धरातल का ज्ञान उसी प्रकार किया जाना चाहिए जैसे किसी भी शोथ के परीक्षण की दृष्टि से पहले लिखा जा चुका है।

शोथ के उपरान्त त्वचा पर ध्यान जाना चाहिए। तीव्र लसपर्व शोथ में त्वचा न केवल लाल हो जाती है अपि तु लसपर्वों के पूयन (सप्पूरेशन) के अवसर पर वह फूल भी जाती है। परन्तु यक्ष्मा के उपसर्ग के कारण उत्पन्न लसपर्वपाक में त्वचा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन लसपर्वों के फूटने से जो शीतविद्रधि बनती है उसमें उपर्युक्त व्रणशोथात्मक लक्षणों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। पर जब यह शीतविद्रधि फूट जाती है तब त्वचा में व्रणशोथात्मक लक्षण प्रकट हो जाते हैं। जब कोई लस संकट (लिम्फो सार्कोमा) तेजी से अपनी आकार वृद्धि करने लगता है तो त्वचा पतली चमकीली और सिराजाल से भरी हुई पाई जाती है। द्वितीयक कैंसर में पहले तो त्वचा अलग रहती है पर बाद में वह उससे संयुक्त हो जाती है और उसका वर्ण नारंगी जैसा हो जाता है और आगे चलकर उपचार के अभाव में पूरा शोथांश फूट जाता है और एक विकृत व्रण बन जाता है।

अगर लसपर्वों के स्थान पर कोई व्रण बन गया हो तो सारा परीक्षण उसी प्रकार किया जावे जैसा कि पीछे इसी लेख में व्रण विवरण में दिया जा चुका है। कभी-कभी जब यक्ष्माजन्य लसपर्वों में पूयन होने लगता है तो नाड़ीव्रण या सायनस बन जाता है। लिम्फोग्रेन्युलोमा इंग्वीनेल में भी पूयन होता है नाड़ीव्रण भी मिलता है।

लसपर्वों के रोगों में परिस्पर्शन द्वारा भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए यह कार्य एक नियत विधि द्वारा करते हैं। वह विधि शोथ या अर्बुद के परीक्षण में पहले ही बता दी गई है। इसके अनुसार सर्वप्रथम स्थानिक टेम्परेचर लो, दबाने पर पीड़ा का ज्ञान करो कितना शोथ है, कहां तक फैलाव है, आकार-रूप, तल, किनारे, प्रगाढता, चलिष्णुता का पता लगाना चाहिए। यही भी देखे कि लसपर्व के किनारे देखने से वे अलग-अलग हैं या मिले हुए। साथ की रचनाओं के साथ लसपर्वों का क्या सम्बन्ध है? जब ऊपरी गहन ग्रैव लसपर्वों में कैंसर होता है तो हाइपोग्लौसलनर्व भी लपेट में आ जाती है। अगर यह नर्व लपेट में आ गई हो तो उसकी जांच के लिए रोगी से कहो कि वह अपनी जीभ बाहर निकाले यदि जीभ की नोक सीधी आगे न आकर एक ओर (जिधर कैंसर है उस ओर) को मुड़ जाय तो नर्व का सम्बन्ध रोग के साथ जुड़ गया (देखें डा० नागकृत क्लीनिकल मैथड्स इन सर्जरी) हाजकिन व्याधि में अन्न प्रणाली पर जोर पड़ने पर निगलने में और श्वासनाल पर जोर पड़ने पर श्वास लेने में कठिनाई होती है। मेढ्र के कैंसर में वंक्षण के लसपर्व पेट में आ जाते हैं और फूलने लगते हैं उनकी लपेट में औवीं वाहिनियां आ जाती हैं जिनसे इतना रक्तस्राव भी हो सकता है कि रोगी मर भी जा सकता है।

लस संवहन (लिम्फसर्क्युलेशन) में मूल कारण का भी पता लगाना आवश्यक होता है। यह मूल कारण व्रणशोथ है या कैंसर या दुर्दम मैलानोमा। इसके लिए नीचे का चित्र अधिक सहायक होगा।

वंक्षण के लसपर्वों का संवहन क्षेत्र नाभि से आरम्भ होकर पैर के अंगूठे तक चित्र में देखा जा सकता है और वह गुदनलिका के अन्तिम भाग, मूत्र मार्ग और योनि तक फैला हुआ है। कक्षा के लसपर्वों का वर्ग नाभि के ऊपर से अक्षकास्थि तक के पूरे क्षेत्र का लससिंचन करता है और वक्षस्थल का भी उसी से सिंचन होता है। ग्रैवलसपर्व ग्रीवा और सिर की लस वाहिनियों से लस प्राप्त करते हैं। बांई ओर के अक्षकास्थि के ऊपर लसपर्वों का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि वे बांई ओर की ऊपरी शाखा वक्ष फुफ्फुस का ही लस नहीं प्राप्त करते बल्कि आमाशय और वृषणों तक का लस उनमें पहुँचता है। यह ज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण है इसी लस द्वारा व्रणशोथकारी या कैंसरकारी घटक एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचते और विक्षेपण करते हैं।

शरीर के हर भाग में जहां भी लसपर्व फूलगये हों उनका चिकित्सक को पता लगाना चाहिए। हाजकिन व्याधि में शरीर के सभी भागों के लसपर्वों में वृद्धि पाई जाती है। यही नहीं यकृत्, प्लीहा और मिजेंटरी के लसपर्व भी इस रोग में फूल जाते हैं।
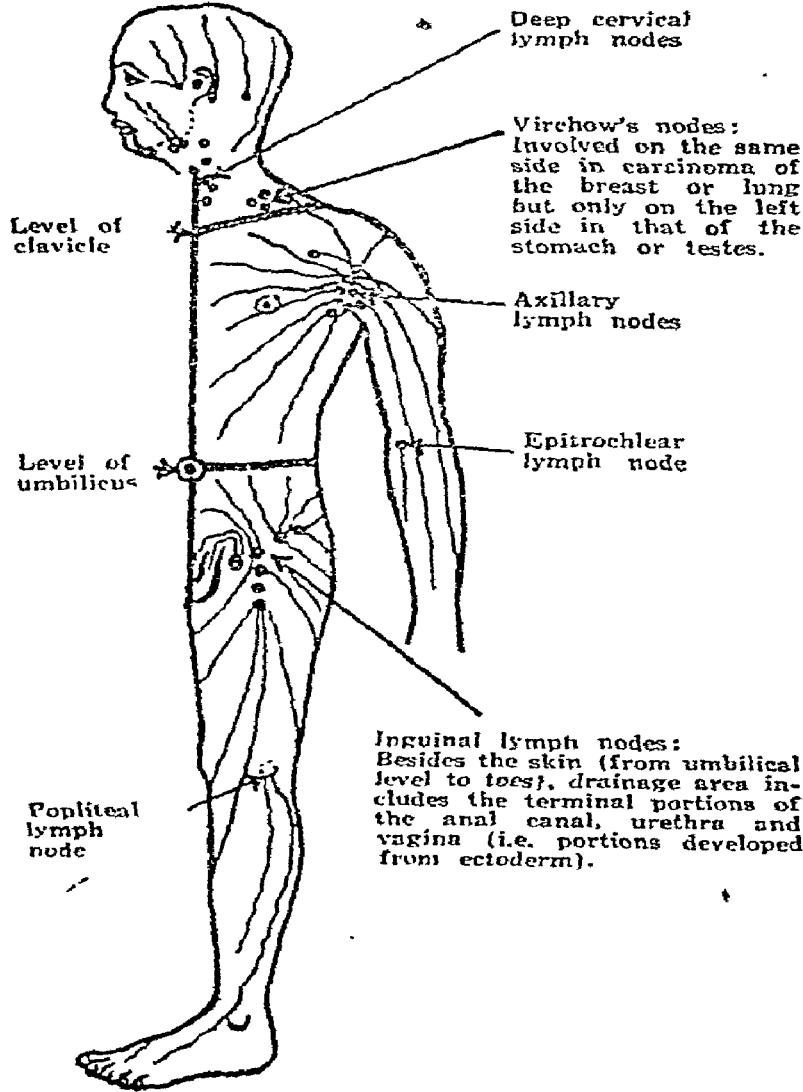
विशिष्ट परीक्षण की दृष्टि से रक्त के श्वेतकणों का गणन, रक्त के लाल कणों और हीमोग्लोबिन कीं मात्रा ज्ञान, वासरमेन प्रतिक्रिया तथा माइक्रोफाइलेरिया के लिए परीक्षण कराये जाने चाहिए क्योंकि इन सभी में लसपर्वों की वृद्धि होती है। फूले हुए लसपर्वो से आचूषण द्वारा स्राव निकालकर प्रयोग शाला में बैक्टी रियोलौजीकल परीक्षण कराना चाहिए यही नहीं सैक्शन काटकर बायोप्सी करानी चाहिए। राजयक्ष्मा के उपसर्ग के ज्ञान हेतु ट्यूबर्किलीन टैस्ट करा सकते हैं।

लसपर्वो की वृद्धि ४ कारणों से पाई जाती है:—

१. व्रणशोथात्मक या इन्फ्लेमेटरी कारण—

इससे तीव्र लसग्रन्थिशोथ, जीर्ण लसग्रन्थि शोथ होते हैं ये शोथ पूयिक, श्लीपदिक, यक्ष्माजन्य, फिरंगजन्य, लिम्फोग्रेन्युलोमा, इन्ग्वीनेल (वंक्षण लसीका कणिकागुल्म) जन्य होते हैं।

२. अर्बुदात्मक या निओप्लास्टिक कारण—

इससे सुदमअर्बुद तो शायद ही बनते हैं दुर्दम प्राथमिक (लस संकटार्वुदीय) द्वितीयक (कैंसर, दुर्दम मैलानोमा तथा संकटार्बुद) मिलते हैं।

३. हाजकिनव्याधि—

४. लसीयश्वेतरक्तता या लिम्फैटिक ल्यूकीमिया—

अब नीचे सापेक्षनिदान की दृष्टि से उपर्युक्त लसपर्व शोथों का वर्णन किया जाता है।

लसीकाग्रन्थिपाक तीव्र—इसे ऐक्यूटलिम्फैडीनाइटिस कहा जाता है। इसमें लसपर्व फूल जाते हैं। दबाने से उनमें दर्द होता है तथा वे फिक्स हो जाते हैं अगर वे उपरिष्ठ हों तो उनके ऊपर की त्वचा में व्रणशोथ के चारों चिह्न ऊष्मा, विवर्णता, लालिमा, शोथ, वेदना मिलती है। पूय न होने पर दबाने से गर्त बनना किनारों पर और केन्द्र में स्पर्श तरंग मिलती है।

लसीकाग्रन्थिपाक जीर्ण—आरम्भ में इस रोग को ट्यूबर्क्युलस लिम्फैडीनाइटिस से पृथक् करना बहुत कठिन है। लसपर्व थोड़े ही बढ़ते हैं थोड़ा ही इनमें दबाने पर दर्द होता है अप से संसक्त हों या न हों पर होते कुछ इलास्टिक हैं। नंगे पैर चलने वाले श्रमिकों के वंक्षणस्थ लसपर्वो में तथा मुख की दूषणता तथा खोपड़ी के विक्षतों में ग्रैवलसपर्वो में जीर्णशोथ देखा जाता है।

आयुर्वेद में "अपची" नाम से जो वर्णन मिलता है वह यद्यपि सभी प्रकार की लसपर्व वृद्धि के लिए प्रयुक्त होता है पर उसका सम्बन्ध तीव्र और जीर्णलसीका ग्रन्थि शोथ या पाक के लिए भी स्पष्ट ही है—

हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धिमन्यागलेषूपचितन्तु मेदः।
ग्रन्थि स्थिरं वृत्तमथायतं वा स्निग्धं कफश्चाल्परुजं-
करोति ॥१॥

तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रैर्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः।
अनन्यवर्णैरुपचीयमानं चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति ॥१०॥
कण्डूयुतास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये।
मेदः कफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी ॥११॥

—सु० सं० निदान स्थान अ० ११

हनु की अस्थि, कक्षा, अक्षक, बाहु सन्धि, मन्या और गले में उपचित हुआ मेद और कफ स्थिर (फिक्स्ड), गोल या आयताकार और चिकिनी गांठें पैदा कर देता है उनमें थोड़ा-थोड़ा दर्द भी होता है। वही गांठें जब आमले की गुठली जैसी बड़ी और कड़ी, मछली के अण्डों जैसी इकट्ठी या अन्य आकार और वर्ण की अधिक उपचित और संचय के प्रकर्ष से अपची नाम दिया जाता है। ये थोड़ी वेदना वाली खुजली से युक्त तो होती ही हैं कभी-कभी फूट जाती हैं, उनसे स्राव बह निकलता है, कुछ नष्ट हो जाती हैं और कुछ नवीन बन जाती हैं। यह मेदोधातु और कफ दोष इन दोनों से बना हुआ रोग है। यह वर्षगणानुबन्धी (सालों साल) रहने वाला रोग है। इसे वाग्भट ने दीर्घकालानुवन्धि माना है।

लसीकाग्रन्थिशोथ यक्ष्माजन्य—इसे ट्युबर्क्युलस लिम्फेडीनाइटिस कहते हैं। इस लसीकाग्रन्थिशोथ या पाक में ग्रैव और आन्त्रनिवन्धिनी के लसपर्व सबसे अधिक प्रभावित होते हैं कक्षा के पर्वों पर भी प्रभाव पड़ता है पर वंक्षण लसपर्व प्रभावित कम होते हैं। हमने एक ४ वर्ष की लड़की की चिकित्सा ग्रैवलसपर्वशोथ के लिए १० वर्ष पूर्व की थी चिकित्सार्थ उसे रुदन्ती (कैपिना कम्पाउण्ड) स्वर्णवसंतमालती, सितोपलादिचूर्ण आदि आयुर्वेदीय यक्ष्माहर औषधियां दी थीं जब वह १४ वर्ष की हुई तो उसकी मां १ सप्ताह पूर्व यह कहकर लाई उसे हमने कहा था कि १० वर्ष बाद रोग पुनः उभर सकता है। इस बार उसकी वंक्षणस्थ लसीका ग्रन्थियों में शोथ और पाक ही नहीं था अपि तु उसे एक शीतविद्रधि बनकर शीतव्रण का रूप ले चुकी है। अस्तु, यक्ष्मा का प्रभाव शरीरस्थ किसी भी लसीका ग्रन्थि पर पड़ सकता है इसे न भूलना चाहिए। आयुर्वेद में अपची और गण्डमाला दोनों का प्रयोग एक साथ किया जाता है पर गण्डमाला यक्ष्माजन्य लसपर्वशोथ के लिए बहुत दिनों से प्रयुक्त शब्द है—

कर्कन्धु कोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवंक्षणेषु।
मेदः कफाभ्यां शिरमन्दपाकैः स्यादगण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः॥

तथा भोज के शब्दों में—

वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्।
जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून्॥
कुर्वन्ति ग्रथितांस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः।
तान् दोषान् ऊर्ध्वगो वक्षः कक्षमन्यागलाश्रितः॥
नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची स्मृता।
"तां तु मालाकृतिं विद्यात्कण्ठहृद्दहनुसन्धिषु"॥
गण्डमालां विजानीयाद् अपची तुल्यलक्षणाम्।

अपची किन परिस्थितियों में गण्डमाला बन जाती है जब माला के समान गण्ड या लसपर्व फूल-फूलकर गले को भर देते हैं गलमात्र एवं गण्डमाला। अपची व्रणशोथात्मक रोग है और गण्डमाला क्षयज या यक्ष्मा के उपसर्ग से ग्रसित लसपर्वों का रोग है। दोनों का अधिष्ठान लसपर्वों में है।

श्लैपदिक लसीकाग्रन्थिशोथ—इसे फाइलेरियल लिम्फेडीनाइटिस कहा जाता है। श्लीपद हो जाने पर वंक्षण के लसपर्वों पर जब श्लीपद कारक माइक्रोफाइलेरी का प्रभाव पड़ता है तब उनमें शोथ उत्पन्न हो जाता है। हर पन्द्रहवें दिन ज्वर का इतिहास और ज्वर के समय ही वंक्षण के लसपर्वों में वेदना की वृद्धि दबाने पर दर्द और शोथ का उत्पन्न होना देखा जाता है। वृषणरज्जु और वृषण कोष में भी दर्द शोथ आदि उसी प्रकार देखा जाता है। उसी के साथ लसवाहिकाओं का विस्फार वंक्षण प्रदेश में पाया जा सकता है वृषण का चर्मस्थूल होते जाना रक्त परीक्षण पर ईओसिनोफिलिया मिलना रात्रि में रोगी के सो जाने पर रक्त निकाल परीक्षण करने पर माइक्रोफाइलेरिया का पाया जाना तथा जीव ऊतक परीक्षा में श्लीपद की पुष्टि से श्लैपदिक लसपर्वपाक की

भी पुष्टि हो जाती है। इस विषय में आयुर्वेदीय निदान भी सटीक ही है—

यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदंस्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपिकेचिदाहुः॥

फिरंगज लसीकाग्रन्थिशोथ—फिरंग का उपसर्ग लगने पर आरम्भ में लसपर्व फूल तो जाते हैं पर उनमें वेदना नहीं होती। वे अलग-अलग कड़े स्थिर और बन्दूक की गोली जैसे पाये जाते हैं उनमें पूयन नहीं होता। जननेन्द्रियबाह्य शैंकर जो ओष्ठों, वक्ष आदि के लसपर्वो पर बनते हैं वे काफी बड़े होकर संसक्त हो जाते हैं। फिरंग की द्वितीयावस्था में लसपर्वों की सर्वाङ्गीण वृद्धि होती है यहां तक कि एपिट्राक्लियर तथा आक्सिपिटल लसपर्व भी वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं तृतीयावस्था में शायद ही लसपर्वों पर कोई प्रभाव पड़ता हो। फिरंग के अन्य लक्षणों तथा वासरमेन प्रतिक्रिया या काहन कसौटी द्वारा फिरंग की पुष्टि कर लेनी चाहिए।

हाज्किन व्याधि—हाजकिन्स डिजीज या लिम्फैडीनोमा लसग्रन्थि अर्बुद किशोरों का रोग है जो जवानों में भी मिल जाता है। इस रोग में लसपर्वों के सभी वर्ग लपेट में आ जाते हैं। पहले इसका प्रभाव ग्रैव लसपर्वों पर पड़ता है। लसपर्व बढ़ने लगते हैं वे इलास्टिक या रबर जैसे हो जाते हैं। वे सभी अलग-अलग रहते हैं संसक्त होने की उनमें प्रवृत्ति नहीं होती। न वे मृदु होते न उनमें पूय होता है। जब वे फूल-फूलकर बहुत पास आ जाते हैं तो वे संसक्त जैसे हो जाते हैं। उनके भार के दबाव के कारण कई पीडन लक्षण पाये जाते हैं जिनमें निगलने में या श्वास लेने में कठिनाई का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस रोग में प्लीहावृद्धि, यकृद्-वृद्धि, रक्तक्षय, विशेष प्रकार का ज्वर जो ३ दिन में चढ़ता है ३ दिन रहकर ३ दिन में उतरता है (पैलएवसटीन टाइप आफ फीवर) मिलता है ९ दिन बाद फिर ज्वर का वही चक्र चलता है।

लिम्फैटिक ल्यूकीमिया—यह रक्त कैंसर है इसमें लसपर्व और प्लीहा दोनों की खूब वृद्धि होती है, रक्त में लसी कोशिकाओं और उनके पूर्वजों की अपरिमित वृद्धि होती है।

वंक्षण लसीकणिका अर्बुद या लिम्फो ग्रैन्युलोमा इन्वीनेल यह एक प्रकार का रतिज रोग है। इसमें लसपर्वों में शोथ होकर पूयन और व्रणन होकर नाड़ीव्रण या सायनस तक बन जाता है। फ्राईटैस्ट द्वारा इसकी पुष्टि की जाती है।

द्वितीयक कार्सीनोमा—कहीं पर भी कैंसर होने पर उसका बीज लस वाहिकाएं बहा लाती हैं और लसपर्वों को उसकी लपेट में ले आती हैं लसपर्व फूल जाते हैं और त्वचा से संसक्त हो जाते हैं। इस रोग में ये पत्थर जैसे कठोर बराबर रहते हैं शुरू में दर्द नहीं होता पर बाद में बहुत दर्द होता है। अगर ध्यान न दिया गया तो उनमें फंगेशन हो जाता है।

दुर्दम मैलानोमा—यह भी द्वितीयक स्वरूप का ही उपसर्ग होता है। इसमें द्वितीयक कार्सीनोमा से कहीं अधिक द्रुत गति से लसपर्व फूलते हैं उतने कठोर भी नहीं होते टूटने या तोड़े जाने पर उनसे काला वर्णक निकलता है।

लिम्फोसार्कोमा या लसीसंकट—यह रोग नई उमर वालों को होता है। उनके ग्रैव लसपर्व अपना अण्डाकार आकार त्याग कर बेडौल और बड़े पुंज का रूप ले लेते हैं उनके ऊपर की त्वचा पतली, चमकीली तथा उसकी नीली सिराएं फैली हुई चमकने लगती हैं।

कोथ या गेंग्रीन

अगर कोई कोथ या ग्रेंगीन से पीड़ित रोगी मिल जाय तो उससे निम्नांकित बिन्दुओं पर विचार किया जाना चाहिए :—

१. आयु और लिंग—पुरुषों में ५० वर्ष के ऊपर जराजन्य कोथ पैदा होता है, रोधकघनास्रवाहिका कोथ (बर्जर व्याधि) भी पुरुषों में ही होती है पर ४० वर्ष की आयु के नीचे, रेनोड व्याधि का आक्रमण तरुणियों में होता है।

२. प्रभावित अंग—कोथ का किस अंग पर प्रभाव पड़ रहा है इसे भी देखा जावे। जराजन्य कोथ और

वर्जर व्याधि का प्रभाव निचले अंगों पर पड़ता है रेनोड रोग का प्रभाव हाथों की अंगुलियों के अग्रभाग पर विशेष होता है।

३. कोथ किस ओर है—दोनों ओर या एक ओर कोथ है इसे भी देखें। क्योंकि रेनोड व्याधि दोनों ओर तथा वर्जर व्याधि भी दोनों ओर मिलती है। जरठ कोथ एक या दोनों ओर हो सकता है पर अन्तःशल्य के द्वारा अवरोध होकर कोथ एक ही ओर मिलता है।

४. रोगारम्भ कैसे हुआ—क्योंकि वृद्धावस्था का कोथ थोड़े से अभिघात से भी उत्पन्न हो सकता है। अन्तः शल्यजन्य कोथ के पहले अवरोध स्थल से नीचे धमनी के पूरे मार्ग में तेज दर्द अनुभव किया जाता है। रेनोड की व्याधि में रोग के कई-कई दौरे पड़ते हैं। हर दौरे में पहले हाथ-पैर ठण्डे पड़ जाते हैं वे तोदयुक्त और स्तम्भित हो जाते हैं और सफेद पड़ जाते हैं। बाद में वहां स्थानीय रूप में प्राणवायु की कमी से नीलापन या श्यावता आ जाती है। बर्जर की व्याधि में सविराम लंगड़ापन (इंटरमिटेंट क्लॉडीकेशन) पहले आरम्भ होता है। अर्थात् पैर की पिण्डली में चलते चलते अकड़ (क्रैम्प) आती है जो यह बताता है कि रक्त-संवहन बहुत कम हो रहा है धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी देर पर पैर में गट्टा सा बन जाता है और चलना दूभर हो जाता है आगे तो विश्रामकाल में जब कोई हलचल पैर नहीं करता तब भी पैर में दर्द होता है इसे विश्रामी वेदना (रैस्टपेन) कहते हैं।

५. पूर्व इतिवृत्त का ज्ञान भी जरूरी होता है। रोगी जिसे कोथ (कैंक्रम ओरिस) हुआ है वह काला-आजार या मन्थर ज्वर से तो पीड़ित नहीं हुआ। रोगी मधुमेही तो नहीं है या उसे तेज गर्मी (लू) या तेज सर्दी (शीतदंश) का शिकार तो नहीं होना पड़ा है। अन्तः-शल्य (ऐम्बोलिज्म) के द्वारा कोथ पैदा होने वाले रुग्णों में हृद्रोग या आमवातज हृद्रोग का इतिहास मिला करता है।

शारीरिक परीक्षण करने पर गैस गेंग्रीन के रुग्णों में H_2S की बदबू आती है उनका टैम्प्रेचर बढ़ जाता है। नाडी की गति भी बढ़ी होती है चेहरे पर खास शिकन पड़ जाती है।

स्थानिक परीक्षण—जिस अंग में कोथ उत्पन्न होने को होता है वह अंग या शाखा पाण्डुर (पेल) हो जाती है। कोथ जहां हो जाता है वह कितने बीच में है और उसका रंग क्या है यह देखना चाहिए। वहां से कोई स्राव हो रहा हो या फफोला पड़ गया हो या कोई भाग फूल गया हो तो उसे ध्यान से देखना चाहिए। यह भी देखे कि कोथ सूखा है या गीला और सड़ा हुआ। गैस कोथ में रक्तस्राव नहीं होता विशेष गन्ध आती रहती है पेशियां पहले चमकीली लाल फिर हरी और फिर काली पड़ जाती हैं यह विवर्णता रोग की वृद्धि के साथ एक के बाद एक क्रम में आती रहती है।

कोथवाली मृतऊतक और जीवित ऊतक के बीच एक रेखा बन जाती है। यह रेखा जराजन्य कोथ में अस्पष्ट होती है पर अन्य कोथों में सुस्पष्ट होती है। यह रेखा कहां है कितनी गहरी है त्वचा तक है या पेशी तक या हड्डी तक इसे भी चिकित्सक द्वारा समझ लेना चाहिए। इस रेखा के बाहर के सजीव ऊतक की स्थिति भी देखनी चाहिए कि वह पाण्डुर है या रक्तयुक्त या शोथ-युक्त है।

दर्शन के बाद परिस्पर्शन स्थानिक परीक्षा का मुख्य अंग है। संभावित कोथ में छूने से अंग शीतल और सुन्न होता है। फिर धीरे-धीरे उस स्थान से हटकर ऊपर की ओर छूकर मालूम करे कि कहां से वह फिर उष्ण स्पर्श वाला हो गया है यहां दबाने से दर्द होता है या नहीं। गैसकोथ में धीरे से दबाने पर वहां एक विशेष कर्कर (क्रिपीटस) मिलता है। सूखे कोथ में कोथवाला भाग ठण्डा सूखा और कड़ा हो जाता है वहां कोई संज्ञा नहीं होती वह भाग सिकुड़ भी जाता है। गीले कोथ में वह फूला हुआ कर्कर शब्दयुक्त या रहित भी मिलता है।

रक्तवाहिकाओं का परीक्षण—कोथ के हर रोगी की रक्तवाहिनियों की परीक्षा परम आवश्यक मानी जाती है उस क्षेत्र को आने वाली सभी धमनियों का परिस्पर्श करके यह मालूम करना चाहिए कि रक्त संवहन कहां पर बन्द हो गया है। पैर में रक्त का संवहन डॉर्सलिस पीडिस धमनी को दबाकर, पिण्डली में पोस्टीरियर टिबियल धमनी को दबाकर तथा पूरी टांग का संवहन जानुसन्धि

के पीछे पॉप्लीटियल धमनी या औरवीं (फेमोरल) धमनी
को दबाकर मालूम करते हैं। बाहु और हाथ के लिए
रेडियल धमनी, अलनर धमनी तथा ब्रैकियल धमनी का
स्पर्श करते हैं। धमनियों को दबाते समय उनमें रक्त का
आयतन और तनाव देखना चाहिए। धमनी प्राचीर कड़ी
है या मृदु धमनी या सिरा में घनास्र तो नहीं है या धमनी
के मार्ग में कोई और अवरोध तो नहीं है इसे जानना
चाहिए। कभी-कभी जब नाड़ी दुर्बल या बन्द होती है
चिकित्सक को अपनी अंगुलि का रक्तसंवहन भी भ्रम पैदा
कर देता है जैसे एक खड़ी हुई रेल का यात्री दूसरी
चलती हुई गाड़ी को देख यह अनुभव करने लगता है कि
उसकी रेल चल रही है। इसलिए जब चिकित्सक रोगी
की बन्द या कम चलती धमनी का स्पर्श करे तो दूसरे
हाथ से रोगी के हाथ की नाड़ी भी देखनी चाहिए।

रेनोड व्याधि के ज्ञान के लिए दो पात्रों में अलग-
अलग ठण्डा और गरम पानी भर लेते हैं। पहले रोगी को
बर्फ जैसे ठण्डे पानी में डलवाते हैं इससे रोगी को रोग
का दौरा शुरू हो जाता है और हाथ को गरम पानी के
पात्र में डुबोया जाय तो उसका रंग श्वासावरोध के कारण
श्याव या नीला पड़ जाता है।

कभी-कभी पृष्ठवंश में ग्रैवपर्शुका (सर्वाइकल रिब)
बन जाने से तथा उसका दबाव पड़ने से हाथ के मध्य-
वर्ती भाग में तोद, सुन्नता होकर हाथ की छोटी पेशियां
क्षीण हो जाती हैं। अब हाथ को नीचे की ओर खींच कर
मालूम किया जाय कि तोद (टिंगलिंग) और सुन्नता
(नम्बनैस) घटती या बढ़ती है तथा हाथ की कलाई पर
नाड़ी कम या लुप्त हो जाती है तो रोग की पुष्टि में
आसानी रहती है।

प्रायः नर्वस सिस्टम में कहीं अभिघात होने से भी
कोथ बन जाता है अतः विविध वातनाड़ियों (नर्वो या
तन्त्रियों) की भी स्वस्थता की जांच कर लेनी चाहिए।
आस-पास के लसपर्वों का निरीक्षण करना भी उचित
होता है।

सर्वांगीण परीक्षण में हृदय की जांच हृदय
की मर्मर ध्वनि (यह अन्तः शल्यात्मक कोथ में
मिलती है) धमनियों की कठोरता की जांच, रक्तदाब
नापना तथा हृदय का विस्फारण कितना हुआ है यह
सब देखना चाहिए। रक्त और मूत्र का परीक्षण भी
आवश्यक होता है।

विशिष्ट परीक्षण—

बुर्गर टैस्ट या बर्जर टैस्ट— बर्जर व्याधि से पीड़ित
रोगी को पीठ के बल लिटा दें जिस पैर में रोग हो उसे
सीधा खड़ा करावें। अगर २-३ मिनट के बाद पैर का
रंग पाण्डुता (पेलोर) युक्त हो जाय, सफेद पड़ जाय तो
रोग पुष्ट मानना चाहिए। क्षैतिज सीमा से नीचे टांग
लाने पर उसमें श्यावतायुक्त रक्ताधिक्य हो जाता है।
उसके बाद जिस कोण पर क्षैतिज (हौरीजण्टल) धरातल
से नीचे लाने पर पैर में लालिमा लौट आती है उसे
रक्तसंचरण क्षमता का कोण कहते हैं।

औसीलोमीटर का उपयोग— इस यन्त्र को धमनी
स्पन्दन नापते हैं यह स्थान-स्थान पर रखा जाता है।
जहां स्पन्दन कम होता है उसे बता देता है।

क्ष-किरण चित्रण— इससे गैस कोथ के बबूलों और
धमनी दार्ढ्य का ज्ञान किया जाता है।

वासोस्पाज्म या वाहिकाआकर्ष का ज्ञान—
रेनोड व्याधि में तथा बर्जर व्याधि के आरम्भ में रक्त-
संवहन में अवरोध का कारण वाहिनियों में आकर्ष या
स्पाज्म का पैदा होना होता है बाद में वाहिनियों में
परिवर्तन हो जाते हैं। वाहिनी आकर्ष रोकने के लिए
अनुकम्पी तन्त्रिकोच्छेदन या सिम्पैथैक्टोमी की जाती है।
रोकने के लिए अनुकम्पी तन्त्रिकोच्छेदन या सिम्पैथैक्टोमी
की जाती है। रोग का कारण कितना यह आकर्ष है और
कितना अंगों की विकृति है इसे जानने के आज कुछ
उपाय किये जाते हैं। इनमें एक है ब्राउन का वासोमोटर
इण्डैक्स परीक्षण। इसमें रोगी को कम्बलों में दबाकर या
टायफाइड वैक्सीन का इंजैक्शन देकर और नर्व ब्लाक
करके उसे गरम किया जाता है फिर उसकी त्वचा का
टैम्प्रेचर पढ़ लेते हैं उसी समय मुख का टैम्प्रेचर भी पढ़
लिया जाता है। सूत्र यों है—

ब्राउनी वाहिका प्रेरक सूचकांक =

$$\frac{\text{त्वचा के टैम्प्रेचर की वृद्धि} - \text{मुख के टैम्प्रेचर की वृद्धि}}{\text{मुख के टैम्प्रेचर की वृद्धि}}$$

यह सूचकांक की ३·५ या उससे ऊपर न हो तो
सिम्पैथैक्टोमी नहीं की जानी चाहिए।

कोथ का निदान निम्न विन्दुओं से किया जाता है।

(i) टैम्प्रेचर (तापमान) की कमी।

(ii) विवर्णता (रंग का वदल कर पाण्डुर, नीला, श्याव, बैंगनी या काला पड़ जाना)।

(iii) नाड़ी स्पन्दन का अभाव।

(iv) संज्ञाहीनता (सेंजेशन का अभाव)।

(v) क्रियाहीनता।

सामान्यत: २ प्रकार के कोथ होते हैं एक शुष्क कोथ (ड्राई गेंग्रीन) दूसरा आर्द्रकोथ (मॉइस्ट गेंग्रीन)। शुष्ककोथ में अंग सूखा, कड़ा, झुर्रीदार और ममीयित हो जाता है। आर्द्र कोथ में अंग उच्छून (फूला हुआ) गीला-गीला सड़नयुक्त हो जाता है जिसमें गैस भी वन जाती है।

कोथ की उत्पत्ति के निम्नांकित कारण विद्वानों ने गिनाए हैं :—

(क) ताप रासायनिक कारण—ऊष्मा, शीत (हिम–तुषार आदि), क्षोभक द्रव्य, क्षकिरण, रेडियम।

(ख) मधुमेह

(ग) हृद्वाहिकीय रोग—अन्त:शल्य, जरठता, अर्गटविषता, रेनोडव्याधि, वर्जरव्याधि।

(च) औपसर्गिक कोथ—फोड़ा, फुंसी, कार्बंकल, कैंक्रम ओरिस, शल्यकर्मोत्तर कोथ।

(ङ) अभिघातज—प्रत्यक्ष जब कोई अंग कुचल जाय, अप्रत्यक्ष जब प्रमुख धमनी कुचल जाय।

(च) वातव्याधियां—परिसरीय वातनाड़ी शोथ, गलित कुष्ठ, पक्षाघात, ऊरुस्तम्भ, टेबीज डॉर्सेलिस, सिरिंगोमाइलिया।

कोथ का सापेक्ष निदान

यहां विविध प्रकार के कोथों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है शेष अन्य निदान ग्रन्थों में देखें।

रेनोड व्याधि—यह तरुणियों का रोग है इसमें दोनों हाथ की अंगुलियां प्राय: प्रभावित होती हैं अंगूठा बच जाता है रोग के दौरे पड़ते हैं प्रत्येक दौरे में तोद, सुन्नता और विवर्णता ये ३ लक्षण मिलते हैं जिसे लोकल सिंकोपी कहते हैं। उसके बाद दर्द और श्यावता (सायनोसिस) आती है जिसे लोकल ऐस्फिक्सिया कहते हैं। उसके बाद रोगिणी स्वस्थ हो जाती है। ये दौरे बार-बार आते हैं जब तक कि अंगुलियों के पोरों पर रक्तक्षय जन्य व्रणन नहीं हो जाता इसे लोकल गेंग्रीन (स्थानिक कोथ) कहा जाता है। इसमें नाड़ी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रोगियों को पसीना बहुत परेशान करता है। इस रोग मे मांजिष्ठमेह (हीमोग्लोबिनूरिया), दृष्टिमान्द्य, एकांगघात, पक्षाघात के उपद्रव मिलते हैं जो वृक्कगत दृष्टिपटलगत तथा मस्तिष्कगत धमनियों के आकर्ष (स्पाज्म) के कारण वनते हैं।

वर्जर व्याधि—इसे थ्रांम्बो ऐंजाइटिस ऑब्लीटरेन्स भी कहते हैं। यह ४० वर्ष से नीचे के पुरुषों में होती है। पहले निचले अंगों में एक तरफ होकर फिर दूसरी तरफ होती है। इसका पहला लक्षण टांग में दर्द तथा कभी-कभी लंगड़ा कर चलने की प्रवृत्ति वाद में यह दर्द विश्राम काल में भी होता रहता है। आसन परिवर्तन के साथ टांग का रंग वदलता रहता है। पैर उठाने पर पाण्डुता और नीचा करने पर अधिरक्तता मिलती है। धीरे-धीरे नाड़ी दुर्वल हो जाती है और पैर में कोथ उत्पन्न हो जाता है।

मधुमेहजन्य कोथ—डा० नाग ने इस कोथ के ३ कारण दिये हैं—(अ) अभिघात तथा उपसर्ग के प्रति कम प्रतिरोध होना ऊतकों में शर्करा की उपस्थिति होने से; (आ) धमनी दार्ढ्य; (इ) मधुमेह जन्य परिसरीय तन्त्रका शोथ जो पोषण के कार्य में वाधक होता है यह कोथ प्राय: आर्द्र ही होता है जब तक कि धमनी दार्ढ्य रूप कारण उसे शुष्क में न वदल दे।

अन्त: शल्यजन्य कोथ—अन्त: शल्य के कारण धमनी का अवरोध हो जाने से कोथ वनता है।

ग्रैवपर्शुका या सर्वाइकल रिब—महिलाओं पर इसका प्रभाव विशेष होता है। धीरे-धीरे स्कन्ध मेखला झोलदार हो जाती है यह झोल रोग या दुर्वलता के कारण किसी भी नवयुवती में उत्पन्न हो जाती है क्योंकि-

यल प्लैक्सस का सबसे निचले ट्रंक पर जब दबाव पड़ता है तो उसके साथ ही ऊपरी शाखा को जाने वाले अनुकम्पी तन्त्री सूत्र भी दब जाते हैं। संज्ञावाही वातनाड़ियों (तन्त्रियों) के दबने से तोद और सुन्नता आती है तथा चालक नाड़ी तन्तुओं के दबने से नखर हस्त (क्लौ हैण्ड) हो जाता है। पर अनुकम्पी नाड़ी सूत्रों के दब जाने से वाहिकाप्रेरक क्रिया पर प्रभाव पड़ता है जिससे रक्त संवहन में गड़बड़ी हो जाती है और हाथों से पसीना अधिक आता है तथा कोथ उत्पन्न हो जाता है। क्षकिरण चित्र से इस पर्शुका की पुष्टि होती है।

तन्त्रिका रोग और कोथ—तन्त्री या नर्व में रोग हो जाने से संज्ञा का ज्ञान होना बन्द हो जाता है तथा नर्व द्वारा जो पोषक प्रभाव होता है वह भी नष्ट हो जाता है इस कारण रोगी को कभी भी कड़ा आघात लग सकता है जो कोथ पैदा कर सकता है। इस प्रकार का कोथ वेदना रहित और वृद्धिगत होता है अर्थात् तेजी से फैलने लगता है। सिरिंगोमाइलिया जिसमें सुषुम्ना में गुहा बनने लगती हैं रोगी के दोनों हाथों की अंगुलियों पर एक साथ प्रभाव पड़ता है पहले वहां वेदनाहीन चिप्प (ह्विटलो) बनता है फिर वहां ताप और संज्ञा का ज्ञान नहीं रहता स्पर्श ज्ञान रहता है फिर वहां पेशीक्षय शुरू होता है। टेवीज से पीड़ित रोगी के पैर में अपोषण जन्य व्रण बन जाता है जिसके चारों ओर कोथ उत्पन्न हो जाता है।

औपसर्गिक कोथ—इसके ४ उदाहरण दिये जाते हैं

१. फुंसी और कारबंकल—

२. कैंक्रम ओरिस—यह काला आजार, खसरा या मन्थर ज्वर के बाद बच्चों के मुख में होती है। पहले मुख पाक होता है फिर बहुत अधिक होठों और गालों में मृत ऊतक बनने लगता है। कभी-कभी गाल पूरा का पूरा गल जाता है और गाल नीचे के जबड़े से चिपक जाता है जिससे अधोहन्वस्थि की हिलचाल बन्द हो जाती है।

३. गैस गेंग्रीन—यह उन अकस्मातों में अधिक देखी जाती थी जो सड़कों पर होते हैं खासकर कम्पाउण्ड फ्रैक्चरों में। इसका आरम्भ एक दम होता है साथ में ज्वर उलटियां तथा घाव में दर्द चालू हो जाता है। घाव खोलते ही एक विशेष दुर्गन्ध आने लगती है पूरा अंग या शाखा सूज जाती है पेशी पर दबाने से कर्कराहट होती है। इन प्रभावित पेशियों का रंग ईंटिया लाल या हरा या काला (अवस्थानुसार) होता है। क्षकिरण चित्र में गैस के बबूले मिलते हैं बाद में विषाक्त असर होकर मृत्यु तक हो जाती है। मरने तक रोगी की संज्ञा यथावत् रहती है।

परिसरीय वातव्याधि परीक्षण

पेरिफरल नर्व लीजन्स को परिसरीय वातव्याधियां कहा जा सकता है। आयुर्वेद में वातव्याधियों का तो बहुत महत्त्व बतलाया गया है पर उनके निदान की ओर वैसा विचार नहीं किया गया जैसा कि आधुनिक चिकित्सा वेत्ताओं ने किया है। यहां हम संक्षेप में इस विषय का विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। अधिक के लिए पाठकों को एतद्विषयक मार्डन ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए और रोगियों पर प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिए।

नर्व का नया शब्द जो आधुनिक हिन्दी शब्दाचार्यों ने खोज निकाला है वह तन्त्री है जिसे तन्त्रिका भी कहते हैं। पर आयुर्वेद में वातव्याधियों का सारा का सारा वर्णन तथा वायु के भेदों और कार्यों का विवरण नर्वससिस्टम के साथ बहुत अधिक सम्बद्ध होने से हम इस प्रकरण में कहीं वात नाड़ी कहीं तन्त्रिका कहीं केवल वात का ही उल्लेख कर रहे हैं।

वात नाड़ियों के रोग या विक्षत (लीजन्स) प्रायः अभिघात के द्वारा बना करते हैं। तीसटाचार्य लिखते हैं।

व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनात् भंगात्क्षयात्जागरात्।
वेगानां च विधारणादतिशुकः शैत्यादतित्रासतः॥
रूक्षक्षोमकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्।
वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥

अर्थात अधिक व्यायाम, लंघन, गिरजाने, अंग के टूट जाने, अंग के क्षीण हो जाने, जागने, वेगों को रोकने, अधिक शोक करने, ठंडक, अधिक त्रास के कारण या क्षोभ करने, रूक्ष, कषाय, तिक्त, कटु द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करने से वायु का प्रकोप होता है। यह वायु वर्षा

के आरम्भ में आकाश में बादल छा जाने पर. अन्न पचने के बाद तथा अपराह्न में जब सूर्य ढलने लगता है अधिक उग्ररूप धारण करता है।

आधुनिक अभिघात या ट्रौमा को इसका प्रमुख कारण मानते हैं इस अभिघात के परिणामस्वरूप जो व्रण बनता है या भग्न होता है अथवा मोच आ जाती है ये सभी अवस्थाएं वातव्याधिकारक मानी जाती हैं। दुर्दमअर्बुद के लपेट में तन्त्रिका आ जाने से रोगग्रस्त हो जाती है। कभी-कभी कलाई पर कांच के टुकड़ों से कट जाने से भी तन्त्रिकीय विक्षत बन जाते हैं। मूढगर्भ के कारण भी नवजातशिशु वात रोग से पीड़ित हो सकता है कभी-कभी चोट लगने के कई महीने बाद भी नर्व में या नर्व के पूरे पथ में दर्द हो जाता है।

इसलिए किसी भी वात रोग का निदान करते समय उसे चोट या अभिघात का इतिवृत्त अवश्य मालूम कर लेना चाहिए। चोट लगने के बाद व्रण का बनना पूयन का होना आदि का भी पता लगा लेना भिषिक् का आवश्यक कर्त्तव्य होता है। कभी-कभी क्षोभक द्रव्यों के इंजैक्शन से भी नर्वलीजन बन जाते हैं। इसके साथ ही रोगी शराबी तो नहीं है या उसे मधुमेह तो नहीं है या कहीं सीसा या संखिया की खान में तो काम नहीं करता इसका भी पता लगा लेना परम उपादेय माना जाता है क्यों कि उससे रोग के निदान तक सरलता से पहुँचा जा सकता है।

वातव्याधि से पीड़ित कोई भी रोगी मिले सबसे पहले उसकी "स्थानिक परीक्षा" करनी चाहिए। इसके लिए रोगी को भले प्रकार अवलोकन करना चाहिए। कोई पेशी सूख तो नहीं रही या हाथ का अंगूठा या अंगुलियां या पूरा हाथ अपनी प्राकृत स्थिति से कितना अलग स्थिति बनाए हुए है। नरबर हाथ या क्लौहैण्ड अल्नरनर्व

के विक्षत में बनता है। मीडियननर्व के विक्षत में तर्जनी मुड़ती ही नहीं तथा अंगूठा भी अलग रहता है। अगर रोगी से कहें कि वह अपने हाथ में फाउण्टेनपेन पकड़े तो वह निम्नांकित चित्र की तरह पकड़ता है। रेडियलनर्व के
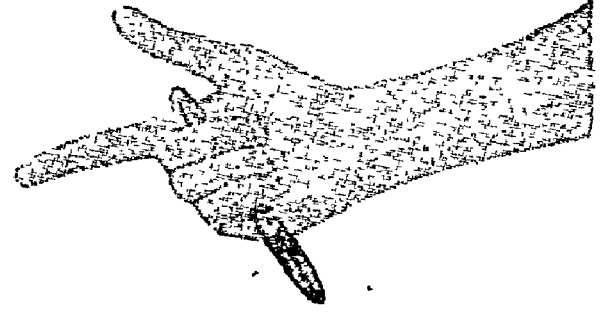
विक्षत होने पर मणिवन्ध स्रंस (रिस्टड्रॉप) हो जाता है। इसी प्रकार पादस्रंस (फुटड्रॉप) भी आघातज होता है। अगर रोगी को दीवाल पर अपने दोनों हाथ टिकाने और जोर लगाने को कहा जाय तो उसकी पीठ पर अंसफलक चिड़िया के पंख की तरह खड़ा हो जाता है मूढगर्भ में
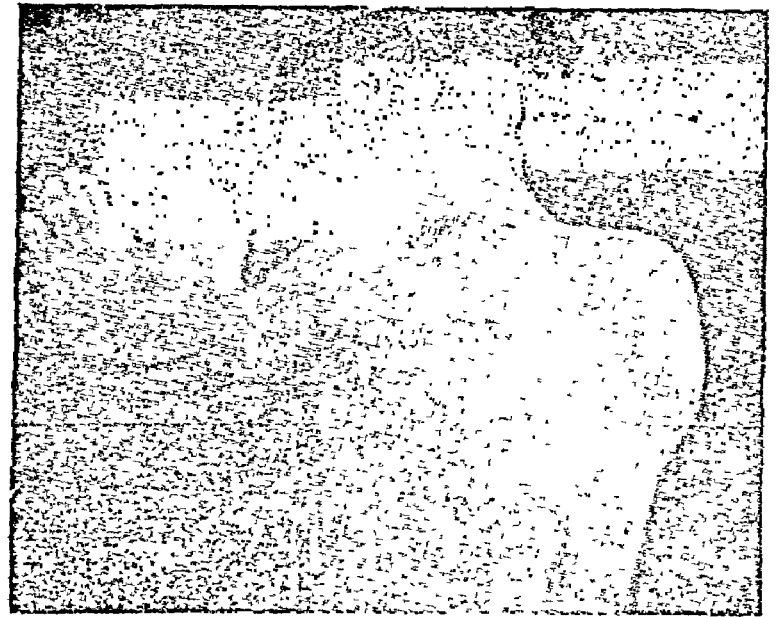
प्रसवकर्म से आघात पाकर कभी-कभी अर्ब पैरैलाइसिस बन जाती है जिसमें एक हाथ लटक कर अन्दर की ओर मुड़ जाता है और मुट्ठी पीछे की ओर चली जाती है जिसे डाक्टर नाग ने रिश्वत लेने वाले पुलिसमेन की मुद्रा से उपमा दी है। इन सब चित्रों में रोगी की विकृति और उसकी संस्थिति का पता चलता है। उसीके साथ कौन पेशीक्षीण हो रही है उसे भी देखना चाहिए। जिस अंग

की नर्व का घात हो जाता है उसकी त्वचा रूक्ष हो जाती है सूख जाती है उसके फोल्ड लुप्त होकर वह चमकने
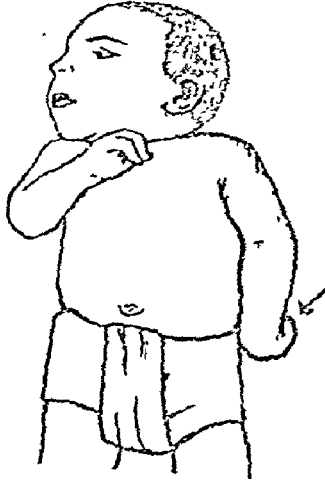
लगती है। पर जब विक्षत पूरा नहीं बनता तो बहुत मात्रा में पसीना निकलता रहता है। क्षोभक विक्षत बनने पर वाहिकाप्रेरक (वासोमोटर) परिवर्तन मिलने लगते हैं ये हैं—पाण्डुता, श्यावता, लालिमा, स्वेदाधिक्य तथा पोषक त्रुटि (ट्रोफिक डिस्टर्वेंसेज) अर्थात् त्वचा का शल्की और चमकदार होना; नाखूनों पर उभार होना या उनका अधिक भंगुर हो जाना, अंगुलियों के पोरों से उपत्वक्वसा घट जाने से उनका शंखाकार या नुकीला हो जाना आदि लक्षण प्रायः मिलजाते हैं। इसी समय पैर के तलवों में प्रथम और पंचम मैटाटार्सल अस्थियों के नीचे अपोषणज (ट्रोफिक) व्रण की खोज भी की जानी चाहिए।

स्थानिक परीक्षण में दर्शन परीक्षा के बाद परिस्पर्शन किया जाता है। जिस अंग में पैरैलाइसिस या घात होता है वह अंग उसके दूसरे अंग से अपेक्षाकृत अधिक ठण्डा होता है अगर घातग्रस्त पेशियों को दवा-दवाकर अनुभव किया जाय तो वे स्वस्थ पेशियों की अपेक्षा अधिक लुचलुची, पतली और मृदु होती हैं। दवाने पर पेशियों में दर्द होता है या नहीं इसे भी जानना चाहिए। जिन पेशियों का पूरा-पूरा घात नहीं हो पाता उनमें दर्द मिलता है, शेष बिल्कुल वेदना विहीन होती हैं।

वातनाड़ियों के घात का सही-सही ज्ञान तो उन पेशियों की गतियों का परीक्षण करने से होता है जिन्हें वे सप्लाई करती हैं। कभी-कभी खासकर जोड़ों पर दूसरी नर्वों से सहायता पाकर वे कार्य पेशियां कर देती हैं जो अकेली उस नर्व के घात से सम्भव नहीं होते इस तथ्य को ध्यान में रखकर केवल उन्हीं पेशियों के कार्य की परीक्षा की जानी चाहिए जो केवल उसी वातनाड़ी से पूरित होते हों। नीचे कुछ नर्वों या वातनाड़ियों की क्रियाशक्ति के परीक्षण पर लिखा जा रहा है—

अधोशाखा की नाड़ियां—

गृध्रसीनाडी (शियाटिकनर्व)—इस नाड़ी के घात से घुटने के नीचे की सभी पेशियों की क्रिया खतम हो जाती है पर जब तक घात अपूर्ण रहता है तब तक 'वाह्यजानु पृष्ठनाड़ी" ही लपेट में आती है उसके कारण रोगी पैर को जरूरत से ज्यादा ऊंचा उठाकर विशेष प्रकार से चलता है इसमें अग्रटिवियल पेशी तथा पैरोनियल पेशियों के घात से पैर उन्नत अन्तर्गत टैलीपेज या टेलीपेज एक्वीनोवेरस की स्थिति में आ जाता है जिससे रोगी अपने गुल्फ का अभिपृष्ठीय आकुंचन डोर्सीफ्लैक्सन नहीं कर पाता तथा पैर का बाहर की ओर घुमाव (वहिर्वर्तन) भी संभव नहीं होता। "पश्च अन्तर्जंघिका नाड़ी" जिसे पोस्टीरियर टिबियल नर्व कहते हैं उसके अपूर्ण घात में चलते समय पैर की एड़ी पहले धरती पर आती है। पूर्ण घात होने पर पैर विरूप हो जाता है और पार्ष्णिवहिर्नत टैलिपेज (कैल्केनियो वाल्गस टैलीपेज) बन जाता है जिससे उन्नत चापपाद की स्थिति बन जाती है जिसके फलस्वरूप रोगी अपने पैर (फुट) और पैर की अंगुलियों का आकुंचन नहीं कर पाता।

ऊर्ध्वशाखा की नाड़ियां—

मीडियन नर्व—यह नाड़ी अनेक पेशियों का सिंचन करती है इस कारण इसकी ठीक-ठीक परीक्षा के लिए केवल ३ पेशियों की क्रियाएं उसकी स्वस्थता या घात का पूर्ण ज्ञान दे देती हैं। इनमें एक है ऐब्डक्टर पोलिसिस ब्रीविस (लघु अंगुष्ठापवर्तनी) पेशी। यह पेशी हाथ के अंगूठे को हथेली से अलग समकोण बनाती हुई ले जाती है। इसकी परीक्षा करने के लिए लेखनी परीक्षा की जाती है। रोगी का हाथ हथेली ऊपर करके मेज पर फैला दिया जाता है। रोगी चित्र में प्रदर्शित ढंग पर लेखनी

को अंगूठे से छूने की कोशिश करता है। यदि वह लेखनी न छू सके तो मीडियननर्व में घात मानना चाहिए।
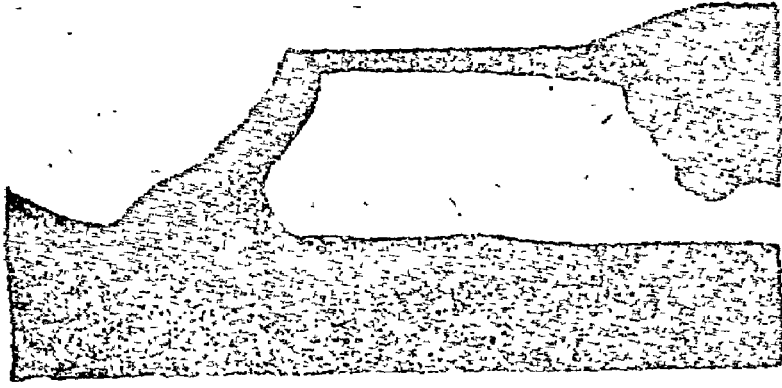
दूसरी पेशी है अंगुष्ठव्यावर्तिका या अपोनेन्स पोलिसिस। जब मीडियननर्व में घात होता है तो रोगी अंगूठे की नोंक से अंगुलियों के सिरों को छूने में असमर्थ हो जाता है। तीसरी पेशी है लघु अंगुष्ठ आकुंचनी (फ्लैग्जर पोलिसिस ब्रीविस) मीडियननर्व के घात में रोगी के अंगूठे का निचला पोर सीधा खड़ा रखकर ऊपर के पोर को मोड़ने को कहा जाय तो रोगी उसे मोड़ नहीं सकता। यह परीक्षा

तभी की जानी चाहिए जब कुहनी के ऊपर विक्षत हो। कलाई पर नर्व में अभिघात होने पर यह परीक्षा उपयोगी नहीं मानी जाती।

अलनरनर्व (अन्तःप्रकोष्ठिका नाड़ी)—हाथ की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाएं अलनरनर्व द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। यह नाड़ी अग्रबाहु में अन्तर्मणिबन्ध आकुंचन पेशी को पूर्ण रूप से तथा गभीर अंगुलि आकुंचनी को अर्धांश में
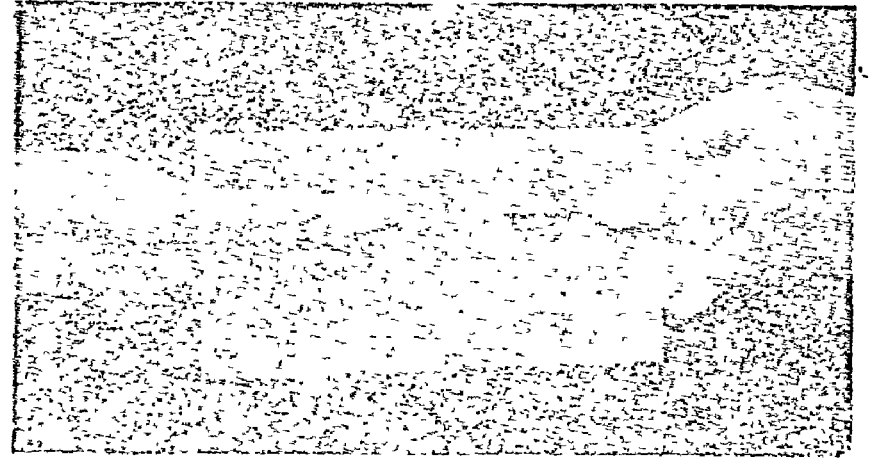
सिंचन कर हाथ की अनेक छोटी पेशियों का सिंचन करती है। इसके घात की जांच के लिए अंतराशलाकिका पेशियों (इंटैरोसियाई) को चुना जाता है। इन पेशियों के दो सैट होते हैं। एक सैट अंगुलियों का अपवर्तन और दूसरा उनका अभिवर्तन करता है इन्हें ऐब्डक्शन और ऐडक्शन के नाम से पाश्चात्य वैज्ञानिक जानते हैं। इन क्रियाओं के ज्ञान के लिए कुछ परीक्षण किए जाते हैं। सबसे पहले रोगी को बतलाओ कि वह अपनी अंगुलियों को फैलावे (अपवर्तन करे) फिर सिकोड़े (एडक्शन करे)। उसके हाथ में एक कार्ड दे दे और उससे कहे कि वह उसे अपनी अंगुलियों के बीच पकड़े और भिषक् स्वयं उस कार्ड को खींचने की कोशिश करे। अगर अलनर नर्व में घात होगा तो रोगी कार्ड को पकड़ ही न सकेगा या इतने कम प्रतिरोध से पकड़ेगा कि वह फौरन छूट जायगा। तलीय अन्तराशलाकिका तथा अंगुष्ठाभिवर्तनी पेशियों की जांच के लिए रोगी के हाथ एक पुस्तक दे देते हैं और उससे कहते हैं कि वह उसे दोनों हाथों की अंगुलियों और अंगूठों से पकड़े रहे स्वस्थ व्यक्ति के अंगूठे सीधे रहते हैं पर जिसकी अलनर नाड़ी का घात हो गया रहता है उसमें अंगूठा आकुंचित हो जाता है अंगुष्ठाभिवर्तनी पेशी (एडक्टर पौलिसिस मसल) की स्वस्थता की जांच इससे भी हो जाती है कि वह अंगूठे और हथेली के बीच किसी कागज को पकड़े रहने की क्षमता रखता है या नहीं।

रेडियलनर्व (बहि:प्रकोष्ठिका नाडी)—जब इस नाड़ी में घात होता है तो रोगी अपनी कलाई को फैला नहीं सकता न उसका अंगूठा ही फैल सकता है और न अंगुलियों की करभ अंगुलास्थिसन्धि (मैटाकार्पो फैलिजियल जौइण्ट) ही फैलता है। हां वह इंटैरोसियाई पेशियों की मदद से अंगुलि पोरों को सीधा कर सकता है।

परिवेष्टकनाडी (सकमफ्लैक्स नर्व)—त्रिकोणिका पेशी या डेल्टोइड मसल को सिंचित करती है। इसके घात के ज्ञान के लिए रोगी को लिटाकर बाहु का अपवर्तन (एब्डक्शन)करने को कहते हैं फिर खड़ा करके और फिर कुहनी पर प्रतिरोध देते हुए अपवर्तन कराते हैं। अगर वह इन सभी स्थितियों में अपवर्तन कर पाता है तो परिवेष्टक नाड़ी स्वस्थ मानी जाती है।

बैल की नाडी (नर्व आफ बैल)—इसमें ग्रैव ५,६,७ नाड़ियां मिली रहती हैं। यह सरेटस एण्टीरियर (अग्रदन्तुरिका) पेशी का सिंचन करती है। इसके लिए दीवाल पर हाथ रखकर दबवाने से नंगी पीठ पर अंसफलक चिड़िया के पंख की तरह (देखो पीछे का चित्र) उठ आने पर इस नाड़ी का घात मानना चाहिए। यह नाड़ी ब्रैकियलप्लैक्सस से उत्पन्न होती है इससे इसके प्रभावग्रस्त होने न होने से नाड़ीमूलों के ऊपर या नीचे विक्षत बना है इसका ज्ञान हो जाता है।

मेरुसहायक नाडी (स्पाइनल ऐक्सैसरी नर्व)—यह नाड़ी ट्रैपीजियस पेशी (समलम्बिका पेशी) का सिंचन करती है। जब यह पेशी दुर्बल हो जाती है तो कंधे को ऊपर उठाना संभव नहीं होता। जिस ओर रोग हो उस ओर के कन्धे को भिषक् अपने हाथ से दबावे और रोगी को कहे कि वह उस ओर कन्धे को ऊपर उठाने की कोशिश करे। अगर कन्धा न उठे तो मेरु सहायक पेशी में घात का अनुमान किया जा सकता है।

वातनाडियों के संज्ञा सम्बन्धी परिवर्तन—

जिस प्रकार ऊपर प्रेरक पेशियों की क्रियाओं से नाड़ी घात का ज्ञान किया जाता है उसी प्रकार संज्ञावाही नाड़ियों के घात का ज्ञान प्राप्त करने की विधियां खोज निकाली गई हैं। इसके लिए रोगी कितना प्रतिभासम्पन्न है और समझदार है इसकी बड़ी आवश्यकता होती है। वह वेदना, स्पर्श, उष्णता, शीतता, दाब, शब्दों के द्वारा प्रदत्त अर्थ को भली-भांति समझ सके यह आवश्यक है तभी परीक्षा संभव होती है। रोगी को आंखें बन्द करने को कहा जाता है फिर उसे रुई से छुआ जाता है या पिन चुभाई जाती है या सर्द या गर्म करके पिन से स्पर्श किया जाता है। उसे बताना पड़ता है कि संवेदनात्मक (सैंसरी) ज्ञान किस प्रकार का हुआ। यह ज्ञान ३ प्रकार का होता है स्थूल संवेदना, सूक्ष्म संवेदना तथा गंभीर संवेदना।

परिसरीय नाड़ीशोथ (पेरीफरल न्यूराइटिस)होने पर रोग के कारणों की तलाश अच्छी तरह की जानी चाहिए। मधुमेध, फिरंग, गलित्कुष्ठ, बेरी-बेरी के अलावा मद्य पीने वालों, सीसे के कारखाने में काम करने वालों (मसूड़ों पर नीली रेखा पायी जाती है) तथा संखिया विष की खानों में करने वालों को यह रोग हो सकता है। इनके ज्ञान के लिए भी जो भी परीक्षण करने आवश्यक हों कराना चाहिए। धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ से बिजली की मशीन दी जाती है वह नर्व या पेशी के दोनों छोरों पर जमा कर ज्ञान किया जा सकता है।

वातनाड़ियों के विक्षतों में चार प्रकार के संलक्षण देखने में आते हैं उन्हें भिषक् को भलीभांति समझे रहना चाहिए—

I. प्रक्षोभ संलक्षण—इसमें नर्व में इर्रीटेशन मात्र होने से वेदना, अतिसंवेदिता, श्यावता, चमकीली त्वचा, भंगुर नख, नाड़ीसूत्रों में दबाने पर दर्द आदि लक्षण मिलते हैं।
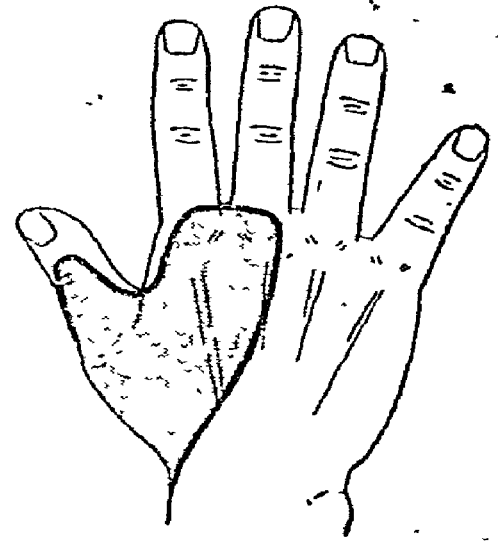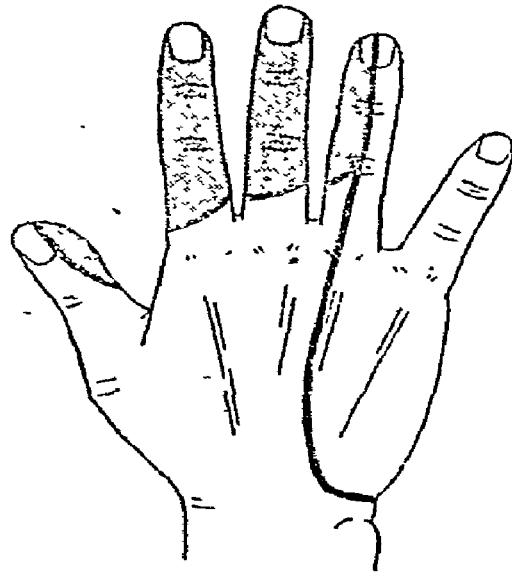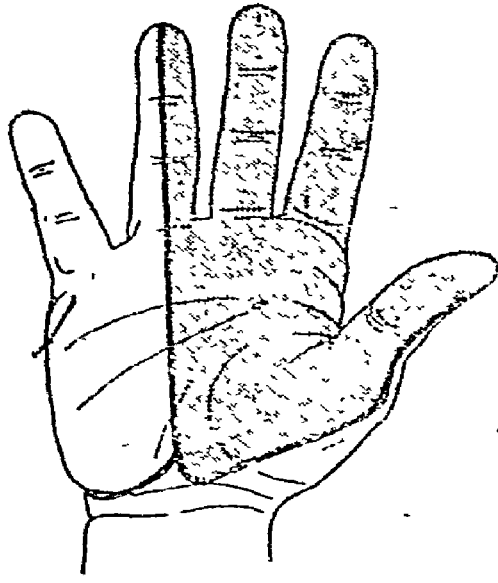
मीडियननर्व संवेदना हानि के क्षेत्र अलनरनर्व संवेदना हानि के क्षेत्र रेडियलनर्व संवेदना हानि के क्षेत्र
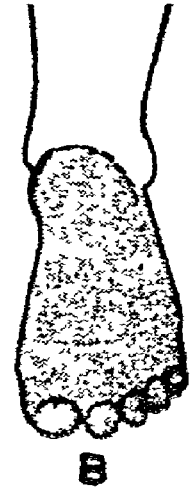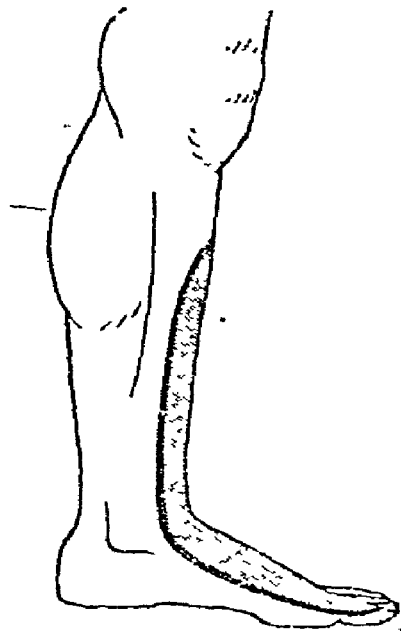
II. **पीडन संलक्षण**—ये नर्व के दब जाने से उत्पन्न होते हैं इससे उन पेशियों में जिन्हें ये दबी हुई तन्त्रिकाएं सिंचित करती हैं क्रिया शक्ति कम होने लगती है या वे क्षीण या क्षय को प्राप्त (एट्रोफीड) हो जाती हैं। उनकी संवेदना घट जाती है। नाड़ीप्रकाण्ड (नर्व ट्रंक) मोटा और स्पर्शासहिष्णु हो जाता है। वाहिकाप्रेरक और अपोषणज गड़बड़ी कोई खास नहीं मिलतीं।

III. **पूर्ण प्रतिघात संलक्षण** में पेशी पूरी तरह क्रियाहीन और क्षीण हो जाती हैं। उनका बल नष्ट हो जाता है। सूक्ष्म संवेदना खतम हो जाती है। स्थूल वेदना कुछ-कुछ बनी रहती है। वाहिकाप्रेरक (वासोमोटर) तथा अपोषणज (ट्रोफिक) लक्षण कोई खास नहीं मिलते। न तोद होता है न नाड़ी प्रकाण्ड में वेदना ही मिलती है।

IV. **पुनर्लाभसंलक्षण** एक डेढ़ माह बाद नाड़ी के पुनर्जनन के साथ उदित होता है। दो माह में संवेदना (सेंसेशन लौट आता है। सबसे पहले स्थूल संवेदना जाग्रत

होती है। पेशियों की चालक शक्ति आने के लिए कम से कम ६ माह का काल आवश्यक होता है।

सुदान्तसेन ने वातव्याधियों में पाये जाने वाले लक्षणों का संग्रह इन शब्दों में दिया है—

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः ।
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्त्रसशूलप्रभेदाः ॥
पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिश्च शदृष्टिप्रमोहा ।
विस्पन्दोद्चट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनञ्च ॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो ।
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणसुषिरताश्छेदनं वेष्टनं च ॥
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषभङ्गा ।
विद्यात् कर्माण्यमूनिप्रकुपितमरुतःस्यात् कषायो रसश्च ॥

इन विविध शब्दों में नर्व डिजनरेशन और उनसे उत्पन्न सभी प्रकार के लक्षणों का सार दे दिया गया है काश कुछ प्राचीन नवीन विद्वान् बैठकर शब्दों की इस निधि का चिकित्सा के हिन्दी ग्रन्थों में करने के लिए गोष्ठी और परिचर्या के लिए समय निकालें।

अस्थि और अस्थिसन्धियों का परीक्षण

सुश्रुत संहिता निदान स्थान का १५ वां अध्याय इसी विषय पर विचार करता है—

पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिः अभिघात विशेषैरनेकविधमस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति ।

अर्थात् गिरने, दबने, प्रहार लगने, हिंस्र, अहिंस्र पशुओं के दांतों सीगों आदि द्वारा विशेष अभिघात लगने से अस्थियों के भंग या भग्न उत्पन्न हो जाते हैं उनका उपदेश किया जाता है।

तत्तु भंगजातं अनुसार्यमाणं द्विविधमेवोत्पद्यते सन्धिमुक्तं काण्डभग्नं च। यह भंग या भग्न २ ही प्रकार का माना जाता है। एक जो **सन्धिमुक्त** और दूसरा **काण्डभग्न** कहलाता है। सन्धिमुक्त का अर्थ होता है सन्धिविश्लेषण या डिस्लोकेशन तथा काण्डभग्न का तात्पर्य फ्रैक्चर होता है। काण्डभग्न को आधुनिक हिन्दी विधाताओं ने अस्थिभंग नाम दिया है तथा डिस्लोकेशन को सन्धिच्युति नाम दिया गया। अस्थिभग्नता किसी भी आयु में मिलती है जबकि सन्धिच्युत केवल वयस्कों में ही बनती है। ये दोनों ही किसी न किसी अकस्मात् या दुर्घटना (ऐक्सीडेंट) के कारण होते हैं इस दुर्घटना के विषय में भिषक् को पूरा-पूरा ज्ञान कर लेना चाहिए, किसी ने चोट पहुंचाई या खुद ही गिर पड़े। यह भी उसे निश्चय करना चाहिए कि क्या उतनी चोट से एक स्वस्थ अस्थि टूट भी सकती है। क्योंकि यदि चोट बहुत कम है और हड्डी टूट गई है तो फ्रैक्चर का कारण चोट न होकर स्वतः अस्थिभंग या वैकृत अस्थिभंग के अन्तर्गत उसे लेना चाहिए। वृद्ध पुरुषों में जरा सी चोट से फीमर अस्थि की ग्रीवा टूट जाती है। इसका कारण बुढ़ापे के कारण अस्थि का डिकैलसीफिकेशन होना है। अस्थिभंग में उतनी वेदना नहीं होती जितनी कि सन्धिमुक्त या सन्धिच्युति में पाई जाती है। अस्थिभंग में तभी वेदना होती है जब हरकत या हलचल की जावे। इन दोनों में ही स्थानिक परीक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इसके लिए पहले परिदर्शन करना होता है। देखने मात्र से ही काण्डभग्न या सन्धिमुक्ति का ज्ञान हो जाता है। फ्रैक्चर होने से अंग छोटा पड़ जाता है। अंग जहां उसकी हड्डी से टूटन की संभावना हो उसका स्थान, आकार, रूप, शोथ और अवनमन (गर्त्त) को देखकर अनुमान लगाना चाहिए। अगर फ्रैक्चर पास के जोड़ तक चला जावे तो जोड़ में निःसरण पाया जाता है। वहां की त्वचा पर खुरसट या खरोंच के निशान मिलते हैं। २-३ दिन हो गये हों तो वहां बुलबुले और फफोले उठ आते हैं। यह भी देखलें कि हड्डी अपनी जगह पर टूट ही गयी है या बाहर तक निकल आयी है उसमें गैसगैंग्रीन तो नहीं बन रही। परिदर्शन के बाद परिस्पर्शन करते हैं। हड्डी की पूरी लम्बाई पर हाथ फिराने पर भग्न के स्थान पर दबाने से दर्द होता है। सन्धिविश्लेष या सन्धिच्युति में चुटैल लिगामेंट में दर्द होता है। जब उसका हस्तोपचार किया जाता है तब भी दर्द होता है। कभी कभी भंग में हड्डी का एक सिरा सा टूटा हुआ अंश उभरा आता है। अगर दबाने या हाथ फिराने पर करकर ध्वनि हो तो वह अस्थिभंग को प्रमाणित करती है। परिदर्शन के

बाद फीता लेकर पहले स्वस्थ अंग को नापा जाता है फिर अस्थिभंग वाले अंग को नापते हैं जो अंग छोटा पड़ता है वह अस्थिभंग को ही प्रमाणित करता है। पर नापने के पूर्व चिकित्सक को यह मालूम कर लेना चाहिए कि कहीं पहले तो अस्थि भंग का इतिहास नहीं रहा जिसमें वह अंग छोटा हो गया हो। इसके बाद उस प्रभावित अंग की गतियों का ज्ञान करना चाहिए। अगर सन्धि की गति पूर्ववत् हों तो कोई खतरनाक स्थिति नहीं बनी ऐसा मान सकते हैं। सन्धि विश्लेष में जोर जबर्दस्ती करने से एक जड़ता पैदा हो जाती है जो बाद में फिर उसी अप्राकृत स्थिति में उस सन्धि को ले आती है।

इतना सब ज्ञान कर लेने के साथ-साथ पेशी, रक्त वाहिनियों, वात नाड़ियों और कोष्ठांगों में तो कोई खराबी नहीं आ गई है इसे भी देख लेना चाहिए। सर्वांगीण परीक्षण और क्षकिरण चित्रण से रोग निदान में बहुत सहायता प्राप्त होती है। पैराथायराइड में अर्बुद होकर सीरम कैल्शियम की मात्रा १० मिग्रा प्रतिशत से १२-२० मिग्रा प्रतिशत तक हो जाने से डिकैल्सीफिकेशन होकर अस्थि थोड़ी सी ही चोट से टूट जाती है इसलिए वृद्धावस्था के अस्थि भंगों में सीरम कैल्शियम की जांच भी प्रयोगशाला में करा लेनी चाहिए। इस रोग को औस्टीआइटिस फाइब्रोसा कहते हैं इसमें मूत्र में भी कैल्शियम की मात्रा बढ़ जाती है।

आयुर्वेद में सन्धिच्युति और काण्डभग्न के लक्षण इस प्रकार दिये हैं:—

सन्धिच्युति—

तत्र प्रसारणाकुञ्चनं विवर्तनाक्षेपणाशक्तिरुग्ररुजत्वं स्पर्शासहत्वं चेति सामान्यं सन्धिमुक्त लक्षणम्॥

फैलाना, सकोड़ना, घुमाना, उठाना आदि सामान्य सन्धि के कार्यों के करने में अशक्ति होना, तीव्र वेदना, छूने से दर्द होना ये सामान्य लक्षण हैं सन्धिच्युति के।

काण्डभग्न—श्वयथु बाहुल्यं स्पन्दन विवर्तन स्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्तांगता। विविध वेदना प्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्न लक्षणमुक्तम्।

शोथ की अधिकता, स्पन्दन (हिलाना), विवर्तन (घुमाना) और स्पर्शन (छूना) ये तीनों सहन नहीं होते। रगड़ने से शब्द (क्रिपीटस) होता है, अंग ढीला पड़ जाता है, अनेक प्रकार की वेदनाएं उत्पन्न हो जाती हैं किसी भी अवस्था में चैन नहीं पड़ता है ये संक्षेप में काण्डभग्न (फ्रैक्चर) के लक्षण हैं।

शल्य रोगों में उपसर्गों का महत्व

और

उनकी रोकथाम के लिए प्रयुक्त औषधियां

शल्य चिकित्सा की सफलता में रोगी का उपसर्गों से बचाये रखना मुख्य होता है। ये उपसर्ग बाहर से भी आ सकते हैं और रोगी के शरीर से भी मिल सकते हैं। अस्पताल के शल्यकक्षों में विविध प्रकार के व्रणों से युक्त रोगी एक दूसरे को उपसर्ग पहुँचाया ही करते हैं इसलिए चिकित्सक का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह निज (रोगी द्वारा प्राप्त) और आगन्तुज (बाहर से प्राप्त) उपसर्गों की रोकथाम करे। उपसर्गों की रोगथाम में आज का सर्जन जितना सक्षम है इतना प्राचीन काल का नहीं था इसलिए आज शल्य के शस्त्रकर्म जितने सफल हो रहे हैं उतने पहले नहीं हो पाते थे। इस विषय पर आधुनिक वैज्ञानिकों ने खोजें भी बहुत अधिक की हैं।

विविध प्रकार के रोगकारक जीवाणु मानव देह पर आक्रमण कर उपसर्ग से उसे ग्रसित कर देते हैं। इनमें एक जीवाणु "स्टैफिलोकोकस पायोजेनिज" है। ये बाह्य नासारन्ध्रों में भरे रहते हैं वहां से हाथों की त्वचा पर आते हैं तथा पैरिनियम (मूलाधार) तक पहुँचते हैं यहां इनकी वृद्धि और प्रसार होता रहता है इन अंगों से ये रोगी के बिस्तर और कपड़ों को उपसृष्ट करता है जो संक्रमणी पदार्थों या फोमाइट्स का रूप लेकर अन्य रुग्णों को उपसृष्ट करते हैं। व्रणों, फोड़ों, फुंसियों में ये जीवाणु पाये जाते हैं, आन्त्रशोथ, न्यूमोनिया, स्तन विद्रधि तथा मूत्रमार्ग के उपसर्गों द्वारा इनका एक से दूसरे रोगी में उपसर्ग होता रहता है। दूसरा जीवाणु "स्ट्रैप्टोकोकस पायोजेनिज" है इसका निवास भी रोगी की नासिका तथा स्तन होता है। रोगियों के मल में ई० कोलाय तथा पी वल्गैरिस जीवाणु मिलते हैं जो उत्तरबस्ति कर्म (कैथेटर डालने) के समय मूत्राशय में प्रवेश करके वहां उपसर्ग पैदा कर सकते हैं। कभी-कभी मूत्राशय से मूत्र बटोरने वाली बोतलों की ठीक से सफाई न करने से भी मूत्राशय तक ये जीवाणु पहुँच जाते हैं।

कभी-कभी और खासकर आपरेशन गृहों में सर्जन, नर्स, रोगी और वहां की हवा तक उपसर्ग पैदा कर सकती है। अस्पतालों की चिकित्सा में दो दोष बहुत महत्वपूर्ण बनकर उभर रहे हैं। इनमें एक है एण्टीबायोटिक द्रव्यों का दुरुपयोग और दूसरा है प्रतिरोधी जीवाणुओं का बन जाना जो नित्य नये रोगी को अपना शिकार बनाते चले जाते हैं तथा स्वयं सब दवाओं का विरोध करते हुए भी बने रहते हैं।

किस रोगी को कौन से जीवाणु के द्वारा उपसर्ग हुआ है इसे अच्छी तरह जान लेना चाहिए। उस जीवाणु को नष्ट करने के लिए कौन-कौन कलाएं प्रयोग में आती हैं उन्हें समझ लेना चाहिए। फिर देखना चाहिए कि इन दवाओं में से कौन रोगी के लिए सात्म्य है तथा कौन असात्म्य है अर्थात् ड्रग सेंजिटिविटी पैदा करती है। जो द्रव्य या ड्रग जिस रोगी के लिए असात्म्य हो वह उसे नहीं देनी चाहिए।

द्रव्य की सात्म्यासात्म्यता की पहचान—

द्रव्य की इस परीक्षा को संवेदिता परीक्षा या सेंजिटिविटीय टैस्ट कहा जाता है जिस प्रकार मनुष्य के लिए कोई द्रव्य सात्म्य या असात्म्य हो सकता है बिलकुल वही प्रक्रिया जीवाणु पर भी लागू होती है। कोई जीवाणु

किसी दवा से जल्दी प्रभावित होता है और कभी नहीं होता। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में वह जीवाणु कुछ द्रव्यों के लिए सेंजिटिव होता है और कुछ के लिए नहीं होता। यह जानने के लिए कि कौन जीवाणु किसके प्रति सेंजिटिव (संवेदी) है एक "डिस्क टैस्ट" किया जाता है। इसमें कल्चर प्लेट पर कागज की छोटी-छोटी चक्रियां (डिस्कें) विविध प्रति जीवियों (एण्टीबायोटिक दवाओं) के घोल में भिगो-भिगोकर रख दी जाती हैं उनके सम्पर्क में रोग कारक जीवाणु को लाया जाता है और देखा जाता है कि प्रतिजीवी और जीवाणु में क्या सम्बन्ध स्थापित होता है। जीवाणुओं की वृद्धि प्रतिजीवी रोक पाता है या नहीं यदि रोक पाता है या अपेक्षाकृत कम कर देता है तो यह मान लिया जाता है कि अमुक प्रतिजीवी के प्रति जीवाणु संवेदी (सेंजिटिव) है। डिस्क-टैस्ट रोगी के अस्पताल में भरती होने के बाद २४ से ४८ घंटों में कर लिया जाना चाहिए। जिस प्रतिजीवी के प्रति रोगकारक जीवाणु संवेदी हो उसको इन्जैक्शन द्वारा देने से उस जीवाणु का रोगी के शरीर से शीघ्र सफाया हो जाता है। मुख द्वारा भी इनका प्रयोग किया जाता है पर यदि उपसर्ग तीव्र हो तो सिरा द्वारा या त्वचा या पेशी में प्रतिजीवी को शीघ्रातिशीघ्र पहुँचा देना आवश्यक होता है।

यदि कोई द्रव्य (ड्रग) किसी रोगी को असात्म्य है अर्थात् आधुनिक भाषा में यदि कोई व्यक्ति किसी ड्रग के प्रति संवेदी (सेंजिटिव) है तो ३ प्रकार के इतर प्रभाव या हानिकर प्रभाव देखे जा सकते हैं:—

i. संवेदी प्रतिक्रियाएं—रोगी को ज्वर आवेगा, शरीर भर में पित्ती उछल आवेगी, तीव्रग्राही प्रतिक्रिया आदि उत्पन्न हो जायगी;

ii. विषाक्तता—वृक्कक्रिया का रुक जाना, कानों में बधिरता आना आदि;

iii. अन्य उपसर्ग की उत्पत्ति—मोनिलिएसिस या कैंडीडियासिस तथा ऐण्टिरोकोलायटिस (आन्त्र बृहदन्त्र शोथ) का होना आदि।

इसलिए किसी भी रोगी को कोई भी द्रव्य औषध या भोजन रूप में प्रयोग करने के पूर्व उसकी सात्म्यासात्म्यता की परीक्षा भी करली जानी चाहिए। इसके लिए रोगी का इतिवृत्त लिया जावे। उससे पूछो कि पहले कभी पेनिसिलीन या प्रोकेन पेनिसिलीन का सूचीवेध लगवाया था ? यदि हाँ तो उसके बाद उसके शरीर में कोई प्रतिक्रिया तो उत्पन्न नहीं हुई ? अगर हुई तो क्या हुई ? याद रखे कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में जो नई दवाएं चली हैं वे रोगी को मार भी सकती हैं और जिला भी। रोगी का दवा के प्रति क्या रिऐक्शन है उसे उसके प्रति ऐलर्जी तो नहीं है इसे बिना जाने आज का डाक्टर अगर इलाज करता है तो वह उन मूर्खों की श्रेणी में ही गिना जायगा जो अज्ञान और लोभवश उन कार्यों को हाथ में ले लेते हैं जिन्हें करने की उनकी कोई सामर्थ्य नहीं होती।

अगर किसी दवा के प्रयोग से किसी रोगी को प्रतिक्रिया होने लगे तो उसका प्रयोग तुरन्त बन्द कर देने में ही बुद्धिमत्ता है। उस दवा के स्थान पर ऐसी दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिए जो उसके बराबर गुणकारी तो हो पर रोगी के लिए असात्म्य न हो। कुछ विद्वानों का मत यह है कि रोगी को चाहे दी गई दवा प्रतिक्रिया ही उत्पन्न करे पर वह मारक न हो और रोग पर पूरा प्रभाव रखती हो तो उस दवा का प्रयोग अन्य एण्टी अलर्जिक दवाएं मिलाकर किया जाना ही चाहिए। पेनिसिलीन के साथ कोर्टिकोस्टराइड या एण्टी अलर्जिक ड्रग मिलाकर देते रहने से रोगी का रोग भी दूर होता है और उसे प्रतिक्रिया भी नहीं होती। पर यदि दवा रोगी के लिए खतरनाक सिद्ध हो तो उसे नहीं देना चाहिए। जो दवा प्रतिक्रिया के रूप में मिचली या उलटी लाती हो उसे न दें। या जो इयोसिनोफिलिया पैदा करे उसे भी नहीं देना चाहिए। जो द्रव अस्थिमज्जा के कार्यों को रोके, यकृत् में शोथ पैदा करे, अपशल्कीत्वग्रोग (ऐक्स-फोलिएटिव डर्मेटाइटिस) उत्पन्न करे, उत्तरोत्तर वृक्क क्रिया का ह्रास करे और मूत्र की राशि को कम करती चली जावे या कानों में विकार उत्पन्न करे उसे कदापि रोगी को न देना चाहिए।

किस प्रतिजीवी का प्रयोग करें ?

प्रतिजीवियों (एण्टीबायोटिक द्रव्यों) का चुनाव करना

भी अपने आप में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसके लिए कल्चर तथा संवेदिता का अवलम्बन करना पड़ता है जिसके सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है। कभी-कभी चिकित्सक को वे सुविधाएं नहीं मिल पातीं कि वह कल्चर करा सके। ऐसी स्थिति में उसे कुछ प्रतिजीवियों का मिश्रण कर अपने अनुभव के आधार पर संवेदिता का ध्यान रखते हुए दवा का निदेश करना पड़ता है।

प्रयोगशाला में रोगकारक जीवाणुओं के २ वर्गों का उल्लेख किया जाता है। इनमें एक वर्ग है ग्रामपोजिटिव जीवाणुओं का और दूसरा वर्ग है ग्रामनैगेटिव जीवाणुओं का। ग्रामपोजिटिव वर्ग में कोकाय और बेसिलाय दोनों आते हैं। ग्रामपोजिटिव कोकाय के उदाहरण हैं:—

१. स्ट्रेप्टोकोकस हीमोलायटिकस—इनका एक वर्ग श्वसन संस्थान के उपसर्गों का कर्त्ता है। इस वर्ग के जीवाणु के द्वारा रोग की उत्पत्ति शीघ्र होती है और रोग तेजी से बढ़ता है। लसीकावाहिनी शोथ और संयोजी-ऊतक शोथ भी इनके द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन जीवाणुओं के द्वारा होने वाले रोगों में न्यूमोनियां (फुफ्फुसशोथ) मेनिंजाइटिस (मस्तिष्कावरण शोथ), पेरिटोनाइटिस (उदरावरण शोथ) और जीवाणुरक्तता (बैक्टरीमिया) आदि आते हैं। इस जीवाणु का एक दूसरा वर्ग स्ट्रैप्टोकोकस फीकलिस कहलाता है जो महास्रोत की क्रियाओं का अवरोध करता है तथा उसकी विकारजनकता मन्द होती है, ये पैत्तिक और वृक्कीय मार्गों को उपसृष्ट करते हैं। उदरावरण शोथ भी पैदा कर सकते हैं तथा ऑपरेशन द्वारा उत्पन्न व्रणों में भी उपसर्ग उत्पन्न कर सकते हैं।

इस जीवाणु का सर्वनाश करने वाली सबसे बड़ी दवा का नाम है "पेनिसिलीन जी" अन्य दवाएं उतनी कारगर नहीं होतीं। एरिथ्रोमाइसीन उन लोगों को दी जा सकती है जिनके लिए पेनिसिलीन देना असात्म्य होता है।

२. हीमोलाइटिक स्टैफिलोकोकस औरियस—स्टैफिलोकोकाय वर्ग के जीवाणुओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। खासकर सर्जरी के रोगियों की दृष्टि से। यह जीवाणु फुंसी फोड़े और सैल्युलाइटिस पैदा करता है। ये रोग पहले तो सीमित दायरे में होते हैं पर कभी-कभी उग्ररूप भी ले लेते हैं। एक जरासी फुंसी को नोंचते ही एक बड़े क्षेत्र में सैल्युलाटिस (संयोजक ऊतिशोथ) बन जाता है, अस्थिमज्जा शोथ, आन्त्र वृहदन्त्र शोथ, उदरावरण शोथ और जीवाणुरक्तता पैदा करने में यह भी पीछे नहीं रहता है। यह व्रणों को भी संक्रमित कर देता है। अस्पतालों में ऑपरेशन किये रुग्णों के व्रणों में यही जीवाणु बहुधा पाया जाता है। यह नर्सों और परिचारकों तथा रोगियों की त्वचा पर, नासिकारन्ध्रों में, गले में या उदर में बसा हुआ रहता है और वहां से ही अपना आक्रमण (संक्रमण) चालू रखता है। यह पेनिसिलीनेज तैयार कर पेनिसिलीन की क्रिया शक्ति को घटा देता है, इसलिए इसके संहार के लिए पेनिसिलीनेज प्रतिरोधी पेनिसिलीन जैसे मेथिसिलीन या नैफसिलीन का उपयोग करना चाहिए। कौनसा प्रतिजीवी लाभप्रद हो सकता है, उसके लिये प्रयोगशाला में डिस्कटैस्ट करके जीवाणु की किस ड्रग के प्रति संवेदिता है इसका ज्ञान कर लेना चाहिये।

३. ग्रामपौजीटिव बैसिलाइ—कोकायों की तरह ही ग्रामरंजित बैसिलाय भी होते हैं। इनमें क्लौस्ट्रीडियम टिटैनी (धनुर्वातकारी जीवाणु) बै० ऐंथ्रासिस, क्लौ० वैलचाय (गैसकोथकारी जीवाणु) आते हैं। इनमें पैनिसिलीन तथा टैट्रासाइक्लीन द्रव्य विनाशक सिद्ध होते हैं।

ग्राम नैगेटिव जीवाणु जो महास्रोत से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं वे हैं—कोलीफॉर्म जीवाणु जो महास्रोत में निवास करते हैं तथा जिनका विकारजनकता सीमित होती है। इन जीवाणुओं के नाम हैं:—स्यूडोमोनास ऐरोजिनीज, प्रोटियस वल्गैरिस, ऐयरोबैक्टरएयरोजिनीज, प्रो० मोर्गनी, प्रो० माइरैबिलिस, ऐशेरिशिया कोलाय आदि। इनका उद्भव दग्ध व्रणों में, उदरपाटन शस्त्रकर्मजन्य व्रणों में, अन्तः उदरीय पूयता में, मूत्रमार्गीय उपसर्गों के रूप में या प्रतिजीवियों के अधिक प्रयोग के कारण सुपर इन्फैक्शन (अत्युपसर्ग) के रूप में होता है। इन जीवाणुओं में अधिकांश अन्तर्विषों (एण्डोटॉक्जिन्स) को पैदा करते है जिसके कारण जीवाणुरक्तता (बैक्टरीमिया) पैदा हो जाता है पर इस जीवाणुरक्तता में अत्यधिक शैथिल्य (प्रोस्ट्रेशन) उत्पन्न होता है जिसे "सैप्टिक शॉक" (दोषज क्रियासंग) कहा जाता है। इस परिस्थिति में रक्तदाब घट जाता है, नाडी की गति बढ़ जाती है। शिथिलता बहुत अधिक हो जाती

है। इसकी विशेषता यह है कि न तो इस के रोगी को रक्तस्राव ही हुआ रहता है और न कोई घातक अभिघात ही लगा होता है। ग्रामनैगेटिव जीवाणु इसे प्रायः उत्पन्न करते हैं। फिर भी मधुमेह, रक्तजन्य दुर्दम स्थिति, मूत्र प्रजनन संस्थान के रोग, यकृत्-पित्त प्रणाली के रोग, महास्रोत के रोग, कॉर्टिकोस्टराइड द्रव्य, रैडियेशन चिकित्सा प्रतिरक्षा दमनकारी प्रयोग इस सैप्टिक शॉक को उत्पन्न करने में प्रमुख भाग लेते हैं। यह क्रियासंग शिशुओं और ऐसे वृद्धों का रोग है जिन्हें ज्वर के आने के बाद तेज जाड़ा लगता है और रक्तदाब बहुत घटा हुआ रहता है। कभी-कभी तो उपसर्ग है भी या नहीं, इसका भी पता नहीं लग पाता। रोगी तेजी से श्वास लेने लगता है, इससे श्वास-क्षारीयता पैदा होती है। बाद में मूत्र की राशि कम होने लगती है, फिर हृदय और अधिवृक्कों पर आघात होता है। इस स्थिति के पैदा होते ही उपसर्गकारी जीवाणु का तुरन्त ज्ञान कर लेना चाहिए। कहां दूषण या सैप्सिस है उसे निकालने की तदबीर की जानी चाहिए। ऑक्सीजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। मूत्राशय में कैथेटर डालकर मूत्र कब कितना उतरा, इसका ज्ञान करते रहना चाहिए। सिरा द्वारा प्लाज्मा या रक्त (आवश्यकतानुसार) चढ़ाते जाना चाहिए। प्रतिजीवी द्रव्यों (एण्टीबायोटिक्स) का प्रयोग करना चाहिए। कैनामायसिन ४ ग्राम प्रतिदिन तथा कैफेलोथिन १२ ग्राम प्रतिदिन सिरा द्वारा देना आवश्यक होता है। कॉर्टिकोस्टराइडों का प्रयोग करना चाहिए। सेंट्रल वेनस दाब घटाने के लिए आइसो प्रोटेटिनोल २.५ मि० ग्रा० ५ प्रतिशत ग्लूकोज वाटर में डाल ०.५–१ मि० लि० प्रति मिनट से चढ़ाया जावे। अगर फिर भी क्रियासंग चालू रहे। सिरादाब बढ़ा रहे और मूत्रराशि प्रति घंटा ३० मि० लि० से कम रहे तो आइसोप्रोटेरिनोल की मात्रा दुगुनी कर दी जावे। यह दवा हृदपेशी पर प्रभाव डालकर हृदय के निकास को बढ़ाती है और नाडी की तेज गति पर काबू पाती है। यह परिसरीय वाहिकाओं में विस्फार करती है। अगर हृद्गति विषम हो और १२० प्रति मिनट से ऊपर चली जाय तो इसका उपयोग न करें। अगर वाहिनियों के अन्दर रक्त जमने लगे और वह क्रियासंग दूर होने पर भी ठीक न हो तो १ मि० ग्रा० प्रति-किलो शरीर भार के अनुसार सिरा द्वारा हिपैरिन दें, जो हर ४ घंटे पर चालू रखें। बाद में ठीक हो जाने पर इसका प्रयोग बन्द कर दें।

उपसर्गों की रोकथाम के लिए प्रतिजीवी द्रव्यों का मिश्रण करके भी दिया जा सकता है। ग्रामनैगेटिव ग्राम-पौजिटिव दोनों प्रकार के जीवाणुओं पर कार्य करने वाले द्रव्यों का ब्राडस्पैक्ट्रम द्रव्यों का प्रयोग सदैव लाभप्रद रहता है। यह न भूलें कि ग्रामनैगेटिव जीवाणुओं के द्वारा विकारों की उत्पत्ति और मृत्यु दोनों ही बढ़े हैं।

एक तथ्य और भी ध्यान में रहना चाहिए कि शस्त्रकर्मोत्तर काल में प्रतिजीवियों के अन्धाधुन्ध प्रयोग से व्रणों के उपसर्ग का ह्रास नहीं होता बल्कि वे उपसर्ग ऐसे जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न होने लगते हैं जिन पर ये दवाएं कोई काम नहीं कर पातीं उनके बाद प्रतिरोधी रूप (रेसिस्टेंस स्ट्रेन) तैयार हो जाते हैं।

शल्य सम्बन्धी कुछ औपसर्गिक रोग और उसकी चिकित्सा

नीचे कुछ उन रोगों का निदान और चिकित्सा दे रहे हैं जो प्रायः सर्जीकल वार्ड्स में या शल्य रोगियों में उत्पन्न हो जाते हैं। उनका ज्ञान आज उतना ही आवश्यक है जितना कि शस्त्रों, शस्त्रकर्मों का ज्ञान आवश्यक है। ये रोग हैं:—

१. धनुर्वात या टिटनस

यह क्लोस्ट्रीडियम टिटैनी के स्पोरों के द्वारा व्रण के संक्रमण से बनने वाला रोग है, अगर व्रण में ऑक्सीजन का टेंशन कम हो तो इनकी वृद्धि तेजी से होने लगती है और स्पोरों से वह वर्धी रूप में बदल जाता है। यह जीवाणु अपने शरीर से एक बहिर्विष निकालता रहता है। यह विष बड़ा शक्तिशाली होता है जो लसीका एवं रक्त द्वारा सारे शरीर में चूषित हो जाता है जिससे भयंकर विषरक्तता (विषाक्तता) के लक्षण समस्त शरीर में पैदा हो जाते हैं। यह विष मोटर एण्ड प्लेटों में संचित हो जाता है। वहीं से यह तन्त्रिकाओं के अक्ष दण्डों में या

पेरिन्युरल लसवहाओं द्वारा सुषुम्ना काण्ड तक पहुँच जाता है। रक्त धारा इस विष को शरीर के अन्य भागों तक भी पहुँचा देती है। इस विष के प्रति मोटर कोशिकाओं की विशेष प्रीति होती है यह नि.र पेशीटोन बढ़ा देता है तथा पेशी आकर्ष (मसल स्पाज्म) का कारण बनता है। सुषुम्ना के अग्र शृङ्गीय कोशा इस विष की स्वल्प मात्रा या उपस्थिति से ही उत्तेजित हो जाते हैं। आगे चलकर यह विष सुषुम्ना तथा मस्तिष्क में व्यपजनन पैदा कर देता है।

टिटनस के पूर्वरूप २ से १४ घंटों में प्रकट हो जाते हैं। बेचैनी, घबराहट, बार-बार पसीना आना, सिर का दर्द, भेदक वेदना, बड़ी-बड़ी वाहिनियों में प्रस्पन्दन ये लक्षण पूर्वरूप के द्योतक हैं। इस रोग का संचयकाल ४ से २८ दिन तक का होता है। इस रोग के विकसित होने पर निम्नांकित लक्षण मिलते हैं:—

i. हनुग्रह या हनुस्तम्भ, ii. मन्याग्रह, iii. व्रण के आसपास की पेशियों में साम्य या आकुंचन iv. अन्य सभी ऐच्छिक पेशियों में स्तम्भ या आकुंचन, v. पार्श्वयाम (शरीर का एक पार्श्व की ओर अकड़ जाना), vi. हास्यानुकारी मुख भंग (राइसस सार्डोनिकस), vii. पेशियों में, सारी देह में रह-रहकर क्लोनिक और टोनिक स्पाज्म (आकर्ष) उत्पन्न होते रहते हैं जबकि पेशियां बलपूर्वक आकुंचित अवस्था में रहती हैं, viii. जब महाप्राचीरा पेशी तथा अन्तर्पर्शुकीय पेशियों में ये आकर्ष आने लगते हैं तो श्वासकृच्छ्रता और श्यावता उत्पन्न हो जाती है, ix. ग्रसनी और अन्न प्रणाली की पेशियों में आकर्षों के कारण अन्न प्रणाली निगलना कठिन हो जाता है, x. इन आकर्षों या स्पाज्मों के कारण रोगी को बहुत वेदनाएं उत्पन्न हो जाती है। थोड़ा छू जाने से ही पेशियों में अकड़ उत्पन्न हो जाती है, कुछ खिलाने की कोशिश, दरवाजों का जोर से बन्द करना ये सभी अकड़ और दर्द का दौरा शुरू कर देते हैं, इसके कारण रोगी थक जाता है, पसीने-पसीने हो जाता है, xi. कमर में पीठ में सिर में दर्द, क्षुधा नाश, कब्ज, अनिद्रा, अल्पमूत्रता और तापमान का थोड़ा सा बढ़ना एवं रक्त के श्वेत कणों का थोड़ा बढ़ जाना आदि भी मिलते हैं, xii. छाती में उपद्रव, जलाभाव, हृत्क्रिया का फेल होना और कभी-कभी तीव्र ज्वर भी इस भयानक रोग में मिल जाते हैं जो उसका काम तमाम कर देते हैं। इसी सबका वर्णन आयुर्वेद में इन शब्दों में मिलता है:—

व्याने पित्तावृतो दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः।
स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते ॥
यदा तु धमनी सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणा दाक्षेपक इति स्मृतः।
क्रुद्धः स्वै कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रवर्तते ॥
पीडयन् हृदयंगत्वा शिरः शंखौ च पीडयन्।
धनुर्वन्नमयेद्गात्राणि याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ॥
सकृच्छ्राद् उच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोपतन्त्रकः ॥
दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञा च हत्वा कण्ठेन कूजति।
हृदिभुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम्।
कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥
दण्डवत्स्तम्भयेद् देहं स तु दण्डापतानकः।
धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुः स्तम्भसंज्ञकः।
अंगुली गुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्।
अभ्यंतरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली।
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षः कट्यूरुभञ्जनम् ॥

—सु० नि० स्था० अ० १

इन पंक्तियों में स्नायु वातनाडियों के लिए और आक्षेप स्पाज्म के लिए प्रयुक्त शब्द हैं। सर्वांगीण उपद्रवों का कारण व्यान वायु है। उपर्युक्त पूरे वर्णन में टिटनस और उनकी विविध अवस्थाओं और लक्षणों का नेत्रों देखा वर्णन भगवान् धन्वन्तरि ने किया है तथा उसे असाध्य स्वीकार किया है। आज इस विषय पर जो खोजें हुई हैं उनके अनुसार इसकी चिकित्सा संभव है तथा यदि प्रतिषेधात्मक चिकित्सा पर पहले से ही ध्यान दे लिया गया तो टिटनस का रोगी बचा लिया जाता है।

यह न भूलना चाहिए कि टिटनस या धनुःस्तम्भ गंदे और दूषित क्षतों भग्नों व्रणों एवं गर्भपात तक में संभव

होता है। नार्मल प्रसव होने पर भी नाल काटने की असावधानी के फलस्वरूप या अन्य कारणों से बच्चों और जच्चा दोनों को भी टिटनस हो सकता है। ऑपरेशन करते समय जरा सी असावधानी यन्त्र-शस्त्रों के स्टर्लाइजेशन में बरती जाने पर या कैटगट, रुई, गॉज़ आदि का शोधन ठीक न होने से भी टिटनस हो सकता है। सुप्रसिद्ध सर्जन डा० उडूपा का कथन है कि—"सर्जनों के लिए सबसे बड़ी दुर्घटना यह होती है कि उनके द्वारा स्वच्छ रूप से शस्त्रकर्म किये हुए रोगियों में भी कभी-कभी टिटैनस हो जाता है।" (देखें आधुनिक शल्य-चिकित्सा के सिद्धान्त—प्रकाशक आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, लखनऊ)।

टिटनस हो जाने पर कितनी ही उत्तम चिकित्सा की जाय लगभग आधे रोगी इस असार संसार का परित्याग करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसलिए किसी भी क्षत के लग जाने पर या प्रसव के बाद अथवा सर्जीकल ऑपरेशन के उपरान्त २४ घंटे के अन्दर टिटनस एण्टीटाग्जीन की ३००० यूनिटें संवेदिता परीक्षा करके दे ही देनी चाहिए। टिटनस टॉक्साइड के लगातार ३ इञ्जैक्शन १-१ माह के अन्तर से देकर और चौथा इञ्जैक्शन एक वर्ष बाद देने से सक्रिय क्षमता पैदा की जा सकती है। जिन व्यक्तियों को इस प्रकार सक्रियक्षमता उत्पन्न कर दी गई हो उन्हें केवल एक बूस्टर मात्रा देना ही काफी होता है।

सामान्यतः १५०० यूनिट ए० टी० एस० (एण्टी टाग्जिक सीरम) एक बार पेशी में इञ्जैक्ट कर देने के ७ दिन बाद उतना ही एक इञ्जैक्शन देने से भी काम चल जाता है।

यह कभी न भूलें कि किसी भी व्रण को जिसमें टिटनस पैदा होने की आशंका हो अच्छी तरह साफ करें। हाइड्रोजन परौक्साइड से धोवें उसमें पूयजनक जीवाणुओं की वृद्धि न होने दें क्योंकि उत्पन्न होने के समय टिटनस जीवाणु अपनी सृष्टि आसानी से कर लेता है।

पर इन सब यत्नों के बावजूद भी या बिना इनके भी अगर टिटैनस व्याधि उत्पन्न ही हो जाय तो सबसे पहले टिटनस के बहिर्विष को निरस्त करने के लिये ५०००० यूनिट टिटनस एण्टी टौक्जीन पेशी द्वारा सवेरे, शाम ७ दिन तक बराबर इञ्जैक्ट करते जाना चाहिए और जब तक एण्टी टौक्सीन का प्रभाव शरीर में न हो जावे तब तक उस व्रण को जहां टिटनस जीवाणुओं ने अपना अड्डा बना रखा है, छूना भी नहीं चाहिए। इञ्जैक्शन के १-२ घंटे बाद व्रण खोला जा सकता है और चूंकि यह जीवाणु ऑक्सीजन की कमी में अपनी वृद्धि करता है, व्रण को खोलकर उसे खूब हवा देनी चाहिए। हाइड्रोजन परौक्साइड तो ताजा ऑक्सीजन ही तैयार करता है, व्रण में भर देना चाहिए। बाद में व्रण के साफ हो जाने के बाद ४०००० यूनिट ए० टी० एस० व्रण में भी भर सकते हैं। डा० उडूपा और डा० शुक्ला ५०००० यूनिट एण्टी टॉक्शीन अन्तः शिरा विधि से ५०००० यूनिट पेशीमार्ग से तथा १० से २० हजार यूनिट लम्बरपंक्चर करके अन्तः सुषुम्ना विधि से भी देने की सलाह देते हैं तथा रोगी अच्छा हो तब तक ५००० यूनिट ए० टी० एस० नित्य देते रहने का परामर्श भी प्रदान करते हैं।

पेशियों के आक्षेप रोकने के लिए अंधेरे और शान्त कमरे का प्रयोग, बार्बीच्युरेट्स, क्लोरप्रोमेजीन, मेफेनेसिन और क्युरारी प्रिपरेशन दी जाती हैं। क्युरारी का प्रयोग बिना कृत्रिमश्वास का प्रबन्ध किए कदापि न करना चाहिए। इन सबके लिए विशेषज्ञों की उपस्थिति आवश्यक होती है। प्रतिजीवी दवाएं इसमें उपयोगी नहीं हुआ करतीं फिर भी द्वितीयक उपसर्गों की रोकथाम हेतु १० लाख यूनिट पेनिसिलीन जी २४ घंटों में ३ बार या १ लाख यूनिट पेनिसिलीन प्रति ३ घंटे पर दे सकते हैं। श्यावता आने पर औक्सीजन का उपयोग करना चाहिए। जलाभाव रोकने के लिए रायल्सट्यूब आमाशय में पहुँचा कर उससे तरल खाद्य पदार्थ दिये जाते हैं। मलमूत्र के निष्कासन का ध्यान देते हैं। आक्षेप या स्पाज्म रोकने के लिए ५ प्रतिशत ग्लूकोज के १००० मि० लि० घोल में ०·५ ग्राम पेंटाथाल सोडियम लगातार ड्रिप विधि से देते रहना तथा २० से २५ बूंद प्रति मिनट की गति रखनी चाहिए।

गैसगेंग्रीन (गैसकोथ)

इस रोग के निदान के सम्बन्ध में पिछले लेख में बहुत कुछ दिया जा चुका है। वातपी और वातमी दोनों प्रकार

के जीवाणुओं से गैसगैंग्रीन की विकृति उत्पन्न होती है। वातमी जीवाणुओं में शर्करालायी और प्रोटीनलायी दो प्रकार के जीवाणु होते हैं। पहले वर्ग में क्लो० वेलचाई, क्लो० सैप्टीका, क्लो० ईडेमेटियन्स, क्लो० हिस्टोलायटीकस, क्लो० फैलक्स तथा क्लो० बाइफर्मेन्टिस तथा दूसरे वर्ग में क्लो० स्पोरोजिनेज, तथा क्लो० ऐयरोजिनेज कैप्सूलेटस आते हैं। वातमी जीवाणु व्रण में औक्सीजन का उपयोग करके उसके अन्दर ओक्सीजन की कमी कर देते हैं जिसके कारण वातमी या गैसगैंग्रीनजनक जीवाणुओं की वृद्धि का वातावरण बन जाता है। शरीर के किसी स्थान में औक्सीजन की कमी और शरीर की प्रतिरक्षा व्यवस्था में गड़बड़ी के कारण गैसगैंग्रीन पैदा होती है। कहीं कसकर बांध देने, प्लास्टर कड़ा लग जाने, रक्त थक्का बन जाने आदि कारणों से भी औक्सीजन की कमी होकर गैसगैंग्रीन बन जाती है। गैसकोथकारी जीवाणुओं से एक शक्तिशाली बहिर्विष पैदा होता है। पहले शर्करालायी जीवाणुपेशी की ग्लायकोजन को गला-गलाकर हाइड्रोजन, कार्बनडाईऑक्साइड तथा सेन्द्रियअम्ल पैदा करते हैं। इस पर फिर प्रोटीनलाई जीवाणु उत्पन्न होकर पेशी मांस को गला-गलाकर हाइड्रोजन सल्फाइड नामक गैस बनाते हैं तथा अमोनियायुक्त पदार्थ बनाकर सेन्द्रियअम्ला को नष्ट या निरस्त करने लगते हैं। सेन्द्रिय अम्ल शर्करालायी जीवाणुओं की वृद्धि में रोड़ा बन जाते हैं पर जब अमोनिया युक्त पदार्थों से ये सेन्द्रियअम्ल नष्ट हो जाते है तो फिर गैसकोथ उत्पन्न करने वाले शर्करालायी और प्रोटीनलायी दोनों ही वर्ग तेजी से अपनी वंश वृद्धि करते जाते हैं और बहिर्विष निकलकर शरीर पर अपना प्रभाव जमाता जाता है। क्लो० वैलचाई हीमोलाइसीन को मुक्त कर देता है जिससे मायोहीमोग्लोबिन से लोहा पृथक् हो जाता है। यह लोहा हाइड्रोजन सल्फाइड से मिलकर आयरन सल्फाइड बना देता है जो पेशियों को काला कर देती है। इन जीवाणुओं के कारण पेशियों का बहुत विनाश हो जाता है उनमें रक्त की आपूर्ति घट जाती है वे फूली-फूली मन्दवर्ण वाली हो जाती हैं पहले उनका रंग हरा, फिरब्राउन और अन्त में काला हो जाता है। पेशियों का रेखांकन मिटता चला जाता है जिसकी पुष्टि अण्वीक्षण द्वारा की जा सकती है।

गैसगैंग्रीन का संचयकाल २४ घंटे से ४८ घंटे का माना जाता है। यह रोग द्रुतगति से उत्पन्न होकर बहुत तेजी से बढ़ता है। इसके कारण हाथ पैरों में तेज दर्द, सुन्नता, सूजन तथा व्रणभाग में पहले पानी जैसा फिर लाल-लाल पानी जैसा स्राव होता है व्रण से तेज दुर्गन्ध आती है तथा व्रण में बहुत अधिक निर्मोक या मृतऊति (स्लफ) बनता है। बाद में पेशी में गैस के कारण कर्कट ध्वनि (क्रेपिटस) पैदा हो जाता है यह ध्वनि पेशी में ऊपर और नीचे दोनों ओर फैलती जाती है। इन स्थानिक लक्षणों के अलावा रोगी में सर्वाङ्गीण लक्षण भी पाये जाते हैं। रोगी का चेहरा पीला पड़ जाता है। रोगी में विषाक्तता के लक्षण पाये जाते हैं आंखें लाल हो जाती हैं मानो खून उतर रहा हो। रोगी को जाड़ा देकर जोर का ज्वर चढ़ता है मिचली और उलटियां होती हैं। नाड़ी की गति तेज हो जाती है नाड़ी बाद में विषम हो जाती है। जीभ सूखी और भूरी हो जाती है। श्यावता और पीलिया तथा हाथ पैर ठण्डे बाहरी सिराएं दबी हुई होती हैं।

क्षकिरण चित्र में पेशियों और ऊतकों में गैस के बुलबुले देखे जा सकते हैं। गैस कोथ के कई प्रकार निदानज्ञों ने बतलाये हैं इनमें एक स्थानिक, दूसरा सामान्य तीसरा मारी और चौथा स्फूर्जक (फल्मीनेटिक) होता हैं।

गैसगैंग्रीन का प्रतिषेधात्मक उपचार करते समय सड़क के किनारे की खुरसट या व्रण की पूरी सफाई करके हायड्रोजन पर औक्साइड से साफ करना चाहिए। अगर कहीं रक्तवाहिनी पर टूर्नीके या बन्धन लगा दिया हो उसे निकाल दें अगर प्लास्टर आफ पैरिस कड़ा बंध गया हो या चोट पर कड़ी पट्टी बांधदी हो तो उसे तत्काल हटा दें। यही नहीं, किसी भी फोड़े में पट्टी या गौज की भरमार न करें तथा कुछ देर बाद उसे हटा दें। पूयोत्पत्ति हो तो उसे डिटौल के जल से धो डालें और व्रण को साफ रखें। प्रतिषेधात्मक उपचार की दृष्टि से एण्टीगैस सीरम १६००० यूनिट या बी वैलचाई एण्टीटॉक्जीन १०००० यूनिट पेशी में इंजैक्ट कर दें।

गैसगैंग्रीन का चिकित्सात्मक उपचार करने के लिए व्रण को पूरी तरह खोल देते है उसमें हाइड्रोजन पर औक्साइड भर कर सींचते हैं। समस्त उपसृष्ट या संक्र-

मित गली ऊतकों को काटकर निकाल देते हैं। क्योंकि गैसकोथ के जीवाणु मृत ऊतकों पर ही जाते हैं इसलिए उन्हें निकाल देना चाहिए। जो पेशी इलैक्ट्रीकल उत्तेजना को ग्रहण करे उसे नहीं काटते। जब एक से अधिक पेशीग्रुप प्रभावित होते हैं तब अंगोच्छेदन (ऐम्प्यूटेशन) भी करना पड़ सकता है। गैसगेंग्रीन हो जाने पर ५०००० से १००००० यूनिट ए० जी० एस० (एण्टीगैस सीरम) पेशी या सिरा में इंजैक्ट करते हैं। ऑक्सीटैट्रा साइक्लिन का पेशी में इंजैक्शन या हर ६ घंटे पर १० लाख यूनिट पेनिसिलीन को इंजैक्ट करना आवश्यक होता है। रोगी को अलग रखना, उसे ऑक्सीजन सुंघाते रहना, लघुपाच्य खाद्य पदार्थ दें। शान्ति हेतु मार्फीन या पैथिडिन लगा दें। एण्टी टिटैनस सीरम १५०० से ३००० यूनिट अलग या मिलाकर लगा दें। आवश्यकता पड़ने पर रक्ताधान (ब्लड ट्रान्सफ्यूजन) या ५ प्रतिशत ग्लूकोज विदनॉर्मल सेलाइन को ड्रिप विधि से दें। हाइड्रोकार्टीजोन देकर परिसंचरण निपात (रससंवहन अवपात) रोकना चाहिए।

गैस गैंग्रीन का शल्योपचार—

सर्जन को यह स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि गैस गैंग्रीन पैदा करने वाले जीवाणु सड़ी गली मृत ऊतकों पर जिनमें ऑक्सीजन की काफी कमी हो गई है पनपा करते हैं इसलिए जहां तनिक भी गैसकोथ का शक हो उस व्रण का तत्काल उच्छेदन (एक्सीजन) कर देना चाहिए। अगर उच्छेदन सम्भव न हो तो उसका पूर्ण शोधन कर देना चाहिये। पेशी को गम्भीर क्षति पहुँचने की स्थित में पेनिसिलीन या टैट्रासाइक्लीन का अच्छी तरह उपयोग करना भी कदापि न भूलना चाहिये। आजकल प्रतिषेधात्मक उपचार में अनेक सर्जनों के मन मे गैसगेंग्रीन एण्टीटाक्जीन का उपयोग बन्द हो रहा है।

गैसग्रैंग्रीन का निदान जितनी जल्दी कर लिया जायगा रोगी का प्राण उतनी ही आसानी से बचाया जा सकता है। इसमें देर करने की आवश्यकता नहीं है। अगर व्रण में पहले टांका लगा हो या कसकर व्रण भर दिया गया हो तो उसे तत्काल खोल दें तथा व्रण के किनारों को अलग-अलग कर दें। फिर यह देखें कि यह गैस गैंग्रीन है या अवातजीवी संयोजक ऊतिशोथ (एनीरोब सैल्युलाइटिस)। वास्तविक गैस गैंग्रीन तो पेशी के मांस का उपसर्ग होता है। यह उपसर्ग पहले तो स्वस्थ पेशी तन्तुओं को पकड़ता है और उनके कंचुकों में सीधा-सीधा लम्बाई में फैलता चला जाता है। जिससे एक पेशी या पेशी-समूह पूरी-पूरी लम्बाई में प्रभावित होती है। ऐनीरोबिक सैल्युलाइटिस में उपसर्ग गण की सैल्युलर संयोजी ऊति के अन्दर आघात तथा वाहिनीय अभिघातयुक्त पेशी तक ही सीमित रहता है। दोनों ही परिस्थितियों में दुर्गन्धयुक्त गैस व्रण की गहराइयों मे पाई जाती है जो त्वचा पर फफोले भी उठ आते हैं।

पहले व्रण को खोल देना चाहिए ताकि उसे अच्छी तरह देखा जा सके। फिर कहां-कहां गैस बनती है तथा कौन स्थान विवर्ण हो गया है। पेशी की कंचुकों (शीथ्स) को खोलकर पेशी सूत्रों का निरीक्षण करना चाहिए। आरम्भ में पेशी सूत्र पाण्डुर फिर गुलाबी धूसर हो जाते है फिर उनमें रक्ताधिक्य हो जाता है उसमें गैस के बुलबुले स्पष्ट देखे जा सकते हैं। त्वचा की पूरी लम्बाई में चीरा लगाते है जो शाखा के लम्बे अक्ष में तथा व्रण के ठीक के सेंटर में रखा जाता है जिन तन्तुओं में थोड़ा भी संक्रमण हो (या संक्रमण आशंका हो) उन्हें बेदर्दी से काट देना चाहिए। यही नहीं, आस-पास की पेशियों की भी परीक्षा की जाकर उनमें भी अगर संक्रमण की तनिक भी आशंका हो तो उन्हें भी काट दे सकते हैं। संक्रमण पूरी लम्बाई में होने के कारण पूरी की पूरी पेशी को काट देना पड़ता हैं। त्वचा हो या नीचे के ऊतक उनके वर्ग में अन्तर जहां-जहां हो सभी को काट कर फेंक दें। व्रण में पेनिसिलीन का पाउडर डट कर छिड़कें और गॉज से फैलाकर पैक करें। रक्त चढ़ावें तथा सिरा में साथ ही एण्टीटौक्जीन २०००० यूनिट दे दें। हाइपर बैरिक ऑक्सीजन रोग के द्रुतगति से होने वाले प्रसार मे अद्भुत काम करती है, एनीरोबिक सैल्युलाइटिस होने पर सिर्फ मृत ऊतकों को काट देना चाहिये, इसलिये यहां चीरा उतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण नहीं होता जैसा कि गैसकोथ में देना पड़ता है कभी-कभी रोग का संक्रमण पूरी की पूरी शाखा के भाग में हो जाता है जिसमें सभी पेशियों के समूह इस रोग की लपेट में आ जाते हैं यह मनिव

गैंग्रीन या भारी कोथ में देखा जाता है। इस स्थिति में रोगी के प्राणों की रक्षा का एकमात्र अवलम्ब अंगोच्छेदन (अंग को काटकर निकाल देना) ही होता है। अगर गैस गैंग्रीन के साथ-साथ कम्पाउण्ड फ्रैक्चर भी हो या किसी अंग में रक्त की आपूर्ति में भयानक रूप से बाधा उत्पन्न हो गई हो तो भी अंगोच्छेदन या ऐम्प्यूटेशन कर देना चाहिये। अगोच्छेदन करते समय कोताग्रश न की जावे। उसे इतना ऊपर से करना चाहिये ताकि सारा का सारा उपसृष्ट भाग निकाला जा सके पर वह उपत्वगीय प्रसार से आगे न रहे। घाव को खुला रखना चाहिये और उसे गॉज से पैक करना चाहिये। उपसर्ग के समाप्त होने पर पुनः अंगोच्छेदन की आवश्यकता पड़ सकती है। यह न भूलें कि गैस गैंग्रीन उन रोगों में से एक महत्त्वपूर्ण रोग है जहां ऐम्प्यूटेशन करना परम आवश्यक होता है,

कार्बंकिल या प्रमेहपिडिका

यह एक प्रकार का तीव्र प्रसरणशील सपूय व्रणशोथ होता है जो त्वचा तथा उपत्वगीय ऊतकों तक सीमित रहता है तथा जिसके अनेक सिरे होते हैं। यह प्रौढ़ व्यक्तियों का रोग है जो पीठ या ग्रीवा पर बनता है। मधुमेह के कारण यह प्रायः होता है। इस रोग की उत्पत्ति में स्टैफिलोऔरियस या स्ट्रैप्टोकोकस विशेष भाग लेते हैं।

सबसे पहले केश या रोम कूपिका में या स्वेदग्रन्थि या त्वग्वसा की ग्रन्थि में पूय उत्पन्न होता है वह रोमकूपिका को फोड़कर ऊपर आजाता है वहां से यह उपत्वगीयसमे स्तर तक पहुँच जाता है और वहां फैल जाता हैं। इस व्रणशोथ के कारण उपत्वगीय वाहिनियों में घनास्र बन जाता है। नीचे से ऊपर त्वचा तक पूयमेद के स्तम्भ को अनेक जगह छेद कर बहुत से छिद्रों में से फूटता है। कारवंकिल के केन्द्रिय भाग में नष्ट ऊतक रहते हैं। उसके चारों ओर अनेक छिद्रों से होकर पूय निकलता है उसके चारों ओर कड़ा भाग रहता है। कड़े भाग में दर्द होता है। छिद्रित भाग फूला हुआ होता है, शास्त्रकारों ने उसे कच्छपिका कछुए की पीठ जैसा उठा हुआ बतलाया है। उसके चारों ओर की त्वचा खिची ओर सूजी हुई होती है। रोगी की त्वचा सूखी एवं फरयुक्त होती है ज्वर १०१-१०२ °फै० तक रहता है मधुमेह के लक्षण मिलते हैं। मधुमेह का शक होने पर मूत्र में शर्करा तथा ऐसीटोन देखना चाहिये। रक्त, शर्करा की जांच भी करा लेनी चाहिए रक्त परीक्षण करालें।

चिकित्सा में मैगसल्फ (५०%) से सम्पीडन करें। मधुमेह का इलाज करें उचित प्रतिजीवी द्रव्य दें यदि तब भी रोगी ठीक न हो तो सर्जीकल उपचार करें। उससे पूर्व उसे सेकें फिर कई चीरे लगाकर उसकी शोधन व्यवस्था करें, यदि त्वचा अधिक गलित होजाय तो काटराइज कर देते हैं जितना भी गला सड़ा भाग है उसे निकाल कर ग्लिसीन एक्रीफलेवीन से घाव की ड्रैसिंग कर दी जाती है। पेनिसिलीन का अच्छी तरह प्रयोग उपसर्ग के प्रसार को रोकता है और रोग की अवधि को घटा देता है। पेनिसलीन इस रोग में वरदान सिद्ध हुई है। ऑपरेशन करने से पूर्व रोगी को जनरल अनीस्थीसिया में रखकर स्वस्तिक (क्रूशिएट) चीरा इतना गहरा लगाते हैं कि चाकू की नोक स्वस्थ ऊतक तक पहुँच जाय। इस चीरे से ४ फ्लैप त्वचा के बनते हैं। इन्हें हटाकर सब स्लफ निकाल दें और एण्टीसैप्टिक द्रवों से भीगी गॉज से पैक करें।

विद्रधि या फरंकिल

यह भी स्टैफिलोकोकस औरियस नामक जीवाणु के उपसर्ग से उत्पन्न होने वाला रोग है। ये जीवाणु रोमकूपों एवं स्वेद ग्रन्थियों के द्वारा प्रविष्ट होकर विद्रधि या पाक पैदा करते हैं वहां स्थानिक सेल्युलाइटिस पैदा हो जाती है। कारवंकिल की तरह इसकी उत्पत्ति में भी मधुमेह का हाथ हो सकता है बिना मधुमेह के भी यह बन सकती है। इसके लिये प्रोकेन पेनिसिलीन का इंजैक्शन प्रतिदिन असात्म्यता की परीक्षा करके देना चाहिये।

यदि फिर भी पाक उत्पन्न हो जाय तो उसके पूर्णतः स्थान संश्रित होने के बाद उसमें चीरा लगाना चाहिये फिर एण्टीसैप्टिक लोशन से धोना चाहिये । **डा० उडूपा तथा डा० शुक्ल** का कथन है कि यदि फुंसी होठ पर, या नाक पर बने तो उसे जितना भी सम्भव हो बैठाने का यत्न करना चाहिये उसके लिये अधिकाधिक मात्रा में प्रतिजीवियों (एण्टीबायोटिक्स) का उपयोग किया जाना चाहिये क्योंकि ऐसा न होने पर समीपस्थ सिराओं द्वारा यह उपसर्ग कैवर्नस साइनस में पहुँच कर घनास्रोत्कर्ष (थ्रॉम्बोसिस) पैदा कर सकता है । जब उपसर्ग स्थान-संश्रित हो जाय तो भी चीरा लगाना खतरे को बुलाना होता है ऐसी स्थिति में फुंसी को स्वयं फूटने देना चाहिये फिर पूय निकलने के बाद साधारण व्रणवत् चिकित्सा की जानी चाहिये ।

संयोजकऊतिशोथ या सैल्युलाइटिस

रोगकारक जीवाणुओं के कारण उपत्वगीय ऊतकों में जो फैला हुआ व्रणशोथ बनता है वह सैल्युलाइटिस या संजोजक ऊति शोथ कहलाता है । आयुर्वेद में जो आम, पच्यमान और पक्वशोथ का वर्णन किया गया है वह सबका सब सैल्युलाइटिस पर भी उतना ही सटीक बैठता है जितना अन्य व्रणशोथों या इन्फ्लेमेटरी स्थितियों पर, त्वचा में कहीं सूक्ष्म विदार होने पर अथवा किसी फोड़े-फुंसी के नोंच लेने पर अथवा लसीका वाहिनियों द्वारा पूयवर्धक जीवाणुओं के संचार से यह रोग बनता है। मधुमेह से पीड़ित रोगियों में इसकी उत्पत्ति की अधिक सम्भावना रहती है । इसमें तीव्रव्रणशोथ के सभी लक्षण वेदना, शोथ, लालिमा और ऊष्मा पाई जाती है । शुरू में अभिघात का वृत्त मिलता है स्थानिक तीव्र वेदना का रोगी को अनुभव होता है । शुरू में यह सतत पीड़ा का अहसास कराता है बाद में इसमें शूल भोंकने सरीखा थ्रॉबिंगपेन होता है जो शोथ में पूयोत्पत्ति की ओर इंगित करता है । तोदन, भेदन, ताडन, छेदन, आयमन, मन्थन, विक्षेपण, चुमचुमायन, निर्दहन, अवभंजन, स्फोटन, विदारण, उत्पाटन, कम्पन, शूल, चोष, परिदाह, धूमायन, अंगारवद आभास, स्तम्भ, गौरव आदि रूपों में यह वेदना होती है। ज्वर, बेचैनी, क्लान्ति, क्षुधानाश आदि सार्वदैहिक लक्षण मिलते हैं । परीक्षा करने पर रोगी विष...ता से पीडित, शोथयुक्त त्वचा वाला जो छूने से असह्य वेदना देती हो जो शुरू में कड़ी बाद में मुलायम हो जाती है । यह सारे परिवर्तन माधव निदान के श्लोकों के अनुरूप होते हैं :—

मन्दोष्मता अल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवदेनता चैतत् शोथानां आम लक्षणम् ॥

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।
पिपीचिका गणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥
सोषाचोषो विवर्णः स्याद् अंगुल्ये वावघट्यते ।
आशने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्ध इव ॥
न गच्छेदाततः शोथो भवदोष्मात बस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णा ऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥
वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः ।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् ।

पच्वमानावस्था के कई लक्षण सैल्युलाइटिस में फ्लकचुएशन के हैं । कभी-कभी बाहरी त्वचा पर फफोले भी बन जाते हैं जो लसपर्व यहां सिंचन करते हैं वे सूजे हुए तथा स्पर्शाक्षम पाये जाते हैं । रक्त-परीक्षा करने पर श्वेत कणों की वृद्धि तथा रक्तशर्करा भी बढ़ी हुई मिलती है मूत्र में भी शर्करा हो सकती है । इस रोग का इलाज विश्राम, पेनिसिलीन तथा मधुमेह को दूर करने की चिकित्सा है । इस रोग में पूय उत्पन्न हो जाने पर ऑपरेशन करके उसे निकाला जाता है ।

मुख की सैल्युलाइटिस में (१) कैवर्नस साइनस की थ्रॉम्बोसिस होने का सदा डर रहता है । यह थ्रॉम्बोसिस ऐंग्युलरवेन से सुपीरियर अपथाल्मिक वेन में होकर कैवर्नस सायनस तक या फेशियल वेल से टैरिगॉइड वेनस प्लैक्सस से ऐमिसरी वेनों में होकर कैवर्नस सायनस तक पहुँच कर हो जाती है ।

(२) ऑर्बीटल सैल्युलाइटिस होकर अन्धता हो जाती है ।

३. फेशियल सैल्युलाइटिस का एक उपद्रव मेनिंजाइटिस भी होता है।

४. मस्तिष्कगत विद्रधि

५. इंटर्वल जुगुलर वेन की थ्राम्बोसिस

५. सैप्टीसीमिया और

७. पायमिया तक हो जाते हैं

मुख मण्डल की सैल्युलाइटिस में प्रतिजीवियों का प्रयोग, सेक, पेनिसिलीन का प्रयोग आदि करते हैं। ऐंग्युलर वेन का लिगेचर करने की भी सर्जन लोग सिफारिश करते हैं।

सैल्युलाइटिस कहीं भी हो उसमें स्लफ बनना तथा गेंग्रीन तक बन जाता है।

एरिसिपैलस या विसर्प

यह वाह्यत्वचा की लसीका वाहिनियों का प्रसरित व्रणशोथ है जिसकी उत्पत्ति स्ट्रैप्टोकोकस हीमोलाइटिकस के द्वारा होती है। त्वचा में खरोंच आ जाने से और स्थानिक सैल्युलाइटिस उत्पन्न हो जाने पर विसर्प बनता है। इस रोग में न दर्द होता है न स्पर्शाक्षमता पर मन्द मन्द वेदना होती रहती है। कड़ापन नहीं होता। विसर्प त्वचा के धरातल से ऊंचा उठा हुआ और किनारेदार शोथ है जिसका रंग लाल होता है। इस उठे हुए भाग में पानी भरा होना है। इस पानी में असंख्य रोगकारक जीवाणु होते हैं रोगी ज्वर और बेचैनी से आक्रान्त रहता है। शरीर के एक भाग में विसर्प बनता है फिर वह आगे बढ़ जाता है पीछे का ठीक होकर भुसी उड़ती रहती है।

मुखगत सैल्युलाइटिस और मुखगत विसर्प दोनों का अन्तर होता है पहले में शूल, नेत्रकला का शोथ होता है जब कि वे दोनो मुखगत विसर्प में नहीं मिलते। कान पर विसर्प तो हो सकता है पर सैल्युलाइटिस नहीं क्यों कि वहां संयोजीऊति (सैल्युलर टिश्यू) नहीं होती।

विसर्प की चिकित्सा सैल्युलाइटिस के समान होती है। स्थानिक उपचार में मैगसल्फ सेक तथा इक्थियोग्लिस्रीन का लेप करना होता है। पर स्थानिक उपचार कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है सबसे अधिक आवश्यक होता है विश्राम। विसर्प के उपद्रवों में लसपर्वो का पूयन, वाहिनियों में घनास्रोत्कर्ष होने पर गेंग्रीन या कोथ उत्पन्न हो सकता है। सैप्टीसीमिया मिल सकता है।

एन्थ्राक्स

यह पले हुए पशुओं (घोड़ा, गधा, भेड़, सूअर, आदि) का तीव्र औपसर्गिक रोग है। यह या तो सीधे-सीधे बीमार पशु के संसर्ग से मनुष्य को लगता है या खालों और ऊन के द्वारा उसका कार्य करने वालों को लगता है। इसमें एक दुर्दमपूयस्फोटिका (मॅलिग्नेंट पुस्चूल) बनती है जो कारबंकिल सदृश होता है पर इससे केन्द्र में एक परिगलित व्रण वस्तु बन जाती है जिनके चारों ओर बैंगनीरंग की छालेदार सैल्युलाइटिस बन जाती है। उसके अन्दर के सीरम में ऐंथ्राक्स वैसिलाई खूब मिलते हैं। तीव्र रोग में सर्जीकल उपचार अनावश्यक होता है। केवल बड़ी मात्रा में पेनिसिलीन देने से रोग दूर हो जाता है।

सिफिलिस या फिरंग

यह एक रतिज रोग है यह कायचिकित्सा के क्षेत्र में आता है फिर भी इसका कुछ भाग शल्यचिकित्सा के अन्तर्गत भी आता है इसकी उत्पत्ति ट्रीपोनीमा पैलाइडा द्वारा होती है। मैथुन द्वारा इसका संक्रमण होता है। होठ और अंगुलियों का सम्पर्क उपसृष्ट रोगी से आने पर भी यह हो जाता है। आरम्भ में एक कठोर वेदनाविहीन शैंकर बनता है जो काफी दिनों बाद व्रण उत्पन्न कर पाता है। क्षेत्रिय लसीका ग्रन्थियां फूल जाती हैं इनमें वेदना तभी होती है जब पूयजनक संक्रमण भी साथ में हो। आरम्भिक शैंकर के ६—१० सप्ताह के अन्दर द्वितीयावस्था चालू होती है जिसमें त्वचा में स्फुटन और श्लेष्मल कला में पिडिका या चकत्ते उत्पन्न हो जाते हैं। लसपर्व

में सर्वांगीण वृद्धि होती है। अस्थि ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। द्वितीयावस्था के कुछ महीनों से लेकर कुछ वर्षों में फिरंग की तृतीय अवस्था आरम्भ होती है। इसमें फिरंगार्बुद या गम्मा पैदा होते हैं ये शरीर में कहीं भी बनते हैं। फिरंगार्बुद के गलने पर पंच टाइप का व्रण बनता है। बाद में कुछ प्रतिशत रोगियों में नर्वनसिस्टम की सिफिलिस (वातफिरंग) उत्पन्न होती है इसे टेवीज डॉर्सलिस भी कहा जाता है।

फिरंग का ठीक-ठीक निदान करने के बाद भारी मात्रा में तैलीय पेनिसिलीन के प्रयोग से फिरंग को सीमित करना संभव हो गया है।

राजयक्ष्मा या ट्यूबर्क्युलेसिस

यह माइक्रो बैक्टीरियम ट्युबर्क्युलेसिस नामक जीवाणु के द्वारा उत्पन्न होता है। ये बोवायन तथा ह्यूमेन दो वर्ग के जीवाणु होते हैं। बोवायन सौम्य पर ह्यूमन तीव्र स्वरूप का होता है। संक्रमण के बाद यक्ष्मिकाएं बनती हैं। यक्ष्मिका के मध्य भाग में जीवाणु के विष द्वारा परिगलन शुरू होता है जिसे केजिएशन की अवस्था कहते हैं। फिर तरलीभवन होकर दूषित द्रव बहा दिया जाता है। जब यह श्वासनलिकाओं में आता है तो वहां गुहा का निर्माण होता है फिर तन्तूत्कर्ष होता है जिससे कुछ ही समय बाद विरोहण हो जाता है। यदि विरोहण न हुआ तो संक्रमण लगातार बना रहने के कारण समस्त शरीर में बहुत गम्भीर उपद्रव पैदा हो जाते हैं। फुफ्फुस, लसपर्व, आंतें, उदरावरण, वृक्क, मूत्राशय अस्थियों और सन्धियों में यक्ष्मा का प्रभाव देखा जा सकता है।

अच्छा पोषक आहार, स्वास्थ्यप्रद वातावरण, ताजी हवा, स्ट्रेप्टोमायसीन, आइसोनिकोटिनिक ऐसिडहाइड्रे-जाइड, पास, के प्रयोग से काफी लाभ हुआ है। आरम्भ में स्ट्रैप्टोमाइसी सल्फेट १ ग्राम की मात्रा में पेशी में प्रति दिन देते हैं। जब विषाक्तता के लक्षण घट जाते हैं तब इंजैक्शन हर दूसरे दिन देते हैं। पूरे इलाज में ६ माह से १२ माह का समय लग सकता है। पास का उपयोग उनमें करते हैं जिनमें संक्रमण के प्रति औषधि का प्रति-रोध पाया जावे। कुछ दिन कॉर्टिकोष्टरॉइड देने से भी लाभ होता है।

जीवाणुनाशक और प्रतिजीवी औषधियां

आधुनिक युग में उपसर्गों से निबटने के लिए अनेक प्रकार की नवीन औषधियां बाजार में प्राप्त होने लगी हैं जिनके अविष्कार हेतु अनेक आधुनिक तपस्वियों ने कठिन श्रम किया है। हम यहां कुछ चुनी हुई औषधियों के गुण-धर्मों पर प्रकाश डाल रहे हैं जिन्हें सर्जीकल कक्षों में अस्प-ताल में अहर्निश उपयोग में लाया जाता है।

पेनिसिलीनें—कई प्रकार की पेनिसिलीनें आज उपलब्ध हैं। इन सभी में एक सामान्य रासायनिक केन्द्रक एमाइनो पेनिसिलैनिक अम्ल पाया जाता है तथा इनकी कार्य प्रणाली का मुख्य आधार जीवाणुओं की कोशिकाओं की प्राचीर के म्यूकोपेप्टाइट—पैप्टीडोग्लाइकैन का निर्माण रोकना होता है। जब जीवाणु कोशिकाओं की बाहरी प्राचीर हीन बनेगी तो उस जीवाणु का जीवन कैसे चलेगा इसलिए जीवाणुओं का उत्पन्न होना, बनना, बढ़ना रुक जाता है और रोग से रोगी की मुक्ति हो जाती है। जो जीवाणु अपनी वृद्धि नहीं करते और गुम गुम पड़े रहते हैं उन पर पेनिसिलीन का इसलिए प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उनकी नयी कोशिका प्राचीरों के बनने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

पेनिसिलीन की मात्रा इकाइयों या यूनिटों में दी जाती है। पर आजकल ग्रामों में भी दी जाने लगी है। दस लाख यूनिट पेनिसिलीन ०.६ ग्राम के बराबर होती है। रसधातु में पेनिसिलीन तथा एम्पिसिलीन की ०.०१ से १ माइक्रोग्राम प्रति मिलीलिटर मात्रा जीवाणुनाश के लिये काफी होती है। मेथिसिलीन तथा आइसोक्सैजो-लायल पेनिसिलीनें १/५ से १/५० तक सक्रिय होती हैं। पेनिसिलीनें ग्रामपौजिटिव जीवाणुओं पर जितना कार्य करती हैं उतना ग्रामनैगेटिव जीवाणुओं पर नहीं, इसका

कारण इन दोनों वर्गों के जीवाणुओं की कोशिकाओं की प्राचीर की रचना में अन्तर होना पाया जाता है। इन पेनिसिलीनों के ३ वर्ग किये जाते हैं—एक वर्ग जो पेनिसिलीनेज द्वारा आसानी से नष्ट हो सके; दूसरा जो अम्ल pH के द्वारा तो नष्ट हो पर आमाशयिक अम्ल में स्थिर रहे; तीसरा वर्ग जो ग्रामपौजीटिव बनाम ग्रामनैगेटिव के विरुद्ध विशेष कारगर होता है। विविध पेनिसिलीनों का कुछ परिचय नीचे दिया जा रहा है:—

पेनिसिलीन G—इसके जलीय घोल का पेशी या सिरान्तर्गत इञ्जैक्शन गौनोकोकाय, स्ट्रैप्टो को०, न्यूमो को०, मेनिंगो को०, ट्रीपोनेमा पैलिड तथा अन्य स्पाइरोकीटा, बै० ऐन्थ्राक्स तथा अन्य अनेक दण्डाणुओं, क्लोस्ट्रीडिया लिस्टरिया, बैक्टराइड्स को नष्ट करता है। इसके लिये हर ४ से ६ घंटे पर ६ लाख से ५० लाख यूनिट तक इञ्जैक्शन दिये जाते हैं। इससे अधिक बड़ी मात्राएं ड्रिप विधि से सिरा में चढ़ाई जाती हैं पर यह न भूलना चाहिये जहां सिरा में पेनिसिलीन चढ़ाई जाती है, वहां थ्रॉम्बोफ्लेबाइटिस (घनास्रसिराशोथ) तथा सुपर इन्फैक्शन (अधिसंक्रमण) हो सकता है, इसलिए स्थान बदल-बदल कर हर दूसरे दिन सिरा में पेनिसिलीन का इञ्जैक्शन चढ़ाना चाहिये। मेनिंजाइटिस हो जाने पर पेनिसिलीन लम्बर पंक्चर कर इण्ट्राथीकल (अन्त: मेरुनाल) मार्ग से दी जाती है पर इस मार्ग में बहुत खतरा है। दस हजार यूनिट से अधिक पेनिसिलीन जी कम्प पैदा करती है। इसलिए इस मार्ग से पेनिसिलीन नहीं दी जा रही।

ओरल बफर्ड पेनिसिलीन G या V—यह श्वसन संस्थान के सामान्य संक्रमण में १ से ४ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन देते हैं। जितनी पेनिसिलीन मुख द्वारा दी जाती है, उसका पांचवां भाग ही शरीर में प्रचूषित होने से मुख का मार्ग अधिक विश्वसनीय नहीं माना जाता।

बेंजाथीन पेनिसिलीन जी—यह पेनिसिलीन जल में बहुत कम घुलता है, इसलिए जब पेनिसिलीन का शरीर में डिपो बनाना हो और लगातार पेनिसिलीन की सप्लाई करके उसकी मर्यादा स्थिर रखनी हो तो इसका प्रयोग किया जाता है। इसे पेशी में इञ्जैक्शन देकर देते हैं। ऐसे ४० लाख की मात्रा आरम्भिक फिरंग में तथा स्ट्रैप्टोकोकस हीमोलाइटीकस जीवाणु के उपसर्ग में दी जाती है। यह दवा मुख द्वारा कोई कार्य नहीं करती।

प्रोकेन पेनिसिलीन जी—यह २४ घंटे तक पेनिसिलीन की लैविल रक्तरस में कायम रखती है। इसे ३ से ६ लाख यूनिट की मात्रा में प्रतिदिन पेशी में देते हैं।

ऐम्पिसिलीन—यह पेनिसिलीन जी से पृथक् होती है। यह ग्रामनैगेटिव जीवाणुओं के विनाश में अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। यही गुण कार्बेनिसिलीन का भी है। पेनिसिलीन जी समेत ये सभी पेनिसलीनें पेनिसलीनेज नामक ऐंझाइम द्वारा नष्ट करदी जाती हैं। छोटे बच्चों की मेनिंजाइटिस को रोकने में ऐम्पिसिलीन महत्त्वपूर्ण औषधि के रूप में प्रमाणित हुई है। इसी प्रकार हीमोफाइलस इन्फ्लुऐंजा में भी इससे लाभ होता है। एम्पिसिलीन मुख द्वारा आजकल अधिक प्रयुक्त की जाती है। मूत्रमार्गों के संक्रमण इससे जल्दी ठीक हो जाते हैं। स्यूडोमोनास् तथा ऐटीरोबैक्टर पर ऐम्पिसिलीन का प्रभाव नहीं पड़ता। कार्बेनिसिलीन प्रोटियस तथा स्यूडोमोनास पर प्रभावी सिद्ध हुई है। ६ से १२ ग्राम प्रतिदिन मुख-द्वारा देने से साल्मोनेला जीवाणुओं का ऐम्पिसिलीन विनाश कर देती है, इसलिए टायफाइड और पैरा टायफाइड ज्वरों में जहां क्लोरैम्फेनिकोल लाभप्रद सिद्ध न हो या हानिप्रद सिद्ध हो रहा हो। ऐम्पिसिलीन देनी चाहिए।

पेनिसिलिनेजप्रतिरोधी पेनिसिलिनें—उपर्युक्त सभी पेनिसिलीनें पेनिसिलीनेज द्वारा नष्ट हो जाती हैं, इस कारण उनका प्रभाव तभी तक रहता है, जब तक पेनिसिलीनेज उन्हें नष्ट नहीं कर देता। पेनिसिलीनेज की क्रिया जीवाणु के बीटा-लैक्टामेज द्वारा की जाती है। इससे बचने के लिये आधुनिक योगियों ने मेथिसिलीन, क्लोक्जासिलीन, नैफसिलीन, औक्जासिलीन, डाइक्लोक्जासिलीन आदि अनेक पेनिसिलीनों का आविष्कार किया है, जिन पर पेनिसिलीनेज का प्रभाव अधिक नहीं हो पाता। इन दवाओं को खाली पेट देना चाहिए अन्यथा इनका प्रचूषण महास्रोत द्वारा नहीं हो पाता। इन्हें ०·२५ से ०·५ ग्राम की मात्रा में ४ से ६ घंटे पर मुख द्वारा खाली पेट दिया जाने से स्थानसंश्रित स्टैफिलोकोकल संक्र-

मण दूर किये जा सकते हैं। अधिक गम्भीर स्टैफिलो-कोकस संक्रमणों में ८ से १६ ग्राम मेथिसिलीन या ६ से १२ ग्राम नैफसिलीन सिरा द्वारा देते हैं। १-२ ग्राम प्रति आधे घंटे पर ५% ग्लूकोज या नार्मल सैलाइन में हर २ घंटे पर डालकर ड्रिप विधि से सिरा में चढ़ाते हैं।

पेनिसिलीन प्रतिक्रिया

पेनिसिलीन इतना उपयोगी जीवाणुनाशक पदार्थ होने पर भी किसी-किसी के लिए यह घातक भी सिद्ध होता है। किसी भी द्रव्य के साथ पेनिसिलीन मिलाकर देने से चाहे वह आहार द्रव्य ही क्यों न हो, पेनिसिलीन अलर्जी या सेंजिटाइजेशन(सुग्राहीकरण)या प्रतिक्रिया(रिऐ-क्शन)पैदा कर देती है। पेनिसिलीन कितने दिनों से और कितनी मात्रा में दी गई है, ये दोनों ही तथ्य उसके सुग्रा-हीकरण या प्रतिक्रिया में उभर कर आते हैं। आजकल पहले त्वचा परीक्षा करके पेनिसिलीन दी जाती है। १ बूंद पेनिसिलीन का जलीय घोल १० बूंद नार्मल सैलाइन में घोल उसमें से १-२ बूंद त्वचा के नीचे प्रविष्ट कर देते हैं। अगर व्यक्ति को पेनिसिलीन असात्म्य है तो वह स्थान थोड़ी देर में फूलकर लाल हो जायगा। उसे पेनि-सिलीन का प्रयोग कदापि नहीं कराना चाहिए। प्रति-क्रिया के कारण ज्वर, शीतशित्त (अर्टीकेरिया), जोड़ों का शोथ, वाहिनीतन्त्रीय शोफ (एंजियोन्यूरोटिक इडीमा), भयंकर खुजली, श्वास लेने में कष्ट, चमड़ी पर दानों का उग आना आदि लक्षण ५-१० मिनट में ही इन्जैक्शन के बाद उठ आते हैं। किसी-किसी को इन उपद्रवों के उत्पन्न होने मे ७ से १२ दिन तक लग सकते हैं। मुख में पाक, वृक्कपाक, इओसिनोफिलिया, हीमोलाइटिक अनीमिया, वाहिकाशोथ कुछ अन्य उपद्रव हैं जो प्रति-क्रिया से प्रभावित व्यक्तियों में पाये जा सकते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के दुष्परिणामों ने ही कितने ही व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया है। इसलिए प्रत्येक चिकित्सक को पेनिसिलीन के प्रयोग से डरना चाहिए तथा जहां कोई वश न चले वहीं पेनिसिलीन देनी चाहिए। देते समय कॉर्टि-कोस्टराइड द्रव्य (डैकाड्रोन, बैटनीसोल) आदि का उपयोग करना न भूलना चाहिये। एन्टी हिस्टैमिनिक द्रव्य(सायनो-पैन, एविल आदि) तथा एड्रिनलीन हाइड्रोक्लोराइड का तत्काल इन्जैक्शन भी लाभदायक सिद्ध होता है।

यह न भूलना चाहिए कि हर प्रकार की पेनिसिलीनें नर्वससिस्टम को प्रक्षुब्ध करती हैं। इसी कारण इसका इण्ट्राथीकल उपयोग बन्द कर दिया गया है। बहुत बड़ी मात्राओं में पेनिसिलीन के इन्जैक्शन मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर वहां प्रक्षोभ के घातक लक्षण पैदा कर देते हैं, उसी प्रकार मुख द्वारा अधिक मात्रा में पेनिसिलीन का उपयोग महास्रोत को अपसैट कर क्षोभ पैदा करके हृल्लास और अतीसार उत्पन्न कर सकता है। यही नहीं मुख द्वारा प्रदत्त पेनिसिलीन से स्टैफिलोकोकाय, स्यूडोमोनास, प्रोटियस एवं यीस्ट की अतिशय उत्पत्ति या वृद्धि होकर आन्त्रशोथ पैदा हो जाता है। अन्य अंगों में भी अधि-संक्रमण (सुपर इन्फैक्शन) संभव है, जैसा कि अन्य प्रति-जीवियों के प्रयोग से होता है। छोटे बच्चों में खासकर तथा बड़ों में भी पैंथिसिलीन के उपयोग से ग्रैन्युलोसाय-टोपीनिया (कणिकाकोशाओं की अल्पता) पैदा हो जाती है।

ऐरिथ्रोमायसीन

ऐरिथ्रोमायसीनें भी नई दवाओं का ही एक वर्ग है, जो जीवाणुओं के नाश में सहायक सिद्ध होता है। यह ग्रामपौजिटिव जीवाणुओं (न्युमो को०, स्ट्रैप्टो को०, स्टै-फिलो को० तथा कोरिनि बैक्टीरिया) के विरुद्ध सक्रिय होता है। नीसेरिओं तथा माइको प्लाज्माओं पर भी इनका प्रभाव पड़ता है। ये क्षारीय माध्यम में अच्छा काम करते हैं। मुख द्वारा देने पर इनमें कई आमाशयिक अम्ल द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। एरिथ्रोमायसीन ऐस्टोलेट तथा ओलियेंडोमायसीत ट्रायऐसिटिल ऐस्टर दो ऐसी दवाएं हैं जो आसानी से महास्रोत द्वारा प्रचूषित हो जाती हैं। इनको उन रुग्णों में देते हैं जिन्हें पेनिसिलीन माफिक नहीं आती। खासकर स्ट्रैप्टोकोकल तथा न्यूमो-कोकल उपसर्गों में। डिफ्थीरियाभ दूषण उपस्थिति होने पर *या माइकोप्लाज्मा जन्य न्यूमोनिया में ऐरिथ्रोमाय-*सिन बहुत अच्छा काम करती है। ऐरिथ्रोमायसिन स्टिय-रेट ऐरिथ्रोमायसिन ऐस्टोलेट या ट्रोलियेण्डोमायसिन ०.५ ग्राम की मात्रा में हर ५ घंटे पर देते हैं। बच्चों को ४०

मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार के हिसाब से मात्रा निर्धारित की जाती है। सिरा द्वारा ०·५ ग्राम की मात्रा में ऐरिथ्रोमायसीन लैक्टोबायोनेट या ऐरिथ्रोमायसिन ग्लूसैप्टेट हर १२ घंटे पर देते हैं।

मुख द्वारा ऐरिथ्रोमायसिन देने से किसी-किसी को हृल्लास (जी मिचलाना), उलटी होना तथा अतीसार के लक्षण मिलने लगते हैं। किसी-किसी के यकृत् में नुकसान हो जाता है, उसे ज्वर और कामला के साथ यकृत् शोथ पैदा हो जाता है। इसलिए जिसका यकृत् विकृत हो उसे ऐरिथ्रोमायसीन नहीं देनी चाहिए।

टैट्रासायक्लीनवर्ग की औषधियां

यह एक ऐसा वर्ग है जिसकी रासायनिक संरचना, जीवाणुओं पर क्रिया तथा द्रव्य गुणात्मक कार्य समान होता है। इस वर्ग में अनेक औषधियों का समावेश किया गया है। अनेक ग्राम पौजीटिव और ग्रामनैगेटिव जीवाणुओं और वातमी जीवाणुओं तथा पराश्रयी जीवों की प्रोटीन निर्माण की क्रिया को ये प्रतिजीवी द्रव्य रोक देते हैं। आजकल कुछ जीवाणु प्रतिजीवी द्रव्यों के प्रतिरोधक बनते जा रहे हैं जो नवीन चिकित्सकों के सामने एक बड़ी समस्या बन रही है। अनेक रोगों में प्रतिजीवी द्रव्य अधिक महत्त्व का कार्य करती और रामबाण सिद्ध होती है। टैट्रासाइक्लीनों में-टैट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड, ओक्सीटैट्रासाइक्लीन, क्लोरटैट्रासाइक्लीन ये ३ मुख्य हैं ये २५० मिग्रा प्रति ६ घंटे पर या २०-४० मिग्रा प्रति किलो से बच्चों में दी जाती हैं। डिमेक्लोसाइक्लीन और मैथासाइक्लीन धीरे-धीरे निकलती है इनको ०·१५ से ०·३ ग्राम प्रति ६ घंटे पर या १२-२० मिग्रा प्रतिकिलो बच्चों को देते हैं डोक्सीसाइक्लीन १०० मिग्रा प्रति १२ घंटे पर दी जाती है पहले दिन २ बार फिर एक बार ही काफी होती है। ये दवाएं मुख द्वारा, पेशी द्वारा या सिरा द्वारा दी जाती हैं। पेशी में इनके तैलीय रूप और सिरा के लिए जलीय घोल देते हैं। मुख द्वारा देने के लिए कैपसूल बनते हैं। टैट्रासाइक्लीनों से पेनिसिलीन जैसी एलर्जी नहीं देखी जाती पर ये महास्रोत या कोष्ठ में क्षुधानाश, हृल्लास और अतीसार इन तीनों में कोई भी लक्षण पैदा कर सकते हैं। इन्हें रोकने के लिए इनको भोजन के साथ देना या कम मात्रा में देना उचित होता है। इन टैट्रासाइक्लीनों का अस्थियों और उगते हुए दांतों पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है इसलिए छोटे शिशुओं और सगर्भा स्त्रियों को टैट्रासाइक्लीन देना कोई भी अच्छा लेखक उचित नहीं ठहराता। गर्भावस्था में इन द्रव्यों से यकृत में भी परिगलन हो सकता है। सामान्य रूप से भी ३ ग्राम से अधिक मात्रा में टैट्रासाइक्लीन किसी के भी यकृत् में विकार पैदा कर सकती हैं। पुरानी रखी हुई टैट्रासाइक्लीन वृक्कों की नलिकाओं अम्लोत्कर्ष और अभिघात पैदा कर सकती हैं। सूचीवेध सिरा में करने पर सिराशोथ, पेशी में करने पर स्थानिक क्षतोत्पत्ति उत्पन्न कर सकता है। डिमेक्लोसाइक्लीन के प्रयोग से गौरवर्ण के स्त्री पुरुषों में धूप में चुमचुमायन (फोटोसेंजीटाइजेशन) भी देखा जा सकता है।

क्लोरेम्फेनिकौल

यह एक कृत्रिम पद्धति से निर्मित शक्तिशाली दवा है, इसकी विषाक्तता भी बहुत काफी है। इस समय इसका उपयोग निम्नांकित रोगों में किया जाता है।

i. साल्मोनेल्ला उपसर्ग—टायफाइड फीवर।

ii. हीमोफाइलस इन्फ्लुएंजी में निंजाइटिस।

iii. स्वरयन्त्र कण्ठनाड़ीशोथ तथा न्यूमोनिया जिन पर एम्पिसिलीन व्यर्थ जाती है।

iv. कोई भी मेनिंगोकोकल उपसर्ग जिस पर पेनिसिलीन का प्रभाव न हो।

v. रिकैट्सिया उपसर्ग जो तीव्र स्वरूप का हो।

इन रोगों में जब रोग की स्थिति गम्भीर हो ४ से ८ घंटे के अन्तर से ०·५ ग्राम क्लोरैम्फेनिकोल दे सकते हैं तथा इसे ७ से २१ दिन तक चालू रख सकते हैं। बच्चों को ३०-५० मिग्रा प्रति किलो शरीर भार के अनुपात से देते हैं। क्लोरेम्फेनिकौल का सबसे खराब असर रक्तोत्पादक संस्थान पर पड़ता है जो लोग या वयस्क ५० मिग्रा १ किलो से अधिक के हिसाब से क्लोरेम्फेनिकौल का सेवन करते हैं तथा जिनकी इस औषधि की रक्तस्थ मात्रा २५ माइक्रोग्राम प्रति मिलीलिटर रक्त से ऊपर रहती है उनको १-२ हफ्तों के बाद रक्त के लाल कणों की परिपक्वता नहीं हो पाती उसे रक्तक्षय हो जाता

है रक्तरस में लोहे की मात्रा बढ़ जाती है रैटिक्युलोसाइटों की मात्रा घट जाती है तथा अस्थिमज्जा में रिक्तित केन्द्रकयुक्त लालकण प्रकट हो जाते हैं। दवा वन्द करने से ये लक्षण दूर हो जाते हैं। इस द्रव्य के सेवन से अप्लास्टिक अनीमिया भी बन सकता है पर वह विरलों को ही होता है। बार-बार क्लोरोमाइसेटिन (क्लोरेम्फेनिकौल) देते चले जाने से और रक्तचित्र की उपेक्षा करने वाले रुग्णों में यह बनता है। यह उत्पन्न होने के बाद सुधारा नहीं जा सकता और रोगी को मार डालता है इसलिए चिकित्सक को बहुत सोच समझकर मर्यादित मात्रा में और कुछ ही दिनों तक क्लोरेम्फेनिकौल का उपयोग करना चाहिए। नवजात शिशुओं को क्लोरेम्फेनिकौल देने से ग्रेसंलक्षण बनता है जिसमें वमन, शैथिल्य, शीतांगता और अवपात होकर उनकी मृत्यु हो जाती है।

स्ट्रैप्टोमाइसीन

यह स्ट्रैप्टोमाइसीन ग्रीजियस से तैयार किया जाता है। आजकल स्ट्रैप्टोमाइसीन सल्फेट का ही व्यवहार अधिक किया जा रहा है। यह दवा राजयक्ष्मा के जीवाणुओं, ग्रामपौजिटिव जीवाणुओं तथा ग्राम नैगेटिव जीवाणुओं से होने वाले उपसर्गों में दी जाती है। इसके आविष्कार के बाद राजयक्ष्मा या ट्यूबर्क्युलोसिस की भयावहता से मानवता ने त्राण पाया है। जीवाणुओं का प्रतिरोध रोकने के लिए इसे पेनिसिलीन के साथ मिलाकर प्रयोग करने की प्रथा है क्योंकि यह पेनिसिलीन की जीवाणुनाशक शक्ति की अभिवृद्धि करती है। ब्रूसेला के उपसर्ग में इसे ट्रैटासाइक्लीनों के साथ मिलाकर देते हैं। स्ट्रैप्टोकोकस फीकलिस या स्ट्रैप्टोकोकस वाइरीडेंस के कारण उत्पन्न वैक्टीरियल ऐंडोकार्डाइटिस में इसे पेनिसिलीन के साथ उपयोग में लाते हैं। प्लेग को रोकने के लिए भी यह दवा रामबाण सिद्ध हुई है। राजयक्ष्मा या ट्यूबर्क्युलोसिस में ०·५ से १ ग्राम की मात्रा में इसे पेशी में प्रतिदिन इंजैक्ट करते हैं अधिक गम्भीर या उग्ररोग में ६ से १२ घंटे पर भी इसे देते हैं। इसके प्रयोग से भी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है जिसमें त्वचा पर फुंसियों या दानों का उग आना, ज्वर हो जाना, पर ये होते उसीको है जिनको हाथों से स्ट्रैप्टोमायसीन का चूर्ण या घोल छू जाता है। वैसे इंजैक्शन देने से रोगी के कानों में सनसनाहट और बधिरता की उत्पत्ति हो सकती है तथा वृक्कों में भी विकार बन सकता है। जिनकी वृक्क क्रिया पहले से गड़बड़ हो या बहुत अधिक मात्रा में स्ट्रैप्टोमाइसीन का सेवन किया गया हो तो वृक्क खराब हो जाते हैं वे नाइट्रोजन का उत्सर्जन पूरा-पूरा नहीं कर पाते इससे नाइट्रोजन रक्त में बढ़ जाता है। आठवीं आडीटरी-नर्व पर इसका घातक प्रभाव पड़ता है। पहले कर्णक्ष्वेड या टिनीटस पैदा होता है फिर चक्कर आते हैं, चलने में पैर लड़खड़ाते हैं, सन्तुलन बिगड़ जाता है और फिर श्रवणशक्ति जवाब देने लगती है। स्ट्रैप्टोमाइसीन कभी-कभी उन रोगियों को न दें जिनके वृक्कों की क्रिया में गड़बड़ी हो और न इसे एमाइनोग्लाइकोसाइड्स के साथ ही दें।

कैनामाइसिन—यह एक प्रसिद्ध एमाइनो ग्लाइकोसाइड है जो ग्रामनैगेटिवपूयता को नष्ट करने हेतु प्रयोग में लाई जाती है। यह १ से १० माइक्रोग्राम प्रति मिलि के संकेन्द्रण में ही अनेक ग्राम पौजीटिव एवं ग्राम नैगेटिव जीवाणुओं को पछाड़ देती है। इसकी क्रिया क्षारीय PH में अधिक सरलता से होती है। यह मूत्रमार्गीय उपसर्गों में जिनकी उत्पत्ति ऐण्टीरोबैक्टर, प्रोटियस, या अन्य ग्राम नैगेटिव जीवाणुओं द्वारा हुई हो अच्छा कार्य करती है। इसे ०·५ ग्राम की मात्रा में ६ से १२ घंटे बाद पेशी में इंजैक्ट करते हैं। यह भी स्ट्रैप्टोमाइसीन की तरह कानों और गुर्दों के लिए हानिप्रद है। मूत्र में प्रोटीन जाना तथा नाइट्रोजन का रुक जाना इसके द्वारा भी होता है। वृक्कों की हानि दवा रोकने से रुक जाती है पर कान की श्रवणनाड़ी की जो क्षति हो जाती है वह जीवन भर रहती है। बहुत अधिक मात्रा में केनामाइसीन के प्रयोग से श्वासक्रिया यकायक वन्द हो सकती है उसे रोकने के लिए निओस्टिग्मीन का प्रयोग तत्काल करना पड़ता है।

निओमाइसीन—यह कैनामाइसीन के समान ही गुण और अवगुण युक्त औषधि है। इसके भी अति मात्रा में प्रयोग से श्वासक्रिया रुक सकती है। यह भी श्रुतिनाड़ी और वृक्कों में खराबी पैदा कर सकती है। निओमाइसीन

इंजैक्शन के रूप में बहुत खतरनाक साबित हुई हैं। इसे इसलिए मलहमों में मिलाकर अधिक प्रयुक्त किया जाता है। मुख द्वारा देने से भी हानि नहीं होती है क्योंकि यह महास्रोत द्वारा बहुत ही कम प्रचूषित होती है। जब महास्रोत या उदर कोष्ठ में सर्जरी करनी होती है तब निओमाइसीन १ ग्राम की मात्रा में हर ४ से ६ घंटे पर २-३ दिन तक प्रति दिन खिलाई जाती है जिससे आंत का फ्लोरा (आन्त्र जीवाणु समूह) घट जाता है। जब याकृत् सन्यास (हिपैटिक कोमा) पैदा हो जाता है जिससे अमोनिया अन्तर्विषता पैदा हो जाती है तो उसे कम करने के लिए महास्रोत के कॉलीफॉर्म जीवाणुसमूह को निओमाइसीन १ ग्राम ६ से ८ घंटे पर देते हैं तथा प्रोटीन की मात्रा भोजन में घटा देते हैं। त्वचा के उपसर्गों को रोकने के लिए निओमाइसिन मलहरों (ऑइंटमेंटों) में ५ मिग्रा १ ग्राम के हिसाब से डाली जाती है। निओमाइसिन की एक बहिन पैरोमोमायसीन या ह्यूमैटिन कहलाती है इसे १ ग्राम प्रति ६ घंटे पर खिलाने से अमीबिक प्रवाहिका पर प्रभाव डाला जाता है।

यह न भूलना चाहिए कि निओमाइसिन युक्त मलहर भी व्यक्ति के लिए असात्म्य और अलर्जी उत्पन्न करने वाले हो सकते हैं। आंखों में इसके मलहरों से नुकसान हो सकता है। निओमाइसीन के खिलाने से फ्लोरा कम होने के कारण अधिउपसर्ग की संभावना बढ़ सकती है। जिन लोगों को महास्रोत पर किये जाने वाले शस्त्रकर्म के पूर्व निओमाइसीन से शुद्धि की जाती है उनमें आन्त्र जीवाणु समूह के अभाव में स्टैफिलोकोकल आन्त्र शोथ उत्पन्न होकर मृत्यु तक होती हुई देखी गई है इसे भी सर्जन को इसका उपयोग करने के पूर्व जाने रहना चाहिए इसीलिए इस विशेषांक में इन औषधियों की घातकता पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

गैरामाइसीन—इसे जेंटामायसीन भी कहा जाता है। यह भी एक एमाइनोग्लाइकोसाइड प्रतिजीवी द्रव्य है। यह केनामायसीन से गुणों में काफी मिलता है पर इसकी जीवाणुनाशक क्रिया उससे कुछ भिन्न है। यह भी मुख द्वारा सेवा करने पर किसी खास मात्रा में प्रचूषित नहीं होती। कौलीफॉर्म जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न पूयता, दग्ध व्रण के उपसर्ग, न्यूमोनिया आदि में गैरामाइसीन का अच्छा उपयोग होता है। यह स्टैफिलोकोकाय, प्रोटियस स्यूडोमोनास सरेंशिया आदि जीवाणुओं के संहार में अन्य कम विषैले प्रतिजीवियों से बढ़कर कार्य करती है। इसकी मात्रा २ से ३ मिग्रा १ किलो प्रति दिन की है जिसे पेशीवेध द्वारा ३ बराबर मात्राओं में विभक्त करके ७-१० दिन तक देना चाहिए। अधिक संकटावस्था में मात्रा ५-७ मिग्रा १ किलो भी की जा सकती है। मूत्रमार्ग के प्राणहर उपसर्गों में इसे और अधिक मात्रा में १० दिन या कुछ और अधिक समय तक दे सकते हैं। दग्धव्रणों पर इसकी क्रीम लगाते हैं। इसे भी वृक्कों का अभिघात होने पर न दें तथा इसके प्रयोग काल में मूत्र का क्रियेटिनीन क्लियरेंस टैस्ट प्रयोगशाला में कराते रहना चाहिए। कानों में भी इसके कारण खराबी देखी गई है।

पौलीमिक्सीन—यह १९४७ ई० में आविष्कृत प्रतिजीवी द्रव्यों का एक वर्गिक नाम है। मिट्टी से प्राप्त बैसीलस पौलीमिक्सा से पौलीमिक्सीन ए, बी, सी, डी, ई नामक प्रतिजीवी (एण्टीबायोटिक) तैयार किये गये हैं। ये सभी ग्रामनैगेटिव जीवाणुओं के संहार करने में बहुत सफल सिद्ध हुए हैं। स्यूडोमोनास ऐरूजीनोसा, ऐस्केरीकिया कोलाय, क्लैबसैल्लान्यूमोनी, एयरोबैक्टर, एयरोजीनेज, हीमोफाइलस इन्फ्लुऐंजी तथा शीगेलावर्ग के जीवाणु इस वर्ग के द्वारा प्रभावित होते हैं। स्यूडोमोनास ऐरूजीनोसा अन्य अनेक द्रव्यों के काबू में नहीं आता। पौलीमिक्सीन ज़ी जो इस वर्ग का सबसे कम विपाक्त द्रव्य है, इस जीवाणु का भले प्रकार संहार कर देता है। इस द्रव्य के प्रति मि० ग्रा० में ६०० यूनिटें इसकी होती हैं। आंत के शीगेला और स्यूडोमोनास उपसर्गों की रोकथाम के लिए पौलीमिक्सीन बी सल्फेट की ७॥ लाख से लेकर १० लाख यूनिट तक प्रतिदिन ४ बार देते हैं। गैस्ट्रोएण्टराइटिस पैदा करने वाले अनेक जीवाणु इसके प्रभाव से निष्क्रिय हो जाते हैं। इसे पेशी द्वारा तथा लम्बर पंक्चर करके भी देने के लिए बतलाया जाता है। पेशी में इन्जैक्शन दर्द करता है। सिरा द्वारा ड्रिप विधि से भी प्रयुक्त होता है। स्यूडोमोनास मेनिंजाइटिस में अन्तः मेरुनालीय (इण्ट्राथीकल) रूप से इसे देते हैं। मात्रा २ से १० मि० ग्रा० एक बार प्रति दिन २-३ दिन तक, फिर हर दूसरे दिन २-३ सप्ताह तक देते हैं। पेशी में मात्रा २.५ मि० ग्रा० १ किलो के

हिसाब से दी जाती है। दर्द रोकने हेतु कॉलिस्टीमीथेट नामक संज्ञाहर मिलाते हैं। पौलिमिक्सीन वी सल्फेट के १ मि० ग्रा०/मि० लि० के घोल आते हैं जो स्थानिक उपसर्गग्रस्त मार्ग चुपड़ने के काम आते हैं। वेसीट्रेसीन, निओमाइसीन मिले पौलीमिक्सीन की सल्फेट के मलहर भी मिलते हैं। इसके प्रयोग से शरीर में दाह, घुमनी या चक्कर, ऊष्मा का सर्वांगीण आभास (फ्लशिंग) और विशृङ्खलन मिलता है। ये लक्षण दवा के उत्सर्गित होने पर शान्त हो जाते हैं और अधिक मात्रा के प्रयोग से श्वसन क्रिया का अवरोध या अंगघात के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। सभी पौलीमिक्सीनें वृक्कों को क्षति पहुँचाती हैं। मूत्र में अल्ब्युमिन आना, रक्त आना या सिलिंड्रूरिया होना आदि नलिकाओं के आघात की ओर निदेश करते हैं। यदि नाइट्रोजन रुकने लगे तो दवा बन्द कर देनी चाहिए। वृक्कों की खराबी में इस वर्ग के द्रव्यों का प्रयोग न करना या देर-देर से करना आवश्यक होता है।

कुछ फंगसरोधी प्रतिजीवी

फंगस विरोधी कई द्रव्य अब सामने हैं, पर उनमें अधिकांश इतने विषैले हैं कि उनका प्रयोग मनुष्यों पर नहीं किया जा सकता। फिर भी कुछ की उपादेयता असन्दिग्ध होने से यहां उनका संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है, विशेष के लिए फार्माकोलोजी की बड़ी पुस्तकों का अवलोकन किया जाना चाहिए। इन द्रव्यों में एक है नायस्टैटिन। इसे माइकोस्टैटिन भी कहा जा सकता है। यह महास्रोत द्वारा प्रचूषित नहीं होती, न इसे कोई श्लेष्मल कला ही प्रचूषित करती है। इस कारण इसे मलहर, निलम्बित घोल आदि के रूप में या गोलियों के रूप में तैयार करके त्वचा पर मलने या गोलियों को योनि में प्रविष्ट कर वहां स्थित फंगस को नष्ट किया जाता है। महास्रोत में कैंडिडा एल्बीकेंस के द्वारा संक्रमण होने पर उसकी गोलियां निगलवाई जाती हैं जो महास्रोत के फंगस कैंडीडा को हटाकर बिना प्रचूषित हुए मल मार्ग से निकल जाती हैं। इसकी ५ लाख यूनिटें दिन में २ वार खिलाने से फंगस यीस्ट या कैंडीडा को नष्ट किया जाता है। बहुत बड़ी मात्राओं में देने से यह हृल्लास, वमन और अतीसार पैदा कर सकती है। बार-बार प्रतिजीवियों—टैट्रासाइक्लीनों के प्रयोग से मुंह में छाले महास्रोत में छाले या मौनीलियासिस बन जाती है, उसे हटाने हेतु २-३ वार प्रतिदिन ५ लाख यूनिट नायस्टैटिन दी जाती है।

ग्रीजियोफुलवीन—दूसरा फंगसरोधी प्रतिजीवी द्रव्य है। इसका ज्ञान १६३६ में हुआ था। १६५८ में उसके फंगस नाशक गुण का पता लगा। यह दद्रु या रिंगवर्म का सफाया करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। बालों त्वचा और नाखूनों को अपना शिकार बनाने वाले फंगस के दद्रुवर्गीय उपसर्ग को यह नष्ट करता है। इसका रोगकारक दण्डाणुओं (बैक्टीरिया) पर कोई प्रभाव नहीं होता। ०.५ से १ ग्राम प्रतिदिन (बच्चों को १५ मि० ग्रा० १ किलो) इसका सेवन कराया जाता है। इसका संचय त्वचा और नखों के किरैटिन में होने से यह उसे हठकता है, साथ ही वहां पर जो भी फंगस या दद्रु उत्पादक हेतु करौटिन पर होते हैं। वे भी किराटिन के साथ हो जाते हैं। नई किराटिन बिना किसी उपसर्ग के उत्पन्न होने से वर्षों पुराना रिंगवर्म नखों, बालों और चमड़ी से युक्त हो जाता है और नई चमड़ी, बाल और नख उग आते हैं। अगर केवल चमड़ी पर रोग हों तो ६ हफ्ते का दवा का सेवन काफी होता है, पर बालों और नाखूनों तक रोग पोंढ़ा हो तो ३ से ६ माह तक इस दवा का उपयोग जरूरी होता है। इसके कारण असात्म्य लक्षण शिरःशूल, छाती में जलन, पेट में दर्द, हृल्लास (जी मिचलाना), अतीसार, प्रकाश के प्रति असहनशीलता, ज्वर, त्वचा पर दानों का उग आना, रक्तोत्पादक संस्थान तथा वातनाड़ी संस्थान के उपद्रव भी मिल सकते हैं। कुमेरिन स्कन्दनरोधी द्रव्यों के विनाश को ग्रीजियो फुलवीन और अधिक तेज करता है। इसका उपयोग करते समय रक्त की जांच बराबर की जानी चाहिए। क्योंकि रक्त श्वेत कणों की कमी (ल्यूकोपीनिया) कर देता है। खास तौर पर कणिका कोशा (ग्रैन्युलोसाइट्स) कम हो जाते हैं।

एम्फोटैरिसीन बी—इस वर्ग की तीसरी दवा है, इसे फंगीजोन भी कहते हैं। यह अनेक यीस्ट सदृश फंगाई को दूर करता है। यह इनकी कोशिकाओं के ग्लाइको-लाइसिस में तोड़-फोड़ कर इन्हें नष्ट करता है। इसका असर फंगस के अलावा अन्य किसी दण्डाणु, विषाणु (वाइरस) या परांश्रयी (पैरासाइट) पर नहीं हुआ करता यह महास्रोत द्वारा प्रचूषित नहीं होता, इसलिए सिरा द्वारा (इण्ट्राविनसली) इसका प्रयोग किया जाता है। इसे ५% ग्लूकोज के घोल में मिलाकर धीरे-धीरे चढ़ाया जाने से इसका ०·१ मि० ग्रा०/मि० लि० की लैविल रक्त में बन जाती है। वयस्क की प्रतिदिन की मात्रा ५० मि० ग्रा० प्रतिदिन या ०·२५ मि० ग्रा०/किलो शरीर भार के अनुपात से देते हैं। इसे २० से ६० दिन तक प्रयोग करते हैं। चूंकि यह सिरा में प्रक्षोभ उत्पन्न करता है, इसलिए इसका स्थान अदल-बदल कर सिरा द्वारा चढ़ाते हैं। यह भी वृक्कों में खराबी लाने वाली दवा है। ब्लडयूरिया नाइट्रोजन का पूरा हिसाब इसके प्रयोग काल में रखा जाना चाहिए। असात्म्य लक्षणों में ज्वर, हृल्लास, वमन, क्षुधानाश, ऐजोटीमिया, मूत्र में निर्मोकों की उपस्थिति, प्रोटीन यूरिया तथा रक्तमेह मिल सकते हैं।

फ्लूसिस्टोसीन—यह फंगसरोधी द्रव्य यीस्ट मेनिंजाइटिस के उन रुग्णों में इसे ८ ग्राम प्रतिदिन मुख द्वारा दिया जाता है। जहां ऐम्फोटैरिसीन बी का प्रतिरोध हो रहा हो। यह दवा अस्थिमज्जा की क्रिया को अवसादित तो करती ही है, यह सिर के बालों को उड़ाकर गंज बना डालती है।

मूत्रप्रतिरोधी द्रव्य

नाइट्रोफ्यूरेंटॉइन—यह नाइट्रोफ्यूराजोन से सम्बन्धित द्रव्य है। यह उन जीवाणुओं पर विशेष प्रभाव डालती है जो मूत्रमार्ग पैदा करते हैं, इनमें प्रोटियस, एयरोबैक्टर, स्यूडोमोनास मुख्य हैं। इसे मुख द्वारा देते हैं तथा मुख द्वारा सेवन करने पर इसकी विषाक्तता अपेक्षाकृत अन्य द्रव्यों से कम ही रहती है। मात्रा ५ से ७ मि० ग्रा०/प्रतिकिलो शरीर भार अनुपात से निश्चित करते हैं। जिन उपसर्गों में अन्य प्रतिजीवी फेल हो जाते हैं, वहां भी यह अच्छा काम करती है। महास्रोत द्वारा प्रचूषित होने पर यह रक्त, रस की प्रोटीनों से जुड़ जाती है और इसी रूप में यह वृक्कों तक पहुंचती है। वृक्कों में प्रोटीनें इसे स्वतन्त्र करके स्वयं प्रचूषित होकर रक्त में मिल जाती हैं और इसे यहां छोड़ जाती है। यहां से यह पूरे मूत्र-मार्ग में उपस्थित जीवाणुओं के संहार में व्यस्त हो जाती है और स्वयं भी बाहर मूत्र के साथ निकल जाती है। मूत्र में इसका संकेन्द्रण २०० से ४०० मिग्रा प्रति मिली तक हो जाता है। ऊपर की मात्रा को जो प्रतिदिन वयस्कों में १०० मिग्रा तक पड़ती है भोजन के साथ देते हैं। अगर मुख द्वारा लेना संभव न हो तो सिरा द्वारा १८०—३६० मिग्रा प्रति दिन इन्फ्यूजन से चढ़ा सकते हैं। मुख द्वारा देने पर किसी-किसी को यह हृल्लस और वमन कर देती है। इसकी असात्म्यता से त्वचा पर दाने और फेफड़ों में कष्ट उत्पन्न हो सकता है। प्रोटियस और स्यूडोमोनास की कई जातियों में इसका उपयोग लाभदायक होता है पर स्यूडोमोनास एयजिनोसा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

नैलिडिक्सिक एसिड—यह दूसरा मूत्रमार्गीय प्रतिरोधी द्रव्य है। स्यूडोमोनास पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी यह अनेक ग्राम नैगेटिव जीवाणुओं की वृद्धि को रोक देता है। यह महास्रोत द्वारा प्रचूषित हो जाता है और यह प्लाज्मा प्रोटीनों के साथ चिपक जाता है इसलिए इसका प्रभाव शरीर पर एण्टीबैक्टीरियल क्रिया नहीं होती। मुख द्वारा सेवन की गई मात्रा का २० प्रतिशत मूत्र में उत्सर्गित होती है। वृक्कों में आने पर प्रोटीन अलग हो जाती है और यह दवा मूत्र मार्ग में स्वतन्त्र हो जाती है। इसकी मात्रा १ ग्राम मुख द्वारा दिन में ४ बार तक देते हैं। बच्चों को ५५ मिग्रा प्रति किलो प्रति दिन के हिसाब से देना चाहिए। इसकी प्रति क्रिया हृल्लास, वमन, त्वचा में दाने निकलना, तन्द्रा, देखने में गड़बड़ी और कभी-कभी आक्षेप या कन्वल्सजन्स भी मिलते हैं।

मीथेनैमाइन मेंडलेट तथा मीथेनैमाइन हिप्पूरेट ये दोनों क्रमशः मेंडेलिकअम्ल हिप्पूरिकअम्ल के मिथेनैमाइन

के साथ बने लवण हैं इनसे मूत्र में फार्मेल्डीहाइड मुक्त होकर आता है। इन्हें देते समय मूत्र का PH ५.५ रहना चाहिए तथा सल्फोनैमाइड द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। मात्रा २ से ६ ग्राम प्रति दिन की है ये उन सभी जीवाणुओं को जो मूत्रमार्ग को उपसृष्ट करते हैं नष्ट करते हैं पर जिन जीवाणुओं से यूरिया से अमोनिया बनता है तथा मूत्र बहुत क्षारीय हो जाता है (जैसे प्रोटियस) उन पर इस दवा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

गलित्कुष्ठनाशक सल्फोन

इसे डाईएमीनो डाईफिनायल सल्फोन या डैपसोन या डी० डी० एस० भी कहते हैं यह सल्फोनों में सबसे अधिक प्रयुक्त और बहुत आसानी से प्राप्त होने वाली दवा है। यह मुख द्वारा सेवन की जाती है यह २५ मिग्रा हफ्ते में दो बार दी जाती है फिर धीरे-धीरे इसे १०० मिग्रा तक बढ़ाया जाता है और हफ्ते में ३ या ४ बार ही दिया जाता है अन्त में ३०० मिग्रा हफ्ते में दो बार इसे देते हैं। अन्य दवाओं में डायासोन और सल्फेट्रोन आते हैं। इन दवाओं के विषाक्त परिणाम हीमोलायसिस, मैट हीमोग्लोकीमिया, क्षुधानाश, हृल्लास, वमन तथा त्वचा पर लाल दानों की उत्पत्ति, ज्वर, शिरःशूल, अनिद्रा, नर्वसनैस, दृष्टि का धुंधलापन, रक्तमेह और कण्डू के रूप में प्रगट होते हैं।

अन्य कुछ विशिष्ट औषधियां

बेसीट्रसीन—यह एक पोली पेप्टाइड प्रतिजीवी द्रव्य है जो ग्राम पोजिटिव जीवाणुओं खास कर पेनिसिलिनेज पैदा करने वाले स्टैफिलोकोकाय के विरुद्ध कार्य करता है। यह त्वचा, श्लेष्मलकला और महास्रोत से बहुत कम प्रचूषित होता है। इसे मलहरों में मिलाकर प्रयुक्त करने से विषाक्त परिणाम प्रायः नहीं होते तथा जीवाणुओं का सफाया कर देती है। इसके साथ पोलीमिक्सिन बीसल्फेट मिलाकर या नियोमाइसीन मिलाकर प्रयोग करते हैं। एक ग्राम वैसलीन में इसकी ५०० यूनिट मिलाई जाती हैं।

वैंकोमायसीन—यह स्टैफिलोकोकाय तथा ऐण्टीरोकोकाय नामक ग्राम पोजीटिव जीवाणुओं पर कार्य करती है यह महास्रोत से प्रचूषित नहीं होती। इसे मुख द्वारा केवल स्टैफिलोकोकल ऐण्टीरोकोलाइटिस में ३ से ४ ग्राम तक प्रति दिन विभक्त मात्राओं में देते हैं। सार्वदैहिक प्रभाव के लिए इसे सिरावेध द्वारा ०.५ ग्राम मात्रा-मात्र धीरे-धीरे २० मिनट में देते हैं। हर ६ से ८ घंटे पर सुई दी जाती है ड्रिप विधि से भी इसे दे सकते हैं। यह बहुत क्षोभ पैदा करता है इसलिए इसे पेशी में नहीं देते। सिरा से भी यदि इसकी एक बूंद ही बाहर निकल जाय तो भी बहुत कष्ट देती है। जाड़ा, ज्वर, और घनास्रसिराशोथ उत्पन्न हो जाते हैं। यह भी वृक्कों और कानों के लिए घातक होती है इसलिए इसे देने के पूर्व वृक्कों की जांच करना आवश्यक होता है। —संपादक

महास्रोतीय रोगों के शल्योपचार

आयुर्वेदीय आर्षग्रन्थों में कई प्रसंग इतने सटीक वर्णित हैं कि उनसे लगता है कि प्राचीनकाल में जिन्हें एक्यूट एब्डोमिन कहते हैं इसका पूरा-पूरा ज्ञान था और उसे दूर करने के उपाय भी उन्होंने ऐसे दिये हैं जो आधुनिक शल्य-शास्त्रियों के काफी सन्निकट पड़ते थे। एक ऐसी ही स्थिति है आनाह की—

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण
भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं
विकारमानाहमुदाहरन्ति॥
तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु
तृष्णाप्रतिश्याय शिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं
हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च॥
स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे
शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति
तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि॥

—सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय ५६

अर्थात् जब (आमाशय में) आम और पुरीष दोनों धीरे-धीरे वायु की विगुणता के कारण संचित हो विबद्ध हो जाते हैं तो उनकी प्रवृत्ति फिर प्राकृतिक मार्गों द्वारा नहीं हो पाती। इस विकार को आनाह कहा जाता है। आम से उत्पन्न इस विकार में तृष्णा, प्रतिश्याय, सिर में दाह, आमाशय में शूल, भारीपन, हृत्क्रिया में स्तम्भ, डकारों का न आना, जब यही विकार पक्वाशय में बनता है तो कटिस्तम्भ, पृष्ठस्तम्भ, मल की रुकावट, मूत्र की रुकावट, पेट में शूल, मूर्च्छा, पुरीषयुक्त वमन का होना, श्वास तथा अलसक जैसे अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं।

यह वर्णन सुश्रुत ने विसूचिका प्रतिषेधाध्याय में और माधव ने उदावर्तनिदान में दिया है। इसी प्रसंग में माधवकर ने असाध्य उदावर्त के निम्न लक्षणों को भी दिया है जिसे सुश्रुत ने उदावर्त प्रतिषेध के साथ दिया है—

तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरभिद्रुतम्।
शकृद्वमन्तं मतिमान् उदावर्तिनमुत्सृजेत्।

सुश्रुत उत्तरतन्त्र में ही ५६ वें अध्याय में अलसक और विलम्बिका का यह वर्णन भी ऐक्यूट एब्डोमिन (तीव्र उदरविकार) की ओर इंगित करता है—

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥
वातवर्चो निरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥

अर्थात् जिसका कोष्ठ अत्यधिक फूल गया हो, रोगी की आंखों के आगे अंधेरा छा गया हो पेट बोल रहा हो हवा रुक कर ऊपर की ओर बढ़ रही हो न मल निकलता हो और न वायु ही सरती हो तथा जिसे प्यास और डकारें बहुत आ रही हों उसे अलसक के आक्रमण से पीडित मानना चाहिए।

इसी प्रकार विलम्बिका का वर्णन उसी अध्याय में सुश्रुत ने इन शब्दों में दिया है—

दुष्टन्तु भुक्तं कफमारुताभ्यां
प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृश दुश्चिकित्स्यां
आचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥

अर्थात् दूषित अन्न के सेवन करने से जिसका कफ और वात क्रमशः ऊपर या नीचे की ओर नहीं निकलते उसे पुराने आचार्य अत्यधिक दुःश्चिकित्स्य विलम्बिका

नामक रोग मानते हैं। विजयरक्षित ने इन दोनों रोगों की समानता को देखते हुए एक प्रश्न उठाया है—ननु अलसकविलम्बिकयोः उभयोरपि वातकफप्रबलयो ऊर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयो तुल्यत्वात् को भेदः? और इसका उत्तर दिया है—उच्यते, अलसके तीव्राः शूलादयो भवन्ति, यदुक्तं,—

पीडिते मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा ।
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम् ॥
शूलादीन्कुरुते तीव्रान् छर्द्यतीसार वर्जितान् ।

अर्थात् अलसक में विलम्बिका की अपेक्षा बहुत तेज दर्द होता है जिसे आधुनिक भाषा में इंटैस्टीनल, कॉलिक कह सकते हैं। तथा इस रोग में क्षुब्ध या प्रकुपित हुए दोष शल्यरूप में ही स्थित होते हैं जो ऐक्यूटएब्डोमिन नामक सर्जीकल स्थित की ओर इंगित करता है।

इसी आनाह और अलसक से मिलती जुलती एक परिस्थिति का वर्णन सुश्रुत ने बद्धगुदोदर के नाम से किया है वह भी ऐक्यूट ऐब्डोमिन (तीव्र सर्जीकल उदर) की ओर ही अंगुलि निदेश करता है—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा
वालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग्वा ।
सञ्चीयते तत्र मलः सदोषः
क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि ॥
निरुद्ध्यते चास्य गुदे पुरीषं
निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति
यच्चोदरं विट्समगन्धिकञ्च ।
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः ॥

अन्न के पदार्थों, बालों, पत्थरों आदि द्वारा जिसकी आंतों के अवरुद्ध हो जाने से वात, पित्त, कफ इन दोषों के साथ मल का सचय गुद में हो गया हो जैसे किसी नाली के रुक जाने से कूड़े का संचय हो जाता है और वह बड़ी कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा निकलता हो, रोगी के हृदय और नाभि के मध्यभाग में पेट उठता चला गया हो तथा जो मल जैसी दुर्गन्धि से युक्त उलटियां करता हो उसे बद्धगुदोदर से पीड़ित मानना चाहिए।

ये सभी सन्दर्भ उदर के शस्त्र साध्य रोगों की ओर अंगुलि निर्देश करते हैं। आज इस विषय पर विपुल साहित्य उपलब्ध है। आज इसकी चिकित्सा के वे सब साधन उपलब्ध हैं जो प्राचीन काल में नहीं थे हम उनको विचार इन पंक्तियों में नीचे कर रहे हैं।

अगर किसी स्वस्थ व्यक्ति के उदर में सहसा शूल उत्पन्न हो जाय तो वह शल्य तन्त्रीय महत्त्व का अधिक होता है और अगर वह ६ घण्टे से अधिक काल तक रहे तो यह महत्त्व इस दृष्टि से विशेष महत्त्व का होता है। इसलिए शूलहर दवाओं का प्रयोग करने के पूर्व इस शूल की सर्जीकल महत्ता का ध्यान कर लेना चाहिए। एक्यूट एब्डोमिन (तीव्र उदर शूल) के प्रत्येक रोगी का इतिवृत्त लेकर उसकी भौतिक परीक्षा करना आवश्यक होता है। शूल का आरम्भ कैसे हुआ, वह किधर जा रहा है और उसका स्थान संश्रय कहां हो रहा है इस पर वैद्य को विशेष ध्यान देना चाहिए। जिस स्थान पर दबाने से सबसे अधिक दर्द मिले उससे रोग का अता-पता जल्दी मिलता है। वृद्धों में दर्द का आभास कम रहता है। मोटी तोदों वालों में उदर पेशियों की कठोरता (रिजिडिटी) कम मिलती है। हृल्लास (जी मिचलाना), वमन (उलटियां होना) क्षुधानाश (भूख न लगना) और मलत्याग में विषमता वे प्रधान लक्षण हैं जो शस्त्र-साध्य उदर रोगों में अक्सर पाये जाते हैं। अब नीचे कुछ शस्त्र-साध्य उदर रोगों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—

तीव्र पर्युदर्या शोथ (Acute Peritonitis)

तीव्रउदरों में उदरावरणकला के स्थानिक अथवा सर्वांगिकशोथ की ओर सबसे पहले भिषक् का ध्यान जाना चाहिए यह उपद्रव हर एक्यूटऐब्डोमिन में मिल सकता है। उपसर्ग और रासायनिक प्रक्षुब्धता दोनों ही इसे उत्पन्न कर सकते हैं। महास्रोत का परिगलन या छिद्रण दोनों में से कोई भी पर्युदर्या शोथ को उत्पन्न कर सकते हैं। इस रोग में निम्नांकित लक्षण मिलते हैं।

बेचैनी, शैथिल्य, हृल्लास, वमन, ज्वर, रक्त के श्वेत कणों की अभिवृद्धि, तथा शरीर में इलैक्ट्रोलायटिक (विद्युत अपघट्यों का) असन्तुलन सर्वसामान्य लक्षण है जो किसी

भी तीव्रोदर के रोगी में मिलते ही हैं। सुश्रुत इन शब्दों में इसे व्यक्त करता है—

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ॥
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥
—सु० सं० नि० स्था० अ० ७

उदर लक्षणों में ३ पर आधुनिक चिकित्सक जोर देते हैं—

१—शूल और उदरासहिष्णुता (पेन एण्ड टेंडरनैस)
२—पेशीकाठिन्य (मस्क्युलर रिजिडिटी)

३—पैरैलाइटिक इलियस—इसमें आंतों की गतिशीलता (मोटिलिटी) घट या बन्द हो जाती है, आंतों या महास्रोत का पुरः सरण (पैरिस्टाल्सिस) भी कम या बन्द हो जाता है। उदर में आध्मान (ऐब्डोमिनल डिस्टेंशन—आध्मान) लगातार बढ़ता चला जाता है। महास्रोत में तरल पदार्थों और गैस के संचित हो जाने से पहले मिच, लियां आती हैं फिर उलटियां शुरू हो जाती हैं जिनमें गैस अधिक निकलती है उतना तरल नहीं निकलता। इस गैस के जमाव को आध्मान और प्रत्याध्मान के रूप में वात-विकार आचार्यों ने माना है तथा आध्मान को घोर (डेञ्जरस) कहा गया है—

साटोपं अत्युग्ररुजं आध्मातं उदरं भृशम् ।
आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम् ॥
विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् ॥
—सु० सं० नि० स्था० अ० १

जिसमें वात (गैस) का निरोध हो वह आध्मान और जिसमें तरलों का संचय अधिक हो तथा कुछ गैस भी वह प्रत्याध्मान बतलाया गया है। एक पक्वाशय अर्थात् बड़ी आंत तथा कुछ छोटी आंत की पुरःसरण गति की कमी से तथा दूसरा आमाशय तथा छोटी आंत की पुरःसरण गति की कमी से होने वाला रोग है।

डाक्टर विल्सन का कथन है कि क्षकिरण चित्रण में बड़ी और छोटी आंतों में सर्वत्र गैस (वायु) और फ्लुइड (तरल) का संचय मिलता है।

निदान हेतु उदरसूची वेध—उदर की स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान, करने के लिए आजकल एब्डोमिनल टैप (उदर-सूचीवेध) किया जाता है। तरकीब यह है—पहले उदर प्राचीर (पेट की दीवार) के एक भाग में १% प्रोकेन के घोल का अन्तः संचरण कर दिया जाता है फिर एक कम लम्बी (शौर्ट बैविल) स्पाइनल नीडिल को उदरगुहा में सावधानी से प्रवेश कर देते हैं। सुई का तार (जो प्रत्येक नई सुई में लगा आता है जिसे स्टाइलस कहते हैं) तब तक लगा रखते हैं जब तक सुई पर्युदर्या (पेरिटोनियम) में न प्रवेश कर जाय। फिर इस तार को निकाल सुई को इधर-इधर घुमाकर तरल का आचूषण करते हैं। इस तरल का फिर लेबोरेटरी में परीक्षण और कल्चर (जीवाणु संवर्धन) के लिए उपयोग कर सही-सही निदान पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। एक और विधि है नाभि के एक इंच के लगभग नीचे सुई डालना सुई के साथ एक प्लास्टिक का सूक्ष्म कैथेटर (इण्ट्राकैथ) प्रवेश करना। फिर सुई को निकालकर इस इण्ट्राकैथ से ५०० मिलि लैक्टेटेड रिंगर सौल्यूशन का घोल उदरगुहा में प्रविष्ट करना फिर १०-१५ मिनट बाद उस तरल को आचूषण या साइफन विधि से बाहर निकाल कर उसकी लैबोरेटरी में परीक्षा करना।

परिउदर्याशोथ की चिकित्सा के ३ सूत्र हैं—

१—संक्रमण या उपसर्ग का नियन्त्रण
२—पैरालाइटिक इलियस (आध्यमान प्रवृत्ति) के प्रभाव का ह्रास
३—तरलाभाव का सुधार

पर्युदर्या शोथ छिद्रोदर के करण, अपैंडिक्स के सूज जाने के कारण या पेट में कहीं भी विद्रधि बन जाने के कारण होता है। छिद्रोदर को सीना, अपैंडिक्स को निकालना और विद्रधि के पूय का निर्हरण करना। ये तीन आवश्यक कर्त्तव्य हैं जिन्हें किसी भी शल्यतन्त्र विशारद को शीघ्रातिशीघ्र पूरे करने पड़ सकते हैं। इन सर्जीकल आपरेशनों से भी बढ़ कर नीचे लिखी सर्वसामान्य उपकार पद्धति का पालन परमावश्यक माना जाता है—

i. फाउलर पोजीशन (अर्द्ध बैठी स्थिति) में रोगी को पूर्ण विश्राम देना

ii. आध्मान (पेट फूलना) रोकने के लिए नाक से होकर आमाशय में एक ट्यूब पास करके आचूषण (सक्शन)

करते रहना ताकि गैस या तरल जो भी वहां संचित हो उसे खींचा जा कर पेट का फूलना रोका जा सके।

iii. यदि इससे काम न चले तो एक लम्बी इंटैस्टीनल ट्यूब छोटी आंत तक प्रविष्ट करना जो वहां स्थित गैस को पासकर सके। कभी-कभी आमाशय और छोटी आंत दोनों से सक्शन की क्रिया चालू रखी जाती है।

iv. जब तक सक्शन (आचूषण) का कार्य चले तब तक मुख द्वारा कुछ भी नहीं देना चाहिए। सक्शन करने की जब आवश्यकता न रहे तब मुख द्वारा तरल पदार्थ धीरे-धीरे शुरू किये जा सकते हैं।

v, इलैक्ट्रोलाइट सन्तुलन सही रखने के लिए तथा तरलों का सन्तुलन भी ठीक रखने के लिए सिरा द्वारा तरलों और इलैक्ट्रोलाइट्स का उपयोग लगातार किया जाना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर रक्त चढ़ाया जा सकता है।

vi. रोगकारक जीवाणु का सही-सही निदान करके उपयुक्त एण्टीबायोटिक (प्रतिजीवी) द्रव्य का प्रयोग करना कदापि न भूलना चाहिए।

vii. निद्राकर और पीडाशामक औषधों का प्रयोग बराबर करते रहना चाहिए। क्रिया संग (शॉक) की चिकित्सा भी उसके उपस्थित रहने पर यथावत् की जानी चाहिए।

viii. पर्युदर्या शोथ के साथ या अनुगम के रूप में श्रोणि विद्रधि अधोमध्यच्छद (सब फ्रेनिक) अवकाश की विद्रधि, आन्त्र योजनी (मेसेण्ट्री) के पर्तों की विद्रधि या अन्यत्र कहीं भी उदर में वह बन सकती है। उसका ज्ञान ज्वर, ल्यूकोसायटोसिस (श्वेतकणों की वृद्धि), विषाक्तता (टॉग्जीमिया) तथा आन्त्रावरोध (इलियस) से होता है। अगर ये लक्षण मिलें तो समझना चाहिए कि कहीं पूय (पस) का संचय हो रहा है। प्रति जीवियों का प्रयोग कभी-कभी विद्रधि के स्थान संश्रयण में बाधा पहुँचाता है। इन विद्रधियों को खोल कर पूय का निर्हरण परम आवश्यक होता है। कभी-कभी यकृत् के अन्दर विद्रधि बन जाती है कभी पायलोफ्लेबाइटिस (प्रतिहारी सिरा शोथ) हो जाता है। इन की उचित सर्जीकल चिकित्सा की जानी चाहिए।

तीव्र आन्त्र अवरोध (Acute Intestinal Obstruction)

प्रत्येक चिकित्सक का यह प्रथम कर्त्तव्य होता है कि वह यह देखे कि जो रोगी उदरशूल और आध्मान के लिए उसके पास आया है वह कहीं तीव्र आन्त्र अवरोध नामक भयानक और मारक रोग से तो पीड़ित नहीं है जिसकी चिकित्सा उसके पास न होकर किसी शल्य चिकित्सक के ही पास है। कभी-कभी इन रोगियों को वैद्य इतने अधिक काल तक अपने पास रोक लेते हैं कि वे कालकवलित हो जाते हैं। हाथरस में एक अपने मित्र श्री शंकरलाल माहेश्वरी के पेट में दर्द हुआ पेट फूल गया उन्होंने एक दो कम्पाउण्डरों को दिखाया वे उसकी भयानकता की कल्पना भी नहीं कर सके। उनके आस-पास हाथरस के सुप्रसिद्ध फिजीशियन और सर्जनों का वास था कई अच्छे वैद्य भी उपलब्ध थे पर वे काल कवलित हो गये। एक सुन्दर, सुशील, ३०-४० वर्ष के बीच की आयु वाला स्वस्थ नागरिक उठ गया। इसलिए पेट की बीमारियों में हर समझदार चिकित्सक को अपनी सीमा का ज्ञान रखकर इलाज करना चाहिए। साथ ही अपने देश में जो बिना पढ़े लिखे या चिकित्सा शास्त्र विधिवत् न पढ़े हुए जिन सुई घूंसने वालों का एक वर्ग बढ़ रहा है जो गांवों में जितने मिलते हैं उनसे अधिक शहरों में पाये जाते हैं उन्हें चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त होने से सरकार को तथा समाज को रोकना चाहिए या उनको विधिवत् खतरनाक रोगों के निदान की ट्रेनिंग की व्यवस्था कर देनी चाहिए।

तीव्र आन्त्ररोध जिसे एक्यूटमिकेनिकल ऑब्स्ट्रक्शन भी कहा जाता है यह २ प्रकार का होता है—एक साधारण आन्त्रावरोध जिसमें रक्त द्वारा आंतों का अभिसिंचन बराबर चलता रहता है। इसकी विपाशन या स्ट्रैंगुलेशन आन्त्रावरोध कहलाता है जिसमें आंतों या उनपर चढ़ी पेरिटोनियम के पर्तों में बहने वाली रक्त की वाहिनियों में अवरोध होकर रक्तप्रवाह रुक जाता है। अगर विपाशन-रोध पर तत्काल काबू नहीं पाया जा सका तो कोथयु

गैंग्रीन बन जाती है उसका पेट खोलकर फौरन उपचार करना पड़ता है अन्यथा रोगी की मृत्यु हो सकती है। मृत्यु का कारण पर्युदर्याशोथ या छिद्रोदर हो सकता है।

तीव्र आन्त्ररोध या अवरोध के ३ प्रकार देखे जाते हैं। एक पैरैलाइटिक इलियस या घातज आन्त्रावरोध कहलाता है, दूसरा यान्त्रिक अवरोध मिकैनिकल आन्त्रावरोध होता है तथा तीसरा कोण अवरोध है जिसमें रक्त सिंचनक्रिया में बाधा पड़ती है। घातज आन्त्रावरोध में आंतों की चलिष्णुता (मोटिलिटी) या तो कम हो जाती है या बिलकुल बन्द हो जाती हैं। आन्त्रावरोध के क्या-क्या कारण हो सकते है इन पर भी आधुनिकों ने विचार किया है उनके मत से हर्निया या आन्त्रवृद्धि से पीड़ित रोगी के हर्निया का बंधीकरण (इन्कार्सरेशन) या उसका विपाशन (स्ट्रैंगुलेशन) छोटी आंत के अवरोध में प्रमुख भूमिका निभाता है। इसलिए इस रोग का आभास होते ही रोगी की हर्निया की जगह का अवलोकन तत्काल करना चाहिए। किसी-किसी को व्रणशोथात्मक या अर्बुदजनित या सहज बैंड और संसक्तियां बन जाती हैं और वे भी आन्त्रावरोध में कारणभूत होती है। बड़ी आंतों के अवरोध में अर्बुद या ट्यूमर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरा कारण है वॉल्वूलस या आन्त्रभ्रमि। छोटी आंतों में आन्त्रान्त्र प्रवेश, आन्त्रभ्रमि या अन्दरूनी हर्निया का उतना महत्त्व नहीं होता। कैंसर बड़ी आंत के अवरोध का प्रमुख कारण आजकल पाया गया है।

आन्त्रावरोध के रूप—

आयुर्वेद में रूप एक तकनीकी शब्द है इसे क्लीनिकल फाइंडिंग्स के लिए प्रयोग करते हैं। रोगी द्वारा बतलाये गये लक्षण (सिम्पटम्स) तथा वैद्य द्वारा पाये गये चिह्न (साइन्स) दोनों का ही इसमें समावेश किया जाता है। आन्त्रावरोध के रूपों में लक्षण हैं—

१. वमन।
२. आध्मान।
३. उदरशूल।
४. दुःसाध्य कोष्ठबद्धता।

अगर कोई रोगी पेट के दर्द से व्यथित हो उलटियां करता हो तथा कई दिन से न टट्टी गया हो और न वायु शुद्ध होती हो उसे सामान्य रुग्ण न समझना चाहिए। माधवनिदान में वातव्याधि में तूनी-प्रतितूनी आध्मान प्रत्याध्मान, अष्ठीला प्रत्यष्ठीला करके रोगी के जो ३ द्वन्द्व दिये गये हैं उनमें इन्हीं लक्षणों की प्रधानता है—

तूनी—अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता।
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नामनामतः॥

प्रतितूनी—गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता।
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते॥

आध्मान—साटोपमत्युग्ररुजं आध्मातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम्॥

प्रत्याध्मान—विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानलम्॥

वाताष्ठीला—नाभेरधस्तात् संजातः संचारी यदि वाऽचलः।
अष्ठीलावद् घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः॥

प्रत्यष्ठीला—एतामेव रुजोपेतां वातविण्मूत्ररोधनीम्।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम्॥

इन सभी आन्त्रावरोधात्मक परिस्थितियों में पेट फूल जाता है एक तेज आंत्र तरंग या पैरिस्टाल्सिस को पेट के ऊपरी भाग में भी देखा जा सकता है। तरंग की तेजी के मध्य उदर में भेदक शूल उत्पन्न होता है। आगे चलकर जब अवरोध पूरी तरह उत्पन्न हो जाता है तब तरंगें उत्पन्न नहीं होतीं। आन्त्रावरोध में दबाने पर दर्द नहीं मिलता कहीं किसी स्थान विशेष पर दबाने से कुछ दर्द मिल सकता है। न इस रोग में ज्वर तब तक मिलता है जब तक आंतों में विपाशन उत्पन्न न हो गया हो। मलाशय को अन्दर से देखने से अवरोध का कुछ ज्ञान हो सकता है। इस रोग के पूर्ण ज्ञान के लिए साधारण ऐक्सरे चित्र लेना आवश्यक होता है।

यह जान लेना भी बहुत होता है कि सामान्य अवरोध हुआ है या विपाशनजन्य अवरोध। क्योंकि विपाशनजन्य अवरोध में पेट का ऑपरेशन ही एकमात्र इलाज होने से उसे जानना परमावश्यक होता है। सामान्य आन्त्रावरोध हमेशा अपूर्ण रहता है इसलिए कुछ न कुछ वायु सरती रहती है। विपाशन में वायु का सरना एकदम रुक जाता है। विपाशनजन्य आन्त्रावरोध में ज्वर, छूने पर पेट में दर्द का होना, पर्युदर्याशोथ की उपस्थित, नाड़ी की गति का तेज हो जाना और रक्त की परीक्षा करने पर श्वेत

कणों की वृद्धि लगातार होती जाना आदि लक्षण प्रायः मिलते हैं। अगर चिकित्सक सतर्कता से देखें तो—

(i) पेट में एक उभरा हुआ भाग मिल सकता है। यह पिण्डरूप होता है जो गुद के पास या श्रोणि में या नाभि के ऊपर पाया जाता है;

(ii) क्षकिरण चित्रण पर आंत का एक लूप (पाश) फैला हुआ देखा जा सकता है;

(iii) मलाशय (रैक्टम) में रक्त की उपस्थिति पाई जाती है।

(iv) उदर में तीव्र स्वरूप के शूल का सातत्य मिलता है।

आयुर्वेद में उदरशूल के ३ प्रकार और बताये गये हैं। इनमें कफवातिक बस्ति, हृदय, पार्श्व और पृष्ठ में, कफपैत्तिक हृदय और नाभि के बीच के क्षेत्र में कुक्षियों तक तथा वातपैत्तिक दाह ज्वरयुक्त होता है। आन्त्रावरोध अगर सामान्य हो तो वह कफपैत्तिक स्वरूप का होता है अगर वह विपाशयुक्त हो जाय तो उसका स्वरूप बदल जाता है और वह वातपैत्तिक हो जाता है, कफवातिक में उदरशूल उतना नहीं आता जितना ऐंजाइना पेक्टोरिस, पित्ताश्मरी या वृक्काश्मरी शूल आता है। विजयरक्षित ने—'वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम्, हृत्पार्श्व कुक्षौ कफसंनिविष्टं सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्' बतलाया है। पर इन तीनों दोषों का सम्बन्ध शूल के साथ ज्ञात होने पर भी अगर शूल सर्जिकल महत्त्व का है तो उसमें ऑपरेशन करना पड़ सकता है इसे न भूलना होगा। इसके लिये कुछ और लक्षण भी माधवनिदान में दिये गये हैं वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं :—

आध्मानाटोपविण्मूत्रविबन्धारतिवेपनैः।
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद्वदेद्भिषक्।

यह सामान्य आन्त्रावरोध के द्योतक लक्षण हैं। पेट फूलता है, न टट्टी आती है न मूत्र, पेट बंधा-बंधासा प्रतीत होता है दर्द और ऐंठन खूब होती है।

तृष्णादाहारतिस्वेदं कट्वम्ललवणोत्तरम्।
शूलंशीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद्बुधः।

यह विपाशनयुक्त आन्त्रावरोध के लक्षणों से युक्त है।

छर्दिहृल्लास संमोहः स्वल्परुग्दीर्घ सन्तति।
कटुतिक्तोपशान्तं च तच्चज्ञेयं कफात्मकम्।

यह कफ के सम्बन्ध के लक्षण हैं। ये जो थोड़ी-थोड़ी चिकित्सा दी गई है यह उपशयात्मक निदान के लिये ही है। थोड़े गरम सेंक से दर्द घटा यानी वातिक ठण्डे सेंक से पैत्तिक कटु तिक्त द्रव्यों से घटने पर श्लैष्मिक शूल है यह निदान के लिए उपयोगी सूत्र हैं चिकित्सा नहीं है चिकित्सा में तो उदर को चीरकर भी इलाज के लिये तैयार रहना चाहिये। पैरालाइटिक इलियस (घातक आन्त्रावरोध) में पेट पर स्टैथोस्कोप रखकर सुनने से आवाजें नहीं आतीं। आटोप या गुडगुड शब्द नहीं मिलता। क्षकिरण चित्र में सर्वत्र गैस भरी हुई पाई जाती है। कभी-कभी पेट का ऑपरेशन किसी अन्य कारण से किया जाने के बाद भी यह रोग बनता है। घातक आन्त्रावरोध के साथ साधारण यान्त्रिक आन्त्रावरोध भी मिल सकता है। पेट का फूलते जाना, उलटियां बराबर चालू रहना और मल और वायु का पास न होना, इन तीन लक्षणों को आन्त्रावरोध का प्रमुख रूप समझ कर ही इलाज करना चाहिये।

सामान्य आन्त्रावरोध का उपचार

आन्त्रावरोध का आभास पाते ही चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह रोगी को किसी अस्पताल या नर्सिंगहोम में पहुँचा दे जहां उसकी कुशल परिचारकों और भिषगों से चिकित्सा कराई जा सके। सबसे पहले उसके इलैक्ट्रोलाइट और तरलों के सन्तुलन की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए इस विशेषांक में पहले काफी लिखा जा चुका है। तरल सन्तुलन कायम रखने पर फिर आंतों का डिकम्प्रैसन करने के लिये उपचार करना पड़ता है इसके लिए जैसा कि पहले इशारा किया जा चुका है एक ट्यूब या तो आमाशय तक पास करनी पड़ी है या उसे छोटी आंत तक ले जाना पड़ता है। कभी-कभी जब ट्यूब छोटी आंत तक चली जाती है तो आमाशय में तरल और गैस बढ़कर उसे फुला देती है जिसे रोकने के लिये एक दूसरी ट्यूब आमाशय तक पास कर देनी होती है। फिर समय-समय पर आचूषण या सक्शन किया जाता है। जब आमाशय के मुद्रिका द्वार पर अवरोध हो या ग्रहणी भाग

में अवरोध उत्पन्न हो रहा हो तब गैस्ट्रिक ट्यूब राइलस ट्यूब या लैविन ट्यूब काम दे जाती है। छोटी या बड़ी आंतों में यदि हलका अवरोध हो तो इस ट्यूब के पास करने मात्र से ही वह सुधर जाता है। पहले ट्यूब को शुद्ध कर लेते हैं फिर इसे नासा के एक रन्ध्र से गले में पास करते हैं जहां से वह अन्न प्रणाली में होती हुई आमाशय तक चली जाती है। नली के आमाशय में पहुँचते ही आचूषण चालू कर देते हैं। एक सिरिंज से सम्बद्ध कर पेट से द्रव या वायु खींचते रहते हैं थोड़ी-थोड़ी देर पर नली अन्दर से बन्द न हो जाय इसके लिये ३० मि० लि० सैलाइन इस नली के द्वारा पेट में पहुँचाते रहते हैं।

अगर छोटी आंत का आंशिक अवरोध हो गया हो तो लम्बी नली। (मिलर ऐबट ट्यूब) का प्रयोग करते हैं। इसमें २ मुख होते हैं एक में सक्शन का प्रबन्ध करते हैं और दूसरी में एक बैलून का सम्बन्ध कर दिया जाता है जब ट्यूब मुद्रिका द्वार को पार करती है उससे ज्ञान होता है कि आन्त्रतरंग का कितना जोर है। मिलरऐबट नली में सुधार कर और भी नलियां बनाई गई हैं जिनमें हैरिस और कैंटर की ट्यूबें अधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

इस बड़ी या लम्बी ट्यूब को मुद्रिका द्वार (पाइलोरस) के पार भेजना सरल कार्य नहीं होता। जो बैलून बंधा होता है, उसमें ४ से ६ मिलि तक शुद्ध पारद रख दिया जाता है जो आमाशय में अपनी स्थिति बनाता हुआ मुद्रिका द्वार के अन्दर प्रवेश के लिए एक ग्रास का कार्य करता है। कुछ लोग धातु का उपयोग ट्यूब की नोंक पर करते हैं, पर वह शीघ्र मुद्रिका द्वार के अन्दर पहुँचने में सहायक होने पर भी आंत में छेद कर सकता है, इसलिए इसे आजकल महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ट्यूब डालने की तरकीब यह है कि पहले-पहले ट्यूब के मुख को चिकना करके एक नासारन्ध्र में डाल देते हैं, वहां से उसे आमाशय तक पहुँचा देते हैं। फिर फ्लुओरोस्कोप से देखते हुए उसे मुद्रिका द्वार से पास कराते हैं, फिर उसे ग्रहणी में होकर जैजुनम तक ले जाते हैं। पर अगर अवरोध हो तो नली को पास करना कठिन होता है। अगर फ्लूओरोस्कोपी का परामर्श न दिया गया हो या वह उपलब्ध न हो तो एक फुट चारपाई का पहिताना उठा देते हैं और रोगी को दाहिने करवट लिटा देते हैं और लगभग औंधे मुंह ही कर देते हैं। नासिका से ७५ सेंटीमीटर के निशान तक ट्यूब को अन्दर डाल देते हैं। ऐसा करने से कुछ ही घंटों में नली मुद्रिकाद्वार को पार कर जाती है। आचूषण बराबर जारी रखते हैं। जब आचूषण पर मल, पित्त (बाइल) आने लगे तो समझना चाहिए कि नली का मुख ग्रहणी (डुओडीनम) तक पहुँच गया। अब रोगी को फाउलर की स्थिति में रखकर नली को २०, २३ से० मी० और अगे की ओर बढ़ा दें। एक घंटे के अन्दर वह ट्रीतम के स्नायु को पार कर लेती है। फिर १० से० मी० प्रति घंटे के हिसाब से नली को पेट के अन्दर उतारते जाते हैं। जब १॥ मीटर नली पेट में पहुँच जाती है, इलियम के अन्तिम सिरे को वह पहुंच पाती है। बार-बार नली का सक्शन करते रहते हैं और हर घंटे साधारण जल या लवण जल को ३० मिलि की मात्रा में इसमें डालते रहते हैं ताकि उसका विवर खुला रहे। प्रतिदिन क्षकिरण चित्र द्वारा नली की स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। नली छोटी आंत में जब पहुँच जाती है तो अक्सर आमाशय फूल जाता है। यदि ऐसा हो तो जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। एक गैस्ट्रिक ट्यूब और डालकर आमाशय का सक्शन किया जाता है।

नली पास करने से यदि लाभ होता है तो आध्मान घट जाता है, आचूषण में तरल की मात्रा कम-कम आने लगती है। क्षकिरण चित्र में आंत के लूप अधिक फैले हुए नहीं देखे जाते। अगर गैस नीचे मलाशय में पास होने लगे तथा बाद में मलत्याग भी होने लगे तो समझना चाहिए कि आन्त्रावरोध का पाप कट गया। जो सक्शन थोड़ी-थोड़ी देर पर किया जा रहा था, उसका फिर समय बढ़ा दिया जाता है। बाद में २-२ घंटे चूषण और २ घंटे बन्द आचूषण रखा जाता है। फिर १२ से २४ घंटे ऐसा रखकर गुरुत्वाकर्षण द्वारा ड्रेनेज किया जाता है और मुख द्वारा कुछ तरल पदार्थ दिये जाते हैं। उन्हें देने से यदि कोई प्रतिक्रिया न हो और तरल रुके रहें, उलटी न हो तो मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाई जाती है। अगर आंतों की क्रिया सुधर जाय, मल त्याग और गैस स्वतन्त्रता पूर्वक

पास होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि आन्त्रावरोध का कष्ट मिट गया। पर यदि तरल मुख द्वारा देने पर हजम न हो उलटियां आती रहें या पेट फूलने लगे तो फिर सक्शन चालू कर देना चाहिए या फिर ऑपरेशन की सलाह देनी चाहिए।

महास्रोतीय भ्रमि (वाल्वूलस) जन्य आन्त्रावरोध

आन्त्र या आमाशय भ्रमि या वाल्वूलस एक प्रकार की मरोड़ या ऐंठन होती है। ऐसी उमेठ (ट्विस्ट) जो आंत को अपने अक्ष पर इतना घुमा देती है कि उसके ऊपर की मिसेंटरी और उसके अन्दर की रक्तवाहिनियां तक दब जाती हैं। उनमें रक्तसंचरण रुक जाता है। रक्त-संचरण की रुकावट कभी आंशिक और कभी पूरी होती है। यह उमेठ उसी जगह अधिक होती हैं, जहां मिसेंटरी (आन्त्र योजनी) लम्बी और चलिष्णु होती है। यह उमेठ न केवल छोटी आंतों में ही होती है आमाशय और बड़ी आंतों में भी हो सकती है। आमाशय के वौल्वूलस में जो बहुत ही मुश्किल से होता है, आमाशय अपने लम्बे या अनुदीर्घ अक्ष पर घूम जाता है। इस परिस्थिति में उलटियां खूब होती हैं। अधिजठर (इपीगैस्ट्रियम) क्षेत्र में दर्द या वेदना होती है, किसी-किसी को छाती में भी दर्द हो जाता है। एक बड़े पैरा ईसोफेजियल हिएटस हर्निया के होने पर आमाशय के वाल्वूलस के बनने की अधिक संभावना रहती है। आमाशय वाल्वूलस को दूर करने के लिए तथा हर्निया ठीक करने लिए सर्जीकल ऑपरेशन किया जाता है। छोटी आंतों की भ्रमि या वौल्वूलस उन शिशुओं की छोटी आंत के मध्यभाग में बनती हैं जिसमें आन्त्रनिबन्धनी का बन्धन सहज रूप में नहीं मिलता। बड़ों में आंत का लूप उमेठ जाता है। यह बहुत खतर-नाक होता है, इसमें विपाशन साथ आता है, इसमें वेदना बहुत होती है। उण्डुक या सीकम में भी वाल्वूलस हो सकता है, उण्डुक आरोही कोलन के ऊपर घूम जाता है। यह हर आयु में हो सकता है। कई बार यह उमेठ होने पर उण्डुकपुच्छ शोथ (अपेण्डी साइटिस)। उण्डुक भ्रमि का आक्रमण सहसा होता है। तेज दर्द उठता है, किसी-किसी में मन्द वेदना होती है, इसके लक्षण आन्त्रावरोध जैसे ही होते हैं। क्षकिरण चित्र इसका पूरा परिज्ञान करा देता है। बेरियम एनिमा देकर भी क्षकिरण चित्र लेकर ज्ञान किया जाता है। अवग्रह (सिगमॉइड) कोलन का वौल्वूलस अधेड़ आयु के व्यक्तियों में मिलता है। कोष्ठबद्धता का इतिहास मिलता है। वौल्वूलस होते ही तेज दर्द उत्पन्न होता है। मलत्याग में ऐंठन होती है। वमन प्रायः नहीं मिलती। पेट बहुत फूल जाता है। बांई ओर यह आध्मान अधिक होता है। स्पर्शतरंगें भी दिखाई देती हैं। बांई ओर ही दबाने से भी दर्द होता है। गुद-परीक्षा पर मलाशय में बैलून जैसा मिलता है। क्षकिरण चित्र में लूपों में आध्मान पाया जाता है, आगे चलकर पर्युदर्याशोथ सम्पूर्ण उदर पर प्रकट होता है। अवग्रह-बृहदन्त्र के वौल्वूलस को दूर करने के लिए गुदनलिका (रैक्टल ट्यूब) का प्रयोग किया जाता है। पहले एक सिगमॉइडोस्कोप उमेठ के स्थान तक लगाते हैं। अगर श्लेष्मल कला का वर्ण अच्छा हुआ, तब अच्छी तरह चिकना कर ६० सें० मी० लम्बी रैक्टल ट्यूब गुद से होकर अवरोध के आगे धीरे से चढ़ा दी जाती है। उसे लगाते ही बड़े आराम से गैस निकलने लगती है। इसे कई दिन तक लगाये रखते हैं। अगर इस प्रकार गैस न निकले तो एकदम ऑपरेशन करना पड़ता है।

आन्त्रावरोध के अन्य कई कारण नव्य शास्त्रकारों ने गिनाए हैं। इनमें एक है संसक्ति (एधीजन) जन्य अवरोध। इस प्रकार का अवरोध ३०–४०% मिलता है। अगर पहले पेट पर कोई ऑपरेशन हुआ हो तो उसके बाद भी संसक्ति या आसंजन होकर अवरोध हो जाता है। ऐसे अवरोध में नली डालकर डिकम्प्रैशन करना चाहिए। दूसरा आन्त्रावरोध का कारण बड़ी आंत में अर्बुदों का होना है। आन्त्रान्त्र प्रवेश या इण्ट्रससैप्शन भी अर्बुदों के कारण हो जाता है। आन्त्रान्त्र प्रवेश बच्चों में अधिक मिलता है बड़ों में कम। इसके कारण अपूर्ण या सविरामी अवरोध सरक्तश्लेष्मा मलाशय में मिलता है। इसमें तत्काल ऑपरेशन करना पड़ता है।

वाहिनीजन्य आन्त्र अवरोध या वैस्कुलर ऑब्स्ट्रक्शन में आन्त्रयोजनी की धमनी तथा सिरा में घनास्र बनना मुख्य कारण होता है । अन्तःशल्यता के कारण या धमनी-काठिन्य के परिणामस्वरूप धमनी में घनास्रोत्कर्ष होता है । सुपीरियर आन्त्रयोजनी धमनी का घनास्र गेंग्रीन पैदा करता है । अपेंडिसाइटिस (उण्डुकपुच्छ शोथ), विपाशन आन्त्रवृद्धि, उदर का अभिघात या उदर का शल्योपचार वे रोग हैं जो आन्त्रयोजनी सिरा में घनास्रोत्कर्ष बनाते हैं । कभी-कभी बिना इन रोगों के भी सहसा घनास्रोत्कर्ष हो सकता है । वाहिनीजन्य आन्त्रावरोध प्रायः सहसा उत्पन्न होता है । पेट में एकदम दर्द और ऐंठन होती है, उलटियां तथा दस्त चालू हो जाते हैं । दस्तों में खून जाता है तथा रोगी को क्रियासग या शॉक के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । धमनी की अपेक्षा सिरा के घनास्रोत्कर्ष में रोग कुछ कम तेजी से शुरू होता है । लक्षण भी तब तक मृदु होते हैं जब तक कि गेंग्रीन नहीं बन जाती । पेट में दबाने से दर्द होता है । स्पर्श तरंग कम या अनुपस्थित होती है । आध्मान भी धीरे-धीरे शुरू होता है । रक्त-परीक्षा करने पर श्वेतकणों की गणना बहुत अधिक बढ़ जाती है अर्थात् एक घन-मि० मी० में ३०००० तक रक्त-दाब घट जाता है । गेंग्रीन के उत्पन्न होते-होते ज्वर बढ़ने लगता है । परिउदर्याशोथ भी ज्वर उत्पन्न करता है । क्षकिरण चित्र में एक ही लूप फूला और मोटा दिखाई पड़ता है । परिउदर्या में तरल भी पाया जाता है । इस रोग में उदर खोलकर सकोथ आंत को निकाल देना पड़ता है; उसके बाद आंत में ट्यूब लगाकर डिकंप्रेशन च.. रखा जाता है । प्रतिजीवी द्रव्यों से उपसर्ग की रोगथाम की जाती है । औक्सीजन देने की व्यवस्था देखी जाती है । इस रोग में मृत्यु के अवसर अधिक रहते हैं, रक्षा के कम ।

घातीआन्त्रावरोध या पैरैलाइटिक इलियस (Paralytic Ileus)

यह एक ऐसा अवरोध है जिसमें आंगिक विकृति नहीं मिलती पर इसमें आंत की पेशियों में घात (पैरालाइसिस) हो जाने के कारण उनकी चलिष्णुता (मोटिलिटी) नष्ट हो जाती है । आंतों का सामान आगे की ओर गति नहीं कर पाता । इस रोग के कई कारण हो सकते हैं—I. पर्यु-दर्या शोथ या उण्डुकपुच्छ शोथ या पैप्टिक अल्सर का छिद्रण, त्रिपुटी शोथ(डायवर्टीक्युलाइटिस)आदि; II. कभी कभी उदर के शस्त्रकर्म में ठीक प्रकार कार्य न किया जाने पर या आंतों को देर तक खुला रहने से भी घाती आन्त्रावरोध पैदा हो जाता है; III. मूत्र विषाक्तता या आन्त्रिक ज्वर या निमोनिया भी इसे उत्पन्न कर देता है । सामान्य प्रसव के बाद कभी स्वतः भी यह रोग हो जाता है । सुषुम्ना में चोट लग जाने या शरीर में प्रोटीनों की कमी हो जाने के फलस्वरूप भी यह रोग बनता है ।

यह न भूलना चाहिए कि उदर पर किए गये प्रत्येक शस्त्रकर्म में आंतों की पुरः सरणक्रिया कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक बिलकुल रुक जाती है । यह रोक सिम्पैथै-टिक क्रिया के बढ़ते और पैरासिम्पैथैटिक क्रिया के रुक जाने का प्रत्यक्षपरिणाम होता है । किसी भी पेट के शस्त्र-कर्म के बाद ३६ से ४८ घंटों के अन्दर घाती आन्त्राव-रोध उत्पन्न हो सकता है । इसमें वमन बहुत जोरों से और लगातार होती है । वमन में पहले स्वच्छ पानी सा आता है । फिर पित्त निकलते हैं । अन्त में रक्त आता है, बाद में पुरीषगन्धी वमन भी होती है,पेट खूब फूल जाता है शुरू में उदरशूल नहीं रहता पर बाद में उत्पन्न हो जाता है । पीछे जो आनाह का वर्णन लेख के शुरू में दिया है वह इस रोग में सटीक बैठता है :—

स्तम्भ कटीपृष्ठ पुरीषमूत्रे शूलोऽमूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः ।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि ॥

इस रोग में नाड़ीगति धीरे-धीरे बढ़ती जाती है । पेट फूलता चला जाता है और उसे दबाने पर खूब शूल मिलता है । कोष्ठबद्धता इतनी होती है कि बस्ति देने से भी मल नहीं उतरता है । रोगी को डिहाइड्रेशन के लक्षण जिह्वा का सूख जाना, मलावृत रहना, आंखों का बैठ जाना और त्वचा का रूक्ष हो जाना आदि मिलते हैं ।

घाती आन्त्रावरोध में उपचार की दृष्टि से सबसे पहले यह ध्यान देना पड़ता है कि रोगी का पेट साफ रहे प्रोटीन की उसके शरीर में पूर्ति की जाती रहे तथा रक्त-

क्षय ठीक कर दिया जावे। उदर पाटन करने पर आंतों के साथ कम से कम छेड़-छाड़ की जावे तथा उन्हें गरम-गरम गॉज के पैडों से ढंक कर रखा जावे। आपरेशन के बाद आमाशय-ग्रहणी क्षेत्र में ट्यूब डालकर आचूषण करते हुए आध्मान को रोका जाय, सिरा द्वारा तरल पहुँचाये जायें। आंत में वल डालने के लिए शामक द्रव्य जैसे मौर्फीन का इन्जैक्शन १/४ ग्रेन पेशी में हर ८ घंटे पर दिया जावे। औक्सीजन श्यावता रोकने हेतु दी जावे। विटामिन बी$_1$, सी, बी कम्प्लैक्स, कैल्शियम पैंटोमीनेट दें।

आन्त्रान्त्रप्रवेश (Intussuseption)

यह प्राय: छोटे बच्चों में २वर्ष की आयु तक होसकता है। इसमें आँतों का छल्ला बरावर वाले छल्ले में घुस जाता है। अक्सर प्रथम भाग दूसरे भाग में घुसता है। यह कभी-कभी आहार में परिवर्तन होने के कारण जब आंत के फ्लोरा में परिवर्तन आता है या किसी कारण आंत के पेयरी पैच सूज जाते हैं अथवा त्रिपुटी या पौलिप बन जाने पर यह घोर व्याधि परेशान करती है। इलियोसीकल क्षेत्र में यह व्याधि अक्सर बन जाती है। इलियम का अन्तिम भाग बहुत तंग होता है। यहां लसाभ ऊतक भी काफी होते हैं, उनमें उपसर्ग की भी काफी सम्भावना रहती है। जब इन्हीं सब कारणों से आन्त्रशोथ के साथ आन्त्र की पुर:सरण गति (पैरिस्टालिसिस) तेज हो जाती है तो इलियम का अन्तिम सिरा आगे को सरक जाता है। वैसे भी बच्चों का उण्डुक और आरोही कोलन काफी चलिष्णु होने से तथा इलियोसीकल वाल्व का मुख काफी बड़ा होने से उण्डुक के विवर में घुस जाता है।

आन्त्रान्त्रप्रवेश में एक भाग घुसता है, दूसरे भाग में जिसमें घुसता है उसका दूरस्थ भाग शीर्ष या अपैक्स कहलाता है। जहां यह भाग दूसरे भाग से मिलता है उसे नैक या ग्रीवा कहते हैं। शीर्ष पर इस रोग का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। प्रथम भाग के साथ-साथ आन्त्रयोजनी भी अन्दर चली जाती है तथा उसकी वाहिनियां दबने लगती हैं जिससे विपाशन या स्ट्रैंगुलेशन उत्पन्न हो जाता है। पहले भाग का घुसने और निकलने वाले दोनों पर्त आपस में चिपक जाते हैं तो फिर वह स्थिति अपुन:स्थाप्य (इर्रिड्यूसीबिल) हो जाती है। जब ऊपर वाला पर्त अपनी पेशी का दाव घुसे हुए पर्त पर डालता है तो सिराओं में भी वहां रक्त का संचरण रुक जाता है। जिससे रक्ताधिक्य, घनात्सोत्कर्ष अधिक होकर शीर्ष भाग सूज जाता है। अन्य भागों में भी सूजन आजाती है। आन्त्रान्त्रप्रवेश का भाग ज्यों-ज्यों बड़ी आंत में बढ़ता जाता है। मेसेंटरी के साथ-साथ खिच जाने से उसकी शक्ल सौसेज जैसी हो जाती है। दाव पड़ने से वहां की कुछ केशिकाएं फट जाती हैं जिससे विवर में रक्त आ जाता है। आन्त्र प्राचीर तथा सीरस आवरण एवं परिउदर्या के पर्तो के बीच में अवकाश तक में रक्त भर जाता है। व्रणशोथ भर जाने से वहां से रक्तयुक्त तरल टपकने लगता है। बाद में घुसने और निकलने वाले पर्तों में तथा घेरने वाले ऊपर के पर्त में भी गेंग्रीन बन जाती है। इसी गेंग्रीन वाले भाग में या ग्रीवा में छिद्रण (परफोरेशन) हो जाता है। छिद्रण के कारण आंत में उपस्थित जीवाणु पैरीटोनियम (परिउदर्या) में सर्वांशी शोथ पैदा कर देते हैं। स्ट्रैंगुलेशन, गेंग्रीन, अवरोध और परिउदर्या शोथ ये सब मिलकर रोगी को मार डालते हैं। कभी-कभी स्लर्फिंग होकर आश्चर्यजनक रूप में सहसा आन्त्रान्त्रप्रवेश ठीक भी हो जाता है पर उसकी आशा बहुत ही कम रहती है।

आन्त्रान्त्र प्रवेश छोटी आंत का छोटी आंत में, कोलन का कोलन में आंत का कोलन में मिलता है कभी ऑपरेशन के बाद उलटा जैजूनम आमाशय में भी प्रवेश कर सकता है।

तीव्र और जीर्ण २ प्रकार का यह रोग रूप लेता है तीव्र रूप वाला रोगी बालक पहले से तन्दुरुस्त होता है। उसे थोड़े दस्त होने के बाद पेट में तेज दर्द उठने लगता है बच्चा आकाश पाताल एक कर देता है। दर्द रह-रह कर उठता है पहले दस्त होते हैं उलटियां शुरू हो जाती हैं बाद में टट्टी में केवल खून और श्लेष्मा ही आता है। अगर कोई वैद्य या डाक्टर इसे पेटदर्द और दस्तों का ही

रोग समझकर अनजान बना बैठा रहे तो वह उसे मार ही डालेगा। टटोल कर देखने पर पहले तो पेट मुलायम रहता है फिर बाद में एक पिण्ड बन जाता है जिसका नतोदर भाग नाभि की ओर होता है। बच्चा जैसे चीखता है पिण्ड और कड़ा पड़ जाता है। दाहिना वंक्षण खात खाली-खाली मिलता है। अंगुली गुदा में डालने पर उस पर रक्त और म्यूकस चिपक जाता है बाद में अन्त्रान्त्र प्रवेश भाग देखा या छुआ जा सकता है। बेरियम वस्ति देने से संदंशिका या पिंसर जैसा उसका चित्र आता है।

इस रोग के उपचार के लिए पहले बच्चे की दशा ग्लूकोज सैलाइन या रक्त चढ़ाकर सुधारनी चाहिए सक्शन लगातार चालू रखना चाहिये साथ ही प्रतिजीवी द्रव्य (एण्टीबायोटिक्स) बराबर देते रहना चाहिए। अगर कोई अन्य उपद्रव न हो तो पेट खोल कर अन्त्रान्त्र प्रविष्ट भाग को दबा-दबाकर रिड्यूस करना चाहिए इससे आंत का वह भाग जो सबसे बाद में घुसा है सबसे पहले खुलता है फिर धीरे-धीरे पूरा घुमा हुआ भाग सीधा हो जाता है। अगर रिड्यूस करना आसान न हो तो काट-काट कर सीना पड़ता है। कुछ सर्जन बजाय पेट खोलने के एक कैथेटर डालकर दाब के साथ नमक का पानी ऐनीमा से चढ़ाते हैं उससे भी उपद्रव रहित आन्त्रान्त्र प्रवेश ठीक हो जाता है।

बद्धगुदोदर पर आयुर्वेदीय शस्त्रकर्म

आगे हम उदर पाटन कर आजकल किस प्रकार आन्त्रावरोध को दूर करते हैं उसका विस्तार से वर्णन करेंगे पर उससे पूर्व सुश्रुत संहिता के चिकित्सास्थान के १४वें अध्याय में जो सर्जीकल ऑपरेशन दिया है उसे अक्षरशः नीचे उद्धृत करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं ताकि पाठकगण जान सकें कि प्राचीन भारतीय सर्जनों ने ही आधुनिक सर्जरी की प्रथम आधारशिला रखी थी। इस ऑपरेशन के पूर्व निदानस्थान के सातवें अध्याय में **बद्धगुदोदर** के ये लक्षण जान लेने चाहिये—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग्वा।
संचीयते तत्र मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति यच्चोदरं विट्समगन्धिकञ्च॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः—

अर्थात् जिस व्यक्ति की आँतें (छोटी तथा बड़ी दोनों प्रकार की) विविध खाद्य-पदार्थों, पिच्छिल पदार्थों, बालों, पत्थर जैसे कड़े पदार्थों में से सभी या किसी से भर जाती हैं और उनमें दूषित मल एकत्र उसी प्रकार हो जाता है जैसे किसी नाली के रुक जाने से सचित हो जाता है, तो फिर उसका मल गुदमार्ग से नहीं निकल पाता या कष्ट से थोड़ा-थोड़ा निकलता है। इस बीच हृदय और नाभि के बीच के उदर का भाग या पेट परिवृद्ध हो (फूल) जाता है। रोगी को उलटियाँ लगती है और वह पुरीष गन्ध वाला मलपदार्थ तक मुख से निकालता है इसी को बद्ध गुदोदर कहते हैं। ये सारे लक्षण इंटेस्टीनल आब्स्ट्रक्शन आन्त्रावरोध के स्पष्ट रूप से पर थोड़े शब्दों में लिखे गये हैं।

बद्ध गुदोदर के द्वारा या स्वतन्त्र रूप से जब कोई आंत का भाग छिद्रित हो जाता है तो आंत से जल जैसा पदार्थ निकल कर नाभि के नीचे के भाग में वृद्धि कर देता है जिसमें बहुत दर्द और दाह होता है—

………………ततःपरिस्राव्युदरं निबोध।
शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं
भिनत्ति यस्यागत मन्यथा वा॥
तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः
स्रावः स्रवेद् वै गुदतस्तु भूयः।
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं
निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च।
एतत् परिस्राव्युदरं प्रविष्टम्……………॥

परिस्राव्युदर खाये हुए अन्न या अन्य कारण से आंत के फट जाने से बनता है इसी को छिद्रोदर या परफोरेशन भी कहा जाता है। आंत के छिद्र या फट जाने से पानी जैसा स्राव निकल-निकल कर गुदमार्ग से बहता है। यही आंत से संलग्न पर्युदर्याकला को भी उपलिप्त करके नाभि के निचले श्रोणिभाग में पैरीटोनाइटिस (पर्युदर्याशोथ) आदि से वृद्धि कर देता है। इसमें खूब तोद और दाह हुआ करता है इस स्थिति को परिस्राव्युदर या छिद्रोदर कहा जाता है।

सुश्रुत ने इन सभी उदर रोगों में—

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता।
शोफः सदनं मंगानां संगो वातपुरीषयोः॥
दाहस्तृष्णा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि॥ स्वीकार किया है।

इन दोनों प्रकार के उदररोगों का इलाज सुश्रुत ने निम्नांकित सर्जीकल ऑपरेशन द्वारा लिखा है :—

बद्धगुदे परिस्राविणि च—जिस रोगी को बद्धगुदोदर (इंटैस्टीनल ऑब्स्ट्रक्शन) हो या परिस्राव्युदर (परफोरेशन आफ दि बॉविल) हो उसे;

स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्य—पहले स्नेहन करावें फिर स्वेदन करादें तत्पश्चात् उसके पेट पर स्नेह चुपड़ दें;

अधोनाभेर्वामतः चतुरंगुलं अपहाय रोमराज्या—नाभि के नीचे रोमराजी से ४ अंगुल बांईं तरफ हटकर;

उदरं पाटयित्वा—पेट में चीरा (इन्सीजन) लगावे;

चतुरंगुलप्रमाणानि अन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य—चार अंगुल प्रमाण में आंतों को या आंतों के छल्लों को निकाल कर देखें;

बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरं अश्मानं बालं मलजालं वा अपोह्य—जहां पर बद्धगुदोदर (आन्त्रावरोध) हुआ है और आंतों की क्रिया में प्रतिरोध उत्पन्न हो गया है वहां प्रतिरोध करने वाला जो भी पदार्थ पत्थर, बाल या मल एकत्र हो उसे निकाल दें;

ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा—फिर आंतों पर घी शहद चुपड़ दें और उन्हें यथास्थान पेट के अन्दर स्थापित कर दें;

बाह्यं व्रणं उदरस्य सीव्येत्—उदर के बाहरी व्रण को सी दें;

परिस्राविणि अपि एवमेव—परिस्रावी उदररोग में भी इसी प्रकार;

शल्यं उद्धृत्य—शल्य को जिसने आंत फाड़ी हो निकाल कर;

अन्त्रस्रावान् संशोध्य—आंत के स्रावों को साफ करके;

तच्छिद्रं अन्त्रं समाधाय कृष्णपिपीलिकाभिर्दंशयेत्—आंत के दोनों फटे हुए सिरों को एक जगह लाकर फिर उन्हें काली बड़ी चींटियों से इस प्रकार कटवाये कि दोनों सिरे या फटा हुआ भाग या छेद जुड़ जाय;

दष्टे च तासां कायान् अपहरेत् न शिरांसि—जब चींटियां इस प्रकार काट कर छेद को सी दें तब उनके सिरों को तो कटे भाग में लगा रहने दें पर शेष काया को कैंची से काट कर निकाल दें। आंतों को स्यूचर करने का यह पुराना तरीका था जिसमें कैटगट के स्थान पर पिपीलिकाएं प्रयुक्त की जाती थीं।

ततः पूर्ववत् सीव्येत सन्धानञ्च यथोक्तं कारयेत्—फिर पहले की तरह ही उदर प्राचीर को सी दें और उसी प्रकार सन्धान कार्य करावे।

यष्टीमधुकमिश्रया च कृष्णमृदावलिप्य बन्धेनोपचरेत्—मुलहठी और कालीमिट्टी मिलाकर उस पर लेप करके पट्टी बांध दें।

ततो निवातमागारं प्रवेश्य आचारिकं उपदिशेद्—फिर इस प्रकार ऑपरेशन किये उस रोगी को वातरहित (एयरकण्डीशण्ड) आगार (वार्ड) में वहां उपस्थित नर्सिंगस्टाफ (आचारिक) को आवश्यक निर्देश देकर प्रवेश करा दे।

वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्ति मिति—आगार में उसे तैल भरी द्रोणी में या घी भरी द्रोणी में रखे और केवल दूध पीने को दे।

इन उपर्युक्त शब्दों में प्राचीन भारत में एक्यूट एब्डोमिन के बड़े ऑपरेशन सफलतापूर्वक किये जाते थे। आज रिसर्च द्वारा इनका महत्व सिद्ध करने की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि अब सुश्रुत के युग में लौटना सम्भव नहीं आगे नई तकनीकों का उपयोग करना चाहिए।

उदरविपाटन (लैपारोटोमी) ऑपरेशन

आन्त्रावरोध को दूर करने के लिए उदर विपाटन या उदरच्छेदन का शस्त्रकर्म किया जाता है। कभी-कभी तो यह केवल अन्वेषण के लिए ही करना पड़ता है। कि बद्धगुदोदर या इंटैस्टीनल ऑब्सट्रक्शन क्यों हो गया

इसका उद्देश्य इस गंभीर रोग से पीड़ित रोगी के जीवन की रक्षा करना होता है। कभी-कभी तो थोड़ा कार्य करने से ही अवरोध मिट जाता है। केवल एक बैंड या पट्टी को काट देने से ही आंत्र छल्लों का संकीर्णन दूर हो जाता है कहीं किसी संसक्ति या आसंजन को काट देने से भी काम चल जाता है कभी शौर्ट सर्किट बनाकर रोग दूर करते हैं कहीं जब गुद भाग बिल्कुल अवरुद्ध हो गया हो तो आंत को ड्रेन करने के लिए बाहर सीना पड़ता है। छोटी आंत के छल्लों में विपाशन या गेंग्रीन हो जाने पर उनके एक खण्ड का उच्छेदन (रिसैक्शन) तक करना पड़ता है। बड़ी आंतों (कोलन) के कैंसर में जिसका वर्णन आगे किया जावेगा इस लिए भी उदर पाटन किया जाता है कि यह देख लिया जावे कि रोगी के इस भाग के समूचे कैंसर को निकाला भी जा सकता है या नहीं तथा किस विधि का उपयोग करना ठीक रहेगा। कभी-कभी इस अन्वेषणार्थ उदरपाटन में हानि भी हो सकती है।

आपरेशन के पूर्व एक अच्छे संज्ञाहरण के प्रयोग की आवश्यकता होती है जो पेट को पूरी तरह शिथिल (रिलैक्स) कर सके एक अच्छे संज्ञाहरण विशारद की सेवाएं उपलब्ध की जानी चाहिए और सुंघाने वाला संज्ञाहारक प्रयोग करना और ट्रैकिया में आचूषण की पूर्ण व्यवस्था करके रखनी चाहिए। अगर यह संभव न हो तो स्पाइनल अनीस्थीसिया का प्रयोग किया जाना चाहिए। आमाशय-ग्रहणी के आचूषण की व्यवस्था नली डालकर साथ ही कर लेते हैं ताकि वमन का उपद्रव न होने पावे। स्पाइनलअनीस्थीसिया विपाशन और गेंग्रीन के रुग्णों में मारक भी हो सकता है क्योंकि क्रिया संग (शॉक) की स्थिति इस परिस्थिति में प्रायः बनी रहती है।

इस रोग में उदरविपाटन के लिए दाहिनी ओर निम्न परामध्यछेदन (पैरामीडियन इन्सीजन) देना पड़ता है। इस चीरे का एक तिहाई नाभि के दाहिनी ओर नाभि के ऊपर रहता है तथा दो तिहाई नाभि के दाहिनी ओर ही नाभि से नीचे रहता है। यह चीरा कितना बड़ा हो उसके लिए यही कहा जाता है कि वह बहुत बड़ा न हो ताकि आंतों को नियन्त्रण में रखा जा सके क्योंकि आंतों के फूले हुए छल्लों (कौइल्स) का नियन्त्रण बड़े छेद के होने पर संभव [illegible] रहता। जो छल्ले बाहर की ओर आ रहे हों उन्हें गरम-गरम पट्टियों से अन्दर की ओर रखे जाते हैं। अगर किसी छल्ले को बाहर रखना भी पड़ा तो भी उसे गरम पट्टी से ढांक कर ही रखा जाता है। नीचे के चित्र में ऐसे ही फूले हुए आन्त्र छल्लों को काबू में करता हुआ सर्जन का बांया हाथ दिखाया गया है दाहिने हाथ से अवपतित छल्ले की खोज जारी दिखाई गई है।

यदि आन्त्रावरोध उसी स्थान पर ज्ञात हो जहां पहले किसी दूसरे आपरेशन के लिए चीरा लगाया गया हो तो चीरे का स्थान पहले चीरे के स्थान के समीप ही रखना चाहिए पर पुराने चीरे के स्थान पर चीरा कभी नहीं लगाना चाहिए क्योंकि कभी-कभी पुराने चीरे के स्थान के साथ ही आंत संसक्त हो जाती है अगर इसी स्थान पर चीर दिया गया तो आंत फट सकती है। पेट खोलते ही पर्युदर्या का स्वच्छ स्राव दिखाई देने लगे तो समझना चाहिए कि इसी के नीचे का छल्ला फूला हुआ है। अगर यह स्राव रक्त रंजित है तो यातो नीचे विपाशन हो गया है या आन्त्र योजनी (मेसेंट्री) का अन्तर्रोध हुआ है। अगर स्राव लसी-पूय युक्त हो तो आन्त्रावरोध का कारण व्रण शोथ (इन्फ्लेमेशन) मानना चाहिए।

आन्त्र का अवरोध कहां पर है इसका अनुमान सर्जन को पहले ही करके रखना चाहिए। कभी-कभी तो बड़ी आसानी से इसका पता चल जाता है। बड़ी आंतों की उमेठ या वाल्वूलस अपने आप चीरे के ऊपर उभर आता है। कभी-कभी कुछ भी पता नहीं लगता। ऐसी स्थिति में सबसे पहले उण्डुक का अवलोकन करना चाहिए इसके लिए चीरे के दाहिने तट को थोड़ा पीछे की ओर खींचकर

तथा छोटी आंतों के छल्लों को गरम पट्टी से पैक करते हुए देखना चाहिए। अगर उण्डुक (सीकम) फूला हुआ हो तो समझना चाहिए कि अवरोध का स्थान कोलन में है। कोलन में अवरोध के प्रमुख कारणों में वहां स्थित कैंसर हो सकता है। यह कैंसर बांये कोलन में प्राय: मिलता है। दाहिनी ओर तो इसका आभास मात्र होता है। कभी-कभी ये वृद्धियां सूत्र या संकीर्णन रूप की होने से कभी-कभी सर्जन भ्रमित हो जाता है वह एक बड़े कैंसर की खोज करने लगता है। जो ठीक नहीं। उसे नीचे से ऊपर पूरे क़ोलन की परीक्षा करनी चाहिए। अगर उण्डुक अवपतित (कोलैप्स्ड) मिले तो समझना चाहिए छोटी आंत में अवरोध है। इसके लिए दक्षिण वंक्षण खात में या श्रोणि में अवपतित छल्ले को ढूंढना चाहिए। यह निकटस्थ भाग से खोजते हुए चलना चाहिए। कैसे अवपतित छल्ले को खोजें इसके लिए फार्कूहार्सों ने वतलाया है कि पहले आंत के एक लूप या छल्ले को रोगी के शरीर की लम्बी अक्ष में रखकर आन्त्रयोजनी के बांई ओर अंगुली गहरी ले जाई जाती है अगर वहाँ से वह बांये वंक्षण खात की ओर या मेरुदण्ड के बांये ओर जाने लगे तो समझना चाहिए कि इस छल्ले का निकटस्थ सिरा वक्ष की ओर है पर यदि अंगुली दाहिने वंक्षण खात की ओर जाने लगे या दाहिनी ओर के मेरुदण्ड की ओर जाने लगे तो छल्ला उलट गया है ऐसा समझना चाहिए अर्थात् उसका निकटस्थ सिरा (प्राक्जीमल ऐण्ड) रोगी के पैरों की ओर है। अवरोध का कारण जानने के लिए की जाने वाली खोज के समय फूले हुए आंत के छलों को उदर के अन्दर ही रखते हुए खोज की जानी चाहिए पर यदि कोई छल्ला इस प्रकार रखने में वाधक हो और उसे बाहर रखना पड़े तो उसे गरम पट्टियों से ढांक कर रखना चाहिए। अगर आध्मान के कारण खोज करने में कठिनाई पड़े तो एक आचूषणी सूक्ष्म सूची को आंत में तिरछा थोड़ा आन्त्र की पेशी में ले जाते हुए छेदकर यान्त्रिक सक्शन द्वारा हवा निकाल देनी चाहिए देखें नीचे का चित्र कोलन में यह पंक्चर टीनियल वैंड़ (बृहदन्त्रयोजनी वेणी) में किया जाता है। अगर गैस का व्याप बहुत अधिक हो तो कई स्थानों पर पंक्चर किये जा सकते हैं। पर हर पंक्चर के लिए नई
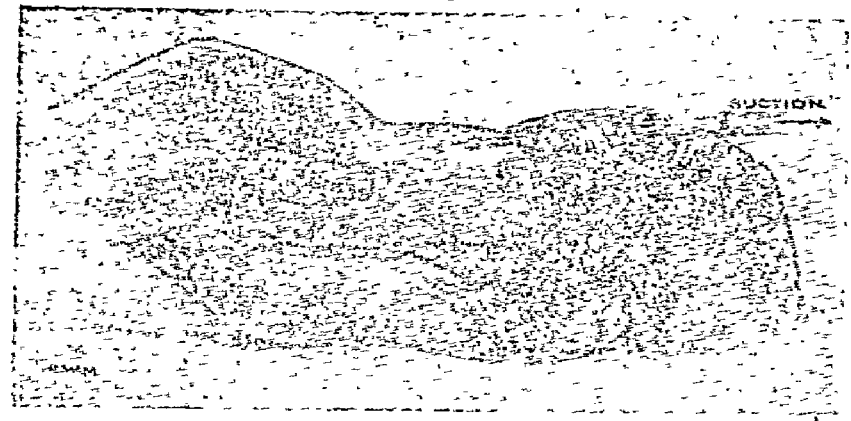
सुई का प्रयोग किया जाना चाहिए। कोलन की सारी गैस फार्कूहार्सों नामक सुप्रसिद्ध सर्जन के मत से कोलन को दो जगह पंक्चर करने से निकाली जा सकती है। एक पंक्चर ट्रान्सवर्स कोलन में और दूसरा पैल्विक कोलन में करने का निदेश है। इस प्रकार केवल गैस निकालनी चाहिए न कि तरल इसलिए सुई की नोंक सदा तरल से ऊंची रखनी चाहिए। आचूषण धीरे-धीरे किया जाना चाहिए अन्यथा आंत की दीवाल सुई के अन्दर की ओर खिंच सकती है। सर्जन जब चाहे सक्शन की रबर को दवाकर आचूषण रोक सकता है। सुई निकालने के बाद आंत की दीवाल पर जहां पंक्चर किया गया डिटौल का घोल पोत देना चाहिए। इस स्थान पर टांका लगाने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अगर ऊपर की सारी सावधानियां वरती गईं तो हवा या तरल लीक नहीं करेंगे।

कभी-कभी सर्जन को अन्दर पट्टों और आसंजन (संसक्तियां) मिलती हैं। ये संसक्तियां (एधीजन) और पट्टों (बैंड) उन स्थानों पर मिलते हैं जहां पहले उदर-विपाटन किया गया था। कभी-कभी नाभि से इलियम तक एक दो फीट लम्बी वाइटैलो-इंटैस्टीनलडक्ट की जन्मजात (कंजैनिटल) पट्टी भी मिल सकती है। इलियम वाले सिरे पर मैकेलकी त्रिपुटी वन जाती है। इस पट्टी से लिपटा हुआ छोटी आंत का एक छल्ला भी पाया जा सकता है। इन पट्टों को आंख से देखते हुए सर्जन को विमक्त करना चाहिए तथा उनके शेष भागों को निकाल देना चाहिए कि फिर कभी संसक्ति न बने। जहां ये आसंजन (संसक्तियां) बने हों उस स्थान को भले प्रकार देखना चाहिए। अगर इसमें कोई आघात लग गया हो तो

उसे लेम्बर्ट सूचर से भी सी देना चाहिए । अधिक फुलाव होने पर आन्त्रछिद्रण (एंटीरोस्टोमी) का ऑपरेशन सर्जन करके उसे चिपका सकता है। अगर कहीं ऐढीझन (संसक्तियां या आसंजन) बहुत जटिल रूप में उलझे पड़े हों तो उन्हें ठीक करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसा करने में आंतों को अभिघात हो सकता है। या कुछ नहीं तो जहां से आसंजन हटाया जायगा वहां की नंगी सतह पर नये आसंजन बन सकते हैं। इसके लिए सबसे अच्छा तरीका है कि वहां पार्श्व संम्मिलन (लैटरल एनास्टोमोसिस) कर दी जाय और इस प्रकार अवरोध को शॉर्टसर्किट कर दिया जाय। अवरोध के ऊपर के भाग नीचे के भाग से जोड़ देते हैं। एक के स्थान पर कई सम्मिलन भी किए जा सकते हैं। ऐसे शॉर्टसर्किट सम्मिलन ३ स्थानों पर नीचे के चित्र में दिखाये गये हैं, जिनमें आन्त्र के छल्ले आन्त्र योजनी के एक गांठ-गठीले बन्धन से अवरुद्ध हो गये हैं। तीरों के स्थान पर पार्श्व सम्मिलन किया जाना है।
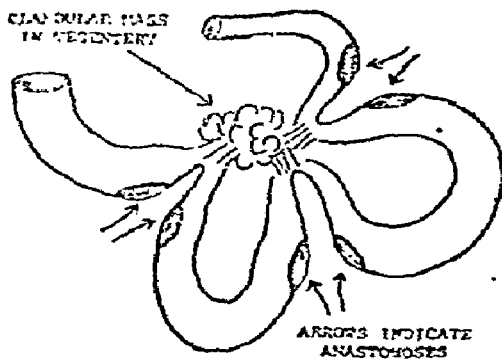
अगर आन्त्रयोजनी की किसी वाहिनी में घनास्रजन्य विपाशन हो गया हो आंत के छल्ले को खून का मिलना बन्द हो गया हो तो उच्छेदन (रिसैक्शन) और सम्मिलन (एनास्टोमोसिस) करनी पड़ती है।

आन्त्रान्त्रप्रवेश से पीड़ित बालक के आंत को प्रविष्ट छल्ले की पुनः स्थापना का प्रयत्न करना चाहिए। अपनी दो अंगुलियों से धीरे-धीरे रिड्यूस करना चाहिए। अगर यह सम्भव न हो तो इस पिण्ड को बाहर की ओर गर्म पट्टियों से ढांक कर रखना चाहिए, फिर सारे पिण्ड को धीरे-धीरे दबाना (कम्प्रैस करना) चाहिए उसे पुल कभी न करें। पुनः स्थापना का आरम्भ आसान है पर अन्त कठिन है। फिर उसी प्रकार दबाते चलने से आन्त्रान्त्र प्रवेश ठीक हो जाता है। अगर छल्लों में इस प्रक्रिया में कुछ अभिघात हुआ हो तो उसे सीकर या अन्य प्रकार से ठीक करते हैं। पर यदि पिण्ड रिड्यूस बिलकुल न हो तो उसका उच्छेदन कर देना चाहिए। इसके लिए बाहरी भाग या शीथ में लम्बाई में चीरा लगाते हैं, इसी से भी रिडक्शन (पुनः स्थापन) हो सकता है। अगर यह विधी भी कारगर न हो तो सिरे को सिरे के साथ सीकर या पार्श्व सम्मिलन करते हुए पूरे पिण्ड को निकाल कर भी रोग पर विजय प्राप्त की जा सकती है। बड़ों में किसी ट्यूमर के द्वारा आन्त्रान्त्रप्रवेश होता है उसे दूर करने के लिए ट्यूमर (अर्बुद) को हटाना पड़ता है।

अगर आंत के छल्ले में पत्थर या अश्मरी बन गई हो तो पहले उसे इधर उधर हिला-हिलाकर चलिष्णु कर लेते हैं, फिर छल्ले की दीवाल में अनुदीर्घ चीरा लगाकर उसे निकाल देते है। अच्छा हो कि उस अश्मरी को अपने पुराने स्थान से हटाकर स्वस्थ छल्ले में ले आया जाय और वहां चीरा लगावें।

अगर आन्त्रयोजनी की किसी धमनी या सिरा में अन्तः शल्य (ऐम्बोलिज्म) के कारण रक्तसंचरण में बाधा उत्पन्न हो गई हो तो जहां यह अन्तःशल्य हो उसे निकाल कर रक्तसंचार पुनः चालू किया जा सकता है। पर यदि अधिक समय बीत गया हो और छल्ला बिलकुल निर्जीव

बन चुका हो तो प्रभाव करने वाले आन्त्रयोजनी के भाग को निकाल देना ही श्रेयस्कर माना जाता है। रोगी को तत्काल रक्त चढ़ाना तथा आगे घनास्र रोकने के लिए प्रतिस्कन्दी (एण्टीकोऐगुलेंट) द्रव्यों का प्रयोग कराया जाता है।

आंतों की उमेठ या वॉल्वूलस में उदर खोलते ही पैल्विक कोलन जहां यह उमेठ प्रायः होती है, झट आगे फूले हुए रूप में आ जाता है। अगर इसमें आध्मान अधिक न हो तो उस घूमे हुए छल्ले को उलटा घुमाकर उमेठ निकाल देनी चाहिए। पर यदि छल्ले में फुलाव अधिक हो तो वहां आचूषण करके उसका फुलाव कम करने में देर नहीं की जानी चाहिए। उमेठ निकल जाने के बाद उस ढीले छल्ले में होकर एक ट्यूब ड्रेन करने के लिए या तो उदर के ऊपर या रैक्टम के अन्दर छोड़ देनी चाहिए। अगर छल्ले में हिलचाल बिल्कुल न रहे तो उसे निर्जीव मानकर काटकर निकाल देना चाहिए और फिर सिरों का सम्मिलन कर देना चाहिए। इस समय सम्मिलन स्थान पर तनाव न बढ़ने देने के लिए उण्डुकछिद्रीकरण (सीकोस्टोमी) करनी चाहिए।

ये सारी प्रक्रियाएं इतनी सरल नहीं हैं जितनी यहां बतलाई गई हैं। उनको जानने के लिए सद्गुरु, निरन्तर इन शस्त्रकर्मों का निरीक्षण और सर्जनों के मार्गदर्शन में शस्त्रकर्म करने का अभ्यास जरूरी है। यहां तो केवल प्रक्रियाओं का दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

कोलन का कैंसर (Carcinoma of Colon)

यह अधिक आयु वाले प्रौढ़ों का रोग है। इसकी उत्पत्ति कोलन में पोलिपता, व्रणात्मक आन्त्रशोथ, आन्त्र के ग्रन्थ्यर्बुदों में से कोई भी कारणरूप में देखी जाती है। बड़ी आंत के एक भाग में चारों तरफ अंगूठी की तरह कैंसर बनता है जो शावरस में पूरी परिधि को घेर लेता है और बृहदन्त्र में संकीर्णता (स्ट्रिक्चर) पैदा कर देता है। यह कैंसर एक विशेष प्रकार का होता है। यह विवर के अन्दर बढ़ा हुआ नहीं देखा जाता। इसके कोशा आंत के लम्बे अक्ष के साथ समकोण बनाते हुए बढ़ते हैं। इस प्रकार का कैंसर जिसका ऊपर वर्णन किया गया है वह नलिकाकार (ट्यूब्यूलर) या मुद्रिकारूपी (एन्यूलर टाइप) कहलाता है। एक दूसरा भी इसका प्रकार होता है उसे प्रफली या प्रोलीफरेटिव टाइप कहते हैं। इसमें वृद्धि गोभी के फूल जैसी होती है। दाहिनी ओर यह अधिक बनता है। यह कोलन विवर को भरता चला जाता है। इसमें ऊतिनाश और धरातलीय व्रणन खूब मिलता है। इसमें बाद में आन्त्रावरोध हो जाता है जबकि पहले में जल्दी होता है। तीसरा कोलन कर्कटार्बुद शुद्ध व्रणात्मक स्वरूप (अल्सरेटिव टाइप का) होता है। यह गहराई में प्रवेश करता जाता है तथा इसका विक्षेपण भी शीघ्रता से करता है। इन तीनों प्रकार के कर्कटों (कैंसरों) में प्रसार सीधी भरमार द्वारा या लसवहाओं द्वारा या रक्तधारा के द्वारा होता है। पहले कर्कटकोशिकाओं की भरमार उसकी लम्बी अक्ष के चारों तरफ होती है फिर क्षुद्रान्त्र गर्भाशय मूत्राशय तक फैल जाता है। लसीका ग्रन्थियों पर इसका प्रभाव विविध क्षेत्रों में अलग-अलग पड़ता है। रक्तधारा इसकी कोशिकाओं को विक्षिप्त करके यकृत् तक पहुंचा देती है।

कोलन के कर्कट के लक्षण उसकी स्थिति के अनुसार मिलते हैं। कोलन के अगर दाहिने आधे भाग में यदि कर्कट स्थित है तो अजीर्ण, दौर्बल्य, भाराल्पता, मल में रक्त आना। उदर में कहीं न कहीं अस्पष्ट वेदना की अनुभूति, रक्तक्षय तथा आध्मान पहले मिलते हैं बाद में आन्त्रावरोध भी मिल सकता है। अगर कोलन के बांये अधोभाग में कर्कट है तो सबसे पहले सतत वृद्धिशील कोष्ठबद्धता पहला लक्षण मिलता है। रोगी तरह-तरह के विरेचन द्रव्य लेता है पर उसे कोई खास लाभ नहीं होता। कभी-कभी उसे सरक्त अतीसार सवेरे ही सवेरे हो जाता है। पेट में अनिश्चित प्रकार का शूल मिलता है, कभी-कभी तीव्र आन्त्रअवरोध का लक्षण लेकर रोगी आता है। रोगी को रक्तक्षय (अनीमिया), मांसक्षय, पेट में कठिन अर्बुद जैसी वृद्धि टटोली जा सकती है। गुद परीक्षण पर पैल्विक कोलन में एक वृद्धि लटकती सी प्रकट होती है। सिग्माइडोस्कोपी, बेरियममील एनिमा

और ऐक्सफोलिएटिव साइटोलोजी वे साधन हैं जिनसे कोलन के कर्कट का निदान कर लिया जाता है।

उदर विपाटन के बाद यदि कोलन कैंसर को अकस्मात् सर्जन देख ले तो उसे यह भी सोचना पड़ेगा कि उसे तुरत निकाला जाय या बाद में। इसके कैंसर या कर्कट का ऊतकों स्थिरीकरण तथा यकृत् या अन्य कोष्ठांगों में विक्षेपों की स्थिति का आकलन करना होता है। अगर कर्कट को बाद में ही निकालने का वह निश्चय करे तो उसे किस प्रकार का ऑपरेशन करना है, इसे भी तय कर देना होगा। इस समय सर्जन की चिन्ता आन्त्रावरोध से मुक्ति की होनी चाहिए। इसके लिए कर्कट से ऊपर कोलन को ड्रेन करने के लिए बाहर मार्ग बनाना पड़ेगा या शौर्टसर्किट वाली एक एनास्टोमोसिस कर देनी होगी। अर्वुद के ऊपरी भाग में कोलौस्टोमी (बृहदन्त्र छिद्रीकरण) किया जाकर बाद में अर्वुद के साथ इसे भी काटकर हटा दिया जाता है।

सामान्यतया सर्जन आन्त्रावरोध जिस कर्कट में न हो तथा यदि वह ऑपरेशन के योग्य हो तो उसे वे काट-कर शेष का सम्मिलन कर देते हैं। अगर ऑपरेशन करना संभव न हो तो शौर्टसर्किट करते या कौलोस्टोमी कर देते हैं। अगर आन्त्रावरोध भी उपस्थित हो तो पहले तो कौलोस्टोमी करके अवरोध दूर करते हैं और अगर वृद्धि आपरेशन योग्य हुई तो उसे काटकर निकाल देते हैं तथा शेष भाग का सम्मेलन कर देते हैं। आपरेशन के योग्य न होने के लिए यकृत् में कर्कट का विक्षेप की उपस्थिति, दूरस्थ ग्रन्थियों का कर्कट की चपेट में आना, अन्य दूरस्थ भाग में विक्षेप होना पश्च पैरापटल पर्युदर्या का भी कर्कट से प्रभावित होना आदि लक्षण उत्पन्न होना जरूरी होते हैं। इन लक्षणों के कारण आपरेशन करना निरर्थक ही होता है।

आमाशय तथा ग्रहणी व्रण (Gastric and Peptic ulcer)

यह एक बहुप्रचलित रोग है और रोगियों में ३–४ प्रतिशत तक यह पाया जाता है। आमाशय व्रण की अपेक्षा ग्रहणी व्रण ४–६ गुणा अधिक देखने को मिलता है। आमाशयिक व्रण प्रायः प्रौढ़ व्यक्तियों में पाया जाता है जब कि ग्रहणी व्रण युवाओं में अधिक पाया जाता है।

कारण—यह व्रण प्रायः किसी अज्ञात विष के प्रभाव से होता है ऐसा समझा जाता है। इस विष के प्रभाव से आमाशय या पक्वाशय की श्लैष्मिक कला में आघात होता है। इस आघातयुक्त स्थान पर पेप्सिन (Pepsin) द्वारा श्लैष्मिक कला का पचन होने लगता है और व्रण की उत्पत्ति होती है। पेप्सीन के कारण उत्पन्न होने से इस व्रण को पैप्टिक अलसर कहते हैं। यह व्रण प्रायः ग्रहणी (Duodenum) के उर्ध्व भाग में आमाशय के एक इंच के अन्दर पाया जाता है। कभी-कभी अन्य स्थानों में यथा आमाशय के लैसर करवेचर पर, मुद्रिका द्वारा (Pylorus) के समीप, अन्न प्रणाली (Oesophagus) के अधो भाग में तथा मीकेल के उपाशय (Meckel s Diverticulum) में पाया जाता है।

यह रोग प्रायः २५–४० वर्ष की अवस्था में विशेष कर पुरुषों में देखने को मिलता है। चिन्ता, अनियमित आहार, विटामिन 'सी' की अल्पता, चाय या काफी का अत्यधिक प्रयोग, उपवृक्क (Supra renal) के स्राव की कमी आमाशय तथा ग्रहणी व्रण के कुछ सहायक कारण समझे जाते हैं।

लक्षण—आमाशम व्रण तथा ग्रहणी व्रण के लक्षणों में भिन्नता पाई जाती है जो निम्न प्रकार होती हैं—

आमाशयिक व्रण के लक्षण—आमाशयिक व्रण के कुछ प्रमुख लक्षण निम्न है—

१. आवर्तिता (Periodicity)—अर्थात् रोग का आक्रमण कुछ समय होने के उपरान्त पुनः होता है।

२. वेदना (Pain)—वेदना व्रण का प्रमुख लक्षण है। यह वेदना आमाशयिक प्रदेश (Epigastric) प्रदेश में पाई जाती है। वेदना भोजन करने के तुरन्त बाद प्रतीत होती है या भोजन करने के १–२ घण्टे तक कभी भी हो सकती है। कभी-कभी यह शूल पीछे पीठ की ओर जाता प्रतीत होता है।

३· वमन (Vomiting)—५० प्रतिशत से अधिक रोगियों में यह लक्षण पाया जाता है तथा वमन के बाद रोगी राहत महसूस करता है। यह वमन आमाशय के पाइलोरस मात्रा में स्वाज्म (Pyloro spasm) के कारण होती है। वमन में अम्ल द्रव विशेष रूप से निकलता है। जब एक बार वमन होकर शूल शान्त होजाता है तो पुनः शूल होने पर रोगी स्वयं वमन करके शान्ति प्राप्त कर लेता है।

४. रक्त वमन (Hameetoemesis)—आमाशय व्रण की प्रवृद्ध अवस्था में यह लक्षण मिल सकता है।

५. क्षुधा (Hunger)—रोगी को भूख अधिक लगती है परन्तु रोगी वमन और वेदना के भय से भोजन करने से कतराता है।

ग्रहणी व्रण के लक्षण—

१. आवर्तिता (Periodicity)—यह बहुत स्पष्टरूप से मिलती है। यह कार्य (Work) चिन्ता (Worry) तथा ऋतु (Weather) के प्रभाव से बढ़ता है ऐसा समझा जाता है।

२. वेदना (Pain)—आमाशयिक व्रण की अपेक्षा ग्रहणी व्रण में वेदना तीव्र तथा घातक होती है। यह वेदना भोजन के २—३ घण्टे के पश्चात् प्रारम्भ होती है और कुछ खालेने पर शान्त हो जाती है विशेषकर क्षार सेवन से विशेष लाभ होता है मद्य, मसालों से यह वेदना बढ़ती हुयी देखी जाती है। ग्रहणी व्रण में होने वाली वेदना क्षुधाशूल (Hunger Pain) कहलाती है। इसमें प्रायः रोगी को मध्यरात्रि के बाद वेदना प्रारम्भ होती है।

३. वमन (Vomiting)—वमन प्रायः नहीं पायी जाती।

४. मलास्रता (Malena)—रोग की प्रवृद्ध अवस्था में मल के साथ रक्त मिल सकता है।

आमाशयिक व्रण तथा ग्रहणी व्रण का निदान

रोग का निश्चित निदान करने के लिये यह आवश्यक है कि ऐक्सरे द्वारा परीक्षा या आमाशय वीक्षण यन्त्र (Gastro Scope) द्वारा परीक्षा करने पर व्रण का प्रमाण मिले। लक्षणों की दृष्टि से पीड़ा, रक्तवमन, मल में रक्त मिलना, वमन, ऐपीगैस्ट्रियम क्षेत्र को दबाने में पीड़ा का अनुभव होना, इन व्रणों के निदान में सहायक होते हैं। इन लक्षणों के अतिरिक्त रोगी की आमाशयिक विश्लेषण परीक्षा (Gastric Analysis) भी रोग के निदान में सहायक होती है। 'क्ष' किरण परीक्षा में व्रण क्षेत्र मिलता है तथा व्रण के स्थान पर आमाशय या ग्रहणी की प्राचीर के अन्दर का भाग, श्लैष्मिक कला की ओर अनियमित हो जाता है और इसमें गढ़ा (Niche) पड़ जाता है। इस गढ़े में बेरियम संचय होता है और 'क्ष' किरण परीक्षा में इसकी छाया मिलती है।

उपद्रव (Complication)—

आमाशयिक व्रण तथा ग्रहणी व्रण में निम्न उपद्रव हो सकते हैं—

१—व्रण का निच्छिद्रण (Perforation)—यह सर्व प्रधान उपद्रव है।

२—भोजन के मार्ग में रुकावट।

३—आमाशय तथा ग्रहणी का अन्य समीपवर्ती अवयवों से चिपकना (Adhesions)।

४—उदर.वरण शोथ (Peritonitis)।

५—मुद्रिका द्वार का संकोच (Pyloric Stenosis) आदि उपद्रव हो सकते हैं।

आमाशय तथा ग्रहणी व्रण की चिकित्सा

आयुर्वेद में जो दशा विदग्धाजीर्ण से बढ़कर अम्लपित्त तक जाती है वही आमाशयिक या ग्रहणीव्रण को भी जन्म देती है। इन व्रणों में शल्योपचार करना कि न करना; अगर करना तो कब करना; ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनकी ओर प्रत्येक वैद्य का ध्यान जाना चाहिए। सामान्यतः रोग थोड़े दिन का हो और रोगी नई उम्र का हो तो आयुर्वेदीय चिकित्सा कामदुघा, स्वर्णसूतशेखर, गैरिक, तृणकान्तमणिपिष्टि,संशमनीवटी, आमलकीरसायन, सुपथ्य, विश्राम, मानसिक आराम बहुत काफी होते हैं पर जीर्णरोग होने पर या उसमें छिद्रण (परफोरेशन) तथा रक्तस्राव (हैमोरेज) हो जाने की स्थिति में शल्योपचार को हृदयंगम करना ही होता है इसे न भूलना

चाहिए । कायचिकित्सकों के द्वारा विशेषकर नव्य चिकित्सानुयायियों द्वारा चिकित्सित रोगियों को रोग का आक्रमण २ से ५ साल के अन्दर पुनः हो जाता है तथा उनमें ५-७ प्रतिशत काल कवलित भी हो जाते हैं । पहले मैडीकल इलाज कराने के बाद सर्जीकल चिकित्सा में रोगी को ले जाना चाहिए यह स्थिर सा मत बनता जा रहा है । पर गरीबी के कारण श्रमिक वर्ग कब तक मेडिकल इलाज करावे उससे तो सस्ता शल्योपचार ही पड़ता है तथा ४० वर्ष से ऊपर के रुग्णों में भी शल्योपचार ही सर्जनों के मत में अधिक उपयोगी माना गया है । अगर इन व्रणों से मुद्रिका द्वार का संकीर्णन बढ़ता जा रहा हो तो भी शल्योपचार ही एक मात्र गन्तव्य रह जाता है । ग्रहणीव्रण में दोनों ही उपचार अधिक आशाप्रद न होने से जब तक रोगी की दशा बिगड़ने न लगे तब तक आपरेशन आवश्यक नहीं माना जाता ।

आमाशयव्रण से पीड़ित नवयुवक को पहले कायचिकित्सकों की शरण में ही रखना चाहिए । पर यदि ६ महीने तक भी कोई लाभ न हो तो उसको भी शल्योपचार के लिए तैयार कर देना अच्छा रहता है । अगर आमाशयव्रण देर तक बना रहता है और ठीक नहीं होता तो आमाशय में कैंसर की उत्पत्ति की भयावहता को भी नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता इसलिए भी शल्यचिकित्सा इस व्रण में भी उचित और लाभदायक सिद्ध होती है ।

ग्रहणीव्रण या डुओडीनल अल्सर में आमाशय की अत्यधिक अम्लता का बड़ा प्रभाव पड़ता है । इसलिए आपरेशन का उद्देश्य होता है आमाशय के अम्लोत्पादक अधिकांश भाग को काटकर निकाल देना। एक दूसरा उपाय है आमाशय में स्राव का नर्वस फेज उत्पन्न करने वाली वागस नाड़ी को काट देना वह भी अम्लस्राव को घटा देता है । कभी-कभी इन दोनों को भी एक साथ करना पड़ता है । आमाशयव्रण में भी आमाशय के अधिक भाग को काटकर निकाल देना ही अधिक उपयुक्त शल्योपचार माना जाता है । आमाशय को आंशिक रूप में काटा जाता है उसे "पार्शियल गैस्ट्रैक्टोमी" या नई हिन्दी में आंशिक या अपूर्ण जठरोच्छेदन कहा जाता है । इस आपरेशन में जठर (आमाशय) का दो तिहाई से लेकर तीन चौथाई तक काटकर निकाल दिया जाता है । आंशिक जठरोच्छेदन ग्रहणीव्रण और जठरव्रण दोनों में ही काम आता है। इसके बहुत अच्छे परिणाम निकले हैं । डुओडीनम का व्रणयुक्त भाग तो इस आपरेशन से कट ही जाता है सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि आमाशय का अम्लस्राव भी बहुत घट जाता है । पर इस आपरेशन के बाद आमाशय इतना छोटा हो जाता है कि न तो उसमें खाना अधिक देर ठहर पाता है न इतना स्राव ही निकलता है कि वह उन्हें गला और पचा सके । आमाशय का रक्तक्षयहर जो एक फैक्टर निकलता है वह भी कम हो जाने से ऐसे रोगियों को रक्तक्षय या एनीमिया बहुत जल्दी उत्पन्न हो जाता है । भूख भी कम लगती है वजन घट जाता है विटामिनों की कमी हो जाती है मानसिक अवसाद हो जाता है वमन में मलपित्त (बाइल) निकलता रहता है अतीसार और स्नेहातीसार अक्सर मिलता है अन्नरस का प्रचूषण घट जाता है । इन सब कठिनाइयों के कारण या इनके अलावा रोगी का जीवन बहुत दिन तक नहीं चलता कई लोग मर जाते हैं फिर भी यह गारण्टी नहीं दी जा सकती कि रोगी को फिर अत्यम्लता (हाइपर ऐसिडिटी) नहीं होगी । खासकर अगर अग्न्याशय में गैस्ट्रीन पैदा करने वाला द्वीपिकाकोशार्बुद बना हुआ हो गैस्ट्रीन ही जठर में अम्लता की उत्पत्ति सीधे-सीधे करती है इसे रोकने के लिए वैगोटोमी या वेगस का काटना (वेगस छेदन) भी आवश्यक माना जाता है । हर रोगी में सर्जन को देखना पड़ता है कि उसे दोनों प्रकार के आपरेशनों में कौन सा एक या दोनों करना चाहिए । इसे जानने के लिए "मैक्जीमल हिस्टैमिन टैस्ट" करना पड़ता है जिससे यह ज्ञात होता है कि आमाशय से अम्ल कितनी मात्रा में स्रवित होता है । इसके लिए रोगी को एक रात पहले लंघन कराते हैं । जठर निर्गम कोटर में एक लैवाइन ट्यूब लगा दी जाती है यह रेडियो ओपेक होती है उसकी टिप को स्क्रीन कर लेते हैं । वहां स्थित जठर रस को आचूषित कर लिया जाता है । घंटे भर तक रोगी बांये करवट लेटता है तथा जो भी स्राव निकलता है उसे एक इलैक्ट्रिक पम्प से निकाल दिया जाता है फिर ४० मिनट बाद ५० मिग्रा मेपाइरेमिन (एक एण्टी हिस्टैमिन) पेशी

में इंजैक्ट करते हैं। इसके २० मिनट बाद हिस्टैमिन एसिड फास्फेट को त्वचा के नीचे ०.०४ मिग्रा प्रति किलो के अनुपात से इंजैक्ट कर देते हैं। उसके बाद लगातार एक घंटे तक आचूषित करके जठर स्राव इकट्ठा करते जाते हैं फिर इस आचूषित स्राव को N/10 सोडा कास्टिक घोल के साथ टाइट्रेट करते हैं। इस टाइट्रेशन में टाफरर्स रिएजेण्ट इंडीकेटर के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अम्ल का निष्पाद स्राव के आयतन और संकेन्द्रण का गुणा होता है इसे मिली इक्वीलेंट में प्रदर्शित करते हैं। पहला घंटा वेसल आवर कहलाता है तथा दूसरा घंटा मैक्जीमल आवर कहलाता है। वेसल आवर में वेसल स्राव निकलता है पुरुषों में सामान्यतया २.५ मि० इक्वी HCl होता है तथा मैक्जीमल स्राव २२.४ मिली इक्वी HCl होता है। उपद्रव रहित ग्रहणीव्रण में वेसल स्राव ६ तथा मैक्जीमल स्राव ३७.५ मिली इक्वी HCl होता है। जहां मैक्जीमल स्राव ५० मिली इक्वी लवणमूल से ऊपर जाता है वहां आंशिक जठर छेदन के बाद जैजुनम में व्रण बनने का पूरा और वास्तविक खतरा बना ही रहता है।

बहुत से सर्जन आंशिक जठर छेदन को जठर व्रण के लिए तो स्वीकार करते हैं पर वे इसे ग्रहणीव्रण के लिए अनुपयोगी और हानिकारक मानते हैं। उसके स्थान पर वे गैस्ट्रोजैजूनोस्टोमी (जठर मध्यान्त्र सम्मिलन) तथा वैगोटोमी (वेगस छेदन) इन दोनों शस्त्रकर्मों का प्रयोग उचित ठहराते हैं। वेगस की सब जठर शाखाओं के काट देने से लवणाम्ल अपने आप ही बहुत घट जाता है जिसके कारण गैस्ट्रोजैजूनोस्टोमी के बाद सम्मेलन क्षेत्र में व्रणन नहीं हो पाता। जिनका लवणाम्ल निष्पाद ३० मिली इक्वी से अधिक न हो वहां अकेला गैस्टोजैजूनोस्टोमी शस्त्रकर्म ही माना जाता है। पर फार्कुहार्सों के मत से जठर मध्यान्त्रसम्मिलन अकेला सम्मिलनक्षेत्र में व्रण बनने से नहीं रोक सकता। पायलोरोप्लास्टी के साथ वैगोटोमी का प्रयोग भी काफी चलन मे आ रहा है। नीचे इन सभी प्रकार के शस्त्रकर्मों को संक्षेप में उनसे परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से लिखा जा रहा है।

गैस्ट्रोजैजूनोस्टोमी (जठरमध्यान्त्रसम्मिलन)—ग्रहणी व्रण में चिकित्सा के रूप में तथा जठरकर्कट में आराम देने के उद्देश्य से यह ऑपरेशन किया जाता है। इसके लिए यथाविधि चीरा लगाते हैं, चीरे में से बृहद्वपा (ग्रेटर ओमेंटम) अनुप्रस्थ बृहदन्त्र (ट्रान्सवर्सकोलन) तथा जठर का निचला भाग बाहर निकालते हैं। इन्हें एक सहायक थोड़ा ताने हुए साधे रहता है। अवसर्जन अपना हाथ अनुप्रस्थ बृहदन्त्र के नीचे से मेरुदण्ड के बांई ओर डालकर मध्यान्त्र के सबसे पहले भाग को पहचानकर जो *ग्रहणी मध्यान्त्र बंक (फ्लेक्जर) के स्थिर बिन्दु से* चलता है। उसी चीरे में से बाहर निकाल लेते हैं और तौलिया में लपेटकर रखते हैं। अब एक कुण्ठिताग्र चाकू से ट्रान्सवर्स मीजो कोलन (अनुप्रस्थ बृहदन्त्र योजनी) मिडिलकोलिक और वामकोलिक धमनियों के बीच के रक्तहीन भाग में एक सीधा चीरा दिया जाता है फिर इसे अंगुलियों से फैलाकर १० सेमी लम्बा कर लिया जाता है। इससे जठर (स्टमक) की पश्च प्राचीर निकल आती है। अब मध्यान्त्र के छल्ले की दिशा के अनुसार इस प्राचीर में सीधा खड़ा, तिर्यक् या अनुप्रस्थ में चीरा लगाकर खोल लिया जाता है। यहीं मध्यान्त्र के छल्ले का जठर के साथ सम्मिलन किया जाना है। सन्धिस्थल जठर के ऐसे स्थान पर ढूंढना चाहिए जहां से जठर का सारा सामान सीधा मध्यान्त्र में पहुँचता रहे। जो स्थान चुना जाय उस पर दोहल की टिश्यू फौर्सेप्स के द्वारा दाब करते हैं, इसी में मध्यान्त्र छल्ले को आराम से मिलना होता है। छल्ले पर तनाव बिल्कुल भी नहीं होना चाहिए। सम्मिलन से पूर्व छल्ला ८ से १२ सेमी अलग रखा जाता है। फिर जठर का अंगुलियों से मन्थन कर वहां स्थित समस्त खाद्य पदार्थादि को हटा देते हैं और सम्मिलन (एनास्टोमोसिस) क्लैम्पों का प्रयोग कर सी देते हैं। बाद में ट्रान्सवर्स मीजो कोलन को भी जठर के साथ सम्मिलन लाइन से एक सेमी दूर सी देते हैं। जिस प्रकार जठर के पश्च भाग में सम्मिलन किया जाता है, वैसे ही अग्र भाग का भी सम्मिलन करते हैं।

पायलोरोप्लास्टी—बहुत पहले इसे किया जाता था। अब फिर इसका चलन आरम्भ हुआ है। इसमें जठर व्रण या ग्रहणी व्रण वाले भाग में एक लम्बा चीरा ६ सेमी का लगाते हैं। यह चीरा मुद्रिका-ग्रहणी खण्ड के
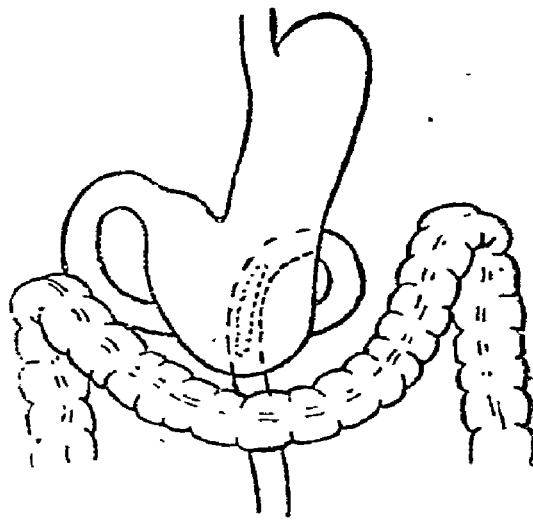
पश्च जठर मध्यान्त्र सम्मिलन मध्यान्त्र को ट्रान्सवर्स आन्त्र योजनी से निकालकर जठर के पीछे मिला दिया गया है।

Stitch for inversion of mucosa
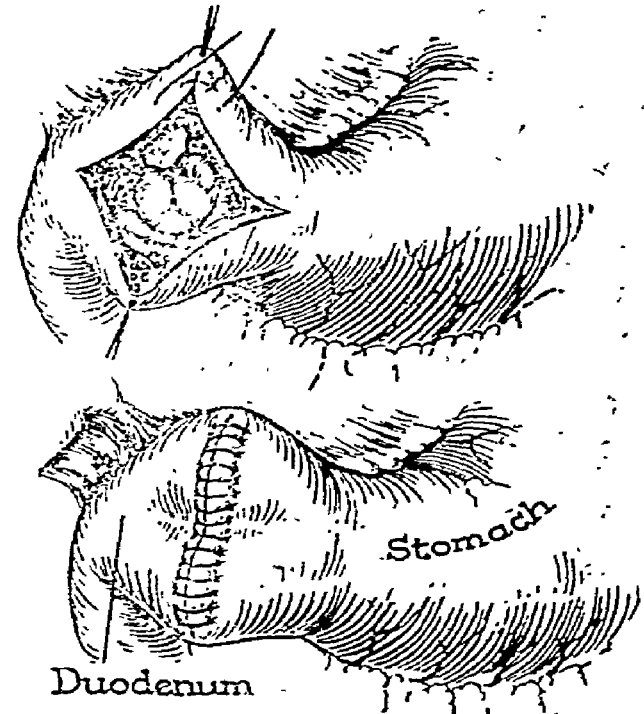
वें वर्ग द्वारा प्रदर्शित पायलोरोप्लास्टी विधि के चित्र इस विधि से मुद्रिका क्षेत्र (पायलोरस) चौड़ जाता है। आजकल कुछ लोग गोल चीरा लगाकर भी अनुप्रस्थ को सीते हैं।

अग्र जठर सम्मिलन अनुप्रस्थ वृहदन्त्र के आगे से मध्यान्त्र छल्ले को घुमाकर लाया गया है और आगे से जठर प्राचीर से जोड़ दिया गया है।

अग्र भाग में लगाया जाता है। सब कोटों का एक के बाद एक काटते जाते हैं। यह चीरा ३·५ सेमी जठर में और २·५ सेमी ग्रहणी में होता है। फिर टिश्यू फार्सेप्स की मदद से इसे खींचकर चौकोर कर देते हैं फिर इस प्रकार बनी गुहा को साफ करते हैं और श्लेष्मलकला का अवलोकन करते हैं। व्रण कहां और कितना बड़ा है, इसका ज्ञान करके अगर कहीं रक्तस्रावी बिन्दु हो तो उसे ढूंढकर वहां टांके लगाते हैं। फिर उस चीरे को अनुप्रस्थ (ट्रान्सवर्स) दिशा में सी देते हैं। सीने में स्टिच चित्र जैसा ते हैं—

वैगोटोमी (वेगसछेदन)—इस ऑपरेशन का उद्देश्य यह है कि जठर को सींचने वाली वेगस वातनाडी के द्वारा जठर का नर्वस फेज शुरू होता है जो बहुत अधिक अम्ल बनाता है। इस नाडी के छेदन (काटने) से यह फेज नहीं बनता तथा आमाशय (जठर) व्रण तथा ग्रहणी व्रण को ठीक होने का अधिक अवसर मिलता है। अगर वेगस के सब सूत्र जो जठर को पहुँचते हैं, न काटे जा सकें तो पुनः व्रण बनने के लिए सर्जन को दोषी ठहराया जाता है। अतः सभी सूत्रों को ढूंढना और काटना एक टेढ़ी खीर है। आजकल वेगस नाडी को उदर में प्रविष्ट करते ही काट देने की प्रथा है। इससे जिस बड़ी हानि की संभावना कूती जाती है, उतनी हानि देखी नहीं गई। इसलिए इसे आजकल आराम से किया जाता है। फिर भी कई प्रकार के उपद्रव वेगस छेदन से उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए अब फिर आमाशय को जाने वाले वेगस सूत्रों को ढूंढ-ढूंढकर काटने (सिलैक्टिव वेगोटोमी) की प्रथा चल पड़ी है। अकेली वेगस काट देने से जठर की क्रिया में स्थैर्य आ जाता है और अन्न आदि सड़कर नये उपद्रव

उत्पन्न करता है। इसलिए वेगोटोमी के साथ-साथ गैस्ट्रो-जैजूनोस्टोमी या पायलोरोप्लास्टी का ऑपरेशन भी साथ-साथ किया जाता है।

वेगोटोमी के ऑपरेशन के लिए ईसोफैगस को उस स्थान पर खोलना पड़ता है, जहां वह डायाफ्राम में छिद्र करके नीचे उदरगुहा में उतरती है। इस स्थान पर वेगस के समस्त सूत्र ट्रंकों में मिलते हैं। उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। पहले जठर में नली डाल उसका आचूषण कर लिया जाता है। उदर में मध्य रेखा में चीरा लगाते हैं, परामध्य चीरा भी लगा सकते हैं। फिर सब अंगों को हटा हटाकर जठर व्रण की स्थिति कूती जाती है। यकृत् के वाम खण्ड को वामत्रिकोणस्नायु को काटकर अलग करते हैं या उसे गहरे रिट्रैक्टर से हटाते हैं। अनुप्रस्थ कोलन तथा क्षुद्रान्त्रों को भी सरका देते हैं। जठर को नीचे की ओर लाकर ईसोफेगस का वह स्थान ढूंढ लेते हैं, जहां वह जठर से मिलती है। उसके ऊपर की पर्युदर्याकला को अनुप्रस्थ काटकर अंगुली डालकर ईसोफेगस को बिना जोर के ही ५ से ८ सेमी तक नीचे ले आते हैं और उसे वहां एक रबर ट्यूब की सहायता से साधे रहते हैं। ईसोफेगस की अग्र प्राचीर पर अग्रवेगस नाडी आसानी से दिखाई दे जाती है। **देखें नीचे का चित्र—**
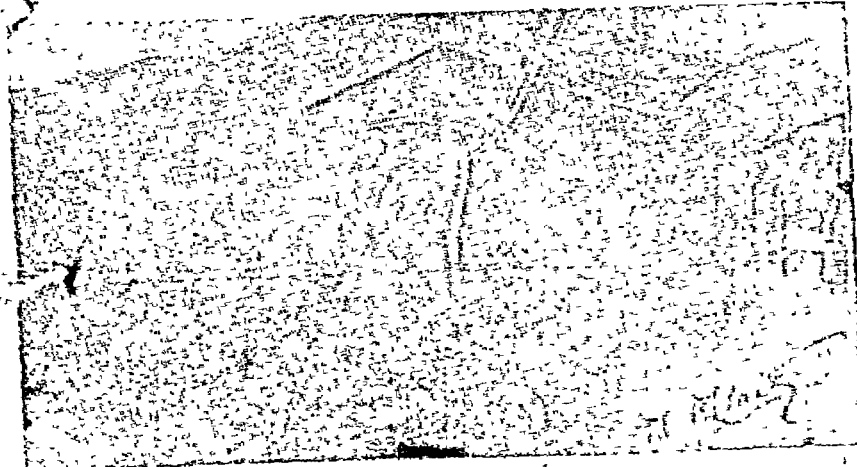
कभी-कभी इसके २ भाग एक फण्डस को जाता हुआ और दूसरा लैसर कर्वेचर को जाता हुआ देखे जाते हैं। दोनों जहां मिलें उससे कुछ ऊपर नाड़ी को काट देते हैं। ऊपरी सिरे को खूब बांध देते हैं ताकि वह पुनः न उत्पन्न हो सके। पश्च वेगस नाड़ी ईसोफेगस के पीछे ढीले ऊतकों में छिपी होती है। यह अग्र की अपेक्षा कुछ मोटी भी होती है। कभी ये नाड़ियां दिखाई नहीं देतीं पर अंगुलियों पर कड़ी पतली रस्सी जैसी अनुभूत होती हैं।

अगर उदर मार्ग से वेगस न ढूंढी जा सके। वहां आसंजनों के कारण तो वक्ष मार्ग से भी वेगस को ढूंढ लेते हैं। इसके लिए ७वीं, ८वीं या ९वीं अन्तःपर्शुकीय अवकाश में चीरा लगाते हैं।

आंशिक जठरोच्छेदन—इसका उपयोग व्रणों में उतना नहीं होता जितना जठर कैंसर के लिए किया जाता है। यह बड़ा ऑपरेशन है। सबसे पहले १८८१ में इसे बिलरौथ ने किया था, उसके नाम पर इसे बिथरौल प्रथम जठरोच्छेदन शस्त्रकर्म कहते है।
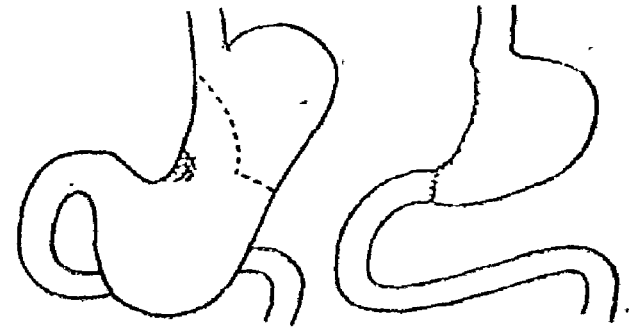
इसमें मुद्रिका क्षेत्र पूरा काट दिया जाता है। लैसर कर्वेचर पूरा तथा ग्रेटर कर्वेचर का आधा भाग आ जाता है। फिर १९११ में पौल्या द्वारा एक नया ऑपरेशन किया गया जिसमें ग्रहणी वाले कटे भाग पर मध्यान्त्र को सी दिया जाता है।
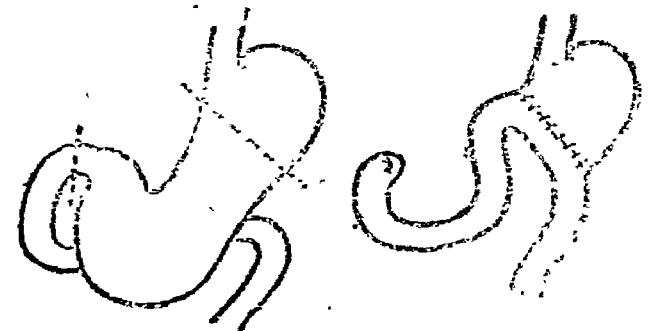
इसकी सारी विधि जानने के लिए टैक्स्टबुक ऑफ आपरेटिव सर्जरी जिसे डा० ऐरिक एल फार्कुहार्सो ने लिखा और डा० आर० एफ० रिंटोल ने प्रतिसंस्कार किया और चर्चिल एण्ड लिविंग्स्टन ने ग्रेटब्रिटेन में प्रकाशित किया है उसका अवलोकन करना चाहिए। ★★

प्राणवहस्रोतीय

रोगों का शल्योपचार

छाती या वक्ष जहां फुफ्फुस और हृदय स्थित हैं प्राणवायु का क्रीडाक्षेत्र है। प्राणवायु से अभिप्राय ऑक्सीजन से है। पर हम इस प्रसंग में छाती के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रोगों के साथ पाठकों का परिचय शल्योपचार की दृष्टि से करा रहे हैं। इससे आयुर्वेद-जगत् के चिकित्सकों को यह ज्ञान आसानी से हो जायगा कि आधुनिक युग में शल्यतन्त्र में कितनी उन्नति हुई है। साथ ही उन्हें उन परिस्थितियों से भी परिचय हो जायगा जिनको न जानने से कभी-कभी मारक स्थिति तक पैदा हो जाती है। उदाहरण के लिये यदि छाती या वक्ष में थोड़ी भी चोट आजाय तो कभी-कभी अन्दर ही अन्दर वात-अवकाशिकाओं में तरल संचित हो जाता है यह तरल तन्तरालित अवकाशों तथा श्वसनिकाओं की शाखा प्रशाखाओं तक में संचित हो जाता है। अगर छाती में दर्द रहा तो उसे खांसकर वाहर भी नहीं किया जा सकता। इसका कारण फुफ्फुसों का कुछ भाग इस तरल की लपेट में आजाने से प्राणवायु के लिये फुफ्फुसों में स्थान कम हो जाता है कार्वन डाई ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है और श्वासक्रिया का प्राकृतिक रूप वदल जाता है। अगर यह और तेज गति से क्रम चले तो मृत्यु तक हो सकती है। इसलिए फुफ्फुसों में प्राणवायु का आवागमन अप्रतिहत गति से लगातार चालू रहे इसका यत्न करना पड़ता है। श्वसनीदर्शन (ब्रोंकोस्कोपी) द्वारा फुफ्फुसों के रोगों के निदान करने में भी बहुत आसानी हो जाती है। श्वसनी दर्शन से यदि सहायता न मिले और फॅफड़ों का मार्ग अवरुद्ध रहे तो तत्काल अन्तःकण्ठनाल नलिका डालकर वहां संचित तरलों को साफ किया जा सकता है। कभी-कभी प्लूरल अवकाश में तरल के संचय से फुफ्फुसों का क्षेत्रफल सिकुड़ जाता है उसे फिर विस्तृत करने के लिये तरल या पूय जो भी हो उसको निकालना पड़ता है।

वक्ष की छै आपात-स्थितियां

डा० फार्कुहार्सों ने अपनी ऑपरेटिव सर्जरी की टैक्स्ट वुक में ६ आपात-स्थितियों का उल्लेख किया है जिनके उपस्थित हो जाने पर शल्य सम्वन्धी उपचार की तत्काल आवश्यकता पड़ती है। ये हैं:—

१—न्यूमोथोरैक्स या वातवक्ष;

२—शोणवक्ष या हीमोथोरैक्स;

३—स्टोवइन चैस्ट तथा पैराडोक्सीकल रैस्पिरेशन;

४—वक्षोदरीय अभिघात;

५—हृदय के आघात;

६—महाधमनी या अन्य वड़ी वाहिनियों का विदार;

ये सभी परिस्थितियां किसी न किसी प्रकार की चोट लग जाने से ही वनती हैं। इनमें **वातवक्ष या न्यूमोथोरैक्स** सीने की उस चोट के द्वारा वनता है जिसमें एक पसली टूट कर छाती में घुस जाती है जिससे फॅफड़े से हवा निकल कर प्लूरल कैविटी में घुस जाती है। यह कभी-कभी सहसा भी शुरू होता है। प्लूरल कैविटी की हवा के दवाव से फेंफड़ा सिकुड़ने लगता है और श्वास-कष्ट वढ़ने लगता है। अगर केवल व्यक्ति एक ही फॅफड़े वाला हो और उसमें भी वातवक्ष का दवाव पड़ने लगे तव तो चिन्ता की वात है अन्यथा यह स्थिति हवा के प्रचूपित होने के वाद फेंफड़े के फैल जाने से स्वतः समाप्त हो जाती है। कभी-कभी श्वास लेते समय तो

प्लूरल कैविटी में हवा घुस जाती है पर श्वास निकलते समय निकलती नहीं इससे फेंफड़े पर दबाव पड़ने से बेचैनी, श्यावता, नाड़ी का तेज होना तथा श्वासकृच्छ्रता का लक्षण मिलने लगता है। इस वातवक्ष को तनावी वातवक्ष (टेंशनन्यूमोथोरैक्स) कहते हैं। इस स्थिति से रक्षा हेतु उरोस्थि से ४ सेंमी हटकर द्वितीय अन्तः पर्शुकीय अवकाश में एक छोटी पर मोटे छेद की सुई प्यूरल कैविटी में घुसादी जाती है तथा उसे एक वाटरसील से सम्बद्ध कर देते हैं इससे प्यूरल कैविटी में अन्तःश्वसन के कारण संचित हवा बराबर निकलती रहती है। बाद में लोकल अनीस्थीसिया से अन्तःपर्शुकीय अवकाश को सुन्न कर १ सेंमी का चीरा देकर एक स्वधारी कैथीटर ट्रोकारकैन्युला की मदद से लगा देते हैं ऐसा ही एक दूसरा कैथीटर निचले अन्तःपर्शुकीय अवकाश में पीछे की ओर भी लगा देते हैं। ऐसा करने से फेंफड़ा फिर से फूल निकलता है और कोई भी स्राव या वायु हो वह प्लूरल कैविटी से निकल जाती है। इन कैथेटरों को क्षकिरण चित्र द्वारा देखने पर फेंफड़ा फूल जाने के बाद ४८ घंटे बाद निकाल देना चाहिए। अगर ४-५ दिन बाद भी हवा लीक करती हुई पाई जाय तो वह वक्षछेदन करके फेंफड़े के आघातयुक्त खण्ड को ठीक कर देना या काट देना पड़ता है।

कभी-कभी जब कण्ठनाड़ी से भी अधिक बड़ा छेद छाती में हो जाता है तो उसमें हर श्वास के साथ हवा अन्दर की ओर जाती है और बाहर निकलती है। इसे विवृत वातवक्ष कहते हैं, यह खतरनाक स्थिति है। इसे दूर करने के लिए छाती के सभी ऐसे घावों को जिनसे छाती खुल गई हो फौरन इस प्रकार बन्द कर देना चाहिए ताकि वह एयरटाइट हो जाय। ऊपर से गॉज रखकर उसके ऊपर इलास्टोप्लास्ट चिपका देने से सब ठीक हो जाता है।

शोणवक्ष या हीमोथोरैक्स भी वातवक्ष के साथ उत्पन्न होता है। शोणवक्ष का अर्थ है प्लूरागुहा में रक्तस्राव होना। छाती की चोट का यह परिणाम भी हो सकता है प्लूरा के अन्दर से आसंजन में विदार होने से या किसी अन्तपर्शुकीय धमनी के फट जाने से भी रक्तस्राव संभव है। शोणवक्ष के कारण रक्तदाब बराबर गिरता चला जाता है, चेहरा पाण्डुर पड़ता जाता है तथा क्षकिरण चित्र रक्त की उपस्थिति दर्शाता है। आकोटन पर प्रस्तरवत् मन्दता मिलती है। आगे चलकर ग्रीवा की सिराएं फूलने लगती हैं तथा श्यावता आ जाती है।

इसके लिए उपचार है रक्तचढ़ाना, दर्द दूर करना तथा पश्चकक्षा रेखा में ६-७ अन्तःपर्शुकीय अवकाश में ट्यूब डालकर रक्त का निर्हरण कर देना। अगर रक्तस्राव बहुत अधिक हो तो थोरैकोटोमी करनी चाहिए। ५वीं, ६ठी और ७वीं पर्शुकाओं के तल पर छाती को खोलकर वहां से सब रक्त निकाल देते हैं। अनीस्थैटिस्ट की मदद से फेंफडा फुलाया जाता है। फेफड़े के धरातल पर रक्तस्रावी विन्दु को ढूंढकर या टूटे हुए आसंजन या विदीर्ण धमनी को खोजकर रक्तस्राव को रोक दिया जाता है। विद्वान् लेखक का कथन है कि इस रोग में खतरा ऑपरेशन न करने का है। ऑपरेशन के बाद रक्त निकाल देने और रक्तस्रावी विन्दु को पकड़ लेने पर तो खतरा खतम हो जाता है।

स्टोव इन चैस्ट—यह नाम उस परिस्थिति को दिया जाता है जब ऐक्सीडेंट में आगे और पीछे दोनों तरफ से पर्शुकाएं टूट जाती हैं तथा छाती का एक भाग तैरता सा इधर-उधर हिलता रहता है। अन्तःश्वसन के समय वह भाग अन्दर को दबकर एक फेफड़े की हवा दूसरे में पहुँचाता रहता है। बहिःश्वसन में इसका उलटा होता है। इससे श्वासोच्छ्वास की क्रिया में बाधा पड़कर कार्बनडाईऑक्साइड का संचय इतना बढ़ जाता है कि प्राणों पर ही आ बनती है। अगर सामान्य चोट हो तो ऑक्सीजन देकर तथा छाती की दीवाल पर पट्टियां चिपका कर काबू पाया जा सकता है, बड़े और गम्भीर रुग्ण में ट्रैकियाछिद्रीकरण (ट्रैकियास्टोमी) तथा दबाव के साथ श्वसन की व्यवस्था करनी पड़ती है।

कभी-कभी पेट की चोट डायफ्राम को पारकर फेफड़ों तक जा सकती है और उरसोदर व्रणोत्पत्ति कर देती है। इसका ठीक-ठीक ज्ञान सर्जन को करके आवश्यकता हो तो क्ष-किरण चित्र लेकर आगे का शल्योपचार करना चाहिए। हृदय तथा वाहिनियों की चोटों और व्रणों के सम्बन्ध में आगे लिखा जा रहा है।

अन्तः पूयता या ऐम्पायमा

हवा या रक्त की तरह प्लूरा गुहा में कभी-कभी पूय उत्पन्न हो जाता है। यह अन्तःपूयता क्यों उत्पन्न होती है, इस पर भी विचार किया गया है। इसका एक कारण है वातवक्ष या शोणक्षय का इतिवृत्त मिलना। दूसरा कारण है फेफड़ों में न्यूमोनिया होना जहां से उपसर्ग प्लूरा-गुहा तक आता है। इसका तीसरा कारण फेफड़े के कैंसर का भी है। आजकल उपसर्ग नाशक उत्तमोत्तम औषधियों

के प्रयोग के कारण यह रोग बहुत कम हो चला है। पूय कितना गाढ़ा है और रोगी की हालत क्या है, इसके आधार पर आजकल अन्तःपूयता की चिकित्सा की जाती है। अगर पूय पतला है तो केवल एक आचूषण सुई द्वारा पूय निर्हरण कर अन्दर कोई प्रतिजीवी द्रव्य डाल देने से रोग दूर हो जाता है। अगर पूय गाढ़ा हो और रोगी की दशा गम्भीर न हो तो प्रान्तस्थाच्छेदन या डिकॉर्टिकेशन का ऑपरेशन करना पड़ता है। पर यदि रोगी की दशा खराब है तो पर्शुका काटकर पूय का निर्हरण करना ही एकमात्र शल्योपचार रह जाता है। पश्चकक्षा रेखा में ८वीं और ९वीं अन्तः पर्शुकीय अवकाश में पंक्चर करके एक लम्बी सुई प्रविष्ट कर दी जाती है। उसके द्वारा आचूपण द्वारा पूय निकाल कर किसी उपयुक्त प्रतिजीवी का घोल उसमें डाल देते हैं। अगर पूय गाढ़ा होने से न निकले तो मालेकॉट ट्यूब डालकर निकालते हैं।

ट्यूब डालने के लिये ट्रोकार कैन्युला का प्रयोग करते हैं तथा बाहु को अपावर्तन की स्थिति में रखवाना चाहिए ताकि अंसफलक उठे रहें, जैसा कि पहले चित्र में दिखाया गया है। ट्रोकार को जहां तक निचली पसली के संनिकट ही रखते हैं ताकि कोई वहां स्थित अन्तःपर्शुकीय वाहिनी बचाई जा सके। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ट्रोकार कैन्युला डालने के पूर्व उस स्थान की १ सेण्टीमी० त्वचा पर स्थानिक संज्ञाहर का प्रयोग कर सुन्न कर लेते हैं। बाद में ट्रोकार निकालकर उसके स्थान पर फैले हुए कैथीटर को फौरन डाल देते हैं, वह उस स्थान पर कस कर फिट बैठता है। उसके लगते ही पूय निकलने लगता है। इस कैथेटर का सम्बन्ध एक ट्यूब से कर देते हैं जो आचूषण वाली बोतल या वाटरसील से सम्बद्ध की जाती है। बाद में जब सारा पूय निकल चुकता है और फेफड़े कैथीटर की नोंक तक फूलकर छूने लगते हैं तब उसे निकाल लिया जाता है। बाद में रोगी को खांसने और श्वास सम्बन्धी कसरत करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यह ट्यूब ७ से १० दिन तक लगाये रखी जाती ही है ताकि पूरी प्लूरागुहा पूय से मुक्त हो ले। अगर पूय का निर्हरण करना कठिन हो और पूय बहुत गाढ़ा हो तो पसली काटकर भी पूय निकाला जाता है।

अगर तीव्र अन्तःपूयता में पूय का निर्हरण या निकास ठीक-ठीक नहीं किया गया तो बीमारी जीर्ण (क्रॉनिक) रूप धारण कर लेगी। वहां एक फुफ्फुस-प्लूरस फिश्चुला बन जाता है। इस प्रकार के स्वरूप के पीछे फेफड़ों में

उरःक्षत या कैंसर का होना भी इसका जिम्मेदार होता है। प्लूरा के दोनों पर्त मोटे पड़ जाते हैं। इस स्थिति में भी पसली काटकर शोधन करना पड़ता है। कभी-कभी तो महीनों निर्हरण के लिए प्रयास किये जाते हैं। आजकल **डिकॉर्टिकेशन** द्वारा भी इसे सुधारा जाता है। फेफड़े पर लगा हुआ प्लूरा का पर्त जो तान्तव हो चुका होता है तथा अन्य स्थूलित आवरणों को इसके द्वारा खुरचकर निकाल दिया जाता है ताकि फेफड़ा फूलकर पुनः अपना कार्य सावधानी से कर सके। कभी-कभी तो अन्तःपूयता वाली पूरी गुहा को ही छिलके की तरह उतार दिया जाता है। बाद में एक या दो निर्हरण नलिकाएं डाल दी जाती हैं और फेफड़ा संज्ञाहर्त्ता के द्वारा फुलवाया जाता है। फेफड़े के फूल जाने के बाद और उसी स्थिति में बराबर रहने पर २–३ दिन बाद ट्यूबें हटाली जाती हैं।

राजयक्ष्मा में शल्योपचार

आजकल यक्ष्मानाशक अच्छे प्रतिजीवियों या रसायन द्रव्यों के उपयोग के कारण यक्ष्मा रोग में शल्योपचार बहुत ही विरल हो गया है, फिर भी कहीं-कहीं उसकी आवश्यकता पड़ ही जाती है। शल्योपचार में फुफ्फुस के एक अंश या खण्ड को काटकर निकाल देना या उसे अवपतित करने का प्रयत्न किया जाता है। फुफ्फुस अवपतन के लिए एक **थोरैकोप्लास्टी** का ऑपरेशन किया जाता है। आजकल यह भी उतना नहीं किया जाता है जितना कि स्ट्रैप्टोमायसीन के पूर्व किया जाता था। इसके लिए चीरे का स्थान साथ वाले चित्र में दिखाया गया है।

इसी चीरे की रेखा पर चीरा लगाकर पसलियों तक सारी पेशियां काट दी जाती हैं और अंशफलक को आगे और पार्श्व की ओर अधर कर लिया जाता है। सरेटस एण्टीरियर पेशी के ऊपरी भाग का सम्बन्ध पसलियों से अलग कर दिया जाता है। इससे ऊपर की ४ या ५ पसलियां काफी खुल जाती हैं। फिर पीछे से पर्यस्थकला के नीचे से तीसरी और दूसरी पर्शुकाओं को काट देते हैं। पहली पर्शुका न काटें तो अच्छा है क्योंकि उसका सम्बन्ध काफी महत्त्वपूर्ण अवयवों के साथ रहता है। आवश्यकता पड़ने पर चौथी और पांचवीं पसली भी काट देते हैं। इतना करने से ही फेफड़े का यक्ष्माग्रस्त भाग अवपतित हो जाता है और यक्ष्मा से मुक्ति मिल जाती है। इसी अवपात हेतु कृत्रिम न्यूमोथोरैक्स किया जाता है। फुफ्फुस का खण्डोच्छेदद (लोबैक्टोमी) पूर्णोच्छेद (न्यूमोनैक्टोमी) आदि किये जाते हैं।
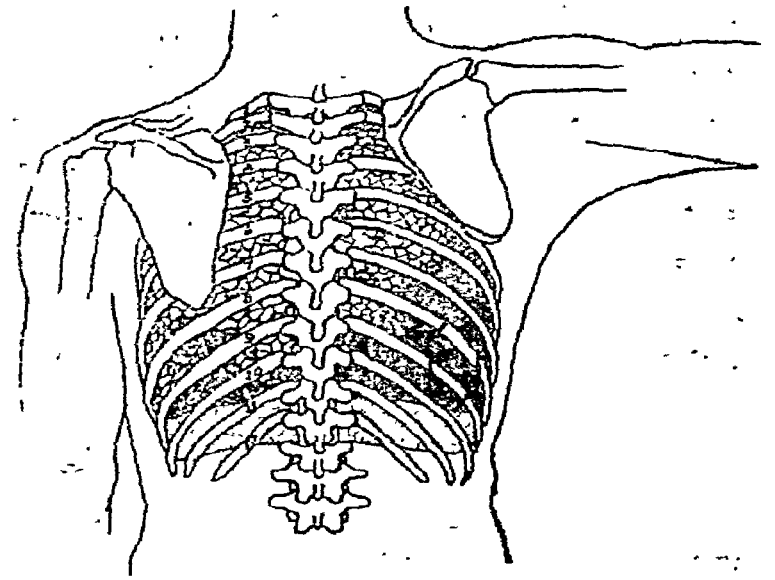
हृदय और बड़ी वाहिनियों के शल्योपचार

अब गत कुछ वर्षों से सर्जनों को यह विश्वास हो गया है कि अन्य कोष्ठांगों की तरह हृदय पर भी ऑपरेशन किये जा सकते हैं और वे सफल भी होते हैं। इसे कट-फट जाने पर सी सकते हैं, इसमें फंसे बाह्य द्रव्य निकाल सकते है। अगर यह बन्द भी हो जाय तो फिर से चालू कर सकते हैं। पर ये सभी बड़े कार्य हैं जिनके लिए बड़े हार्टसर्जनों की आवश्यकता पड़ती है। हम यहां **हृत्क्रियारोध** (कार्डियक अरैस्ट) का विषय उपस्थित कर रहे हैं, जिसे फाकुहार्सों के मत से एक अनुभव रहित हाउस सर्जरी को भी समझ लेना जरूरी होता है। क्योंकि अगर किसी का हृदय चलते-चलते रुक गया तो उसे फिर चालू करने के लिए इतना समय नहीं होता कि किसी विशेषज्ञ को

बुलाया जाय। उस समय तो जो भी चिकित्साधिकारी उपस्थित हो उसी को हृदय की क्रिया को चालू करने के लिए जुट जाना पड़ेगा क्योंकि हृदय के रुक जाने से रक्त को ऑक्सीजन (प्राणवायु) पहुँचाने की प्रक्रिया रुक जाती है। अगर मस्तिष्क को सामान्य तापमान पर ३-४ मिनट भी ऑक्सीजन न मिली तो वह निष्क्रिय हो जाता है और प्राणी की मृत्यु हो जाती है। इसलिए जैसे ही किसी का हृदय धड़कना बन्द कर दे। उपचार को रोगी के मुख पर अपना मुख रखकर हवा पहुँचानी चाहिए। फिर तत्काल ट्रैकिया के अन्दर नलिका पहुँचाकर शुद्ध ऑक्सीजन से उसके फेफड़ों को फुलाना चाहिये। उसे कृत्रिम श्वास चालू कर देना चाहिए। इसके लिए उरोस्थि (स्टर्नम) के निचले भाग को दबाते हैं, दबाने से हृदय मेरुदण्ड और उरोस्थि के बीच दबता है जिससे रक्त धमनियों के अन्दर जाने लगता है। फिर दाब ढीली कर देने से सिराओं से रक्त आकर हृदय को पुनः भर देता है। यह दाब प्रति मिनट ७० बार किया जाना चाहिए, साथ ही मुंह से मुंह लगाकर श्वास देना या ट्रैकिया में ट्यूब डालकर ऑक्सीजन तथा Co_2 का मिश्रण पहुँचाना भी बराबर चालू रखा जाता है। अगर इन प्रयत्नों के बावजूद भी नाड़ी नहीं चलती, हृदय नहीं हिलता, श्यावता (सायनोसिस) बढ़ती चली जाती है तो फिर इंटर्नल कार्डियक मसाज (आभ्यन्तर हृद्मर्दन) के लिए तैयार रहना चाहिए। कृत्रिम श्वास देने के लिए रोगी को तखत या जमीन पर उतार लेना चाहिए ताकि दाब ठीक-ठीक पड़ सके। श्वास बन्द होने के पहले हिन्दू घरों में जमीन पर रोगी को उतार लेने की जो प्रथा है उसकी वैज्ञानिकता अब समझ में आ जानी चाहिए। उतारते ही प्रियजन लिपटकर उसे दबाते हैं, फिर उठते हैं उससे भी सांस लौट आती है। पर उसे अब वैज्ञानिक रूप में ही करना चाहिए। नीचे के चित्र में रोगी का हृदय दबाया उछाला जा रहा है और हृदय की बाहर से मालिश की जा रही है।

अगर बाह्य हृद्मर्दन की प्रक्रिया का कोई फल न निकले तो आभ्यन्तर हृद्मर्दन के लिए सर्जन को तैयार रहना चाहिए।
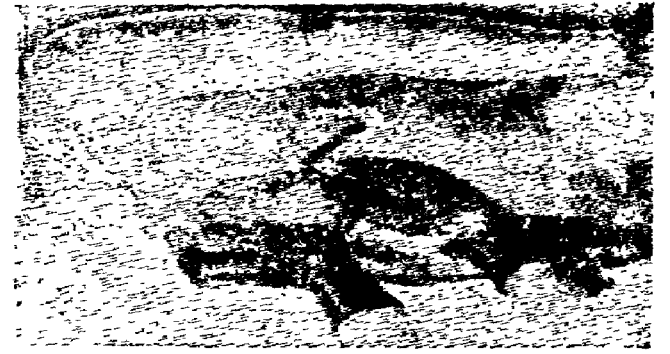
आभ्यन्तर हृद्मर्दन—"पाई" ने अपनी "सर्जीकल हैण्डीक्राफ्ट" नामक पुस्तक में इस विषय का सजीव वर्णन दिया है। उसने प्रति मिनट किसको क्या करना है उसे निदेशित किया है। यह विषय मानव मात्र के लिए कल्याणप्रद होने से उसे यथावत् नीचे दिया जा रहा है—

कृत्रिम श्वसन तत्काल चालू रखा जाय और उसे बराबर चलाया जाय। ऑक्सीजन और कार्बनडाईआक्साइड का मिश्रण ट्रैकिया के अन्दर नली डालकर देते रहें रोगी के मुख और नासामार्गों को खुला रखें ताकि हवा का आवागमन ठीक-ठीक होता रहे। (अब आगे प्रति मिनट आभ्यन्तर हृद्मर्दन (इंटर्नल कार्डियक मसाज) का वर्णन इस प्रकार दिया गया है)।

पहली मिनट—

अनेस्थैटिस्ट—श्वसनमार्ग साफ करता है, टेबिल को झुकाता है ताकि सिर कुछ नीचा हो जाय, एमाइलनाइट्राइट की कैपसूल तोड़कर रोगी को सुंघाता है।

सर्जन—एक टाइमकीपर नियुक्त करता है। अपने सहायक को मुक्त कर देता है। वह जो ऑपरेशन कर रहा हो उसे थियेटर सिस्टर की मदद से कुछ देर के लिए रोक देता है और बड़ी धमनी को परिस्पर्श कर उसके चलने न चलने का जायजा लेता है।

दूसरी मिनट—

अनेस्थैटिस्ट—ऑक्सीजन देना चालू करता है, ट्रैकिया में ट्यूब पास करता है।

सर्जन—देखता है कि उदर के ऊपरी भाग और वक्ष के निचले भाग की त्वचा को स्टर्लाइज कर दिया गया है इसी बीच वह अपने ग्लोव बदल लेता है।

थियेटर सिस्टर—पेट और छाती की त्वचा को चीरे के लिए तैयार करती है।

तीसरी मिनट—

अनीस्थैटिस्ट—अगर कहा जाय तो कैरोटिडआर्टरी का स्पन्दन छूकर मालूम करता है समय मिलते ही कार्डियक ऐमर्जेंसीजार खोलता है और उसे थिएटर सिस्टर के पास पहुँचा देता है।

सर्जन—अगर उसे सूचना मिलती है कि हृदय स्पन्दन चालू नहीं हुआ तो वह पेट की मध्यरेखा पर लीनिया-ऐल्वा से होकर एक इतना बड़ा चीरा लगाता है कि उसका हाथ उसमें होकर पेट में चला जाय। अब वह महाप्राचीरा पेशी (डायाफ्राम) के नीचे अपना सीधा हाथ लेजाकर हृदय का मर्दन शुरू करता है उसका बांया हाथ छाती पर ऊपर रहता है पहले तो वह जल्दी-जल्दी मर्दन
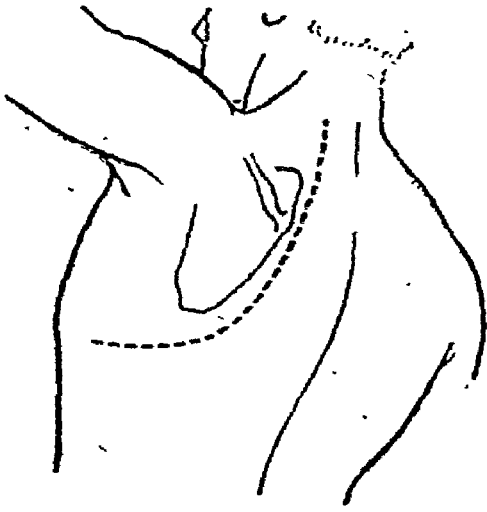
करता है तथा जोर भी डालता है। अगर आधे मिनट के अन्दर कोई लाभ न हो तो फिर वह ८० प्रति मिनट के हिसाब से पहले से धीमी गति से दाब डालकर मर्दन करता है।

थियेटर सिस्टर—शुद्ध सिरिंज में १ मिलि एड्रीनलीन भरकर सुई को कसकर उस पर लगा देती है।

चौथा मिनट—

सर्जन—अपना बांया हाथ हटा लेता है अब अनीस्थैटिस्ट एड्रीनलीन हृदय में इंजैक्ट करता है। इसके बाद सर्जन फिर तेजी से मालिश या मर्दन करने लगता है इस आशा से कि अब हृदय चलने लगेगा।

साढ़े चार मिनट पर—

सर्जन—जीफीस्टर्नम के पीछे डायाफ्राम में एक बटन होल चीरा लगाता है। इस छेद में से वह अपने दाहिने हाथ का अंगूठा पेरिकार्डियम पर ऊपर सीधे पहुँचा देता है। उसकी हथेली डायाफ्राम पर रहती है और अब वह

अंगूठे और हथेली के बीच में हृदय को दबा-दबाकर उसे चालू करने की कोशिश करता है यह विधि कभी धोखा नहीं देती और हृदय चल पड़ता है। बाद में चीरे के स्थानों को यथा विधि सीं देते हैं।

फार्कुहार्सो ने आभ्यन्तर हृदविमर्दन के लिए जो विधि अपनाई है वह इस प्रकार है। उसका कहना है कि यह परिस्थिति इतनी विकट होती है कि इसमें स्टर्लाइज करने का विचार तक छोड़कर कार्य करना पड़ता है। बांई ओर चौथी ओर पांचवीं इण्टरकॉस्टलस्पेस में चीरा लगाया जाता है फिर पर्शुका प्रसारकों (रिवस्प्रैडर्स) द्वारा उसे इतना चौड़ाया जाता है कि सर्जन का दाहिना हाथ उसमें घुस सके। अंगूठा ऊपर स्टर्नम पर रहता हैं। अब शेष हाथ से पैरीकार्डियम सहित हृदय बार-बार स्टर्नम के पीछे दबाया और फुलाया जाता है अगर ऐसा करते जाने से भी हृदय का चलना न शुरू हो तो फिर पैरीकार्डियम को खोलकर अंगुलियों को पेरिकार्डियल थैले में होकर हृदय के पीछे ले जाते हैं। और हृदय को स्टर्नम के पीछे अंगुलियों से दबाते हैं। अंगूठा हृदय पर रखकर नहीं दबाते क्योंकि वैसा करने से हृत्पेशी के विदीर्ण होने का खतरा उत्पन्न हो सकता है। अंगूठा स्टर्नम के ऊपर ही

रहता है जैसा कि ऊपर के चित्र में दिया गया है। इस सब कार्य में सर्जन को बहुत परिश्रम पड़ता है इसलिए उसे रोगी के दाहिनी ओर खड़े रहकर ही यह सब करना चाहिए। फार्कुहार्सों का कथन है कि डायफाम में चीरा देकर आभ्यन्तर हृद्मर्दन उतनाकारगर नहीं होता जितना कि छाती के चीरे के द्वारा होता है। औक्सीजन की कमी होने से शरीर में अम्लोत्कर्ष (ऐसीडोसिस) बढ़ जाती है जिसे रोकने के लिए सिरामार्ग द्वारा २५ मिलि मोलर सौल्यूशन (जिसमें ८·४% सोडाबाईकार्ब होता है) प्रति ५ से १० मिनट पर चढ़ाते हैं। १० प्रतिशत कैलशियम क्लोराइड का ५ मिलि या १ से २ मिलि १·१००० घोल का ऐड्रीनलीन हृदय की पेशी में सीधा देने से उसके आकुंचन चालू हो जाते हैं कभी-कभी इससे वैंट्रीक्युलर फिब्रिलेशन (निलय विकम्पन) शुरू हो जाता है उसे रोकने के लिए इलैक्ट्रीकल डिफिब्रिलेशन की प्रक्रिया की जाती है।

कितनी देर में कृत्रिमश्वास की ये सभी प्रक्रियाएं अपना फल देंगी यह नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी तो इसमें २॥ घंटे तक लग जाते हैं। अगर हृदय चालू हो गया तो वातनाडी संस्थान का कोई खास नुकसान नहीं देखा जाता। सामान्यतः १०-१५ मिनट में हृद्गति चालू हो जाती है फिर पैरीकार्डियम के व्रण को ठीक करके सीं दिया जाता है। इण्टर्नल मैमरी आर्टरी जो शॉक के कारण चीरे के समय शान्त थी अब उपद्रव कर सकती है इसलिए उसे सुरक्षित किया जाता है प्लूरागुहा को भी वाटरसीलड्रेन लगाकर बन्द कर दिया जाता है।
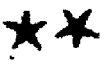
सुश्रुतकालीन पठन—पाठन

सुश्रुतकाल में गुरु शुभ तिथि मुहूर्त लग्न शोध कर यथा स्थान यथा विधि शिष्य को यज्ञ करवा कर शिष्यता प्रदान कराते थे और अग्नि को साक्षी कराकर ३ परिक्रमा अग्नि की करवाते हुए उसे आरंम्भ से ही ये उपदेश देते थे—

१—कामवासना से दूर रहे, क्रोध न करे, लोभ न करे, मोह न करे, अहंकार न करे, ईर्ष्या न करे, परुषता (सख्ती) न करे, पैशुन्य (बदमाशी) न करे, अनृत (झूठ) न बोले, आलस्य न करे, अयश (बदमाशी) का कोई काम न करे। २—नख कटवा कर,बाल कटवा कर, पवित्रता के साथ,कषाय (लाल) रंग का कपड़ा पहन कर (अर्थात् एकसी यूनिफार्म में) रहे। ३—सत्यव्रत का पालन करे, भोगविलास से दूर रहता हुआ ब्रह्मचर्य का पालन करे जो कोई आश्रम में पधारे उसका बराबर अभिवादन करता रहे। ४—गुरु के अनुकूल स्थान पर बैठे, गुरु के अनुकूल स्थान पर जाय, गुरु कहे तब सोवे, बैठे, भोजन और अध्ययन करे (अर्थात् आश्रम के टाइमटेबिल का पूरी जिम्मेदारी से पालन करे) तथा जिससे गुरु प्रसन्न हो या जिससे गुरु का हित और प्रिय हो केवल वही शिष्य को करना चाहिये।

अतो अन्यथा ते वर्तमानस्य अधर्मो भवति—इसके विपरीत आचरण शिष्य के लिये अधर्म होगा उसके करने से अफला च विद्या भवति विद्या सफल नहीं होगी न च प्राकाश्यं प्राप्नोति तथा उस शिष्य की प्रसिद्धि भी नहीं होगी। गुरुद्रोही शिष्य समाज में कभी सफलता नहीं प्राप्त करता है। गुरु का भी शिष्य के प्रति कर्त्तव्य था—

अहं वा त्वयि सम्यग् वर्तमानेऽपि यदि अन्यथादर्शी स्याम् एनोभाग भवेयं अफल विद्यश्च। यदि शिष्य जैसे कहा है वैसे ही व्यवहार करे तो भी यदि गुरु यथाशास्त्र ज्ञान प्रदान न करे तो गुरु कहता है कि मैं पापभाजन बनूं और मेरी विद्या निष्फल हो जाय।

उस समय कितना पवित्र अनुशासनात्मक गुरु शिष्य सम्बन्ध था और आश्रमों का वातावरण कितना शुभ आदर्श और कितना उपयोगी था इसे उक्त सुश्रुतीय वर्णनों से सहज ही आंका जा सकता है।

मूत्रवह स्त्रोतीय रोगों का शल्योपचार

DISEASE OF GENITOURINARY SYSTEM

वैद्य मुन्नालाल गुप्त, ५८/६८ नीलवाली गली, कानपुर

गुर्दा (वृक्क) से लेकर मूत्रद्वार (लिंगेन्द्रिय के अन्तिम छोर) तक—मूत्र सम्बन्धी बहुत से रोग होते हैं उनका निदान, निदान खण्ड में दिया गया होगा। यहां उनका वर्णन अनावश्यक समझकर नहीं किया गया है—किया जा रहा है। मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात और अश्मरी रोगान्तर, मूत्र सम्बन्धी रोगों पर उनकी चिकित्सा पर विचार किया जाय तो हमें उनसे लड़ने, चिकित्सा करने का बहुत बार मौका मिलता है और औषधियों—उपचारों से लाभ भी निश्चय मिलता है। फिर भी कभी-कभी ऐसी दशा रोगी की हो जाती है—देखी जाती है जब तत्काल शल्यचिकित्सक के पास रोगी को भेजना अनिवार्य हो जाता है। रोगी की वेदना को देखते हुए, उस पर तत्काल काबू न पाने पर ऐसा ही करना पड़ता है। यह मजबूरी में नहीं, वह भी एक उपचार हेतु, उनमें मूत्रावरोध और अश्मरी की वेदना प्रमुख्य है। मूत्राशय के अन्य भी बहुत रोग हैं। जिनका इलाज हर चिकित्सक, विशेषकर साधनहीन चिकित्सक, पूर्ण चिकित्सा नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में वह मात्र परामर्श दे सकता है और रोगी की तत्काल पीड़ा को दूर करने के लिए आयोजन भी कर सकता है।

जब मूत्राशय सम्बन्धी रोगों से पीड़ित रोगी आवे तो रोग का इतिहास जानना परमावश्यक होता है। तत्पश्चात् रोगी के रोग की परीक्षा करनी चाहिए।

मूत्राशय के मूत्र से भरे होने पर भग संधानिका के ऊपर, उदर के नीचे के भाग में, एक गोल—अण्डाकार फुलाव दिखाई देता है। यह मूत्राशय है जो मूत्र भरने से फूल गया है। परीक्षा करने से पूर्व, वस्ति में रबर का कैथिटर (सलाई) डालकर मूत्र को निकाल देना चाहिए। इससे पीड़ा बहुत कुछ शमन हो जाती है। यदि मूत्रमार्ग संकीर्ण व अश्मरी होने का अनुमान हो तो, वहां रबर का कैथिटर यदि काम न दे तो, धातु के कैथिटर का उपयोग करना चाहिए।

पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि से उत्पन्न मूत्रावरोध में साधारण कैथिटर उपयोगी नहीं होता, उसके लिए एक विशेष प्रकार का कैथिटर प्रयोग करना पड़ता है। यदि मूत्र के साथ पूय निकलती है, तो पूय की परीक्षा करना आवश्यक होता है। यदि मूत्र मार्ग के अग्रिम भाग से पूय आ रही हो तो कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट करना उचित नहीं है। उससे मूत्राशय में संक्रमण पहुँच सकता है। इस प्रकार परीक्षा करके रोग की चिकित्सा का उचित आयोजन करना चाहिए।

मूत्र सम्बन्धी कुछ साधारण रोगों का उपचार व उनकी दशा पर यहां प्रकाश डाला जा रहा है।

मूत्रकृच्छ्र

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः
सर्वेऽथवा कोप मुपेत्य वस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति
यदा तदा मूत्र यतीह कृच्छ्रात्॥

—च० सं० चि० स्थान अ० २६/३३

मूत्रकृच्छ्र उस दशा का नाम है जब मूत्रमार्ग से मूत्र बूंद-बूंद करके टपकता रहता है। अथवा थोड़े-थोड़े समय

पर मूत्र त्याग होता है। चरकादि ग्रन्थों में इसके अन्तर्गत वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, शल्यज , [illegible] अश्मरीजन्य, शुक्रज, शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र का वर्णन किय है। (इन सबका वर्णन निदान खण्ड में देखें) यह रोग जब बच्चों में होता है उसका कारण मूत्राशय की संकोचक पेशी की शक्ति का अपूर्ण विकास है। साथ में मूत्राशय सम्बन्धी नाड़ियों में कुछ क्षोभ उत्पन्न हो जाता है जिससे मूत्राशय मूत्र को धारण नहीं कर सकता। बच्चों में स्वाभाविकतया ही मूत्र रोकने की शक्ति कम होती है। इस पर जब गुदा में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा निरुद्ध-प्रकाश या उस स्थान में अन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं तो इस शक्ति का पूर्ण ह्रास हो जाता है, जिससे मूत्र बूंद-बूंद करके हर समय टपका करता है।

मूत्रकृच्छ्र का दूसरा रूप जब देखने को मिलता है, जब मूत्राशय के मूत्रमार्ग के छिद्र के प्रसारित हो जाने से उत्पन्न होता है। उस छिद्र के चारों ओर जो संकोचक पेशी रहती है, उसके दुर्बल हो जाने से रोगोत्पत्ति होती है। जब मूत्रमार्ग के छिद्र में कोई अर्बुद उत्पन्न हो जाता है या वहीं पर अश्मरी अटक जाती है तो मूत्र धीरे-धीरे बराबर निकलता रहता है।

उपचार—

प्रथम रोग के कारण को ढूंढना चाहिए। यदि मणिच्छदा संकुचित (Prepuce) है तो उसका प्रसार करना आवश्यक है। उसके लिए स्निग्ध उपचार करने का विधान चरक के २६वें अध्याय (चिकित्सस्थान) में विस्तार से बताया गया है। साथ ही मूत्रकृच्छ्र उपचार भी उपादेय है, उनका उपयोग करें।

गुदा के भीतर उपस्थित अर्बुद तथा कृमियों का नाश करने के लिए उचित उपचार करना चाहिए। साथ ही रोगी को बलकारक औषधियों का प्रयोग कराना उचित है। यदि वस्ति स्थान में या मूत्रमार्ग में अर्बुद है तो उसका छेदन कराना आवश्यक होता है।

मूत्रावरोध

यह वह अवस्था है जब रोगी मूत्र त्याग करने में असमर्थ होता है, मूत्राशय में मूत्र भरता रहता है जिससे वह विस्तृत होकर अपने स्वाभाविक आकार से कहीं अधिक बढ़ जाता है। जब यह अधिक विस्तृत होता है, तब भग-संधानिका के ऊपर उसकी सीमा देखी जा सकती है किन्तु विस्तार से इतने अधिक न होने पर समाघात और स्पर्श से उसकी ऊपरी सीमा मालूम करनी चाहिए। इसके लिए समाघात बहुत विश्वासनीय विधि है।

इस रोग के निम्न मुख्य कारण होते हैं:—

प्रथम (१) मूत्रमार्ग में किसी स्थान पर अवरोध की उत्पत्ति, यह अवरोध कई स्थानों पर उत्पन्न हो सकता है। जैसे—

(अ) मूत्राशय की ग्रीवा पर—जहां मूत्रमार्ग आरम्भ होता है। यदि यहां अथवा मूत्राशय में किसी दूसरे स्थान पर कोई अर्बुद (Tumour) उत्पन्न हो जाता है तो मूत्रमार्ग रुक जाता है। [illegible] वस्ति में उत्पन्न हुआ कोई अर्बुद मूत्रमार्ग को बाहर से दबाता है अथवा मूत्राशय में चोट लगने से रक्तप्रवाह होकर रक्त जम जाता है तो मूत्रमार्ग के अवरोध से मूत्र प्रवाह बन्द हो जाता है।

(आ) मूत्रमार्ग के दूसरे भाग में जो पौरुष-ग्रन्थि के द्वारा निकल जाता है, अवरोध उत्पन्न हो सकता है। ग्रन्थि की वृद्धि, अर्बुद, विद्रधि तथा पत्थरी मूत्रमार्ग के इस भाग को दबाकर मूत्रप्रवाह को रोक देते हैं।

(इ) इसी प्रकार मूत्रमार्ग के तीसरे कलाकृत भाग में विद्रधि तथा संकिरण के उत्पन्न होने से मूत्र प्रवाह रुक जाता है।

(ई) मूत्रमार्ग में किसी स्थान पर अश्मरी के अटकने से भी मूत्र निकलना रुक जाता है।

(उ) मूत्र मार्ग के वहि-छिद्र के भीतर की ओर स्थित कठिन व्रण से भी मूत्रावरोध उत्पन्न हो सकता है।

दूसरा मुख्य कारण—नाड़ी-सम्बन्धी विकारों से भी मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है जब किसी कारण से मूत्रमार्ग की संकोचक पेशी उत्तेजित और प्रसारक पेशी दुर्बल हो जाती है तब मूत्राशय का द्वार इतना संकुचित होता है कि उससे मूत्र बाहर नहीं निकल सकता। यह दशा केवल मानसिक रोगों अथवा अवस्थाओं में उत्पन्न होती है। जिनको अभ्यास नहीं है वह दूसरे व्यक्ति के सामने मूत्र त्याग नहीं कर सकते। जननेंद्रियों पर शस्त्र-कर्मों के पश्चात् भी प्रायः मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है। नाड़ी मण्डल के कुछ रोगों में भी ऐसा होता है।

तीसरा मुख्य कारण—मूत्रमार्ग के शोथ के कारण जैसा पूयमेह (सुजाक) (Gonorrhea) में होता है। मूत्र त्याग नहीं हो पाता।

चतुर्थ मुख्य कारण—कभी-कभी मूत्र त्याग की इच्छा को मारने और उसी दशा में कुछ समय तक बैठे रहने से भी मूत्र प्रवाह रुक जाता है। जब किसी को किसी भी कारण से मूत्र त्याग का अवसर नहीं मिलता और बहुत समय तक बैठे रहना पड़ता है तब ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है।

मूत्र अवरोध के दो प्रकार—

तरुणक अवरोध—तत्काल या थोड़े समय से उत्पन्न प्रायः ऐसे अवरोध के कारण प्रायः शोथ होता है।

जीर्ण अवरोध—जो धीरे-धीरे उत्पन्न होता है यह प्रायः संकिरण का फल होता है, पूयमेह (Gonorrhea) में उत्पन्न मूत्र मार्ग में स्थित व्रणों के आरोहण से वहां पर जो सौत्रिक धातु बनती है वह कुछ समय में संकुचित हो जाती है इससे मूत्रमार्ग में संकीर्णता उत्पन्न होकर मूत्र प्रवाह में बाधा डालती है, इसे संकिरण कहते हैं। अतः रोगी से पूछ लेना चाहिए कि मूत्रावरोध अकस्मात् हुआ है या धीरे-धीरे, मूत्र की धार क्रमशः पतली हुई या मूत्र रुक-रुक कर आने लगा। पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि में रोगी को बार-बार मूत्र आता है, विशेषकर रात्रि के समय अधिक आता है। मूत्र के साथ पूय (Pus) का आना मूत्र-मार्ग के शोथ का सूचक है। यदि पूय पतली है और बहुत दिनों से आ रही है तो जीर्ण शोथ समझना चाहिए। ऐसी दशा में पूयमेह, उपदंश (फिरंग रोग) इत्यादि का इतिहास जानना आवश्यक है।

उदर की परीक्षा करने में मूत्राशय का आकार मालूम हो जायगा। यदि वह बहुत विस्तृत हो,नाभि तक विस्तृत हो तो दीर्घकालिक समझना चाहिए। इस में पीड़ा कम अथवा नहीं होती। तरुण (नवीन) अवरोध में तीव्र पीड़ा होती है। ऐसी दशा में रोगी चिकित्सा के लिए शीघ्र बाध्य होने से, मूत्राशय अधिक विस्तृत नहीं होने पाता।

मूत्रमार्ग में क्षत हो जाने से कभी-कभी मूत्रमार्ग पर कुछ रक्तबिन्दु भी देखे जाते हैं। पौरुष-ग्रन्थि से भी रक्त आ सकता है। संकिरण के कारण यह स्थिति हो तो इसे भी अवश्य जानना चाहिए। शिश्न को एक भाग से पकड़कर आगे की ओर खींचकर दूसरे हाथ के अंगूठे और अंगुली के बीच में शिश्न को दबाकर देखना चाहिए। जिस स्थान पर संकिरण स्थित है वह स्थान अंगुलियों को कड़ा प्रतीत होगा। यदि उसका पता इस तरह से न चले तो रबर का कैथिटर का प्रयोग करना चाहिए। पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि को जानने के लिए रोगी के गुदामार्ग में दो अंगुलियों को डाल कर उनके ऊपर की ओर दबाने से जीर्ण शोथ में ग्रन्थि बढ़ी हुई प्रतीत होती है यदि वहां कई ग्रन्थियां प्रतीत हों अथवा ग्रन्थिरूप हीन प्रतीत हों तो पौरुष-ग्रन्थि का कैंसर समझना चाहिए किन्तु यदि पूय संचार के लक्षण मालूम हों तो विद्रधि का संदेह किया जाता है।

उपचार—

चिकित्सा का आयोजन कारण के अनुसार करना चाहिये। यथासम्भव प्रथम रोगी को उष्ण जल से कटि-स्नान।

टब में स्नान करना चाहिये, जल औषधियों के साथ पकाया हुआ हो, अनेक मूत्रल योग है उनसे परिपक्व जल उत्तम रहेगा। इस उपकार से रोगी मूत्रत्याग कर देगा कभी-कभी मूत्रल क्वाथ की वस्ति (उत्तरवस्ति) से भी मूत्र त्याग कराना लाभप्रद रहता है। कभी-कभी ग्लिस-रीन या औषधीय घृत की भी पिचकारी का उपयोग करना पड़ता है। ये उपचार कैथिटर (Catheter) प्रवेश से पूर्व करना अधिक उपादेय है।

पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि से उत्पन्न मूत्रावरोध में साधा-रण कैथिटर से काम नहीं चलता क्योंकि इससे मूत्रमार्ग विकृत होकर टेढ़ा हो जाता है, उसमें एक या दो स्थानों पर मोड़ उत्पन्न हो जाते हैं उसकी लम्बाई भी अधिक हो जाती है इस कारण, ऐसी दशा में विशेष प्रकार के कैथिटर उपयोग में लाये जाते हैं, एक मोड़ वाला कैथिटर कूड़े (Coude) और दो मोड़ वाला कैथिटर वाई—कूड़े (Bicoude) कहलाता है। शिश्न के अग्रभाग और इस कैथिटर को शुद्ध करके और उस पर शुद्ध ग्लिसरीन लगाकर, उसका मूत्रमार्ग में प्रवेश किया जाता है। प्रवेश करते समय उसे इधर-उधर घुमाते और आगे की ओर

को चलाते जाते हैं, यहां तक कि उससे मूत्र निकलने लगता है। एक वार में मूत्राशय से लगभग आधा किलो से अधिक मूत्र निकाल देना चाहिए।

संकिरण से उत्पन्न हुए मूत्र-अवरोध में साधारण कैथिटर का प्रयोग किया जाता है किन्तु प्रथम वार सवसे वड़े आकार का कैथिटर नं० १२ को शुद्ध करके और ग्लिसरीन लगाकर, शिश्न के अग्रभाग को स्वच्छ जल से शुद्ध कर, मूत्रमार्ग में प्रवेश करना चाहिए। इतने वड़े आकार का कैथिटर का संकिरण में होकर मूत्राशय में पहुँचना असम्भव है। किन्तु फिर भी, उसी को प्रथम वार मूत्रमार्ग में डाला जाता है। छोटे आकार के कैथिटर को प्रविष्ट करने से मूत्रमार्ग संकोचन पेशी संकुचित हो जाती है। वड़े कैथिटर से ऐसा नहीं होता।

वड़े कैथिटर को संकिरण तक पहुँचाकर उसे कुछ समय घुमाते रहना चाहिए। तत्पश्चात् छोटे कैथिटर का उपयोग करना चाहिए। यदि यह भी संकिरण तक पहुँच कर रुक जावे तो, उससे छोटों का प्रयोग करना चाहिये। जिससे कोई भी कैथिटर संकिरण में होकर मूत्राशय में पहुँच ही जायेगा। छोटे आकार के कैथिटर को कभी-कभी मूत्राशय में पहुँचाकर वहां २४ घंटे के लिए छोड़ दिया जाता है, जिससे मूत्र वरावर निकलता रहे, इसके लिये वड़ा कैथिटर डालना उचित हो तो उसका उपयोग करना चाहिये। डालते समय वल का प्रयोग नहीं करना चाहिये, अन्यथा मूत्रमार्ग को छोड़कर उसके दूसरे स्थान में घुस सकता है। उससे वड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। खून भी आने लगता है।

वच्चों में प्रायः अश्मरी के अटक जाने से मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी उनको केवल पेट के वल लिटा देने अथवा हाथों और घुटनों के वल आगे की ओर झुकाकर विठा देने से अश्मरी अपने स्थान से हट जाती है। जिससे तुरन्त मूत्र त्याग हो जाता है। कभी-कभी मूत्रमार्ग के अग्रिम भाग पर आकर रुक जाती है, ऐसी दशा में अश्मरी सदंश यन्त्र से पकड़ कर खींच लेना चाहिये। यदि पीछे की तरफ हो तो कैथिटर या संकिरण शलाका से उसे और पीछे ठेल देना चाहिये। जिससे मूत्रमार्ग के तुरन्त खुल जाने से मूत्र त्याग हो जावे।

पौरुष ग्रन्थि (Prostate gland) के कारण यदि कैथीटर प्रवेश में कठिनाई हो तो मल मार्ग में अंगुली डालकर निम्न चित्रानुसार कैथीटर को सहायता दी जाती है—
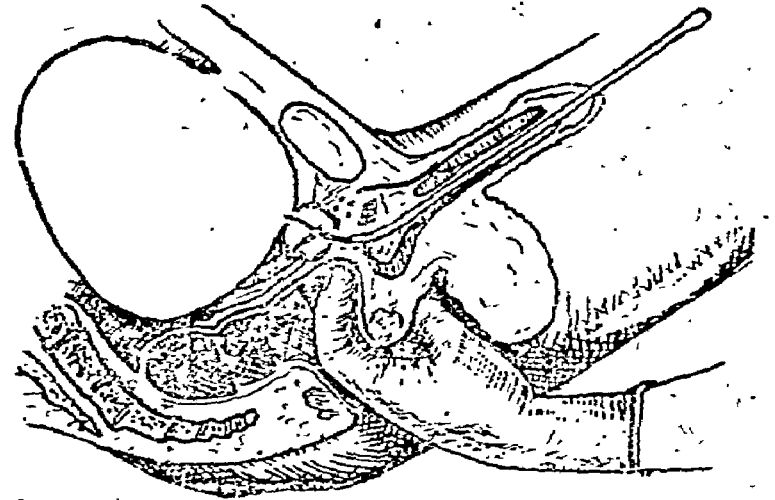
अश्मरीहर अनेक प्रयोग हैं इनके प्रयोग से पथरी टूट-फूट कर वाहर निकल जाती है, जिनमें मुख्य है हज़रलयहूद भस्म, कल्मी शोरा, यवक्षार, पाषाणभेद, गोखरू, वरूना की छाल, पुनर्नवा, खीरा-ककड़ी की मींगी, यवमण्ड, नारियल का पानी, गन्ने का रस, कासनी की पत्ती का रस, इत्यादि-इत्यादि।

कैथिटर और उसका उपयोग—

एक लम्बी, गोल, सलाकावत् तथा पोली आगे से कुछ मुड़ी हुई, सलाका को वस्ति, मेढ्र, निरीक्षक नलिका यन्त्र यानि कैथिटर कहते हैं, इनके अगले सिरे पर पार्श्वकी ओर एक लम्वा छिद्र होता है उसे उस यन्त्र का नेत्र (eye) कहते हैं। इनमें होकर मूत्र, इस यन्त्र में प्रवेश करता है। इससे आगे का भाग ठोस होता है जिससे उस में पेशाव रहने नहीं पाता।
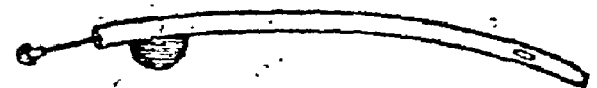
कैथीटर धातु का स्त्री के लिये
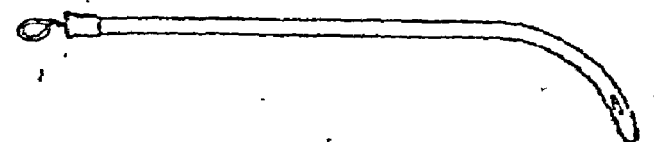
कैथीटर धातु का पुरुष के लिये

ये कैथिटर तीन प्रकार के होते हैं, रबर के कैथिटर सबसे कोमल होते हैं, दूसरे प्रकार के कैथिटर रबर के कैथिटरों से कड़े किन्तु धातु के कैथिटरों से नरम होते हैं। इनको जैसा चाहे मोड़ सकते हैं। जब तक इनको दूसरी तरफ मोड़ा न जाय या सीधा किया जाये, तब तक उसी दशा में रहते हैं। मूत्रमार्ग के भीतर यह स्वयं ही मुड़ते हुए चले जाते हैं। इनके प्रयोग के समय बल लगाना उचित नहीं। उनसे भी प्रथक असत्क मार्ग बन सकते हैं। इनको "गम-ईलास्टिक कैथिटर" कहते हैं। यह और रबर के कैथिटर प्रायः नं० १२ तक के आते हैं। बारह नम्बर का सबसे मोटा होता है।

धातु के कैथिटर प्रायः निकल व चांदी के बनाये जाते हैं। किन्तु निकल धातु के कैथिटर की आभा शीघ्र नष्ट हो जाती है। कैथिटर का अगला भाग कुछ मुड़ा हुआ होता है। यह भाग अत्यन्त स्वच्छ और चिकना होता है। अन्यथा खुरदरे होने से श्लैष्मिक कला जो अत्यन्त कोमल होती है, छिल जाती है। उससे शोथ, घाव होने का भय रहता है।

कैथिटर द्वारा मूत्र निकालने के लिए सर्वप्रथम रबर के कैथिटर का प्रयोग करना चाहिए। इससे किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। जब इससे सफलता न मिले तो गम-ईलास्टिक कैथिटर को उपयोग करना चाहिए। जब इससे भी सफलता न मिले, तब धातु का कैथिटर उपयोग किया जाता है। नव शिक्षितों को इसका प्रयोग नहीं करना ही उचित है।

कैथिटर की शुद्धि—

प्रयोग करने से पूर्व कैथिटर को पूर्णतया शुद्ध कर लेना चाहिए। उबले हुए जल में १० मिनट रखने से वह हो जाता है। रबर या धातु के कैथिटर को उसी प्रकार शुद्ध किया जाता है। किन्तु गम-ईलास्टिक कैथिटर को फारमेलिन के द्वारा शुद्ध किया जाता है। इसके लिए विशेष प्रकार का पात्र आता है, जिसमें दो खण्ड होते हैं। ऊपर के खण्ड में कैथिटर रखे जाते हैं। निचले खण्ड में फारमेलिन की टिकियां या तरल फारमेलिन रहती हैं। पात्र के नीचे स्पिरिट लम्प (Spirit Lamp) रहता है। फारमेलिन से जो वाष्प उत्पन्न होते हैं। वह कैथिटर का पूर्ण विसंक्रमण कर देते हैं।

कैथिटर का उपयोग व मूत्राशय में प्रविष्ट करना—

रोगी को पीठ के बल लिटाकर उसके उरू और उदर के भाग को शुद्ध तौलिये से ढंक दिया जाता है। चिकित्सक हाथों को शुद्ध कर रोगी के दाहिने ओर खड़े हो शिश्न के अग्र भाग को खोलकर अपने दाहिने हाथ से विसंक्रामक विलयन में भीगे हुए प्लोतथ द्वारा उसको स्वच्छ करता है। समस्त मणि और विशेषकर मूत्रमार्ग के छिद्र को भली भांति स्वच्छ किया जाता है। कुछ लोग मूत्रमार्ग में सिरिंज द्वारा थोड़ी ग्लिसरीन या जैतून का तेल छोड़ देते हैं। तत्पश्चात् चिकित्सक दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी के बीच शुद्ध कैथिटर को ऊपर की ओर से पकड़ता है। कैथिटर का शेष भाग भी उसकी हथेली में रहता है। जिसको वह दूसरी अंगुलियों से दावे रहता है। इससे कैथिटर किसी अन्य वस्तु के सम्पर्क में नहीं आने पाता। इस प्रकार वह कैथिटर की नोक को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करता है और उसको धीरे-धीरे नीचे की ओर दबाता और हाथ में इधर-उधर को घुमाता जाता है। इस प्रकार कैथिटर आगे की ओर बढ़ता हुआ (मूत्राशय की ओर बढ़ता हुआ) मूत्राशय में पहुंच जाता है। ज्यों ही वह मूत्राशय में प्रवेश करता है त्यों ही उसके बाहिरी छिद्र से मूत्र निकलने लगता है, जिसे एकत्र होने के लिए पूर्व ही शुद्ध करके रख दिया जाता है। गम-ईलास्टिक कैथिटर भी इसी प्रकार प्रयुक्त होता है।

संकिरण शलाका

धातु के कैथिटर तथा संकिरण शलाका के प्रयोग की विधि भिन्न है। ये शकाकायें आकार में कैथिटर ही के समान होती है और उन्हीं की भांति प्रयुक्त होती हैं। किन्तु ये ठोस होती है। कुछ शलाकाओं के आगे की नोक चौड़ी होती है, कुछ की सामान्य होती है। इसका पिछला भाग चवन्नी के सिक्के के समान चपटा और गोल होता है, जिसको दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी अंगुली के बीच में पकड़ा जाता है। कैथिटर के पिछले सिरे पर दोनों ओर दो कुण्डे होते हैं।

शस्त्र और हाथों को शुद्ध करने के पश्चात् उदर पौरी उरू को तौलियों से ढककर चिकित्सक रोगी के दाहिनी

ओर खड़ा होकर मणिच्छद को उपर हटाकर मणि तथा मूत्रमार्ग के मुख को किसी विसंक्रामक विलयन से शुद्ध करता है और शिश्न को जिसकी मणि खुली हुई है ऊपर और दाहिनी ओर को खींचता है। इस समय कैथिटर या शलाका का बाहरी सिरा चिकित्सक के दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी के बीच में और उसकी नोक मूत्रमार्ग के छिद्र पर रहती है। चिकित्सक का हाथ रोगी के नितम्बास्थि के परोदर्व कूट की ओर रहता है और वह शलाका को इस प्रकार पकड़े रहता है कि वह रोगी के चर्म के प्रायः समानान्तर रहती है। इस प्रकार शलाका या कैथिटर की नोक मूत्र मार्ग के छिद्र पर किन्तु शस्त्र का गात्र मूत्रमार्ग के बाहर पार्श्व की ओर और तनिक नीचे झुका रहता है।

तत्पश्चात् चिकित्सक तनिक दबाकर शस्त्र को मूत्र-मार्ग में प्रविष्ट कर देता है। शस्त्र स्वयं अपने भार ही से भीतर जाने लगता है, बल लगाने की आवश्यकता नहीं होती है। तनिक नीचे या आगे की ओर दबाता रहे। साथ में शिश्न को ऊपर की ओर खींचता रहे।

जब इस प्रकार शिश्न पूर्ण खींच चुकता है और शस्त्र आगे बढ़ने से रुक जाता है तब शिश्न सहित शस्त्र को पूर्व स्थिति में बाईं ओर घुमाया जाता है। यहां तक वह उदर के मध्य व उदर सींवनी (Linea alba) की रेखा में आ जाता है। तत्पश्चात् शस्त्र के पिछले चपटे भाग को जो चर्म के प्रायः समानान्तर तथा ऊपर की ओर उठाया जाता है जिससे सारा शस्त्र सीधा खड़ा हो जाता है और चर्म के साथ समकोण बनाता है। इस दूसरी क्रिया के समय शस्त्र मूत्रमार्ग की पूर्व भित्ति के सहारे अपने ही भार से निरन्तर आगे बढ़ता रहता है और त्रिकोणिक बन्धन पर पहुंच जाता है।

इस समय शस्त्र के पिछले सिरे को पकड़कर धीरे से तनिक नीचे अथवा गुदा स्थान की ओर झुका दिया जाता है जिससे वह मूत्रमार्ग के पौरुष ग्रन्थिक (Prostatic urethra) और कलाकृत (Membranous urethra) मार्गों में होता हुआ मूत्राशय में पहुँच जाता है। यह नीचे की ओर झुकाने की क्रिया उस समय करनी चाहिए जब शस्त्र मूत्रमार्ग में पर्याप्त दूरी तक पहुँच जावे।

शस्त्र के प्रयोग के समय बल लगाना भूल है। यदि वह स्वयं अपने ही भार से आगे की ओर नहीं बढ़ता तो क्रिया में कहीं भूल हुई है, ऐसी दशा में उसको निकाल-कर फिर से प्रविष्ट करना चाहिए।

इन धातु के शस्त्रों के उपयोग से कभी-कभी निम्न-लिखित उपद्रव उत्पन्न होते जाते हैं—

स्तब्धता, ज्वर, रक्तप्रवाह, असत्यमार्ग, मूत्राशयवेधन, मूत्र का परिविसार (Extravasation of urine) विस्तार भय से इनका स्पष्टीकरण विस्तार से नहीं दिया। केवल नाममात्र दिए हैं।

चिकित्सा——

जहां भी मूत्र एकत्र हो रहा हो वहां ही छेदन करके मूत्र को निकाल देना चाहिए। यदि अण्ड-कोषों के नीचे अथवा उन्हीं में मूत्र फैल रहा हो तो चर्म और नीचे की धातुओं का छेदन करके मूत्र को निकाल देना चाहिए। छेदन इतना गहरा हो कि उससे मूत्र निक-लने लगे। इससे कम गहरे छेदन से कोई लाभ नहीं। यदि छेदन में रक्त-नलिकाएं कट जावें तो उनका बंधन कर देना उचित है। छेदन के पश्चात् व्रणों में गॉज भर-कर व्रणोपचार करना और दिन में जितनी बार भी आवश्यक हो व्रणोपचार-वस्त्रों को बदलना चाहिए। ज्यों ही वह मूत्र से परिपूर्ण हो जावे त्यों ही उसको बदलना आवश्यक है। अण्डकोषों के नीचे उनके चर्म में तथा शिश्न पर लम्बे छेदन करने उचित हैं।

प्रायः अण्डकोषों के नीचे नितम्बों के बीच के स्थान को निकाल देने से मूत्राशय से स्वयं मूत्र निकलने लगता है। यदि ऐसा हो तो कैथिटर को मूत्रमार्ग में डालने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि मूत्र न निकले और रोगी को मूत्र त्याग करने में पीड़ा और अवरोध प्रतीत हो तो अत्यन्त सावधानी के साथ कैथिटर को मूत्राशय में प्रविष्ट करना चाहिए। प्रायः मूत्र के निकल जाने से संकि-रण चौड़ा हो जाता है और कैथिटर के भीतर जाने में कोई कठिनाई नहीं होती। कैथिटर को भीतर डालकर उसे एक रबर की नलिका के साथ जोड़ देना चाहिए। इस रबर की नलिका का दूसरा सिरा एक विसंक्रामक द्रव्यी के भरे पात्र में पड़ा रहे।

यदि संकीरण द्वारा कैथिटर भीतर न जा सके तो अण्डकोष के नीचे मूत्रमार्ग का छेदन करना आवश्यक है। कुछ निकालने के लिए किए गये छेदन द्वारा ही मूत्रमार्ग को छेदते हैं। ऐसी दशा में संक्रमण बाहर से अत्यन्त सहज में भीतर पहुँच सकता है, जहां पर आयडोफार्म छिड़ककर ऊष्म स्वेद करते रहना चाहिए।

उपर्युक्त साधनों द्वारा व्रणों की दशा सुधर जाय तो उनकी साधारण व्रणों के समान चिकित्सा की जा सकती है। रोगी की शारीरिक दशा की ओर भी उचित ध्यान देना आवश्यक है, उसको बलदायक औष[illegible] और [illegible]जन का प्रयोग करवाना चाहिए।

यदि व्रणों मे पूतिवस्तु अधिक ब[illegible]ती हो तो [illegible] को गरम बोरिक विलयन से भरे हुए टब में आध घ[illegible]टे तक बिठाने के पश्चात् पूतिवस्तु को कैंची से [illegible]टकर [illegible] देना चाहिए।

मूत्रमार्ग का परिशोधन—मूत्र मार्ग में शोथ होने पर, जिससे वहां पूय बनकर मूत्र के साथ आने लगता है, मूत्रमार्ग का परिशोधन किया जाता है। पूयमेह रो[illegible] में इस कर्म से बड़ा लाभ होता है, इस कारण रोग तरुण और जीर्ण दोनों अवस्थाओं की यह विशेष चिकित्सा है। प्रायः परिशोधक के लिए पोटाश-परमैंगनेट के द्रव्य का प्रयोग करते हैं। किन्तु आवश्यकता अनुसार अन्य [illegible] भी प्रयुक्त हो सकती हैं।

इस कार्य के लिए जो पात्र प्रयुक्त होता है। वह चित्र में दिखाया गया है। ऊपर एक कांच का गोल पात्र है जिसमें ऊपर की ओर टांकने के लिए एक धातु का आंकड़ा लगा हुआ है। नीचे की ओर प[illegible] से एक रबर की नली जुड़ी हुई है जिसके आगे की ओर एक [illegible]शेष प्रकार के कांच के यन्त्र से सम्बन्ध है। रबर की नल[illegible] पर एक क्लिप लगा रहता है जिसके खोलने य[illegible] दाबने [illegible] जल को बढ़ाया या रोका जा सकता है।

प्रयोग के समय ऊपर के पात्र में विलयन को भरकर कांच के यन्त्र के बीच की नलिका को मूत्रमार्ग के छिद्र पर लगा दिया जाता है। रबर नलिका पर के क्लिप को खोलने से विलयन कांच की नलिका द्वारा मूत्रमार्ग के पूर्व भाग में जाता है और वहां से लौट आता है। यह लौटाने
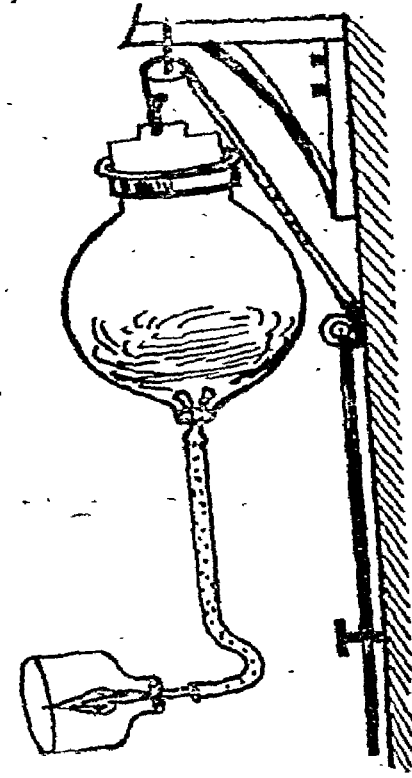
वाला विलयन यन्त्र चौड़े भाग के कारण जो शिश्नाग्र भाग को एक ढाल की भांति ढक लेता है। एकत्र होकर नीचे रखे हुए तामचीनी के पात्र में गिर पड़ता है। यह कर्म करते समय शिश्न को मूल पर से दो अंगुलियों के बीच में दाबे रखना चाहिए। इससे मूत्रमार्ग भी बन्द हो जायेगा और विलयन यहां से पीछे की ओर न जायेगा।

जब मूत्रमार्ग के पश्चिम भाग का परिशोधन करना होता है तब यन्त्र के बीच की नली को मूत्रमार्ग के भीतर प्रविष्ट करके उसके मुख को अंगुलियों से कुछ समय तक दबाये रहते हैं। जब छोड़ते हैं तो पश्चिम भाग से लौटा हुआ विलयन बाहर निकलने लगता है। यदि मूत्राशय का परिशोधन अभीष्ट हो तो विलयन को प्रविष्ट करने पर रोगी को उस प्रकार बल करना चाहिए जैसे वह मूत्र त्याग करने के समय करता है। इससे संकोचक पेशी ढीली पड़ जाती है और विलयन मूत्राशय में प्रवेश करता है। जब आठ औंस के लगभग विलयन प्रविष्ट हो चुके और रोगी को स्वयं मूत्र त्याग की इच्छा होने [illegible] तो यन्त्र को पृथक् करने पर रोगी मूत्र त्याग द्वारा सारा विलयन निकाल दे।

निरुद्ध प्रकश तथा परिवर्तिका

(Phimosis and Paraphimosis)

वैद्य श्री हरिशंकर शाण्डिल्य, भिषगाचार्य, खानुआ (भरतपुर)

निरुद्ध प्रकश क्या है ?

यह मुख्यत: शिशुओं में तथा विरल रूप में सभी आयु के पुरुषों में पाई जाने वाली एक कष्ट कर स्थिति है। इस स्थिति में शिश्नमुण्ड के ऊपर का चर्म (Prepute) मुण्ड पर पीछे को नहीं खिच पाता है, जिससे मुण्ड अनावृत नहीं हो पाता है। मुण्डच्छद का छिद्र इतना सूक्ष्म होता है कि उसका मुण्ड पर पीछे की ओर सरकना मुश्किल हो जाता है और मूत्रत्याग में भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप मुण्ड के पीछे स्थित खात (घाई) में तथा मुण्ड एवं मुण्डच्छदान्तराल में मैल एकत्र हो जाता है तथा मैल के इकट्ठे होने के कारण उस स्थान पर कण्डू (खुलजी) चलने लगती है।

यदा कदा वह मैल अश्मवत् कड़ा होकर बच्चों में पीड़ा का हेतु बन जाता है। बालक बार-बार मुण्डच्छद को पकड़कर आगे को खींचता है। इस स्थिति में अगर माता पिता द्वारा ध्यान न दिया जाय तो मुण्डच्छद शोथ-युक्त एवं व्रणान्वित हो जाता है।

निरुद्ध प्रकश के कारण—

आचार्य सुश्रुत के द्वारा प्रणीत सुश्रुत संहिता में इसके कारणों में वातदोष दुष्टि ही मुख्य रूप से स्वीकार की गई है। यथा—

> वातोपसृष्टमेवं तु चर्म संश्रयते मणिम्।
> मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च॥ (सु० सं०)

वात से दूषित शिश्नचर्म (Prepute) मणि को पूर्ण रुप से ढक लेता है तथा चर्म से ढकी वह मणि मूत्र निकलने के मार्ग को बन्द कर देती है।

नव्य चिकित्सा शास्त्रियों ने इसके दो भेद माने हैं।

(१) जन्मजात और
(२) जन्मोत्तर

इनमें प्रथम जन्मजात में कारण गर्भवृद्धि दोष मानते हैं तथा द्वितीय जन्मोत्तर में कारण वयानुसार विभिन्न कारणों को व व्याधियों को मानते हैं। यथा—

शिशुओं में—

(१) शिश्नच्छद को बार-बार खुजलाना तथा पकड़कर आगे को खींचना।

(२) नाखूनों द्वारा नोचने से क्षत हो जाना।

युवकों में—

(१) पूयमेह (मूत्रमार्ग से पूयस्राव का होना)।
(२) हस्तमैथुन या अप्राकृतिक मैथुन।

वृद्धों में—

(१) मूत्राशयाश्मरी (Stone in the bladder)
(२) मूत्रपथीय शोथ (Urethritis)
(३) पौरुषग्रन्थि वृद्धि (Enlargment of the prostate) आदि कारणों से यह रोग स्थित बन सकती है।

चिकित्सा—

इसकी मूल चिकित्सा तो मुण्डच्छद छेदन Circumcision ही है परन्तु हिन्दू सम्प्रदायी प्रायः बचने की ही कोशिश करते है। अतः ऐसी स्थिति में प्रथम मुण्डच्छद के छिद्र को चौड़ा करने और मुण्डच्छद को मुण्ड के ऊपर ले जाने का उपक्रम करना चाहिए तथा कभी-कभी इस उपाय से सफ़लता भी मिल जाती है।

छिद्र विस्तार कर्म—

इसके लिए सर्व प्रथम मुण्डच्छद को थोड़ा आगे की ओर खींचकर उसमें तरल-पैराफिन Liquid perafin या जैतून का तेल olive oil या महानारायणतैल की कुछ बूंदें मुण्ड एवं मुण्डच्छदान्तराल में (दोनों के बीच में) डाल कर शनैः-शनैः मुण्डच्छद को मुण्ड के ऊपर की ओर चढाने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न दिन में २ या ३ बार व ५ से १० मिनट तक प्रतिदिन नियमित रूप से करें। परन्तु ध्यान रहे कि शीघ्रता करने की दृष्टि से मुण्डच्छद को वेग से ऊपर चढ़ाने की कोशिश न करें, अन्यथा मुण्डच्छद के ऊपर चढ़कर परावर्तिका (Paraphimosis) की स्थिति पैदा कर देगा।

इस तरह की क्रिया एक या दो मास तक करने पर भी सफलता न मिले तो शल्यकर्म ही एक मात्र उपाय रह जाता है।

इस छिद्र विस्तारकर्म के समान ही उपचार आचार्य सुश्रुत ने सुश्रुत संहिता चिकित्सास्थान अध्याय २० में वर्णित किया है। विस्तृत विवरण पाठक वहीं देखने का श्रम करें। क्योंकि लेख विस्तार भय से लेखक यहां प्रस्तुत नहीं कर रहा है।

शल्यकर्म परिचय—

इस शल्यकर्म से आशय मुण्डच्छद को काटकर पृथक् कर देने से है। मुसलमानों में यह कर्म प्रत्येक बालक में १ से ५ वर्ष की आयु तक करा दिया जाता है। प्रायः इस कर्म को वे लोग अपने संम्प्रदायी नाई से कराते हैं और इस अवसर पर एक समारोह का सा आयोजन करते हैं। वे अपनी बोलचाल की भाषा में इसे "खतना" के नाम से पुकारते हैं।

इस कर्म के विषय में विद्वानों का मत है कि इस कर्म को शिशुओं में १ वर्ष की आयु में ही करा देना चाहिये क्योंकि इस समय शिशु को अधिक पीड़ा नहीं होती और रक्तस्राव भी अल्प होता है। तथा नाई के कराने की अपेक्षा चिकित्सालयों में योग्य चिकित्सक से ही कराना चाहिए, 'ताकि विसंक्रमिक रूप से कर्म सम्पादन हो सके और पश्चात् कालीन' उपद्रवों (सैप्टिक होना या धनुर्वात आदि) से बचा जा सके।

पूर्वकर्म—

सर्व प्रथम शल्यकर्म करने से पूर्व पीड़ित व्यक्ति को निर्वेदन (संज्ञाशून्य) करने के लिए स्थानिक संज्ञाहरण किया जाता है एतदर्थ मुण्डच्छद के दोनों किनारों को पकड़कर और थोड़ा आगे की ओर खींचकर २% का प्रोकेन विलयन से भरी हुई सिरिंज की सूची को छिद्र के ऊपरी स्तर (इपिथियल लेयर) में से चर्म के भीतर प्रविष्ट किया जाता है और पिस्टन को दबाकर विलयन को वहां के ऊतकों में भरते हुए पीछे मुण्ड के पास तक चले जाते हैं। फिर सूची को पुनः बाहर की ओर थोड़ा थोड़ा खींचें पर चर्म से पूर्ण बाहर न निकालते हुए सूची की दिशा को बदल कर पार्श्व की ओर तिर्यक दिशा में ही चर्म में प्रविष्ट करते हुए विलयन को पूर्ववत् भरदें। फिर दूसरे पार्श्व में भी ऐसे सूची को तिर्यक रूप से प्रविष्ट कर विलयन भरदें। इसी चतुर्दिक में विलयन प्रविष्ट कर देने से मुण्डच्छद चारों ओर से संज्ञा रहित हो जाता है।
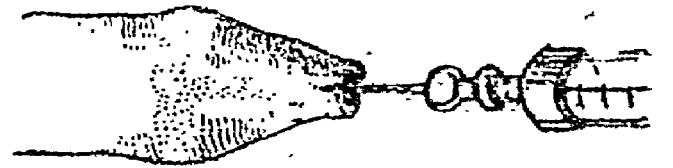
प्रधान कर्म—

मुण्डच्छद के छिद्र के दोनों ओर धमनी (Artery forceps) लगाकर शल्यविद (Surgeon) का सहायक मुण्डच्छद के चर्म को आगे की ओर व थोड़ा नीचे की ओर खींच लेता है। इससे मुंण्ड पीछे की ओर चला जाता है। तब शल्यविद कैंची के द्वारा खींचे हुए मुण्डच्छद को बीच में से अनुप्रस्थ स्थिति में काट देता है। तत्पश्चात्
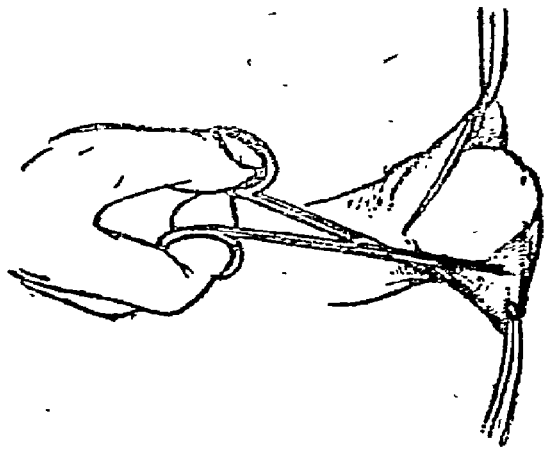
दूसरी तेज नोंक वाली कैंची से प्रथम छेदन के ऊपरी सिरे से नीचे की ओर व कुछ सामने की ओर (मुण्ड की ओर) को काटता है, इस स्थिति में कैंची थोड़ी टेढ़ी दिशा में रहती है। इससे छेदन-मुण्ड के नीचे मुण्डवन्ध (Frenum) पर समाप्त होता है अब मुण्ड भाग एक ओर को प्रत्यक्ष हो जावेगा तथा शल्यविद इस छेदन के अन्तिम स्थान पर से मुण्ड भाग के चारों ओर की मुण्डच्छद को काटते हुए उसी स्थान पर आकर छेदन को समाप्त करता है। इस प्रकार मुण्ड पूर्णतया आवरण रहित हो जाता है। अब मुण्ड के पीछे घाई स्थान पर श्लैष्मिक कला को त्वचा को विच्छिन्न सींवनकर्म कर दिया जाता है।

पश्चात् कर्म——

सींवन-कर्म करने के वाद व्रणित भाग पर सल्फोनामाइड पाउडर (चूर्ण) छिड़क कर विशुद्ध गाज की स्निग्ध
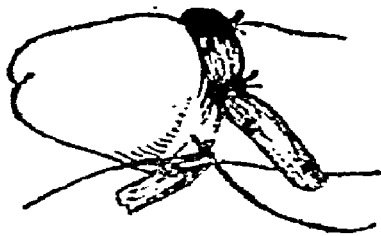
(किसी जीवाणुहर मलहर यथा फ्यूरासिन, पेन्सिलीन त्वक् मलहर आदि द्वारा) पट्टी द्वारा सामान्य व्रणोपचार विधि से व्रणोपचार कर दें। आयुर्वेदीय जात्यादि तैल या घृत का प्रयोग भी एतदर्थ प्रशस्त है।

२४ घण्टे वाद पुनः पट्टी को खोलकर व व्रण स्थान को स्वच्छ कर विसंक्रमित पट्टी द्वारा व्रणोपचार करें। इसी प्रकार व्रण रोपण होने तक करते रहें। प्रायः ५ से १० दिन में व्रण रोपण हो जाता है।

परिवर्तिका——

निरुद्ध प्रकाश की विरुद्ध दशा को परिवर्तिका कहते हैं जिसमें मुण्डच्छद को पीछे की ओर खींच लिया जाता है किन्तु फिर नीचे की ओर उतारा नहीं जा सकता।

कारण—(१) युवा या बच्चों में उस अवस्था में यह हो सकता है जब निरुद्ध प्रकाश होने पर मुण्डच्छद को एक दम ऊपर तो चढ़ा दिया जाता है किन्तु फिर उसका छिद्र छोटा होने के कारण उतारा नहीं जासकता।

(२) परिवर्तिका की अवस्था मैथुन के पश्चात् हो सकती है।

(३) गोनोरिया या सिफलिस की अवस्था में भी परिवर्तिका हो सकती है।

चिकित्सा—यदि रोगी प्रारम्भिक अवस्था में ही चिकित्सक के पास जाता है तो मुण्डच्छद को उतारने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि पीड़ा अधिक हो तो संज्ञाहरण करना चाहिये। उतारने के लिये एक लिंट का टुकड़ा लेकर उसको लवण में भिगोकर शिश्नमुण्ड को छोड़कर शिश्न के चारों ओर लपेट दिया जाता है। बांये हाथ में शिश्न को दृढ़ता से पकड़ लिया जाता है तथा दांये हाथ के अंगूठे से शिश्नमुण्ड को पीछे की ओर
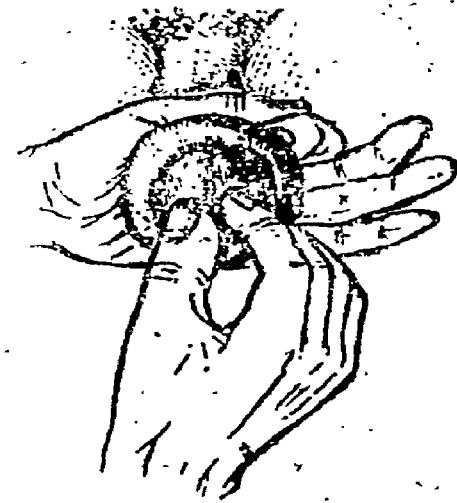
दबाया जाता है। वायें हाथ से शिश्न का पकड़ते हुए इस प्रकार का दबाव डालने का प्रयत्न करना चाहिये जिसका प्रभाव मुण्डच्छद को नीचे उतारने के लिये पढ़ता रहे।

यहां यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त उपचार उस अवस्था में करना चाहिये जब शिश्नाग्र पर शोफ न हो यदि शोफ हो तो उपर्युक्त विधि अपनाकर शोथ कम करके उपर्युक्त उपक्रम करना चाहिये।

सुधानिधि
सुश्रुत
शल्य-चिकित्सांक
कुछ प्रमुख शल्यकर्म

कुछ प्रमुख शल्यकर्म

● अर्श (PILES)

वैद्य जहान सिंह चौहान, नवीगंज, मैनपुरी
वैद्य ओ० पी० वर्मा, सरदार शहर, राजस्थान

● भगन्दर (FISTULA IN ANO)

डा० शिवस्वरूप त्रिपाठी बी० ए० एम० एस०, ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज, हरिद्वार

● मूत्राशय अश्मरी (BLADDER CALCULI)

वैद्य मुन्नालाल गुप्त नील वाली गली कानपुर

● आन्त्रपुच्छ शोथ (APPENDICITIS)

डा० लोकेन्द्रमान सिंह रीडर शल्य शालाक्य विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी
डा० सुभाषचन्द्र वार्ष्णेय बी० ए० एम० एस०, डी० ए० वाई० एम०,
शल्य शालाक्य विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी

● आन्त्र वृद्धि (HERNIA)

अशोक कुमार गुप्ता बी० ए० एम० एस०, मल्लावा, हरदोई

● मूत्र वृद्धि (HYDROCELE)

श्री खचेरमल वैद्य शास्त्री, श्याम औषधालय, मामूभांजा रोड, अलीगढ़

● पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि (PROSTATE ENLARGMENT)

श्री कमलेश कुमार वर्मा बी० ए० एम० एस० (छात्र) गुरुकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार

[PILES]

श्री डा०जहानसिंह चौहान, नवीगंज (मैनपुरी)
श्री डा०ओ० पी० वर्मा, सरदारशहर (राज०)
श्री डा०आई० सी० वीका, सरदारशहर (राज०)

परिचय—

वातादि दोष त्वचा, मांस और मेद को दूषित करके गुदा में अनेक प्रकार की आकृति वाले मांस के अंकुरों को उत्पन्न करते हैं, उनको अर्श कहते हैं। (सुश्रुत)

आधुनिक दृष्टिकोण से—जब गुदाद्वार के भीतर चारों ओर की शिराओं में, जो श्लैष्मिक कला के नीचे रहती हैं, उग्रदाह हो जाता है तो वह छोटे-छोटे अर्बुदों की भांति प्रतीत होने लगती हैं। यह प्रसारित शिराओं के गुच्छे ही अर्श कहलाते है। हिकमत में इस रोग को बवासीर कहते हैं।

अर्श के भेद—

सुश्रुत संहिता जो शल्य प्रधान ग्रन्थ है। अर्श ६ प्रकार के लिखे हैं:—(१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) त्रिदोषज (५) रक्तज (६) सहज।

१. वातज अर्श—इसके मस्से सूखे, चुनचुनाहट-युक्त, लाल, काले रंग के कठोर होते हैं। साथ ही इनसे चुभने वाली पीड़ा होती है।

२. पित्तज अर्श—इसके मस्से लाल, पीले या काले वर्ण के एवं नीले मुख वाले, पतले रक्त का स्राव करने वाले होते हैं।

३. कफज अर्श—जो मस्से बड़े फूले हुए, शोथयुक्त, बहुत खुजली वाले, श्वेत एवं पीला स्राव करने वाले होते हैं।

४. त्रिदोषज अर्श—सभी दोषों के प्रकोप के लक्षणों से युक्त अर्श रोग त्रिदोषज होते हैं। इसके लक्षण तीनों अर्थात् वात, पित्त, कफ के मिले होते हैं।

५. सहज अर्श—जो अर्श जन्म से पाये जाते हैं। अर्थात् माता-पिता को भी होते हैं और सन्तान में भी आ जाते हैं। अतः इन्हें सहज अर्श कहते हैं।

६. रक्तार्श—रक्तार्श के मस्सों की आकृति बरगद की जटा के समान तथा रंग गुंजा या मूंगा के समान होता है। मस्से दबाने पर गर्म-गर्म रक्त का संचार करते हैं। इसमें रक्त धारा के रूप में निकलता है।

लेकिन आजकल इस आधुनिक युग में अर्श दो ही प्रकार के जाने जाते हैं—अर्थात् अर्श के ६ भेदों (सुश्रुत अनुसार) को केवल दो भेदों में ही समावेश किया जा सकता है, १. वादी का मस्सा या बाह्य अर्श (External *Piles*) २. *खूनीमस्सा या आन्तरिक अर्श (Internal* Piles)।

कारण—

मलाशय (Rectum) के चारों ओर उसके अन्तिम एक या दो इंचों में शिराओं की ऐसी स्थिति है कि प्रत्येक बार मलत्याग करते समय उन पर दबाव पड़ता है जिससे रक्त के लौटने में बाधा पड़ती है। इन शिराओं में कपाट भी नहीं होते जो रक्त को लौटने में सहायता दें। केवल इन शिराओं को आश्रय देने के लिये चारों ओर कुछ दृढ़ ऊतक (Tissue) ही है। साथ में यकृत् के रक्त संचार से इसका ऐसा सम्बन्ध है कि यकृत् में विकार होने से या उसके रक्त संचार में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न *होने से इस स्थान के रक्त-संचार* (Blood Circulation) में भी बाधा उत्पन्न हो जाती है। जिससे इन शिराओं में आसानी से प्रकोप उत्पन्न हो जाता है। मद्य का प्रयोग, एक ही स्थान पर बैठकर काम करने का अभ्यास और कोष्टबद्धता (Constipation) इस दशा के उत्पन्न होने में सहयोग देते हैं। मलाशय के अर्बुद और स्त्रियों के गर्भाशय के अर्बुदों से भी अर्श रोग की उत्पत्ति होती है।

पुरुषों में युवावस्था में यह रोग अधिक होता है। वृद्धावस्था में पुरस्थ की वृद्धि तथा मूत्राशय की अश्मरी के कारण यह रोग उत्पन्न हो सकता है।

१. बाह्य अर्श (External Piles)—इसे वादी का मस्सा भी कहते हैं। ये गुदाद्वार के चारों ओर त्वचा में लम्बी और गहरी लाल रंग की सिकुड़नों के रूप में प्रकट होते हैं। साधारण अवस्था में जब यह रिक्त होते हैं तो
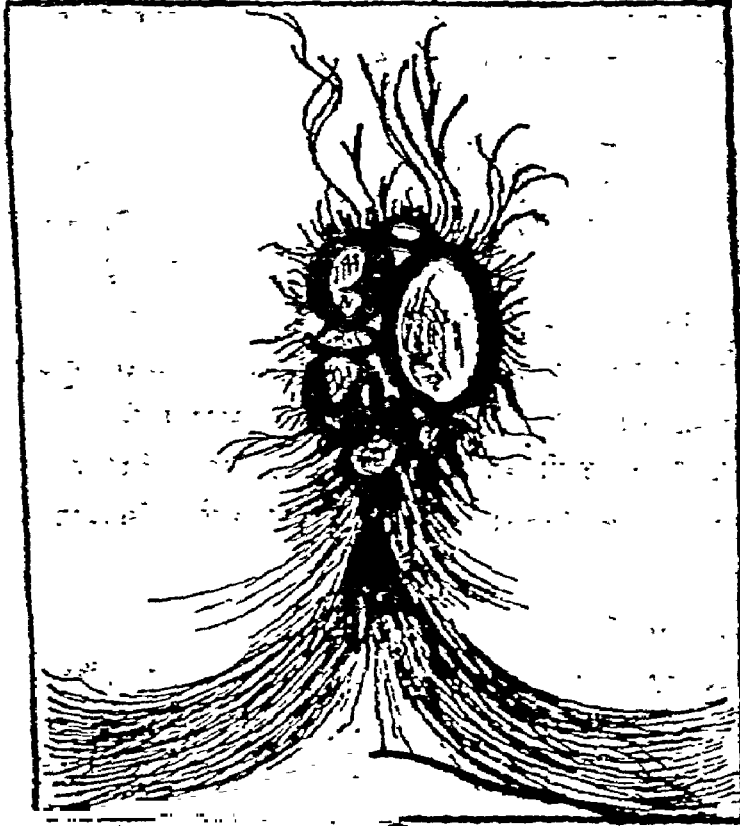
अर्शांकुर

प्रतीत भी नहीं होते और जब कुपित हो जाते हैं तो रक्त से भरकर फूल जाते हैं और प्रत्येक शिरा का अन्तिम भाग एक छोटा सा अंकुर या गांठ जैसा मालूम पड़ता है। प्रत्येक अर्श के केन्द्र में एक प्रकुपित शिरा होती है और चारों ओर कुछ सौत्रिक ऊतक (Connective Tissue) होता है। यह ऊतक धीरे-धीरे बढ़ता जाता है जो आगे अर्श एक कठिन गांठ जैसा मालूम होने लगता है।

जब यहां की शिरायें कुपित होने लगती हैं तब रोगी को खुजली मालूम होती है और पीड़ा तथा चलने-फिरने में तकलीफ होने लगती है। यहां तक कि बैठने में भी असमर्थ हो जाता है। शिरा का अन्त फूल जाता है। इस प्रकार के अर्श में रक्त नहीं निकलता। इसीलिये इसे बादी का अर्श कहते हैं।

२. आन्तरिक अर्श (Internal Piles)—इसे खूनी मस्सा भी कहते हैं। ये अर्श गुदाद्वार तथा गुद संकोचनी से ऊपर मलाशय के अन्तिम भाग में होते हैं और श्लैष्मिक कला (Mucous Membrane) से ढके रहते हैं। इस स्थान में प्रतिहारी रक्त-संचार (Portal Circulation) और शारीरिक रक्त-संचार में संगम होता है। ऊर्ध्व अर्शानुगा धमनी (Sup. Haemarrhoidal Vein) या कुती शिरा के साथ यहीं सम्मेलन करती है जो गुदान्तर के चारों ओर एक वृत के रूप में स्थित होती है। इसी भाग में प्रदाह होने से अर्श बनता है।

प्रत्येक अर्श में शिरा का अन्तिम भाग और ऊर्ध्व अर्शानुगा धमनी की एक शाखा होती है। शिरा में जब प्रदाह होता है तब उसमें रक्त जम जाता है और इसके चारों ओर सौत्रिक ऊतक बन जाता है और उस पर श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है। प्रदाह के आक्रमण से यह अन्तिम भाग फूल जाता है और अधिक रक्त आकर जमने लगता है, जिससे अर्श और भी बढ़ जाता है। प्रत्येक आक्रमण के पश्चात् ऐसे अर्श बढ़ते जाते हैं। जब यह अर्श गुदसंकोचनी से बाहर निकल आते हैं और उसके द्वारा दब जाते हैं तो अर्श सूखा हुआ गहरा लाल और पीड़ायुक्त रहता है और भीतर नहीं लौटाया जा सकता। गुददर्शक यन्त्र से देखने पर प्रत्येक अर्श एक नीले रंग का सूजा हुआ श्लैष्मिक कला से उभरा हुआ पिण्ड सा दीखता है।

नोट—यह अर्श पुरुष और स्त्रियों में २५ से ६० वर्ष की आयु में पाये जाते हैं।

यह अर्श दो प्रकार के होते हैं:—

१. यह लम्बे आकार के श्लैष्मिक कला से ढके हुए, कुछ नीले और काले रंग के होते हैं। सिकुड़न नहीं होती अर्श के बीच में जो गड्ढा होता है, उसमें मल जमा हुआ मिलता है। इनसे रक्त कम निकलता है।

२. यह गोल और श्लैष्मिक कला से एक पतले डंठल के समान भाग से जुड़े रहते हैं। इनमें सिकुड़न होती है। इनमें रक्तप्रवाह अधिक होता है।

लक्षण—

जब तक इस रोग में शिरा कुपित नहीं होती तब तक रोगी को कोई कष्ट नहीं होता। केवल मलद्वार के

अन्दर कुछ भारीपन और खुजली ही रहती है। केवल थोड़ा-थोड़ा रक्त निकलता रहता है। जब कभी सारा अर्श फूलकर बाहर आ जाता है तो चलने-फिरने में कष्ट हो जाता है। अक्सर ऐसे अर्श से मल-त्याग के बाद अधिक रक्त निकलता है। यह क्रम इसी प्रकार रहता है जिससे रोगी कमजोर और उसमें रक्ताल्पता (Anemia) बढ़ जाती है।

वादी बवासीर में गन्दी हवा निकलती है। रोगी के जोड़ों में टूटने जैसी पीड़ा होती है। उठते-बैठते उसके जोड़ चटका करते हैं। भूख कम लगती है, साथ ही जांघों में दर्द रहता है।

अर्श रोग में गुदा परीक्षण (Proctoscopy)

यह परीक्षण गुद-परीक्षण यन्त्र या अर्श यन्त्र द्वारा किया जाता है। सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान षष्ठम अध्याय में अर्शो यन्त्र का विवरण निम्न दिया है—

"तत्र यन्त्र लौहं दान्तं शाङ्गं वार्क्ष वा गोस्तनाकारं चतुरगं लायतं पञ्चांगुल परिणाहं पुंसां, षडंगुल परिणाहं नारीणां तलायतं। तदद्विछिद्रं दर्शनार्थं एक छिद्रं तु कर्माण। एक द्वारे हि शस्त्र क्षाराग्नि नामतिक्रमो न भवति। छिद्रं प्रमाणं तु त्यङ्ग लायतमं गुष्ठोदक परिणाहं, यदंगुलयवशिष्टं तस्यार्धांगुलाधस्तादर्धांगुलोच्छ्रितो परिवृत कर्णिकम, एष यन्त्राकृति समासः।"

अर्थात् अर्शो पत्रं लोहे का, दांत का, सींग का या वृक्ष का बनाना चाहिए। इसका आकार गोस्तन सदृश, पुरुषों के लिये चार अंगुल लम्बा और पांच अंगुल घेरे का तथा स्त्रियों के लिए छः अंगुल चौड़ाई का तले पर चपटा, दर्शन के लिए दो छेद वाला तथा शस्त्रकर्म के लिये एक छेद वाला होना चाहिए। शस्त्रकर्म में एक छेद वाला इस हेतु से कि शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म का अतिक्रम नहीं हो। छिद्र तीन अंगुल लम्बा, अंगुल की मोटाई के बराबर गोलाई लिये होना चाहिए। इसके बाद जो एक अंगुल बचता है, उसमें आधा अंगुल नीचे, आधा अंगुल ऊपर ऊंची उठी ऊपर में गोल कर्णिका होनी चाहिए।

आजकल प्रचलित गुदा परीक्षण यन्त्र (Proctoscope) द्वारा की जाती है। जो सुश्रुतोक्त अर्शो यन्त्र से काफी मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें कोई छिद्र नहीं किया जाता तथा नलिका आगे से खुली होती है। प्रवेश करते समय नलिका का मुख आब्ट्युरेटर
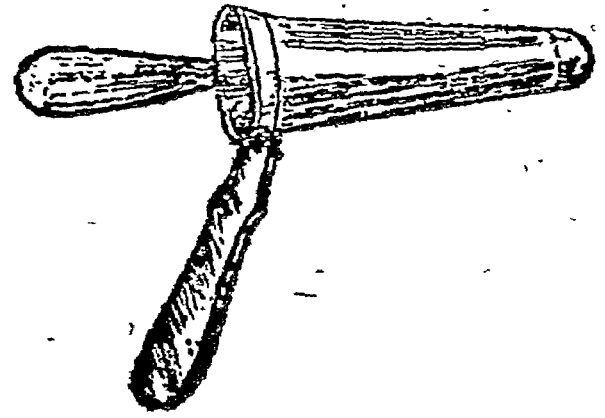
से बन्द हो जाता है। सुश्रुतोक्त में आब्ट्युरेटर की व्यवस्था पृथक् से न कर आगे से नलिका को बन्द कर की गयी है। यदि आजकल प्रयुक्त प्रोक्टोस्कोप को विचारपूर्वक देखा जाय तो यह सुश्रुतोक्त अर्शो यन्त्र का परिष्कृत रूप है। आजकल प्रकाश की व्यवस्था से युक्त गुदा-परीक्षण यन्त्र भी उपलब्ध है। जो कि और अधिक परिष्कृत स्वरूप है।

व्यवहार विधि—

सर्वप्रथम साबुन के पानी का एनीमा देकर मल निष्कासन कर दें। इसके बाद रोगी को लीथोटोमी की स्थिति में या जानुकूर्पर स्थिति (Knee-elbow Position) में या रोगी को बांयी करवट लिटाकर गुदा की परीक्षा करें। रोगी के नितम्ब प्रदेश को उस ओर रखें, जिस ओर से प्रकाश आ रहा हो। यन्त्र को गुदा में प्रवेश करने के पूर्व चिकित्सक अपनी अंगुली गुदा में प्रविष्ट
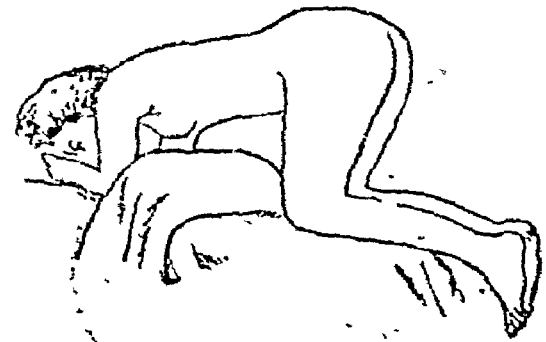
करके यह अनुमान लगा ले कि जिस यन्त्र से रोगी का गुदपरीक्षण किया जाना है, उसके गुदा में प्रवेश को वह सहन कर सकेगा या नहीं। यदि ऐसा प्रतीत हो कि सहन नहीं कर सकेगा तो कम व्यास वाले यन्त्र की व्यवस्था कर

उससे परीक्षा करें। परीक्षा से पूर्व यन्त्र को ५–१० मिनट उबलते पानी में पड़ा रहने दें।

यन्त्र पर बाहर अच्छी प्रकार से घृत या वैसलीन लगाकर चिकना करलें। अब एक सहायक से कहें कि वह रोगी के दोनों नितम्बों को एक दूसरे में पृथक् करें। बांये हाथ की मुट्ठी में यन्त्र के हैण्डिल को पकड़ें तथा आब्टू-रेटर के हैण्डिल पर दायें हाथ की हथेली से दबाव डालते हुए यन्त्र को गुदा में प्रविष्ट करें। यन्त्र को बहुत सावधानी तथा धीरे-धीरे प्रविष्ट करें। पहले तो यन्त्र को गुदा में सीधे ही प्रविष्ट करें। मलाशय को पार कर जब यन्त्र गुद नलिका में पहुँचेगा तो वहां पर नलिका अधिक चौड़ी के कारण एक दम हलकापन प्रतीत हो जायेगा। अब इस यन्त्र के प्रविष्ट करने की दिशा कुछ पीछे की ओर
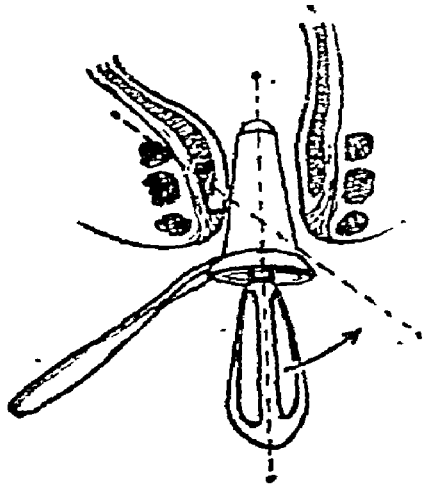
कर दें। क्योंकि त्रिकास्थि इस स्थान पर पीछे की ओर मुड़ जाती है। जब यन्त्र पूर्णतः प्रविष्ट हो जाये तो आब्टूरेटर को बाहर खीच लें।

अब हमें यंत्र की नलिका में से गुद नलिका स्पष्ट दिखाई देगी। गुदा की श्लैष्मिककला प्राकृतिक अवस्था
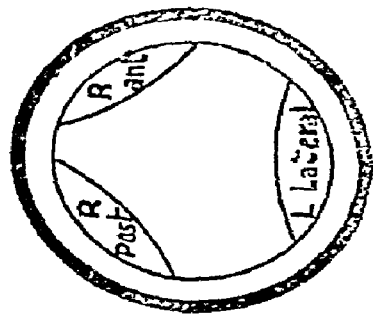
में कुछ फीके पीले (Pale) रंग की होती है। केशिकायें तथा शिरायें भी दिखाई देती हैं। अर्श के अतिरिक्त शोथ, व्रण, भगन्दर, छिद्र एवं अर्बुद के लिये भी गुदा का परीक्षण किया जाता है। अब इस यंत्र को बाहर की ओर धीरे-धीरे खींचते जाते हैं। तथा देखते जाते हैं। अर्शांकुर यंत्र की नलिका में लटकते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार से पूरी गुद नलिका की परीक्षा कर ली जाती है।

अर्श की चिकित्सा—

'सुश्रुत' ने अर्श की चार प्रकार से चिकित्सा करना बताया है। तदनुसार अल्प समय से उत्पन्न वातादि दोषों के कारण एवं उपद्रव अल्प हों वे अर्श भयसज्य साध्य होती हैं। कोमल फूले कठोर और जो कुछ ऊंचे हो गये हैं वे क्षारसाध्य होते हैं। तीक्ष्ण, कठोर, द्रढ़ और मोटे मस्से अग्निकर्म साध्य हैं। पतली जड़ वाले, ऊंचे और क्लेध युक्त मस्से शस्त्रकर्म साध्य हैं।

चूंकि यह काय-चिकित्सा का विषय न होकर शल्य-चिकित्सा प्रधान विषय है। अतः हम यहां शल्य सम्बन्धी चिकित्सा का तुलनात्मक वर्णन कर रहे हैं।

आयुर्वेदीय क्षार चिकित्सा—

'सुश्रुत' प्रधान ग्रन्थ में क्षारसूत्र का विशेष वर्णन मिलता है। क्षारसूत्र बनाने का विधान बताते हुए लिखा है, कि कपास के सूत को समभाग मिले, थूहर के दूध एवं हरिद्रा चूर्ण की इक्कीस भावनायें दें। सूख जाने पर प्रयोग करें। इसका प्रयोग करते समय भी पूर्वलिखित पूर्वकर्म कराके अर्शो यंत्र डालकर अभिप्रेत अर्श की जड़ को अंगुली से उठाकर इस क्षारसूत्र को बांध दिया जाता है। हर तीसरे दिन नया क्षारसूत्र बांध देना चाहिए। इस प्रकार १५ दिन में वह अर्श कटकर गिर जाता है। कभी-कभी मांस (माह) भी लग जाता है। क्षारसूत्र बांधने से रक्त उस अर्श में रहने से वह सूज जाता है। और यदि कब्ज रहा, तो वह अति कष्टकर होता है। इसलिये मृदुरेचन देते रहना चाहिए। एवं अन्य व्रण-रोपण कार्य करना चाहिए।

पाश्चात मत द्वारा अर्श की चिकित्सा—

१. **इन्जैक्शन चिकित्सा**—आधुनिक चिकित्सा में भी इसी सिद्धान्त पर चलते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार

हम पाते हैं कि क्षार आदि का लेपन न करके इन्जैक्शन द्वारा औषधि को मस्से तक पहुँचाते हैं। इन्जैक्शन चिकित्सा निम्न प्रकार है—

प्रारम्भिक अवस्था में इस चिकित्सा विधि के बहुत सन्तोषजनक परिणाम होते हैं। जीर्ण अर्श जिनमें मलाशय के निम्न भाग से उपद्रवों की उपस्थित की दशाओं में यह चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

विधि—इन्जैक्शन देने से पूर्व प्रातःकाल एनीमा देकर गुदा और मलाशय को स्वच्छ कर लिया जाता है। रोगी को बायीं करवट से लिटाया जाता है। कुछ सर्जन जानुकूर्पर स्थिति पसन्द करते हैं। उसमें मलाशय नीचे और सामने की ओर लटक जाने के कारण गुददर्शक के मार्ग को नहीं रोकता। रोगी को उपयुक्त स्थिति में लिटाकर वैसलीन लगाकर गुददर्शक को प्रविष्ट किया जाता है। यदि गुददर्शक प्रकाश युक्त नहीं है तो चिकित्सक अपने सिर पर लगे हुए लैम्प से प्रकाश डालकर अर्शो को भलीभांति देखकर जहां इन्जैक्शन देना है। उस स्थान को चुन लेता है।

इन्जैक्शन देने के लिये एक विशेष प्रकार की सिरिंज होती है। जिसे ग्रेविल की सिरिंज कहते हैं। इससे बादाम के तेल में ५ प्रतिशत फिनोल (कार्बोलिक अम्ल) के विलियन का इन्जैक्शन दिया जाता है। आजकल इस प्रकार के योग बाजार में विकते हैं।
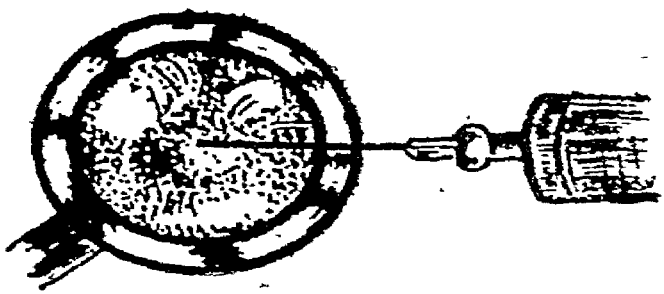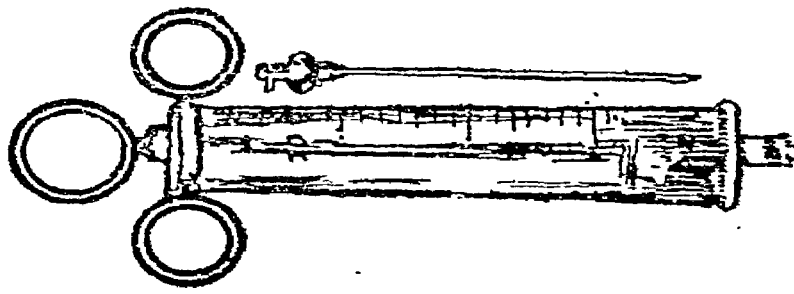
अर्शांकुरों में सूचीवेधन

सावधानियां—१. इन्जैक्शन प्रत्येक अर्श की ग्रीवा में जहां वो (वह) मलाशय की भित्ति से जुड़ा हुआ है। उससे तनिक नीचे देना चाहिए।

२. सूचिका श्लैष्मिककला के नीचे अधोश्लैष्मिक स्तर में रहे। वह पेशी स्तर में प्रवेश न करे। और न अर्श के भीतर शिरा में जाये। विलियन के प्रविष्ट होने पर यहां की कला श्वेत हो जाती है। पेशी स्तर में विलियन के प्रविष्ट होने से पीड़ा होती है।

३. गुदा-मलाशय-संगम से ऊपर मलाशय प्रान्त में अर्श में इन्जैक्शन देना चाहिए। गुदा में इन्जैक्शन पीड़ादायक है।

४. एक वार में एक अर्श में एक से तीन सी० सी० विलयन प्रविष्ट करना चाहिए। यदि श्लैष्मिककला बहुत ढीली हो तो ५ सी० सी० तक दिया जाता है। अत्यधिक विलयन से श्लैष्मिककला गल सकती है। जिससे व्रण बन जायेंगे। एक बार में तीन या चार अर्शों में इस प्रकार इन्जैक्शन दिया जा सकता है। तीनों प्राथमिक अर्शों में एक ही बार में इन्जैक्शन देना चाहिए।

५. एक सप्ताह के अन्तर से इन्जेक्शन दिये जायें। तीन, चार इन्जैक्शन अर्श को सुखा देने को पर्याप्त होने चाहिए।

इन्जेक्शन से उपद्रव—

विसंक्रामण की त्रुटि से विद्रधि बन सकती है। श्लैष्मिककला के गलने से व्रण बन सकते हैं। जिन पर मरक्यूरोक्रोम का प्रलेप किया जाय। अधिक मात्रा प्रविष्ट करने से शिराओं में घनास्मता उत्पन्न हो सकती है।

पहली बार में केवल एक ही अर्श में इन्जैक्शन देकर देखना चाहिए कि रोगी उसको सहन कर रहा है या नहीं।

२. शल्य चिकित्सा—अर्श की शल्य क्रिया को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। निम्नलिखित तीन प्रकार से शल्यक्रिया को विभाजित किया जा सकता है:—

१. पूर्व कर्म (Pre Operation)
२. मुख्य कर्म (Main Operation)
३. पश्चात कर्म (Post Operation)

पूर्व कर्म—पूर्व कर्म वह होता है, जब कि शल्यक्रिया की जावे उससे पहले रोगी को उस क्रिया के लिए तैयार

किया जाये, जिससे कि मुख्य शल्यक्रिया की जावे तव कोई उपद्रव न हो तथा रोगी की सही व ठीक ढंग से शल्यक्रिया हो सके।

रोगी की कम से कम २४ घण्टे पूर्व शरीर की सफाई कर दे। गुदा स्थान के वाल इत्यादि साफ करवा देने चाहिये। रोगी को हल्का सुपाच्य भोजन दिया जाये। अगर रोगी को १२ घंटे पूर्व भोजन वन्द करादें तो उत्तम रहता है। ऑपरेशन के कुछ समय पहले अगर पानी भी बन्द कर दिया जाये तो उचित है। अगर रोगी को प्यास लगे तो कम मात्रा में पानी दें। ऑपरेशन से आधा घण्टे पहले रोगी के Inj. Siquil 10 mg. या Inj. Pethidin Hcl *100* mg. मांसान्तर्गत लगा देना चाहिये। अब रोगी को साफ एवं ढीले वस्त्र पहनाकर शल्य क्रियागार (Operation theoter) में प्रवेश कराना चाहिए। शल्यकर्मी को रोगी के शल्यकर्म से पहले इस शल्यक्रिया में काम में आने वाले समस्त उपयुक्त शस्त्र जिनकी सूची पीछे दी गई है, एकत्रित करके शल्य-चिकित्सा से पहले उन्हें कीटाणुविहीन करवा के तैयार रखें।

मुख्य शल्य क्रिया—रोगी को शल्यक्रिया टेवल पर लिथियोटोमी स्थिति में लिटा देना चाहिये। जैसा कि नीचे चित्र में दिखाया गया है। अपने सहायक द्वारा गुदा-

स्थान को एण्टी सेप्टिक घोल से धुलवाकर पोंछकर टिंचर आयोडीन पेण्ट करवा देना उचित रहता है। इस समय में शल्यकर्मी को अपने हाथ साबुन और नायलोन ब्रुश से खूब रगड़-रगड़ कर साफ करके मास्क व टोपी व गाउन पहन लेना चाहिये। इसके बाद शल्यकर्मी को हाथों में ग्लोव धारण करके शल्यकर्म करने के लिये तैयार हो जाना चाहिये। मुख्य सहायक को भी शल्यकर्मी की तरह से उपरोक्त तैयारी कर लेनी चाहिये।
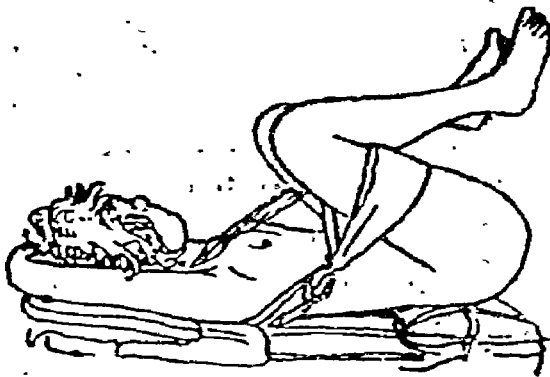
अब संज्ञाहरण कर्त्ता को स्थिति अनुसार पूर्ण संज्ञाहरण जो भी शल्यकर्मी उचित समझे, करने का निर्देश दे। शल्यकर्मी को यह क्रिया अपने सामने ही करनी चाहिये तथा पूर्ण ध्यान रोगी तथा सहायक पर रखना चाहिये। अगर सहायक द्वारा गलत तरीका अपनाया जा रहा है तो चिकित्सक को उसे सही तरीके से अवगत कराना चाहिये। संज्ञाहरण औषधियों का स्थिति तथा आवश्यकतानुसार प्रयोग करने के वाद ऑपरेशन करने के लिए तैयार रहना चाहिये।

चिकित्सक को एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी अगर नासूर, भगन्दर से पीड़ित है तो पहले इनकी चिकित्सा करके वाद में अर्श की चिकित्सा करनी चाहिये।

तीन प्रकार के आन्तरिक अर्श—आन्तरिक अर्श की स्थिति तीन प्रकार से होती है। जो कि निम्नलिखित है:—

१. वांया किनारे का (Left Lateral)
२. दांया आगे का (Right Anterior)
३. दांया पीछे का (Right Posterior)
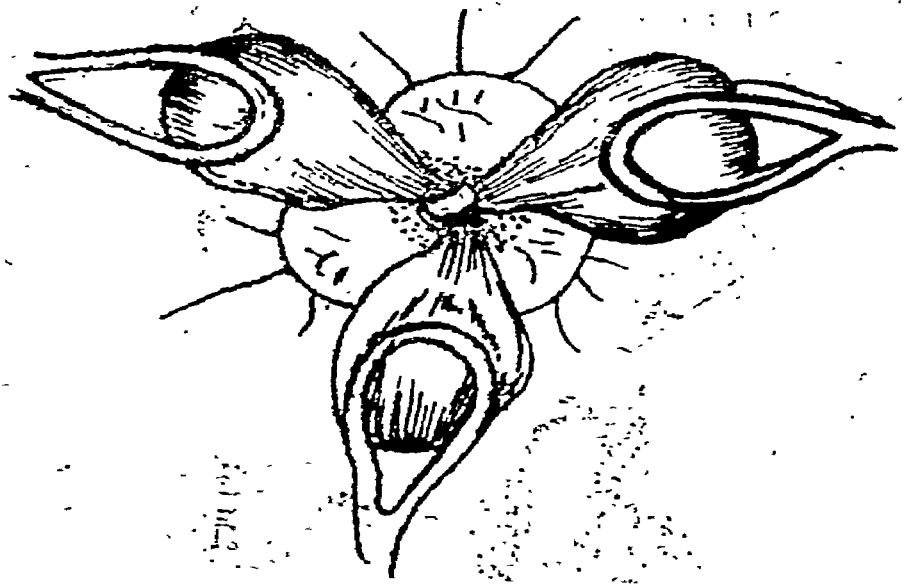
बांया किनारे का, दांया आगे का तथा दांया पीछे का अर्श अच्छी प्रकार से रिंग या स्पंन्ज फॉरसेपस में

स्थित करके गुदाचक्र से बाहर ले आये। लेकिन यह ध्यान रखें कि इन अर्शो की जड़ें भी अच्छी प्रकार से बाहर
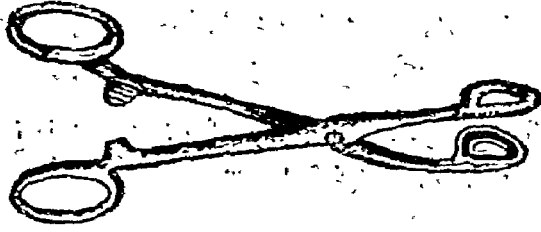
अर्श को पकड़ने में कार्य आने वाली राउण्ड फारसेप

आ जायें। अब एक चन्द्राकार सूत्रि (Round hodied needle) में केटगट पिरोकर प्रत्येक अर्श की जड़ के नीचे ले निकालकर अच्छी प्रकार से बांध देना चाहिये।
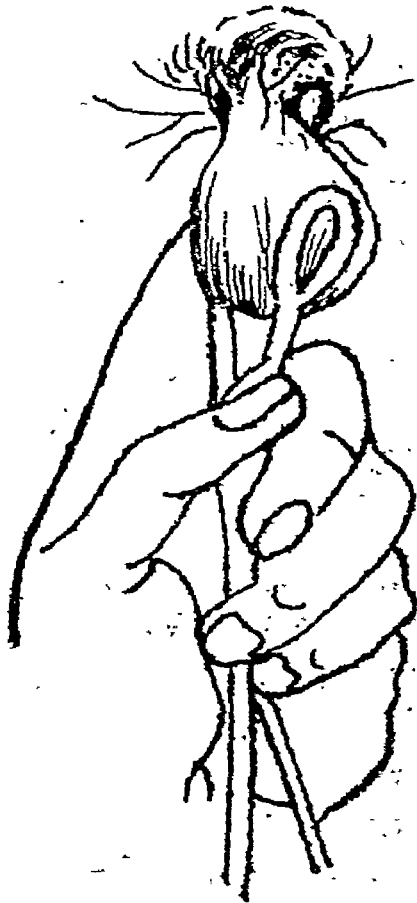
सर्वप्रथम बायें किनारे के अर्श से अपना कार्य प्रारम्भ करना चाहिये। बायें हाथ की तर्जनी अंगुली को अर्श की जड़ (Pedicol) पर रखकर बायें हाथ की हथेली व अंगूठे से पूर्व स्थित स्पञ्ज फॉरसेपस को पकड़कर रोगी के दाहिनी ओर खींचते रहिये तथा इस प्रकार से प्रसारित अर्श शिरा की सीमाएँ निश्चित कर लेनी चाहिये।
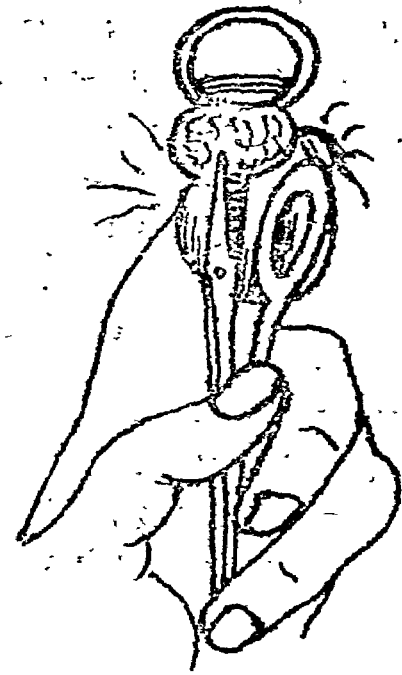
अब गुदा के तुरन्त नीचे की चमड़ी चाकू द्वारा अर्श-के चर्म श्लेष्मिक मिलन स्थान पर V के आकार का चीरा लगा दे। अब V के तीक्ष्ण भाग को आर्टरी फॉरसेप में पकड़कर बाये हाथ की हथेली पर डाल दें।
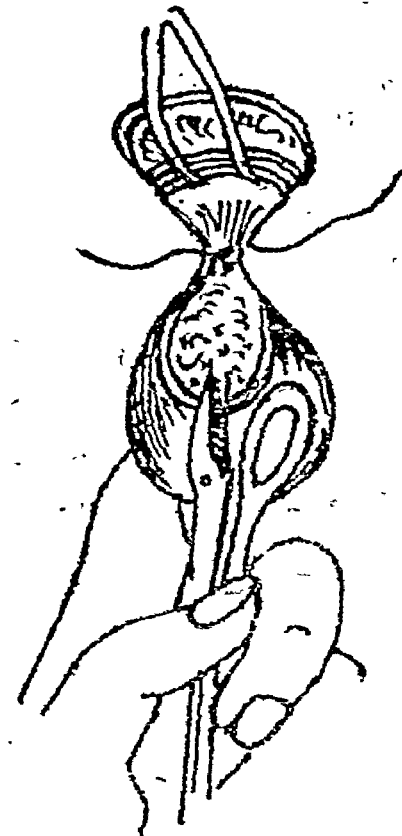
अब अर्श को बीच की रेखा की तरफ कैंचियों द्वारा ब्लंट डिसेक्सन की विधि से खींचते जाना चाहिये तथा इस प्रकार के अर्श को गुदाचक्र की बाह्य मांसपेशी से मुक्त कर लेना चाहिये। तथा इस स्थिति में गोलकृताकार मांसतन्तु स्पष्ट दीखने प्रारम्भ हो जाते हैं। लम्बे मांसतन्तुओं को चिकित्सक को काटते रहना चाहिये। इस प्रकार से अब अर्श केवल अपनी जड़ के सहारे पूर्ण तथा मुक्त हो चुका होगा।

अर्श की जड़ जो कि पहले से ही अच्छी प्रकार से बांधी हुई है को म्यूकोसा की दोनों पर्त्तों को हटाते हुए रोगी के दांयी ओर अच्छी प्रकार से खींचकर बंध (Ligature) से १/४ इञ्च नीचे से काटकर अर्श को हटा देना चाहिये तथा बंत्रक कैटगट के लम्बे हिस्से द्वारा श्लेष्मिक झिल्ली को चर्म के साथ अच्छी प्रकार से सींवन कर देना चाहिये।

उपर्युक्त क्रिया द्वारा अर्शों को भी स्थानानुसार हटा देना चाहिये।

अब एक रबर ट्यूब (१/२ इञ्च Diameter × ४ इञ्च) को गुदामार्ग में प्रवेश करवाकर सेफ्टीपिन से स्थित कर दें ताकि अपान वायु आदि बाहर निकलती रहे। इससे भीतर अगर रक्तपात हो रहा हो तो उसका भी चिकित्सक को ज्ञान होता रहता है।

घावों की फ्यूरासीन या सोफरामाइसीन मलहम से ड्रेसिंग करते रहना चाहिये।

पश्चात कर्म—प्रथम ४८ घंटे तक यदि दर्द आदि हो तो दर्द निवारण की औषधि के साथ-साथ निद्रा के लिये उचित औषधि की व्यवस्था चिकित्सक को करनी चाहिए।

२४-३६ घंटे के बाद गुदा से रबड़ ट्यूब निकाल दें तथा प्रति २४ घंटे बाद गुदा में अंगुली फिराकर Furacin या Zoframycin मलहम लगाते रहना चाहिए।

रोजाना चिकित्सा हेतु—रोजाना रोगी को Stepto penicinlin Fort 9/m तथा एक कैंपसूल Dumasul देना चाहिये। अगर रोगी पेनीसिलिन के प्रति सेन्सीटिव हो तो Inj. Terramycin 250 mg I/m का रोजाना देना चाहिये। यह चिकित्सा व्यवस्था रोगी को एक सप्ताह तक चलानी चाहिये।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

आयुर्वेद में शल्य चिकित्सा का वर्णन सुश्रुत संहिता में मिलता है। आयुर्वेद के अनुसार शल्य चिकित्सा हेतु निम्नलिखित शस्त्रों को एकत्रित करना चाहिये।

(१) वृणोपचार संदंश चिमटी
(२) गोल रिंग
(३) कर्तनी [ऋजु]
(४) ऐषणी
(५) रुई व गॉज
(६) शमीयन्त्र
(७) घ्राणार्बुदार्शोयन्त्र (अर्श को देखने के लिए)
(८) आन्त्रसूत्र
(९) सींवनधागा

पूर्व में शल्यचिकित्सा का जैसे वर्णन किया गया है, उसी प्रकार से इन यन्त्रों के माध्यम से रोगी का पूर्व कर्म मुख्य कर्म तथा पश्चात कर्म के द्वारा शल्यचिकित्सा करनी चाहिये। जब रोगी का मुख्य कर्म कर दिया जाये तो व्रण पर जात्यादि तैल व कसीस तैल लगा दिया जाये। रोगी के उस स्थान स्थान पर सिगरफ़ भस्म लगा देनी चाहिए, जिससे घाव शीघ्र भर जायेगा। इसके साथ-साथ पाइलेक्स मलहम का पेण्ट भी किया जा सकता है।
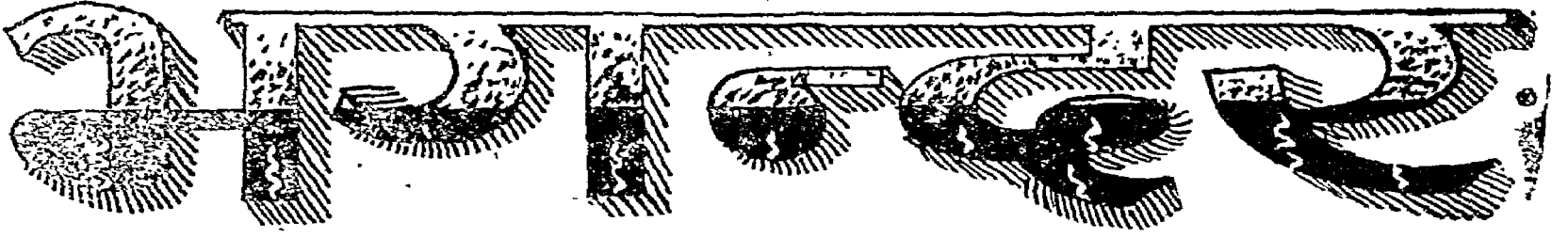
[FISTULA IN ANO]

डा० शिवस्वरूप त्रिपाठी बी. ए. एम. एस., ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज, हरिद्वार

परिभाषा—गुदद्वार के २ अंगुल के क्षेत्र में तथा भग और वस्ति प्रदेश में होने वाली वेदनायुक्त पिड़िका यदि पककर विदीर्ण हो जावे तो वह व्रण भगन्दर के नाम से जाना जाता है।

सामान्यरूप से मलाशय, वस्ति, योनिमार्ग आदि स्थानों में इस प्रकार के व्रण की उत्पत्ति होती है जिसका एक मुख त्वचा पर हो तथा दूसरा मुख उस अंग के अन्दर खुलता हो तो वह भगन्दर कहलाता है परन्तु गुदद्वार तथा मलाशय के समीप में पाये जाने वाले इन पूय मार्गों के लिये ही भगन्दर शब्द प्रायः गौण हो गया है।

दोषानुसार भगन्दर के भेद—

दोषानुसार भगन्दर पांच प्रकार का होता है जिनके पृथक्-पृथक् नाम सुश्रुत ने निम्न में दिये हैं—

(१) वातिक (शतपोनक)।
(२) पैत्तिक (उष्टग्रीव)।
(३) श्लैष्मिक (परिस्रावी)।
(४) सान्निपातिक (शम्बूकावर्त)।
(५) आगन्तुज (उन्मार्गी)।

वाग्भट ने भगन्दर के ३ द्वन्द्वज भेद भी बतलाये हैं—

(१) वात पित्तज (परिक्षेपी)।
(२) वात कफज (ऋजु)।
(३) कफ पित्तज (अर्शो भगन्दर)।

उपर्युक्त भेदों में पिड़िका की रचना, उनकी उत्पत्ति, उनका स्राव भिन्न-भिन्न पाया जाता है जिसे विस्तार से नीचे दिया जा रहा है—

(१) वातिक या शतपोनक भगन्दर—इसकी पिड़िका अरुणवर्ण की होती है तथा इसमें तोद आदि वेदना मिलती है। यह वेदना डण्डे से पीटने के समान, दांतों से काटने के समान, सुइयों के चुभने के समान होती है गुदा फटती हुई सी प्रतीत होती है। इसमें शतपोनक (चलनी) के समान अनेक छिद्र होते हैं जिनसे निरन्तर स्वच्छ, झाग से मिश्रित बहुत अधिक स्राव होता है। वायु, मूत्र तथा मल और शुक्र भी इन छिद्रों से बाहर आता है इस भगन्दर को शतपोनक भगन्दर कहते हैं।

(२) पैत्तिक या उष्टग्रीव भगन्दर—यह भगन्दर लाल रंग की पतली, ऊपर को उठी हुई ऊंट की ग्रीवा के समान बीच में से दबी हुई पिडिका से उत्पन्न होता है इस पिडिका में चोष (जलन) आदि वेदनायें होती हैं चिकित्साभाव में यह पिड़िका पककर भगन्दर का रूप धारण करती है। इसमें से दुर्गन्धयुक्त गरम स्राव बहता है उपेक्षा करने पर इसमें से मल, वायु, मूत्र, शुक्रादि बाहर निकलते हैं।

(३) श्लैष्मिक या परिस्रावी भगन्दर—यह भगन्दर श्वेतवर्ण की स्थिर एवं-कण्डूयुक्त पिड़िका से उत्पन्न होता है। यह पिड़िका कण्डू आदि वेदनाओं को उत्पन्न करती है और चिकित्साभाव में परिस्रावी भगन्दर की उत्पत्ति करती है। इसमें से निरन्तर चिकना स्राव बहता रहता है। उपेक्षा करने पर इसमें से वायु, मूत्र, मल, शुक्र बहने लगते हैं। इस भगन्दर को परिस्रावी भगन्दर कहते हैं।

(४) सान्निपातिक या शम्बूकावर्त भगन्दर— यह भगन्दर पांव के अंगूठे के समान तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त पिड़िका से उत्पन्न होता है इसमें तोद, दाह, कण्डू आदि के रूप में वेदनायें होती है चिकित्साभाव में पिड़िका पककर नाना प्रकार का स्राव उत्पन्न करती है। इसमें भरी हुई नदी के समान अथवा शम्बूक (शंख) के आवर्त्त (भंवर) की तरह से निरन्तर तीव्र वेदना उत्पन्न होती है इस भगन्दर को शम्बूकावर्त भगन्दर कहते हैं।

(५) आगन्तुज या उन्मार्गी भगन्दर—जो मूर्ख व्यक्ति मांस के लालच में अस्थिशल्य को अन्न के साथ खा जाता है तब यह शल्य कठिन मल के साथ मिलकर अपानवायु और नीचे की ओर प्रेरित होकर अनुचित रूप से आकर गुदा को चोट पहुँचाता है। क्षत के कारण यहां पर कोथ उत्पन्न होता है। पूय और रक्त से भरे इस क्षत में मांस के सड़ने से कृमि उत्पन्न हो जाते हैं यह कृमि गुदा को खाते हुये पार्श्वों में गुदा को विदीर्ण कर देते हैं। कृमियों से बनाये इन मार्गों में से वायु, मल, मूत्र, शुक्र बाहर निकलने लगता है। इस भगन्दर को उन्मार्गी भगन्दर कहते हैं।

भगन्दर की आयुर्वेदिक चिकित्सा—

भगन्दर की चिकित्सा आयुर्वेद में २ प्रकार से की जाती है—

(१) शमन चिकित्सा।
(२) व्रण चिकित्सा।

(१) शमन चिकित्सा—सभी प्रकार के भगन्दरों में पहले पिड़का की उत्पत्ति होती है अतः शमन चिकित्सा द्वारा इस पिड़का को बैठाने का उपाय किया जाता है यह उपाय निम्न उपक्रमों के द्वारा सम्भव होता है—

(१) अपतर्पण, (२) आलेपन, (३) परिषेक, (४) अभ्यंग, (५) स्वेदन, (६) विम्लापन, (७) स्नेहन, (८) वमन, (९) विरेचन, (१०) उपनाहन, (११) स्रावण।

उपर्युक्त उपक्रमों का वर्णन 'शोफ' अध्याय में किया जा चुका है इसलिये यहां नहीं दिया जा रहा है।

(२) व्रण चिकित्सा—यदि पिड़का की उपेक्षा करने पर वह व्रण के रूप में परिवर्तित हो जाय तो व्रण चिकित्सा की जाती है यही भगन्दर की प्रमुख शल्य क्रिया है। व्रण चिकित्सा में आयुर्वेद तीन कर्मों का आश्रय लेता है—

(१) क्षारकर्म।
(२) अग्निकर्म।
(३) शस्त्रकर्म।

(१-२) क्षार तथा अग्निकर्म—क्षार तथा अग्निकर्म का प्रयोग अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख भगन्दर की चिकित्सा में किया जाता है। इसके लिये पहले पूयमार्गों को एषणी द्वारा पाटनकर्म किया जाता है तथा विकारग्रस्त भाग को आवश्यकतानुसार क्षार या अग्नि से दग्ध कर देते हैं। क्षारादि के प्रयोग से व्रणरोहण में बाधा उत्पन्न करने वाले विकृत तन्तु पूयादि नष्ट हो जाते हैं और व्रणरोहण भली प्रकार हो जाता है। क्षार और अग्निकर्म का प्रयोग गम्भीर धातुओं में स्थिति भगन्दर में अनुपयुक्त होता है। कृश, दुर्बल और भीरु व्यक्तियों में पूर्ण भगन्दर की चिकित्सा क्षारसूत्र के द्वारा की जाती है।

क्षारसूत्र द्वारा भगन्दर की चिकित्सा—

क्षारसूत्र द्वारा भगन्दर की चिकित्सा का आजकल बनारस विश्वविद्यालय में चिकित्सा विज्ञान संस्थान के शल्य-शालाक्य विभाग के प्रोफेसर डा० प्रभुजनार्दन देशपाण्डेय द्वारा शल्य कर्म किया जाता है। उन्होंने देश-विदेश के हजारों भगन्दर रोगियों को इस क्षारसूत्र चिकित्सा द्वारा रोग मुक्त किया है क्षारसूत्र जो तीक्ष्ण द्रव्यों यथा—थोहर, हरिद्रा आदि द्वारा संस्कारित होते हैं एषणी में पिरोकर प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रकार बिना शल्य कर्म के ही पूय मार्गों का भेदन हो जाता है।

(३) शस्त्रकर्म द्वारा भगन्दर की चिकित्सा— सुश्रुत ने भगन्दर के भेदों के अनुसार उनकी शल्य चिकित्सा का वर्णन किया है जो नीचे दिया जा रहा है—

शतपोनक भगन्दर की शल्य चिकित्सा—शतपोनक भगन्दर की चिकित्सा में शल्यक सावधानी से १-२ पूयमार्गों को काट देता है और जब व्रण का रोहण हो जाता है तो इसी क्रम से अन्य पूयमार्गों को काटा जाता है। एक साथ शतपोनक भगन्दर की सभी नाड़ियों को नहीं काटना चाहिये और व्रण को बहुत विस्तृत नहीं करना चाहिये। सुश्रुत कहते हैं कि शतपोनक भगन्दर

का शल्यकर्म अत्यन्त कठिन है और इस शल्यकर्म को अच्छे शल्यक द्वारा ही कराना चाहिये। यदि पूयमार्ग अत्यन्त संकीर्ण हों तो सुश्रुत मतानुसार शतपोनक के सूक्ष्म पूय मार्गों को परस्पर मिलाने के लिये निम्न शल्यकर्म किये जाते हैं—

(१) अर्ध लांगलक भेदन—आधे हल का आकार का एक ओर से लम्बा और एक ओर से छोटा भेदन लगाया जाता है।

(२) लांगलक भेदन—हलके आकार का भेदन किया जाता है।

(३) सर्वतोभद्रक भेदन—गुदद्वार के चारों ओर चौकोर भेदन सर्वतोभद्रक भेदन कहलाता है, इसमें सेवनी को बचाकर रखा जाता है।

(४) गोतीर्थक भेदन—चलती हुई गाय के समान (~~~~~) भेदन गोतीर्थक भेदन कहलाता है।

उपर्युक्त शस्त्रकर्मों द्वारा जो पूयमार्ग दिखाई देते हैं उनका दहन कर दिया जाता है इस प्रकार रोहित होने वाले व्रण पुनः उत्पन्न नहीं होते।

उष्ट्रग्रीव भगन्दर की शल्य चिकित्सा—

उष्ट्रग्रीव भगन्दर की शल्य-क्रिया सामान्य रूप से की जाती हैं अर्थात् एषण, भेदन तथा रोपण यह उपक्रम किये जाते हैं। इसमें अग्निकर्म को निषिद्ध बताया गया है क्योंकि यह पैत्तिक होने से आग्नेय प्रकृति के होते हैं।

परिस्रावी भगन्दर की शल्य चिकित्सा—

परिस्रावी या श्लैष्मिक भगन्दर में पूयमार्गों का निर्हरण करने के लिये कुछ विशेष प्रकार के भेदनों का उल्लेख सुश्रुत ने किया है—

(१) खजूर-पत्रक भेदन—इनकी आकृति खजूर के पत्र के समान होती है जो मध्यस्थिति प्रमुख नाड़ी और उससे मिलने वाली तिरछी नाड़ियों के भेदन से उत्पन्न होती है।

(२) चन्द्रार्ध भेदन—जब पूयमार्ग वक्र होता है तो उसमें अर्ध चन्द्राकार भेदन किया जाता है।

(३) चन्द्राकार भेदन—जब नाड़ी मध्यस्थित धातुओं के चारों ओर घूमी रहती है और उसका केवल एक ही मुख बाहर दिखाई देता है इस अवस्था में चन्द्राकार भेदन किया जाता है।

(४) चक्राकार भेदन—यह चक्राकार भेदन है जिसके मध्य में भी प्रमुख नाडी से मिलने वाले भेदन किये जाते हैं।

(५) सूर्यमुख भेदन—जो भेदन प्रान्तमार्गों पर अल्प किन्तु मध्य में अधिक विस्तृत होता है वह सूचिमुख भेदन कहलाता है।

(६) अंवाग मुख भेदन—यदि सूचिमुख भेदन का का मुख नीचे की ओर को हो तो वह अंवाग मुख भेदन कहलाता है।

उन्मार्गी भगन्दर की शल्यचिकित्सा—उन्मार्गी भगन्दर की चिकित्सा भी सामान्य भगन्दर चिकित्सा की तरह ही की जाती है।

आगन्तुज भगन्दर—इसे असाध्य मानकर सुश्रुत ने छोड़ दिया है।

सभी प्रकार के भगन्दरों की उपर्युक्त शल्य क्रिया सुश्रुत ने बतायी है।

पश्चात् कर्म—शस्त्र कर्म के कारण जहां वेदना की उत्पत्ति हो वहां अणु तैल को गरम करके उससे परिषेक करते हैं। खण्ड, भद्रदारु आदि वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ की वाष्प का प्रयोग किया जाता है या केवल उष्ण जल द्वारा ही परिषेक किया जाता है जिससे पीड़ा की शान्ति होती है। इसके अतिरिक्त निम्न कर्म करने की भी सुश्रुत आज्ञा देते हैं—

१—कदली मृग, लोमड़ी, प्रियक इनके चर्मों को मिलाकर उपनाह करना चाहिए।

२—त्रिकटु, वच, हींग, लवण, अजवायन इनको कॉंजी, कुलत्थ की सुरा, के साथ मिलाकर पिलाना चाहिए।

३—निशोथ, तिल, नागदन्ती, मजीठ, विदारी, इनमें सैन्धव मिलाकर उत्सादन करना चाहिए।

४—पिप्पली, मुलहठी, लोध, कूठ, इलायची, हरेणु, मजीठ, धातकी पुष्प, सारिवा, हल्दी, दारु हल्दी, प्रियंगु, राल, पद्माख, कमल केसर, स्नुही, वच, कलिहारी, मौम, सैन्धव इन सबको मिलाकर तैल निर्माण कर व्रण स्थान पर करना चाहिए इससे भगन्दर का शीघ्र रोपण होता है।

अपथ्य निर्देश—व्यायाम, मैथुन, क्रोध, सवारी, भारी भोजन का प्रयोग शल्यकर्म के पश्चात् नहीं करने का सुश्रुत निर्देश करते हैं।

भगन्दर पर पाश्चात्य मत—

भगन्दर को आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में Fistula in Ano के नाम से जाना जाता है इसके सम्बन्ध में नीचे उल्लेख किया जाता है—

परिभाषा (Defination)—गुदाद्वार के चारों ओर के स्थान में जो नाड़ीव्रण वनते हैं उनको भगन्दर कहा जाता है। भगन्दर एक संक्रमित मार्ग होता है जो गुदद्वार के समीप की त्वचा से गुदा या मलाशय तक आता है।

भगन्दर की उत्पत्ति गुदा तथा मलाशय से वाहर स्थित मृतऊतकों (Soft Tissues) में उत्पन्न विद्रधि से होती है। इस स्थान में संक्रमण पहुँच जाता है और वहां पूय की उत्पत्ति होती है इस प्रकार जो विद्रधि उत्पन्न होती है उसका पूय अपना मार्ग वनाता हुआ त्वचा पर पहुँच कर वहां चर्म का विदार करके वाहर निकलता है। यही पूय का मार्ग भगन्दर कहलाता है।

भगन्दर के कारण-(Aetiology)—

(१) इसकी उत्पत्ति अधिकांश तह सवम्यूकस विद्रधि (abscess) के कारण होती है जो अन्दर और वाहर फूटकर भगन्दर का निर्माण करती है।

(२) विद्रधि में से पूय के वाहर न निकलने कारण।

रोग-वृद्धि में सहायक कारण—

(१) गुदाद्वार के समीप रहने से अशुद्धता के कारण विद्रधि में संक्रमण के निरन्तर वने रहने से।

(२) स्फिगंटर पेशियों के स्पांज्म के कारण पूय के ठीक प्रकार से वाहर न निकल पाने के कारण।

भगन्दर के प्रकार (Types of Fistula)——

(१) पूर्ण भगन्दर (Complete Fistula)—इसका मुख मलाशय के भीतर और दूसरा मलद्वार के पास त्वचा पर होता है इसमें त्वचा से वीच के ऊतकों में होता हुआ मलाशय के भीतर तक एक पूरा मार्ग वन जाता है।

(२) वाह्य अन्ध भगन्दर (External blind Fistula)—इसका केवल एक छिद्र वाहर त्वचा पर खुलता है तथा इसका मलाशय से कोई सम्वन्ध नहीं होता यह भगन्दर म्यूकोसा, गुदास्थित पेशियों आदि के मध्य में जाकर खुलता है इसलिये वाह्य अन्ध भगन्दर कहलाता है।

(३) आन्तरिक अन्ध भगन्दर (Internal blind Fistula)—इसका सम्वन्ध त्वचा से नहीं होता और इसका अन्दर का भाग मलाशय के अन्दर खुलता है और उसमें उत्पन्न पूय भी मलाशय में जाता है।

भगन्दर के लक्षण तथा चिन्ह (Symptoms and Signs of Fistula)—

लक्षण—(१) रोगी गुदाद्वार के पास पहले विद्रधि का इतिहास वताता है जिसके फूटने से पूय तथा मलादि का स्राव होता है।

(२) रोगी वताता है कि यह पूयमार्ग वार-वार वन्द हो जाता है तथा वार-वार खुलता है। पूयमार्ग के वन्द होने के समय रोगी को वेदना होती है।

चिन्ह -(१) वाहर से देखने पर गुदाद्वार के समीप एक या अधिक छिद्र दिखाई देते हैं।

(२) प्रौक्टोस्कोपी से मलाशय के अन्दर का भगन्दर का अन्दरूनी द्वार दिखाई देता है।

(३) वाह्य छिद्र से प्रोव डालने पर सम्पूर्ण पूयमार्ग दिखाई देता है।

भगन्दर की शल्य चिकित्सा (Operation of Fistula)—

भगन्दर के शल्यकर्म में प्रधान कार्य भगन्दर का सम्पूर्ण छेदन करना होता है इसके लिये उसके सम्पूर्ण मार्ग को निकाल दिया जाता है यदि उसका कोई भी भाग या शाखा शेष रह जाती है तो भगन्दर के पुनः उत्पन्न होने का भय रहता है अतः यह आवश्यक है कि भगन्दर का शल्यकर्म सम्पूर्ण हो और उसकी प्रत्येक शाखा और मार्गों का चारों ओर के ऊतकों का छेदन करके सम्पूर्णतया निकाल दिया जाय।

प्रमुख शल्य क्रिया—

इसकी प्रमुख शल्यक्रिया फिस्टूलेक्टोमी (Fistulectomy) कहलाती है। इसके लिये सामान्य (General) या निम्न सौपुम्निक संज्ञाहरण आवश्यक है। रोगी को मेज पर लियोटमी स्थिति में लिटा दिया जाता है। सर्वप्रथम गुदद्वार के समीप [illegible]

(Probe) डालकर भगन्दर के मार्ग की दिशा और उसकी गहराई का पता लगाया जाता है। यदि एक से अधिक द्वार हैं तो सभी में पृथक्-पृथक् प्रोब डालकर भगन्दर नलिका की गहराई तथा दिशा का ज्ञान कर लेते हैं।

एषणी द्वारा उपर्युक्त कर्म करने के बाद सर्जन रोगी के उपस्थ भाग के सामने बैठकर एक परिखा युक्त अनुदेशक (Grooved director) को भगन्दर के छिद्र में प्रविष्ट कराता है तथा बांये हाथ की तर्जनी को गुदाद्वार में डालकर इस डाइरेक्टर की नोक को प्रतीत करता है यदि यह नोक मलाशय के अन्दर स्वयं बिना किसी दवाव के पहुँच जाती है तो भगन्दर को पूर्ण समझा जाता है यदि नहीं पहुँचती और म्यूकोसा या पेशियों में ही रह जाती है तो इसे अपूर्ण भगन्दर समझा जाता है। अपूर्ण भगन्दर की अवस्था में डायरेक्टर पर दवाव डालकर इसे पूर्ण कर लिया जाता है। पूर्ण होने की अवस्था में डायरेक्टर का भीतरी शिरा मलाशय में आ जाता है। अब इस भीतरी शिरे को मलाशय के अन्दर स्थित तर्जनी द्वारा मलाशय से वाहर खींचा जाता है। ऊतकों के कोमल होने से इस कार्य में कठिनाई नहीं होती और इस प्रकार सम्पूर्ण भगन्दर मार्ग गुदद्वार के बाहर आ जाता है। इसके पश्चात् इस मार्ग का अवच्छेदन किया जाता है सर्जन भगन्दर के वहिर्छिद्र पर एक त्रिकोणाकार छेदन करता है जिसका आधार वहिर्छिद्र से १ से आधा इंच वाहर रहता है और दोनों पार्श्व की भुजायें अनुदेशक के दोनों ओर को होती हैं तथा शिखर भगन्दर के अन्तःछिद्र के भीतर की ओर बनता है इस प्रकार सम्पूर्ण भगन्दर मार्ग का छेदन हो जाता है।

यह शल्यक्रिया केवल चर्मगत या श्लैष्मिककला के अन्तर्गत पाये जाने वाले भगन्दरों के लिये उपयुक्त होती है। इसके विपरीत जो भगन्दर गहरे होते हैं और गुद संकोचनी वहिःस्था में होकर उससे ऊपर तक चले जाते हैं उनके लिये बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है इस प्रकार की स्थिति में २ बार में पूर्ण शल्यकर्म किया जाता है—

प्रथम बार नाड़ी को गुद संकोचनी पेशी के किनारे तक खोला जाता है किन्तु पेशी को नहीं काटा जाता पहली बार भगन्दर का केवल बाहरी भाग ऊपरी विधि से निकाल दिया जाता है और संकोचनी पेशी के नीचे से मुड़ी हुई सुई में रेशम का धागा पिरोकर उससे भगन्दर के शिखर पर पेशी को बांध दिया जाता है इससे पेशी के चारों ओर के ऊतकों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और आठ-दस दिन में वे पेशी सूत्रों से नवनिर्मित सौत्रिक सूत्र द्वारा जुड़ जाते हैं इसके पश्चात् जहां बांधा गया था वहां पर पेशी को काटा जाता है जिससे एक खुला हुआ चौड़ा क्षत शेष रहता है।

शाखाओं प्रशाखाओं युक्त उपद्रव युक्त भगन्दर का शस्त्रकर्म भी इसी सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है दो-तीन बार में सभी शाखायें प्रशाखायें खोलकर साफ करदी जाती हैं।

पश्चात् कर्म—

(१) वेदना को कम करने के लिये मारफीन का प्रयोग करना चाहिये।

(२) व्रण में ४८ घंटे के पश्चात् गौज को बदल देना चाहिये ऐसा करने में वेदना न हो इसके लिये मार्फीन ¼ ग्राम प्रयोग करना चाहिये।

(३) रात्रि को सोते समय लिक्विड पैराफीन का प्रयोग कराना चाहिये जिससे मलावरोध न रहे और सुगमता से मल निकल जाय।

(४) व्रण शीघ्र भरने के लिये तथा उपसर्ग बचाने के लिये रोगी को उचित एन्टीवायोटिक का प्रयोग करना न भूलना चाहिये।

मूत्राशय अश्मरी
[BLADDER STONE]

वैद्य श्री मुन्नालाल गुप्त, ५८/६८ नील वाली गली, कानपुर (उ० प्र०)

पथरी का रोग मूत्राशय, (वस्ति) वृक्क (गुर्दा) और मूत्रवह स्रोत में मूत्र के घन भाग के एकत्र होने से होता है। प्रथम किसी वस्तु से जैसे श्लैष्मिक कला का कुछ भाग, शुष्क हुआ श्लेष्मा, जमा हुआ रक्त इत्यादि अश्मरी का केन्द्र बन जाता है, जिसके चारों ओर घन अवयव एकत्र होने लगते हैं और कुछ समय में अश्मरी बन जाती है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि अश्मरी जीवाणु के कारण उत्पन्न होती है।

एलोपैथिक मतानुसार—

(१) फास्फेट—इन लवणों की अश्मरी खड़िया के समान श्वेत और चिकनी होती है। वह भुरभुरी होने के कारण सहज ही में टूट जाती है। यह साधारणतया 'ट्रिपिल फास्फेट' और चूने के फास्फेट लवणों के मिलने से बनी होती है। प्रायः फास्फेट के लवणों के मिलने से बनी होती है। प्रायः फास्फेट के लवणों के साथ अन्य लवण भी मिल जाते हैं। वास्तव में केवल फास्फेट से बनी हुई अश्मरी बहुत कम मिलती है, अन्य प्रकार की अश्मरियों पर भी फास्फेट लवणों का स्तर चढ़ जाता है और वह देखने से फास्फेट अश्मरी ही की भांति दीखती है किन्तु उनकी भीतरी रचना पृथक् होती है।

फास्फेट की अश्मरियों को काटने पर उनके भीतर मध्य भाग में एक वस्तु-समूह स्थित मिलता है। उसके चारों ओर एक-केन्द्री श्वेत रङ्ग के स्तर पाये जाते हैं। अन्य अश्मरियों में भी उसी भांति के स्तर होते हैं, किन्तु उनका रङ्ग पृथक् होता है।

(२) यूरिक अम्ल की अश्मरी कठिन और सघन होती है। वह सहज में नहीं टूटती। प्रायः वह अण्डाकार और चपटी होती है। उसके बाहरी पृष्ठ साधारणतया चिकने होते हैं। कभी-कभी उस पर छोटे-छोटे अंकुर उठे रहते हैं। बहुधा उस पर फास्फेट का एक स्तर चढ़ा रहता है।

(३) अमोनिया के यूरेट लवण से उत्पन्न हुई अश्मरी की रचना साधारण यूरेट-अश्मरी ही के समान होती है, किन्तु उसका रंग हलका होता है।

(४) चूने के आक्जेलेट लवण की अश्मरी अत्यन्त असम होती है। उसका पृष्ठ किसी बड़े कङ्कड़ के समान कहीं से उभरा हुआ और कहीं से गहरा होता है। उसकी शहतूत से समानता की गई है। क्योंकि उसके पृष्ठ पर शहतूत की भांति चारों ओर अंकुर उठे रहते हैं।

यह अश्मरी अत्यन्त कठिन होती है। भीतर से यह भी अन्य अश्मरियों की भांति स्तरित और सघन होती है। उत्पत्ति के समय इसमें प्रायः कुछ रक्त मिश्रित हो जाता है, जिससे इसका रंग लालिमायुक्त गहरा भूरा अथवा काला हो जाता है।

(५) सिस्टीन और जैंथीन नामक वस्तुओं से निर्मित अश्मरी भी पाई जाती है।

मूत्राशय में अश्मरी की स्थिति—कभी-कभी अश्मरी मूत्राशय के पार्श्विक भाग में उत्पन्न होकर श्लैष्मिक कला से वेष्ठित हो जाती है। इसी कारण यह स्वतन्त्र नहीं रहती, किन्तु एक प्रकार के कोष्ठ में, जो मूत्राशय ही का भाग होता है, बन्द रहती है। इसी प्रकार को "आवेष्ठित अश्मरी" कहते हैं।

प्रायः अश्मरी मूत्राशय (वस्ति) के भीतर स्वतन्त्र होती है और व्यक्ति की स्थिति के अनुसार वह भी अपनी

स्थिति बदलती रहती है। रोगी के करवट लेने पर वह मूत्राशय में पार्श्व की ओर चली जाती है, ऐसी अवस्था में मूत्र-त्याग में कठिनाई नहीं होती। मूत्र के निकल चुकने पर मूत्राशय के संकुचित हो जाने के कारण उसकी भित्तियां अश्मरी पर चारों ओर से चिपक जाती हैं, जिस से अश्मरी को इधर-उधर हिलने का स्थान नहीं मिलता। मूत्राशय के जीर्ण शोथ में भी भित्तियों में उत्पन्न हुए अंकुर अश्मरी को घेर लेते हैं।

अश्मरी की रचना—

काटकर देखने पर—उसकी स्थिति

(१) केन्द्र—अश्मरी के बीच का भाग है जिसके चारों ओर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के सहस्रों कण एकत्र हो जाते हैं। यह प्रायः वृक्क से आई हुई अश्मरी का बना होता है, जिस पर यूरिक, आक्जेलेट अथवा फास्फेट लवणों के कण एकत्र होने लगते हैं। जमे हुए रक्त के थक्के, शुष्क श्लेष्मा तथा कभी-कभी जीवाणुओं से यह उत्पन्न हो जाता है।

गात्र—यह अश्मरी का मुख्य भाग है। इसमें प्रायः कई स्तर होते हैं और अश्मरी को काटने पर स्पष्ट दिखाई देते हैं, इनमें उसी वस्तु के कण, जिनकी अश्मरी बनी होती है, एकत्र होते हैं।

आवेष्टन—यह सबसे बाहरी स्तर होता है जो भीतर की वस्तु अथवा गात्र पर चारों ओर चढ़ा रहता है। यह प्रायः फास्फेट-पदार्थ का बना होता है। इस कारण यह अत्यन्त भुरेरा (भुरभुरा) होता है जो सहज में टूट जाता है।

जब मूत्राशय में कई अश्मरियां उपस्थित होती हैं तो उनके जो पृष्ठ एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं यह चपटे और चिकने हो जाते हैं।

आयुर्वेद के मतानुसार "वातज" अश्मरी का रंग लाल-लाल व काला (श्यावारुण) होता है।

पित्तज अश्मरी—भिलावे के आकार की लाल, पीली और काली (भल्लातकास्थि संस्थान रक्तापीता पित्ताश्मरी) होता है।

कफज—चिकनी, मधु के रंग की अथवा उजली (अश्मरीमहती श्लक्ष्ण मधु वर्णाथवासिता) होती है यह अश्मरी बहुधा बालकों के होती है।

शुक्राश्मरी युवा पुरुषों को ही विशेष रूप से होती है।

अश्मरी को शर्करा* भी कहते हैं, जब तक पित्त और वायु में कफ नहीं मिलता जब तक अश्मरी नहीं बनती। इसी कारण अश्मरी वाले के पेशाब (मूत्र से शर्करा के समान कुछ चरखरा—भुरभुरा—सा पदार्थ निकलता रहता है। शर्करा में जो विशेषता है वह यह है कि पित्त से पककर वायु से शोषित होकर, कफ का जोर न होने से, अश्मरी मूत्र के संग कुछ खराहट के साथ गिरने लगती हैं उसे शर्करा कहते हैं।

यथा—पच्यमानाश्मरी पित्ताच्छेष्यमाणा च वायुना।
विमुक्त कफ संधानां क्षरन्ती शर्करा मता॥
(मा० नि०)।

कारण

मूत्राशय की अश्मरियों की उत्पत्ति प्रायः गवीनी-वृक्क से आई हुई स्रोत्रिकरण में अश्मरी का कारण होती है। यह अश्मरी जिसका आकार छोटा होता है, केन्द्र की भांति काम करता है। इसके चारों ओर लवणों के कण एकत्र होते रहते हैं, जिनसे कुछ समय में पूर्ण अश्मरी बन जाती है। जो बाह्य वस्तुएं भीतर रह जाती हैं जैसे कैथिटर का टूटा हुआ अग्रभाग, उनके चारों ओर इसी भांति अश्मरी उत्पन्न हो जाती है। शारीरिक दशाएं भी अश्मरी की उत्पत्ति में भाग लेती है। पीने के जल के साथ अश्मरी का बहुत कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। पार्श्वकीय स्थानों के रहने वालों को यह रोग अधिक होता है, जिसका मुख्य कारण वहां के जल में चूने के लवणों का आधिक्य है। उष्ण देशों में अश्मरी की अधिकता का कारण मूत्र में अवयवों की मात्रा बढ़ जाना है।

यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है, इसका कारण स्त्रियों में मूत्रमार्ग का छोटा और चौड़ा होना प्रतीत होता है। छोटे आकार की अश्मरी सहज ही में मूत्र द्वारा बाहर निकल जाती है, बच्चों में, विशेषतया लड़कों में, यह रोग अधिक पाया जाता है।

लक्षण

इस रोग के विशेष लक्षण पीड़ा, मूत्र का बारम्बार त्याग और रक्त-प्रवाह है। अश्मरी के आकार और

* अश्मरी शर्करा चैव तुल्य सम्भव लक्षणे।

स्थिति तथा मूत्रमार्ग और मूत्राशय की श्लैष्मिक कला के शोथ पर निर्भर करते हैं। छोटी अश्मरी से बड़ी की अपेक्षा अधिक पीड़ा होती है, छोटी इसी कारण चारों ओर को फिरती रहती है; बड़ी अश्मरी अधिक फिर नहीं सकती। इसी प्रकार फ़ास्फेट की अपेक्षा आक्जेलेट अश्मरी से अधिक पीड़ा होती है। बालक और युवा पुरुषों की अपेक्षा वृद्ध पुरुषों को पीड़ा कम होती है उनकी श्लैष्मिक झिल्ली कड़ी होकर कुछ चेतना रहित हो जाती है।

मा० नि० मतानुसार अश्मरी की पीड़ा नाभि में और मूत्राशय के ऊपरी भाग में होती है, पथरी से मूत्र मार्ग रुक जाने पर मूत्र की धार थोड़ी-थोड़ी और पतली हो जाती है। जब मूत्र द्वार से हट जाती है तब मूत्र के उतरने में कोई कष्ट नहीं होता। मूत्र का रंग गोरोचनवत् होता है। जब उसकी वजह से मूत्राशयादि में कहीं क्षत—घाव हो जाता है तब मूत्र के साथ रक्त भी निकलता है।

वातज अश्मरी में पीड़ा अधिक होती है, दांत पीसने लगता है कांपने लगता है, मूतने के समय नाभि और लिंग को सुहराने लगता है। निरंतर कांखता और हाय-हाय करता है।

पित्तज अश्मरी में दाह-जलन अधिक होती है।

कफज में कोंचने के समान पीड़ा होती है।

शुक्राश्मरी—युवा पुरुषों को ही होती है, मूत्राशय में पीड़ा, और मूत्रोत्सर्ग करने में कष्ट होता है। अण्डकोषों में भी शोथ होता है।

अश्मरी रोग में कुछ समय के पश्चात् मूत्राशय के शोथ के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं रात्रि में या शय्या पर लेटने से भी लक्षणों में कमी नहीं आती। प्रत्येक समय पीड़ा रहती है।

अश्मरी के मूत्राशय की ग्रीवा के सम्पर्क में आ जाने से वहां की नाड़ियां उत्तेजित हो जाती हैं और मूत्राशय संकुचित हो जाता है। उस समय रोगी को दारुण पीड़ा होती है। दिन-रात में इस प्रकार के कई आक्रमण हो सकते हैं। मूत्र त्याग के समय निरन्तर बल लगाने से अर्श व गुदभ्रंश भी हो जाता है। मूत्राशय में शोथ का संक्रमण गवीनी में होता हुआ वृक्क में फैल जाता है और अन्त को वृक्क के संक्रमित हो जाने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसीसे इस रोग को यमराज तुल्य बताया है।

अश्मरी का निश्चय रोगी के कथन, अनुमान, लक्षणों से ही हो जाता है फिर भी उसके निश्चय की दो विधियां आज के युग में विशेष उपादेय हैं।

१. ऐक्स-रे द्वारा और दूसरी संकिरण शलाका द्वारा।

ऐक्स-रे

रोगी को मेज पर लिटाकर बस्ति की ऐक्स-रे द्वारा परीक्षा की जाती है। इससे अश्मरी की छाया दिखाई देती है। इसे देखकर उसका पूर्ण निश्चय हो जाता है। आक्जेलेट की अश्मरी की गहरी छाया बनती है।

फास्फेट—अश्मरी आक्जेलेट से हलकी छाया उत्पन्न करती है केवल यूरेट अथवा यूरिकअम्ल की अश्मरी की छाया बहुत हलकी अथवा नहीं बनती। इस छाया को देखते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रोणि की अस्थियों से उत्पन्न होने वाले अर्बुद, मूत्राशय के अर्बुद जिन पर फास्फेट के लवण एकत्र हो गये हों, गर्भाशय के अर्बुद, पौरुष-ग्रंथि तथा श्रोण्यन्तर्गत आंत में स्थिति मल भी छाया उत्पन्न कर सकते हैं।

संकिरण शलाका

इसके द्वारा मूत्राशय में स्थिति अश्मरी को प्रतीत किया जाता है। रोगी को मेज पर लिटाकर मूत्राशय से मूत्र निकालकर उसमें आठ या दश औंस गरम बोरिक वियलन भर दिया जाता है। रोगी की टांगें ऊपर को उठा दी जाती है। चिकित्सक दाहिने हाथ में शलाका को पकड़कर उसके अग्रभाग पर शुद्ध तेल लगाकर उसे मूत्राशय में प्रविष्ट करता है और मूत्राशय के भीतर चारों ओर घुमाता है। ऐसा करने से शलाका कहीं अश्मरी पर लगती है। यूरिक और आक्जेलेट अश्मरी पर जब शलाका लगती है तो उससे शब्द उत्पन्न होता है किन्तु फास्फेट की अश्मरी से केवल रगड़ की प्रतीति होती है। इस प्रकार की परीक्षा से कोई प्रतीति न हो तो गुदा के भीतर दो अंगुलियां डालकर उनको ऊपर की ओर दबाना चाहिए। सम्भव है कि पौरुष-ग्रंथि के बढ़ने से उसके आगे

की ओर, जहां एक गड्ढा सा बन जाता है अश्मरी स्थिति हो। गुदा में अंगुलियां डालने से पूर्व उनमें रबड़ की थैली पहन ली जाती है। जो एक प्रकार का हाथ का मोजा होता है।

इनके अतिरिक्त मूत्राशय दर्शक यंत्र की सहायता से भी अश्मरी तथा मूत्राशय के अन्य रोगों के निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

चिकित्सा

मूत्रकृच्छ, मूत्रावरोध, मूत्राघात तथा अश्मरी की अनेक औषधियां प्रचलित हैं सर्वप्रथम उन्हीं का उपयोग करना चाहिए। जिनका वर्णन यहां अपेक्षित नहीं, चूंकि यह अंक शल्य चिकित्साङ्क है। इसी सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जायगा।

अश्मरी भंजन (Lithotrity)

यह क्रिया लिथोट्राइटी (Lythotrite) नामक यंत्र से की जाती है इसे अश्मरी-भंजक यंत्र कह सकते हैं। इस यंत्र के दो फल होते हैं। बाहरी फल बड़ा और चौड़ा होता है। छोटे फल में, जो बड़े के भीतर रहता है, दनदाने होते हैं। मूत्राशय के भीतर प्रविष्ट करने पर यंत्र के ऊपर की ओर लगे हुए पेंच से फलकों को खोल दिया जाता है। जिससे छोटा फलक ऊपर की ओर हट जाता है और दोनों फलों के बीच में अन्तर हो जाता है। अश्मरी इन फलकों के बीच में आ जाती है। तब पेंच द्वारा फलकों को फिर दबा दिया जाता है। जिससे

–अश्मरी भंजक (lithotrite)

अश्मरी कई भागों में टूट जाती है। पुनः प्रत्येक भाग को इसी प्रकार यंत्र के दोनों फलकों के बीच में पकड़कर तोड़ा जाता है। जब इस प्रकार अश्मरी सूक्ष्म कणों में टूट जाती है जो लियोट्राइट को निकालकर दूसरे यंत्र को जिसे निकर्षक (Evacuator) कहते हैं, भीतर प्रविष्ट किया जाता है। इस यंत्र के दो अथवा तीन भाग होते हैं। सबसे आगे की ओर कैथिटर के समान एक नली होती है जिसे मूत्राशय के भीतर प्रविष्ट किया जाता है

–अश्मरी भंजन के पश्चात् उसके चूर्ण को निस्सारक से निकाला जा रहा है।

किन्तु इसकी चौड़ाई कुछ अधिक होती है और अग्रभाग का मोड़ कम होता है। इस कारण नलिका को प्रविष्ट करने में कुछ कठिनता होती है। और कभी-कभी मूत्र-मार्ग के मुख को विभाजित करना पड़ता है। नलिका का पीछे की ओर एक चौड़ी खड़ी हुई धातु की नली से सम्बन्ध रहता है। इसके नीचे की ओर एक कांच का बड़ा गेंद के समान भाग लगा होता है जिसमें जल भरा रहता है। पीतल की नली के पीछे की ओर एक रबड़ का गोल थैला होता है जिसे दबाने से जल मूत्राशय के भीतर जाता है और छोड़ देने से भीतर गया हुआ जल बाहर निकल जाता है। इसके साथ अश्मरी के कण भी निकल जाते हैं और नीचे के कांच के भीतर में एकत्र होते रहते हैं। इस प्रकार मूत्राशय को बार बार धोने से सारी अश्मरी बाहर निकल जाती है।

अश्मरी भंजन यंत्र को प्रविष्ट करने और फलकों के बीच में अश्मरी को फंसाने, ग्रहण करने में बड़ी सावधानी एवं कौशल की आवश्यकता है। फलकों को मूत्राशय में खोलने के पश्चात्, बाहरी फलक को मूत्राशय के मध्य भाग में लाकर जितना भी नीचे की ओर को झुकाया जा सके, झुका देना चाहिए। इससे अश्मरी दोनों भागों के बीच में आ जायेगी, यदि फलकों को बन्द करते समय

वह फिर हट जाय तो पुनः फलकों को खोल- कर नीचे को दबाना चाहिए । इस कर्म के पश्चात् एक सप्ताह तक रोगी को शय्यारूढ़ रखकर पौष्टिक, लघु आहार देना चाहिए ।

आजकल अश्मरी को निकालने के लिए यह विधि, अत्युत्तम होने के कारण, उपयोग में लाई जाती है । जहां यह विधि अनुपयुक्त समझी जाती है, वहां निम्न विधियों के अनुसार शस्त्र कर्म किया जाता है ।

भगसंधानोपरिभेजन (Suprapubic Cystotomy)

रोगी को मेज पर लिटाकर मूत्राशय में छः या आठ औंस शुद्ध बोरिक विलयन भरने के पश्चात् पूर्णतया शुद्ध किए उदर के चर्म पर उदर की मध्य रेखा में, भग संधानिका से ऊपर की ओर को २ या ३ इंच लम्बा भेदन किया जाता है । चर्म, प्रावरणी तथा पेशियों को विभक्त करने के पश्चात्, औदर्यकला को, जो मूत्राशय के स्कन्ध तथा ऊपरी भाग को ढके रहती है, गौज के टुकड़े से ऊपर की ओर को हटा दिया जाता है । इस समय जल से प्रसरित मूत्राशय तने हुए गोले की भांति दिखाई देता है । उसके दोनों पार्श्वों में सूचिका द्वारा कैटगट में लगभग छः या आठ इंच लम्बे टुकड़े डाल दिए जाते हैं, और उनके बाहर निकले हुए सिरों को धमनी संदशों में पकड़ लिया जाता है । जिससे मूत्राशय के दोनों पार्श्वों को बाहर की ओर खींचा जा सके । तत्पश्चात् मूत्राशय के बीच में ऊपर से नीचे की ओर को एक या डेढ़ इंच लम्बा भेदन किया जाता है जिसके द्वारा अंगुली को भीतर डालकर अश्मरी के आकार तथा स्थिति का अनुभव कर लिया जाता है । अश्मरी संदंश (Cystolithotomy forcep) को, जिसका आगे का भाग चम्मच के समान होता है, भीतर प्रविष्ट करके अश्मरी को निकाल लिया जाता है । तत्पश्चात् अंगुली के भीतर डालकर देखना चाहिए कि कोई दूसरी अश्मरी तो वहां नहीं है । साथ ही श्लैष्मिककला की दशा का भी अनुमान करना चाहिए ।

अश्मरी के निकल चुकने पर यदि मूत्राशय शोथ रहित और स्वस्थ हो तो उसे सीं देना चाहिये, किन्तु यदि वहां शोथ उपस्थित हो तो व्रण को सींना उचित नहीं । मूत्राशय के किनारों के उदर-भित्ति के व्रण के किनारों के साथ सींकर मूत्र के निरन्तर निर्हरण का प्रबन्ध कर देना चाहिये । इससे मूत्राशय धीरे-धीरे स्वस्थ होने पर प्रथम मूत्राशय के व्रण को और तत्पश्चात् उदर के व्रण को सींया जा सकता है । उदर की सीवन में एक निर्हरण नलिका रख देना उचित है । जो मूत्राशय की सीवन तक पहुँच जाय ।

यह सब शिक्षा-कर्माभ्यास, किसी शिक्षालय व अस्पताल में ही सम्भव है । जब तक इस प्रकार का अभ्यास न कर लिया जाय । कदाचित शस्त्रचिकित्सा के लिये शस्त्र नहीं उठाना चाहिए ।

निम्न स्थिति में अश्मरी भंजन कर्म नहीं होता—

१. यदि अश्मरी १॥ इन्च व्यास से अधिक बड़ी हो. ऐसी अवस्था में मूत्राशय की भित्ति को अधिक क्षति पहुँचने की सम्भावना रहती है ।

२. आक्जलेट की अश्मरी अत्यन्त कठिन होने से टूटती नहीं ।

३. केवल फॉस्फेट की अश्मरी अत्यन्त नम्र होने से यन्त्र में भर जाती हैं ।

४. मूत्रमार्ग में संकिरण की स्थिति में यन्त्र को प्रविष्ट करना असम्भव है उससे गलत मार्ग बन सकता है ।

५. वर्धित पौरुष ग्रन्थि भी यन्त्र को रोकती हैं ।

६. यदि मूत्र में शोथ हो तो भी यन्त्र प्रविष्ट करना उचित नहीं ।

७. यदि मूत्राशय संकुचित हो और उसमें तीन या चार औंस से अधिक विलयन न समावे तो भित्तियों को अत्यन्त क्षति पहुँचने की सम्भावना है ।

भगसंधानोपरि भेदन निम्न दशा में उचित हैं—

१. अश्मरी का आकार बड़ा हो ।

२. मूत्रमार्ग में संकिरण उपस्थित हो ।

३. पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि हो गई हो ।

४. अश्मरी आवेष्ठित हो ।

निम्न दशा में मूलाधार भेदन किया जाता है—

१. अश्मरी मूत्राशय की ग्रीवा में अटक गई हो ।

२. मूत्राशय संकुचित हो तथा उसकी भित्तियां शोथ युक्त हों ।

३. मूत्राशय में तीव्र शोथ हो और मूत्रमार्ग भी संकुचित हो ।

४. मूत्राशय के संक्रमण में भी यही कर्म उपयुक्त है ।

★★

आन्त्रपुच्छ शोथ या ऐपेण्डिसाइटिस

शल्यविज्ञानाचार्य डा० लोकेन्दुमान सिंह रीडर शल्य शालाक्य विभाग
चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी
डा० सुभाष वार्ष्णेय पोस्ट ग्रेजुऐट स्कौलर शल्य शालाक्य विभाग,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान, वाराणसी।

आन्त्रपुच्छ शोथ ऐसा रोग है जिसकी उचित चिकित्सा न होने पर गम्भीर और प्राणघातक परिणाम हो सकते हैं। उदरशूल में प्रयुक्त कुछ सामान्य उपक्रम जैसे वस्ति, तीव्र रेचन आदि देने से रोग प्राणघातक बन सकता है। केवल इतना ही नहीं, अपि तु कभी-कभी शूल शमन के लिए मोरफीन एवं पैथाडीन देने से शूल शमन हो गया है या एपेन्डिक्स फट गया है, पता नहीं चल पाता है। ये उपक्रम ऐसे हैं जो कि अक्सर चिकित्सक करते हैं। अत; यह आवश्यक है कि चिकित्सकों को इस रोग का सामान्य ज्ञान अवश्य हो।

इस रोग में ऐपेण्डिक्स नामक अंग का शोथ हो जाता है, यह अंग शरीर में दाईं तरफ सीकम (Caecum) के पश्चात् मध्य दीवार (Postero medial side) में पाया जाता है. इसकी लम्बाई १ इञ्च से १० इञ्च तक देखी गई है, आमतौर पर इसकी लम्बाई ३॥ इञ्च होती है। अंग की रचना बृहद् अन्त्र की रचना की तरह ही होती है, सिर्फ यह अन्तर होता है कि इसमें मांसपेशी की पर्त (Muscular layer) का अभाव होता है तथा श्लैष्मिक कला (Mucous membrane) एवं उदर्यकला (Peritoneum) के मध्य संयोजक टिसु (Connective tissue) पाया जाता है, साथ ही साथ इस अंग में लसीका टिसु अधिक होता है इसी कारण इस अंग को एब्डोमिनल टान्सिल (Abdominal tonsil) भी कहा जाता है। म्यूकस मेम्ब्रेन एवं पेरीटोनीयम के मध्य मसक्यूलर लेयर न होने से म्यूकस मेम्ब्रेन में होने वाला शोथ शीघ्र ही पेरीटोनीयम में फैल जाता है और पेरीटोनाइटिस उत्पन्न कर देता है। बाहर से इस अंग का आधार मैकबर्निग पाइण्ट होता है। यह चिह्न एण्टीरियर सुपीरियर इलीयक स्पाइन एवं नाभि को मिलाने वाली रेखा के Lateral १/३ एवं Medial २/३ के संगमस्थल पर होता है।

अंग का पोषण ऐपेण्डीकुलर धमनी द्वारा होता है। तथा वीनसड्रेनेज Appendicular vein (ऐपेण्डीकुलर शिरा) द्वारा होता है। लिम्फैटिक ड्रेनेज इलियोसीकल लिम्फ ग्लेण्डस (Ileocecal Lymph Nodes) से होता है।

सभी प्राणियों में यह अंग ठीक एक स्थिति में नहीं मिलता है। स्थिति के अनुसार यह प्रतिशत देखा गया है—

१—रैट्रो सीकल	(Retro caecal)	७४%
२—पेलविक	(Palvic)	२१%
३—पेरा सीकल	(Para caecal)	२%
४—सब सीकल	(Sub caecal)	१.५%
५—प्रि इलियल	(Pre Ileal)	१%

* Post graduate Scholar of Shalya Shalaky Department Institute of Medical Sciences. B. H. U.

• Reader and officer Incharge of Surgical reserch Lab. I. M. S., B. H. U.

६—पोस्ट इलियल (Post Ileal) ५%

नीचे के चित्र में इनकी स्थिति दिखाई गई है।

एपैण्डिक्स की विभिन्न स्थितियाँ
१. उण्डुक २. क्षुद्रान्त्र ३. रेक्टोसीकल स्थिति
४. पैरासीकल स्थिति ५. सबसीकल स्थिति
६. पैलविक स्थिति ७. प्रिइलियल स्थिति
८. पोस्टइलियल स्थिति

(५) अवरोधक कारण—ऐपेन्डिक्स में कठिन मल, कृमि या अन्य कोई विजातीय (Foreign body) से अवरोध होना।

(६) तीव्र रेचन—ऐपेन्डिक्स में हल्का सा शोथ होने की दशा में, साधारण उदरशूल समझ कर आम चिकित्सक रेचन देकर रोग को बढ़ा देते हैं। तीव्र रेचन से ऐपेन्डिक्स फट जाता है। एवं तीव्र उदर्यकला शोथ (Acute peritonitis) उत्पन्न कर देता है।

(७) ऐपीडेमिक— कभी-कभी रोग ऐपीडेमिक रूप में स्ट्रेप्टोकोकाई जीवाणु के कारण फैलता है।

(८) जीवाणु—जीवाणुओं में ईकोलाई (E. Coli) मुख्य है। इसके अतिरिक्त नानहीमोलाईटिक स्ट्रेप्टोकोकाई क्लोस्ट्रीडियम वेलकाई (Cl. welchi) आदि।

पैथालोजी

कारणों के अनुसार रोग दो भागों में बांटा गया है—

(१) आब्सट्रकटिव ऐपेन्डीसाईटिस (Obstructive appendicitis) अधिक घातक है।

(२) नान आब्सट्रकटिव ऐपेन्डीसाईटिस (Non obstructive appendicitis) कम घातक है।

रोग के कारण

(१) आयु—२० से ३० वर्ष की आयु में रोग सर्वाधिक होता है। परन्तु बच्चों एवं वृद्धावस्था दोनों में भी हो सकता है। अर्थात् किसी भी आयु में रोग हो सकता है।

(२) सामाजिक स्तर—मध्यवर्गीय एवं उच्चस्तर के व्यक्तियों में रोग अधिक देखा जाता है।

(३) वंशानुक्रमिक प्रवृत्ति—किसी-किसी रोगी में इस रोग की वंशानुक्रमिक प्रवृत्ति होती है।

(४) भोजन एवं जाति—भारत की अपेक्षा पश्चिमी देशों में यह रोग अधिक होता है क्योंकि ये लोग मांस का सेवन अधिक करते हैं। शाकाहारी व्यक्तियों में रोग कम होता है।

आब्सट्रकटिव ऐपेन्डीसाइटिस में अवरोध हो जाता है, यह अवरोध अंग के भीतर, अंग के बाहर या अंग की दीवाल की विकृति के कारण हो सकता है। इस प्रकार के कारणों से शीघ्र ही ऐपेन्डिक्स में कोथ (Gangrene) हो जाती है। जबकि नानआब्सट्रकटिव प्रकार में कोथ होने में अपेक्षाकृत समय अधिक लगता है, कोथ होने से पूर्व या तो शोथ पूर्ण शान्त हो सकता है, (Resolution) ऐपेन्डिक्ज में व्रण बन सकता है (Ulceration) पूय पड़ सकती है। (Supuration) अंग रज्जूवत हो सकता है (Fibrosis)। इन अवस्थाओं में किसी भी रूप में रोग का अन्त होता है। इस प्रकार में कोथ होने का कारण धमनी में थ्रम्बोसिस होना होता है।

लक्षण (Symptoms)

१. उदरशूल (Pain in abdomen)—यह इसका प्रमुख लक्षण है जिसकी निम्न विशेषतायें होती हैं—

[A] यह प्रारम्भ में नाभि (Umblicus) या ऐपीगैस्ट्रियम के चारों तरफ से प्रारम्भ होता है, जो बाद में बांये इलियक फोसा में सीमित हो जाता है।

[B] यह वेदना निरन्तर (Constant) तथा तीव्रतायुक्त (Sharp character) विशेषता वाली होती है।

[C] बिना सामान्य स्वास्थ के ठीक हुये, यदि वेदना बन्द हो जाय तो यह लक्षण ऐपेण्डिक्स में गैंग्रीन उत्पत्ति या ऑपरेशन का सूचक है।

२. वमन (Vomiting)—वमन सभी रोगियों में प्रमुख लक्षण नहीं होता। केवल ऑब्सट्रक्टिव टाइप ऐपेन्डिक्स में यह लक्षण प्रमुखता से पाया जाता है।

३. ज्वर (Fever)—अधिक नहीं होता। सामान्यतः ९९°–१०१° F. तक पाया जा सकता है।

४. मलावरोध (Constipation)—अधिकतर रोगियों में मलावरोध मिलता है। बच्चों में अतीसार भी मिल सकता है।

क्लीनीकल परीक्षा

(१) नाड़ी की गति तेज हो जाती है।

(२) मैकवर्निस पोइण्ट पर असह्य वेदना (Tenderness) उदर को दबाकर छोड़ने से तीव्र वेदना होती है।

(३) सौंस परीक्षा (Psoas test)—पेशी की ऐंठन (Spasm) के कारण वंक्षण सन्धि संकुचित (Flexian of Hip Joint) रहती है, खींचने से पीड़ा होती है। (Pain during Extension) ऐसा उस स्थिति में होता है जब कि ऐपेन्डिक्स रीटोसीकल होता है। यदि ऐपेन्डिक्स पेलविक स्थिति में हो तो इसके विपरीत सन्धि को सिकोड़ने में एवं भीतर की तरफ मोड़ने में तीव्र पीड़ा होती है, इस परीक्षा को ओबटूरेटर परीक्षा कहते हैं, क्योंकि इस दशा में ओबट्यूरेटर पेशी उत्तेजित करते हैं।

(४) रावसिंह चिह्न (Rovsing's sign)—बायीं तरफ उदर दबाने से दाहिनी तरफ पीड़ा होती है।

(५) गांठ (Lump)—राइट इलियक फोसा में सूजन देखी जा सकती है।

(६) शेरेन्स त्रिभुज (Sherren's tringle)—में स्पर्शासिह्यता (Hyperesthesia) होना।
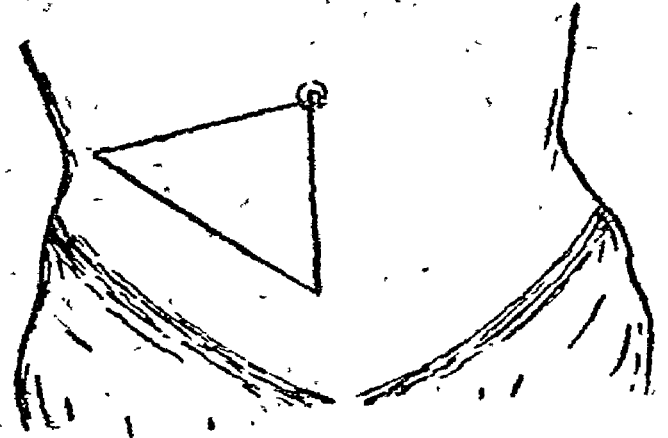
शेरेन्सत्रिभुज [SHERREN'S TRINGLE]

(७) स्टैथिस्कोप द्वारा अन्त्रध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है।

(८) गुद परीक्षण—गुदा की अग्रिम दीवाल (Anterior wall) में विद्रधि की प्रतीति हो सकती है। यदि अंग पेलविक अवस्था में हो तब कभी-कभी अंग यूरेट या यूरीनरी ब्लेडर को उत्तेजित करता है, ऐसी दशा में मूत्रत्याग बार-बार होता है तथा रक्त मिश्रित मूत्रत्याग होता है।

प्रयोगशाला परीक्षण (Laboratory Investigations)

(१) रक्त परीक्षा—श्वेत रक्ताणु की वृद्धि होती है।

(२) मूत्र परीक्षा—साक्षेप निदान के लिए।

(३) क्ष-किरण (X-Ray)—सापेक्ष निदान से सहायक होता है।

साक्षेप निदान (Differential diagnosis)

न्यूमोनिया, प्लूरिसी, तीव्र कोलेसिसटाइटिस, एन्ट्रोकोलाइटिस, मिसेन्टरी, लिम्फेडीनायटिस, आन्त्रावरोध, (Intestinal obstruction) गैजनल इलियाइटिस क्रोन्स-डिसीस, कार्सीनोमा सीकम, यूरेटरिक स्टोन, पायलोनेफराइटिस एवं स्त्रियों में इसके अतिरिक्त सेलफिजाइटिस, ऐक्टोपिकगेस्टेशन, ट्विस्टेड ओवेरीयन सिस्ट आदि से करते हैं।

चिकित्सा

यदि रोगी रोग के आक्रमण होने के तुरन्त वाद आता है तो इस समय रोग से मुक्त होने के लिए शल्यकर्म करते हैं, यदि शस्त्रकर्म की सुविधा नहीं है तो चिकित्सक को व्यर्थ में समय न नष्ट करते हुए रोगी को उचित चिकित्सा केन्द्र, जहां पर सभी शल्यकर्मों की सुविधाएं हो जाने की सलाह देनी चाहिए । उचित सलाह देने से चिकित्सक एवं रोगी दोनों का ही लाभ होता है । शस्त्रकर्म में ऐपेन्डिक्स को काटकर निकाल देते हैं, इस शस्त्रकर्म को ऐपेन्डी-सेक्टोमी (Appendicectomy) कहते हैं ।

यदि रोगी आक्रमण होने के कुछ दिन वाद आता है, और उस समय उसके उदर में सुरक्षात्मक गांठ (Protective Lump) वन चुकी होती है तो उस समय शस्त्र-कर्म का निषेध किया गया है । उस समय औषधि चिकित्सा करनी चाहियें । यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि औषधि चिकित्सा भी तभी करनी चाहिये जब शस्त्रकर्म के सम्पूर्ण साधन चिकित्सक को उपलब्ध हैं ।

औषधि चिकित्सा इस प्रकार है

(१) रोगी की नाड़ी की गति तापक्रम एवं औदरिक गांठ (Lump) प्रत्येक चार घण्टे पर लिखना, यदि वमन हो रहा हो तो तुरन्त रायल्स ट्यूब (Ryel's Tube) डालना चाहिये एवं प्रत्येक चार घण्टे पर आमाशय को खाली करते रहना चाहिये ।

(२) यदि वमन नहीं हो रहा तो मुख द्वारा तरल पदार्थ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिये जा सकते हैं ।

(३) ग्लूकोज सेलाइन (Glucose Saline) एवं ग्लूकोज सोल्यूशन (Glucose Solution) सिरा द्वारा देना चाहिये, इसी के साथ विटामिन सी का एवं विटामिन (B. Complex) भी दिया जा सकता है ।

(४) उष्णोदक की बोतल से सेक किया जा सकता है ।

(५) शूल शमन करने के लिए "मारफीन एवं पैथा-डिन कभी भी नहीं देनी चाहिये ।" ऐसा करने से शूल एकदम शान्त हो जाता है उस दशा में ऐपेन्डिक्स फट जाने पर भी रोग का पता नहीं चलता है । सही निदान होने पर ओमनीपान दिया जा सकता है ।

(६) ऐण्टीवायोटिक्स—पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन, या टट्रासाइक्लिन का प्रयोग किया जा सकता है । एण्टीवायोटिक देने का जहां लाभ है वहां सामान्य हानियों के अतिरिक्त सबसे बड़ी हानि यह होती है कि लक्षणों के शान्त होने से पता नहीं चलता कि रोग शान्त हो गया या भीतर ही भीतर वढ़ रहा है, जैसे विद्रधि का पूय स्टेराइल (Sterile) हो जाता है और यह पूय (pus) क्षोभक (Irritent) का कार्य करता है, कभी-कभी आंत्रा-वरोध एवं सन्निरुद्ध गुद—(Stricture Rectum) भी हो जाता है ।

(७) विवन्ध को दूर करने के लिए रेचक औषधि नहीं देनी चाहिए, अपि तु ग्लिसरीन सपोजिटरी देकर मल त्याग करना चाहिए ।

ध्यान रखना चाहिए कि रोगी को यह सलाह दी जाय कि औषधि चिकित्सा से लाभ होने पर भी शस्त्र कर्म करना लाभदायक है और यह शस्त्र कर्म छः सप्ताह वाद या फिर सुरक्षात्मक गांठ (Lump) के समाप्त होने पर करना चाहिए ।

औषधि चिकित्सा करते समय यदि रोगी की नाड़ी की गति एवं ज्वर वढ़ रहा हो, वमन, गाँठ एवं शूल में भी वृद्धि हो रही हो, साथ ही अतीसार आदि हो रहा हो तो समझना चाहिए कि औषधि चिकित्सा से लाभ नहीं हो रहा है और उस दशा में औषधि-चिकित्सा तुरन्त वन्द करके शस्त्रकर्म की तैयारी करनी चाहिए ।

शस्त्रकर्म का निर्देश एवं औषधि-चिकित्सा प्रारम्भ करने का निषेध

(१) उदर की अन्य तीव्र अवस्थाओं (Acute Abdomen) से जब एपेन्डीसाइटिस का सापेक्ष निदान करना कठिन हो ।

(२) उदर-शूल होने पर तीव्र रेचन के वाद यदि रोगी उदर में कोई सूजन वताता हो ।

(३) रोगी का आक्रमण शिशु, वाल- एवं वृद्धावस्था में हो, तथा मधुमेह एवं गर्भावस्था में भी औषधि-चिकित्सा न करके शस्त्रकर्म ही करना चाहिए ।

शस्त्रकर्म

इस ऑपरेशन में रोगी का मूर्छित होना आवश्यक है । शस्त्रकर्म करने के लिए आवश्यकतानुसार निम्न चीरे लगाये जाते हैं ।

(अ) ग्रिड आयरन इनसीजन (Grid Iron Incision)—जहां पर रोग का निदान निश्चय होता है वहां यह चीरा दिया जाता है। मैकवर्निस पोइन्ट पर यह इनसीजन एन्टीरीयर सुपीरियर इलियक स्पाइन एवं नाभि को मिलाने वाली रेखा पर ९०°पर दिया जाता है। एक्सटरनल आवलीक पेशी को उसके तन्तुओं की दशामें काटकर इन्टरनल एवं ट्रासवर्स पेशियों को उनके तन्तुओं की दिशा में विभाजित करते हैं, आवश्यकतानुसार रेक्टस सीथ भी काटी जासकती है। फिर पेरीटोनीयम को खोलते हैं।

(आ) लोअर पैरामीडीनएन इनसीजन (Lower Paramedian Incision)—नाभी के मध्य से एक इंच नीचे तथा आधे से एक इंच दाहिने तरफ यह चीरा देते हैं जो नीचे प्यूविक सिमफाइसिस तक जाता है। इसकी उपयोगिता यह है कि इससे उदर की अन्य अवस्थाएं तथा परफोरेटेड डियोडिनल अलसर, आदि भी देखे जा सकते हैं, आवश्यकतानुसार इनसीजन बढ़ाया जा सकता
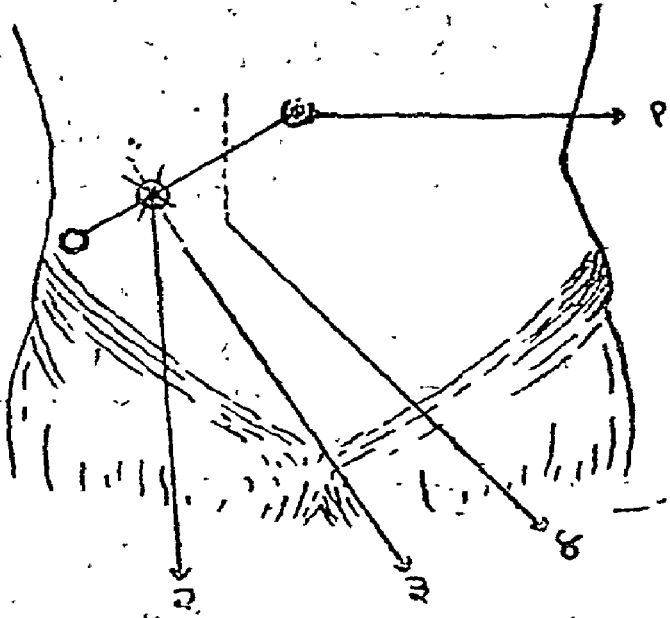
१. नाभि (UMBLICUS)
२. ग्रिड आयरन इन्सीजन
३. मैकवर्नी पौइन्ट
४. पैरामीडियन इन्सीजन
५. एण्टीरियर सुपीरियर इलियक स्पाइन

है। इसमें त्वचा, रेक्टस सीथ काट कर रेक्टस पेशियों को बांई तरफ रिटरेक्ट करके पेरीटोनीयम खोलते हैं।

(इ) रदरफोर्ड मारीसन्स इनसीजन—रिट्रोसीकल एपेन्डिक्स होने पर इससे लाभ होता है यह चीरा मांसपेशियों को काटकर देते हैं। यह अर्धचन्द्राकार होता है, जिसका निचला सिरा मैकर्बनिस पोइन्ट पर होता है। इन इन्सीजनों को ऊपर के चित्र में स्पष्ट किया गया है—

पैरीटोनीयम खोलने के बाद एपेन्डिक्स को खोजते है, खोजने में टीनीया कोलाई बहुत सहायता करती है जहां पर तीनों टीनिया कोलाई मिलते हैं वहां एपेन्डिक्स का आधार होता है। अब एपेन्डिक्स को वेप्सकोप फारसेप से पकड़ लेते हैं। तथा स्वाव (Swab) द्वारा शेष भाग ढक देते हैं। इसके बाद एपेन्डिक्स की मीसो एपैन्डिक्स से पृथक् करते हैं, रक्तवाहिनियों को आरट्रीफारसेप से पकड़ कर पृथक् करके बांध देते हैं। मीसो एपेन्डिक्स से पृथक् करने के बाद एपेन्डिक्स को आधार के पास एक अन्य आरट्रीफारसेप से दबाते हैं (Crushing) क्रश करने के बाद उसी फारसेप को हटाकर थोड़ा ऊपर दबा देते हैं।

अब सीकम में एपेन्डिक्स के आधार के करीब आधा इंच दूर पर परसिसट्रिंग सुचर लगाकर छोड़ देते हैं (कसते नहीं हैं)। फिर एपेन्डिक्स को जहां पहले क्रश किया गया था, एक धागे से बांधकर नाइफ से काट देते हैं और स्टम्प को कार्बोलिकएसिड से दग्ध करके सीकम के भीतर घुसाकर, परसिसट्रिंग सूचर को कस देते हैं। फिर मीसो एपेन्डिक्स को भी एक या दो टांके लगाकर फिक्स कर देते हैं।

[HERNIA]

श्री डा० अशोककुमार गुप्ता बी० एस० सी०, बी० ए० एम० एस०, मल्लावा, हरदोई

आयुर्वेद में आन्त्रवृद्धि

सुश्रुत ने वृद्धि के जो सात भेद बताये हैं उनमें आन्त्र-वृद्धि का भी समावेश है। उन्होंने आन्त्रवृद्धि के कारण, लक्षणों का इस प्रकार वर्णन किया है—

भार हरणबलवृद्धिग्रह वृक्ष प्रपतनादि मिरायास विशेषैर्वायुरमि प्रवृद्धः प्रकुपितश्य स्थूलान्त्रस्ये. तरस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा वङ्क्षण सन्धि मुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोशं प्रविष्य मुष्कशोफमापादयति, आध्मातो वस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स सोफो भवति सशब्द भवपीडितश्योर्ध्वं मुपैति, विमुक्तश्च पुनराध्मायते तामन्त्रवृद्धि मसाध्यामित्या चक्षते।

—सु० नि० १२/६

अर्थात् भार को उठाने से, बलवान् पुरुष के साथ युद्ध करने से, वृक्ष के गिरने से अथवा अन्य इस प्रकार के परिश्रम जन्य कारणों से वायु स्वस्थान में अतिशय बढ़कर एवं कुपित होकर स्थूलान्त्र के एक इतर भाग को टेढ़ा करके वंक्षण सन्धि में नीचे की ओर लेजाकर ग्रन्थि रूप में रहती है। चिकित्सा न करने पर कुछ समय के पश्चात् फलकोषों में घुसकर शोथ को उत्पन्न करती है। इस अवस्था में शोफ, आध्मान तथा विस्तृत और लम्बी होती है, दबाने पर आवाज के साथ ऊपर को चढ़ जाती है और सूजन हट जाती है। छोड़ने पर (शब्द के साथ) नीचे आकर फुला देती है। इस आन्त्रवृद्धि को असाध्य कहते हैं।

आन्त्रवृद्धि के सम्बन्ध में आयुर्वेद में उपर्युक्त वर्णन मिलता है और इसकी चिकित्सा असाध्य कहकर छोड़ दी गयी है। आधुनिक चिकित्सा में आन्त्रवृद्धि को हर्निया के नाम से जाना जाता है तथा इसका विस्तार से वर्णन और शल्य चिकित्सा का ज्ञान आधुनिक चिकित्सा साहित्य में उपलब्ध है जिसका वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

आधुनिक मत से आन्त्रवृद्धि (Hernia)

परिभाषा (Defination)—शरीर की किसी गुहा की आच्छादक कला (पैरीटोनियम) के छिद्र द्वारा गुहा में स्थित किसी अंग या उसके एक भाग का गुहा से बाहर निकल जाना हर्निया कहलाता है।

सामान्यतया, आन्त्र के किसी भाग के पैरीटोनियम लेयर के किसी छिद्र से वंक्षण (Scrotum), ऊरुप्रान्त के ऊर्ध्वभाग और नाभि में आ जाने को हर्निया कहते हैं।

हर्निया के प्रकार (Types of Hernia)

वंक्षणी हर्निया (Inguinal hernia)—जब आन्त्र का कोई भाग वंक्षणी नलिका (Inguinal canal) में होकर नीचे उतरता है तो यह वंक्षणी हर्निया कहलाती है।

और्वी हर्निया (Femoral hernia)—जब आन्त्र का कोई भाग और्वी नलिका (Femoral canal) में होकर गुजरता है तो यह और्वी हर्निया कहलाती है।

नाभि हर्निया (Umblical hernia)—जब नाभि में आन्त्र का कोई भाग प्रवेश कर जाता है तो यह नाभि हर्निया या Umblical hernia कहलाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के हर्निया विशेष रूप से देखने को मिलते है, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के हर्निया पेश्यत्तर हर्निया (Interstitial), मध्यच्छदा हर्निया (Diaphragmatic), गवाक्षणी हर्निया (Obturator hernia) भी मिल सकते हैं।

१. वंक्षणी हर्निया (Inguinal Hernia)

वंक्षणी हर्निया, हर्निया के समी प्रकारों में सर्वाधिक पाया जाता है जैसा कि पहले बताया गया है कि जब हर्निया वंक्षणी नलिका में होकर गुजरती है तो यह वक्षणी हर्निया कहलाती है।

वंक्षणी हर्निया के प्रकार—इसके कई प्रकार से भेद किये जाते हैं—

(अ) प्रवेश वस्तु के अनुसार (According to the Contents)

१. एण्ट्रोसील—जब वंक्षणी नलिका में से क्षुद्रान्त्र का प्रवेश हो।

२. लिटिल हर्निया—जब वंक्षणी नलिका में मैकल डाइवर्टीकूलम का प्रवेश हो।

३. ऐपीप्लोसील—जब वंक्षणी नलिका में से ओमेण्टम का प्रवेश हो।

(आ) स्थान के अनुसार (According to the Site)

१. पूर्ण हर्निया (Compleate Hernia)—जब हर्निया वंक्षणी नलिका के बाह्यछिद्र (Superficial Inguinal ring) से बाहर निकल कर जाती है तो यह पूर्ण हर्निया कहलाती है।

२. अपूर्ण हर्निया (Incompleate Hernia)—जब हर्निया बाह्य वंक्षणी नलिका में होकर बाहर नहीं निकलती है तो यह अपूर्ण हर्निया कहलाती है।

(इ) स्थिति के अनुसार (According to the position)

१. ऋजु वंक्षण हर्निया (Direct Hernia)—जब हर्निया अन्तःवंक्षिणी छिद्र (Deep inguinal ring) में होकर नहीं गुजरती तो यह डायरेक्ट हर्निया कहलाती है।

२. अऋजु वंक्षण हर्निया (Indirect Hernia)—जब हर्निया अन्तःवंक्षिणी छिद्र में होकर गुजरती है तो यह अऋजु या इनकम्पलीट हर्निया कहलाती है।

वंक्षण नलिका की रचना—यह २ से २½ इंच लम्बी नलिका होती है जो पैरीटोनियम में अन्तर्वंक्षणी द्वार (Deep Inguinal ring) से प्रारम्भ होती है। यदि श्रोणि फलक के पूरोर्ध्व (ant. Sup. iliac Spine) से जघनास्थि कंटक (Pecten pubis) तक एक रेखा खींची जाय तो इसका मध्य विन्दु अन्तर्वंक्षणी द्वार का द्योतक माना जाता है। यहां से यह नलिका नीचे और भीतर की ओर उतरती हुई जघनास्थि कंटक तक जाती है जहां नलिका का बहिर्वंक्षिणी द्वार (Sup. Inguinal ring) स्थित होता है। स्वस्थ दशा में यह छिद्र अवकाशी ऊतकों (Areolar tissues) से भरा रहता है। इस नलिका में होकर पुरुषों में स्परमैटिक कौर्ड तथा इलियो इन्गाइनल (Ilio inguinal nerve) तथा स्त्रियों में राउण्ड लिगामैन्ट तथा इलियो इन्गाइनल नर्व गुजरती है।

लक्षण एवं चिन्ह—हर्निया सम्बन्धित किसी विशेष स्थान पर पीड़ा या लालिमा रहित उत्सेध अर्थात् उभार हर्निया के प्रमुख लक्षण तथा चिन्ह है। इस उत्सेध की यह विशेषता रहती है कि उस पर हाथ रखते हुये यदि रोगी को खांसने के लिये कहा जाय तो उत्सेध पर रखे हुए हाथ को थोड़ा धक्का सा लगता है साथ ही यदि रोगी को शान्त लिटाये रखते हुए उत्सेध को अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता है तो एक विशेष प्रकार की गड़गड़ ध्वनि के साथ वह अन्दर की ओर चला जाता है। यह लक्षण उस अवस्था में अधिक स्पष्ट होते हैं जब कोष के अवयवों में आन्त्र का कुछ भाग अवश्य हो।

रोग विनिश्चय—सामान्य दशाओं में हर्निया का निश्चय सुगमता से हो जाता है। खांसने पर उत्सेध में सरसराहट, रोगी के लेटने पर घरघराहट के साथ उत्सेध का उदर में समा जाना और खड़े होने पर उत्सेध का पुनः ऊपर से नीचे की ओर को प्रगट होना रोग के विशेष लक्षण हैं और इन लक्षणों के आधार पर रोग विनिश्चय हो जाता है किन्तु यदि कोष और नलिका की दीवालों अथवा कोष के भीतर स्थित अन्त्रियां, कोष की भित्ति से जुड़ गयी हैं तो उत्सेध उदर में प्रवेश नहीं करता है ऐसी दशा में रोग के इतिहास से सहायता ली जाती है।

रोग का सापेक्ष्य निदान—

पूर्ण वंक्षणी हर्निया का फीमोरल हर्निया से, सौत्र विद्रधि से, एन सिस्टेड हाइड्रोसील से तथा अपूर्ण वंक्षणी

हर्निया का सहज हाइड्रोसील,इनफैन्टाइल हाइड्रोसील तथा वेरिकोसील से भेद करना होता है । इससे पहले डाइरेक्ट तथा इनडाइरेक्ट हर्निया का भेद करना भी आवश्यक होता है उपर्युक्त भेद निम्न सारिणी से कर सकते हैं—

डाइरेक्ट तथा इनडाइरेक्ट हर्निया में भेद—

डाइरेक्ट हर्निया	इनडाइरेक्ट हर्निया
१—यह युवाओं में अधिक पाया जाता है ।	यह किसी भी आयु में मिल सकता है ।
२—अधिकांश में दोनों ओर (Bilateral) पाया जाता है ।	अधिकांश में एक ओर (Unilateral) पाया जाता है ।
३—अधिकतर उत्सेध छोटा होता है ।	अधिकतर उत्सेध बड़ा होता है ।
४—अधिकतर अपूर्ण होता है ।	अधिकतर पूर्ण होता है ।
५—यह पीछे की ओर दबाने से ऊपर चला जाता है ।	इसे पीछे की ओर, ऊपर की ओर तथा बाहर की ओर दबाने से ऊपर जाता है ।
६—यह ऐपीगैस्टिक आर्टरी की मीडियल साइड में मिलता है ।	यह ऐपीगैस्टिक आर्टरी की लेटरल साइड में मिलता है ।

फीमोरल हर्निया	पूर्ण वंक्षणी हर्निया
१—यह स्त्रियों में पाया जाता है ।	यह अधिकतर पुरुषों में पाया जाता है ।
२—यह इंग्वाइनल लिगामैंन्ट के नीचे पाया जाता है ।	यह इंग्वाइनल लिगामैंन्ट के ऊपर पाया जाता है ।
३—प्यूबिक ट्यूबरकल के नीचे तथा लेटरल साइड में पाया जाता है ।	प्यूबिक ट्यूबरकल के ऊपर पाया जाता है ।

एनसिस्ट हाइड्रोसील	पूर्ण वक्षणी हर्निया
१—इसमें उत्सेध में इम्पल्स की प्रतीत नहीं होती ।	इसमें इम्पल्स की प्रतीत होती है ।
२—इसमें रिड्यूसिबिलिटी नहीं मिलती ।	इसमें रिड्यूसिबिलिटी मिलती है ।
३—ट्रान्स ल्यूमिनेसन टैस्ट पोजीटिव मिलता है ।	इसमें यह चिन्ह नहीं मिलता है ।

कानजैनाइटल हाइड्रोसील	अपूर्ण वंक्षणी हर्निया
१—ट्रान्सल्यूमिनेशन टैस्ट पोजिटिव मिलता है ।	नहीं मिलता ।
२—लेटने पर उत्सेध बहुत धीमे समाप्त होता है ।	यह लक्षण नहीं मिलता ।

वंक्षणीय हर्निया तथा उनकी चिकित्सा

वंक्षणीय हर्निया एक ऐसा रोग है जिसमें यदि उपद्रव न हों तो रोगी बिना किसी आपत्ति के जीवन भर उसको सहन कर सकता है, परन्तु कभी-कभी कुछ उपद्रव होकर जीवन को संकट में डाल सकते है । इसलिए इन उपद्रवों की जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है । हर्निया के उपद्रव निम्न हो सकते हैं—

१. शोथयुक्त हर्निया (Inflamed Hernia)—

इस प्रकार की स्थिति किसी तरह चोट लगने या आंतों को अन्दर प्रविष्ट करते अर्थात् पुनः स्थापना करते समय आंतों को किसी प्रकार की क्षति पहुँच जाने से उत्पन्न होती है । हर्निया का स्थान तना हुआ लाल वर्ण का तथा ऊष्ण होता है और साथ ही दबाने से वहां पीड़ा होती है । ज्वर, जी मिचलाना, वमन आदि लक्षण साथ में रहते हैं ।

२. अकर्षणीय हर्निया (Irreducible Hernia)—

उस स्थिति में जब हर्निया के अवयवों को अन्दर प्रविष्ट न किया जाय तो यह स्थिति हर्निया की अपुनःस्थाप्यता कहलाती है। कोष एवं कोष के अवयवों की पारस्परिक संशक्ति इसका प्रधान कारण है। क्योंकि कोष के अवयवों के चिपक जाने के कारण एक बड़ा सा समूह बन जाता है, जिसे अन्दर प्रविष्ट नहीं किया जासकता। इस प्रकार की स्थिति पुराने हर्निया के रोगों में ही मिलती है। यदि किसी अन्य विशेष कारणों से निषेध न हो तो शस्त्रकर्म इसकी प्रधान चिकित्सा है।

३. अवरुद्ध हर्निया (Obstructed Hernia)—

यह वह स्थिति है जब हर्निया के कोष में आन्त्र का अवरोध हो जाता है। इस अवस्था में आन्त्र के मलादि का अवरोध होता है। रक्त संचालन में कोई बाधा नहीं आती, इस अवस्था में साधारण पीड़ा का अनुभव होता और रोगी को वमन, उदरशूल आदि लक्षण मिलते हैं।

इस अवस्था में रोगी को चारपाई पर लिटाकर साबुन के पानी का ऐनीमा देकर आन्त्र को मल से रहित किया जाता है। मल के पतले होने पर कर्षण तथा ऊष्ण स्वेद की सहायता से उत्सेध को उदर में लौटने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार अवरुद्ध हर्निया के ठीक न होने पर शल्यकर्म किया जाता है।

४. विपासित हर्निया (Strangulated Hernia)—

परिभाषा—जब हर्निया कोष की ग्रीवा (Neck of Hernia Sac) किसी कारण एकदम संकुचित हो जाती है और उसमें आन्त्र का अवरोध होकर उसके रक्त संचार में भी बाधा पड़ने लगती है तो यह अवस्था विपाशित हर्निया कहलाती है। यह अवस्था अत्यन्त भयंकर होती है और रक्त संचार के अभाव मे आन्त्र में क्रोथ की उत्पत्ति होती है तथा भयंकर वेदना की उत्पत्ति होती है। इसीलिये हर्निया का यह सर्वाधिक कष्टप्रद उपद्रव माना जाता है।

कारण—१. कोष के किसी भाग के संकुचित हो जाने से।

२. किसी बाह्य दबाव के कारण आन्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य अवयव का कोष में प्रवेश कर जाने से।

३. कोष के बाहर किसी अवयव का कोष पर दबाव पड़ने से।

लक्षण तथा चिह्न

(अ) सामान्य लक्षण—१. वेदना—यह हर्निया के क्षेत्र तथा उदर में होती है।

२. वमन—अधिकांश रोगियों को वमन मिलती है।

३. मलावरोध—अधिकांश रोगियों में मलावरोध के लक्षण मिलते हैं।

(आ) स्थानिक लक्षण—१. हर्नियाकोष बढ़ा हुआ प्रतीत होता है।

२. हर्निया कोष में स्पर्शासह्यता मिलती है।

३. हर्निया की गतिशीलता समाप्त हो जाती है।

४. खांसने पर इम्पल्स प्रतीत नहीं होती।

चिकित्सा

विपाशिता हर्निया की चिकित्सा प्रधान रूप से शल्य चिकित्सा ही मानी जाती है, परन्तु शल्य-चिकित्सा करने से पूर्व औषधि चिकित्सा तथा अनुचालन (Taxis) चिकित्सा भी की जानी चाहिये। इनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

१. औषधि चिकित्सा—रोगी को इण्ट्रावीनस ड्रिप का प्रयोग प्रारम्भ करना चाहिये तथा गैस्टिक सक्सन का प्रयोग करना चाहिये जिससे रोगी को ऑपरेशन के योग्य रखा जा सके। लेकिन यहां स्मरणीय है कि औषधि चिकित्सा में अधिक समय का अपव्यय नहीं करना चाहिये।

२. अनुचालन चिकित्सा (Taxis Treatment)—यह अनुपाशित हर्निया की विशेष चिकित्सा मानी जाती है। इसकी विधि निम्न होती है—

१. रोगी को मेज पर उसका सिर थोड़ा ऊपर की ओर उठाकर लिटा दिया जाता है।

२. रोगी को वेदना अधिक न हो, इसके लिये १/४ ग्राम मार्फीन का इन्जैक्शन दिया जाता है।

३. रोगी की टांगों को थोड़ा अन्दर की ओर रखा जाता है जिससे बाह्य वंक्षणीय द्वार खुला रहता है।

४. अब चिकित्सक बांये हाथ से उत्सेक की ग्रीवा को पकड़कर थोड़ा ऊपर को हटाये रखते हुये दांये हाथ से उत्सेध को साध कर धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता से अन्दर

की ओर दवाये रखते हैं ताकि आन्त्र भीतर की ओर लौटने लगे। इसमें यह विशेष ध्यान रखा जाता है कि सम्पूर्ण समूह को अन्दर नहीं ढकेला जाता वरन् जो भाग सबसे बाद में निकला है, उसे सबसे पहले प्रविष्ट किया जाता है तथा उसके बाद शेष भाग भी धीरे-धीरे अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। आंतों के अन्दर की ओर प्रविष्ट होने पर गड़गड़ाहट की ध्वनि होती है जिससे आन्त्र के अन्दर प्रवेश का अनुमान लगाया जा सकता है।

कभी-कभी अनुचालन विधि से लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है। यह हानि निम्नांकित है—

१. हर्नियाकोष फट सकता है।

२. कोष के अवयव फट सकते हैं।

३. आन्त्र के स्थान पर आन्त्रयुक्त कोष ही अन्दर जा सकता है।

अतः यह कर्म बहुत सावधानी से तथा अनुभवी शल्य चिकित्सक से ही कराना चाहिये।

३. शल्य चिकित्सा (Operative treatment)— जब उपर्युक्त उपायों से विपाशित हर्निया दूर न हो तो शस्त्रकर्म के द्वारा विपाश (Strangulation) को दूर किया जाता है। यदि १ घंटे तक कर्षण चिकित्सा करने पर भी सफलता न मिले तो शल्यकर्म की तैयारी करनी चाहिये। शस्त्रकर्म का प्रथम प्रयोजन विपाश को दूर करना है जिसके कारण आन्त्र तथा आन्त्रकला का रक्त-संचार रुका हुआ रहता है। दूसरा आन्त्र को उदर में लौटाकर कोष को उसकी ग्रीवा के मुख पर बन्धन लगाने के पश्चात् काटकर निकाल देना है और तीसरा कार्य उस नलिका को ही निकालकर जिसमें हर्निया निकलकर कोष में आती है, समाप्त करना है। इन ऑपरेशनों का वर्णन साधारण हर्निया के शल्यकर्म में आगे दिया जायगा।

साधारण हर्निया की चिकित्सा

हर्निया के उपद्रवों तथा उनकी चिकित्सा के बाद नीचे अनौपद्रविक हर्निया की चिकित्सा का वर्णन दिया जा रहा है—

साधारण हर्निया की चिकित्सा २ प्रकार की जाती है—

१. शामक चिकित्सा या ट्रस ट्रीटमैण्ट

२. शल्य चिकित्सा

१. शामक चिकित्सा या ट्रस ट्रीटमैण्ट—यह चिकित्सा एक प्रकार की पेटी जो बाजार में "आन्त्र की पेटी" के नाम से मिलती है, से की जाती है। यह कमर में पहनने पर अपने दबाव के कारण हर्नियाकोष का मुख बन्द रखती है जिससे उसमें आन्त्र का प्रवेश नहीं हो पाता। यह विभिन्न प्रकार की तथा विभिन्न नाप की बाजार में उपलब्ध होती हैं। नीचे कुछ के चित्र दिये जा रहे हैं।
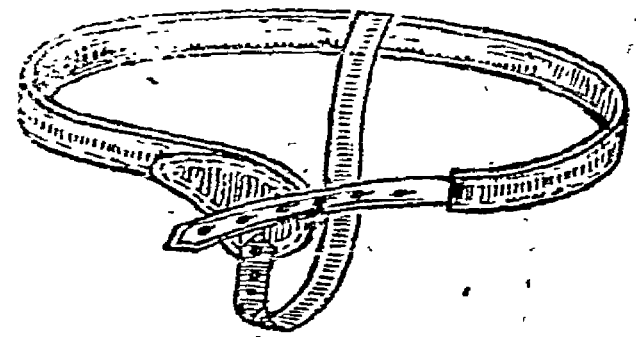
दायीं ओर की आंत्रवृद्धि में लगाने वाली पेटी
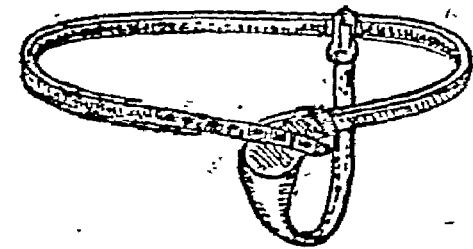
बायीं ओर की आंत्रवृद्धि में लगाने वाली पेटी
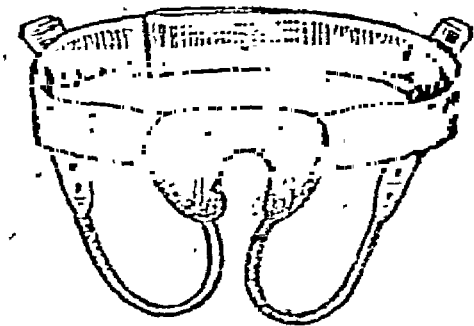
दोनों ओर की आंत्रवृद्धि पर लगने वाली पेटी

पेटी को लगाने की विधि—

रोगी के कपड़े उतारकर चित्त लिटा लिया जाता है अब रोगी को हर्निया को अंगुली की सहायता से उदर में चढ़ाकर तत्काल पेटी का पैड उस स्थल पर लगाकर पेटी पहनादी जाती है। अब रोगी को स्टूल के किनारे पर टांगें पूरी तरह फैलाकर बिठाते हैं और खांसने के लिये

कहते हैं यदि खांसने पर हर्निया पुनः उत्पन्न न हो तो उसे सही रूप से लगी हुई समझना चाहिये।

सावधानियां—इसका प्रयोग करने वाले रोगी को चिकित्सक निम्न सावधानियों से अवश्य अवगत करादे—

(१) पेटी को लेटकर ही पहनना चाहिये।

(२) रात को सोते समय यदि रोगी चाहे तो पेटी को उतार दे लेकिन प्रातः चारपाई से उठने से पूर्व ही उसे पुनः पहन लेना चाहिये। यदि रोगी खांसी से पीड़ित है तो उसे उसको पहने हुये ही सोना चाहिये।

(३) प्रायः वह त्वचा जहां पर पेटी का पैड रहता है वहां पर अस्वच्छता के कारण खुजली आदि हो सकती है अतः वहां की त्वचा पर प्रति दिन एल्कोहल से स्वच्छ कर वहां बोरिक पाउडर बुरक देना चाहिये।

हर्निया की शल्य चिकित्सा—

हर्निया की शल्य चिकित्सा तीन प्रकार से की जाती है—

(१) हर्नियोटोमी आप्रेशन (*Herniotomy operation*)—इसमें केवल कोष को निकाल दिया जाता है। वंक्षणी नलिका पर कोई शल्यकर्म नहीं किया जाता। यह बच्चों में किया जाता है क्योंकि उनमें पेशी शैथिल्य (*Muscular weakness*) नहीं मिलती।

(२) हर्नियोरेफी (*Hernioraphy*)—इसमें कोष को निकाला जाता है तथा वंक्षण नलिका को पोस्टीरियरवाल की रिपेयर की जाती है। यह शल्यकर्म अल्पपेशी शिथिलता (*Slight muscular weakness*) की अवस्था में किया जाता है। यह शल्यकर्म ही विशेष रूप से आजकल प्रचिलित है।

(३) हर्नियोप्लास्टी (*Hernioplasty*)—इसमें भी कोष को निकालकर वंक्षण नलिका की पोस्टीरियर वाल की रिपेयर की जाती है परन्तु इसमें यह कार्य एक जाल (*Mesh*) बनाकर किया जाता है तथा इसमें सिलवर के तारों का प्रयोग किया जाता है।

इन सभी शल्यकर्मों में हर्नियोरेफी का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है जिसका सविस्तार वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

हर्नियोरेफी का आप्रेशन (*Operation of Hernioraphy*)—

पूर्व कर्म—रोगी को एक ऊंचे और लम्बे सुविधा युक्त आप्रेशन टेबल पर पृष्ठ के बल लिटाकर उसके वंक्षण प्रदेश तथा अण्डकोष को त्वचा के बालों को रेजर की सहायता से साफ करके स्थान को स्वच्छ कर लिया जाता है इसके पश्चात् वहां की सम्पूर्ण त्वचा को जीवाणु नाशक विलयन से धोकर विसंक्रमित तौलिये से पोंछकर सुखा लेते हैं। अब आप्रेशन के सभी उपकरणों को एकत्रित करके रखते हैं यह उपकरण निम्न होते हैं—

प्रयोग में आने वाले उपकरण—

(१) हर्निया चाकू।
(२) हर्निया का पतला वक्र चाकू।
(३) कोचर का सेंक संदश।
(४) नीडिल बांया या दांया।
(५) वंक्षण छिद्र संदश।
(६) रिक्टैक्टर्स (४)।
(७) हर्निया डाइरेक्टर कीज (१)।
(८) धमनी संदश (८)।
(९) कैंची (२)।

उपकरणों के एकत्रीकरण के पश्चात् सर्जन तथा सहायक अपने हाथों को विसंक्रमित कर विसंक्रमित रबर के दस्ताने पहन कर शल्यकर्म प्रारम्भ करता है।

प्रमुख कर्म—रोगी को संवेदना रहित सर्वप्रथम किया जाता है। उसके पश्चात् इस प्रकार प्रमुख शल्यकर्म किया जाता है—

(१) चीरा (*Incision*)—चीरा लगभग ४ इन्च के लगभग लगाया जाता है जो वंक्षण बन्धनी (*Inguinal ligament*) के समानान्तर उसके मध्य के आधा इन्च ऊपर से भग सन्धानिका (*Pübic Symphysis*) तक लगाया जाता है। चीरा को गम्भीर रूप से लगाते हुये धमनी तथा शिराओं को बचाते है और उनको फार्सेप्स की सहायता से रेशम के धागे से बांधकर पृथक् करते रहते हैं। इस प्रकार अन्तवंक्षणी छिद्र (*Deep Inguinal ring*) से वहिर्वंक्षिणी छिद्र (*Superficial Inguinal ring*) तक का प्रदेश खोला जाता है।

(२) छेदन द्वारा चर्म एवं प्रावरणी को अलग कर देने के पश्चात् एक्सटरनल औवलीक पेशी की कण्डरा के रेशे दिखाई देते हैं। जब विसंक्रमित वस्त्र के द्वारा इन चमकदार रेशों को इस प्रकार स्वच्छ करते हैं कि वंक्षण नलिका का वहिर्वक्षण छिद्र तथा स्परमैटिक कार्ड स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ने लगती है।

(३) तव सहायक कटे हुए ओठों (H*aps*) को दो रिटैक्टर्स की सहायता से खींचकर फैलाये रखते हैं और वंक्षण सुरंगा के उभार के ऊपरी कोण पर पतले वक्र चाकू (*Hernia Bistoury Curved*) की सहायता से एक छोटा चीरा लगाते हैं। इसके वाद .इस चीरा में वन्द कैंची डालकर यहां से वाह्य वंक्षण छिद्र तक उदरच्छदा के स्तर को उठाकर इस प्रकार अलग कर लेते हैं जिससे इलियो इंग्वाइनल नर्व उससे छूटकर अलग हो जाय जव कैंची को निकालकर उसके ब्लेड्स के वीच उदरच्छदा के स्तर को फंसाकर भीतर की ओर धक्का देते हुये काट देते हैं तव एक्सटरनल औवलीक के कटे हुये दोनों स्तरों को फार्सेप्स से पकड़कर उठा देते हैं।

(४) अव वृपण रज्जु (Cord) को फार्सेप्स से पकड़ कर उठा देते हैं तथा संदश (Forcep) के वन्द मुख से वृषण उत्कर्पिका के रेशों को वृपण रज्जु की लम्बाई में फाड़ देते हैं। इसके वाद रज्जु के चारों तरफ विसंक्रमित वस्त्र से पोंछकर साफ करते हैं तो शुक्र वाहिका सवसे नीचे तथा वंक्षण वन्वनी के समीप उपरिवर्ती और भगास्थि धमनी एवं शिरा दिखलाई पड़ती हैं जिन्हें एरियोलर टिसू को काटकर पृथक् कर देते हैं।

(५) अव कोप को संदंश से उठाकर तथा काटकर एरियोलर टिसू से अलग कर लेते हैं तथा चाकू या कैंची की सहायता से हर्निया की थैली को जड़ तक साफ कर लेते हैं।

(६) हर्निया की थैली के जड़ तक पहुँचने पर डीप ऐपीगैस्टिक आर्टरी तथा वीन दिखाई पड़ती है। इन्हें छुड़ाकर अलग सुरक्षित रखते हैं।

(७) अव यदि थैली में आन्त्र दीख पड़ती है तो अंगुली से दवाव डालकर थैली की जड़ के नीचे कर देते हैं। ऐसा करने से भी यदि आन्त्र थैली में लौट आती है अथवा भीतर जाती ही नहीं है तो इसका मतलब है कि आन्त्र हर्निया की थैली से अवश्य चिपकी हुयी है अतः इस कठिनाई को दूर करने के लिये हर्निया की थैली को काटकर चिपके हुये भाग को काटते हैं। अब हर्निया कोष को तीन फारसैपों से पकड़कर ऊपर की ओर खींचते हैं और डीप ऐपीगैस्टिक आर्टरी के १/२ सैन्टीमीटर ऊपर वक्र सुई से थैली की जड़ के ठीक मध्य को वेधकर ०० नं० रेशम के धागे से दो वार घुमा घुमाकर अच्छी तरह वांध देते हैं तथा थैली के अवशेष ऊपरी भाग को काटकर फेंक देते हैं तथा फटे ओष्ठों को दो, चार टांकों से दुवारा वन्द कर देते हैं।

यदि थैली की जड़ अधिक चौड़ी है तो दूसरी विधि द्वारा ऑपरेशन कार्य करते हैं। हर्निया वाली थैली को भीतर से बटुआ जैसी गांठ वांध देते हैं जिससे उसका मुंह वन्द हो जाता है किन्तु यदि हर्निया की थैली अत्यन्त महीन और पतली झिल्ली की वनी हुयी रहती है तो उसे रस्सी की भांति वांटते हुये ऐंठ लेते हैं तथा इसकी जड़ को सुई धागे के टांके से वेधकर २ वार भली प्रकार वांध देते हैं। इसके वाद औदरिकी से निकलने वाली वृपण धमनी एवं शिराओं को वचाते हुए ट्रान्सवरसेलिस, फेसिया को कैटगेट से सी देते हैं। छोटे वालकों और युवाओं में इतना सींवन कर्म पर्याप्त होता है। दुर्वल तथा स्थूलकाय रोगी में ऑपरेशन के वाद डवल ब्रेस्ट प्रकार का सींवन करते हैं। ट्रान्सवरसेलिस की सिलाई करने के वाद क्रीमेस्टर को कौर्ड पर लपेट कर २-३ टांके डालकर वांध देते हैं तथा अव वाह्य छिद्र को वनाते हुए ऐक्सटर्नल आवलीक के स्तरों की सिलाई कर देते हैं। इसके वाद अण्डकोष की त्वचा के दोनों कटे ओष्ठों को परस्पर मिलाते हुए खूव अच्छी प्रकार सींवन कर देते हैं।

सींवन हो जाने के वाद सींवन स्थान पर उत्तम जीवाणुनाशक मलहम डालकर उपर्युक्त साइज की पट्टी से ड्रेसिंग करते हैं। सभी रोगियों के टांके सातवें दिन तथा नवयुवक और वालकों के टांके छठे दिन काटकर हटाते हैं, इसके पहले ऑपरेशन करने के वाद प्रारम्भ में प्रोकेन पैन्सिलिन आदि उपर्युक्त एण्टीवायोटिक्स का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार यह शल्यकर्म पूर्ण होता है।

और्वी हर्निया (Femoral Hernia)—

परिभाषा—जब हर्निया फीमोरल कैनाल में होकर गुजरता है तो वह और्वी हर्निया कहलाता है।

इस नलिका के तीन भाग होते हैं, सबसे बाहिरी भाग में और्वी धमनी और बीच के भाग में और्वी शिरा रहती हैं। तीसरे भाग में जो भीतर की ओर स्थित है केवल कुछ वसा अथवा एक या दो लसीका ग्रन्थियां रहती हैं। इस नलिका की लम्बाई सामने की ओर ¾ इंच और पीछे की ओर १½ इंच के लगभग है, जब हर्निया उसमें उतरती है तो वह नलिका के इसी भाग में होती हुई जाती है।

लक्षण—इस प्रकार की हर्निया स्त्रियों में अधिक पायी जाती है। यह हर्निया धीरे-धीरे उत्पन्न होती है इसमें प्रायः कोई कष्ट नहीं होता इस प्रकार स्थूलकाय स्त्रियों में यह दशा, बिना किसी प्रकार का कष्ट उत्पन्न किये कई वर्षों तक बनी रहती है, जिससे रोग की ओर ध्यान भी नहीं जाता।

लक्षण तथा परीक्षा (Symptoms and Diagnosis)—

१—अण्डाकार या गोल सूजन इंग्वाइनल रीजन में मिलती है।

२—वह स्त्रियों में अधिक तथा सीधी ओर मिलती है।

३—सूजन प्यूबिकट्यूबरकल के लेटरलसाइड में तथा इंग्वाइनल लिगामेन्ट के नीचे मिलती है।

४—इम्पल्स तथा कफिंग मिलता है।

सापेक्ष्य निदान—इसका सापेक्ष्य निदान निम्न प्रकार से करते हैं—

१—इंग्वाइनल हर्निया

२—सॉस ऐब्सिस

३—लिम्फोग्लैण्डयूलर स्वैलिंग

चिकित्सा—इसकी शल्य चिकित्सा की जाती है, जिसे हर्नियोटोमी कहते हैं। इसमें हर्नियल सैक को काटकर निकाल दिया जाता है तथा इंग्वाइनल कैनाल की रिपेयर कर दी जाती है।

नाभि की हर्निया (Umblical Hernia)

प्रकार—नाभि हर्निया के कई प्रकार होते हैं जिन का वर्णन इस प्रकार है—

१. सहज नाभि हर्निया (Congenital Umblical Hernia)—जन्म के समय उदर-भित्तियों के पूर्णतया वन्द न होने से नाल के भीतर आन्त्र का कुछ भाग उपस्थित मिलता है, इसे सहज नाभि हर्निया कहते हैं।

२. शिशुओं का नाभि हर्निया (Infantile Umblical Hernia)—यह हर्निया जन्म के कुछ सप्ताह अथवा मास के पश्चात् उत्पन्न होती है। नाभि के छिद्र के दुर्बल होने से उसको क्षत करके हर्निया का कोष बाहर निकल आता है और उत्सेध की तरह दिखाई देता है जो दाबने पर उदर में समा जाता है, इसे शिशुओं का नाभि हर्निया कहते हैं।

(३) युवावस्थाजन्य नाभि हर्निया (Acquired Umblical Hernia)—इस प्रकार का हर्निया ३० या ३५ वर्ष के पश्चात् उन स्त्रियों में अधिक पाया जाता है जो स्थूल काय होती हैं। इसका कारण आन्त्र कला में वसा के एकत्र होने से उदर के भीतर की दाब का बढ़ जाना माना जाता है।

चिकित्सा

चिपकने वाले प्लास्टर का प्रयोग—बच्चों की नाभि हर्निया में इस के स्थान पर चिपकने वाली प्लास्टर की ३/५ इंच चौड़ी तथा ६–७ इंच लम्बी दो पट्टियां ली जाती हैं जैसा नीचे चित्र में दिखाया गया है।
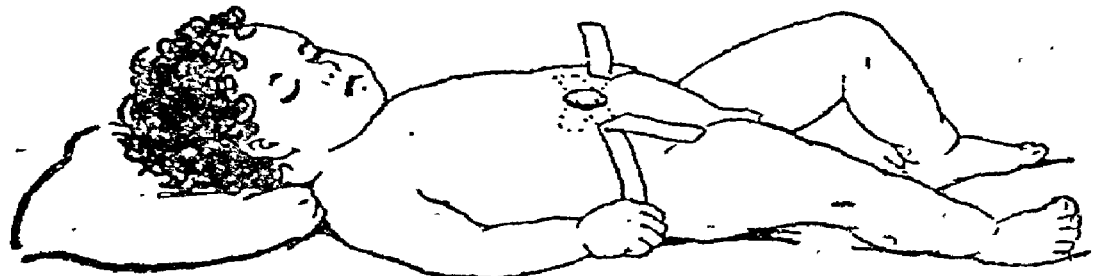
उदर पर इन पट्टियों को २ स्थानों पर चिपका दिया जाता है। नाभि प्रदेश में हर्निया के अवयवों को भीतर की ओर प्रविष्ट कर देने के पश्चात् उस स्थान पर समोदरिका पेशियों को इस प्रकार खींच कर एक दूसरे के साथ मिला दिया जाता है कि एक का किनारा दूसरे के ऊपर

कुछ चढ़ जाय। इसके बाद चिपलने वाले प्लास्टर की पट्टियों को नाभि पर एक दूसरे को ले जाते हुए दूसरी ओर चिपका दिया जाता है। कभी-कभी नाभि के छिद्र के ऊपर लिण्ट की एक गद्दी में एक पैसा या कोई गोलाकार पदार्थ रख दिया जाता है जिससे छिद्र उससे वन्द रहे। चिपकने वाली प्लास्टर की पट्टी इसके ऊपर होकर ले जाई जाती है।

नाभि की हर्निया में शल्यकर्म

बच्चों में—एक वक्र चीरा नाभि के ऊपर या नीचे दिया जाता है। इस चीरे को गहरा किया जाता है और हर्निया कोष की गर्दन (neck) खोज ली जाती है गर्दन के पास कोष को सी दिया जाता है तथा कोष के डिस्टल-पार्ट (Distal part) को काट दिया जाता है। इसके पश्चात् रैक्टस सीथ की सहायता से रिपेयर कर दी जाती है।

युवाओं में—युवाओं में यह शल्यकर्म मेयोस ऑपरेशन (Mayo, s operation) के नाम से जाना जाता है। इसमें हर्निया स्वैलि के चारों ओर एक ट्रान्सवर्स इन्सीजन लगाया जाता है। इन्सीजन का अन्तिम शिरा लेटरल साइड में बढ़ा दिया जाता है अब इन्सीजन को त्वचा तथा सवक्यूटेनियस टिसू को काटते हुए गहरा करते हैं और हर्निया-कोष की गर्दन को खोज लिया जाता है। अब रेक्टस सीथ तथा लाइनर एल्वा के मध्य के गैप को बढ़ा दिया जाता है। तब कोष को गर्दन के पास खोला जाता है और उसके अन्दर के अवयव जो उससे चिपके रहते हैं छुड़ाकर वाहर निकाल लिया जाता है इसके पश्चात् कोष को वटुये की डोरी की तरह सींकर वन्द कर दिया जाता है।
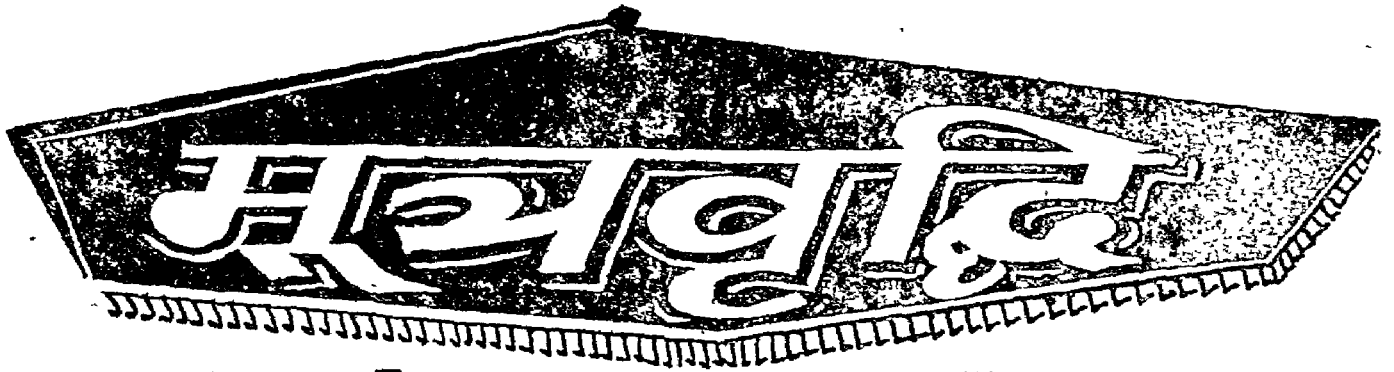
मूत्रवृद्धि

[HYDROCELE]

श्री खचेरमल वैद्य शास्त्री, श्याम औषधालय, मामूभांजा रोड, अलीगढ़

आयुर्वेद में वृद्धि प्रकरण में मूत्रवृद्धि का भी वर्णन आता है जिसके सम्बन्ध में सुश्रुत ने निम्न वाक्य कहे हैं—

मूत्रं संधारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति, सा गच्छतोऽम्बु पूर्णा दृतिरिवक्षुभ्यति मूत्रकृच्छ्रवेदनां वृषणयोः श्वयथुं कोशयोश्चा पादयति, तां मूत्रवृद्धि विद्यात् ।

अर्थात् मूत्र के वेग को रोकने से मूत्रवृद्धि रोग होता है। वह चलते हुए मनुष्य के जलपूर्ण मशक के समान क्षुभित होती है या डप-डप या थल-थल शब्द करती है उसे मूत्रवृद्धि समझना चाहिये ।

आयुर्वेद में मूत्रवृद्धि के लक्षणों के सम्बन्ध में इतना ही वर्णन प्राप्त होता है ।

सुश्रुत में मूत्रवृद्धि की चिकित्सा—मूत्रवृद्धि कोष का स्वेदन करने के पश्चात् कपड़े की पट्टी लपेटकर सेवनी के पार्श्व में नीचे की ओर व्रीहिमुखशस्त्र के द्वारा वेधन किया जाता है। वेधन के बाद दो मुख वाली नली लगाकर मूत्र निकाल दिया जाता है तथा नलिका निकालकर स्थगिका बन्धन बांध दिया जाता है। व्रण के शुद्ध होने पर रोपण द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। यदि वृद्धिअन्त्र के कारण हो तो शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिये ।

आयुर्वेद में मूत्रवृद्धि की चिकित्सा का उपर्युक्त वर्णन सुश्रुत संहिता में प्राप्त होता है जो आजकल हाइड्रोसील में तरल को निकालने के लिए टेपिंग (Tapping) नाम से किया जाता है। इसका वर्णन करने से पहले आधुनिक चिकित्सा साहित्य में मूत्रवृद्धि या हाइड्रोसील के सम्बन्ध में जो ज्ञान दिया गया है वह जानना भी आवश्यक है ।

हाइड्रोसील (Hydrocele)

परिभाषा—वृषण या अण्डकोष में तरल के एकत्रित हो जाने को हाइड्रोसील कहते हैं ।

वृषण या अण्डकोष में तरल कहां एकत्रित होता है। यह जानने के लिए उसकी रचना जानना आवश्यक है। वृषण के भीतर अण्डग्रन्थि पर कई आवरण चढ़े रहते हैं, सबसे भीतर का आवरण ट्यूनिका वैजिनेलिस (Tunica Vaginalis) कहलाता है। इसका एक स्तर अण्डकोष ग्रन्थि पर चढ़ा रहता है तथा अण्डग्रन्थि को आवेष्ठित करने के पश्चात् यही स्तर बाहर वृषण पर की त्वचा की ओर चला जाता है जहां वह अन्य आवरणों के पीछे स्थित होकर सारी त्वचा तथा अन्य आवरणों को भीतर से आच्छादित कर देता है। इस प्रकार इस आच्छादन का एक कोष या थैला सा बन जाता है जिसमें तरल एकत्र होता है ।

तरल की विशेषता (Character of fluid)

प्रायः ट्यूनिका वैजिनेलिस में एकत्रित तरल सीरम होता है जिसका वर्ण स्ट्रॉ होता है। इसकी स्पेसिफिक ग्रेविटी १०२५ से १०३० तक होती है। यह जमता नहीं है तथा इसमें एल्बूमिन ५% के लगभग पायी जाती है।

हाइड्रोसील के प्रकार
(Classification of Hydrocele)

१. जन्मजात जलवृषण (Congenital)—इसमें तरल का संचय वृषण रज्जु एवं वृषणों के आवेष्ठन के नीचे होता है किन्तु इसके साथ ही छोटे छिद्र द्वारा यह उदर गुहा से भी सम्बन्धित रहता है। हर्निया की तरह खांसने पर इसमें थोड़ा स्पन्दन होकर जल उदर में समा जाता है।

२. शैशवीय जलवृषण (Infantile Hydrocele)—इसमें पर्युदर्या का वृषण रज्जु एवं वृषणों को अविष्ठित करने वाला भाग उदर की ओर वन्द होता है तथा वृषणकोषों एवं वंक्षण नलिका में भरा रहता है।

३. आवेष्ठित जलवृषण (Encysted Hydrocele)—इसमें तरल का संचय वृषण को आवेष्ठित करने वाली कला के नीचे एक विशेष स्थान पर होता है जो एक उत्सेध के रूप में दिखाई देता है।

४. द्विकोषीय जलवृषण (Bilocular Hydrocele)—शैशवीय जलवृषण की तरह ही होता है परन्तु इसमें यह विशेषता रहती है कि प्रधान कोष के अलावा एक और कोष होता है।

५. आवेष्ठन जलवृषण (Vaginal Hydrocele) वास्तव में जलवृषण शब्द से यही अवस्था समझी जाती है। इस अवस्था में ट्यूनिका वैजाइनेलिस में तरल का संचय किसी अज्ञात कारण से होता है।

रोग के कारण (Aetiology)—जलवृषण की दो अवस्थायें मिलती हैं—

१—तीव्र अवस्था (Acute)
२—चिरकालीन (Chronic)

१—तीव्र अवस्था में रोग का कारण चोटजन्य वृषण शोथ (Traumatic orchitis) हो सकता है जिसमें वी० कोलाई, स्टैप्टोकोकस आदि का संक्रमण से कारण बनता है।

२—चिरकालीन अवस्था में अज्ञात कारणवश यह देखने को मिलता है, परन्तु टी० वी० ऐपीडिडेमिस के शोथ आदि की अवस्था में भी देखने को मिल सकता है।

रोग के लक्षण (Symptoms)

रोगी को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती किन्तु द्रव के एकत्रित होते रहने से वृषण का आकार बहुत बढ़ जाता है और इस बढ़े हुए आकार के कारण ही रोगी को कष्ट तथा असुविधा होती है। शिश्न के उत्सेध में दब जाने के कारण मूत्र त्याग में भी कठिनाई पड़ने लगती है।

चिह्न (Signs)

इसमें अण्डकोष का आकार नाशपाती के समान (Pyriform) हो जाता है। चर्म की सिकुड़नें जाती रहती हैं। कोष के ऊपर की ओर वृषण रज्जु का अनुभव किया जा सकता है। इसके परीक्षण के लिए प्रकाश परीक्षा भी की जाती है।

जलवृषण के लिए प्रकाश परीक्षा

यदि किसी अंधेरे स्थान पर रोगी को लेजाकर कोष के एक ओर टार्च लगाकर दूसरी ओर देखा जाय तो उधर भी प्रकाश प्रतीत होता है तथा कोष के अन्दर की वस्तु चमकीली लाल प्रतीत होती है। इसे जलवृषण की प्रकाश परीक्षा या Transillumination Test कहते हैं।

सापेक्ष्य निदान—निश्चित निदान के लिए हर्निया, वंक्षणी विद्रधि (Psoas abscess) आदि से सापेक्ष्य निदान किया जाना आवश्यक है। (इनसे सापेक्ष्य निदान हर्निया प्रकरण में किया गया है) प्रकाश परीक्षा, खांसने पर स्पन्दन की प्रतीति, उत्सेध का उदर में समा आना आदि हर्निया से इसे पृथक् करते हैं। वंक्षणी विद्रधि में उत्सेध केवल ऊपर की ओर पाया जाता है।

जलवृषण या हाइड्रोसील का अण्डकोषीय शिरातिवृद्धि (Varicocele) से सापेक्ष्य करना भी आवश्यक होता है। अण्डकोषीय शिरातिवृद्धि में अण्डकोष के ऊपर चोट के चिह्न अवश्य देखने को मिलते हैं तथा अण्डकोष स्पर्श में कठोर तथा अपारदर्शक होते हैं।

जलवृषण के उपद्रव
(Complication of Hydrocele)

जलवृषण के उपद्रवों का विशेष महत्व होता है। यह उपद्रव निम्न है—

१—वृषण रक्तता (Haematocele)
२—वृषण शुष्कता (Atrophy of testis)

३—नपुंसकता (Impotency)
४—प्रस्तरीभवन (Calcification)

जलवृषण की चिकित्सा

आधुनिक दृष्टि से जलवृषण की चिकित्सा तीन प्रकार से की जाती है—

१—प्राथमिक चिकित्सा या तरल निर्हरण चिकित्सा
२—सूचीवेध चिकित्सा
३—शल्यकर्म चिकित्सा

१. प्राथमिक चिकित्सा (Pallative Treatment) इसे जलनिर्हरण चिकित्सा (Tapping) भी कहा जा सकता है। यह पूर्ण चिकित्सा नहीं है। इसमें रोगी को समग-समय पर सुविधा पहुँचा देने के उद्देश्य से संचित तरल को निकाल दिया जाता है, परन्तु कुछ समय पश्चात् तरल पुनः संचित हो जाता है। इस कर्म की विधि प्रत्येक चिकित्सक के लिए जानना आवश्यक है।

विधि—सर्वप्रथम अण्डकोप की त्वचा को पूर्ण विसंक्रमित कर लेते हैं। अब कोष को शिश्नमूल पर पकड़कर अण्डकोष की त्वचा को पूरी तरह से तान लेते हैं (जैसा नीचे के चित्र में दिखाया गया है)। अब ऐसे स्थान पर जहां कोई बाल न हो तथा कोई रक्तवाहिनी
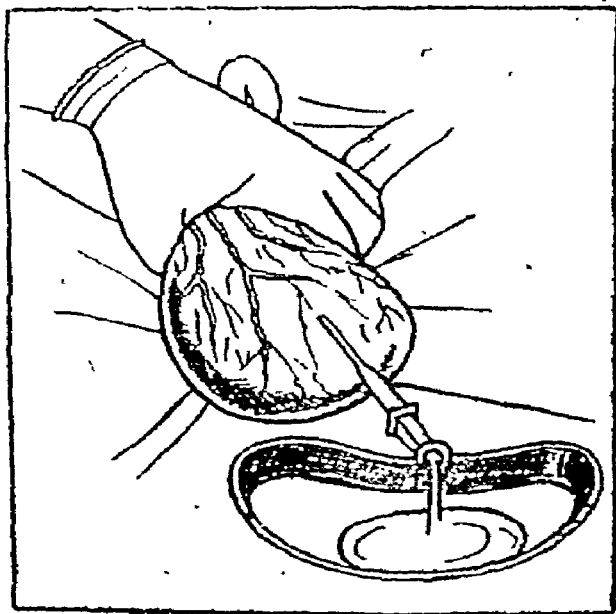
दिखाई न दे रही हो १ प्रतिशत प्रोकेन के घोल से सब-कुटेनियस सूचीवेध देकर स्थानीय संज्ञाहरण कर लेते हैं। अब ट्रोकार एवं कैन्यूला के इस स्थान पर तीव्रता से लेकिन सावधानी से प्रवेश करते हैं तथा ट्रोकार को खींच लेते है, इससे नलिका से तरल निकलने लगता हैं। तरल को स्वतः निकलने दिया जाता है। अण्डकोष से जल निकलना जब बन्द हो जाय तो अण्डकोष को नार-मल सैलाइन सौल्यूशन से धो दिया जाता है। कैन्यूला के प्रवेश स्थल पर कलोडियन फाया लगा दिया जाता है।

२. सूचीवेध चिकित्सा (Injection Treatment) इस चिकित्सा का उद्देश्य हाइड्रोसील के कोष में से जल को निकाल कर उसके स्थान पर कोई क्षोभक पदार्थ क्विनीन यूरीथेन अधिकांश में प्रयोग किया जाता है। इसके लिए उपर्युक्त द्रव निकालने की चिकित्सा की तरह ही विधि प्रयोग में लाते हैं तथा तरल निकालने के पश्चात् सिरिंज की सहायता से ३-४ सी० सी० क्षोभक तरल डाल दिया जाता है। औषधि प्रवेश करने के पश्चात् छिद्र को क्लोडियन के फाये से बन्द कर दिया जाता है। इञ्जैक्शन के पश्चात् पट्टी बांध दी जाती है।

इस इञ्जैक्शन चिकित्सा का लाभ यह है कि क्षोभक पदार्थ के कोष में रहने के कारण वहां तरल का संचय शीघ्र नहीं होने पाता।* अतः यदि हाइड्रोसील मध्यम और साधारण प्रकार का है तथा शल्यकर्म में कोई असुविधा है तो इञ्जैक्शन चिकित्सा की जा सकती है, यहां यह स्मरणीय है कि औपद्रविक हाइड्रोसील की अवस्था में यह चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

३. शस्त्रकर्म (Operation of Hydrocele)—हाइड्रोसील का जो शल्यकर्म किया जाता है उसका उद्देश्य ट्यूनिका वैजेनेलिस का उलटना या Eversion करना है जिससे उसकी बाहिरी लेयर अन्दर हो जाय और अन्दर की लेयर बाहर हो जाय। भीतरी पृष्ठ जिससे तरल

* उपर्युक्त दवाओं को रिक्त स्थान में प्रविष्ट कर देने में लाभ होता है कि दोनों आवरणों के मध्य भाग में दवा के सतत क्षोभक प्रभाव से स्थानीय तन्तुओं में ऐसी क्रिया होती है कि वहां दोनों आवरण पर्तों में अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं और दोनों ओर से बढ़े हुए वे परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं और जलसंचय के लिए खाली स्थान नहीं मिलता।

बनने की क्रिया में सहायता मिलती है, तरल बनाने की क्रिया समाप्त हो जाती है।

शस्त्रकर्म की विधि

संज्ञाहरण—यह शस्त्रक्रिया स्थानिक संज्ञाहरण करके की जा सकती है। इसके लिए १ प्रतिशत कोकेन विलयन को चर्म के नीचे प्रविष्ट किया जाता है, जिस स्थान पर इन्सीजन लगाना होता है, वहां से ऊपर को निडिल पास करते हुए संज्ञाहरण करते हैं।

अण्डरज्जु (Spermatic Cord) को भी संज्ञारहित करना आवश्यक है। इसके लिए ५ सी० सी० प्रोकेन विलयन को प्रवेश करते हैं। बिना अण्डरज्जु के संज्ञाहरण किए तरलकोष को उलटने में अत्यन्त वेदना होती है।

छेदन (Incision)—१. बाल रहित स्वच्छ अण्डकोष पर संज्ञारहित रेखा पर १॥-२ इञ्च लम्बा इन्सीजन लगाया जाता है। यह छेदन त्वचा पर ऊपर से नीचे की ओर को लगाया जाता है। छेदन को सावधानी के साथ अधिकाधिक गहरा करते जाते हैं जो रक्तवाहिनियां आदि कटती जाती हैं उन्हें धमनी संदंश से बन्द कर दिया जाता है।

२. चर्म के नीचे बहि:प्रावरणी तथा वृषणवेष्टनी (Dartos) पेशियों का भी उसी रेखा में छेदन किया जाता है। बहिप्रावरणी के नीचे गम्भीर प्रावरणी को भी उसी दिशा में काटा जाता है। इसे काटते समय सावधानी रखी जाती है क्योंकि कभी-कभी इससे तरल कोष चिपका रहता है, जिसके कटने की सम्भावना रहती है। अत: इसकी जांच करके इसे काटा जाता है।

३. प्रावरणियों के कटने के पश्चात् हलके नीले वर्ण का कोष दिखाई देता है। प्रावरणियों के छेदन तथा स्कालपल के उल्टी ओर से प्रावरणी तथा कोष को जितना अधिक दूर हो सके कर लिया जाता है।

४. अब कोष में वेधसपत्र की नोंक को घुसाते हैं जिससे कोष में संचित तरल बाहर निकलने लगता है, जिससे किसी पात्र में सहायक द्वारा एकत्रित कर लिया जाता है।

५. जिस छिद्र से तरल बाहर आया है, उस छिद्र के दोनों ओर सहायक एक विशेष प्रकार के संदंश से पकड़ लेता है और सर्जन वेधसपत्र की धार से इस छिद्र को ऊपर नीचे चौड़ा कर देता है जिससे अण्डग्रन्थि बाहर निकल आती है।

६. इसके पश्चात् कोष (ट्यूनिका वैजिनेलिस) को उलटने का कार्य किया जाता है। कोष में वेधसपत्र द्वारा जो छिद्र किया गया है उसके द्वारा धमनी संदंश को प्रविष्ट करके कोष के भीतर के पृष्ठ को पकड़कर बाहर खींच लिया जाता है जिससे अण्डग्रन्थि बाहर निकल आती है और उलटा हुआ कोष भी बाहर निकल आता है, इस प्रकार उलटा हुआ सम्पूर्ण कोष बाहर आ जाता है।

७. अब कोष के कटे हुए किनारों को आपस से कैटगट से सी दिया जाता है अथवा प्रत्येक किनारे को पृथक्-पृथक् (Purse string suture) सीं दिया जाता है जिससे दोनों किनारे इतने सिकुड़ जाते हैं कि वे उलट नहीं सकते। इस क्रिया का अभिप्राय कोष को फिर से उलटने से रोकना है।

८. अब अण्डग्रन्थि के एक सिरे के पास संदंश से पकड़ कर जो भी छेदन के समीप हो उसको पहले त्वचा के छेदन द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। सहायक इस समय छेदन के किनारों को हुक या संदंश से पकड़कर चौड़ाये तथा ऊपर को उठाये रखता है। अण्डग्रन्थि के अन्दर जाने में बहुत बार कठिनता आती है, क्योंकि तरल के निकलते ही वृषण की त्वचा सिकुड़ती है और उसके भीतर का स्थान छोटा हो जाता है।

९. इसके पश्चात् केवल छेदन को सीना रह जाता है। सहायक छेदन के दोनों सिरों पर हुक लगाकर सारे छेदन को थोड़ा ऊपर उठा लेता है। सर्जन त्वचा तथा प्रावरणियों के छेदन के दोनों ओष्ठों का भली प्रकार निरीक्षण करके रेशम या नायलौन से दोनों ओष्ठों को भली प्रकार मिलाकर सी देता है। सीते समय प्रावरणी को भी साथ में सिया जाता है।

पश्चात्कर्म—रोगी को २४ घंटे तक लिटाये रखा जाता है, यद्यपि रोगी को थोड़े समय पश्चात् भी छुट्टी दी जा सकती है। रोगी को वेदना से बचाने के लिए तथा निद्रा लाने के लिए औषधि देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त संक्रमण से बचने के लिए ऐण्टीबायोटिक्स औषधियों का प्रयोग भी करना चाहिए। ★★

पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि (Prostate Enlargment)

श्री कमलेश कुमार वर्मा बी०ए०एम०एस० (छात्र) गुरुकुल आयुर्वेदकालेज, हरिद्वार

ौरुष-ग्रन्थि वृद्धि रोग तथा आयुर्वेद

सुश्रुत ने वातव्याधि प्रकरण में वस्ति प्रदेश में अष्ठी-
वत उत्सेध को अष्ठीला तथा प्रत्यष्ठीला रोग का
र्देश किया है। आचार्य चरक ने वातव्याधि में इस रोग
ी गणना नहीं की हैं। अष्टांग हृदयकार ने इन दोनों
ोगों का समावेश विद्रधि तथा गुल्म प्रकरण में
िया है।

सुश्रुत ने निदान स्थान में अष्ठीला तथा प्रत्यष्ठीला
ह निम्न लक्षण बताये हैं—

ष्ठीला—

अष्ठीला वर्द्धनं ग्रन्थिमूर्ध्वमायतमुन्नतम्।
वाताष्ठीलां विजानीयाद् वहिर्मार्गावरोधिनीम्॥
—सु० नि० १/९०।

अर्थात् जिस समय वायु अष्ठीला (गोल-बड़े पाषाण
के समान अथवा लुहारों के घन के समान) ग्रन्थि के
आकार की ऊंची, गोलाकार सूजन उत्पन्न करती है तो वह
अष्ठीला कहलाती है।

प्रत्यष्ठीला—

एनामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनीम्।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम्॥
—सु० नि० १/९१।

अर्थात् जिस समय यही अष्ठीला उदर में तिरछी
वेदना उत्पन्न करती एवं वायु मल और मूत्र को रोक
देती है इसको 'प्रत्यष्ठीला' कहते हैं।

आयुर्वेद में वर्णित उपरोक्त अष्ठीला तथा प्रत्यष्ठीला
के लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि यह जठर महास्रोत
में उत्पन्न होता है। सुश्रुत ने शीघ्र पाकी होने से इसकी
विद्रधिवत् चिकित्सा वतायी है।

मूत्राघात प्रकरण में सुश्रुत ने अष्ठीला के निम्न
लक्षण बताये हैं—

शकृन्मार्गस्य वस्तेश्य वायु रन्तरमाश्रितः।
अष्ठीलावद्धनं ग्रन्थि करोत्यचल मुन्नतम्॥
विण्मूत्रा निलङ्गश्य तत्राध्मानं च जायते।
वेदना च परावस्तौ वाताष्ठीलेति तां विदुः॥

अर्थात् गुद तथा मूत्राशय के मध्य में स्थित अपान
वायु अष्ठीला के समान कठोर ग्रन्थि को उत्पन्न करती
है यह ग्रन्थि स्थिर, ऊंची उठी होती है इसके कारण मल,
मूत्र, वायु का अवरोध होता है, मूत्राशय में आध्मान होता
है वस्ति में तीव्र वेदना होती है इसे वाताष्ठीला कहते हैं।

मूत्राघात प्रकरण गत अष्ठीला और पौरुष-ग्रन्थि
वृद्धि के लक्षणों में कुछ साम्यता है परन्तु सुश्रुत के कथना-
नुसार अष्ठीला में तीव्र पीड़ा होना अनिवार्य है ऐसी तीव्र
वेदना पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि में नहीं होती। सुश्रुतानुसार
"वेदना च परो वस्तौ" से वस्ति में तीव्र वेदना का वोध
होता है यह वेदना वस्तिगत अवरोध अथवा आध्मान
जन्य हो सकती है अतएव यह रोग वस्ति प्रदेश में होने
वाला कोई अर्वुद प्रतीत होता है इसे पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि
नहीं मान सकते। वाताधिकार में वर्णित अष्टीला तथा
प्रत्यष्ठीला से भी पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि का सही ज्ञान नहीं
होता है।

इसके अतिरिक्त सुश्रुत संहिता में मूत्र-ग्रन्थि तथा
चरक संहिता में रक्त-ग्रन्थि के नाम से जिन रोगों का

वर्णन् मिलता है, उनकी पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि से बहुत साम्यता प्रतीत होती है। सुश्रुत ने मूत्रग्रन्थि के निम्न लक्षण बताये हैं—

अभ्यन्तरे वस्तिमुखे वृत्तोऽल्पः स्थिर एव च
वेदनावानति सदा मूत्रमार्गनिरोधनः।
जायते सहस्या यस्य ग्रन्थिरश्मरिलक्षणः
स मूत्र ग्रन्थिरित्येव मुच्यते वेदनादिभिः॥

अर्थात वस्तिद्वार के अन्दर गोल, छोटी, स्थिर सदैव वेदना युक्त, मूत्रमार्ग को रोकने वाली, अश्मरी के लक्षणों से युक्त ग्रन्थि जिस पुरुष में सहसा उत्पन्न हो जाती है उसे मूत्र ग्रन्थि कहते हैं। इसके वेदना आदि लक्षण अश्मरी के समान होते हैं।

उपरोक्त सुश्रुत द्वारा बताये गये मूत्रग्रन्थि के लक्षण पौरुषग्रन्थि वृद्धि लक्षणों से बहुत साम्यता रखते हैं। इसके निम्न आधार हैं—

(१) सुश्रुत ने 'आभ्यान्तर वस्ति मुखे' कहकर इसका उल्लेख किया है जो पौरुषग्रन्थि की स्थिति के समान है।

(२) अश्मरी के समान लक्षण इसमें पाये जाने का सुश्रुत उल्लेख करते हैं यह लक्षण पौरुषग्रन्थि वृद्धि जन्य लक्षणों यथा मूत्रकृच्छ्रता, मूत्राल्पता, बूंद-बूंद मूत्र आना, मूत्र प्रवृत्ति काल में वेदना आदि जो बताये गये हैं उनकी समानता पाश्चात्य विज्ञान में वर्णित पौरुषग्रन्थि वृद्धि के लक्षणों से सहज ही की जा सकती है।

आधुनिक दृष्टि से पौरुषग्रन्थि वृद्धि—

पौरुषग्रन्थि रचना—पौरुषग्रन्थि (Prostate) नामक ग्रन्थि पुरुषों में पाई जाती है। यह प्रणाली विहीन (Ductless) ग्रन्थि है। यह सुपारी की आकृति की होती है तथा मूत्रनली की प्रारम्भिकावस्था तथा वस्ति के नीचे दोनों अवयवों के मध्य पैरिनिमय में स्थित होती है। मूत्रनली का प्रारम्भिक भाग और वस्ति की ग्रीवा का निर्माण इस ग्रन्थि के द्वारा ही होता है। यह शुक्रवाहिनी के नीचे तथा मूत्रमार्ग के चारों ओर मुड़ी हुई होती है। इस ग्रन्थि के पश्चात् भाग में शुक्रवाहिनी तथा शुक्राशय होता है। यह दोनों शुक्र वाहिनियां एक साथ मिलकर पौरुषग्रन्थि में ही मूत्र मार्ग के साथ सम्बन्ध रखती है।
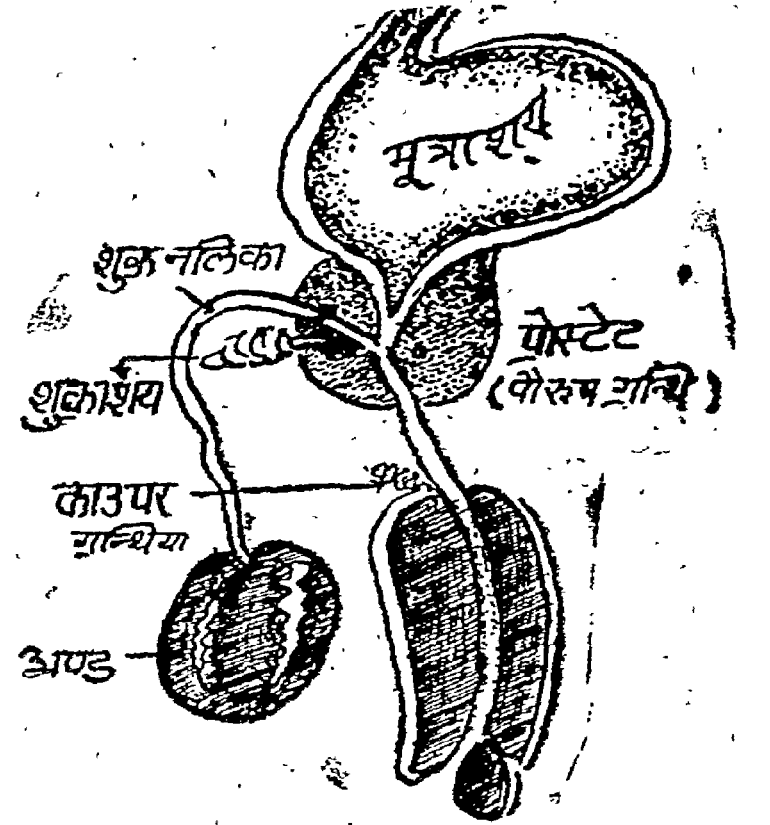
इस ग्रन्थि के तीन पिण्ड होते हैं इसका मध्यपिण्ड अन्य पार्श्वों की अपेक्षा ग्रन्थि युक्त होता है। इस ग्रन्थि का निम्न भाग श्रोणिगुहा में भगसन्धानिका के भाग में तथा मलाशय के अग्रभाग में स्थित होता है जो गुदा में अंगुलि डालने पर मृदु अथवा कठिन गोल सा प्रतीत होता है।

यह पौरुष-ग्रन्थि पुरुषों में पायी जाती है और वृद्धि सामान्यतः ३० वर्ष की आयु से होने लगती है, अतः यह वृद्धिजन्य रोग केवल पुरुषों में पाया जाता है।

पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि के कारण

पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि हेतु के सम्बन्ध में अभी तक ठीक ज्ञान उपलब्ध नहीं है तथापि हार्मोनो का इस की वृद्धि में सहयोग माना जाता है। हार्मोनथियोरी के अनुसार पुरुष की आयु वृद्धि के साथ उसके अन्दर एण्ड्रोजन जो इस ग्रन्थि को बढ़ाने से रोकता है की कमी होने लगती है और इसी कारण प्रोस्टेट की वृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक विद्वान् पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि में मूत्रनली का प्रदाह, मूत्राशय अश्मरी, आमवात, उष्णवात आदि को भी सहायक कारण मानते हैं।

पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि के लक्षण

आधुनिक दृष्टि से निम्न लक्षण पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि के मिलते हैं—

१—मूत्रकृच्छ्रता
२—बार-बार मूत्र प्रवृत्ति
३—मूत्राल्पता
४—सतत् मूत्रेक्षा
५—विन्दुशः मूत्र प्रवृत्ति
६—मूत्रप्रवृत्ति काल में वेदना
७—मूत्रवेग धारण अभाव
८—प्रवाहण से मूत्रावरोध
९—मूत्रकाल में अश्मरी के समान पीड़ा
१०—रक्तमूत्रता
११—मूत्र में पूयोत्पत्ति

चिन्ह—

प्रोस्टेट का परीक्षण निम्न आधार पर करते हैं—

(१) उदरगत (Per Abdomen)—

(A) मूत्राशय फूला रहता है।
(B) वृक्क स्पर्श किये जा सकते हैं।

(२) गुदा-परीक्षण (Per Rectum)—

(A) पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि मिलती है तथा अंगुलि से इसकी पर्त (Surface) चिकनी प्रतीत होती है तथा मीडियन ग्रूव की प्रतीति होती है।
(B) रैक्टल म्यूकोसा प्रोस्टेज से पृथक् प्रतीत होती है।
(C) यदि प्रोस्टेट का केवल मिडिल लोब ही बढ़ा हुआ है तो गुदा-परीक्षण से प्रोस्टेट वृद्धि की प्रतीति नहीं होती।

(३) परीक्षण (Investigation)—

(१) **मूत्र-परीक्षण**—पूयकण, अश्मरीकण, रक्त-कण, मूत्र की स्पेसिफिक ग्रेविटी आदि का परीक्षण किया जाता है।
(२) हीमोग्लोबिन, ब्लड ग्रुप, ब्लड यूरिया आदि का परीक्षण किया जाता है।
(३) **इन्ट्रावेनस पाइलोग्राफी**—सिरा में औषधि सूचीवेध देकर पाइलोग्राफी ऐक्स-रे किया जाता है इसके द्वारा वृक्क की क्रिया देखी जाती है।
(४) **सिस्टोस्कोपी परीक्षण**—यह परीक्षा वहु प्रचलित परीक्षा है। रक्त-मूत्रता की अवस्था में और शल्यकर्म के पूर्व यह परीक्षण किया जाता है।

पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि चिकित्सा

पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि की कोई प्रमुख औषधि चिकित्सा नहीं है और मन सन्तोषार्थ कुछ औषधियां दी जा सकती हैं परन्तु उनका स्थाई प्रभाव देखने को नहीं मिलता।

यदि प्रोस्टेट का कैन्सर हो तो इस्ट्रोजन देने से प्रौस्टेट को लघु रूप में लाया जा सकता है परन्तु अधिक इस्ट्रो-जन के प्रयोग से शरीर में स्थूलता के लक्षण स्तनों की वृद्धि आदि लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। आजकल प्रोस्टेट वृद्धि में कार्वोलिक एसिड, ग्लेसियल एसीटिक एसिड तथा ग्लिसरीन का इञ्जैक्शन दिया जाता है परन्तु पूर्ण सफलता शस्त्रकर्म द्वारा ही मिलती है।

मूत्रावरोध की अवस्था में चिकित्सा—

सहसा मूत्रावरोध की अवस्था में कैथिटर का प्रयोग करना चाहिए। वर्तमान में फोलिन का कैथीटर वाजार में मिलता है जिसके अन्दर के भाग में एक छोटा वैलून होता है यह कैथिटर मूत्राशय में छोड़ दिया जाता है तथा थोड़े समय पश्चात् इसे निकालकर देखा जाता है कि मूत्र-त्याग स्वयं होता है या नहीं। इसका वार-वार प्रयोग करना चाहिये अथवा शस्त्रकर्म का सहारा लेना चाहिये।

पौरुषग्रन्थि वृद्धि का शल्यकर्म—

१. शस्त्रकर्म की अवस्था—(१) पूर्ण मूत्रावरोध (२) वस्तिमूत्र से पूर्णतया रिक्त न होता हो (३) अहर्निश अथवा मुहुर्मुहः मूत्र प्रवृति, पाक दाह और रुक् (४) स्फिक्टर की शैथिल्यावस्था—मूत्र वेग रोकने में अस-मर्थता। (५) अश्मरी अथवा डायवर्टी कुलर की उपस्थिति (६) मूत्र प्रवृत्यर्थ प्रवाहण करने पर रक्तार्श अथवा पुरीष प्रवृति होने लगे (७) पूयोत्पत्ति के कारण शीतपूर्वक ज्वर का औषधि द्वारा शमन न हो सके।

२. शस्त्रकर्म की पद्धति—वर्तमान काल में शस्त्र कर्मार्थ आवश्यकतानुसार चार प्रकार की पद्धतियों का सहारा लिया जाता है।

१. रिट्रोप्युविक प्रोस्टेटेकटोमी:—अधिकांश यूरोलीजिस्ट इस प्रकार के शस्त्रकर्म पसन्द करते हैं। उदर के नीचे के भाग में विदारण कर प्रोस्टेट और वस्ति को पेल्विस की अस्थि से पृथक् किया जाता है। प्रोस्टेट के कैंपसूल पर शस्त्र लगाकर प्रोस्टेट की ग्रन्थि को अंगुली से निकाल लिया जाता है। इस शस्त्रकर्म द्वारा प्रोस्टेट के गर्त में जो सिरा अथवा धमनी होती है उसे देखकर बांधा जा सकता है। मूत्रनली में कैथिटर डालकर प्रोस्टेट के आवरण को सीवन कर दिया जाता है। आठ दिनों तक कैथिटर द्वारा मूत्र प्रवृति कराई जाती है तदन्तर कैथिटर निकाल दिया जाता है। मूत्र प्रवृत्ति स्वयं होने लगती है।

२. सुप्राप्यूविक टयूवेक्टोमी—इस पद्धति द्वारा वस्ति का विदारण कर प्रोस्टेट निकाल दिया जाता है। रक्त वाहिनियों को बांध दिया जाता है। मूत्रनली में कैथिटर डालकर वस्ति का सीवन कर दिया जाता है। जब मूत्रनली में अश्मरी अथवा ग्रन्थि होती है उस समय अण्ड में पाक न हो एतदर्थ शुक्रवाहिनी को बांधकर शस्त्रकर्म किया जाता है।

३. ट्रान्स यूरेथ्रल प्रोस्टेटेक्टामी:—इस विधि द्वारा शस्त्र कर्म करने में प्रशस्त रिसेक्टोस्कोप की आवश्यकता होती है अनुभव की भी आवश्यकता होती है। मूत्रनली में रिसेक्टोस्कोप लगाकर देखा जाता है। डायाथर्मी लूप अथवा यंत्र से पौरुष ग्रन्थि के छोटे-छोटे टुकड़े कर निकाल दिया जाता है। इस प्रकार का शस्त्रकर्म उस समय किया जाता है जब पौरुषग्रन्थि कठिन अथवा कैंन्सर रोग से ग्रसित होती है।

४. पैरिनियल प्रोस्टेटेक्टोमी:—इस विधि द्वारा गुदा के अग्रभाग पेरिनियम में शस्त्र डालकर प्रोस्टेट का निष्कासन किया जाता है। यह विधि अमेरिका में प्रचलित है अन्य स्थानों में नहीं। इस विधि द्वारा अधिक कष्ट होता है। अतः अपने देश में त्याग दिया गया है।

सुधानिधि
सुश्रुत
शल्य-चिकित्सांक
अस्थि सन्धि रोगोपखण्ड
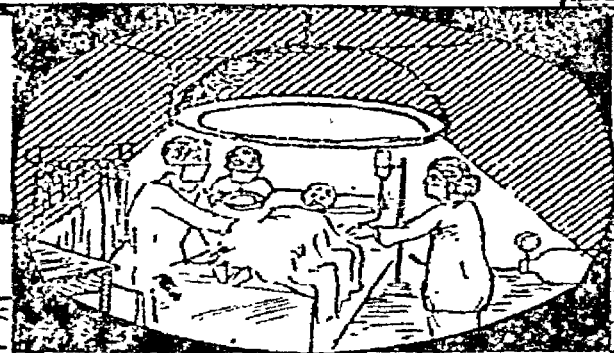
अस्थि सन्धि-भग्न विमर्श

डा० एम० के० शर्मा, ए० एम० बी० एस०
प्रवक्ता—राजकीय ललितहरि आयुर्वेद कालेज, पीलीभीत

अस्थिसंख्या—अस्थियों के बारे में शास्त्रज्ञों में कई प्रकार का मतभेद है पर इस विषय में जो मत श्रीमान् आचार्य दामोदर शर्मा गौड़ महोदय ने अपने "अभिनव-शारीरम्" (वैद्यनाथ प्रकाशन) में दिया है वह सर्वथा ग्राह्य होने से संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है—

संख्या भेद के नीचे लिखे हुए कारण हैं—

१—वेदानुयात्रियों द्वारा अस्थियों की संख्या में नखों और दन्तोलूखलों को अस्थियों की संख्या में गिन लेना।

२—वेदानुयायियों और धन्वन्तरियों द्वारा दांतों को अस्थियों में गिनना।

३—प्राचीनों द्वारा तरुण प्रकार को अस्थि के अन्तर्गत गिनना जब कि नव्यों को ये तीनों ही हेतु अस्वीकार हैं।

४—वेदानुयायी चणकास्थियों (सी समाइड बोन्स) को अस्थियों के अन्दर गिनते हैं धान्वन्तरीय या नव्य नहीं गिनते।

५—दृढसंहत कई अस्थियों को एक अस्थि में गिनना जैसे चरक द्वारा नासिका, गण्ड-कूट ललाटास्थियों का एक में ही परिगणन करना।

६—संख्या या व्यवहार के अनुरोध से एक अस्थि के विविध अवयवों को भिन्न-भिन्न अस्थियों में स्वीकार करना। जैसे प्रकोष्ठास्थि के कूर्परकूट प्रवर्धन का सुश्रुत द्वारा कूर्परास्थि तथा अन्तर्जङ्घास्थिजंगिकाकूट का जान्वस्थि चरक द्वारा गिनना अंसफलक के अंसकूट को अलग अस्थि मानना आदि।

७—प्रदेशानुरोध या क्रियानुरोध के आधार पर किसी अस्थि को शाखा तथा मध्यकाय दोनों में गिन लेना जैसे अक्षक, अंसफलक एवं श्रोणिफलक का शाखाओं एवं मध्यकाय दोनों में गिन लेना। इस प्रकार चरक ने जो ३६० सुश्रुत ने ३०० तथा नव्यों ने २०६ अस्थियां मानी हैं वह शर्माजी के शब्दों में—

एवम् आपाततो महद्वैषम्येऽपि न वस्तुतो वैषम्यम्, दृष्टिभेदेन गणनाभेदस्याऽपरिहार्यत्वात्। यथोक्तं विचय-शारीरे कश्यपेन "इत्यास्थिसंख्यासामान्याद् वृद्धिह्रासौ निमित्तजौ॥ इति।

हमें इस प्रकरण में अस्थि विषयक एनाटोमी अभिप्रेत नहीं है हमें तो उसके विकारों का तारतम्य जोड़ना है शल्यतन्त्रीय चिकित्सा की दृष्टि से। इस विचार से देखने पर हमें अस्थियों के कुछ रोग मिलेंगे, कुछ उनकी सन्धियों के रोग होंगे तथा अस्थियों के भग्न की समस्या होगी इन तीनों के विषय में हम नीचे विचार कर रहे हैं।

अस्थिभग्न एवं सन्धिविश्लेष

यह सदैव हर चिकित्सक को याद रहता है कि जहां अस्थिभग्न या फ्रैक्चर किसी भी आयु में उत्पन्न हो सकता है सन्धि विश्लेष या डिस्लोकेशन केवल वयस्कों में ही होता है। अस्थिभग्नों का वर्णन करते हुए आचार्य सुश्रुत लिखते हैं—

पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिः अभिघातविशेषैः अनेकविधं अस्थ्नां भङ्ग उपदिशन्ति। तन्तु भङ्गजातमनुमार्यमाणं द्विविधमेवोत्पद्यते सन्धिमुक्तं काण्ड-भग्नञ्च। —सु० सं० नि० स्था० अ० १५.

अर्थात् गिरने, दबने, प्रहार करने, फेंकने, हिंसक या अहिंसक पशुओं द्वारा काटने आदि कारणों से तथा अभिघात विशेष (ऐक्सीडेंट आदि) के कारण अनेक प्रकार के भंग शास्त्रकारों ने बतलाये हैं। इन सभी भंगों पर यदि ठीक-ठाक खोज की जाय तो ये अंग २ प्रकार के ही पाये जाते है एक सन्धिमुक्त भंग या डिस्लोकेशन तथा दूसरा काण्डभग्न या फ्रैक्चर।

अगर कहीं कोई ऐक्सीडेंट हो गया हो तो उसका पूरा ब्यौरा ज्ञात करना पड़ता है। किस प्रकार की हिंसा हुई सीधी, अप्रत्यक्ष, पेशीय, उस समय शाखाओं की क्या स्थिति थी, क्या वह आघात इतना प्रबल था कि हड्डी टूट सके। अगर आघात उतना तीव्र न भी हो तो भी काण्डभग्न हो सकता है जिसके कारण तात्कालिक या वैकारिक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए वृद्धों की जब फीमर की ग्रीवा में भग्न होता है तब चोट बिल्कुल साधारण सी ही होती है। वेदना के बारे में शास्त्रकारों का मत है कि वह सन्धि विश्लेष में जितनी तीव्र होती है उतनी काण्डभग्न में नहीं होती—

विशेषेणोत्पिष्टे सन्धौ उभयतः शोफो वेदना प्रादुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारावेदना रात्रौ प्रादुर्भवन्ति, विश्लिष्टे अल्पः शोफो वेदनासातत्यं सन्धि विक्रिया च, विवर्तिते तु सन्धि पार्श्वापगमनाद्विषमाङ्गता वेदना च, अवक्षिप्ते सन्धि विश्लेषः तीव्ररुजत्वञ्च; अतिक्षिप्ते द्वयोः सान्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च, तिर्यक्क्षिप्ते त्वेकास्थिपार्श्वापगमनं अत्यर्थं वेदना चेति।

आयुर्वेद उत्पिष्ट जिसे फ्रैक्चर डिस्लोकेशन कहते हैं; विश्लिष्ट या सबडिस्लोकेशन या अपूर्ण अस्थिविश्लेष कहते हैं; विवर्तित या लेटरल डिस्लोकेशन या पार्श्वविश्लेष; अवक्षिप्त या डाउनवर्ड डिस्लोकेशन या अधः विश्लेष; अतिक्षिप्त या कम्प्लीकेटेड फ्रैक्चर तथा तिर्यकक्षिप्त या पूर्ण विश्लेष या कम्प्लीट डिस्लोकेशन ये ६ प्रकार के अस्थिमुक्त बतलाये गये हैं। ऊपर के उद्धरण के अनुसार उत्पिष्ट में दोनों ओर शोफ और वेदना का होना खासकर रात्रि में कई प्रकार की वेदनाओं का उत्पन्न हो जाना, विश्लिष्ट में वेदना का सातत्य (कन्टिन्युटी आफ पेन) होना; विवर्तित में वेदना मिलना, अवक्षिप्त में तीव्ररुजा का पाया जाना; अतिक्षिप्त में वेदना का मिलना, और तिर्यक्क्षिप्त में अत्यन्त वेदना का होना बतलाता है कि इस रोग में शोफ, सन्धि विक्रिया होने पर भी वेदनाओं (पेन्स) का अधिक कष्ट देना विशेष रूप से मिलता है।

इसके विपरीत सुश्रुत ने काण्डभग्न (फ्रैक्चर्स) के जो १२ भेद दिये है वे है कर्कट, अश्वकर्ण, चूर्णित, पिच्चित, अस्थिच्छल्लित, काण्डभग्न, मज्जानुगत, अतिपातित, वक्र, छिन्न, पाटित, स्फुटित। इनके सर्व सामान्य लक्षण थोड़े से शब्दों में यों दिये —

श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनविवर्तनस्पर्शासहिष्णुत्वं अवपीड्यमाने शब्दः स्रस्ताङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभः इतिसमासेन काण्डभग्नलक्षणमुक्तम्।

कि काण्डभग्न होने पर सूजन बढ़ जाती है स्पन्दन, विवर्तन स्पर्शासहिष्णुता (टेंडरनैस) तथा दबाने पर शब्द (क्रेपिटस), अंग की शिथिलता, अनेक प्रकार की वेदनाओं की उत्पत्ति, किसी भी स्थिति में शान्ति प्राप्त होना ये संक्षेप में काण्डभग्न के लक्षण बतलाये गये।

सन्धिमुक्त और काण्डभग्न से पीडित रोगी की परीक्षा का विधान

सन्धिमुक्त या काण्डभग्न का रुग्ण मिलने पर सर्वप्रथम उसका अवलोकन करना चाहिए और १. विकृति २. अंग का छोटा होना, ३. शोफ या गर्त्त कहां है इसका ज्ञान ४. त्वचा की स्थिति तथा ५. घाव या व्रण की उपस्थिति का प्रत्यक्षीकरण कर लेना चाहिए।

विकृति या डिफोर्मिटी कभी-कभी तो इतनी स्पष्ट होती है कि फ्रैक्चर (काण्डभग्न) है या सन्धि विश्लेष इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। जहां भी काण्डभग्न हो वह अंग छोटा पड़ जाता है अगर वहां विचित्र प्रकार की सूजन आ जाती है या गड्ढा बन जाता है। त्वचा पर सूजन और खुरसट मिलती है अगर २—३ दिन बीत जायें तो वहां फफोले या उठे हुए फोड़े बन जाते है। अगर सूजन जोड़ तक हो तो काण्डभग्न जोड़ तक हो चुका है इसे न भूलना चाहिए। व्रण में अस्थि के टुकड़ों की उपस्थित हो तो कम्पाउण्ड फ्रैक्चर माना जाता है। कभी-कभी सीधी चोट के कारण हड्डी टूटकर त्वचा पर बाहर निकल आती है। अगर वहां कोथ या गैंग्रीन हो तो उसका रंग देखने के लिए पाश्चात्य शल्यचिकित्सक जोर देते हैं।

प्रत्यक्ष निरीक्षण के बाद काण्डभग्न का ज्ञान परिस्पर्शन से किया जाता है। इसके लिए अस्थि के पूरे काण्ड को एक ओर से छूते जाते है जहां स्थानिक अस्थि पर स्पर्शाक्षमता मिले वहां भग्न है ऐसा समझा जाता है। यह भग्न का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। इसी प्रकार अस्थि-सन्धि पर उस बिन्दु को ढूंढना चाहिये जहां छूने या दवाने से दर्द हो। कभी-कभी बिना भग्न के अस्थिविश्लेष मात्र से ही दर्द हो सकता है। कोई भी स्नायु खिंच जाने से स्थानविशेष पर दर्द मिलता है। कभी-कभी हस्तक्रिया द्वारा शाखा को दवाने, घुमाने, हिलाने से भी दर्द हो तो काण्डभग्न का अनुमान हो जाता है। कहीं-कहीं दवाने पर कोई हड्डी का भाग उठा हुआ भी मिलता है। शोथ मिलने पर उसे दबाकर देखना चाहिए। यह शोथ या सूजन हड्डी के उधर सरक आने या टूटकर आ जाने से है या अन्य कारण से इसका ज्ञान करना चाहिये। धीरे से चलाकर टूटे हुए भाग को देखने से कभी-कभी वह ऐसी गति करता है जो पहले नहीं मिलती। हिलते समय क्रेपिटस या शब्द होता है। व्रण को विना पूरी सावधानी वरते हड्डी के टूटे अंशों को खोजने के लिए नहीं छूना चाहिये। पर यदि पास की पेशी में करकर शब्द हो तो गैसगेंग्रीन का सन्देह करना चाहिये।

फिर काण्डभग्न की पुष्टि के लिए पहले स्वस्थ अंग की फिर चोट खाये अंग की लम्बाई नापी जाती है। अगर आघात वाला अंग स्वस्थ की अपेक्षा छोटा हो तो काण्डभग्न पुष्ट हो जाता है। सन्धिमुक्त में गति करने में कठिनाई होती है। सन्धि में जो गति प्राकृतरूप में पहले होती थी जो क्रियाएं उसके द्वारा की जाती थीं, उनको अब करना कठिन होता है वहां कड़ाई या रिजिडिटी आ जाती है।

किसी भी काण्डभग्न या सन्धिमुक्ति के रुग्ण में उपद्रवों की खोज अवश्य करनी चाहिये। जो आघात लगा है उसके साथ उसे और क्या कष्ट है। उसके पास की या सम्बन्धित रक्तवाहिनी में या पेशी में कष्ट है, क्या या कोई अन्दर का कोष्ठांग भी उसके साथ चोट खा गया है। रक्तवाहिनी की टूट-फूट अक्सर गैसगेंग्रीन पैदा करती है। इसके लिए चोट या भग्न से ऊपर की ओर हटकर धमनी या नाड़ी का स्पन्दन अनुभव करना चाहिए। प्रगण्डास्थि के भग्न में कभी सर्कमफ्लैक्स नर्व भी फंस जाती हैं। इसी अस्थि सुप्राकण्डाइलर फ्रैक्चर में मीडियन, अल्सर या रेडियनवों को चोट लग जाती है। इसके लिए पेशीशक्ति तथा संज्ञाओं का ज्ञान करना होता है। श्रोणि की चोट में कोष्ठांग भी आहत हो जाते हैं। जैसे—मूत्र-मार्ग, योनि या मलाशय, छाती की चोट में पसली टूटकर फेफड़ों को चुटैल कर सकती है। सिर की चोट में टूटी हड्डी मस्तिष्क में घुस सकती है।

काण्डभग्नों के ज्ञान के लिए क्षकिरण चित्र से बहुत मदद मिलती है। आगे से पीछे या पार्श्व से पार्श्व चित्र लिए जाकर भग्न की स्थिति का ज्ञान किया जाता है। चोट के अलावा वैकारिक (पैथालौजीकल) कारणों से होने वाले भग्नों का भी ज्ञान क्ष-किरण चित्र द्वारा हो जाता है। क्षकिरण चित्र के अलावा मूत्र परीक्षा में कैल्शियम के उत्सर्ग की मात्रा का बढ़ना या सीरमकैल्शियम की मात्रा का प्रयोगशाला में ज्ञान करना आवश्यक होता है।

अस्थि-शोथ

अगर किसी हड्डी में सूजन आ जावे तो काण्डभग्न या सन्धिविश्लेष के अलावा हड्डी के अन्य रोगों की ओर भी वैद्य सर्जन का ध्यान जाना चाहिये। बालकों की हड्डी में यह सूजन जहां अस्थिमज्जा पाक या औस्टियो माइलाइटिस के कारण हो सकती है। वहां किशोरों या नवयुवकों में संकटार्बुद या सार्कोमा भी इसका कारण हो सकता है। अगर सूजन अस्थिमज्जा पाकजन्य है तो कभी-कभी हड्डी में केवल व्रणशोथ या इन्फ्लेमेशन से भी सूजन तेजी से बढ़े तो वह व्रणशोथात्मक ही होती है। धीरे बढ़ने पर सुदम अर्वुद भी हो सकता है। चोट का इतिहास औस्टियोमाइलाइटिस तथा सर्कोमा दोनों में ही मिल सकता है। सर्कोमा में थोड़ा ज्वर भी मिल सकता है। कभी-कभी सूजन से काफी पहले दर्द हड्डी में रोगी बतलाने लगता है। अस्थिजन्य सार्कोमा (संकटार्वुद) को इसी तरह शुरूआत होती है। अस्थिमज्जापाक में दर्द और सूजन साथ-साथ शुरू होती है। संकटार्वुद ६ माह में काफी स्पष्ट हो जाता है। अस्थिमज्जापाक में उपसर्ग का अन्यत्र भी इतिहास मिलता है। जैसे मध्यकर्णपाक, रोमान्तिका, न्यूमोनिया आदि।

हड्डी में सूजन कहां है इसे जान लेने से निदान में बहुत सहायता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए यदि

सूजन अस्थिकाण्डकोटि (मैटाफिसिस) में है तो वह अस्थ्यर्बुद या अस्थिसंकट अथवा ब्रोडीविद्रधि में से कोई हो सकता है। यदि शोथ अधिवर्ध (एपिफिसिस) में हो तो ऑस्टियोक्लास्टोमा हो सकता है। इस अर्बुद में वृद्धि के काफी पहले वेदना अस्थि में चालू हो जाती है। यदि शोथ अस्थिवर्ध (डायाफिसिस) में हो तो इविंग अर्बुद अथवा फिरंगज अस्थिशोथ में से कोई हो सकता है।

अस्थि की सूजन होने पर परिस्पर्शन में स्पर्शाक्षमता, धरातल, किनारे, संहननता (कंसिस्टेंसी), नाड़ीस्पन्दन, चलिष्णुता सभी का ज्ञान करना चाहिये। वाहिकास्फीति-युक्त अस्थिजन्य संकटार्बुद में हाथ रखने पर स्पन्दन मालूम पड़ता है। अस्थि अवशोषी कोशिकार्बुद (ऑस्टियो-क्लास्टोमा) में बाहर का कवच इतना पतला हो जाता है कि संहननता के लिए दबाने पर ऐसा टूटता है जैसे अण्डे का कवच, अस्थिजन्य संकट स्वस्थऊति में घुसता चला जाने से उसके किनारे ही नहीं होते जबकि सामान्य अर्बुद के सुस्पष्ट होते हैं।

अस्थि की सूजन या शोथ में फीते से हड्डी को नापते भी हैं, अस्थिमज्जापाक तथा भग्न में लम्बाई छोटी पड़ जाती है।

अस्थिशोथ या सूजन निम्नांकित रोगों में मिलती है, इसलिये शल्यशास्त्री को इन सभी पर दृष्टि डालकर अपना निदान स्थिर करना चाहिये—

१. ब्रोडी विद्रधि—यह एक सग्रन्थि विद्रधि (ऐन्सि-स्टैड ऐब्सैस) है जो लम्बी अस्थियों की काण्डकोटि में उत्पन्न होती है। हड्डी में दर्द की रोगी शिकायत करता है जो सेकने से बढ़ जाता है। हड्डी मोटी हो जाती है। परिताड़न पर इसमें दर्द बढ़ जाता है।

२. अस्थि यक्ष्मा—इसमें लम्बी हड्डियां तथा हाथ-पैरों की छोटी हड्डियां प्रभावित होती हैं। रोग धीरे-धीरे बढ़ता है। अस्थि में दर्द और स्थानिक शोथ पाया जाता है। पास के हड्डी का जोड़ भी लपेट में आ जाता है। क्ष-किरण चित्र में अस्थि विरल हो जाती है। जब रोग ठीक होने लगता है पुनः चूर्णीभवन (रिकैल्सीफिकेशन) होने लगता है।

३. अस्थिफिरंग—इसमें वे अस्थियां ही अधिकतर प्रभावग्रस्त होती हैं जो त्वचा के नीचे ही प्रायः होती हैं जैसे टिबिया, कपालास्थियां, अक्षकास्थि आदि। हड्डी मोटी हो जाती है उसमें भोंकने जैसी पीड़ा होती है जैसे कोई माला चुभा रहा हो यह पीड़ा रोकने से बढ़ जाती है। बाद में फिरंगार्बुद मृदु होने पर जो व्रण बनता है वह ऐसा होता है जैसे पंच कर दिया गया हो। इसमें से मृत-ऊति चमड़े के धोवन सदृश निकलती है। फिरंग के अन्य लक्षण मिलते हैं तथा वासरमेन प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक होती है।

४. टायफाइडजन्य या न्यूमोनियाजन्य अस्थि-मज्जाशोथ—इसमें टायफाइड या न्यूमोनिया के उपसर्ग का इतिहास मिलता है। रोग सौम्यरूप का होता है अस्थि की रचना में अन्तर आ जाता है। हड्डी के पूय में इन रोगों के जीवाणुओं का संवर्धन करके जाना जा सकता है।

५. तीव्र अस्थिमज्जाशोथ—अगर अस्थिकाण्ड कोटि में कहीं सैल्युलाइटिस हो तो वह प्रायः तीव्र अस्थि-मज्जापाकजन्य ही होती है। रोगी को तेज ज्वर चढ़ता है। रक्त में श्वेत कणों की संख्या बढ़ जाती है जब तक हड्डी फूटकर पूय बाहर न आने लगे कष्ट कम नहीं होता।

६. उपास्थिअर्बुद या कोंड्रोमा—ये हाथ-पैर की छोटी अस्थियों में एक साथ कई उत्पन्न हो जाते हैं कभी लम्बी या चपटी हड्डियों में अकेला भी होता है।

७. अस्थ्यर्बुद या आस्टियोमा—यह वृन्ताकार या सवृन्त होता है जो अस्थिकाण्ड कोटि में उत्पन्न होता है जब तक कोई नर्व न दब जाय यह कोई कष्ट उत्पन्न नहीं करता। क्षकिरण चित्र से निदान की पुष्टि हो जाती है।

८. ऑस्टियोक्लास्टोमा—यह हन्वस्थि, अग्रबाहु में रेडियस के निचले सिरे पर या जानुसन्धि के पास। आगे चलकर दबाने पर अण्डे के छिलके को दबाने पर टूटने जैसी आवाज होती है बाद में यह दुर्दम हो जाता है और द्रुतगति से बढ़ता है।

९. अस्थिजन्य संकटार्बुद—यह अस्थिकाण्डकोटि का अर्बुद है यह लम्बी अस्थियों में जानुसन्धि के पास या कन्धे के पास होता है १५ वर्ष की आयु के बालक में अक्सर होता है रोगी १ माह के बाद ही शिकायत करता है और साल पूरा होने से पूर्व वह चिकित्सार्थ आ जाता है। त्वचा फैल जाती है उसमें स्थित सिराएं फैल जाती हैं

सूजन अस्थिकाण्ड की ओर बराबर बढ़ती जाती है यह पतला मुलायम होता है फिर कड़ा होता जाता है इसमें रक्ताधिक्य होने पर स्पन्दन होता है तथा मर्मर-ध्वनि तक सुनी जा सकती है। क्षकिरण चित्र बहुत स्पष्ट रोग का ज्ञान कराता है।

१०. ईविंग अर्बुद—अन्य अर्बुदों से अलग यह लम्बी अस्थि के बीचों बीच काण्ड मे पैदा होता है रोगी किशोर या नवयुवक होता है इसकी उत्पत्ति अभिघातजन्य होती है इसमें दर्द पहले होकर अर्बुद बाद में बनता है।

११. मज्जार्बुद या मायलोमा—ये कई-कई एक साथ मज्जा के रक्त निर्माता भाग की कोशिकाओं से बनते हैं ४०-५० वर्ष के प्रौढ़ में उत्पन्न होते हैं। इसकी उत्पत्ति के बाद मूत्र में बेंसजोन्सप्रोटिओज मिलता है क्षकिरण चित्र से निदान की पुष्टि होती है।

१२. द्वितीयक कर्कट—कहीं अन्यत्र कैंसर का फोकस होने पर कशेरुकाओं, पर्शुकाओं, उरोऽस्थि, कपालास्थि तथा प्रगण्डास्थि या ऊर्वस्थि के ऊपरी सिरों पर यह उत्पन्न होता है इसके होने पर अकारण सहसा फ्रैक्चर भी होता हुआ पाया जाता है। रोगी हड्डियों की गहराई में वेदना की अनुभूति पाता है। क्षकिरणों से तथा अन्यत्र कर्कट की उपस्थिति इसकी पुष्टि करती है।

१३. अस्थिग्रन्थि या ऑस्टाइटिस फाइब्रोसा या सिस्ट—यह नवयुवकों का रोग है। इसमें प्रगण्डास्थि या ऊर्वस्थि का ऊपरी सिरा प्रभावित होता है। इसमें भी सहसा (स्पॉटेनियस) फ्रैक्चर होता है हड्डी में कुछ दर्द होता है। क्षकिरण चित्र से इसकी भी पुष्टि होती है।

सुश्रुत संहिता में अस्थि शोथ विषयक मज्जपरीपाक का वर्णन मिलता है जिसे उसने घोर संज्ञा दी है और उसका स्पष्ट वर्णन इन शब्दों में दिया है।

अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते।
सोऽस्थि मांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा॥
ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनैव दह्यते।
अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यतं दह्यमानवत्॥
विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम्।
अथास्य कर्मण व्याधिर्द्वारं तु लभते यदा॥
ततो मेदःप्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु।
भिन्नेऽस्थ्नि निःस्रवेत्पूयं एतदस्थिगतं विदुः।
विद्रधिं शास्त्रकुशलाः सर्वदोषरुजावहम्।

—सु० सं० नि० स्था० अ० १०

घोर मज्जपरीपाक या इन्फेक्टिव ऑस्टियोमाइलाइटिस का वर्णन करते हुए उनके हड्डी तोड़कर वह निकलने पर जो सर्वदोषयुक्त और वेदनायुक्त विद्रधि एवं व्रण बनता है उसका ही स्वरूप थोड़े से शब्दों में पर बिल्कुल यथार्थ समझा दिया है।

गुल्म का अर्थ गोलाकार उठा हुआ भाग संचारी यदि वा अचल ग्रन्थि के रूप में शास्त्रकारों ने बतलाया है पर जो कई नववृद्धियां अस्थि में बनती है जो बढ़ती तो जाती है पर जिनमें पाक नहीं होता तथा विद्रधि जैसे अनेक लक्षण भी मिलते हैं वे सब अर्बुद से भी बढ़कर गुल्म में अन्तर्भूत की जा सकती हैं। विशेषकर संकटार्बुद इसमें गुल्माकाराः स्वयंदोषा ही हो जाते हैं इसलिए उनमें पाक नहीं होता। अस्थि के अन्दर सिस्टें या ग्रन्थियां भी पाई जाती हैं। इसका जो लक्षण—वृत्तोन्नतं विग्रथितं तु शोफं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः। अस्थियों की सिस्ट में भी यथावत् मिलता है।

अस्थिमज्जपरीपाक या ऑस्टियो माइलाइटिस का उपचार

यतः यह अस्थिकाण्डकोटि (मेटाफिसिस) का रोग है और लम्बी अस्थियों के सिरों पर मिलता है और बालकों या किशोरों को होता है तथा अधिवर्ध को तब तक नहीं छूता जब तक कि अधिवर्धरेखा अन्तर्कोषीय (इण्ट्राकैप्सूलर) न हो। यह परीपाक अस्थि के जोड़ तक नहीं पहुचता। यह रोग टिबिया में प्रायः पाया जाता है। टिबिया या वह हड्डी जहां अस्थि मज्जशोथ होना है उसका सिंचन करने वाली पोषक धमनी में घनास्र पैदा हो जाने के कारण रक्तमार्ग अवरुद्ध हो जाने से यह विकार रक्त की अस्थि के अन्दर कमी होने से बनता है। जहां यह रोग बनता है वहां की पर्यस्थि उठ जाती है। रक्ताल्पता और पर्यस्थशोथ दोनों मिलाकर भी रोगोत्पत्ति कर सकते हैं साथ में सैप्टीसीमिया कसकर होता है जो मारक भी सिद्ध हो सकता है। इस रोग की जांच करने से पता चलता है कि रोग का प्रमुख कारण स्टैफिलोकोकाय होता है। इसकी

दवा पेनिसिलीन है। एम्पिसिलीन अच्छी मात्रा में देने से भी रोग पर काबू पा लिया जाता है और हड्डी पर अधिक चीरफाड़ की आवश्यकता नहीं होती। पहले तीव्र विषाक्तता रोकने के लिए टैट्रासाइक्लीनवर्ग के द्रव्यों या पेनिसिलीन एम्पीसिलीन का प्रयोग कर उसकी तीव्रता को कम किया जाता है फिर अस्थि में ऑपरेशन कर मृतऊतक पूयादि को निकाल दिया जाता है। डाईक्रिस्टिलीन के इंजैक्शन सोडियम पेनिसिलीन जी दसलाख यूनिट की मात्रा में सुई द्वारा पेशी में देते हैं। अंग को प्लास्टर आफ पैरिस के ढांचे में बन्द कर पूर्ण, विश्राम दिया जाता है। शोथ या विद्रधि के स्थान पर एक स्लिट काट दी जाती है ताकि उसका प्रतिदिन निरीक्षण किया जा सके। ३ सप्ताह लगातार पेनिसिलीन या स्टैप्टोपेनिसिलीन आदि दिये जाते हैं। विषाक्तता रोकने के लिए सिरा द्वारा ग्लूकोज-सैलायन भी चढ़ाया जाता है। अगर इतना सब करने पर भी रोग न थमें तो ऑपरेशन करना पड़ता है। कभी-कभी हड्डी के ऊपरी भाग में एक विद्रधि बन जाती है जो रोगी को बहुत कष्ट देती है। यह विद्रधि फूट जाने पर रोगी को चैन पड़ जाता है। इसे फोड़ने के लिए सर्जन को कभी-कभी ऑपरेशन करना पड़ता है।

इसके लिए यह उस शोथ के ऐसे भाग को ढूढ लेता है जहां कोई रक्तवाहिनी न हो अगर यह विद्रधि कोमल ऊतकों में मिल जाय तो यह कोशिश की जाती है कि इसका सम्बन्ध पैरी ऑस्टियम के साथ कहां है फिर इसे ऊपर-ऊपर से खोलते हैं। यत्न यह रखना चाहिए कि संक्रमण अधिवर्ध तक न फैल जाय जो जोड़ को भी लपेट में ले ले। फिर विद्रधि का शोधन कर उसमें प्रतिजीवी द्रव्य या पेनिसिलीन का चूर्ण बुरक देते हैं और सिर्फ त्वचा को सीं दिया जाता है। ४-५ दिन बाद फिर उस घाव का निरीक्षण किया जाता है और औषधि प्रयोग और प्लास्टर का उपयोग चालू रखा जाता है। इस प्रकार ३ हफ्ते तक उपचार चलता है। अगर पेनिसिलीन या अन्य प्रतिजीवी देने के २ दिन बाद भी रोगी की दशा में सुधार न मिले तो और विषाक्तता और कष्ट बढ़ता जाय तो अस्थिखोल कर उसको ड्रेन करना आवश्यक हो जाता है। उसके लिए हड्डी के बाह्यक में बर्मे से छेद किये जाते हैं अधिवर्ध रेखा के पास से छेद करते जाते हैं जब तक कि वह स्थान न मिल जाय जहां से पूय निकलने लगे। इसके लिए एक टूर्निके लगाकर अस्थि को अनावृत कर लिया जाता है फिर पेरिऑस्टियम में एक छोटा सा चीरा दिया जाता है बड़ा चीरा नहीं देते अन्यथा अस्थि के पोषण में बाधा पड़ती है। फिर ४ मिमी व्यास का एक छेद पेरिऑस्टियम हटे भाग में करते हैं अगर इसी से पूय निकलने लगे तो दूसरा छेद नहीं किया जाता अन्यथा एक के बाद एक कई छेद तक करने पड़ते हैं।

जिस छेद से पूय निकले उसे और चौड़ा कर सकते हैं। जो हथौड़ा छैनी से हड्डी में अधिक व्याघात कर देते हैं वे हड्डी में उपसर्ग अधिक बढ़ाने के दोषी बनते हैं। उसके बाद ऊपर जो विद्रधि का इलाज बताया है वैसे करते हैं।

ऊपर जो ज्ञान आधुनिक शल्य-शास्त्रज्ञों ने दिया है इसमें आचार्य सुश्रुत का अनुभव भी जोड़ना अनुचित न होगा। वह कहता है कि कोशिश यह करो कि मज्जागत विद्रधि पके नहीं।—"नोपगच्छेत् यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्"—सोचिए उस युग में भी सर्जन बिना प्रतिजीवी और जीवाणुनाशकों के भी विद्रधि पाक को रोकते थे क्योंकि पककर फूटने में फिर सिद्धि सरल नहीं थी—"पर्यागते विद्रधौ तु सिद्धिर्नैकान्तिकी स्मृता" इसलिए मज्जागत विद्रधि के इलाज के लिए चिकित्सक मना भी कर सकता है—"प्रत्याख्याय तु कुर्वीत मज्जजातन्तु विद्रधिम्"। पर यदि इलाज करना ही पड़े तो यह व्यवस्था करे:——

स्नेहस्वेदोपपन्नानां कुर्याद्रक्तावसेचनम्।
विद्रध्युक्तां क्रियां कुर्यात् पक्वे वास्थि तु भेदयेत्॥
निःशल्यमथ विज्ञाय कर्त्तव्यं व्रणशोधनम्।
धावेत् तिक्तकषायेण तिक्तं सर्पिस्तया हितम्॥

पहले स्नेहन, स्वेदन कराके फिर रक्तावसेचन करे तथा विद्रधि के लिए उपयुक्त जो चिकित्सा अन्यत्र लिखी गई है उसे करे अगर वह पक ही जाय तो उसका भेदन (ड्रिलिंग जो ऊपर लिखा है वैसे) करे फिर उसका पूय आदि शल्य को निकालने के लिए व्रणशोधन करने हेतु तिक्तरस प्रधान द्रव्यों से धोवे फिर तिक्त घृत लगावे।

भग्नों और सन्धि विश्लेषों की सुश्रुतीय चिकित्सा

नीचे सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय ३ से। भग्न चिकित्सित का संक्षिप्त विवरण उस काल की झांकी की दृष्टि से दे रहे हैं जिसे पढ़कर विद्वान् पाठक यह ज्ञान कर सकते है कि सुश्रुत कालीन भारत में फ्रैक्चरों तथा डिस्लोकेशन पर सफल उपचार किया जाता था।

१. कष्टसाध्य भग्न—जो व्यक्ति थोड़ा भोजन करता हो अजितेन्द्रिय हो वातात्मक प्रकृति वाला हो और उपद्रवों से युक्त हो उसका अस्थिभग्न कठिनाई से ही ठीक होता है।

२. भग्न में अपथ्य—लवण, कटुरस प्रधान पदार्थ, खट्टे पदार्थ, मैथुन, धूप या गर्मी का सेवन और व्यायाम तथा रूक्षान्न का सेवन अस्थिभग्न से पीड़ित को नहीं सेवन करना चाहिए।

३. भग्न में पथ्य—शालि चावल, मांसरस, दूध, घृत, यूष, बड़ी मटर, बृंहण (शरीर मांस वर्द्धक) अन्न-पान अस्थिभग्न से पीड़ित को देना चाहिए।

४. कुशा (स्प्लिण्ट) प्रयोग—कुशाशब्देन भग्न-बन्धनार्थं वंशादिकं प्रोच्यते अतः आधुनिक स्प्लिंट शब्द से जो जाना जाता है आयुर्वेद में उसे कुशा कहा करते थे। महुआ, गूलर, पीपल, ढाक, अर्जुन बांस, सर्ज, वट इनका या इनकी छालों या लकड़ियों का प्रयोग कुशा के रूप में होता था।

५. आलेपनार्थ द्रव्य प्रयोग—मजीठ, मुलहठी, लाल चन्दन के साथ शालिचावलों की पीठी शतधौतघृत में मिलाकर लेप करते हैं।

६. भग्न चिकित्सा का विवरण—कुशा बन्धन ऋतु के अनुसार करने का सुश्रुत का सुझाव है। सौम्य ऋतुओं में ७-७ दिन साधारण ऋतुओं में ५-५ दिन तथा ग्रीष्म ऋतु में ३-३ दिन बन्धन किया जाता है।

इस बन्धन के विषय में सुश्रुत का ध्यान सन्धिस्थैर्य या ऐंकिलोसिस के लिए बराबर जाता रहा है तदनुसार बन्धन को बहुत कड़ा खासकर जोड़ पर न बांधने का निदेश है—"तमातिशिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते"। साथ ही बहुत कड़ा बांधने से त्वचादि ऊतकों में शोफ और पाक का भय रहता है—"गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रूक्पाक एव च"। इसलिए लिखा है—"तस्मात्साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः"। अर्थात् बन्धन न बहुत कड़ा न बहुत ढीला साधारण ही रखने की तद्विज्ञ प्रशंसा करते हैं।

भग्न पर परिषेक या जल ढालने का भी बड़ा महत्त्व था सामान्यतया पंचक्षीरी वृक्षों का कषाय ठण्डा करके प्रयोग किया जाता था। अगर भग्न स्थान में वेदना हुई तो लघुपञ्चमूल से सिद्ध गरम-गरम दूध ढाला जाता था या चक्रतैल गुनगुना-गुनगुना मला जाता था। काल और दोष का विभाजन करते हुए विविध दोषनाशक कषायों या औषधियों का परिषेक और लेप किया जाता था।

किस प्रकार कैलस फौर्मेशन अच्छी तरह हो इसके लिए कुछ क्षीरपाक पिलाये जाते थे। इनमें एक मधुर वर्गीय औषधों से सिद्ध गृष्टिक्षीर दिया जाना भी है। डल्हणाचार्य ने गृष्टिक्षीर में गृष्टि से, प्रथम प्रसूता गौ के दूध को देने का विधान बतलाया है इसे ठण्डा करके लाख का चूर्ण मिलाकर देते थे। लाख का चूर्ण अन्दर के रक्त-स्राव को रोकने की दृष्टि से दिया जाता था। गृष्टि का दूध कैल्शियम और जीवनीय पदार्थों से भरा हुआ बछड़े की हड्डियों को जब मजबूत करने की सामर्थ्य रखता है तो वह भग्न अस्थियों को क्यों न जल्दी जोड़ेगा इसी आधार पर इसका प्रयोग किया जाता है।

कभी-कभी कम्प्लैक्स या कम्पाउण्ड फ्रैक्चर में व्रण त्वचा पर बन जाता है उसके लिए भी सुश्रुत ने घृत और शहद मिलाकर लेप करना या उन्हें मिलाकर कषायों से प्रतिसारण देने का विधान किया जाता था।

किस आयु में कौन भग्न कितनी जल्दी ठीक होता है इस पर भी सुश्रुत का अपना अनुभव है। मानवजीवन के प्रथय काल (प्रथम वयस्—बाल्यकाल से किशोरावस्था तक) अस्थिभग्न शीतऋतु में हुआ हो तो भी जल्दी ठीक हो जाता है। नियम यह है—

प्रथमे वयसि त्वेवं मासाद् सन्धिः स्थिरो भवेत्।
मध्यमे द्विगुणात् कालाद् उत्तरे त्रिगुणात् स्मृतः॥

कि प्रथम वयस में एक महीने के अन्दर टूटे हुए अस्थि टुकड़ों का सन्धान हो जाता है। मध्यमवय (२०

से ४० वर्ष तक) दुगुना समय लगता है तथा उसके ऊपर तीन गुना समय लगा करता है। यह काल प्लास्टर आफ पैरिस के आविष्कार से बहुत पहले का है। आज कल २१ दिन में सन्धि जुड़ जाती है ऐसा सर्जनों का ख्याल है पर कभी-कभी विशेषकर अधिक आयु हो और दोषों का तारतम्य अधिक हो तो देर लगती है।

७. भग्न सन्धान के नियम—भग्न अस्थिशकलों को कैसे जोड़ा जाय इसके लिए सुश्रुत ने एक सिद्धान्त इन शब्दों में निरूपित किया है जो आज भी उतना ही कारगर है जितना कि पहले था—

i. अवनामितमुन्नह्येत्—दबे को उठावे

ii. उन्नतञ्चावपीडयेत्—उठे को दबावे

iii. आञ्छेदतिक्षिप्तम्—दूर गये हुए को ठीक से सैट करे

iv. अधोगतञ्चोपरि वर्त्तयेत्—जो भाग नीचे चला गया हो उसे ऊपर उठावे

उस प्रकार—

आञ्छनैः पीडनैश्चैव संक्षेपैर्बन्धनैस्तथा ।
सन्धीञ्शरीरेसर्वांस्तु चलान्यप्यचलानपि ॥
एतैस्तु स्थापनोपायैः स्थापयेन्मतिमान् भिषक् ॥

सन्धिस्थापन या अस्थिभग्न जोड़ने के विविध उपाय i. आंछन, ii. पीड़न, iii, संक्षेपता, iv. बंधन, आदि दिये हैं। भग्न के अतिरिक्त सन्धि विश्लेषों में भी इनका उपयोग किया जाता है। चल, अचल सभी सन्धियों का स्थापन करने के लिए ये ४ उपाय काम में लाये जाते हैं।

८. सन्धिविश्लेषणों का उपचार—उत्पिष्ट (फैक्चर डिस्लोकेशन) तथा विश्लिष्ट (इन्कम्प्लीट डिस्लोकेशन) होने पर सन्धि का घट्टन (हिलाना-डुलाना) न करें। उस पर शीत परिषेक या आलेप लगावे। चोट के कारण अपने स्थान से हटी हुई हड्डी स्वतः भी कभी-कभी अपने स्थान पर आ जाती है। घी से भीगी पट्टी बांध ऊपर से कुशा रखकर बन्धन कर देना चाहिए।

९. प्रत्यंगभग्न चिकित्सा विधि—नीचे विविध अंग प्रत्यंगों पर की जाने वाली चिकित्सा दी जा रही है—

उत्पिष्टनख सन्धि चिकित्सा—जब नख सन्धि उत्पिष्ट, कटपिस जाय तो और वहां रक्त एकत्र हो जाय, तो आराशस्त्र या सूजे से रक्त निकाल दें फिर उस पर शालिचावलों की पीठी बांध दें।

सन्धिमुक्त या भग्न अंगुलि चिकित्सा—जब अंगुलि में मोच आ जाय या उसके अन्दर की हड्डी टूट जाय तो पहले फ्रैक्चर को ठीक से स्थापित (सैट) करे फिर बारीक कपड़े की पट्टी बांधे और घी से सेके।

पादतल भग्न चिकित्सा—अगर पैर के तलवे में कोई हड्डी टूट जाय तो पहले वहां घी मले फिर कुशा स्प्लिण्ट) लगावे और कपड़े की पट्टी ऊपर से बांध दे तथा कोई व्यायाम चलना फिरना न करे। आज वही कार्य प्लास्टर आफ पैरिस से लिया जाता है।

भग्नजंघोरु चिकित्सा—अगर जंघा या उरु की लम्बी हड्डी टूट जाय तो उस पर तेल चुपड़कर जंघा या उरु का आयामन करके ठीक-ठीक बैठा दे फिर पेड़ की छाल उसी आकार की उतार ठण्डी-ठण्डी रखकर कपड़े की पट्टी से उसे ठीक-ठीक बांध दें।

निर्गत ऊर्वस्थि चिकित्सा—अगर फीमर अपने स्थान से हट गई हो तो उसे चक्र योग से (घुमा-घुमा कर) ठीक से उसे आंछे (बैठा दे) अगर वह स्फुटित या पिच्चित हो चुकी हो तो टूटी फूटी हड्डियों के लिए जो विधि ऊपर बतलाई गई है तदनुसार उपचार करते हुए उसे कुशा लगाकर कपड़े की पट्टियों से बांध दे।

कटिभग्न चिकित्सा—कटिभग्न हो जाने पर अगर ऊर्ध्वभग्न हो तो उसे नीचे को लाकर और निम्न भग्न हो तो उसे ऊपर को उठा कर अपने स्थान पर स्थित कर दे फिर स्नेह वस्तियों का प्रयोग करे।

पर्शुकाभग्न चिकित्सा—बांये ओर की या दाहिने ओर की पसली की हड्डी के टूट जाने पर घी चुपड़ कर खड़े-खड़े ही बांस की पतली खपच्चियों को समानान्तर रुई लगा कर बांध दे और उसे तैल पूर्ण द्रोणी में सुलावे।

स्कन्धभग्न चिकित्सा—कन्धे में या हँसली की हड्डी में भग्न हो जाने पर बगल (कक्षा) के अन्दर मूसल जैसी चीज रखकर उसे ऊंचा उठा कर हड्डी को ठीक-ठीक बैठाकर स्वस्तिकबन्ध (फिगर आफ 8 बैंडेज) से बांध दें।

कौर्पर सन्धि विशेष चिकित्सा—अगर कूर्पर (कुहनी) की सन्धि पर मोच आ जाय या हड्डी टूट जाय तो उसे अंगूठे से ठीक से धीरे-धीरे मल कर बैठा दे फिर

उस सन्धि को दबा कर सन्धिच्युति को ठीक करे और प्रसारण—आकुंचन करके स्नेहन और सेंक दे। इस प्रकार जानु और गुल्फ सन्धियों को हस्तक्रिया (मैन्युपुलेशन) द्वारा बैठावें।

हस्ततलभग्न चिकित्सा—दोनों हाथों को एक साथ रखकर देखे तथा विकारग्रस्त हस्ततल को स्वस्थ जैसा करे फिर ताजे तैल से परिषेक करावे फिर उसके हाथ में गोबर का गोला रखे फिर मिट्टी का लोंदा रखे बाद में पत्थर की गेंद रखवावे, इस प्रकार तब तक करता रहे जब तक हाथ में बल न आ जाय।

नतोन्नत अक्षक चिकित्सा—अगर हंसली की हड्डी (क्लैविकिल) यदि झुक जाय तो उसे मुशल से उठावे और उठी हो तो झुकावे। उससे पहले उसका स्वेदन करले तत्पश्चात् कसकर बांध दें।

उस के समान ही बाहुभग्न की चिकित्सा करे।

विवृतग्रीवा चिकित्सा—ग्रीवा के पीछे झुक जाने पर अवटु और हनु पर हाथ लगाकर उसे उठावे या ऊंचा करे फिर कुशा लगा कर पट्टी बांध दे तथा ७ रात्रि उत्तान सुलाये रहें हिलने-डुलने न दे।

हनुसन्धि विसंहति—जब हनु (जबड़े) की सन्धि का विश्लेष हो जाय तो उसका स्वेदन कर ठीक-ठीक बैठावे फिर पंचांगी बन्ध बांध दे। साथ ही वातघ्न चव्यादि गण के द्रव्यों से तथा मधुरादि गण द्रव्यों से सिद्ध घृत की नस्य दे।

चलितदन्त चिकित्सा—अगर दांत टूटा हुआ न हो और व्यक्ति तरुण हो तो मसूड़े में संचित रक्त को दबा दबा कर निकाल दे और शीतल द्रव्यों से आलेपन करे फिर शीतल जल से सिञ्चन करे तथा सन्धान वर्गीय (न्यग्रोधादि गण) द्रव्यों का प्रयोग करे। कमल की पोली नाल से उसे दूध पिलावे। बुड्ढे आदमी के दांत अगर हिल गये हों तो उन्हें निकल जाने दे—जीर्णस्य तु मनुष्यस्य वर्ज्जयेच्चलितान् द्विजात्।

सन्न नासा या विवृत नासा चिकित्सा—अगर किसी चोट से नासिका दब गई हो या टेढ़ी पड़ गई हो तो उसे शलाका से सीधी करके एक-एक नासारन्ध्र में २-२ छिद्र वाली एक-एक नाली या ट्यूब डाल कर फिर उस पर पट्टी लपेट दे और घी से परिषेक करे।

भग्नकर्ण चिकित्सा—अगर कान फट गया हो तो उसे ठीक-ठीक करके चुपड कर सद्य क्षत को ठीक करने का जो उपचार है उसे करे।

कपालभिन्न की चिकित्सा—अगर सिर फट जाय फिर भी अन्दर का मस्तुलुंग न निकले तो शहद और घी लगाकर बांध दे और घी पिलावे—

> मस्तुलुङ्गाद् विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी।
> दत्त्वा ततो निबध्नीयात् सप्ताहञ्च पिबेद् घृतम्॥

अक्षत शूनाङ्ग चिकित्सा—अगर गिर जाने या चोट लग जाने के बाद शरीर का कोई भाग सूज जाय पर अंग अक्षत रहे तो शीतल प्रदेह और शीतल सेंकों का प्रयोग करें।

जंघोरुभग्न चिकित्सा—

> अथ जंघोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम्।
> कीलका बन्धनार्थञ्च पञ्च कार्या विजानता॥
> यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा।
> सन्धेः उभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः॥

जंघा तथा ऊरु के भग्नों में कपाटशयन का प्रयोग हितकारी माना जाता है। कपाटशयन के विषय में डल्हणाचार्य ने लिखा है—कपाटशयनमवश्यं कार्यम्। चलनं कपाटशयनेनैव सह देशान्तरनयनार्थम्, आधारभूतशयनचालनार्थमित्यन्ये। आधेयभूत शरीरावयवचलनपरिहारार्थ कीलाः। कि कपाटशयन का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। कपाट (तख्ते पर) शयन (सुलाना) एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोगी को ले जाने के लिए ठीक रहता है। क्योंकि इसमें रोगी को नहीं चलना पड़ता रोगी जो कपाट आधार पर आधेय रूप में पड़ा हुआ है उसके शरीरावयवों की हलचल रोकने के लिए प्रयोग किया है। कपाट में कीलें गड़ी होती हैं जिनसे रोगी को स्थान-स्थान पर बांधा जाता है। आजकल जिसे इम्मोबिलाइजेशन कहा जाता है तथा जो प्लास्टर आफ पैरिस से आज प्राप्त किया जाता है।

जंघा (लैग) तथा ऊरु (थाई) में कहीं भी हड्डी टूट जाने पर रोगी को एक चिकने चौड़े तख्ते पर लिटाते हैं। बन्धन के लिए ५ कीलें गाड़ी जाती हैं। ताकि भग्न स्थान हिल न सके। २-२ कीलें सन्धि के दोनों ओर एक कील तल पर लगाई जाती है। श्रोणि या पृष्ठवंश

या वक्ष के दोनों अक्षकों के भग्नों में भी इसी विधि का उपयोग करते हैं। भग्नसन्धिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत्। इन सन्धियों के विमोक्ष तथा भग्नों में कपाटशयन की यह विधि प्रयोग में लाई जाती है।

चिरविमुक्त सन्धियों को स्निग्ध स्विन्न कर मृदु करलें फिर उपर्युक्त विधान का आश्रय लेते हुए सन्धि-मोचन को बुद्धिपूर्वक दूर कर सन्धि को प्रकृति में लावे।

प्ररूढ काण्डभग्न चिकित्सा—अगर कोई काण्ड-भग्न गलत जुड़ गया हो या विषम रूप से या उल्बण रूप से जुड़ गया हो तो—

(i) आपोथ्य—उस गलत जुड़े भाग को विश्लिष्ट कर दे और तोड़ दे।

(ii) समयेद्—फिर से बराबर करके लगावे।

(iii) ततो भग्नवदाचरेत्—फिर उसका भग्न की तरह उपचार करे।

(iv) कल्पयेन्निर्गतं शुष्कं व्रणान्तेऽस्थि समाहितः—अगर कोई हड्डी का अंश बाहर निकल आया हो और सूख गया हो तो उसे सावधानी से व्रण के अन्त भाग तक बिना कहीं अन्य घाव बनाए काट दे।

(v) सन्ध्यन्ते वा क्रियां कुर्यात् सव्रणो व्रणभग्नवत्—फिर सन्धि के पास सव्रण भग्न में व्रणभग्न के अनुसार चिकित्सा करे। ऊर्ध्वकायगत भग्नों में शिरोबस्ति तथा तैल में भिगोये पिचुप्लोत प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। कान में तैल डालते हैं। शाखाभग्नों में घृतपान, नस्य और अनुवासन बस्ति प्रयोग का विधान है।

गन्ध तैल—

सुश्रुत संहिता के चिकित्सा-स्थान के तीसरे अध्याय में भग्नस्य साधक तैल का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार एक कपड़े में काले तिल लेकर बांध ले और उसे प्रतिरात्रि बहते पानी में रखे। दिन में सुखा कर गाय के दूध की उनमें भावना दे इस प्रकार करते हुए तृतीय सप्तरात्रि (३ सप्ताह बाद) मुलहठी के क्वाथ की भावना दे फिर चौथे सप्ताह उन्हें खूब दूध में भिगोकर सुखा ले फिर इसमें काकोल्यादि गण के द्रव्य, मुहलठी, मजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चन्दन, सौंफ इनके चूर्णों को तिल के चूर्ण में मिला दे। फिर एलादि गण के सुगन्धित द्रव्यों के साथ दूध को उबाल कर उस दूध की भावना तिलों में देकर तेल पेर ले। इस प्रकार प्राप्त तैल को उससे चार गुने दूध के साथ पकावे। पकाते समय इलायची, शालपर्णी, तेजपत्र, जीवक, तगर, लोध्र, प्रपौण्डरीक, कालानुसार्य (तगर), पियाबांसा, क्षीरविदारी, अनन्तमूल, मधूलिका (रागी) और सिंघाड़ा इन्हें पीसकर मिलावे तथा काकोल्यादि गण के द्रव्य, मुलहठी, मजीठ, सारिवा, कुष्ठ, सर्जरस, मागी, देवदारु, चन्दन तथा शतपुष्पा भी पीसकर डाले, मन्द मन्द अग्नि पर तैल पकालें। यह तैल सदैव भग्न सम्बन्धी सब कामों के लिए हितकर होता है। आक्षेपक, पक्षवध, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णशूल, हनुग्रह, बधिरता, तिमिर, स्त्री द्वारा उत्पन्न कार्श्य सभी में पान, अभ्यंग, नस्य और बस्ति तथा भोजन में प्रयोगार्थ उत्तम है। इसके प्रयोग से ग्रीवा, कन्धों और वक्ष में वृद्धि होती है मुख कमल के समान हो जाता है श्वास भी सुगन्धित हो जाता है। यह सर्व वातविकार नाशक तैल है यह राजाओं के प्रयोग के लिए आवश्यक है तथा उनके लिए विशेष रूप से इसका निर्माण किया जाना चाहिए।

खीरे के बीज, बहेड़े की मींगी और चिरोंजी के तैल और वसा मिलाकर मधुर गण के द्रव्यों के साथ दस गुने दूध के साथ पकाने और पान, अभ्यंग नस्य तथा बस्तिकर्म के रूप में प्रयोग करने एवं परिषेकार्थ प्रयोग से यह भग्न को शीघ्र जोड़ने में साधक बनता है।

एक सूचना—पाक से संरक्षण

भग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
पक्वमांससिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिध्यति॥

भग्न भाग पक न जाय इसका वैद्य प्रयत्न करे। क्योंकि मांस, सिरा तथा स्नायुओं में पाक हो जाने पर वह भग्न कठिनता से ही ठीक होता है।

सम्यक् संहित भग्न

भग्नं सन्धिमनाविद्धं अहीनाङ्गं अनुल्बणम्।
सुखचेष्टाप्रचारञ्च संहितं सम्यगादिशेत्॥

जब भग्न स्थान अनाविद्ध (अनाकुल—कष्टरहित) हो जावे, अहीनाङ्ग (अंग पूरी तरह विकसित) होले, अनुल्बण (उठा न हो) तथा आकुञ्चन-प्रसारणादि क्रियाएं सुखपूर्वक होने लगें तो समझना चाहिए कि पूरी तरह सन्धानित हो गया है।

संधिरोग परीक्षण और संधिशोथ

आयुर्वेदाचार्य गोपालशरण गर्ग, बी.ए.एम.एस. स्वर्णपदकलब्ध, सम्पादक—सुधानिधि

अब नीचे हम विविध अस्थि—सन्धियों के विकारों के परीक्षण या निदान की आधुनिक विधि इन पंक्तियों में दे रहे हैं। यह विषय शल्यशास्त्र में बहुत महत्वपूर्ण है और प्रत्येक आयुर्वेदज्ञ के सन्मुख प्रायः आता रहता है। इस विषय पर प्राचीन वाङ्मय से निदान में उतनी सहायता नहीं मिलती जितनी कि आधुनिक विज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव से यद्यपि सन्धियों की मेडिकल चिकित्सा में आयुर्वेदोपचार का भी कोई मुकाबला नहीं है। अब हम अधोशाखा की सन्धियों से अपना लेख शुरू करेंगे।

नितम्बसन्धि—नितम्ब सन्धि में क्या विकार है इसके ज्ञान के लिए रोगी को चलाकर देखना चाहिए। चाल कैसी है, चलते समय स्वस्थ पैर की ओर या अस्वस्थ पैर की ओर जोर देता है इसका अच्छी तरह निरीक्षण किया जाना आवश्यक है। नितम्ब सन्धि में विकार होन पर भी उसकी कई क्रियाएं श्रोणि द्वारा सुधार दी जाने से उसके विकार का काफी समय तक पता नहीं चलता। विकारकाल में आकुंचन, (फ्लैक्जन), अपावर्तन (ऐब्डक्शन), अभिवर्तन, (ऐडक्शन) इन क्रियाओं में कोई भी कम हुई तो व्यक्ति चल नहीं सकता। उसकी पूर्ति श्रोणि द्वारा की जाती है। पर जब विकृति और आगे बढ़ जाती है तब श्रोणि की सहायता भी पर्याप्त नहीं हो पाती। जब ऐसा रोगी चिकित्सक के पास लाया जाता है तो उसे कुछ परीक्षण करने पड़ते हैं ताकि वह रोग का ठीक-ठीक पता लगा सके :—

i. पहले आकुंचन ही लें। रोगी को मेज पर लिटादें दोनों पैर सीधे कर दें। निरीक्षण पर ज्ञात होगा कि कटि-क्षेत्र का मेरुदण्ड ऊंचा उठ गया है तथा मेरुदण्ड और ऊरु के मध्य एक कोण बन गया है। अगर दूसरे पैर को घुटने पर मोड़ पेट पर मोड़ा जाय तो विकारी पैर अपने आप ऊपर उठ जाता है और मेरुदण्ड और ऊरु का कोण ज्यों का त्यों रहते हुए भी मेरुदण्ड का ऊपर का उठाव सीधा हो जाता है। इस प्रकार उस स्थिर कोण से ऊरु का नितम्ब सन्धि पर स्थिर आकुंचन का पता लग जाता है। कितना आकुंचन है उसे मेज और विकारी पैर के उठने से बने कोण से जान लेते हैं।

नितम्ब सन्धि के अपावर्तन (ऐब्डक्शन) और अभिवर्तन (ऐडक्शन) के ज्ञान के लिए रोगी को नंगा मेज पर लिटाते हैं और उसके अग्र इलियक स्पाइनों को मिलाकर एक रेखा खींचते हैं यह रेखा क्षैतिज (हॉरिजण्टल) तल में तथा शरीर की मध्यरेखा के समकोण पर प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति में पाई जाती है। अगर नितम्ब सन्धि में अपावर्तन या अभिवर्तन का कोई विकार हो तो वह कदापि क्षैतिज एवं मध्यरेखा के साथ समकोण नहीं बना सकती। अपावर्तन में प्रभावी नितम्ब की ओर यह रेखा नीचाई पर होगी तथा अभिवर्तन में यह रेखा ऊंचाई पर होगी। यह जानने के लिए कि अपावर्तन कितना है गुल्फ के ऊपर टांग को पकड़कर धीरे से इतना अपावर्तित करते हैं कि यह रेखा सीधी होकर मध्य शरीर रेखा से समकोण बनाने लगे। इस घुमाव को नाप लेते हैं। इसी प्रकार अभिवर्तन के लिए टांग को दूसरी टांग की ओर उतना लाते हैं कि रेखा सीधी होकर क्षैतिज तल पर आ जाय और मध्य शरीर रेखा से समकोण बनाने लगे।

यक्ष्मा से पीड़ित नितम्ब सन्धि में प्रारम्भ में आकुंचन, अपावर्तन और बहिर्घूर्णन (ऐक्सटर्नल रोटेशन)

मिलता है। इस काल में जोड़ की गुहा में स्राव भरता जाता है। बाद में जब यक्ष्मिक सन्धिशोथ (आर्थ्राइटिस) पैदा हो जाती है तब यह सन्धि आकुंचन, अभिवर्तन और अन्तर्घूर्णन (इंटर्नल रोटेशन) से मुक्त हो जाती है। क्योंकि इस समय पेशी में स्पाज्म (आकर्ष या उद्वेष्ट) उत्पन्न हुआ रहता है। साथ ही पैर ओछा पड़ता है। एक और नितम्ब सन्धि का रोग कॉक्सा वैरा (कॉक्सा=नितम्ब, वैरा=अन्तर्नत) होता है इसमें थोड़ा सा अभिवर्तन पर बहुत अधिक वहिर्घूर्णन मिलता है।

नितम्बसन्धि में अनेक गतियां होती हैं इनमें किस गति में गड़बड है इसका ज्ञान भी करना चाहिए और कैसे उसका ज्ञान होता है उसे भी जानना चाहिए इसके लिए क्लीनिकल सर्जरी की डा० के० दास की पुस्तक बहुत अच्छी है। ये गतियां हैं—आकुंचन, प्रसारण, अपावर्तन, अभिवर्तन, घूर्णन और पर्यावर्तन या सर्कमडक्शन। इसके लिए पूरा ज्ञान करने के लिए उक्त पुस्तक को दि सिटी बुककम्पनी १५ बंकिमचन्द्र चटर्जी स्ट्रीट कलकत्ते से लेकर पढ़ना चाहिए पर यह अंगरेजी में है इसका हिन्दी अनुवाद कराना चाहिये यह हमारी प्रकाशकों से विनय है।

जानुसन्धि का परीक्षण—इस सन्धि की विकृति में भी पहले रोगी को चलवाकर देखना चाहिए। बाद में उसे लिटाकर परीक्षा की जानी चाहिए। लिटाने के बाद पौप्लीटियल खात का भी अच्छी तरह अवलोकन किया जाना चाहिए। निरीक्षण करते समय यह भी देखें कि जब जानुसन्धि में व्रणशोथ या इन्फ्लेमेशन होता है तो वह कुछ थोड़े आकुंचन में अधिक आराम का अनुभव करता है। आगे चलकर रोग के बढ़ते चले जाने पर स्नायु नष्ट हो जाने से घुटने के अन्दर की पेशियों में आकर्ष उत्पन्न हो जाता है जिससे वहां तिहरी सन्धिच्युति हो जाती है अर्थात् जानुसन्धि में आकुंचन, पश्च आंशिक सन्धिच्युति (पोस्टीरियर सबलक्जेशन) तथा पार्श्वघूर्णन (लैटरल रोटेशन) मिल जाता है। यह तिहरी सन्धिच्युति उन रुग्णों में पाई जाती है जिनकी जानुसन्धि में यक्ष्माजन्य या पूयजन्य सन्धिशोथ एक अर्से से बराबर चल रहा हो और उसकी परवा न की गई हो। इस लापर्वाही के कारण जानुसन्धि के स्वस्तिक स्नायु तथा समपार्श्विक स्नायु का विनाश हो जाता है जिसके कारण यह तिहरी विच्युति बनती है। कभी-कभी पैर बहुत अधिक अभिवर्तित हो जाता है जिसे जैनु वालगम कहते हैं कभी बहुत अभिवर्तित हो जाता है जिसे जैनु वेरम कहते हैं कभी अति प्रसारित हो जाता है जिसे जैनु रिकर्वेटम कहते हैं।

जानुसन्धि में शोथ या सूजन कितनी है इसे भी जानना चाहिए। कभी-कभी तो जानुसन्धि के आगे पीछे और पार्श्व में जो नत स्थान बने होते हैं वे सभी भर जाते हैं। इस अवस्था में समझना चाहिए कि जानुसन्धि के अन्दर स्राव या निःसरण (ऐफ्यूज़न) भर गया है। अगर सन्धिभाग के बाहर पटेला की स्नायु तक शोथ बढ़ गया हो वह सन्धि के अन्दर के स्राव के कारण नहीं हो सकता साथ ही बाहर की सूजन सभी नतस्थानों (डिप्रेशन्स) को फुला देने की सामर्थ्य नहीं रख सकती। दोनों जानुसन्धियों में एक साथ स्राव का भरा जाना या तो हीमोफिलिया के कारण संभव होता है या सिफलिस के कारण।

किसी जोड़ के अन्दर निःसरण हुआ कि नहीं इसके लिए २ परीक्षाएं की जाती हैं एक को पैटलर टैप कहते हैं इसके लिए पटेला के ऊपर की पाउच को एक हाथ से दबाते हैं ताकि सारा स्राव सन्धि के अन्दर चला जाय और उसमें पटेला तैर निकले। अब दूसरे हाथ से पटेला को फीमर की ओर दबाते हैं। अगर स्राव मौजूद होगा तो पटेला फीमर को छूता हुआ अनुभूत होगा। इसी समय दूसरी परीक्षा फ्लक्चुएशन की की जाती है। जिससे इसके लिए एक हाथ से ऊपर से पटेला की पाउच को दबाते हैं और दूसरे हाथ से पटेला के नीचे जमाकर रखते हैं तरल की तरंग का अनुभव करते हैं।

जानुसन्धि की गतियों में एक आकुंचन की होती है जिसमें एड़ी नितम्ब या वटक को छू लेती है। दूसरी प्रसारण की होती है जब ऊरु और जंघा एक सीधी रेखा में आ जाते हैं। आधी आकुंचन की दशा में जानुसन्धि कुछ-कुछ पार्श्व की ओर घुमाई जा सकती है।

जानुसन्धि की विकृति के ज्ञान हेतु क्षकिरण चित्र बहुत सहायक होता है। अगर जानुसन्धि में दर्द हो तो यह आवश्यक नहीं कि रोग या विकार जानुसन्धि में ही हो। कभी-कभी जानुसन्धि में कोई विकार नहीं होता तथा दर्द नितम्ब सन्धि में विकार होने के कारण यहां अनुभूत

होता है। इसे रिफर्ड पेन या अन्यत्रानुभूत वेदना कहा जाता है।

पॉप्लीटियल फौसा (जानुपृष्ठ खात) के शोथों के बावत भी कुछ जानने योग्य है। यहां तीव्र शोथ होता है जो सैल्युलाइटिस, विद्रधि या अन्यूरिज्म के कारण होता है। विद्रधि यहां कई कारणों से बन सकती है जिसमें एक है अस्थिमज्जपरिपाक जो फीमर के निचले या टिबिया के ऊपरी भाग में हो। जानुपृष्ठ खात के लसपर्व का पूयन हो। कभी-कभी अन्यूरिज्म का रूप विद्रधि जैसा हो जाता है और गलती से उस पर चीरा लगा दिया तो अनर्थ हो सकता है।

जानु पृष्ठ खात में जीर्ण टाइप का शोथ भी मिलता है यह ठोस, ग्रन्थीय (सिस्टिक) या स्पन्दनशील हो सकता है ठोस शोथ त्वचा, संयोजक ऊति तथा अधस्त्वगीय ऊतकों में से किसी का भी हो सकता है। लसपर्व, नर्वें और अस्थियों से भी उत्पन्न हो सकता है। सिस्टिक शोथ वर्सों या पुटकों का होता है। श्लेष्मल कला या लसीका वाहिनियों के कारण भी यह देखा जाता है। स्पन्दनशील शोथ, अन्यूरिज्म का होता है।

गुल्फसन्धि के विकार—गुल्फ (ऐंकिल) सन्धि (ज्वाइण्ट) में जब शोथ होता है तो वह पदतल-आकुंचन (प्लांटरफलैग्जन) की आकृति उत्पन्न करती है। यहां की सूजन सामने की ओर उभार पैदा कर देती है साथ ही एड़ी के पीछे टैंडोएकिलिस के दोनों ओर की खाली जगह को भर देती है। जब टैंडोएकिलिस को दोनों ओर से दबाकर दूसरे हाथ को गुल्फ सन्धि के आगे ले जाते हैं और उच्चावच्चन या फ्लक्चुएशन मिले तो निःसरण सन्धि के अन्दर है ऐसा मान लेना चाहिए। गुल्फ की अन्यकृत गतियों के लिए एक हाथ में टांग को और दूसरे में पैर को इस प्रकार पकड़ते हैं कि टेलस हाथ की जकड़ में आ जाय तब विविध गतियां चिकित्सक को स्वयं करके विकार की पूरी स्थिति का आकलन करना चाहिए।

आधो शाखा से सम्बद्ध त्रिकस्रोणिफलक सन्धि की भी जांच की जाती है। इसके लिए रोगी को पीठ के बल लिटाकर उसकी एक टांग को उठाने के लिए कहते हैं। टांग उठते ही त्रिक श्रोणिफलक सन्धि (सैक्रो-इलियक ज्वाइण्ट) में दर्द का अनुभव हो तो समझना चाहिए कि इसमें विकार है।

ऊर्ध्वशाखा से सम्बद्ध जोड़ों में कन्धे के जोड़ (शोल्डर ज्वाइन्ट) में तीव्रशोथ हो सकता है तथा यक्ष्मा या फिरंग का भी कन्धे के जोड़ पर प्रभाव पड़ता है। इस जोड़ के द्वारा आकुंचन, प्रसारण, अपावर्तन और अभिवर्तन तथा पर्यावर्तन की गतियां की जाती हैं। कन्धे के जोड़ की विकृति जानने के लिए यह देखना चाहिए कि कन्धा दबा हुआ है या उठा हुआ। उसके ऊपर की डेल्टाइड पेशी क्षीण तो नहीं हो गई है। क्योंकि यह पेशी यक्ष्मिक सन्धिशोथ होने पर या ऑस्टियो आर्थ्राइटिस होने पर क्षीण हो जाती है। जब डेल्टाइड के नीचे के वर्सा या पुटक (श्लेषपुटी) में व्रणशोथ हो जाता है या जोड़ के अन्दर निःसरण हो जाता है तब वह उठा या उभरा हुआ हो जाता है। निःसरण या ऐफ्यूजन हो जाने पर सूजन डेल्टाइड पेशी के दोनों ओर तो फैलती ही है वाइसैप्स की लम्बी कण्डरा के साथ-साथ भी पाई जाती है जहां श्लेष्मककला का बहिःसरण पाया जाता है। उसके कारण बगल में भी भराव पाया जाता है पर डेल्टाइड के नीचे के वर्सा में शोथ होने पर बगल या वाईसैप्स की कण्डरा के साथ-साथ सूजन नहीं मिलती। स्कन्ध सन्धि शोथ में स्पर्शाक्षमता हर स्थान पर मिलती है। परन्तु डेल्टा-इड के नीचे की वर्साइटिस में अगर बाहु छाती से सटी रहे तो एक्रोमियन के नीचे स्पर्शाक्षमता पाई जाती है। इस जोड़ के विकार जानने के लिए स्वतः रोगी से या चिकित्सक को अपने आप विभिन्न गतियों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और जिस गति के करने में रोगी को दर्द का अनुभव हो उसे खास तौर पर नोट करना चाहिए।

कन्धे की सभी गतियों में वेदना की अनुभूति हो तो स्कन्दसन्धि शोथ होता है। अगर ६०° से १२०° के मध्य अपावर्तन करने पर वेदना हो तो वह सुप्रास्पाइ-नेट्स के कण्डराशोथ के कारण होती है। सबडेल्टाइड वर्साइटिस में कन्धे के घूर्णन में कोई दर्द नहीं होता, पर अपावर्तन (एब्डक्शन) सदा वेदनायुक्त होता है।

कूर्परसन्धि (ऐल्बो ज्वाइण्ट)—यहां तीन प्रकार की गतियां होती हैं—आकुंचन, उत्तानन (सूपीनेशन) और-

अवतानन (प्रोनेशन)। बाहु की अक्ष (ऐक्सिस) और अग्र बाहु (जब वह उत्तानित हो) की अक्ष के बीच एक कोण बनता है। यह कोण सामान्यत: १०° से १५° का होता है। अगर यह बढ़ जाय तो उसे बहिर्नत कफोणि (बाहर को झुकी कुहनी-क्यूबिटस वालगस) कहते हैं। अगर कम हो जाय तो उसे अन्तर्नत कफोणि (क्युबिटस् वेरस) कहते हैं। यह कोण अवतानन या आकुंचन पर समाप्त हो जाता है। इस कोण को विकारग्रस्त और स्वस्थ दोनों हाथों में प्रकोष्ठ या अग्रबाहुओं को उत्तानित करके देखना चाहिये। कुहनी के आगे पीछे कोई शोथ या सूजन हो तो उसे भी देख लेना जरूरी होता है। अगर सन्धि के भीतर निःस्रवण हो रहा हो तो ओलिक्रेनोन (कूर्पर) के दोनों ओर खाली भाग या नतस्थान भर जाते हैं, कभी-कभी तो फूल तक जाते हैं। कभी-कभी तो अग्रकूर्परखात तक भर जाता है। कभी-कभी कूर्पर के ऊपर वर्साइटिस होने से कूर्पर ही फूल जाता है। इस संधि का निर्माण प्रगण्डास्थि के निचले भाग से तथा रेडियस और अलना के उपरी भागों से होता है। निःस्रवण सन्धि के अन्दर हो तो ओलिक्रेनोन के दोनों ओर एक हाथ की अंगुलियां रखकर दबाते हैं और दूसरा हाथ अग्रकूर्परखात (एण्टीक्युबिटलफोसा) पर रखकर फ्लक्चुएशन का अनुभव करते हैं।

मणिबन्ध सन्धि (रिस्ट ज्वाइण्ट)—जब इसमें शोथ होता है तो मणिबन्ध की सभी गतियों के करने में दर्द होता है। ये गतियां हैं अपावर्तन और अभिवर्तन आकुंचन और प्रसारण। हाथ या कलाई के सभी रोगों में कलाई (मणिबन्ध) और अंगुलियाँ आकुंचन की स्थिति में रहती हैं। रूमैटाइड सन्धिशोथ में अंगुलियां अलना की ओर झुक जाती हैं। मणिबन्धसन्धि में निःसरण का प्रारम्भ कलाई के आगे-पीछे दोनों तरफ सूजन के उभरने से पड़ता है। यहीं पर कण्डराओं में शोथ (टीनोवाइटिस) होने पर सूजन सन्धि के नीचे और ऊपर दूर तक पाई जाती है। साथ ही यह शोथ हस्तपृष्ठ की ओर एक ही ओर मिलती है न कि दोनों ओर, जैसा कि सन्धि के अन्दर निःसरण होने पर पाया जाता है।

अस्थिसन्धियों में शोथ की परीक्षा

अस्थिसन्धियों में सन्धिशोथ या आर्थ्राइटिस के विभिन्न रूप देखे जाते हैं। यह रोग आमवात, वातरक्त, सन्धिगत वात आदि से आयुर्वेद में वर्णित है और इसका कायचिकित्सात्मक उपचार किया जाता है। पर व्रणशोथ (इन्फ्लेमेशन) के सारे रोग शल्यतन्त्र की परिधि में आते हैं, अतः सर्जन को भी इसकी चिकित्सा का उतना ही अधिकार है जितना कि एक फिजीशियन को।

पीछे अस्थिमज्जापाक का वर्णन किया जा चुका है। अस्थिमज्जापाक जब जोड़ तक बढ़ जाता है तो सन्धिपाक या सन्धिशोथ हो जाता है। जोड़ों का जितना ही जल्दी और सही-सही शाल्यिक उपचार किया जाता है, उतना ही अच्छा रहता है। तदनुसार जोड़ के सभी पर्तों को काटते हुए जोड के भीतर से एक पिचु में द्रव लेकर प्रयोगशाला में देखते हैं कि जोड़ में किस जीवाणु ने आक्रमण किया है या वह जीवाणु किस द्रव्य से नष्ट किया जा सकता है, तदनुसार ही औषधि प्रयोग किया जाता है। जोड़ में कोई भी दूषण हो उसे निकालकर सैलाइन द्वारा जोड़ को अच्छी तरह धो दिया जाता है। अगर दूषण कम हो और रोग का पता ६-८ घंटों में लग गया हो तो शुद्धि करके घाव को सीं दिया जा सकता है, हर पर्त में प्रतिजीवी द्रव्य का चूर्ण बुरकते हुए पहले श्लेष्मलकला सींते हैं फिर सम्पुट या कोष या कैपसूल सींते हैं, फिर त्वचा सीं दी जाती है। पर यदि रोग या उपसर्ग पर्याप्त हो तो श्लेष्मलकला मात्र सींई जाती है या केवल सम्पुट सींते हैं। त्वचा का व्रण गॉज से भर दिया जाता है। जब तक व्रण का उपचार चलता है, अधिकतम क्रियाशील स्थिति में उसे अचल कर देते हैं। प्लास्टर आफ पैरिस की स्प्लिट लगाना अधिक अच्छा रहता है, बजाय इसके कि उसे पूरी तरह प्लास्टर में बन्द कर दिया जाय। इससे व्रण के अवलोकन में सुगमता रहती है।

सर्जरी के ग्रन्थों में कई प्रकार के सन्धिशोथों का वर्णन आता है। प्रत्येक के उपचार में कुछ न कुछ अलग से विशेषता रहती है। इनमें एक है **पूयजनक सन्धिशोथ** जिसे पायोजीनिक आर्थ्राइटिस कहा जाता है। इसमें आहरण या आचूषण करके उसके अन्दर का जितना भी तरल निकाला जा सकता है, चूस लिया जाता है। फिर इस तरल के आधे आयतन का तरल लेकर उसमें प्रतिजीवी द्रव्य डाल घोल बना उसी जोड़ में भर दिया जाता है। ४८ घंटे बाद फिर इस तरल को खींच लिया जाता

है और पुनः उसी प्रकार प्रतिजीवी घोल बनाकर जोड़ के अन्दर भर दिया जाता है। इस बीच जोड़ बिल्कुल स्थिर रखा जाता है। यह भी ध्यान देना पड़ता है कि जोड़ के दोनों सन्धितल अलग-अलग रहें, इसके लिए जानुसन्धि तथा नितम्ब सन्धि में टैक्शन (कर्षण) का प्रयोग करना पड़ता है। इन सभी उपायों के सम्मिलित रूप से प्रयोग करने से अस्थिसन्धियों के पूयजनक उपसर्गों का सफाया किया जाना संभव होता है।

कभी-कभी जब पूय इतना गाढ़ा हो कि उसका ऐस्पिरेशन संभव न हो तो या यदि वह प्रतिजीवी प्रतिरोधी हो तो उसके निर्हरण या निकास की जरूरत हुआ करती है। इसके लिए जोड़ को चीरा लगाकर पर्त व पर्त खोलते हैं, फिर उसका अधिसिंचन करते हैं, फिर उसकी श्लेष्मलकला (साइनोवियल मेम्ब्रेन) को सीं देते हैं और एक नली या ड्रेन वहां लगा देते हैं। कभी-कभी सक्शन-इर्रीगेशन (चूषण-सिंचन) क्रिया द्वारा जोड़ का संचित दूषित तरल खींच लिया जाता है और प्रतिजीवी तरलयुक्त घोल या नार्मल सैलाइन से उसका सिंचन किया जाता है। यह नहीं श्लेष्मलकला के अन्दर न जाकर बाहर ही रखी जाती है। अगर सन्धीय तल पूरी तरह नष्ट हो चुके हों तब तो नली कला के भीतर तक रखी जा सकती है अन्यथा नहीं क्योंकि अगर नली (ड्रेन) को जोड़ गुहा के अन्दर छोड़ दिया गया तो उसके कारण सन्धिग्रह (ऐंकिलोसिस) होकर जोड़ सदा के लिए बेकार हो जा सकता है।

अस्थिसन्धीय यक्ष्मा—इस रोग में पहले यक्ष्मा नाशक चिकित्सा मात्र चलती थी पर आजकल सर्जनों ने अपना विचार बदल डाला है। क्योंकि यक्ष्मा से प्रभावग्रस्त श्लेष्मलकला अस्थियों के सन्धिभाग पर ऐक पैनस उत्पन्न कर रक्तहीनता का वातावरण बनाकर अस्थिसिरों को गला डालती है और वहां गुहा पैदाकर देती है जिससे जोड़ एकदम बेकार हो जाता है। आजकल ठीक-ठीक शल्योपचार की पद्धति अपनाई जाती है। यक्ष्मानाशक विशिष्ट द्रव्यों का प्रबन्ध साथ-साथ किया जाता है तथा ऑपरेशनकाल में पूर्ण शुद्धता बरती जाती है ताकि कोई पूयजनक उपसर्ग वहां पैदा न हो जाय। इस शल्योपचार में जोड़ का आचूषण (एस्पिरेशन) करते हैं और जोड़ में बनी यक्ष्मा विद्रधि को साफ करते हैं। जो श्लेष्मलकला यक्ष्मा के प्रभाव से ग्रसित हो गई है, उसे काटकर निकाल देते हैं। उसमें जो सड़ागला पदार्थ बन जाता है, उसे हटा देते हैं तथा विविक्तांश (सीक्वैस्ट्रम) भी निकाल देते हैं तथा कैविटीज (गुहाओं) का अभिलोपन कर देते हैं। यह न भूलना होगा कि किस यक्ष्माग्रस्त जोड़ को खोला जाय उस पर सर्जन का अपना विवेक बहुत आवश्यक है। कुछ सर्जन तो उग्र यक्ष्मोपसर्ग के उपस्थित होते हुए भी जोड़ का शल्योपचार सफलतापूर्वक कर लेते हैं। बालकों में सामान्य यक्ष्मानाशक उपचार काफी होता है, जोड़ खोलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बड़ों में केवल यक्ष्मानाशक उपचार काफी नहीं रहता वहां शल्योपचार की शरण लेनी पड़ सकती है।

केवलमात्र आहरण (आचूषण-ऐस्पिरेशन) भी यक्ष्मा के जोड़ों को ठीक करने में सफल होता है। जोड़ के ऊपर जहां त्वचा स्वस्थ हो एक मोटे छेद की सुई तिरछाकर जोड़ में घुसा दी जाती है और जब वह जोड़ गुहा में पहुँच जाती है, तब जितना संभव हो पूय उसके द्वारा निकाल दिया जाता है, फिर इसी सुई के द्वारा स्ट्रैप्टोमायसीन का घोल वहां पहुँचा देते हैं। अगर पूय जोड़ में अधिक गाढ़ा हुआ हो तो जोड़ को पर्त व पर्त खोला जाता है फिर समस्त सड़ा-गला अंश निकाल दिया जाता है और पिचु (स्वाब) द्वारा जोड़ की गुहा पूरी तरह स्वस्छ कर दी जाती है फिर इस व्रण में पेनिसिलीन और स्ट्रैप्टोमायसीन अच्छी तरह बुरक दी जाती है और त्वचा के चीरे को सीं देते हैं। जब जोड़ का अत्यधिक विनाश हो जाता है और उसके क्रियावान् रहने की गुंजाइश नहीं रहती तो सन्धिस्थिरीकरण (आर्थ्रोडैसिस) तक सर्जन को स्वयं करना पड़ जाता है। सन्धिस्थिरीकरण प्रक्रिया काफी दक्षता चाहती है जिसे दूसरे बड़े सर्जन से देखकर सीखना होता है। इसी प्रकार एक कला आर्थ्रोप्लास्टी या सन्धि सन्धान कहलाता है जिसमें निष्क्रिय सन्धि को फिर से चलनशील बनाते हैं। यह भी सद्गुरु के द्वारा सीखी जाने वाली कला है।

अस्थिसन्धिगत रोगों की परीक्षा

ऊपर *अस्थिसन्धि शोथ* की शल्य चिकित्सा दी गई है पर उसके निदान की प्रणाली अभी बतलाना शेष है।

पहले तो यह ज्ञान लेना चाहिये कि कौन सन्धिशोथ किसे होता है। उदाहरण के लिए लुहारों और कुलियों को अस्थिसन्धिशोथ जिसे ओस्टियोआर्थ्राइटिस कहते हैं, प्रायः होता है जबकि बालकों और किशोरों में यक्ष्मिक सन्धिशोथ (ट्यूबर्क्युलस आर्थ्राइटिस) तथा पूयजनक सन्धिशोथ अक्सर पाया जाता है। नवयुवकों में गौनोकोकल सन्धिशोथ मिलता है। नवयुवतियों में रूमेटाइड सन्धिशोथ मिलता है। ओस्टियो आर्थ्राइटिस लुहार और कुलियों के अलावा वृद्धावस्था में किसी को भी हो सकता है। इन तथ्यों के प्रकाश में सर्जन को रोगी की आयु और व्यवसाय की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये ताकि वह ठीक-ठीक निदान कर सके। दूसरे यह देखना चाहिए कि रोग धीरे-धीरे बढ़ रहा है या तेजी से। इसी के साथ जोड़ के रोग का कौन सा लक्षण पहले पैदा हुआ इसे भी पूछना चाहिये—दर्द पहले शुरू हुआ या सूजन या विकृति पहले आई या लंगड़ाना पहले चालू हुआ। यह भी मालूम करना चाहिये कि दर्द जोड़ की क्रिया के समय होता है या हर समय या हरकत करने पर बन्द हो जाता है। ओस्टियो आर्थ्राइटिस में अक्सर दर्द जोड़ की क्रिया पर बन्द हो जाता है। कभी-कभी रोग किसी जोड़ में होता है और दर्द किसी जोड़ में प्रतीत होता है। आमवातजन्य सन्धिशोथ में दर्द एक जोड़ को छोड़कर दूसरे जोड़ को बढ़ जाता है। राजयक्ष्मा से प्रभावित जोड़ में पहले दर्द नहीं होता। जब सन्धितलों में यक्ष्मा के द्वारा घाव बढ़ जाते हैं तब रात में पेशियों के ढीले होने से सन्धायी तलों (आर्टिकुलर सर्फेसेज) के रगड़ने से तेज दर्द होता है। दिन में पेशियों में जकड़न रहने से ये तल दूर-दूर रहने से दर्द नहीं करते। शार्कट सन्धि में आरम्भ में अधिक दर्द नहीं होता पर सन्धि स्वयं विघटित हो जाती है, बाद में कोई दर्द नहीं मिलता।

विकृत जोड़ या सन्धि की स्थानिक परीक्षा करते समय अनुरूप स्वस्थ जोड़ के साथ उसकी तुलना करनी चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि रोगी अपने विकृत जोड़ को किस पोजीशन में रखता है। पैर में विकृति होने पर उसे चलाकर देखते हैं और ध्यान देते हैं कि पैर छोटा पड़ता है लम्बा। अगर जोड़ पर सूजन हो तो यह भी ध्यान देना चाहिए कि वह जोड़ के बाहर किसी अवयव या पेशी में है अथवा जोड़ में या उसके किसी बर्सा में या कण्डरा के कंचुक में है। जोड़ के ऊपर की त्वचा में कोई घाव तो नहीं है। उसके अलावा जोड़ के ऊपर की या नीचे की पेशियों में क्षीणता तो नहीं आ गई? छूकर भी जोड़ को देखते हैं। गरम सूजा हुआ या दबाने पर दर्द करने वाला ये लक्षण छूने पर ही पता लगते हैं। दूसरे अनुरूप जोड़ को छूकर दोनों का अन्तर मालूम करना चाहिए। दबाते समय जोड़ की गति भी अपने ही हाथ से करके देखना चाहिए। गतियां अपने आप भी रोगी से करानी चाहिए। अच्छा हो पहले अनुरूप स्वस्थ जोड़ में सभी गतियां कराई जावें फिर विकार ग्रस्त जोड़ में कराते हैं और ज्ञात करते हैं कि कौन-कौन गतियां रोगी का यह जोड़ करने में असमर्थ रहता है। जब अपने हाथ से वैद्य जोड़ में गति करावे तो बहुत धीरे से करानी चाहिए न कि झटके से। इन परकृत गतियों में वैद्य को देखना चाहिए कि रोगी को किस गति के करने से दर्द होता है कहां गति सुगमता से नहीं होती या सीमित होती है। या कहीं जोड़ प्राकृत से कहीं अधिक गति किसी एक दिशा में तो नहीं करता है। जोड़ में कोई स्पाज्म (आक्षेप) हो तो उसका पता लगाना चाहिए जोड़ पर हाथ रखकर परकृत या स्वकृत गति करने पर चर्राने की अनुभूति तो नहीं हो रही। सामान्यरूप से जोड़ के शोथ में किसी न किसी दिशा में गति अवश्य सीमित हो जाती है पर यदि वह कहीं भी सीमित न हो तो मानना चाहिए कि जोड़ में शोथ नहीं है। जोड़ों से सम्बद्ध लसपर्वों की जांच भी कर लेनी चाहिए। यथा सम्भव जोड़ों की लम्बाई, परिधि आदि की जांच भी करली जानी चाहिए। फेफड़ों की जांच यक्ष्मा का शक होने पर तथा सुजाक का इतिहास गनोरियल सन्धिशोथ में मिलता है। पूयजनक सन्धि शोथ के लिए सेप्टिक फोकस कहां है इसे खोज निकालने में भी सर्जन को दक्ष होना चाहिए। रक्त परीक्षण से भी सन्धि शोथ के निदान में काफी सहायता मिलती है अगर श्वेतकणों का बाहुल्य हो तो पूयजनक सन्धि शोथ की पुष्टि हो जाती है अगर यूरिक एसिड की मात्रा बढ़ जाय तो गठिया का शक करना चाहिए। वासरमेन प्रतिक्रिया के अस्त्यात्मक होने पर क्लटनसन्धि का ज्ञान हो जाता है। रक्तस्कन्दन तथा रक्तस्रवणकाल के ज्ञान से हीमोफिलिक सन्धि

शोथ का पता लगता है। जोड़ का क्षकिरणचित्रण की आवश्यकता आज सभी महत्वपूर्ण मानते हैं। डा० दास का कथन है विकार ग्रस्त और स्वस्थ दोनों ही अनुरूप जोड़ों का एक साथ क्षकिरण चित्र लिया जावे ताकि अध्ययन में आसानी हो जाय। अच्छा हो चित्र अग्र-पश्च या पार्श्व से पार्श्व का भी लिया जाय।

उक्त परीक्षण को ध्यान में रखते हुए नीचे विविध सन्धिशोथों (आर्थ्राइटिसों) का सापेक्ष निदान दृष्ट्या विचार किया जा रहा है कि पाठक आसानी से प्रत्येक सन्धिशोथ का अन्तर समझ लें।

शार्कोसन्धि (Charcot's joint)—इसे वातनाडीय सन्धि भी कहते हैं। इस रोग में बड़े-बड़े जोड़ ही प्रभावग्रस्त होते हैं जैसे नितम्बसन्धि, जानुसन्धि और स्कन्धसन्धि। टेबीज के कारण पैर तथा सिरिंगोमायेलिया के कारण बाहु प्रभावित होते हैं। इस रोग में दर्द नहीं होती (कुछ आरम्भिक स्थिति में दर्द स्वीकार करते हैं) इसमें सन्धायीतलों के विनाश के कारण सन्धि पूर्णतः विघटित हो जाती है और जोड़ टेढ़ा मेढ़ा पड़ता है।

रूमेटाइड सन्धि शोथ—यह २०-३० वर्ष की नवयुवतियों या तरुणियों को अक्सर लग करता है। रोग पहले हाथ और पैर के छोटे जोड़ों में चालू होता है जो बाद में जानुसन्धि तक पाया जा सकता है। जोड़ में दर्द का होना ही मुख्य लक्षण या शिकायत होती है। दर्द के वेग रह-रहकर उठते हैं। जोड़ बाद में सूज जाते हैं और आखिर में विकृत हो जाते हैं। क्षकिरण चित्र में जोड़ के अन्दर का अवकाश छोटा हो जाता है तथा हड्डियों में डिकल्सीफिकेशन मिलता है।

वातरक्त या गाउट—यह सुकुमार सम्पन्नवर्ग के प्रौढ़ों का रोग है। पहले पैर के अंगूठे में दर्द चालू होता है। दर्द बहुत तेज तथा सहसा चालू होता है। रक्त में यूरिकाम्ल की मात्रा बढ़ जाती है। जोड़ के आसपास के कतक लाल, फूले और सूजे हुए पाये जाते हैं।

हीमोफिलिक सन्धि—दोनों घुटनों के जोड़ों में स्वतः रक्त भर जाता है और दर्द होता है तथा हीमोफिलिक का इतिवृत्त मिलता है।

फिरंगिक सन्धिशोथ—सहज फिरंगियों में बल्टन सन्धि मिलती है। बच्चों में ७ से १६ वर्ष तक दोनों जानुसन्धियों में जलभरित जोड़ (हाइड्रोप्स) पाया जाता है जिसमें दर्द नहीं होता। अवास्त फिरंग में जोड़ में दर्द आरम्भ में मिलता है तथा जल भी भर जाता है। तृतीयावस्था में फिरंगार्बुदयुक्त सन्धिशोथ पाया जाता है फिरंग के जोड़ दोनों ओर एक सी विकृति से युक्त होते हैं। यह विकृति वेदना रहित और सीरसी होती है।

यक्ष्मिक सन्धिशोथ—इसे पीछे काफी विस्तार से बताया जा चुका है। बच्चों की अधोशाखाओं में और बड़ों में ऊर्ध्व शाखाओं में इसका प्रभाव पड़ता है। इसमें राजयक्ष्मा का इतिहास परिवार में मिलता है। रोगी में अन्यत्र भी यक्ष्मा के चिह्न मिलते हैं रात्रि में ज्वर और स्वेद मांसक्षय पाया जाता है प्रायः जोड़ में दर्द तो नहीं होता जोड़ में आक्षेप दिन में रहता है रात में तेज दर्द आरम्भ होता है। जोड़ में किसी भी दिशा में कोई गति नहीं होती। शीत विद्रधि और शिरानाल भी मिल सकते हैं।

आन्त्रिकज्वरजन्य सन्धिशोथ—यह आन्त्रिकज्वर के अन्तिम मास में पैदा होता है इसमें शान्त या सहसा सन्धिविश्लेष की संभावना मिलती है। यह सन्धिविश्लेष नितम्ब (हिप) सन्धि में प्रायः मिलता है। रोगी ठीक होते ही जैसे चलता है उसकी नितम्ब सन्धि विश्लिष्ट हुई पाई जाती है।

तीव्र सन्धिशोथ—अस्थि मज्जापाक की प्राथमिक फोकस जहां मिलता है सन्धि में उसका द्वितीयक रूप पाया जा सकता है। जोड़ फूला-फूला दीखता है। सन्धि से उपसर्ग पास की पेशी तथा उपत्वगीय में फैल जाता है।

फुफ्फुसपाकजन्य सन्धिशोथ—गले में, फेफड़ों या कानों में उपसर्ग शुरू होता है। उपसर्ग के क्रम में जोड़ तक जाता है। जानुसन्धि प्रभावित होती है। इसमें पूय भर जाता है। इस पूय का आचूषण करने पर उसका ... होता है और उसमें न्यूमोकोकस पाये जाते हैं।

धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

शास्त्रोक्त औषधियां

भस्में

औषधि	१० ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
अभ्रक भस्म नं० १	६०.००	१९.००	६.५०
मुक्ता भस्म	२६०.००	७९.००	२६.५०
रौप्य भस्म	२२.५०	७.००	२.६०
औषधि	**५० ग्राम**	**२५ ग्राम**	**१० ग्राम**
अभ्रक भस्म नं० २	३४.००	१८.००	७.५०
अभ्रक भस्म नं० ३	१७.००	९.००	३.८०
अकीक भस्म	१६.५०	८.५०	३.८०
कपर्द भस्म	७.००	३.७५	१.७५
कान्तलोह भस्म	२२.००	११.५०	४.७५
कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म	८.५०	४.५०	२.००
गोदन्तीहरताल भस्म	४.५०	२.५०	१.२०
जहरमोहरा भस्म	२०.००	१०.५०	४.५०
तबकी हरताल भस्म	६०.००	३१.००	१३.००
ताम्र भस्म नं० २	३०.००	१५.५०	६.५०
ताम्र भस्म नं० ३	२५.००	१३.००	५.५०
नाग भस्म नं० १	२०.००	१०.५०	४.५०
नाग भस्म नं० २	१३.५०	७.००	३.००
प्रवाल भस्म नं० १	३४.००	१७.५०	७.५०
प्रवाल भस्म नं० २	२०.००	१०.५०	४.५०
प्रवाल भस्म नं० ३	१६.५०	८.५०	३.८०
प्रवाल चन्द्रपुटी	२०.००	१०.५०	४.५०
वंग भस्म नं० १	३०.००	१५.५०	६.५०
वंग भस्म नं० २	२५.००	१३.००	५.५०
वैक्रांत भस्म	४०.००	२१.००	८.५०
मल्ल भस्म	६०.००	३१.००	१२.५०
मृगशृङ्ग भस्म	७.२५	३.७५	१.६०
माणिक्य भस्म	६५.००	३३.००	१४.००
माण्डूर भस्म नं० १	४.५०	२.५०	१.२०
यशद भस्म	८.५०	४.५०	२.००

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
लोह भस्म नं० १	६०.००	३१.००	१२.५[illegible]
लोह भस्म नं० २	१४.००	७.५०	३.२५
लोह भस्म नं० ३	९.५०	५.००	२.२५
स्वर्णमाक्षिक भस्म	१४.००	७.५०	[illegible].२५
शंख भस्म	४.५०	२.५०	१.२०
शंकरलोह भस्म	२२.५०	१२.००	५.००
शुक्ति भस्म	७.००	३.७५	१.८०
संगजराहत भस्म	४.५०	२.५०	१.२०
त्रिवंग भस्म नं० १	३०.००	१५.५०	६.२५
त्रिवंग भस्म नं० २	२०.००	१०.५०	४.५०
प्रवाल पिष्टी	१६.५०	८.५०	३.८०
अकीक पिष्टी	१६.५०	८.५०	३.८०
जहरमोहरा पिष्टी	१६.५०	८.५०	३.८०
कहरवा पिष्टी	७२.००	३७.००	१५.००
मुक्ताशुक्ति पिष्टी	५.२५	२.७५	१.५०
माणिक्य पिष्टी	४९.००	२५.००	१०.२५
वैक्रान्त पिष्टी	३३.००	१७.००	७.००
विड पिष्टी	७५.००	३८.५०	१६.००
	५ ग्राम	**३ ग्राम**	**१ ग्राम**
मुक्ता पिष्टी	१२६.००	७६.००	२५.५०

पर्पटी

औषधि	५ ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
ताम्र पर्पटी	६.००	३.८०	१.४०
पंचामृत पर्पटी	६.००	३.८०	१.४०
विजय पर्पटी	३३.५०	२०.५०	७.०
बोल पर्पटी	३.२५	२.००	१.०[illegible]
रस पर्पटी	६.५०	३.५०	१.३[illegible]
लोह पर्पटी	६.५०	३.५०	१.३[illegible]
	५० ग्राम	**२५ ग्राम**	**१० ग्राम**
श्वेत पर्पटी	३.५०	२.००	१.००

कूपीपक्व रसायन

औषधि	५ ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
सिद्ध मकरध्वज नं० १	३३.५०	२०.००	७.००
सिद्ध मकरध्वज नं० २	२६.००	१५.५०	५.५०
सिद्ध मकरध्वज नं० ३	२१.५०	१२.५०	४.५०
अनुपान मकरध्वज	८.५०	५.००	२.००
सिद्ध चन्द्रोदय	५२.००	३१.००	१०.५०
मल्ल चन्द्रोदय	३३.५०	२०.००	७.००
रससिन्दूर नं० १	९.००	५.३०	२.००
रससिन्दूर नं० २	७.००	४.१०	१.७०
ताम्रसिन्दूर	८.५०	५.००	२.००
मल्लसिन्दूर	८.५०	५.००	२.००
शिलासिन्दूर	८.५०	५.००	२.००
स्वर्णवङ्ग भस्म	४.००	२.६०	१.००
मृतसंजीवनी रस	३.००	२.१०	०.८०
रस माणिक्य	४.००	२.६०	१.००
समीरपन्नग रस नं० १	१९.००	११.३०	४.१०
समीरपन्नग रस नं० २	८.५०	५.००	२.००
पंचसूत रस	८.५०	५.००	२.००
व्याधिहरण रस	९.००	५.३०	२.१०

बहुमूल्य रस रसायन

औषधि	१० ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
आमवातेश्वर रस	२४.००	८.००	२.६०
वृ० कस्तूरीभैरव	९०.००	२७.५०	९.५०
कस्तूरीभैरव रस	८०.००	२४.५०	८.५०
कस्तूरीभूषण	७०.००	२१.५०	७.५०
कामदुधा रस नं० १	१५.००	५.००	२.००
वृ० कामचूड़ामणि रस	३५.००	११.००	४.००
कुमारकल्याण रस	१००.००	३१.००	१०.५०
कृष्णचतुर्मुख रस	४५.००	१४.००	५.००
जयमंगल रस	८०.००	२४.५०	८.५०
प्रवालपंचामृत रस	३०.००	१०.००	३.५०
पुटपक्व विषमज्वरांतक	३५.००	११.००	४.००
वृ० पूर्णचन्द्र रस	२८.००	९.००	३.३०
वसन्तकुसुमाकर रस	७०.००	२१.५०	७.५०

औषधि	१० ग्राम	३ ग्राम	१ ग्राम
वृ० वातचिन्तामणि रस	१००.००	३१.००	१०.५०
ब्राह्मीवटी नं० १	७०.००	२१.५०	७.५०
मृगांकपोटली रस	१२५.००	३८.००	१३.००
मधुरांतक वटी	२८.००	९.००	३.३०
महाराजनृपतिवल्लभ रस	१५.००	५.००	२.००
महालक्ष्मीविलास रस	३५.००	११.००	४.००
महाराजवङ्ग भस्म	१५.००	५.००	२.००
योगेन्द्र रस	१२०.००	३७.००	१२.५०
रसराज रस	६०.००	१९.००	६.५०
राजमृगांक रस	४५.००	१४.००	५.००
वृ० लोकनाथ	६.२५	२.००	०.८०
श्वासचिन्तामणि रस	३५.००	११.००	४.००
श्वासकासचिन्तामणि रस	४५.००	१४.००	५.००
वसन्तमालती नं० १	७०.००	२१.५०	७.५०
सर्वाङ्गसुन्दर रस	६५.००	२०.००	७.००
सूतशेखर रस नं० १	४०.००	१२.५०	४.५०
वातकुलांतक रस	९८.००	३०.००	१०.५०
	५० गोली	×	१० गोली
मधुरौल	२१.००	×	४.७५

रस रसायन गुटिका

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
अग्निकुमार रस	६.५०	३.५५	१.८०
अजीर्णकंटक रस	६.५०	३.५५	१.६०
अमरसुन्दरी वटी	५.२५	२.९०	१.३५
अग्नितुण्डी वटी	५.२५	२.९०	१.३५
आनन्दभैरव रस	९.२५	४.९०	२.२०
आनन्दोदय रस	१०.७५	५.२५	२.४०
आदित्य रस	९.२५	४.९०	२.२०
अर्शकुठार रस	८.७५	४.६०	२.१०
आमलकी रसायन	७.००	३.७५	१.७०
आरोग्यवर्द्धनी वटी	९.२५	४.९०	२.२०
इच्छाभेदी रस	९.२५	४.९०	२.२०
इच्छाभेदी वटी	९.७५	५.१५	२.३०
उपदंशकुठार रस	४.७५	२.६०	१.३०
एकांगवीर रस	३०.५०	१५.५०	६.५०
एलादि वटी	५.००	२.७५	१.३०

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
एलुआदि वटी	४.००	२.२५	१.१०
कनकसुन्दर रस	८.२५	४.६०	२.२०
कफकुठार रस	१३.५०	७.००	३.००
कफकेतु रस	६.००	३.२५	१.५०
कामदुघा रस	१४.२५	७.५०	३.२०
कांकायन गुटिका	४.६०	२.७०	१.३०
कीटमर्द रस	४.५०	२.५०	१.२०
क्रव्यादि रस	२२.७५	११.५०	४.७०
कृमिकुठार रस	१२.२५	६.२५	२.७५
कामिनीकुलमंडन रस	३८.५०	१९.५०	८.००
खैरसार वटी	६.५०	३.५०	१.७५
गंगाधररस वटी	१२.५०	६.५०	२.८०
गंधक वटी	६.००	३.२५	१.५०
गंधक रसायन	१०.२५	५.४०	२.४०
गर्भविनोद रस	७.२५	३.८०	१.७५
गर्भपाल रस	१५.५०	८.००	३.४०
गर्भचिन्तामणि रस	१९.५०	१०.००	४.२०
गुल्मकुठार रस	७.००	३.७५	१.७०
गुल्मकालानल रस	८.२५	४.६०	२.२०
गुड़पिप्पली	४.७५	२.६०	१.३०
गुड़मार वटी	६.२५	३.४०	१.५०
ग्रहणीगजेन्द्र रस	१९.५०	१०.००	४.२०
ग्रहणीकपाटरस काला	१५.७५	८.१०	३.५०
घोड़ाचोली रस	८.२५	४.००	२.००
चन्द्रप्रभा वटी	९.५०	५.००	२.२५
चन्द्रोदय वटी	६.००	३.२५	१.५०
चन्द्रकला रस	८.२५	४.६०	२.२०
चन्द्रामृत रस	७.७५	४.१५	१.९०
चन्द्रांशु रस	१३.००	७.००	३.००
चित्रकादि वटी	५.५०	३.००	१.४०
ज्वरांकुश रस	७.७५	४.१५	१.९०
जयवटी	१०.२०	५.४०	२.४०
जलोदरारि वटी	७.५०	४.००	१.८०
जातीफलादि रस	१९.००	८.५०	३.७०
	५०० गोली		५० गोली
करंजादि वटी	१४.५०		१.७५
दुग्धवटी नं० २	८.५०	४.५०	२.००
दुर्जलजेता रस	६.५०	३.५०	१.६०
नवज्वरहर वटी	८.५०	४.५०	२.००
नष्टपुष्पान्तक रस	२३.५०	१२.००	५.००
नृपतिवल्लभ रस	१०.५०	५.५०	२.४०
नाराच रस	८.००	४.२५	१.९०
नित्यानन्द रस	८.२५	४.४०	२.००
प्रतापलंकेश्वर रस	१०.००	५.२५	२.३०
प्रदरारि रस	८.५०	४.२५	२.००
प्रदरान्तक रस	१५.५०	८.५०	३.५०
प्लीहारि रस	७.५०	४.००	१.६०
प्राणदा गुटिका	५.००	२.७५	१.३०
पंचामृत रस (नासारोग)	८.५०	५.००	२.२०
पंचामृत रस (शोथ)	११.००	५.७५	२.५०
पाशुपत रस	७.७५	४.१५	१.९०
पीपल ६४ पहरी	२३.५०	१२.००	५.००
पुष्पधन्वा रस	३८.५०	१९.५०	८.००
वृ० शंखवटी	८.७५	४.४०	२.००
वृद्धिबाधिका वटी	१२.७५	६.९०	२.८५
वृ० नायकादि रस	५.००	२.७५	१.३०
बोलबद्ध रस	१०.००	५.२५	२.३०
ब्राह्मीवटी	१२.००	६.५०	२.८०
बालामृतवटी	३१.५०	१६.००	६.६०
वृ० वातगजांकुश रस	१२.५०	६.५०	२.६०
विषमुष्टिकावटी	६.००	३.२५	१.५०
वेताल रस	१५.००	७.७५	३.३०
व्योषादि वटी	४.५०	२.५०	१.३०
महामृत्युंजय रस (लाल)	१६.००	८.२५	३.५०
मृत्युंजय रस (काला)	११.००	५.७५	२.५०
मरिच्यादि वटी	४.५०	२.५०	१.३०
महागंधक रस	२७.५०	१४.२५	६.००
महाशूलहर रस	९.५०	५.००	२.२०
महावातविध्वंसक रस	२५.५०	१३.००	५.५०
मार्कण्डेय रस	७.७५	४.१५	१.९०
मूत्रकृच्छ्रान्तक रस	२२.५०	११.५०	४.७०
	२५० गोली	१०० गोली	४१ गोली
मकरध्वज वटी	३६.००	१२.००	५.००

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
मेहमुद्गर रस	७.५०	४.००	१.८५
रक्तपित्तान्तक रस	१०.२५	५.४०	२.४०
रस पीपरी	२९.५०	१५.२५	६.५०
रामवाण रस	८.७५	४.६५	२.१५
लशुनादि वटी	६.५०	३.५०	१.६०
लवंगादि वटी	६.७५	३.६५	१.६५
लघुमालती बसंत	१७.००	९.००	३.७०
लक्ष्मीविलास रस	१६.७५	८.६५	३.६५
लक्ष्मीनारायण रस	१९.५०	१०.००	४.२५
लाई रस	७.७५	४.१५	१.९०
लीलावती गुटिका	७.५०	४.००	१.९०
लीलाविलास रस	११.००	५.७५	२.५०
लोकनाथ रस	१२.००	६.२५	२.७५
श्वासकुठार रस	९.००	४.७५	२.२५
शंखवटी	७.५०	४.००	१.९०
शंसमनी वटी	७.००	३.७५	१.७५
सिरोवज्र रस	७.५०	४.००	१.९०
शिलाजीत वटी	१७.००	९.००	३.७५
शीतभंजी रस	१३.७५	७.५०	३.२५
शूलवज्रिणी वटी	८.७५	४.६५	२.३५
शूलगजकेशरी	१५.५०	८.००	३.४०
शृङ्गाराभ्रक	१३.००	६.७५	३.००
स्मृतिसागर रस	२३.००	११.७५	५.००
सन्निपात भैरव रस	१०.००	५.२५	२.३०
संजीवनी वटी	५.००	२.७५	१.३०
सर्पगन्धा वटी	२०.५०	१०.५०	४.५०
ह्मीरगजकेशरी	३०.५०	१५.५०	६.४०
सिद्धप्राणेश्वर रस	७.७५	४.१५	१.९०
सूतशेखर रस नं० २	२०.५०	१०.५०	४.५०
सौभाग्य वटी	७.७५	४.१५	१.९०
हिंग्वादि वटी	५.००	२.७५	१.३०
हृदयावर्णव रस	१६.००	८.२५	३.५०
त्रिपुरभैरव रस	८.२५	४.२५	१.९०
त्रिभुवनकीर्ति रस	८.७५	४.६५	२.१५
त्रिविक्रम रस	२०.००	१०.२५	४.३०

लोह माण्डूर

औषधि	५० ग्राम	२५ ग्राम	१० ग्राम
अम्लपित्तांतक लोह	१३.००	६.७५	३.००
चन्दनादि लोह (ज्वर)	८.००	४.२५	२.००
चन्दनादि लोह (प्रमेह)	१०.७५	५.६५	२.५०
ताप्यादि लोह	१९.५०	१०.००	४.००
धात्री लोह	७.००	३.७५	१.७५
नवायस लोह	८.५०	४.५०	२.१०
प्रदरारि लोह	८.७५	४.७५	२.२०
प्रदरान्तक लोह	११.२५	६.००	२.५०
पुनर्नवादि मांडूर	५.५०	३.००	१.४०
विडंगादि लोह	६.५०	३.५०	१.६०
विषमज्वरान्तक लोह	१६.००	८.२५	३.५०
यकृत्हर लोह	१०.५०	५.५०	२.४०
शोथोदरारि लोह	११.००	५.७५	२.५०
सर्वज्वर हर लोह	१३.००	६.७५	३.००
सप्तामृत लोह	८.५०	४.५०	२.१०
त्र्यूषणादि लोह	८.७५	४.६५	२.१५
तारा मांडूर	६.००	३.२५	१५०

गुग्गुल

औषधि	२०० ग्राम	५० ग्राम	१० ग्राम
अमृतादि गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
कांचनार गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
किशोर गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
गोक्षुरादि गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
पुनर्नवादि गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
बृ० योगराज गुग्गुल	६५.००	१६.००	३.५०
योगराज गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
रसाभ्र गुग्गुल	२३.००	६.५०	१.२०
रास्नादि गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
सिंहनाद गुग्गुल	१९.००	४.५०	१.२०
त्रयोदशांग गुग्गुल	१२.००	३.५०	१.००
त्रिफलादि गुग्गुल	१२.००	३.५०	१.००
पंचतिक्तघृत गुग्गुल	२१.००	५.५०	१.३०

चूर्ण

औषधि	१ किलो	१०० ग्राम	५० ग्राम
ग्निमुख चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
विपत्तिकर चूर्ण	७२.००	७.५०	४.००
जीर्णपानक चूर्ण	६२.००	६.७५	३.५०
दरभास्कर चूर्ण	५२.००	५.५०	३.००
लादि चूर्ण	५५.००	६.००	३.२५
ामदेव चूर्ण	४२.००	४.५०	२.५०
ंगाधर चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
ज्वरभैरव चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
जातीफलादि चूर्ण	५२.००	५.५०	३.००
तालीशादि चूर्ण	५२.००	५.५०	३.००
दशनसंस्कार चूर्ण	४५.००	४.५०	२.५०
नारायण चूर्ण	३२.००	३.५०	२.००
निम्बादि चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
बिल्वादि चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
प्रदरान्तक चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
पंचसंस्कार चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
प्रदरारि चूर्ण	२८.००	३.२५	१.७५
पुष्यानुग चूर्ण	३०.००	३.२५	१.७५
यवानीखांडव चूर्ण	३२.००	३.५०	२.००
लवंगादि चूर्ण	७२.००	७.५०	४.००
लवणभास्कर चूर्ण	३२.००	३.५०	२.००
सारस्वत चूर्ण	३२.००	३.५०	२.००
सामुद्रादि चूर्ण	३८.००	४.००	२.२५
शृंग्यादि चूर्ण	३२.००	३.५०	२.००
सितोपलादि चूर्ण	५८.००	६.००	३.२५
सुदर्शन चूर्ण	४०.००	४.२५	२.२५
हिंग्वष्टक चूर्ण	४०.००	४.५०	२.५०
त्रिफला चूर्ण	१५.००	२.००	१.२५

तैल

औषधि	४००मि.लि.	१००मि.लि.	५०मि.लि.
इरमेदादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
कन्दर्पसुन्दर तैल	१६.००	४.२०	२.२०
कासीसादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
किराततादि तैल	१५.००	३.६०	१.८०
कुमारी तैल	१६.००	४.२०	२.२०
ग्रहणीमिहिर तैल	१८.००	४.६५	२.४०
गुडूच्यादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
महाचन्दनादि तैल	२०.००	५.१५	२.६५
चन्दन बलालाक्षादि तैल	२०.००	५.१५	२.६५
जात्यादि तैल	२०.००	५.१५	२.६५
दशमूल तैल	१८.००	४.६५	२.४०
दार्व्यादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
महानारायण तैल	१८.००	४.६५	२.४०
पिपल्यादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
पिंड तैल	२०.००	५.१५	२.६५
पुनर्नवादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
बिल्व तैल	२०.००	५.१५	२.६५
विषगर्भ तैल	१८.००	४.६५	२.४०
भृङ्गराज तैल	२०.००	५.१५	२.६५
महाविषगर्भ तैल	२०.००	५.१५	२.६५
बैरोजा का तैल	२४.००	६.१०	३.१०
महामरिच्यादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
महामाष तैल	२०.००	५.१५	२.६५
मोम का तैल	२६.००	६.७०	३.४०
राल का तैल	२४.००	६.१०	३.१०
लाक्षादि तैल	१८.००	४.६५	२.४०
शुष्कमूलादि तैल	१६.००	४.२०	२.२०
षटबिन्दु तैल	१८.००	४.६५	२.४०
हिमसागर तैल	२४.००	६.१०	३.१०
क्षार तैल	२६.००	६.७०	३.४०

घृत

औषधि	४००मि.लि.	१००मि.लि.	५०मि.लि.
अर्जुन घृत	२२.५०	५.८०	३.००
अशोक घृत	२२.५०	५.८०	३.०
कदली घृत	२२.५०	५.८०	३.००
कामदेव घृत	२२.५०	५.८०	३.०
पञ्चतिक्त घृत	२५.००	६.२०	३.२
फल घृत	२५.००	६.२०	३.२

औषधि	४००मि.लि.	१००मि.लि.	५०.मि.लि.
ब्राह्मी घृत	२२.५०	५.८०	३.००
महात्रिफलादि घृत	२५.००	६.२०	३.२०
सारस्वत घृत	२२.५०	५.८०	३.००

आसव अरिष्ट

औषधि	५५०मि.लि.	४००मि.लि.	२१०मि.लि.
अमृतारिष्ट	४.६०	४.२०	२.५०
अर्जुनारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
अरविन्दासव नं० १	१०.७०	८.६०	४.६०
अरविन्दासव नं० २	५.५०	४.५०	२.७५
अशोकारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
अभयारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
अश्वगंधारिष्ट	५.५०	४.५०	२.७५
उसीरासव	४.६०	४.२०	२.५०
कनकासव	४.६०	४.२०	२.५०
कुमारीआसव	५.४०	४.५०	२.७५
कुटजारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
खदिरारिष्ट	४.[illegible]०	४.२०	२.५०
चन्दनासव	४.६०	४.२०	२.५०
दशमूलारिष्ट नं० १	८.००	६.५०	३.७०
दशमूलारिष्ट नं० २	५.[illegible]०	४.५०	२.७५
द्राक्षासव	५.४०	४.५०	२.७५
द्राक्षारिष्ट	५.४०	४.५०	२.७५
देवदार्व्यारिष्ट	५.१०	४.३०	२.६०
पत्रांगासव	५.१०	४.३०	२.६०
पुनर्नवासव	४.६०	४.२०	२.५०
वल्लभारिष्ट	७.३०	६.००	३.३५
बबूलारिष्ट	४.६०	४.२०	२.५०
वासारिष्ट	५.४०	४.५०	२.७५
विडङ्गासव	४.६०	४.२०	२.५०
रक्तशोधकारिष्ट	५.४०	४.५०	२.७५
रोहितकारिष्ट	४.६०	४.२०	२.५०
लोहाकुमारी द्राक्षा	६.००	५.००	३.००
लोहासव	४.६०	४.२०	२.५०
सारस्वतारिष्ट	६.००	५.००	३.००

औषधि	५५०मि.लि.	४००मि.लि.	२१०मि.लि.
सारिवाद्यासव	५.४०	४.५०	२.७५
सोमकल्पासव	६.५०	५.४०	३.२०

अर्क

औषधि	५५०मि.लि.	४००मि.लि.	२१०मि.लि.
अर्क उसवा	५.१०	४.३०	२.६०
अर्क दशमूल	३.७०	३.२०	२.००
द्राक्षादि अर्क	४.२०	३.६०	२.२०
महामजिष्ठादि अर्क	३.७०	३.२०	२.००
रास्नादि अर्क	३.७०	३.२०	२.००
सुदर्शन अर्क	४.००	३.५०	२.१०
सौंफ अर्क	४.००	३.५०	२.१०
अर्क अजवाइन	४.००	३.५०	२.१०
अर्क पोदीना	४.००	३.५०	२.१०
अर्क मुण्डी	४.००	३.५०	२.१०

अवलेह

औषधि	२० किलो		
च्यवनप्राश (अवलेह)	२६०.००		
	१ किलो	२५० ग्राम	१२५ ग्राम
	१५.००	४.५०	२.५०
द्राक्षावलेह	×	×	४.५०
लोहरसायन	८०.००	२१.००	×
	×	२०० ग्राम	१०० ग्राम
लोहरसायन	×	१७.००	६.००
कुटजावलेह	१८.००	४.००	२.२५
कुशावलेह	१८.००	४.००	२.२५
कण्टकारी अवलेह	१८.००	४.००	२.२५
वांसावलेह	१८.००	४.००	२.२५
ब्राह्म रसायन	१८.००	४.००	२.२५
सुपारी पाक	२०.००	४.५०	२.४०
		१०० ग्राम	५० ग्राम
विषमुष्टिकावलेह	×	६.००	५.००
		१५० ग्राम	७५ ग्राम
मधुकाद्यावलेह	२८.००	५.००	२.७५

क्वाथ

औषधि	१ किलो	१२५ ग्राम ८ पुड़िया	४० ग्राम १००पुड़िया
दार्व्यादि क्वाथ	१२.००	१४.००	६५.००
देवदार्व्यादि क्वाथ	१०.००	१२.००	६०.००
पथ्यादि क्वाथ	१२.००	१४.००	६५.००
महामजिष्ठादि क्वाथ	१२.००	१४.००	६५.००
महारास्नादि क्वाथ	१२.००	१४.००	६५.००
त्रिफलादि क्वाथ	१०.००	१२.००	६०.००
दशमूल क्वाथ	५.००	७.००	३५.००

४० किलो १६०.०० १ पुड़िया ४० पैसा

क्षार-सत्व द्रव

औषधि	२५० ग्राम	१०० ग्राम	१० ग्राम
वांसा क्षार	×	८.००	१.००
वज्र क्षार	१८.००	८.००	१.००
कदली क्षार	×	८.००	१.००
तिल क्षार	×	८.००	१.००
पलास क्षार	×	८.००	१.००
चना क्षार	×	९.००	१.१०
आक क्षार	×	९.००	१.१०
केतकी क्षार	×	८.००	१.००
अपामार्ग क्षार	×	८.००	१.००
इमली क्षार	×	९.००	१.१०
मूली क्षार	×	९.००	१.१०
कटेरी क्षार	×	८.००	१.००
नाड़ी क्षार	×	८.००	१.००
सौंफ क्षार	×	८.००	१.००
धतूरा क्षार	×	८.००	१.००
यवक्षार	११.००	५.००	०.७५
गिलोयसत्व	१३.००	६.००	१.००
"	१ किलो	५०.००	
यवक्षार	"	४०.००	

कतिपय मुख्य द्रव्य

औषधि	१ किलो	५० ग्राम	१० ग्राम
शुद्ध शिलाजीत	३०.००	१६.००	३.५०

औषधि	१ किलो	२५० ग्राम	१०० ग्राम
रुदन्तीफल	२०.००	५.२५	२.२५
रुदन्तीफल चूर्ण	२५.००	६.५०	२.७५
रुदन्तीफल टेवलेट	३०.००	७.७५	३.२५

मलहम

औषधि	२०० ग्राम	५० ग्राम	१५ ग्राम
अग्निदग्धव्रणहर मलहम	५.००	१.५०	×
कर्पूरादि मलहम	१०.५०	३.००	१.००
गन्धकादि मलहम	८.५०	२.५०	१.००
जात्यादि मलहम	८.५०	२.५०	१.००
पारदादि मलहम	६.५०	२.००	×
निम्बादि मलहम	१०.५०	३.००	१.००
मरिच्यादि मलहम	८.५०	२.५०	१.००
दशांग लेप	५.००	१.५०	×

शोधित द्रव्य

औषधि	१०० ग्राम	५० ग्राम	१० ग्राम
कज्जली (वरावर गंधक पारद)	३०.००	१५.५०	३.५०
शुद्ध गन्धक आंवलासार	४.००	२.२५	०.८०
शुद्ध जयपाल	५.००	२.७५	०.६०
शुद्ध हरताल (ताल)	३०.००	१५.५०	३.५०
शुद्ध पारद हिंगुलोत्थ	५०.००	२५.५०	५.७५
वच्छनाग शुद्ध	६.५०	३.५०	१.००
विषवीज शुद्ध	८.५०	४.५०	१.२०
शुद्ध मल्ल (संखिया)	३०.००	१६.००	४.००
भल्लातक शुद्ध	६.००	३.२५	१.००
शिला (मंशिल) शुद्ध	२०.००	१०.५०	२.५०
हिंगुल शुद्ध (हंसपदी)	२५.००	१३.००	३.००
शुद्ध धतूरावीज	६.००	३.२५	१.००
	१ किलो	५०० ग्राम	१०० ग्राम
शुद्ध गुग्गुल	५०.००	२६.००	५.५०
शुद्ध माण्डूर	१२.००	६.५०	१.६०
शुद्ध लौहचूर्ण	१४.००	७.५०	१.८०
शुद्ध ताम्रचूर्ण	७०.००	३६.००	७.५०
शुद्ध धान्याभ्रक	१५.००	८.००	२.००

गर्ग वनौषधि भण्डार, विजयगढ़ (अलीगढ़)

की तालिका

आत्म—निवेदन

●

पिलानी से बी० फार्म अध्ययन पूर्ण करने के बाद जब मैं विजयगढ़ आया तो मेरा विचार एलोपैथिक औषधियों के निर्माण का था परन्तु पूज्य पिताजी स्व० देवीशरण जी गर्ग के आदेश पर आयुर्वेदिक कैपसूलों, आयुर्वेदिक घनसत्वों तथा आयुर्वेदिक मलहमों (आकर्षक ट्यूब पैकिंग में) का निर्माण १९७० में गर्ग वनौषधि भण्डार नामक संस्था के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया। इन आयुर्वेदिक कैपसूल घनसत्व एवं अन्य पेटेन्ट आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण स्वर्गीय पिताजी ने अपने ४० वर्ष के चिकित्सानुभव के आधार पर कराया। यही कारण था कि इन औषधियों ने अपने गुणों के आधार पर अल्प समय में अत्यन्त ख्याति प्राप्त की। हमारी औषधियों के प्रचार का एक और कारण है आकर्षक पैकिंग। हम सभी औषधियों का पैकिंग आधुनिक ढंग से कराते हैं। चर्मनौल तथा दग्ध नौल जो विशुद्ध आयुर्वेदिक मलहम है, की ट्यूब एलोपैथिक मलहमों के समान आकर्षक रंगों में प्रिन्ट कराई गयीं हैं। इसी प्रकार अतीसार नाशक प्रसिद्ध औषधि "डाइरौल" का आधुनिक स्ट्रैप विधि से पैकिंग किया गया है। आगे के पृष्ठों पर अपने यहां से निर्मित सभी औषधियों का विवरण दिया जा रहा है। यहां औषधि मंगाने के नियम संक्षिप्त रूप में दिये जा रहे हैं—

कमीशन के नियम—(१) २५.०० से कम औषधियों पर कोई कमीशन नहीं दिया जाता है।
(२) ५०.०० तक की औषधियों पर १५% कमीशन दिया जाता है।
(३) ५०.०० से अधिक की औषधियों हर २५% कमीशन दिया जाता है।

पोस्टव्यय के नियम—(१) ५०.०० से कम औषधियों मंगाने पर पूरा पोस्टेज ग्राहक को देना होगा। १००.०० तक औषधि मंगाने पर आधा पोस्टव्यय ग्राहक को देना होगा तथा १००.०० से अधिक मंगाने पर ८.०० तक पोस्टेज हम देंगे बाकी ग्राहक को देनाहोगा।
(२) बालविट, गैसनौल, जुकामहारी, अशोका कार्डियल आदि भारी सामान पोस्ट से नहीं भेजा जा सकता है।
(३) वजन के आधार पर पोस्टेज निम्न प्रकार लगेगा—

	१०.०० तक	२०.०० तक	५०.०० तक	१००.०० तक		१०.०० तक	२०.०० तक	५०.०० तक	१००.०० तक
५०० ग्राम तक	४.००	४.५०	५.००	६.००	२००० ग्राम तक	८.५०	९.००	९.५०	१०.५०
१००० ग्राम तक	५.५०	६.००	६.५०	७.५०	२५०० ग्राम तक	१०.००	१०.५०	११.००	१२.००
१५०० ग्राम तक	७.००	७.५०	८.००	९.००	३००० ग्राम तक	११.५०	१२.००	१२.५०	१३.५०

सेल टेक्स के नियम—उत्तर प्रदेश के ग्राहकों को औषधियों पर ५% तथा उत्तर प्रदेश से प्रथक् प्रान्तों के ग्राहकों को १०% सी० फार्म देने पर ४% सेलटैक्स प्रथक् से देना होगा।

उपर्युक्त नियमों का ठीक तरह अवलोकन कर ग्राहकों को हमारी औषधियों का आर्डर देना चाहिए। हमारा विश्वास है कि एक बार हमारे यहां से निर्मित औषधियों को व्यवहार कर सदैव के लिये आप इनके भक्त बन जायेंगे। आशा है, सेवा का अवसर अवश्य प्रदान करेंगे।

भवदीय—

भगवती प्रसाद गर्ग, बी० फार्म

वातनौल

वायु के दर्द और सूजन के लिए आशुफलप्रद है। पक्षाघात, गृध्रसी, आमवात आदि किसी भी रोग के कारण दर्द और सूजन हो इसकी मालिश करने से बहुत शीघ्र लाभ होता है। वायु के रोगों में प्रायः महानारायण तैल, विषगर्भ तैल की मालिश की जाती है, किन्तु यह मलहम इन सब तैलों से अधिक लाभप्रद है। आमवात में जब रोगी पीड़ा और सूजन से छटपटाता है तो इसकी मालिश करने से चैन पड़ जाता है आमवात और गृध्रसी के रोगी को वातान्तक कैपसूल १–१ खिलाकर ऊपर से रास्ना मूल का क्वाथ पिलाना चाहिए और इस मलहम की मालिश करके सिकाई करनी चाहिए। पसली या गले के दर्द में इसकी मालिश करके रुई बांध देने से बहुत शीघ्र लाभ होता है। व्यवहार करने से ही पता चलेगा कि इस विशुद्ध आयुर्वेदीय मलहम की बराबरी न कोई तैल कर सकता है न औइन्टमेंट ही। ट्यूब २५ ग्राम का सुन्दर पैकिंग ३.२५।

स्वप्ना

वीर्यगत ऊष्मा को शान्त करके स्वप्नदोष को दूर करने वाली अत्युत्तम औषधि है पुराने से पुराना स्वप्नदोष और उसके उपद्रव जैसे हाथ पैरों की हड़कल, पेशाब का पीलापन, निस्तेजता आदि बहुत शीघ्र ठीक हो जाते हैं। सैकड़ों रोगी जो अनेकों मूल्यवान् औषधियां सेवन करके निराश हो चुके थे इसके व्यवहार से स्वस्थ हुये हैं। मूल्य १०० ग्राम ३.२५।

बालबिट

इसके सेवन से बालकों के समस्त रोग जैसे ज्वर, हरे [illegible] दस्त, अजीर्ण, पेट का दर्द, अफरा, पेट में कीड़े पड़ [illegible]ना, दस्त साफ न होना, सर्दी, कफ, खांसी दूध पलटना, [illegible]ते-सोते चौंक पड़ना, दांत निकलते के समय के रोग [illegible] शीघ्र ठीक हो जाते हैं। बच्चा मोटा ताजा और ब[illegible]न हो जाता है। कैल्शियम और विटामिन युक्त इस औषधि के व्यवहार से वे बच्चे भी स्वस्थ हो गये हैं, जिनकी सूखा रोग के कारण खाल तक लटक गई थी। मूल्य ३० मि० लि० की शीशी २.२५।

त्रिफलावलेह

यह अवलेह उन रोगियों के लिए है जिन्हें स्थायी मलावरोध रहता है, दस्त कभी साफ नहीं होता पेट में भारीपन रहता है और पेट की शिकायत रहती है, अत्युत्तम औषधि है। यह केवल दस्तावर ही नहीं, आंखों को बल भी प्रदान करती है। कुछ दिन नियमित सेवन के पश्चात् इसके सेवन की आवश्यकता ही नहीं रहती। जिन व्यक्तियों की बाल्यावस्था या युवावस्था में नेत्रों की ज्योति कम हो जाती है और नेत्र चिकित्सक आंखों में किसी प्रकार की खराबी नहीं बताते वे यदि नेत्र ज्योति-वर्द्धक सुरमा तथा इस अवलेह का नियमित प्रयोग करते रहें तो निश्चय ही नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है। मूल्य २५० ग्राम ४.७५।

गैसनौल

आज जिधर देखिये उधर यही सुनने में आता है कि हमारी अग्नि कमजोर है खाना हजम नहीं होता, दस्त साफ नहीं उतरता, भूख नहीं लगती इत्यादि। गैसनौल के सेवन से अग्नि प्रज्वलित होती है खाया हुआ खाना हजम होता है। रोगी का पेट फूल रहा हो और वायु का निस्सरण न हो तो इसके लेते ही चैन पड़ जाता है। मूल्य १०० मि० लि० २.५०, ४५० मि० लि० ८.५०।

जुकामहारी

जुकाम, नजला और खांसी की अत्युत्तम और शीघ्र लाभप्रद औषधि है। इसकी २–४ मात्राओं के सेवन से ही जुकाम की तेजी कम हो जाती है और रोगी को चैन पड़ जाता है। जिन रोगियों का जुकाम रुक जाता है, उसके कारण खांसी होती है और रोगी खांसते-खांसते और नाक साफ करते-करते परेशान हो जाता है, किन्तु बलगम नहीं निकलता, ऐसी अवस्था में इसके प्रयोग से कफ पतला होकर निकल जाता है। इसके निरन्तर सेवन से बारबार होने वाला जुकाम भी ठीक हो जाता है। मूल्य १०० मि० लि० की शीशी २.५०।

गर्ग वनौषधि भण्डार, विजयगढ़ (अलीगढ़)

अपामार्ग, धतूरा और मुलहठी के घनसत्वों और अन्य औषधियों के मिश्रण से निर्मित यह कैपसूल श्वास के दौरे को रोकने में अद्वितीय कार्य करता है। तीव्र श्वास का वेग २-३ कैपसूलों के सेवन से रुक जाता है। मूल्य ५० कैपसूल १२.५० और १० कैपसूल ३.००।

प्रदरान्तक कैपसूल

अशोक, उदुम्बर, लोध, चौलाई का घनसत्व, रससिन्दूर, सङ्गजराहत भस्म, प्रवाल भस्म, शुद्ध स्फटिका आदि से निर्मित इन कैपसूलों से श्वेतप्रदर, मासिकधर्म विकृति आदि विकार नष्ट होते हैं। प्रदर के कारण होने वाले कटिशूल, हाथ-पैरों की जलन, निरन्तर रहने वाले शिरःशूल आदि उपद्रवों में सत्वर लाभ होता है। मूल्य ५० कैपसूल १२.५०, १० कैपसूल ३.००।

वीर्यतरलान्तक

अनेक रोगियों पर परीक्षा करके हमने यह कैपसूल तैयार किया है। इसके व्यवहार से पानी के समान पतला वीर्य भी गाढ़ा हो जाता है और वीर्य के पतलापन के कारण होने वाले स्वप्नदोष और प्रमेह में शीघ्र लाभ होता है। मूल्य ५० कैपसूल १३.००, १० कैपसूल ३.००।

अपामार्ग घनसत्व, सत्यानाशी घनसत्व एवं अन्य क
औषधियों के मिश्रण से निर्मित यह कैपसूल उन स्त्रिय
के लिए बहुत ही उपयोगी है, जिनके गर्भाशय में शो
होता है और उसके कारण मासिक धर्म कई-कई मास
या बहुत थोड़ी मात्रा में होता है और मासिक धर्म
समय विशेष कष्ट होता है। इसके सेवन से गर्भाशय क
शोथ नष्ट हो जाता है और मासिक धर्म ठीक समय प
होने लगता है। मूल्य ५० कैपसूल ११.५०, १० कैप
सूल २.७५।

उष्णवातघ्न

संगजराहत भस्म, संगयशद पिष्टी, वेरोजा सत्
श्वेत पर्पटी आदि से निर्मित इन कैपसूलों से पुराने से पुरा
उष्णवात (सुजाक) में तत्काल प्रभाव होता है, मूत्र नल
के क्षत भर जाते हैं, पेशाब बिना तकलीफ के उतर
लगता है। मूल्य १० कैपसूल ३.००, ५० कैपसूल १३.०
१०० कैपसूल १५.००।

हिस्टीरियान्तक

नेत्रवलादि घनसत्व, वच घनसत्व, असगन्ध, मल्ल
चन्द्रोदय और अन्य औषधियों के मिश्रण से प्रस्तुत य
कैपसूल हिस्टीरिया के लिए रामबाण है। इसके उपयो
से बहुत सी औषधियां सेवन करके निराश हुई रोगिण
भी स्वस्थ हुई हैं। मूल्य ५० कैपसूल १२.५०, १० कैपसू
३.०० के हैं।

गर्ग वनौषधि भण्डार, विजयगढ़ (अलीगढ़)

हमारे घनसत्वों को व्यवहार करके

एक बार परीक्षा तो कीजिये ?

हमारे घनसत्वों ने चिकित्सा-जगत् में आश्चर्य उपस्थित कर दिया है। जिन्होंने एक बार इनका व्यवहार कर लिया है वे बार-बार आर्डर दे रहे हैं। आप भी एक बार व्यवहार करके देखिये तो सही। घनसत्वों के व्यवहार में निम्न लाभ तो प्रत्यक्ष हैं।

१—क्वाथ बनाने का झंझट नहीं है।
२—इनके सेवन से किसी विशेष अनुपान की आवश्यकता नहीं है।
३—मात्रा अत्यल्प होती है, इससे आसानी से सेवन की जा सकती है।
४—इनका व्यवहार बहुत सस्ता पड़ता है।

चाहे घनसत्वों का चूर्ण या टेबलेट लीजिये या फिर रोगियों पर उत्तम प्रभाव डालने के लिए कैपसूलों का व्यवहार करिये।

हमारे अब तक के निर्मित घनसत्वों का विवरण—

नाम घनसत्व	किस रोग के लिये	घनसत्व चूर्ण ५०ग्राम	½-½ ग्रा. की ५० ग्राम टेवलेट	½-½ ग्रा. की १००टेव. स्ट्रिपपैकिंग	½-½ ग्रा. के ६० कैप.
उदुम्वर घनसत्व	मधुमेह, वहुमूत्र, रक्तपित्त, रक्तातिसार नाशक	४.००	४.७५	६.००	७.२५
कुटज ,,	अतीसार, आमातीसार नाशक	४.७५	५.२५	६.५०	७.५०
मुलहठी ,,	शुष्क कास नाशक	४.७५	५.२५	६.७५	७.७५
रास्ना ,,	आमवात, गृध्रसी, पक्षाघात आदि वातविकार नाशक	४.००	४.७५	६.००	७.२५
सुदर्शन ,,	ज्वर, जीर्ण ज्वर, मलेरिया ज्वर नाशक	७.५०	८.००	९.२५	११.००
अशोक ,,	गर्भाशय सम्वन्धी विकार नाशक	४.७५	५.२५	६.५०	७.७५
अर्जुन ,,	हृदय रोग नाशक	४.००	४.७५	६.००	७.२५
नेत्रवालादि ,,	हिस्टीरिया और अपस्मार कारक	४.७५	५.२५	६.५०	८.२५
ब्राह्मीशंखपुष्पी,,	स्मृति एवं शक्ति वृद्धि नाशक	७.००	७.५०	८.७५	१०.२५
अश्वगंधादि ,,	निर्वलता नाशक, शक्ति वर्धक	८.००	८.५०	९.७५	१२.००
अपामार्गादि ,,	श्वास, कास नाशक	४.७५	५.२५	६.५०	८.२५
वावलीघास ,,	रक्तार्श, रक्तप्रदर आदि के रक्त को रोकने में अव्यर्थ	५.५०	६.००	७.५०	८.७५

धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ द्वारा प्रकाशित

आयुर्वेदिक पुस्तकें

यन्त्र शस्त्र परिचय—(द्वितीय संस्करण) लेखक श्री दाऊदयाल गर्ग। यह पुस्तक यन्त्र शस्त्रों के प्रयोग हेतु सर्वोत्तम पुस्तक है। इसका प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया था अब पुनः छपा है। अति उत्तम पुस्तक है जिसमें सैकड़ों चित्र दिये गये हैं। मूल्य सजिल्द १०.००।

चिकित्सा रहस्य—लेखक श्री पं० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी. ए. आयुर्वेदाचार्य। इस पुस्तक में उन्हीं बातों का उल्लेख किया गया है जिनकी जानकारी चिकित्सा कर्म के पूर्व उसकी सफलता के लिए आवश्यक है। आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का अन्य चिकित्सा पद्धतियों के साथ तुलनात्मक विचार भी किया गया है। उत्तम ग्लेज पर २०×३० सोलह पेजी साइज में छपी ३७५ पृष्ठ सुपुष्ट जिल्द मूल्य ५.००।

बृ०पाक संग्रह—लेखक पं० कृष्णप्रदाद जी त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य। इस पुस्तक में ४०० से अधिक पाकों का संग्रह प्रकाशित है। इसमें पाक निर्माण विधि, मात्रा, सेवन विधि आदि दी गई है। प्रायः सभी रोगों पर २-४ प्रयोग इस पुस्तक में आपको मिलेंगे। हर प्रकार से उपयोगी है। मूल्य सजिल्द ५.००, अजिल्द ४.५०।

सूर्यरश्मि चिकित्सा—(नवीन संस्करण) इस पुस्तक में सूर्य की किरणों से ही समस्त रोग दूर करने का विधान है। इसको पढ़कर पाठक देखेंगे कि सूर्य कितना शक्तिशाली है। उसकी किरणें शरीर को कितनी लाभदायक हैं और उनके द्वारा रोग किस प्रकार बात की बात में दूर किये जा सकते हैं, अनेक रंगीन चित्र हैं। मूल्य १.००।

उपदंश विज्ञान—(द्वितीय संस्करण) लेखक श्री कविराज पंडित बालकराम जी शुक्ल आयुर्वेदाचार्य। इस पुस्तक में गरमी (चांदी) रोग के वैज्ञानिक कारण निदान लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन किया गया है। मूल्य १.२५।

प्रयोग पुष्पावली—पुस्तक बेकार मनुष्यों को व्यवसाय की ओर झुकाने वाली है। पहले दो संस्कार शीघ्र समाप्त हो जाना इसकी उत्तमता का प्रमाण है, पृष्ठ संख्या ११२ मूल्य १.५०।

कुचिमार तन्त्र—(भाषा टीका) श्रीमद् कुचिमार मुनि प्रणीत है। इसमें इन्द्रीय वृद्धि स्थूलीकरण कामोद्दीपन लेप, वाजीकरण, द्रावण, स्तम्भन, संकोच व केशपात, गर्भाधान, सहज प्रसव आदि पर अनेक योग भलीभांति बताए गये हैं। इस नवीन संस्करण में प्रमेह, नपुंसकता, मधुमेह आदि रोगों पर स्वानुभूत प्रयोगों का एक छोटा सा संग्रह भी दिया गया है। मूल्य १.२५।

न्यूमोनियां प्रकाश—(द्वितीय संस्करण) आयुर्वेद मनीषी स्वर्गीय पंडित देवकरन जी वाजपेयी की यह उत्तम रचना है। न्यूमोनियां की शास्त्रीय व्युत्पत्ति, कारण, निदान, परिणाम, चिकित्सा आदि सभी बातें भलीभांति वर्णित हैं। मूल्य १.००।

वेदों में वैद्यक ज्ञान—लेखक स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जी वैद्यराज। वेद के मन्त्र जिनमें आयुर्वेदीय विषयों का वर्णन है तथा जिससे आयुर्वेद की प्राचीनता प्रमाणित होती है शब्दार्थ सहित दिये हैं। मूल्य ५० पैसा।

कूपीपक्व रस रसायन भस्म पर्पटी—लेखक देवीशरण जी गर्ग धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाले कूपीपक्व रसायनों के गुण, मात्रा, अनुपान, सेवन विधि आदि का विस्तृत वर्णन है। मूल्य ५० पैसा।

चन्द्रोदय मकरध्वज—(तृतीय संस्करण) लेखक स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जी वैद्यराज। इस पुस्तक में पारद शुद्ध, गन्धक शुद्ध, पारद के संस्कार, मकरध्वज बनाने की विधि, अष्टी बनाने की विधि, मकरध्वज के गुण तथा भिन्न-भिन्न रोगों में अनुभव सभी बातें स्वानुभव के आधार पर वर्णित हैं। मूल्य ५० पैसे।

रक्त (Blood)—श्री वैद्यराज राधावल्लभ जी ने रक्त की बनावट, उपयोगिता एवं रक्त सम्बन्धी सभी मोटी-मोटी बातें आयुर्वेद एवं एलोपैथिक उभय पद्धतियों से समझाकर सरल हिन्दी भाषा में लिखी हैं। नवीन संस्करण मूल्य ५० पैसे।

इन्फ्लुएन्जा (फ्लु)—लेखक श्री पंडित कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी. ए. आयुर्वेदाचार्य। इसमें इन्फ्लुएन्जा रोग का विस्तृत विवेचन तथा सफल चिकित्सा विधि वर्णित है। मूल्य १.००।

अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें

आयुर्वेदीय ग्रन्थ रत्न

अगद-तन्त्र । डॉ० श्री रमानाथ द्विवेदी २.००
अंगूर के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित २.५०
अजवायन के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
अञ्जननिदानम् । ब्रह्मशंकर मिश्र कृत हिन्दी टीका १.००
अंजीर । रामेशवेदी १.७५
अण्ड (अन्त्रवृद्धि) चिकित्सा । कृष्णप्रसाद ०.३८
अदरख के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
अनार के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.००
अनुपान कल्पतरु । जगन्नाथप्रसाद शुक्ल २.५०
अनुभव के मोती । डाक्टरों के अनुभव तथा अनुभव विश्वकोप । हरनारायण कोकचा १२.७५
अनुभूतयोग । १-५ भाग । श्री श्यामसुन्दराचार्य ५.५०
अनुभूतयोगचर्चा । १-२ भाग । वंसरीलालसाहनी १०.००
अनुभूतयोगचिन्तामणि । भाग १-२ । डा० गणपतिसिंह १५.००
अनुभूतयोगप्रकाश । डा० गणपतिसिंह पूर्वार्द्ध १०.००
अनुभूति वैद्य रघुनन्दन मिश्र २.००
अपटूडेट एलोपैथिक टेब्लेट्स गाइड चार्ट्स । हरनारायण कोकचा १५.७५
अपूर्व चिकित्सा-विधान । महेन्द्रनाथ पाण्डेय ७.५०
अभिनन्दन ग्रन्थ । श्री सत्यनारायण शास्त्री २०.००
अभिनव प्राकृतिक चिकित्सा । कुलरञ्जन मुखर्जी ७.००
अभिनव विकृति विज्ञान । रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ३०.००
अभिनवशरीरक्रियाविज्ञान प्रियव्रत शर्मा ३०.००
अभिनव शवच्छेद विज्ञान । हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ १-२ भाग २२.००
अरण्ड के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित २.००
अरिष्टविज्ञान । डा० रामनाथ द्विवेदी २५.००
अर्क के गुण तथा उपयोग । हकीम अब्दुल्ला ३.००
अर्कगुणविधान । डा० गणपति सिंह १.७५
अर्श रोग चिकित्सा । मनोहरदास १.००
अशोक । रामेशवेदी १.००
अष्टांगसंग्रहः । श्री गोवर्धन शर्मा कृत— अर्थप्रकाशिका हिन्दी टीका सहित । सूत्रस्थानं १५.००
अष्टाङ्गसंग्रह । अत्रिदेव कृत हिन्दी टीका । प्रथम १५-००, द्वितीय २५-०० ४०.००
अष्टांगसंग्रह । इन्दू रचित शशिलेखा संस्कृत टीका सहित । निदान-शरीर स्थान २०.००
अष्टांगहृदयम् । 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका । कविराज श्री अत्रिदेवगुप्त विद्यालङ्कार ३०.००
आंख का अचूक इलाज । महेन्द्रनाथ पाण्डेय ६.५०
आंखों का डाक्टर । रामनरायन शर्मा वैद्य २.५०
आंवला । रामेश वेदी २.००
आंवला के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
आंवला के गुण तथा उपयोग ३.००
आक (अर्क) के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही ३.००
आचार-विचार और स्वास्थ्य । उमेदीलाल वैश्य ०.३६
आधुनिक एलोपैथिक गाइड । हरनारायण कोकचा ३०.००
आम के गुण तथा उपयोग । अमोलचन्द्र शुक्ल २.००
आयुर्वेद इञ्जैक्शन चिकित्सा । डा० श्यामसुन्दर २.००
आयुर्वेद का इतिहास । अत्रिदेव ६.००
आयुर्वेद चिकित्सा मार्गदर्शिका । अत्रिदेव गुप्त ५.००
आयुर्वेदप्रकाशः । श्री गुलराजशर्मा कृत अर्थ विद्योतिनी-संस्कृत अर्थ प्रकाशिनी हिन्दी टीका सहित । परिष्कृत-द्वि० संस्करण । सम्पूर्ण २०.००
आयुर्वेद प्रदीप (आयु.-एलोपैथिक गाइड) डा. राजकुमार-द्विवेदी । डा० गंगासहाय पाण्डेय सम्पादित । चतुर्थ परिवर्द्धित संस्करण २०.००
आयुर्वेदरत्न गाइड । शिवकुमार 'व्यास' । प्र०खण्ड २०.०० द्वितीय खण्ड २०.००
आयुर्वेद विज्ञान (हिन्दी) डा० कमलाप्रसाद मिश्र ४.५०
आयुर्वेद सार संग्रह । १६.००
आयुर्वेद सुलभ विज्ञान । डा० कमलसिंह २.५०

कायचिकित्सा परिचय । सी० द्वारकानाथ २०.००
किशोर रक्षा और ब्रह्मचर्य । रविनाथ शास्त्री ०.७०
कुचिमार तन्त्रम् । हिन्दी टीका सहित १.२५
कैंसर रोग की चिकित्सा । प्रभाकर चट्टोपाध्याय १२.००
कोकशास्त्र । बड़ा सजिल्द ६.००
कौड़ी के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित २.००
कौमारभृत्यम् । (नव्य-बालरोग सहित)
आयुर्वेदाचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, भूमिका
लेखक आचार्य वैद्य यादव जी, त्रिक्रम जी १५.००
क्रियात्मक औषधि परिचय विज्ञान । सचित्र ।
श्री विश्वनाथ द्विवेदी १६.००
क्लीनिकल पैथोलौजी । (वृहत् मल-मूत्र-रक्तादि
परीक्षा) सचित्र । डा. शिवनाथ खन्ना २५.००
क्लिनिकल मेडिसिन । १-२ भाग अत्रिदेव गुप्त २५.००
क्वाथमणिमाला । आर्यदास कुमारसिंह संकलित ।
श्री काशीनाथ शास्त्री कृत सटिप्पणी
विद्योतिनी हिन्दी टीका सहित २.००
खाद्य की नई विधि । कुलरञ्जन-मुखर्जी ६.००
गदविग्रहः । सोढल विरचितः । श्री इन्द्रदेव त्रिपाठी-
कृत विद्योतिनी हिन्दी व्याख्या सहित ।
सम्पूर्ण १-३ भाग ६५.००
गर्भपात चिकित्सा । डा. एम. ए. नार्वी १.५०
गर्भरक्षा तथा शिशु-परिपालन । मुकुन्दस्वरूप वर्मा ६.००
गांवों में औषधिरत्न । प्रथम भाग ग्लेज ८.००
द्वितीय भाग ६.५० तृतीय भाग १०.५०
गाजर के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.००
गुलाब के गुण तथा उपयोग । अमोलचन्द्र शुक्ला १.५०
गूलर के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
गृहविज्ञान एवं व्यावहारिक प्रयोग । कालेड़ा ०.५०
गोरसादि औषधि । शंकरदास जी पदे ०.२०
ग्रन्थि प्रणाली के रोग । महेन्द्रनाथ पाण्डेय १.२५
ग्राम्य चिकित्सा । श्री केदारनाथ ०.७५
घर का वैद्य । सम्पादक—अमोलचन्द्र शुक्ला १६.५०
घर का वैद्य । ऋषिकुमार शर्मा १.५०
घरेलू दवाइयां । राजेश दीक्षित ८.२५
घाव की चिकित्सा । श्यामसुन्दर शर्मा १.००
घाव चिकित्सा । डा. एस. ए. नार्वी १.५०
घीकवार (ग्वार पट्ठा) के गुण । अमोलचन्द्र शुक्ल ३.००
घृतकुमारी विधान । सिद्धिसागर प्राणाचार्य १.२५
घृत (घी) के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.००
घृतगुण विधान । डा. गणपतिसिंह १.००
चक्रदत्त । श्री जगदीश्वरप्रसाद कृत नवीन वैज्ञानिक
भावार्थसंदीपिनी विस्तृत हिन्दी टीका टिप्पणी
परिशिष्ट सहित । शीघ्र प्राप्त होगा ।
चरक संहिता-तन्त्रार्थ दीपिकी हिन्दी व्याख्या ।
श्री जयदेव विद्यालंकार कृत १-२ भाग अजिल्द ४०.००
सजिल्द ५०.००
चरक संहिता दो भाग । काशीनाथ गोरखपुर १००.००
चर्मरोग चिकित्सा । डा. प्रियकुमार चौबे ३.५०
चर्मरोग चिकित्सा । डा. पद्मदेव नारायणसिंह ५.००
चर्मरोग विज्ञान । डा. शिवनाथ खन्ना ५.००
चिकित्सा चन्द्रोदय । हरिदास वैद्य । १-७ भाग ८०.००
चिकित्सातत्व प्रदीप । प्रथम भाग १६.००
द्वितीय भाग १६.००
चिकित्सादर्श । राजेश्वरदत्त शास्त्री । ३ भाग २५.००
चिकित्सा रहस्य । कृष्णप्रसाद त्रिवेदी ५.००
चिकित्सा विज्ञान कोष । डा. एस. सी. सेन गुप्त १०.००
छाछ के गुण तथा उपयोग । अमोलचन्द्र शुक्ल २.००
जननेन्द्रिय रोग चिकित्सा । डा. प्रियकुमार चौबे २.७५
जल चिकित्सा १.००
जल चिकित्सा । सुरेशप्रसाद शर्मा ०.७५
जल चिकित्सा विधान । डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ३.००
जार फोर्टीइयर प्रैक्टिस । भाषा १०.००
जीने की कला । विठ्ठलदास मोदी ४.००
जीरा के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
जीरा के गुण तथा उपयोग । राजेश दीक्षित २.००
जीवनतत्व । महेन्द्रनाथ पाण्डेय १.५०
जीवाणु विज्ञान । डा. घाणेकर । संशोधित संस्करण २५.००
जुकाम । महेन्द्रनाथ पाण्डेय १.७५
ज्वर चिकित्सा । डा. एम. ए. नार्वी ३.५०
ज्वर चिकित्सा । डा. अयोध्यानाथ पाण्डेय ३.००
ज्वर विज्ञान । कालेड़ा ३.५०
टोटका चिकित्सा । अमोलचन्द्र शुक्ल १.५०

टोटका विज्ञान । केदारनाथ शर्मा १-२ भाग १.२५
डायविटीज-मधुमेह । डा. केशवानन्द नौटियाल २.००
ढाक के गुण तथा उपयोग । अमोलचन्द्र शुक्ल १.५०
तन्दुरुस्त कैसे रहें ? वर्नर मैकफैडेन ६.००
तम्बाकू के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित २.००
तम्बाकू जहर है । युगलकिशोर चौधरी १.००
तरबूज के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.००
तापमान (थर्मामीटर) । डा. राजकुमार द्विवेदी ०.२५
तुलना मूलक मेटेरिया मेडिका । फेरिंगटन १०.००
तुलसी । रामेश वेदी २.५०
तुलसी गुण तथा उपयोग । डा. कोकचा ४.५०
तुलसी गुण विधान । सिद्धिसागर १.५०
तुलसी विज्ञान । (तुलसी के ३४३ प्रयोग) ०.७५
तेजपात के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
त्रिदोषतत्वविमर्श । रामरक्ष पाठक ४.००
त्रिदोषविज्ञानम् । उमेन्द्रनाथदास कृत हिन्दी टीका ४.००
त्रिफला । रामेश वेदी २.००, ३.२५
त्रिफला के गुण तथा उपयोग ७.००
थर्मामीटर (ताप-मापन) । डा. राजकुमार द्विवेदी ०.२५
दन्त विज्ञान । गोपीनाथ कविराज ०.५०
दही के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित ३.००
दुग्ध कल्प । विट्ठलदास मोदी २.००
दुग्ध कल्प व दुग्ध चिकित्सा । डा. युगलकिशोर गुप्त २.२५
दुग्धगुण विधान । डा. गणपतसिंह १.००
दूध के गुण तथा उपयोग । सम्पादक—रामस्नेही ३.००
दूध से सब रोगों का इलाज । डा. युगुलकिशोर गुप्त १.५०
देहात की दवाएं रामेश वेदी ०.७५
देहाती अनुभूतयोग संग्रह । अमोलचन्द्र शुक्ल । भाषा १-२ भाग १६.५०
देहाती इलाज । रामेश वेदी १.००
देहाती जड़ी बूटियां । संन्यासियों की गुप्त बूटियां १५.००
देहाती प्राकृतिक चिकित्सा । अमोलचन्द्र शुक्ल ८.२५
द्रव्यगुण विज्ञान । वैद्य प्रियव्रत शर्मा । अभिनव श्रेष्ठ संस्करण (१-३ भाग, जिल्दों में) ५५.००
धतूरे के गुण तथा उपयोग । सम्पादक-रामस्नेही २.००
धतूरा गुण विधान । डा. गणपतिसिंह वर्मा ०.७५
धनियां के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
धनियां के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.००
धन्वन्तरि परिचय । रघुवीर शरण शर्मा ३.००
धन्वन्तरिपूजा कथादर्श । (भगवान् धन्वन्तरि के चित्र-युक्त) भाषा ०.७५
वनौषधि विशेषांक १-२-३-५-६ भाग,प्रत्येक का मू. १०.००
चौथा भाग १२.००
धन्वन्तरि व्रतकल्प । सार्थ पूजा विधान कथा सहित १.००
धात्री विज्ञान । शिवदयाल गुप्त ३.५०
नजला जुकाम की चिकित्सा । डा. एम. ए. नार्वी १.५०
नपुंसक चिकित्सा । (यौवन के गुप्त रहस्य) डा. गणपतिसिंह ५.००
नमक (लवण) के गुण तथा उपयोग । रामसनेही दीक्षित १.००
नव्य चिकित्सा विज्ञान । डा. मुकुन्स्वरूप वर्मा । १-२ भाग २०.००
नव्य जन स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य-विज्ञान । डा. वर्मा २०.००
नाड़ी परीक्षा (इन्द्रदेव) १.२५
नाड़ी-दर्शन । श्री ताराशंकर मिश्र वैद्य ३.५०
नाड़ी-परीक्षा । रावणकृत । वैद्यप्रिया विस्तृत हिन्दी टीका सहित ०.४०
नाड़ीरहस्य । डा. अयोध्यानाथ पाण्डेय १.००
नाड़ीविज्ञानम् । विबोधिनी विस्तृत हिन्दी टीका सहित ०.२५
नाड़ीविज्ञानम् (इन्द्रदेव) १.२५
नासा, गला, एवं कर्णरोग चिकित्सा डा. प्रियकुमार चौबे ६.००
निघण्टु विज्ञान । (मखज़न उल मुफरदात) जगन्नाथ शर्मा । भाषा २.००
नित्योपयोगी क्वाथ संग्रह १.२५
नित्योपयोगी गुटिका संग्रह । वैद्य बद्रीनारायण शर्मा २.००
नित्योपयोगी चूर्ण संग्रह १.२५
निदान चिकित्सा हस्तामलक । रणजीतराय । १८.००
निदान नवनीत चार्ट्स तथा निदान विश्वकोष । हरनारायण कोकचा १५.७५

निम्बू के गुण तथा उपयोग। सम्पादक—रामस्नेही २.००
निम्बू गुण विधान। डा. गणपतिसिंह वर्मा ०.७५
नीवू के उपयोग। उमेदीलाल वैश्य ०.३५
नीम के उपयोग। केदारनाथ पाठक १.५०
नीम के गुण तथा उपयोग। सम्पादक-रामस्नेही २.००
नीमगुण विधान। डा. गणपतिसिंह २.००
नीम चिकित्सा विधान। डा. सुरेश १.००
नीम वकायन। रामेशवेदी २.००
नूतन अमृतसागर। रफ कागज १५.००
नेत्ररोग विज्ञान (सचित्र) डा. शिवदयाल गुप्त ६.००
न्यूमोनियां प्रकाश। देवकरण वाजपेयी १.००
पक्षाघात और लकवा चिकित्सा।
डा. एम. ए. नार्वी–डा. एस. पी. मेहता १.५०
पंचकर्म विज्ञान। शिवकुमार व्यास ६.००
पञ्चभूत विज्ञानम्। कविराज उपेन्द्रनाथदास कृत
हिन्दी टीका सहित ४.००
पञ्चविध कषाय-कल्पना विज्ञान।
डा. अवधविहारी अग्निहोत्री २.००
पदार्थ विज्ञानम्। कविराज सत्यनारायण शास्त्री ३.००
पदार्थ विज्ञानम्। श्री वागीश्वर शुक्ल कृत १०.००
पदार्थ विज्ञान। रामरक्ष पाठक १२.००
परिभाषा प्रबन्ध। जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ६.००
पलाण्डु के गुण तथा उपयोग। सम्पादक—रामस्नेही १.५०
पलाण्डु गुण विधान। डा. गणपति सिंह १.००
पशु चिकित्सा वृहद्। जी. डी. सिंह वर्मा ७.५०
पशुओं का घरेलू तथा डाक्टरी इलाज।
अमोलचन्द्र शुक्ल १८.००
पशु चिकित्सा। (होमियो) ३.००
पाकेट इन्जेक्शन गाइड। डा. जे. पी. सक्सेना १.५०
पाचन प्रणाली के रोग। महेन्द्रनाथ २.७५
पाश्चात्य द्रव्यगुण विज्ञान (मैटेरिया मैडिका)
रामसुशील सिंह। प्रथम भाग, ३०.००
द्वितीय भाग ३०.००, संपूर्ण ६०.००
पीपल के गुण तथा उपयोगी। रामस्नेही दीक्षित १.००
पीपल गुण विधान। डा. गणपतिसिंह ०.५०

पुरानी बीमारियां। डा. सरस्वती प्रसाद मिश्री ५.५०
पुराने रोगों की गृह चिकित्सा। कुलरंजन मुखर्जी ७.००
पुरुष गुप्त रोग चिकित्सा। हरनारायण कोकचा ६.००
पेटेन्ट चिकित्सा। (एलोपैथिक)
डा. अयोध्यानाथ पाण्डेय ४.५०
पेटेन्ट प्रेस्क्राइवर (पेटेन्ट मैडिसिन्स)
डा. रमानाथ द्विवेदी १५.००
पेनसिलिन व स्ट्रेप्टोमाइसिन विज्ञान तथा मूत्रपरीक्षा १.२५
पैसे-पैसे के चुटकले। डा. गणपति सिंह ४.००
पैसे-पैसे के चुटकले। अमोलचन्द्र शुक्ला ६.००
प्याज के उपयोग। उमेदीलाल वैश्य ०.३५
प्याज के गुण तथा उपयोग। रामस्नेही दीक्षित १.००
प्रत्यक्ष शारीरम् (संस्कृत) द्वि. भाग १०.००
प्रत्यक्ष शारीरम् (हिन्दी)। गणनाथ सेन।
द्वितीय भाग यन्त्रस्थ प्रथम भाग १२.००
प्रदर रोग चिकित्सा
डा. एम. ए. नार्वी—एस. पी. मेहता २.००
प्रयोग मणिमालांक। ६.००
प्रसूतिविज्ञान। (सचित्र) डा. रमानाथ द्विवेदी २५.००
प्राकृतिक चिकित्सा। (अभिनव) कुलरञ्जन मुखर्जी ७.००
प्राकृतिक चिकित्सा पथ-प्रदर्शक।
युगलकिशोर चौधरी ०.५०
प्राकृतिक चिकित्सा प्रश्नोत्तरी। युगलकिशोर चौधरी ०.७५
प्राकृतिक चिकित्सा सागर। डा. युगलकिशोर चौधरी १.२५
प्राकृतिक चिकित्सा सूर्योदय।
डा. युगलकिशोर चौधरी १.००
प्राकृतिक जीवन की ओर। विठ्ठलदास मोदी ६.००
प्राकृतिक शिशु चिकित्सा। डा. सुरेश २.००
प्रैक्टिस आफ मेडिसिन (चिकित्सा विज्ञान)।
श्यामसुन्दर शर्मा ५.००
प्रैक्टिस, रोगी और आयु बढ़ाने के रहस्य।
डा. एस. पी मेहता ३.००
प्लीहा के रोग और उनकी चिकित्सा।
कविराज ब्रह्मानन्द ०.५०
प्लीहा रोग चिकित्सा। डा. सुरेशप्रसाद शर्मा १.००

प्लीहा रोग चिकित्सा । ज्ञानचन्द ०.७५
फलाहार चिकित्सा । महेन्द्रनाथ पाण्डेय ३.००
फलों के चमत्कार । डा. गणपति सिंह १०.००
फिटकरी गुण-विधान । डा. गणपति सिंह ३.००
फिटकरी के गुण तथा उपयोग । सम्पादक-रामस्नेही ३.००
बच्चों के रोग और इलाज । महेन्द्रनाथ पाण्डेय ५.००
बच्चों के रोगों का निरीक्षण । एस. पी. मेहता १.००
बबूल के गुण तथा उपयोग । सम्पादक-रामस्नेही १.५०
बबूल गुण-विधान । डा. गणपति सिंह १.००
बबूल चिकित्सा विधान । डा. सुरेश १.००
बरगद (बड़) के गुण तथा उपयोग ।
रामस्नेही दीक्षित १.५०
बवासीर चिकित्सा (अर्श चिकित्सा) ।
डा. एम. ए. नार्वी—डा. एस. पी. मेहता १.००
बस्तिशलाका प्रवेश (एनीमा कैथेटर)
डा. राजकुमार द्विवेदी १.००
बहेड़ा के गुण तथा उपयोग २.००
बांझपन की चिकित्सा । डा. एम. ए. नार्वी
एस. पी. मेहता १.७५
बांसा (अडूसा) बूटी के गुण तथा उपयोग ।
रामनारायण शर्मा १.५०
बादाम के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित २.००
बायोकैमिक चिकित्सा । डा. सुरेश ६.००
बायोकैमिक पाकेट गाइड । सुरेश १.५०
बायोकैमिक मिक्सचर । एस. ए. माजिद ०.७५
बायोकैमिक रहस्य । डा. कैलाशभूषण त्रिपाठी ३.००
बायोकैमिक रेपर्टरी । डा. कामताप्रसाद मिश्र ५.००
बालरोग चिकित्सा । डा. एम. ए. नार्वी ३.५०
बालरोग चिकित्सा । पं. ऋषिकुमार शर्मा १.५०
बालरोग चिकित्सा । डा. रमानाथ द्विवेदी ८.००
बाह्यप्रयोग की औषधियां (होमियोपैथिक) ।
सरस्वतीप्रसाद मिश्र १.००
बिजली चिकित्सा । एस. पी. मेहता १.००
बीसवीं शताब्दी की औषधियां । मुकुन्दस्वरूप वर्मा १०.००
बृहद् पाक संग्रह । श्री कृष्णप्रसाद त्रिवेदी सजिल्द ५.५०
बृहद् बूटी प्रचार ६.००
ब्रह्मचर्य विवेक । ३.००
ब्लडप्रैशर । डा. केशवानन्द नौटियाल ३.००
भस्मपर्पटी । देवीशरण गर्ग ०.५०
भारतीय औषधावली तथा होमियो पेटेन्ट मेडिसिन ३.००
भारतीय जड़ी-बूटी अर्थात् संन्यासियों की गुप्त
बूटियां । डा. गणपतिसिंह । १-२ भाग १०.००
भारतीय जीवाणु विज्ञान । रघुवीर शरण शर्मा ३.००
भारतीय रसपद्धति । अत्रिदेव गुप्त विद्यालङ्कार १.५०
भावप्रकाशः । 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका सहित
सम्पूर्ण ६०.००
भावप्रकाश—ज्वराधिकारः ।
विद्योतिनी हिन्दी टीका परिशिष्ट सहित ५.००
भावप्रकाश निघण्टुः । हिन्दी टीका सहित
डा. श्रीकृष्ण चूनेकर-डा. गंगासहाय पाण्डेय २०.००
भावप्रकाश निघण्टु । विश्वनाथ द्विवेदी १५.००
भिन्न-भिन्न रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा । १.००
भिषक् कर्मसिद्धि । डा. रमानाथ द्विवेदी ३२.००
भूलोक का अमृत—गाय का दूध ०.७५
भेषजसार । सुरेशप्रसाद ३.००
भैषज्य कल्पना विज्ञान । अवधविहारी अग्निहोत्री १०.००
भैषज्य रत्नावली । हिन्दी टीका सहित ।
जयदेव विद्यालंकार ५०.००
भैषज्य रत्नावली । 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका ।
कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री सम्पादित ४५.००
मकरध्वज । (चन्द्रोदय) तथा स्वर्णसिंदूर बनाने की विधि ०.५०
मगरैला के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
मठा उसके गुण तथा उपयोग । कवि. महेन्द्रनाथ । १.५०
मठा के गुण तथा उपयोग १.५०
मठा या छाछ के उपयोग १.००
मधु के उपयोग । केदारनाथ १.२५
मधु (शहद) के गुण तथा उपयोग । के. प्रसाद ३.००
मधु-गुण-विधान । डा. गणपति सिंह १.५०
मधु चिकित्सा विधान । डा. सुरेश १.००
मधुमेह । परशुराम शास्त्री १.००
मधुमेहः निदान और उपचार । महेन्द्रनाथ पाण्डेय २.००
मधुमेह चिकित्सा । डा. एस. पी. मेहता १.००
मनोवेग और स्वास्थ्य । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
मर्म-विज्ञान । (सचित्र) आचार्य रामरक्षक पाठक ३.५०
मल-मूत्र-रक्तादि परीक्षा । डा. शिवदयाल गुप्त ४.७०

मवेशियों की घरेलू चिकित्सा । डा० सुरेश २.००
मसालों के उपयोग । १६ पुस्तकें ५.५०
महात्मा जी के १२५१ नुस्खे । महात्मा कीढ़ीराम ४.००
माडर्न एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका । डा० सक्सेना ११.००
माडर्न एलोपैथिक मेडिसन्स । रामकुमार गुप्ता ६.००
माडर्न ट्रीटमेण्ट । डा० नौटियाल । १–२ भाग ३०.००
माडर्न डायग्नोसिस डा० केशवानन्द नौटियाल १६.००
माडर्न पेटेन्ट ड्रग्ज । डा० जे० पी० सक्सेना ६.००
माडर्न ब्लड प्रैशर गाइड । डा० जे० पी० सक्सेना २.००
माडर्न सल्फा ड्रग्ज । डा० एम० ए० नार्वी १.२५
माडर्न सिलेक्टेड मेडिसिन्स । डा० नौटियाल ५.५०
मादक वस्तुयें और स्वास्थ्य । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
माधवनिदानम् । मधुकोष व्याख्या, विद्योतिनी
हिन्दी टीका सम्पादक—वैद्य यदुनन्दन
उपाध्याय सम्पूर्ण १–२ भाग ३०.००
माधवनिदानम् । मधुकोष संस्कृत मनोरमा
हिन्दी टीका सहित १२.००
माधवनिदानम् । सर्वाङ्गसुन्दरी विस्तृत
हिन्दी टीका सहित ५.००
मानव शरीर रचना । डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा
प्र० भाग २८.००
मानसरोगविज्ञान । डा० बालकृष्ण पाठक ७.००
मासिक विकार और गर्भपात । प्रियकुमार चौबे १.२५
मिक्श्चर । डा० सुरेशप्रसाद शर्मा ४.००
मिडवाइफरी ३.००
मिरच के गुण तथा उपयोग । अमोलचन्द्र शुक्ला २.००
मिर्गी चिकित्सा । डा० आर० सी० गर्ग
एस० पी० मेहता १.००
मिर्च । रामेशवेदी १.००
मूत्रपरीक्षा । डा० जे० पी० सक्सेना १.७५
मूली के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.५०
मेघविनोद । मेघमुनि ६.००
मेटेरिया मेडिका । डा० विलियम बोरिक २०.००
मेडिसिन । डा० रामलखन यादव ६.००
मेंथी के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
मेंहदी के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित २.००
मोटापन कम करने का उपाय । प्रभुदत्त ब्रह्मचारी १.५०

मोटापा कम करने के उपाय । प्रभुनारायण त्रिपाठी १.००
मौसमी सात बीमारियां । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
यकृत् और प्लीहा के रोग ०.५०
यकृत् के रोग और उनकी चिकित्सा ।
वैद्य श्री सभाकान्त झा २.००
यकृत्-चिकित्सा । डा० श्यामसुन्दर शर्मा ०.७५
यन्त्रशस्त्र परिचय । दाऊदयाल गर्ग १०.००
यूनानी-चिकित्सा-विज्ञान । (पूर्वार्द्ध) दलजीतसिंह ८.५०
यूनानी चिकित्सा-विधि । हकीम मंशाराम ५.००
यूनानी चिकित्सा-सागर । हकीम मंशाराम १०.००
यूनानी चिकित्सा-सार । हकीम दलजीतसिंह ७.००
यूनानी शब्दकोष । विश्वेश्वरदयालु ०.७५
यूनानी सिद्ध योग–संग्रह । वैद्य दलजीतसिंह ४.००
योगचिकित्सा (Indication of Drugs) ।
अत्रिदेव गुप्त ३.५०
योगासन । आत्मानन्द ४.००
रक्त (Blood) ०.५०
रक्त के रोग । डा० घाणेकर १०.००
रसचिकित्सा (हिन्दी) । कवि० प्रभाकर चट्टोपाध्याय ८.००
रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह । प्रथम खण्ड १६.००
रसतरंगिणी । सदानन्द कृत हिन्दी टीका सहिता १८.००
रस रसायन गुटिका गुग्गुल । देवीशरण गर्ग वैद्य ०.७५
रसराजमहोदधि: १–५ भाग १६.००, २२.५०
रसाध्याय: । संस्कृत टीका सहित १.५०
रसेन्द्रसारसंग्रह: (सचित्र) । श्री गिरजादयाल कृत
नवीन वैज्ञानिक 'रसचन्द्रिका' हिन्दी टीका,
वृहद् परिशिष्ट सहित ७.००
रसोपनिषद् (हिन्दी टीका सहित) । प्र० भा० अजिल्द ५.००
सजिल्द ७.००
राई के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
राजयक्ष्मा । सी० द्वारकानाथ ३.००
राजक्ष्मा चिकित्सा । डा० एस० पी० मेहता ३.००
राजयक्ष्मा चिकित्सा । प्रभाकर चटर्जी १२.५०
रिलेशन-शिप । डा० श्यामसुन्दर (नित्य व्यवहारिक
औषधियों का पारस्परिक सम्बन्ध २.००
रीठा के गुण तथा उपयोग श्री रामस्नेही १.५०

संकटकालीन प्राथमिक चिकित्सा ।
डा. प्रियकुमार चौबे ५.५०
संक्रामक रोग । रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी । ८.५०
संक्रामक रोग विज्ञान । कविराज बालकराम शुक्ल १०.००
संक्षिप्त औषधि परिचय । कालेड़ा १.२५
संतरा-गुण विधान । डा. गणपतिसिंह ०.५०
संतरे के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित २.००
संन्यासियों की गुप्त बूटियां अर्थात् देहाती जड़ी बूटियां १५.००
संन्यासी चिकित्सा शास्त्र । अमोलचन्द्र शुक्ल ८.२५
सत्यनारायण शास्त्री जी का अभिनन्दन ग्रन्थ । २०.००
सत्यानाशी के गुण तथा उपयोग । १.००
सन्ततिनिग्रह डा. शिवदयाल ६.००
सन्तति-निरोध । प्रियकुमार चौबे ५.००
सफल आधुनिक औषधियां डा. पद्मदेवनारायणसिंह ५.५०
सरल दन्त विज्ञान । डा. केवल वीर ३.५०
व्यवहारायुर्वेद और विषविज्ञान ।
कविराज युगलकिशोर गुप्त १२.००
सर्दी-जुकाम-खांसी । डा. रैंसमस अल्सेकर एम. डी. २.००
सर्वाङ्ग शोथ, जलोदर चिकित्सा ।
डा. एम. ए. नार्वी १.७५
सल्फोनामाइड और एन्टीबायोटिक्स ।
डा. प्रियकुमार चौबे (हिन्दी) २.५०
सहस्त्ररसदर्पण (अर्थात् रसहजारा) ।
संकलन कर्त्ता—पं० गोपालप्रसाद ४.००
साधुओं, संन्यासियों, योगियों और साधारण दवाओं के सफल योग । डा. एस. पी. मेहता ३.००
सामान्य शल्य चिकित्सा । शिवदयाल गुप्त १५.००
सिद्ध परीक्षा पद्धति । प्रथम खण्ड ८.००
सिद्ध भेषज मणिमाला । कृष्णराम भट्ट १०.००
सिद्ध भेषज संग्रह । सम्पादक-श्री गङ्गासहाय पाण्डेय सुलभ संस्करण ७.००
उत्तम संस्करण ८.००, राजसंस्करण ९.००
सिद्धमृत्युञ्जय योग । १.२५
सिद्धयोग संग्रह । यादवजी ८.००
सिद्ध रसायन । द्वितीय भाग मात्र ।
रसायन फार्मेसी १०.००

सिद्धान्तनिदानम् । गणनाथसेन कृत । संस्कृत ।
प्रथम भाग ७.००, द्वितीय भाग ७.०
सिद्धौषधि प्रकाश । बालमुकन्द वैद्य शास्त्री २.०
सिरस के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.
सुलभ देहाती नुस्खे । डा. सुरेशप्रसाद शर्मा १.५
सुश्रुत संहिता । डा. कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री कृत 'आयुर्वेद तत्त्व संदीपिका' हिन्दी व्याख्या वैज्ञानिक विमर्श सहित १-२ भाग । सजिल्द
सम्पूर्ण ३५.००
सुश्रुतसंहिता । हिन्दी टीका सहित । अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार । सम्पूर्ण सजिल्द ४०.०
अजिल्द ३०.०
सुश्रुतसंहिता । डा. भास्कर गोविन्द घाणेकर कृत
शारीरस्थान हिन्दी व्याख्या सहित १८.००
सूत्रस्थान १८.००
सूचीवेध चिकित्सा । रवीन्द्रचन्द्र ३.०
सूचीवेध-विज्ञान । डा. राजकुमार द्विवेदी । २.५
सूचीवेध-विज्ञान । रमेशचन्द्र वर्मा ७.५
सेब के गुण तथा उपयोग । रामस्नेही दीक्षित १.००
सोंठ । रामेशवेदी २.००
सोंठ ०.७५
सोंठ (अदरक) के गुण तथा उपयोग । राजेश दीक्षित २.००
सौंफ के उपयोग । उमेदीलाल वैश्य ०.३५
सौंफ के गुण तथा उपयोग । सम्पादक-रामस्नेही २.००
सौश्रुती । डा. रमानाथ द्विवेदी चतुर्थ संस्करण २०.००
स्टेथिस्कोप तथा नाड़ी परीक्षा । जाह्नवीप्रसाद जोशी १.०
स्टेथिस्कोप परीक्षा । डा. केशवानन्द नौटियाल ३.०
स्टेथिस्कोप विज्ञान । श्यामसुन्दर शर्मा १.५
स्त्रियों के रोग और उनकी आधुनिक चिकित्सा
आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी २२.०
स्त्री रोग चिकित्सा । (होम्योपैथी) डा. सुरेश ७.०
स्त्री रोग चिकित्सा । ऋषिकुमार शर्मा ३.०
स्त्री रोग चिकित्सा नवनीत चार्टस तथा स्त्री रोग विश्वकोष । हरनारायण कोकचा १०.७
स्त्री रोग विज्ञान । (सचित्र) डा. रमानाथ द्विवेदी १०.०
स्त्री रोगांक ६.०

* सुधानिधि के ग्राहक बनने के नियम *

१—सुधानिधि का वार्षिक मूल्य पोष्ट-व्यय सहित १४.०० है।

२—सुधानिधि के ग्राहकों को हर साल एक बड़ा विशेषांक तथा चार लघु विशेषांक भी इसी मूल्य में भेंट किये जायगे।

३—वर्ष जनवरी में प्रारम्भ होकर दिसम्बर में समाप्त होता है।

४—सुधानिधि के ग्राहक पूरे वर्ष के लिए ही बनाए जाते हैं।

५—ग्राहक किसी भी समय बनाये जा सकते हैं, लेकिन ग्राहक को वर्ष के आरम्भ यानी जनवरी से ग्राहक बनने के समय तक के प्रकाशित अङ्क तथा विशेषांक भेजकर वर्ष के आरम्भ से ही ग्राहक बना लिया जाता है और उनका भी वर्ष अन्य ग्राहकों के साथ दिसम्बर में समाप्त हो जाता है।

६—केवल विशेषांकों का ही मूल्य २२.०० होगा, लेकिन ग्राहक बन जाने पर यही विशेषांक वार्षिक मूल्य १४.०० में ही अन्य अङ्कों सहित मिल जायेगा।

समाचार पत्र पञ्जीकृत कानून (केन्द्रिय) १९५६ के नियम नं० ८ के अन्तर्गत अपेक्षित
सुधानिधि से सम्बद्ध विवरण फार्म ४ (एल ८)

१. प्रकाशन का स्थान	विजयगढ़
२. प्रकाशन का काल	मासिक
३. मुद्रक का नाम	मुरारीलाल गर्ग
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	धन्वन्तरि प्रेस, विजयगढ़
४. प्रकाशक का नाम	मुरारीलाल गर्ग
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़
५. सम्पादक	आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	त्रिवेदी नगर, हाथरस
६. भागीदार	मुरारीलाल गर्ग धन्वन्तरि कार्यालय
	भगवतीप्रसाद गर्ग ,,
	गोपालशरण गर्ग ,,
	किरनदेवी, गर्ग ,,

मैं मुरारीलाल गर्ग यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखित सभी विवरण जहां तक मैं जानता हूँ तथा विश्वास करता हूँ सत्य है।

—मुरारीलाल गर्ग